संस्कृत व्याकरण दर्शन

रामसुरेश त्रिपाठी

संस्कृत व्याकरण-दर्शन

संस्कृत व्याकरण-दर्शन

रामसुरेश त्रिपाठी

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

मूल्य : रु० ~~४०.००~~

प्रथम संस्करण : १९७२

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मुद्रक : जी० आर० कम्पोज़िंग एजेंसी द्वारा
अजय प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

आवरण : हरिपाल त्यागी

प्राक्कथन

"वाक्यपदीय विशेषतः आख्यातार्थ का अध्ययन" विषय पर एक प्रबन्ध मैंने आगरा विश्वविद्यालय में १९६५ में प्रस्तुत किया था जो पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। कई वर्षों तक वह प्रबन्ध कई कारणों से अप्रकाशित पड़ा रहा। उसे संस्कृत व्याकरण-दर्शन के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। व्याकरण-दर्शन से सम्बद्ध वाक्य विषयक विचार मूल प्रबन्ध में नहीं थे। उनका समावेश यहाँ कर लिया गया है, शेष ग्रन्थ प्रायः अपने मूल रूप में है।

इस ग्रन्थ में हरिवृत्ति शब्द से वाक्यपदीय पर स्वयं भर्तृहरि द्वारा लिखी हुई वृत्ति अभिप्रेत है। श्री गंगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में श्लोकों की संख्या में व्यतिक्रम है। किन्तु पाठकों की सुविधा की दृष्टि से श्लोकों की संख्या जैसे छपी है वैसे ही इस ग्रन्थ में उद्धृत है। संस्कृत व्याकरण-दर्शन एक दुरूह विषय है। इस पर धीरे-धीरे किसी-किसी तरह से मैं कुछ लिख सका हूँ। यहाँ जो कुछ विचार व्यक्त किये गए हैं वे सब प्राचीन आचार्यों के हैं। उनके विचारों को ठीक से समझने में भ्रम हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। इस निवेदन के साथ यह ग्रन्थ विज्ञ पाठकों के सामने प्रस्तुत है।

व्याकरण-दर्शन की ओर मेरी रुचि स्वर्गीय गुरुवर पं० अम्बिका प्रसाद उपाध्याय, भूतपूर्व प्रधानाध्यापक, व्याकरण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, की कृपा से हुई थी। अब उनका सादर स्मरण ही संभव है।

मैं राजकमल प्रकाशन के अधिकारियों का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया।

—रामसुरेश त्रिपाठी

अनुक्रम

प्राक्कथन	५
प्रथम अध्याय	
संस्कृत व्याकरण-दर्शन का उपलब्ध साहित्य	६
द्वितीय अध्याय	
वाक्	३४
ध्वनि	६६
वर्ण	७४
शब्द	८२
तृतीय अध्याय	
पदार्थ	१२३
चतुर्थ अध्याय	
क्रिया	१५६
पंचम अध्याय	
काल	२०५
षष्ठ अध्याय	
उपग्रह	२४५
पुरुष	२५८
संख्या	२६४
सप्तम अध्याय	
कारक	२८१

अष्टम अध्याय
लिङ्ग ... २९८

नवम अध्याय
वाक्य ... ३३०
वाक्यार्थ ... ३६३
वाक्यधर्म ... ३७७
वाक्यार्थ की प्रक्रिया ... ४१०
वाक्यार्थ निर्धारण के साधन ... ४२६

दशम अध्याय
वृत्ति-विचार ... ४३७

एकादश अध्याय
स्फोटवाद ... ४६०
संदर्भ ग्रन्थ-सूची
अनुक्रमणिका

१

संस्कृत व्याकरणदर्शन की उपलब्ध सामग्री

संस्कृत व्याकरणदर्शन का आरंभ सुदूर प्राचीन काल में हो गया था। व्याकरण की रचना के लिए अनेक पारिभाषिक शब्दों का आश्रय लेना पड़ा। लक्षण बनाए गए। लक्षणों पर विचार आरंभ हुआ। मतभेद सामने आए। दर्शन आरंभ हुआ। जिज्ञासा दर्शन है। विचार की प्रक्रिया दर्शन है। गहरा चिंतन, सूक्ष्म विचार और सत्य के प्रति निष्ठा किसी भी विचारधारा को दर्शन का रूप दे देते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण का भी एक अपना दर्शन है। इसके बीज वैदिक साहित्य में मिल जाते हैं :

> **ओंकारं पृच्छामः को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गम्, किं वचनम्, का विभक्तिः, कः प्रत्यय इति।**[1]

यदि इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाए, तो पूरा व्याकरणदर्शन सामने आ जाता है। जब धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात आदि के प्रति जिज्ञासा थी तो इनका समाधान भी किया गया था और इनके विशेषज्ञ आचार्य प्रसिद्ध हो चले थे :

> **आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्गविभक्तिवचनानि च संस्थानाध्यायिन आचार्याः पूर्वे बभूवुः।**[2]

यास्क ने नाम, आख्यात आदि के विवरण प्रस्तुत किए हैं और प्रसंगवश कतिपय पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण की दार्शनिक प्रक्रिया ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व विकसित हो चुकी थी। किन्तु जैसे पाणिनि के पूर्व के व्याकरणों की बहुत ही अल्प सामग्री आज उपलब्ध है वैसे ही पूर्वाचार्यों के व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक विचार भी अल्प ही सुरक्षित रह पाए हैं। जिन आचार्यों के मत उपलब्ध हैं उनका व्याकरणदर्शन की दृष्टि से संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

जैसे संस्कृत व्याकरण का सुव्यवस्थित रूप पाणिनि से आरंभ होता है वैसे ही व्याकरणदर्शन का भी स्पष्ट रूप पाणिनि से आरंभ होता है। पाणिनि ने (छठी शताब्दी, ईसवी पूर्व) अष्टाध्यायी की रचना शब्दानुशासन की दृष्टि से की थी किन्तु उन्हें अनेक परिभाषा-सूत्रों की रचना करनी पड़ी। अनेक संज्ञाशब्द बनाने पड़े और पारिभाषिक शब्दों के लक्षण देने पड़े। फलतः व्याकरणदर्शन की एक विस्तृत पृष्ठभूमि पाणिनि ने स्वयं

---

१. गोपथ ब्राह्मण प्रथम प्रपाठक, १।२४, डॉ० ड्यूहे गोर्टर संपादित

२. गोपथ ब्राह्मण प्रथम प्रपाठक, १।२७

तैयार करदी थी। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त विभाषा, पदविधि, आदेश, विप्रतिषेध, उपमान, लिङ्ग, क्रियातिपत्ति, कालविभाग, वीप्सा, प्रत्ययलक्षण, भावलक्षण, शब्दार्थप्रकृति जैसे सैकड़ों शब्द इस बात के प्रतीक हैं कि वे उन दिनों के दार्शनिक वादों से पूर्णरूप से अवगत थे और स्वयं उच्चकोटि के चिन्तक थे। उनके अनेक सूत्र अपने आप में एक दर्शन हैं जैसे :

स्वतंत्रः कर्ता १।४।५४
तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३
अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५
कर्मणि च येन संस्पर्शात् कर्त्तुः शरीरसुखम् ३।३।११६
समुच्चये सामान्यवचनस्य ३।४।५
तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९
प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ आदि

वस्तुतः पाणिनि प्रमाणभूत आचार्य हैं। बाद के वैयाकरणों ने व्याकरण से सम्बद्ध जो कुछ विचार व्यक्त किए हैं उनका अनुमोदन वे किसी-न-किसी तरह पाणिनि के सूत्रों से करते हैं। व्याकरणदर्शन से सम्बद्ध भी सभी मत पाणिनि की मान्यताओं से परिपुष्ट किए जाते हैं। किसी प्राचीन आचार्य की उक्ति है कि जो कुछ वृत्ति ग्रन्थों में है, जो कुछ वार्तिकों में है, वह सब सूत्रों में ही है :

सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके ।
उदाहरणमन्यस्य प्रत्युदाहरणं पशोः ॥[3]

व्याकरणदर्शन की दृष्टि से भी यह उक्ति दूर तक ठीक है।

व्याडि (पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व)

पाणिनि के समय के आसपास ही व्याडि नाम के आचार्य हुए थे। उन्होंने 'संग्रह' नाम का व्याकरणदर्शन का ग्रन्थ लिखा था। भर्तृहरि के आधार पर जान पड़ता है कि वह पाणिनि सम्प्रदाय से संबद्ध ग्रन्थ था।

"संग्रहोप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। तत्रैकतंत्रत्वात् व्याडेश्च प्रामाण्यादिहापि सिद्ध-शब्द उपात्तः।"[4]

व्याडि स्वतंत्र विचारक थे। संग्रह में उन्होंने, भर्तृहरि के कथनानुसार, चतुर्दश सहस्र वस्तुओं पर विचार किया था।[5] संग्रह भर्तृहरि के समय से बहुत पहले ही लुप्त हो चुका था।[6] संग्रह के कुछ उद्धरण भर्तृहरि के ग्रन्थों में मिल जाते हैं। उनमें भी अधिकांश वाक्यपदीय की भर्तृहरि द्वारा रचित वृत्ति में हैं। जो दो-तीन उद्धरण दूसरे लेखकों द्वारा दिए गए हैं वे भी भर्तृहरि से ही लिए जान पड़ते हैं।[7] पतंजलि ने संग्रह के बारे में कहा

---

३. द्वादशारनयचक्र की न्यायागमानुसारिणी व्याख्या में उद्धृत, पृ० ५३६
४. महाभाष्य दीपिका, पृ० २३, पूना संस्करण
५. चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रंथे—महाभाष्य दीपिका, पृ० २१
६. संग्रहेऽस्तमुपागते—वाक्यपदीय २।४८४
७. अब तक उपलब्ध संग्रह के सभी उद्धरण इस ग्रंथ में यथास्थान दे दिए गए हैं।

है : **शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।**[८] पतंजलि का शोभना शब्द संग्रह के गौरव को व्यक्त कर देता है।

जो उद्धरण उपलब्ध हैं उनसे जान पड़ता है कि व्याडि ने संग्रह में प्राकृतध्वनि, वैकृतध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य, अर्थ, मुख्यगौणभाव, संबंध, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय आदि पर विचार किया था। उन्होंने 'दशधा अर्थवत्ता' मानी थी।[९] शब्द के स्वरूप पर मौलिक विचार प्रस्तुत किए थे। शब्द के नित्य और अनित्य स्वरूप पर भी संग्रह में पर्याप्त विवेचन किया गया था और दोनों पक्षों में गुण-दोष के विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया था कि व्याकरण के नियम शब्द के नित्य पक्ष और शब्द के कार्य पक्ष दोनों ही दृष्टि से होने चाहिएँ। उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनकी सर्वाधिक देन निम्नलिखित मानी जा सकती है :

१. **शब्द द्वारा द्रव्य का अभिधान :** इस मान्यता के आधार पर भारतीय चिन्तन परम्परा में व्याडि का एक दर्शन ही खड़ा हो गया। वाजप्यायन ने शब्द द्वारा जाति का अभिधान निश्चित किया था। व्याडि और वाजप्यायन दोनों के दर्शन व्याकरणशास्त्र में गृहीत हैं। पाणिनि के अनेक सूत्रों की व्याख्या दोनों दर्शनों के आधार पर की जाती है। कात्यायन ने दोनों मतों के विवरण दिए हैं और उन्हीं के आधार पर द्रव्यवाद व्याडि का माना जाता है (द्रव्याभिधानं व्याडिः)।[१०] भर्तृहरि ने भी इसका समर्थन किया है :

वाजप्यायनस्याकृतिः, व्याडेस्तु द्रव्यम्।[११]

२. **अर्थसिद्धान्त** : व्याडि ने शब्द और अर्थ में अर्थ को अधिक महत्त्व दिया है। उनके मत में पद और वाक्य का निर्णय अर्थ द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में, भाषा के स्वरूप और उसके अवयव का निर्णायक वाक्य का अर्थ है :

न हि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥[१२]

३. **अपभ्रंश की प्रकृति शब्द है—शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारः**[१३] सम्भवतः अपभ्रंश शब्द का सबसे प्राचीन उल्लेख यही है। व्याडि ने अपभ्रंश की प्रकृति (मूल) संस्कृत को माना है। भर्तृहरि इस मत से पूर्ण रूप में सहमत नहीं हैं। किन्तु अपभ्रंश पर विचार प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य व्याडि हैं।

---

८. महाभाष्य २।३।६६, पृ० ४६८, कीलहार्न संस्करण
९. "तदुभयं परिगृह्य दशधा अर्थवत्ता स्वभावभेदिका इति संग्रहे प···।" वाक्यपदीय २।२०७ हरिवृत्ति, हस्तलेख
१०. महाभाष्य १।२।६४, पृ० २४४
११. महाभाष्य-दीपिका, पृ० ११
१२. वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति, पृ० ४२ पर उद्धृत
१३. वाक्यपदीय १।१४८ हरिवृत्ति, पृ० १३४, हेलाराज, संबंध समुद्देश ३०, पृ० १४३, पूना संस्करण

४. **सिद्ध शब्द :** कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक का आरंभ सिद्ध शब्द से किया है। इस प्रसंग में पतंजलि ने बताया है कि कात्यायन ने 'सिद्ध' शब्द संग्रह से लिया है। संग्रह में मूल प्रयोग यों था :

किं कार्यः शब्दः, अथ सिद्ध इति। [१४]

पतंजलि के अनुसार सिद्ध शब्द नित्य अर्थ का वाचक है। जो हो, सिद्ध शब्द व्याकरण में एक विशेष अर्थ में स्वीकृत हुआ जिसका ठीक अर्थ बताना कठिन है। उपपत्ति, निष्पत्ति और मंगल तीनों शब्दों के अर्थों को एक में मिला कर जो अर्थ झलकेगा कुछ ऐसा ही अर्थ सिद्ध शब्द का स्वीकृत हुआ और इस शब्द का ग्रंथ के अंत में व्यवहार आरंभ हुआ। पिछले दो हजार वर्ष से संस्कृत व्याकरण के मर्मज्ञ लेखक अपनी कृतियों के अंत में सिद्ध शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं और यह परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। मेरे विचार में इस सिद्ध शब्द का श्रेय व्याडि को है।

कात्यायन (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी)

पाणिनि के सदृश मेधा रखने वाले कात्यायन का भी योग व्याकरणदर्शन में बहुत अधिक है। व्याकरण के प्रकृत स्वरूप का तो उन्होंने विस्तार किया ही, व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का भी विकास अनुपम रूप में किया। उनका प्रथम वार्तिक 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे…' एक ओर उनके दार्शनिक झुकाव को द्योतित करता है तो दूसरी ओर एक वाक्य में संपूर्ण व्याकरणदर्शन है।

व्याकरणदर्शन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिस पर कात्यायन की दृष्टि न गई हो। अपनी व्यापक दृष्टि के कारण उन्होंने सूत्रों की व्याख्या की एक अपूर्व शैली का आश्रय लिया जिसमें केवल उक्त-अनुक्त का ही स्थान नहीं था अपितु व्याख्यान के माध्यम से अनेक न्यायवाक्यों का सर्जन था। आज जिन्हें परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव आदि ने जिन्हें परिभाषावृत्ति में परिभाषा रूप में लिख रखा है वे प्रायः सभी कात्यायन की मेधा के परिणाम हैं। उनके वाक्य और उनकी इष्टियाँ परिभाषा और न्याय का रूप लेती हैं। कात्यायन ने व्याकरणदर्शन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया। व्याकरणदर्शन अवयवावयवीभाव, अधिकरण आदि की व्याख्या लोकविज्ञान के आधार पर करता है। इनकी व्याख्या दूसरे दर्शनों में अन्य है।

कात्यायन ने उत्सर्ग, अपवाद, विधि, प्रतिषेध, निपातन, स्थानी, आदेश, लिङ्ग, नियम आदि सामान्य—विशेष प्रकारों से अपनी व्याख्यान-पद्धति को दार्शनिक रंग दे दिया है। कैयट ने अनेक स्थलों पर उसका उन्मीलन किया है। विशेषकर जहाँ वार्तिककार और महाभाष्यकार में मतभेद हैं। जैसे :

भिन्नदेशत्वाद् विरोधाभावादनेकेनापि प्रत्ययेन प्रदीपेनेव घटादेः गार्ग्यायण्यां-ष्फङीष्भ्यां स्त्रीत्वस्येवाज्ञातादेरेकस्यार्थस्य द्योतनमविरुद्धं मन्यमानो वार्तिक-कारः उत्सर्गप्रतिषेधं शास्ति। भाष्यकारस्तु विरोधमन्तरेणापि सामान्यविधेः

---

१४. संग्रहे एतत् प्रस्तुतं किं कार्यः शब्दोथ सिद्ध इति—महाभाष्य दीपिका, पृ० २३

बाधकं विशेषविधिमन्यत्रादीदृशत् ।[१५]

कात्यायन ने अपने वार्तिकों में प्रकृत्यर्थ विशेषणवाद, प्रत्ययार्थ विशेषणवाद, सामानाधिकरण्यवाद, अर्थनियमवाद, प्रकृतिनियमवाद आदि वादों का समावेश किया और पाणिनि के अनेक सूत्रों का इनके आधार पर विवेचन किया।

प्राचीन वैयाकरणों में हेलाराज ने वार्तिकों का विशेष अध्ययन किया था। उन्होंने वार्तिकों पर वार्तिकोन्मेष नामक ग्रन्थ भी लिखा था। वाक्यपदीय के प्रकीर्णक काण्ड की व्याख्या करते समय हेलाराज उन वार्तिकों का उल्लेख करते चलते हैं जिनका आश्रय भर्तृहरि ने लिया है। तृतीय काण्ड का वृत्तिसमुद्देश कात्यायन के कुछ वार्तिकों की व्याख्यामात्र है। हेलाराज ने वार्तिकों के उद्धरण दे-देकर इसे स्पष्ट कर दिया है। इससे बढ़कर कात्यायन की दार्शनिक देन का सूचक और क्या प्रमाण हो सकता है!

संस्कृत व्याकरणदर्शन को, संस्कृत भाषा को, संपूर्ण वाङ्मय को कात्यायन की एक विशेष देन है और वह है उनकी वाक्य की परिभाषा।

पतंजलि (ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी)

पतंजलि के महाभाष्य की उपमा सागर से दी जाती है। वह सागर की तरह उत्तान है। सागर की तरह अगाध है। सागर की तरह रत्न छिपाए है। भर्तृहरि की दृष्टि में पतंजलि तीर्थदर्शी हैं। महाभाष्य, संग्रह का प्रतिकंचुक (प्रतिनिधिकल्प) है और सभी न्यायबीजों का अधिष्ठान है :

कृतेऽथ पतंजलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना। सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ 'संग्रहप्रतिकञ्चुके'[१६]

न्यायबीज शब्द पर टिप्पणी करते हुए पुण्यराज ने लिखा है :

तत्र भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमिति। अतएव महत् शब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।[१७]

पुण्यराज ने पुनः लिखा है :

महाभाष्यं हि बहुविधि विद्यावादबलमार्षं व्यवस्थितम्,[१८] अर्थात् महाभाष्य में अनेक विद्यावाद, दर्शनप्रवाद हैं।

जो कुछ वार्तिकों में है वह सब तो महाभाष्य में है ही, बहुत कुछ अन्य भी है। इसलिए महाभाष्य व्याकरण और व्याकरणदर्शन दोनों का आकर ग्रंथ है। महाभाष्यकार की अलग से देन बताना कठिन है। उन्होंने जो कुछ कहा है सूत्रों और वार्तिकों के भाष्य के रूप में कहा है। जिनके मूल, सूत्र और वार्तिकों में नहीं हैं वे भाष्यकार की देन माने जा सकते हैं। अथवा जहाँ भाष्यकार का सूत्रकार और वार्तिककार से विरोध है वे सब मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं। प्राचीन टीकाकारों ने ऐसे सब स्थल चुन रखे हैं

१५. महाभाष्य प्रदीप ५।३।७२
१६. वाक्यपदीय २।४८५, ४८८
१७. वाक्यपदीय टीका २।४८५
१८. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४८८

जहाँ वार्तिककार का मत भिन्न है और भाष्यकार का मत भिन्न है। व्याकरणदर्शन की दृष्टि से भी ऐसे स्थलों पर प्राचीन आचार्यों की दृष्टि गई है और भर्तृहरि ने भी अनेक स्थलों पर वार्तिककार के दर्शन, भाष्यकार के दर्शन और सूत्रकार के दर्शन की अलग-अलग चर्चा की है। वस्तुतः सूत्रकार और वार्तिककार आदि के मत भी पतंजलि की व्याख्या के सहारे ही स्वरूप ग्रहण करते हैं। अतः संपूर्ण व्याकरणदर्शन महाभाष्य में जहाँ-तहाँ बिखरा पड़ा है। भर्तृहरि ने उन विचारों को अपने ढंग से एकत्र किया है जो व्याकरणदर्शन के नाम से अलग वस्तु जान पड़ती हैं। इस विषय में अभी भी अवकाश है और महाभाष्य में आए दार्शनिक विचारों का क्रमबद्ध संकलन नवीन रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें सबसे अधिक कठिनाई परस्पर विरोधी मतों के भ्रमजाल में से तथ्य ग्रहण की है। व्याकरण की परम्परा से सर्वथा अवगत, महाभाष्य में निष्णात हरदत्त मिश्र ने यह घोषणा की थी कि महाभाष्य को संपूर्ण रूप में समझना किसी के लिए दुष्कर है।[१९] आज तो हम केवल उसका दर्शन ही कर पाते हैं। अस्तु, जैसे व्याकरण का वैसे ही व्याकरणदर्शन का भी सर्वस्व महाभाष्य है। माघ ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक को शब्दविद्या का सौन्दर्य कहा है।[२०]

महाभाष्य में वर्ण, शब्द, आकृतिपदार्थ, द्रव्यपदार्थ, गुणपदार्थ, लिङ्ग, वचन, संख्या, वृत्ति, वाक्य, वाक्यार्थ आदि पर पर्याप्त विचार मिलते हैं। यहाँ पतंजलि के कुछ वाक्य लिखे जा रहे हैं जो अपने पीछे एक-एक दर्शन छिपाए हैं और महाभाष्यकार के व्यापक भावभूमि के संकेतक हैं :

सर्ववेदपारिषदं हि इदम् शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्था शक्य आस्थातुम्
—महाभाष्य २।१।५८

संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्सृज्यन्ते—महाभाष्य १।१।१

प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतंत्रा भवन्ति, न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिम् आश्रयन्ति—महाभाष्य १।८।५६

न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।६४

इह व्याकरणे यः सर्वाल्पीयान् स्वरव्यवहारः स मात्रया भवति, नार्धमात्रया व्यवहारोऽस्ति। महाभाष्य ८।१।१

वसुरात *(लगभग ४०० ईसवी सन्)*

वसुरात भर्तृहरि के गुरु थे। विभिन्न दर्शनों के आधार पर व्याकरणदर्शन की व्याख्या उन्होंने आरम्भ की थी। उन्हीं की प्रेरणा से भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की रचना की थी। वसुरात व्याडि के संग्रह से प्रभावित थे। भर्तृहरि भी थे। इसलिए भर्तृहरि ने वाक्यपदीय को स्वयं 'आगमसंग्रह' कहा है और उसकी मान्यताओं को अपने गुरु की देन माना है। इस प्रसंग में पुण्यराज ने लिखा है :

अथ कदाचित् योगतो विचार्य तत्रभवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीत इति स्वरचितस्यास्य ग्रन्थस्य गुरुपूर्वकमभिधातुमाह

---

१९. तस्य निःशेषतो मन्ये प्रतिपत्तापि दुर्लभः। पदमंजरी, १।१।३, पृ० ४६

२०. शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा—शिशुपालवध, २।११२

न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः ॥[२१]

वसुरात के स्वतंत्र मत का उल्लेख मल्लवादिक्षमाश्रमण ने किया है और वसुरात को भर्तृहरि का उपाध्याय बतलाया है। मल्लवादि ने भर्तृहरि के मत से भिन्न रूप में वसुरात के मत का उल्लेख किया है। इससे जान पड़ता है कि वसुरात के कुछ वक्तव्य परंपरया कुछ काल तक सजीव थे। शब्द से अर्थ के प्रत्यायन के सम्बन्ध में और अभिजल्प-दर्शन के सम्बन्ध में वसुरात और भर्तृहरि में, मल्लवादि के अनुसार, कुछ मतभेद था। मल्लवादि ने दोनों की समीक्षा की है :

> **...निरुक्तार्थोऽप्यभिजल्पस्य तथा घटते, नान्यथा। आभिमुख्येन जल्पत्यर्थं शब्दः, तं प्रयुंक्तेऽर्थः अभिजल्पयति तद्विषय एवाभिजल्प इत्युच्यते। एतदुक्तं भवति अर्थविषयः शब्दः शब्दार्थकल्पनायां युक्ततरः स्यात्, न तु त्वत् परि-कल्पिते शब्दप्रेरिते। एवं तावद् भर्तृहर्यादिदर्शनमयुक्तम्। यत्तु वसुरातो भर्तृहरेरूपाध्यायः स च स्वरूपानुगतमर्थमविभागेन सन्निवेशयति। तेन द्वावपि शब्दोऽर्थ श्चाभ्युपगताविति प्राच्याद् भत्यन्ताद् अदर्शनात् तैमिरिकदर्शनमिदं तत्त्वदृष्टिं प्रत्यासीदति। अभिजल्पस्वरूपं तु पुनस्तेनापि निरस्तम्**[२२]**।**
>
> —द्वादशारनयचक्र, पृ० ८००-८०१

भर्तृहरि

भर्तृहरि का काल-निर्णय

वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि के समय का ठीक-ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। कुछ दिनों पूर्व तक भर्तृहरि के समय के बारे में इत्सिंग की उक्ति प्रमाण मानी जाती थी। इत्सिग ने भर्तृहरि के ग्रन्थों और उनके वैराग्य का उल्लेख करते हुए लिखा है : "वह धर्मपाल का समकालिक था।...उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं।"[२३] मृत्यु वाले कथन के आधार पर भर्तृहरि की मृत्यु का समय ६५० ईसवी सन् के आसपास ठहरता है। परन्तु इत्सिग के अनुसार भर्तृहरि और धर्मपाल समकालिक थे। उसके अनुसार धर्मपाल ने भर्तृहरि के 'पे इन' ग्रन्थ (प्रकीर्णक) पर टीका भी लिखी थी। धर्मपाल की मृत्यु सन् ५७० में हो गई थी।[२४] यदि धर्मपाल की समकालिकता वाली इत्सिग की उक्ति को महत्त्व दिया जाए तो भर्तृहरि का समय ईसवी ५५० के आसपास ठहरता है। इत्सिग के कथन के आधार पर भी भर्तृहरि के समय में लगभग सौ वर्ष का अन्तर आ जाता है और उनका समय ५५० ईसवी से लेकर ६५० ईसवी के बीच सिद्ध होता है।

---

२१. वाक्यपदीय २।४९०

२२. इस विषय पर शब्दस्वरूप के विचार के अवसर पर इस ग्रंथ में विचार किया गया है

२३. इत्सिंग की भारत यात्रा, सन्तराम बी० ए० द्वारा अनूदित, १९२५; पृष्ठ २७४,२७५

२४. इण्ट्रोडक्शन टु वैशेषिक फिलासफी एकार्डिंग टु दशपदार्थी शास्त्र, द्वारा, एच० यी० १९१७, पृ० १०

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में वार्तांक्ष, औदुम्बरायण, बैजि, सौभव, हर्य्यक्ष, ध्यानग्रहकार[२५] तथा चन्द्राचार्य का उल्लेख किया है।[२६] इनमें चन्द्राचार्य के विषय में राजतरंगिणी में उल्लेख है। भर्तृहरि और कल्हण दोनों ने चन्द्राचार्य को महाभाष्य का उद्धारक माना है।[२७] चन्द्राचार्य कश्मीर-नरेश अभिमन्यु के समकालिक थे। अतः उनका समय ४५ से ६५ ईसवी माना जाता है। भर्तृहरि इसके पहले के नहीं हो सकते। अतएव प्रथम शताब्दी भर्तृहरि के काल-निर्णय की पूर्व-सीमा है।

भर्तृहरि के काल-निर्णय की उत्तर-सीमा निश्चित रूप से ६०० ईसवी है। प्रथम भास्कर द्वारा लिखित आर्यभटीय भाष्य में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण वाक्य मिले हैं :

यथा प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारादिभिः उपायैः साधु शब्दः साध्यते, एवमत्रापि। तस्मादुपाया उपेय साधकाः तेषां न नियमः।

उक्तंच—

उपादायापि हेया ये तानुपायान् प्रचक्षते।
उपायानां च नियमो नावश्यमवतिष्ठते॥ इति।

तस्मादुपायमात्रत्वान्नदोषः।—आर्यभटीय भाष्यम्, गी० ३, हस्तलेख पृ० २१[२८]

इस उद्धरण का 'उपादायापि' यह श्लोक वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड का ३८वाँ श्लोक है। सौभाग्यवश प्रथम भाष्कर ने अपना समय अंकित कर दिया है :

सर्वेषां कल्पादेर्गत कालात्गणनीयमतो गतिस्तेषां तदानयनमिदानी कल्पादेरब्द-निरोधादयं अब्दराशिरितीरितः खाग्न्यद्रिरामार्क रस वसुरन्ध्रेन्दवः अहैरपि १९८६१२३७३० अस्मिन् बुधादिपात भगण गुणिते स्वयुगविभक्ते भगणादयः पातभोगा लभ्यन्ते। —आर्यभटीयभाष्यम् गी० ८, हस्तलेख पृ० ३३

गणना करने पर प्रथम भास्कर द्वारा निर्दिष्ट वर्ष ईसवी सन् ६२९ होता है।[२९]

---

२५. वाक्यपदीय २।३४७, २१०, ४८७, ४८९

२६. ध्यानग्रहकार का उल्लेख महाभाष्य, त्रिपादी (हस्तलेख पृ० ३६० मद्रास) में भी है

२७. राजतरंगिणी १।१७५

२८. यह हस्तलेख लखनऊ यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी में है

२९. ७२ युग=१ मनु
४३२०००० = १ युग
१०८०००० = १।४ युग = युगपाद
कलियुगारम्भ = ३१७९ वर्ष शकारम्भ से पूर्व
शकारंभ काल में कल्पादि से गतकाल = ६ मनु + २७ युग + ३ युगपाद + ३१७९
अतः ६ × ७२यु + २७यु = ५२९ युग। ५२९ × ४ = २११६ युगपाद
२११६ युगपाद + ३ युगपाद = २११९ युगपाद कलियुगादि में गतकल्पयुगपाद
२११९ × १०८०००० = १९८६१२०००० कलियुगादि में गतकल्पवर्ष।
१९८६१२०००० + ३१७९ = १९८६१२३१७९ = शकारम्भ काल में कल्पादि से अतीत वर्ष
अतः १९८६१२३१७९—७८ = १९८६१२३१०१ ईस्वी सन् के आरम्भ में कल्पादि से गत वर्ष।
१९८६१२३१०१ को प्रथम भास्कर के भाष्य के आरम्भकालिक गत कल्प वर्ष १९८६१२३७३० में से घटाने पर ६२९ ईस्वी सन् होता है। अतः प्रथम भास्कर ने ६२९ ई०में भाष्य लिखा था (उपर्युक्त गणित के लिए मैं अपने मित्र प्रो० श्रीचन्द्र शास्त्री, प्राध्यापक ज्योतिष-विभाग,

प्रथमभास्कर के द्वारा वाक्यपदीय के श्लोक के उद्धृत होने के कारण और प्रथमभास्कर का समय ६२९ ई० निश्चित रूप से ज्ञात होने के कारण भर्तृहरि के समय-निर्णय की उत्तर-सीमा ६०० ई० के आगे नहीं लाई जा सकती। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों में यह प्रमाण सर्वश्रेष्ठ है। निश्चित रूप में भर्तृहरि ६०० ई० के पहले हुए थे। अब यह विचारणीय है कि यह सीमा और कितने पीछे हटाई जा सकती है।

जैनाचार्य मल्लवादि क्षमाश्रमण कृत द्वादशार नयचक्र महाशास्त्र भर्तृहरि के समय पर प्रकाश डालता है। इस ग्रंथ में भर्तृहरि के गुरु वसुरात का उल्लेख है। कई स्थानों पर "**इति भर्तृहर्यादि मतम्, वसुरातस्य भर्तृहर्युपाधयस्य मतं तु**", "**एवं तावद् भर्तृहरि दर्शनमुक्तम् यत्तु वसुरातो भर्तृहरेरुपाध्याय:**" आदि रूप में भर्तृहरि और उनके गुरु वसुरात के मतों का उल्लेख है। यह ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य के पहले का है। विशेषावश्यक भाष्य की रचना ५०९ ई० में हुई थी।[३०] इस दृष्टि से वाक्यपदीय की रचना ४५० ई० के पूर्व हुई होगी।

मल्लवादि की तरह पुण्यराज भी वसुरात को भर्तृहरि के गुरु मानते हैं।[३१] चीनी भाषा में अनूदित वसुबन्धु के जीवन-वृत्तान्त से यह पता चलता है कि वसुबन्धु और वसुरात दोनों समकालिक थे और दोनो में शास्त्रार्थ हुआ था। श्री विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार वसुबन्धु का समय ३३७-४१७ ई० है।[३२] ह्वेनच्यांग और इत्सिंग के अनुसार वसुबन्धु का समय ४०० ई० के आसपास होना चाहिए। इत्सिंग धर्मपाल और धर्मकीर्ति को अर्वाचीन लिखता है और वसुबन्धु और असंग को मध्यकालिक।[३३] भर्तृहरि के वसुरात के शिष्य होने के कारण उनका समय भी ४२५ ई० के समीप निश्चित होता है।

हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण की टीका में—**अन्येतु शब्द ब्रह्म एवेदं विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया यत इत्याहुः** इस रूप में वाक्यपदीय की प्रथम कारिका का उद्धरण दिया है। हरिस्वामी ने अपने समय का संकेत किया है :

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशतुः।
धर्माध्यक्षे हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामतिः।।
यदाब्दानां कलेर्जग्मुः (यदादीनां कलेर्जग्मुः) सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदाभाष्यमिदं कृतम्।।

इसके अनुसार हरिस्वामी ने ग्रंथ की समाप्ति ३७४० कलि वर्ष में (तदनुसार ६३९ ई० में) की थी। परन्तु अवन्ती में उस समय किसी नृप विक्रम का होना इतिहास से सिद्ध नहीं है। डा० मंगलदेव शास्त्री ने पुलकेशी द्वितीय के पुत्र विक्रम प्रथम के अवन्ति के प्रशासक होने की सम्भावना की है (प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांजेक्शन्स ऑफ द सिक्स्थ ओरियण्टल

हिन्दू विश्वविद्यालय का आभारी हूँ। —लेखक)

३०. द्रष्टव्य : विशाल भारत जून १९४९ में मुनि जम्बू विजय का लेख
३१. वाक्यपदीय २। ४८६
३२. तत्त्वसंग्रह की भूमिका
३३. इत्सिंग की भारत यात्रा, पृ० २७७

कान्फ्रेन्स, पटना १६३०, पृष्ठ ५६८)। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने षट्त्रिंशत् पाठ अनुकूल माना है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय पञ्चत्रिंशच्छतानि पाठ का अनुमान करते हैं :

"हमारी समझ तो यह आता है कि भ्रम से पंचत्रिंशच्छतानि का सप्त त्रिंशच्छतानि हो गया है और चत्वारिशंत्समाश्चान्याः का अर्थ है अन्य संवत् का ४० वर्ष। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अपना संवत् भी चलता था और अपने वंश का भी। प्रमाण की दृष्टि से उसके मथुरास्तम्भ का यह अभिलेख पर्याप्त है : **श्री चन्द्रगुप्तस्य विजय राज्य संवत्सरे पंचमे ५ कालानुवर्तमान संवत्सरे एकषष्ठे (सेलेक्ट इन्सक्रिप्शंस, पृ० २७०)**। यह गणना से ३८० ई० ठहरता है। इस दृष्टि से इस चत्वारिंशत् का मान हुआ (३८०+४०—५) ४१५ ई०, जो इस विक्रमादित्य का अन्तिम वर्ष कहा जा सकता है और सामान्यतः कलि के २५०० वर्ष बीतने का परिचायक है।"

—चन्द्रबली पाण्डेय, कालिदास, पृ० १२, १६५५

परन्तु हरिस्वामी ने **"अथवा सूत्राणि यथा विध्युद्देश इति प्राभाकराः"** के रूप में प्रभाकर का भी उल्लेख किया है (युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्याकरण का इतिहास, पृष्ठ २५६)। कुमारिल और प्रभाकर के पौर्वापर्य का अभी अन्तिम निर्णय नहीं हुआ है। स्वर्गीय श्री गंगानाथ झा प्रभाकर को कुमारिल के पूर्ववर्ती मानते थे। यदि हरिस्वामी का समय ६३६ ई० भी माना जाए तो भी यह स्मरण रखने की बात है कि हरिस्वामी के गुरु श्री स्कन्दस्वामी ने निरुक्त १।२, पृष्ठ २८ पर अपने भाष्य में वाक्यपदीय की कारिका 'पूर्वावस्थामजहत्' (साधनसमुद्देश ११६) उद्धृत किया है। अतः इस आधार पर भी वाक्यपदीयकार का समय ५५० ई० के आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

युक्तिदीपिका (सांख्यकारिका की टीका) में वाक्यपदीय के श्लोक उद्धृत हैं। इस ग्रंथ में कुमारिल या धर्मकीर्ति का नाम नहीं है। इस ग्रंथ की रचना ५५० ई० के पहले की जान पड़ती है।[३४]

वाक्यपदीय १/३१ की हरिवृत्ति में निम्नलिखित वक्तव्य है :

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृतेरनुकारमात्रया बुद्धिवृत्त्या विशिष्टज्ञानस्य प्रवृत्तिराख्यायते।

यह वक्तव्य योगसूत्र भाष्य में भी २।२० और ४।२२ में ज्यों-का-त्यों पाया जाता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह वाक्य पंचशिख का है। संभव है भर्तृहरि ने भी पंचशिख ले लिया हो। फिर भी ऐसे कई उद्धरण हैं, जिनसे यह जान पड़ता है कि योगसूत्रभाष्यकार वाक्यपदीय से परिचित हैं और उसकी शब्दावली ले रहे हैं।

योगसूत्रभाष्य २/६ में **भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते** —यह वाक्य मिलता है। वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति में भी यह वाक्य मिलता है। योगसूत्र ३/१७ के भाष्य के साथ वाक्यपदीय के कई वाक्य और सिद्धान्त मिलते-जुलते हैं। इन्हें आकस्मिक कहकर नहीं टाला जा सकता।

काशिका वृत्ति ४।३।८८ में वाक्यपदीय का उल्लेख है। काशिका निश्चित-रूप से

३४. हिस्ट्री आफ़ फिलासफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न भाग १ में सतकरी मुकर्जी का लेख, पृ० २४२

४०० ई० के बाद की और ५५० ई० के पहले की रचना है। काशिका ५।२।१२० में केदार सिक्के का उल्लेख है। केदार नामक सिक्के को केदार संज्ञक कुषाणों ने लगभग तीसरी शताब्दी में चलाया था।[३५] काशिका ३।३।४२ में प्रमाणसमुच्चय का उल्लेख है जो दिङ्नाग का ग्रन्थ है। काशिका ३।१।३८ में 'कल्पनापोढ' शब्द का उल्लेख है। यह शब्द भी दिङ्नाग की प्रत्यक्ष-परिभाषा से लिया गया है। दिङ्नाग का समय ४०० ई० है।

काशिका ६/३/३४ में **दृढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपूर्वपदस्याविवक्षित्वात् सिद्धमिति समाधेयम्** यह वाक्य है। इसमें रघुवंश १२/१९ के 'दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे' की ओर संकेत जान पड़ता है।

काशिका १/३/२३ में किरातार्जुनीय ३/१४ का 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' का उल्लेख है। किरातार्जुनीय की रचना ४७५ ई० के पूर्व की है। यह महाराज दुर्वनीत (राज्यकाल ई० ४८२-५२२) की टीका से स्पष्ट है।

काशिका के टीकाकार न्यासकार का उल्लेख भामह (ई० ६००) ने किया है :[३६]

शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन च।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथंचिदुदाहरेत्॥

इस श्लोक में न्यासकार से तात्पर्य जिनेन्द्र बुद्धि से ही है। उसे कोई दूसरा न्यासकार समझना भ्रम है। जिनेन्द्र बुद्धि ने २/२/१६ और ३/२/८७ के न्यास में तृच के साथ षष्ठी समास का निषेध किया है। इस दृष्टि से काशिका वृत्ति का समय ई० ५०० के बाद नहीं बढ़ाया जा सकता।

बाणभट्ट ने भी काशिकावृत्ति का संकेत किया है[३७] और यह संकेत भी काशिका का समय ५०० ई० के आसपास सिद्ध करता है।

अतः काशिका वृत्ति के आधार पर वाक्यपदीयकार का काल ४५० ईस्वी के पहले सिद्ध होता है।

वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभ के समय के आधार पर भी वाक्यपदीय पाँचवीं शताब्दी अथवा इससे पूर्व की रचना है। वृषभ ने लिखा है कि वह देवयश का पुत्र और विष्णुगुप्त नरेश का भृत्य था :

विमलचरितस्य राज्ञो विदुषः श्री विष्णुगुप्तदेवस्य।
भृत्येन तदनुभावाच्छ्रीदेवयशस्तनूजेन॥
बन्धेन विनोदार्थं श्रीवृषभेण स्फुटाक्षरं नाम।
क्रियते पद्धतिरेषा वाक्यपदीयोदधेः सुगमा॥

---

३५. वासुदेवशरण अग्रवाल—'हर्षचरित एक अध्ययन' पृ० ५४
३६. काव्यालंकार ६।३६
३७. वाग्नस्य चत्वारः पितृव्यपुत्रा भ्रातरः प्रसन्नवृत्तयो गृहीतवाक्याः कृतगुरुपदन्यासा न्यायवादिनः सुकृतसंग्रहाभ्यासगुरवो लब्धसाधुशब्दा लोक इव व्याकरणेपि···परस्परमुखानि व्यलोकयन्।

—हर्षचरित तृतीय उच्छ्वास, पृ० १३२, बम्बई संस्करण

विष्णुगुप्त का समय ५३५ और ५५० ई० के बीच में माना जाता है।[३८] (अ) यह विष्णुगुप्त सम्राट नरसिंह गुप्त का पौत्र और कुमारगुप्त तृतीय का पुत्र था। उसकी एक मुद्रा नालन्दा में मिली है। बराहमिहिर (४८७ ई० में जन्म और ५८७ ई० में मृत्यु) ने भी बृहत्संहिता में विष्णुगुप्त का उल्लेख किया है।[३८] (ब) अतः इन प्रमाणों के आधार पर टीकाकार वृषभ का समय ५५० ई० के समीप सिद्ध होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वृषभ वाक्यपदीय पर कई टीकाओं के होने का निर्देश करते हैं :

यद्यपि टीका बह्व्यः पूर्वाचार्य्यैः सुनिर्मला रचिताः।
सन्तः परिश्रमज्ञास्तथापि चैनां ग्रहीष्यन्ति ॥

अतः ५५० ई० तक वाक्यपदीय पर कई टीकाओं का होना यह प्रणाणित कर देता है कि वाक्यपदीय की रचना इससे बहुत पहले हुई होगी।

भर्तृहरि का जीवन

भर्तृहरि के जन्म-स्थान और उनके जीवन के बारे में प्रामाणिक रूप में कुछ भी ज्ञात नहीं है। एक श्लोक के अनुसार जिसकी प्रामाणिकता निश्चित रूप से संदिग्ध है, वे शबरस्वामी की क्षत्राणी पत्नी से उत्पन्न उनके पुत्र थे। इत्सिंग के अनुसार ये सात बार परिव्राजक और सात बार गृहस्थ बने थे। अंत में परिव्राजक रूप में इन्हें शान्ति मिली थी। इत्सिंग की उक्ति भी किंवदन्ती से अधिक मूल्य नहीं रखती।

इत्सिंग के अनुसार वे बौद्ध थे। मैक्समूलर ने इन्हें विद्यामात्र सम्प्रदाय का बौद्ध माना है।[३९] वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु में—

यदाहुः बाह्या अपि परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूपादिषु ज्ञानं तद्विदामानुमानिकाम् ॥

तत्त्वबिन्दु, मद्रास, पृ० ६०

ऐसा लिखा है। यह कारिका वाक्यपदीय १।३५ (लाहौर संस्करण) की है। बाह्या से तात्पर्य वेदबाह्या अर्थात् नास्तिक या बौद्ध से है।

परन्तु व्याकरण सम्प्रदाय में कभी भी भर्तृहरि का वेदबाह्य के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। वाक्यपदीय में श्रुति-स्मृति की महिमा पर्याप्त गाई गई है और स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक कहा गया है कि जो शब्द का संस्कार है, वह परमात्मा की सिद्धि[४०] है। वाक्यपदीय के श्लोक आस्तिक हृदय के उद्गार हैं। उसमें आविर्भूतज्योति वाले ऋषियों का सादर स्मरण है और भर्तृहरि ने अनादि निधन-शब्द तत्त्व की सिद्धि विशेष रूप में श्रुति के आधार पर ही प्रतिपादित की है। बौद्ध दर्शन ग्रंथों में भर्तृहरि का उल्लेख बौद्ध रूप में नहीं

---

३८. (अ) न्यू हिस्ट्री आफ इण्डियन पीपुल, गुप्त वाकाटक एज २००-५५० ए० डी०, वाल्यूम सिक्स्थ, पृ० २१४

३८. (ब) सुधाकर द्विवेदी, गणक तरंगिणी, पृ० १५

३९. मैक्समूलर का तक कुरू के नाम पत्र, इत्सिंग की भारत यात्रा की प्रस्तावना में उद्धृत, पृ० १०

४०. वाक्यपदीय १।१३३

है। जैन ग्रंथों में भर्तृहरि का बहुत उल्लेख है किन्तु वहाँ भी बौद्ध रूप में नहीं। अतएव इत्सिंग वाली कथा किसी अन्य भर्तृहरि से सम्बन्ध रखती होगी। वाचस्पति मिश्र की उक्ति भी उपर्युक्त आधार पर नितान्त चिन्त्य है। बहुत सम्भव है उपर्युक्त श्लोक वाचस्पति मिश्र ने किसी बौद्ध ग्रंथ से उद्धृत किया हो। वाक्यपदीय के श्लोक सभी प्रकार के ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं।

हाँ, वाक्यपदीय के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्हें किसी सम्प्रदाय से द्वेष नहीं था। वस्तुतः भर्तृहरि अत्यन्त शिष्ट व्यक्ति थे। उनके जैसे सुसंस्कृत विचारक संस्कृत वाङ्मय में कम हैं। वे खण्डन-मण्डन में नहीं पड़ते। अनेक विभिन्न मतों का बहुत ही सौजन्य के साथ उल्लेख करते हैं। कहीं-कहीं तो यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है कि भर्तृहरि का अपना मत कौन है। संस्कृत के प्राचीन टीकाकारों और विचारकों में अपने प्रतिपक्षी को या नास्तिक दर्शन के मानने वाले को खरी-खरी सुनाने और उनकी बुद्धि पर तरस खाने की आदत बहुत प्राचीन काल से देखी जाती है। भर्तृहरि ऐसी अहंमन्यता से सर्वथा मुक्त हैं।

वे उच्चकोटि के विचारक थे। बहुश्रुत थे। उन्होंने स्वयं लिखा है : "भिन्न-भिन्न आगमों के सिद्धान्तों के अध्ययन से प्रज्ञा और विवेक की प्राप्ति होती है। बुद्धि विशद होती है। केवल अपने तर्क और अपने दर्शन के पारायण से मनुष्य कितना जान सकता है! जो विभिन्न प्राचीन दर्शनों की उपेक्षा करते हैं और मिथ्या अभिमानवश वृद्धजनों की उपासना विद्या के लिए नहीं करते उनकी विद्या पूर्णरूप में सफल नहीं होती।"[४१] वाक्यपदीय को 'आगम संग्रह' का रूप देते हुए उन्होंने लिखा है कि व्याकरणदर्शन तथा अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों (न्याय प्रस्थान मार्ग) का अनुशीलन कर लेने के बाद इसकी रचना की गई है। भर्तृहरि की निरहंकारिता का एक प्रमाण तो यही है कि वाक्यपदीय ऐसे प्रौढ़ और अप्रतिम ग्रंथ को उन्होंने अपनी कृति न कहकर अपने गुरु की रचना माना।

अभिनवगुप्त जैसे आचार्य भर्तृहरि का सादर स्मरण करते हैं। वे सदा भर्तृहरि का 'तत्रभवान्' शब्द के साथ उल्लेख करते हैं। भर्तृहरि का सौजन्य, उनकी अगाध विद्वत्ता और उनकी चतुर्दिग् प्रसिद्धि आदि सबका द्योतक अभिनवगुप्त का निम्नलिखित उद्गार है—"प्रायः देखा जाता है कि संसार में जनता लोक-प्रसिद्धि के आधार पर किसी में विश्वास करती है और उसकी ओर अग्रसर होती है। यह विश्वास उसके नाम के बराबर सुनाई देने से, अथवा उसके आचरण, कवित्व, विद्वत्ता आदि की प्रसिद्धि के कारण जगता है। जैसे कि जब कहा जाता है कि यह उसी भर्तृहरि का श्लोक-प्रबन्ध है जिसने यह किया था, जिसकी उदारता ऐसी थी, जिसका इस शास्त्र में ऐसा सार है और इसलिए उनकी कृति आदरणीय है तब जनता उस ओर स्वयं झुक जाती है।"[४२]

---

४१. वाक्यपदीय २।४८२।४८३

४२. "इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्ध्या संभावनाप्रत्ययबलेन प्रवर्तते। स च संभावनाप्रत्ययो नामश्रवणवशात् प्रसिद्धान्यतदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुस्मरणेन भवति। तथाहि भर्तृहरिणेदं कृतं यस्यायमौदार्यमहिमा, यस्यास्मिन् शास्त्रे एवंविधः सारो दृश्यते, तस्यायं श्लोकप्रबन्धस्तस्मादादरणीयमेतदिति लोकः प्रवर्तमानो दृश्यते इति।"

—ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ५५३, (चौखम्भा संस्करण)

भर्तृहरि के ग्रन्थ

वैयाकरण भर्तृहरि के निम्नलिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं : महाभाष्य त्रिपादी (महाभाष्य-दीपिका), वाक्यपदीय और वाक्यपदीय १, २ पर स्वोपज्ञ वृत्ति। इनके शब्दधातु समीक्षा नामक ग्रंथ का भी उल्लेख मिलता है।

भर्तृहरि ने महाभाष्य के प्रथम अध्याय के तीन पाद पर व्याख्या लिखी है। तीन पाद पर होने के कारण उस विवरण को त्रिपादी कहते थे। व्याकरण सम्प्रदाय में भर्तृहरि 'टीकाकार' के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। यह प्रसिद्धि इसी भाष्य व्याख्या के कारण है। भर्तृहरि कृत भाष्यत्रिपादी का उल्लेख बर्धमान[४३] और हेलाराज आदि ने किया[४४] है। संप्रति यह व्याख्या केवल १।१।५३ तक मिलती है। इसके एक हस्तलेख की एक प्रतिलिपि श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के पास मैंने देखी है।[४५] प्रथम आह्निकों पर कैयट का प्रदीप भर्तृहरि की भाष्यदीपिका का लघु संस्करण है। कहीं-कहीं पूरे-के-पूरे वाक्य ज्यों-के-त्यों लिए गए हैं। भर्तृहरि की टीका का उल्लेख नागेश ने भी किया है।[४६] इत्सिग ने इसे 'भर्तृहरि शास्त्र' लिखा है और इसे चूर्णि की व्याख्या कहा है जो ठीक है। व्याकरण सम्प्रदाय में भाष्यकार चूर्णिकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वयं भर्तृहरि ने महाभाष्यकार को चूर्णिकार कहा है।[४७] इस ग्रंथ के कई महत्त्वपूर्ण वाक्यों का संकलन श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में कर दिया है।

भर्तृहरि कृत शब्दधातुसमीक्षा का उल्लेख उत्पल ने शिव दृष्टि की टीका में किया है।[४८] इस ग्रन्थ के केवल दो श्लोक मिलते हैं जो वहीं उद्धृत हैं। इनमें से एक श्लोक भर्तृहरि के नीतिशतक का प्रथम श्लोक है। उत्पल की दृष्टि से वाक्यपदीय और नीतिशतक के कर्ता एक ही भर्तृहरि हैं ऐसा जान पड़ता है। उत्पल का उद्धरण यों है :

न केवलंचात्रैव पश्यन्त्यभिधानेन सम्यग्ज्ञानाभास एव उक्तो यावच्छब्दधातुसमीक्षायामपि विद्वद्भर्तृहरिणा

दिक्कालादिलक्षणेन व्यापकत्वं विहन्यते ।
अवश्यं व्यापको यो हि सर्वदिक्षु स वर्तते ॥

---

४३. भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णकयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्याः व्याख्याता च। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २।

४४. त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदीकृता।
तस्मै समस्त विद्याश्रीकान्ताय हरये नमः॥ हेलाराज, प्रकीर्णकप्रकाश के अन्त में।

४५. अब छप चुका है।

४६. नागेश ने हरिटीका का उल्लेख इन स्थलों में किया है—महाभाष्यप्रदीपोद्योत, १।१।८, १।१।४०, १।३।२१।

४७. अस्मिस्तु दर्शने पाणिनिना मुखग्रहणं पठितमिति दृश्यते। चूर्णिकारस्तु भागप्रविभागमाश्रित्य प्रत्याचष्टे (भाष्यदीपिका, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का हस्तलेख) पृष्ठ १७६।

४८. भर्तृहरि के शब्दतत्त्वाद्वैत ग्रंथ की चर्चा अन्यत्र भी है—तेन यदाहः शब्दतत्त्वाद्वैत नाम काव्यं भर्तृहरेरात्माद्वैतं''' महाभाष्य व्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, आर० ४४३६।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ।।

इति लक्षणेन दिग्देशकालैरवच्छेदो विशिष्यमाणता निषिद्धा ।

—शिवदृष्टि पृष्ठ ८४

भर्तृहरि की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना वाक्यपदीय है। इसमें तीन काण्ड हैं। पहला आगम काण्ड, दूसरा वाक्य काण्ड और तीसरा पद काण्ड कहलाता है। पूर्व के आचार्य वाक्यपदीय शब्द से वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड ही समझते थे। तीसरा काण्ड प्रकीर्णक नाम से भी प्रसिद्ध था। हेलाराज ने वाक्यपदीय (पहला और दूसरा काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी और प्रकीर्णक पर प्रकीर्णकप्रकाश नाम की टीका लिखी है। स्वयं भर्तृहरि वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड के अन्त में पुस्तक की समाप्ति करते जान पड़ते हैं परन्तु वहीं उन्होंने तीसरे काण्ड की भी सूचना दे दी है :

वर्त्मनामत्र केषांचित् वस्तुमात्रमुदाहृतम् ।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा ।।

—वाक्यपदीय २।४९१

पुण्यराज ने तृतीय काण्ड को पूर्व के दोनों काण्डों का निष्यन्दभूत कहा है। वस्तुतः तृतीय काण्ड में व्याकरणदर्शन की अनेक मान्यताओं पर अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के संकेत के साथ विचार किया गया है। प्रकीर्णक उस तरह के ग्रन्थों को कहते थे जिनमें विषय-विभाग ठीक-ठीक बिना किए ही विचार किया जाता था (प्रकीर्णकत्वं च ग्रन्थस्य विषय-विभागेन बिना प्रवृत्तत्वमुच्यते—कल्लिनाथ, संगीत रत्नाकर ३।१)। इत्सिंग ने इसी को 'पेइ-न' कहा है जिसकी पहचान सबसे पहले किलहार्न ने प्रकीर्णक से की।[४९] प्रकीर्णक खण्डितरूप में ही मिलता है और पुण्यराज को भी इसके कुछ समुद्देशों का पता नहीं था। लक्षणसमुद्देश और बाधासमुद्देश इन दो का उल्लेख है पर वे मिलते नहीं हैं। पुण्यराज अथवा हेलाराज को भी वे नहीं मिले थे। लक्षणसमुद्देश का उल्लेख भर्तृहरि ने स्वयं किया है :

तत्र द्वादश षट् चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोधं-विस्तरेणव्याख्यास्यते

—वाक्यपदीय २।७६ पर हरिवृत्ति, पृष्ठ ४५ लाहौर संस्करण

बाधासमुद्देश का उल्लेख भी भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति में किया था। इसका निर्देश पुण्यराज ने किया है : **'यस्मादुक्तम् सेयमपरिणामविकल्पा बाधा विस्तरेण बाधासमुद्देशे समर्थयिष्यते इति'**

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७, पृष्ठ ५०

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर एक वृत्ति भी स्वयं लिखी थी। श्री चारुदेव शास्त्री ने इस वृत्ति को लाहौर से छापा है। अब तक केवल प्रथम काण्ड

---

४९. द्रष्टव्य—इण्डियन एण्टीक्वेरी, १८८३, खण्ड १२, पृष्ठ २२६, 'इत्सिंग की भारत यात्रा' के परिशिष्ट में अनूदित।

पर और द्वितीय काण्ड के एक-चौथाई हिस्से पर ही वृत्ति छपी है। श्री चारुदेव शास्त्री ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भर्तृहरि ने स्वयं वृत्ति लिखी थी और बनारस की पुस्तक में प्रथम-काण्ड की वृत्ति भर्तृहरि की वृत्ति का संक्षिप्त रूप[५०] है। भर्तृहरिवृत्ति के पोषक कई प्रौढ़तर प्रमाण मुझे भी मिले हैं जिनमें कुछ का निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग पृष्ठ २२६ पर लिखा है :

तदाह तत्रभवान् भर्तृहरिः प्रतिसंहृतक्रमान्तः सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा च अचला च चला च, प्रतिलब्धा समाधाना च, सन्निविष्ट-ज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासासंसृष्टार्थ प्रत्यवभासा च सर्वार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तप्रत्यवभासा च इति।

यह अंश वाक्यपदीय १।१४३ (१४४) की हरिवृत्ति पृष्ठ १२६ पर ज्यों का त्यों मिलता है।

धर्मकीर्ति के प्रमाण कार्तिक की टीका में कर्णकगोमी ने लिखा है :

यदाह भर्तृहरिः सर्वेषां पृथगर्थवत्ता सर्वेषु प्रतिशब्दं कृत्स्नार्थ परिसमाप्तेः। तथा यदेव प्रथमं पदमुपादीयते तस्मिन् सर्वे रूपार्थोपग्राहिणि नियमानुवाद-निबन्धनानि पदान्तराणि विज्ञायन्त इति।[५१]

गद्यमय होने के कारण यह अंश अवश्य ही हरिवृत्ति का होगा। अब तक के प्रकाशित हरिवृत्ति में यह अंश नहीं है।

पुण्यराज ने एक स्थान पर लिखा है :

एतेषां च वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशाल्लेखक प्रमादा-दिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पद काण्ड मध्ये न प्रसिद्धः।[५२]

पुण्यराज का यह कहना कि ग्रंथकार ने अपनी वृत्ति में लक्षणसमुद्देश का उल्लेख स्वयं किया है ठीक है क्योंकि वाक्यपदीय २।७६ की वृत्ति में लक्षणसमुद्देश का उल्लेख है।

भर्तृहरि के विवरण का उल्लेख वृषभ ने भी किया है :

यद्यपि च सकृदुपात्तानादिनिधनश्रुतिस्तथापि कारिकाविवरणग्रंथादवसीयते अर्थद्वयांगीकरणेन शास्त्रकृतोपात्तेति।

वृषभ, वाक्यपदीय १।१, ३ पृष्ठ

अतः भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर वृत्ति लिखी थी और चारुदेव शास्त्री ने जिस वृत्ति को प्रकाशित किया है वह भर्तृहरि की ही है।

हरिवृत्ति का अपना स्वतंत्र मूल्य है। अनेक गम्भीर विषयों का विवेचन इस वृत्ति में किया गया है। भाषा के दार्शनिक इतिहास के लिए तो वह अत्यन्त मूल्यवान है।

---

५०. द्रष्टव्य—वाक्यपदीय प्रथम काण्ड की भूमिका, लाहौर संस्करण, पृष्ठ १६-१८
५१. प्रमाणवार्तिक, पृ० ४६४, राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित
५२. वाक्यपदीय २।८७ लाहौर संस्करण

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भर्तृहरिशतक और ब्रह्मसूत्र की टीका तथा मीमांसा-सूत्र पर वृत्ति—इन ग्रंथों को भी भर्तृहरि ने लिखा था ऐसा सुना जाता है पर इन ग्रंथों को वैयाकरण भर्तृहरि की रचना मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।

वाक्यपदीय के अन्य टीकाकार

भर्तृहरि की स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त वाक्यपदीय पर बहुत-सी टीकाएँ लिखी गई थीं। वृषभ ने पूर्वाचार्यों की टीकाओं का संकेत किया है।

वृषभदेव

इस समय उपलब्ध टीकाओं में वृषभ की टीका उल्लेखनीय है। वृषभ का समय ५५० ई० है। यह ऊपर सप्रमाण निश्चय किया जा चुका है। वृषभ ने वाक्यपदीय और हरिवृत्ति दोनों पर टीका लिखी है। पहले वह वाक्यपदीय के श्लोक का भाव देते हैं। इसके बाद हरिवृत्ति के शब्दों की व्याख्याएँ करते हैं। वह व्याकरणशास्त्र और अन्य आगमों में निष्णात जान पड़ते हैं। हरिवृत्ति के अनेक दुरूह अंशों का परिज्ञान वृषभ की टीका के सहारे ही सम्भव है। इनकी टीका का नाम वाक्यपदीयपद्धति है।[५३] यह टीका प्रथम काण्ड पर ही उपलब्ध है। इसे चारुदेव शास्त्री ने लाहौर से प्रकाशित किया है।

पुण्यराज

पुण्यराज ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड (वाक्य काण्ड) पर टीका लिखी है। उनका दूसरा नाम राजानक शूरवर्मा था। उन्होंने लिखा है कि मैंने शशांक के शिष्य से वाक्य काण्ड पढ़ा था। यह कौन शशांक हैं इसके बारे में विशेष पता नहीं है। पुण्यराज का समय ९०० ई० के आसपास जान पड़ता है। पुण्यराज ने अपनी टीका में अनेक ग्रंथों और लेखकों का उल्लेख किया है। जैसे, काशिका वृत्ति,[५४] कुमारिल के श्लोकवार्तिक[५५], भर्तृहरि शतक[५६] का एक श्लोक, राघवानन्द नाटक का एक श्लोक आदि उसमें उद्धृत हैं।[५७] राघवानन्द वेंकटेश्वर की रचना है।

पुण्यराज ने 'इन्दोर्लक्ष्मस्मरविजयिनः' यह श्लोक वाक्यपदीय २/२४९ की टीका

---

५३. ट्रावन्कोर लाइब्रेरी के हस्तलेख नं० ३०७ वाली प्रति में यह पुष्पिका है : इति वृषभ-रचितायां वाक्यपदीयपद्धतौ प्रथमं काण्डं समाप्तम् ।

५४. "यद्येवं कर्मणीति किं मातुर्गुणैः स्मरणमिति कथं प्रत्युदाहृतम्"—वाक्यपदीय २।२०० पृ० १६४, यह अंश काशिका में २।३।५२ पर है। पुण्यराज ने यहीं 'कारकान्तरे त्वेकैवेति वृत्तिकाराः' भी लिखा है

५५. वाक्यपदीय २।६४ में मीमांसाश्लोकवार्तिक का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत है—
यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ॥ —मीमांसाश्लोकवार्तिक, स्फोटवाद ६९

५६. मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतः—भर्तृहरि शतक, वाक्यपदीय २।८९ में उद्धृत है

५७. रामोऽसौ भुवनेषु···श्रेणीभूत विशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः—वाक्यपदीय २।८९ । काव्य प्रकाश की व्याख्या चंद्रिका में यह श्लोक राघवानन्द नाटक का कहा गया है।

में उद्धृत किया है। यह श्लोक राजशेखर का कहा जाता है। परन्तु राजशेखर के ग्रंथों में नहीं मिलता। वस्तुतः यह राजशेखर का श्लोक नहीं हो सकता क्योंकि कुन्तक ने इस श्लोक को उद्धृत किया है। कुन्तक और राजशेखर समकालिक हैं। नीचे लिखे वक्तव्य से जान पड़ता है कि पुण्यराज आनन्दवर्धन के बाद हुए थे परन्तु थोड़े ही दिन बाद या समकालिक क्योंकि ध्वनि के भेद-उपभेद से वे पूर्णतया अवगत नहीं जान पड़ते :

एतेन श्लोकेन प्रकारद्वयेन लक्षणा प्रदर्शिता। कदाचिन्मुख्यार्थत्यागेनैवान्यस्योपलक्षणमेतदेवाविवक्षितवाच्यमुच्यते। कदाचिन्मुख्यार्थाविरामोपायपूर्वकमन्यार्थोपलक्षणमेतदेव विवक्षितान्यपरवाच्यमुक्तं विज्ञेयम्।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३१५

इस उद्धरण में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य दो शब्द आए हैं जो आनन्दवर्द्धन के गढ़े हुए हैं। साथ ही इनका उल्लेख लक्षणा के साथ किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि की पर्याप्त चर्चा पुण्यराज के समय में नहीं थी। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि मुकुल भट्ट ने ध्वनि के उपर्युक्त भेदों को लक्षणा में अन्तर्भाव किया था :

समवायसम्बन्धनिबन्धनायां तु लक्षणायाम् अविवक्षितवाच्यता छत्रिणो यान्तीत्यत्रेवोदाहार्या।

—अभिधावृत्तिमात्रिका पृष्ठ २०

पुण्यराज ध्वनि के भेदों को लक्षणा के भीतर लेते हुए मुकुलभट्ट से प्रभावित जान पड़ते हैं। मुकुलभट्ट भट्टकल्लट के पुत्र और प्रतिहारेन्दुराज के गुरु थे। भट्टकल्लट अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के समकालिक थे (राजतरंगिणी ५।६६)। इसलिए मुकुल भट्ट का समय ९०० ई० है। पुण्यराज ९०० ई० के बाद के हैं। पर वे अभिनव गुप्त (१००० ई०) के पूर्व हुए होंगे अन्यथा ध्वनि को लक्षणा के भीतर स्वीकार बिना विशेष युक्ति के नहीं कर सकते थे।

पुण्यराज ने वाक्यपदीय २।२४३ की टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

सतां च न निषेधोस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः॥

श्री के० एम० शर्मा ने बालंभट्ट के आधार पर इस श्लोक को खण्डनखण्डखाद्य का माना है और इसी आधार पर पुण्यराज को श्री हर्ष के बाद का बारहवीं शताब्दी का माना[५८] है। परन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता। मुद्रित खण्डनखण्डखाद्य में उपर्युक्त श्लोक नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यह बहुत प्रसिद्ध श्लोक है और अनेक ग्रंथों में उद्धृत पाया जाता है। हेलाराज ने भी वाक्यपदीय ३, पृष्ठ ११७ पर इसे उद्धृत किया है। श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में दूसरों की कारिकाओं का भी उल्लेख किया है। अतः यदि किसी प्रति में उपर्युक्त श्लोक मिले भी तो वह श्री हर्ष का ही है नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः यह श्लोक धर्मकीर्ति का है।

---

५८. एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च १९४२, पृ० ४११-१२

पुण्यराज ने अपनी टीका में संक्षेप-शैली को अपनाया है, फिर भी वह सौष्ठव-पूर्ण और गम्भीर है। भर्तृहरि की तरह पुण्यराज भी मीमांसा दर्शन के मर्मज्ञ जान पड़ते हैं।

हेलाराज

हेलाराज ने वाक्यपदीय (प्रथम और द्वितीय काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी। इसका उल्लेख उन्होंने कई स्थानों पर किया है।[५९] अब तक यह टीका उपलब्ध नहीं हो सकी है। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड (प्रकीर्णक) पर प्रकीर्णप्रकाश नाम की इनकी टीका है जो काशी से छपी है और साधन क्रिया समुद्देश से लेकर वृत्ति समुद्देश तक ट्रावंकोर से भी दो भागों में शुद्ध रूप में छपी है।

हेलाराज कश्मीरी थे। वे मुक्तापीड के मंत्री लक्षण के वंशज थे और उनके पिता का नाम भूतिराज था। अभिनवगुप्त ने अपने साहित्यिक गुरु इन्दुराज के पिता का नाम भी भूतिराज बताया है।[६०] यदि भट्टेन्दुराज और हेलाराज भाई हों तो हेलाराज का समय ९७५ ई० के आसपास होना चाहिए। हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। वाक्यपदीय के वृत्तिसमुद्देश के संपादक श्री रवि वर्मा ने कैयट और हेलाराज के कई समान वाक्यों का उद्धरण दिया है और संकेत किया है कि हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। वस्तुतः हेलाराज कैयट के बाद के हैं। हेलाराज ने कैयट के कई व्याख्यानों का उनका बिना नाम दिये खण्डन किया है। जैसे, हेलाराज ने लिखा है :

'धातुरर्थः प्रयोजनमस्येत्येतत्तु भाष्यव्याख्यानमयुक्तम्।'

—वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश, पृष्ठ १७२

हेलाराज ने यहाँ जिस भाष्यव्याख्यान का उल्लेख किया है वह कैयट का है। कैयट ने लिखा है :

धात्वर्थः क्रिया, सा अर्थः प्रयोजनं यस्य साधनस्य तस्मिन् वर्तमानाद् उपसर्गात् स्वार्थे वति प्रत्ययः।

—कैयट प्रदीप ५।१।११८, ४।१।७८ भी द्रष्टव्य

अलंकार सर्वस्व (११३५ ई०) में कैयट के 'भाष्याब्धौ क्वातिगंभीरम्' इस वाक्य का उल्लेख है।[६१] ई० ११७२ में लिखी दुर्घट वृत्ति में कैयट का कई बार नाम आया है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'व्याकरण का इतिहास' में कैयट का समय ई० १०३५ के लगभग अनुमान से निश्चित किया है। श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य कैयट का

५९. विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति। (वाक्यपदीय ३।४६ पृ० ३९।

६०. "श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृप्रसादः" तंत्रालोक ३७।६०, डा० के० सी० पाण्डेय द्वारा अभिनवगुप्त ऐन हिस्टारिकल ऐण्ड फिलासफिकल स्टडी, पृ० १४३ पर उद्धृत।

६१. अलंकार सर्वस्व अंतिम श्लोक की वृत्ति। इस पर डा० वी० राघवन् ने प्रकाश डाला था।

समय ९०० ई० सन् के आसपास मानते हैं।[६२] इस आधार पर हेलाराज और इन्दुराज को सहोदर भाई माना जा सकता है क्योंकि इन्दुराज का भी यही समय है।

हेलाराज ने वाक्यपदीय ३, द्रव्य समुद्देश ९ की टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

एकदेशेन सारूप्ये सर्वं स्यात् सर्ववेदनम्।
सर्वात्मना तु सारूप्ये ज्ञानमज्ञानतां व्रजेत्॥

यह तत्त्वसंग्रह की १३५८वीं कारिका है। तत्त्वसंग्रह के लेखक शान्तरक्षित का समय ७५० ई० है।

माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में वाक्यपदीय के व्याख्याता हेलाराज का उल्लेख किया है :

कर्मप्रवनीयेन वै पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्वं इति हेलाराजो व्याख्यातवान्।

इसलिए १३वीं शताब्दी के पूर्व हेलाराज हुए थे। १००० ई० इनका समय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती।[६३]

हेलाराज अतीव प्रतिभासम्पन्न लेखक थे। शब्दप्रभा और प्रकीर्णकप्रकाश के अतिरिक्त इन्होंने क्रियाविवेक, वार्तिकोन्मेष और अद्वयसिद्धि नाम के ग्रन्थों की भी रचना की थी। इन पुस्तकों का उल्लेख उनकी टीका में मिलता है।

हेलाराज की लेखनी में अद्भुत शक्ति है। वे महाभाष्य में निष्णात, आगम शास्त्र के पण्डित, विभिन्न दर्शनों के परिज्ञाता और वाक्यपदीय के परम मर्मज्ञ हैं। इनकी टीका में जो मौलिकता और चारुता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

धर्मपाल

इत्सिंग के अनुसार धर्मपाल ने भर्तृहरि के पेइ-न (प्रकीर्णक) पर टीका लिखी थी। धर्मपाल की टीका के बारे में अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता। इत्सिंग के अनुसार-

---

६२. परिभाषा वृत्ति की भूमिका, पृ० ८।

६३. हेलाराज ने कई श्लोकों और वाक्यों के उद्धरण दिए हैं जो अन्य कवियों के हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है, क्योंकि वे उद्धरण उनके काल पर प्रकाश डालते हैं। इन श्लोकों और वाक्यों का मूल अभी तक नहीं मिल पाया है :

ईर्ष्यावशेन कलुषत्वमुपागतस्य
दूरान्मुखस्य तव सुन्दरि साम्यमेत्य।
चेतः प्रहर्षभरपूरितपूर्णदेहः
स्वाङ्गेष्वपि प्रसभमद्य न माति चन्द्रः॥

—वाक्यपदीय, ३, वृत्तिसमुद्देश ३७३ में उद्धृत

रोलम्ब शवल (गरल) व्याल तमालश्यामलं नभः।
नभोनिर्मलनिर्स्त्रिंश व्यग्रपाणय वे॥

—वही, वृत्तिसमुद्देश ३७२

भर्तृहरि और धर्मपाल समकालिक थे। धर्मपाल शीलभद्र के गुरु थे। ह्वेनच्यांग (६२५ ई०) के समय में शीलभद्र इतने अधिक वृद्ध थे कि वह ह्वेनच्यांग को पढ़ा नहीं सकते थे। धर्मपाल की मृत्यु ५७० ई० में हो गई थी। धर्मपाल अपने समय में नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य थे।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय का अन्यदर्शन के क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा। छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत में जितने महान चिन्तक उत्पन्न हुए वे सब किसी-न-किसी रूप में भर्तृहरि-दर्शन से परिचित जान पड़ते हैं। भारतीय चिन्तन परंपरा में एक खटकने वाली प्रथा प्राचीन काल से ही दिखाई देती है। वह है अपने संप्रदाय अथवा दर्शन का सर्वथा पोषण और दूसरों के विचारों का खण्डन। जो विचारक जिस दर्शन से नाता जोड़ लेता था, वह अपनी प्रतिभा का उपयोग उसी के समर्थन में करता था और अन्य मत उसे त्रुटिपूर्ण दिखाई देते थे। संप्रदायनिरपेक्ष रूप में स्वतंत्र विचारक भारतीय दर्शन के इतिहास में अल्प हैं। भर्तृहरि के मतों की समीक्षा भी प्रायः साम्प्रदायिक आधार पर की गई है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अन्य दर्शनों के भी विचारों को स्थान दिया था किन्तु समीक्षकों ने उन सब विचारों को वाक्यपदीय में लिखे देखकर भर्तृहरि का ही मानकर उनकी समीक्षा की है। इसके एक रोचक उदाहरण का उल्लेख आवश्यक है। भर्तृहरि ने वाक्यकाण्ड के आरम्भ में वाक्य के कई लक्षण एक साथ दे रखे हैं। ये लक्षण निश्चित रूप में संगृहीत हैं। भर्तृहरि ने भी स्वयं 'वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि ये वाक्यलक्षण संगृहीत हैं। उन्होंने 'न्याय दर्शिनाम्' शब्द से यह भी संकेत कर दिया है कि इन लक्षणों का सम्बन्ध मीमांसा दर्शन से है। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने भी इसे मीमांसकों का वाक्यलक्षण माना है और तदनुरूप व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु कुमारिल भट्ट को ये लक्षण वाक्यपदीय में दिखलाई दिए और सबका उन्होंने खण्डन कर दिया। कुमारिल के श्लोकवार्तिक के टीकाकार सुचरितमिश्र और पार्थसारथि मिश्र ने भी वैयाकरणों के मत के रूप में वाक्यपदीय में दिए वाक्यलक्षण को उद्धृत कर उनका खण्डन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि समीक्षा करते समय आवश्यक छानबीन नहीं की जाती थी। अवश्य ही दूसरे दर्शन के आचार्यों द्वारा उल्लिखित वाक्यपदीय सम्बन्धी मत अनेक दृष्टियों से बहुत उपादेय हैं और स्वयं भर्तृहरि के समझने में बहुत सहायक होते हैं।

बौद्ध दार्शनिकों में धर्मकीर्ति ने भर्तृहरि की मान्यताओं की समीक्षा की है। यद्यपि धर्मकीर्ति ने भर्तृहरि का नाम नहीं लिया है किन्तु उनकी मान्यताओं का उल्लेख अवश्य किया है। प्रमाणवार्तिक के टीकाकार कर्णकगोमी और प्रज्ञाकर गुप्त ने भी वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओं को उद्धृत कर उनकी समीक्षा की है। कर्णकगोमी की टीका में भर्तृहरि की वृत्ति का एक अंश मिल गया है जो प्रकाशित वृत्ति में खण्डित

है। शांतरक्षित और कमलशील भी भर्तृहरि से प्रभावित हैं। कमलशील ने कई कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट किया है। किसी बौद्ध आचार्य ने 'शब्दार्थचिन्ताविवृत्ति' नाम का एक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा था ऐसा रत्नश्रीज्ञान रचित काव्यादर्श की टीका से जान पड़ता है।[६४]

जैन आचार्यों में मल्लवादिक्षमाश्रमण, वादिदेव सूरि, प्रभाचन्द्र आदि ने वाक्यपदीय के अनेक सिद्धान्तों पर विचार किया है। वादिदेव सूरि के सामने हरिवृत्ति भी थी और इसके कुछ अंश वहीं मिलते हैं।

भर्तृहरि की सबसे अधिक समीक्षा कुमारिल भट्ट ने की है। श्लोकवार्तिक और तंत्रवार्तिक दोनों में स्थान-स्थान पर भर्तृहरि का नाम दिए बिना किन्तु इनकी कारिकाओं के संकेत देते हुए कुमारिल ने वर्ण, पद, वाक्य, प्रतिभा, स्फोट-सम्बन्धी वाक्यपदीय में आए मतों की आलोचना की है। भट्ट उम्बेक, सुचरित मिश्र और पार्थसारथि ने वाक्यपदीय की कई कारिकाओं के उद्धरण दिए हैं और उनका खण्डन किया है। मीमांसकों में मण्डन मिश्र व्याकरणदर्शन के प्रति उदार हृदय रखते थे। उन्होंने कुमारिल के कई तर्कों के उत्तर दिए हैं। किन्तु स्फोटसिद्धि की रचना का मुख्य उद्देश्य, मेरी समझ में, व्याकरण के सिद्धान्त के समर्थन की अपेक्षा धर्मकीर्ति का खण्डन है। वस्तुतः स्फोटसिद्धि के अधिकांश वाक्यसमूह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के हैं, अल्प मण्डनमिश्र के हैं। वाचस्पति मिश्र ने मीमांसादर्शन की दृष्टि से तत्त्व-बिन्दु की रचना की है। इसमें भी वाक्यपदीय की आलोचना है।

प्राचीन नैयायिकों में जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में व्याकरणदर्शन की कुछ मान्यताओं की आलोचना की है। जयन्त भट्ट अच्छे वैयाकरण भी थे। उनका हृदय व्याकरणदर्शन की ओर है और मस्तिष्क न्यायदर्शन की ओर।

छठी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक के प्रसिद्ध वैयाकरणों में काशिकाकार (जयादित्य और वामन), न्यासकार, कैयट और भोज प्रमुख हैं। यद्यपि इन आचार्यों ने व्याकरणदर्शन पर ग्रन्थ नहीं लिखे हैं किन्तु इनकी टीकाओं में व्याकरण-दर्शन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री है। इनमें न्यासकार बड़े ही मौलिक विचारक थे। कैयट (ई० ६००) ने महाभाष्यप्रदीप में वाक्यपदीय का बहुत आधार लिया है और वाक्यपदीय के अनेक उलझे मतों को थोड़े में स्पष्ट रूप में रखने में वे बेजोड़ हैं। महाभाष्य के दार्शनिक संकेतों को वे स्पष्ट करते चलते हैं। ऐसे अवसर पर उनकी शैली यों होती है :

---

६४. एतच्च विस्तरेण शब्दार्थचिन्ताविवृतौ चिन्तितम् इति ततोवधार्यम्।—रत्नश्रीज्ञान, काव्यलक्षण टीका—पृ० १४३। यह विवृति प्रमाणवार्तिक के शब्द चिन्ता प्रकरण पर थी अथवा किसी शब्दार्थचिन्ता ग्रन्थ पर थी, अज्ञात है। प्रमाणवार्तिक के 'शब्द चिन्ता प्रकरण' से उद्धृत वक्तव्य का सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। उद्धरण में वाक्यपदीय की भी एक कारिका है जिसमें पाठभेद है। उद्धरणकल्प उद्धरण में क्रिया की प्रधानता सिद्ध की गई है।

'भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनम् अशिश्रियत्'
'ज्ञानस्य शब्दरूपत्वापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य'[६५]

कयट का प्रदीप एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है।

भोज (९७५ ई०) के सरस्वतीकण्ठाभरण में तो नहीं किन्तु शृंगार-प्रकाश में व्याकरणदर्शन सम्बन्धी अपार सामग्री है। भोज ने व्याकरणदर्शन से सम्बद्ध प्रायः सभी पक्षों पर विचार किया है। और सब जगह से सामग्री एकत्र कर उसे विस्तृत रूप दे दिया है। इस ग्रन्थ में वाक्यपदीय की बहुत कारिकाएँ उद्धृत हैं। सबसे अधिक हर्ष की बात तो यह है कि वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड की लगभग दो सौ कारिकाओं की हरिवृत्ति शृंगारप्रकाश में विभिन्न स्थलों पर ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। भोज ने उन्हें ऐसे ढंग से अस्तव्यस्त रूप में रखा है कि प्रथम दृष्टि में उन्हें पहचानना सरल नहीं है। महाभाष्यत्रिपादी (दीपिका) के भी कुछ भाग शृंगारप्रकाश में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनेक उद्धरण अज्ञात वैयाकरणों के हैं। कहीं-कहीं भोज ने भर्तृहरि की समीक्षा भी की है। उनके प्रतिभादर्शन का उन्हीं के शब्दों में उल्लेख कर भोज ने उससे असहमति व्यक्त की है। स्फोट और शब्दब्रह्मवाद का अपने ढंग से उल्लेख किया है।

ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक संस्कृत के वैयाकरणों का एक जाल-सा बिछा हुआ है। इस बीच कुछ ग्रन्थ व्याकरण के दार्शनिक पक्ष को सामने रखकर लिखे गए थे उनमें भी कुछ ही उपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में भी प्रकाशित ग्रन्थ अल्प हैं। इन प्रकाशित ग्रन्थों के सब लेखक भी मूल रूप से दार्शनिक विचारधारा के नहीं थे। उन्होंने जैसे व्याकरण के अन्य पक्षों पर विचार किया वैसे ही व्याकरणदर्शन पर भी कुछ लिखा। किन्तु इस रूप में भी बहुत-सी उपादेय सामग्री अभी तक सुरक्षित है। इस अवधि में व्याकरणदर्शन पर लिखने वालों में पुरुषोत्तमदेव, सायण, शेष श्रीकृष्ण और भट्टोजि दीक्षित प्रमुख हैं। पुरुषोत्तमदेव (बारहवीं शताब्दी) ने व्याकरण की अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनमें उनका कारक-चक्र व्याकरणदर्शन से सम्बन्ध रखता है। सायण (चौदहवीं शताब्दी) अपने युग के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने सर्वदर्शन संग्रह में पाणिनिदर्शन के नाम से व्याकरण-दर्शन का परिचय दिया है। शेष श्रीकृष्ण अकबर के समय में थे और भट्टोजि दीक्षित के गुरु थे। उन्होंने शब्दाभरण नाम का एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा था जो आज अनुपलब्ध है। इनका 'स्फोटतत्त्व निरूपण' प्रकाशित है। इनके प्रक्रियाप्रकाश और पदचन्द्रिका-विवरण में भी व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों की चर्चा है। पदचन्द्रिका उनका स्वतन्त्र व्याकरण है। शेष श्रीकृष्ण के पुत्र शेष नारायण ने महाभाष्य पर सूक्तिरत्नाकर नाम की टीका लिखी है। इसमें मीमांसादर्शन और व्याकरणदर्शन का कई स्थलों पर तुलनात्मक विवेचन मिलता है। भट्टोजि दीक्षित (१६०० ई०) ने शब्दकौस्तुभ में व्याकरण के दर्शन पक्ष पर भी यथास्थान विचार किया है। इनमें आई हुई कारिकाओं का संग्रह वैयाकरणसिद्धान्तकारिका के नाम से ज्ञात है। इनमें व्याकरण के दार्शनिक

६५. महाभाष्यप्रदीप १।१।६४, १।४।२६

पदार्थ उल्लिखित हैं।

सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अनेक आचार्यों ने संस्कृत व्याकरणदर्शन की सुरक्षा में योग दिया जिनमें कुछ नैयायिक भी हैं। इनमें उल्लेखनीय कौण्डभट्ट, नागेश भट्ट, जगदीश भट्टाचार्य, कृष्ण मित्र, भरत मिश्र आदि हैं। कौण्ड भट्ट ने वैयाकरणभूषण लिखा जो भट्टोजि दीक्षित की कारिकाओं की व्याख्या है। उसका लघु संस्करण वैयाकरणभूषणसार नाम से प्रसिद्ध है। वैयाकरण भूषण विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है और पहली बार एक वैयाकरण ने मीमांसकों, नैयायिकों और वेदान्तियों के आक्षेपों के उत्तर देने का प्रयत्न किया है। वैयाकरणभूषणसार पर प्रकाशित टीकाओं में हरिराम काले की काशिका महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। हरिवल्लभ ने भी इस पर दर्पण नाम की टीका लिखी है।

नागेश भट्ट (१७०० ई०) ने व्याकरणदर्शन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ 'वैयाकरण-सिद्धान्तमंजूषा' लिखा है। इसका एक लघु संस्करण परमलघुमंजूषा है। मंजूषा की कला टीका पृ० ५३०, ५३५ पर गुरुमंजूषा का भी उल्लेख है। नागेश ने वाक्यपदीय विशेषकर पुण्यराज और हेलाराज के आधार पर इसकी रचना की है। किन्तु मीमांसा और न्याय के पदार्थों पर भी विचार किया है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। नागेश ने स्फोटवाद पर एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है जो अड्यार से प्रकाशित है। नागेश की मंजूषा पर रामसेवक त्रिपाठी के पुत्र कृष्ण मित्र की कुञ्जिका नाम की टीका है। इस पर कला टीका नागेश के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड की लिखी हुई है। दोनों ही टीकाएँ सारगर्भित हैं।

जगदीश भट्टाचार्य की 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' भी प्रसिद्ध पुस्तक है। श्री गिरिधर भट्टाचार्य रचित 'विभक्त्यर्थनिर्णय' और गोकुलनाथ रचित 'पदवाक्यरत्नाकर' उल्लेखनीय हैं। भरत मिश्र ने स्फोटवाद पर छोटी-सी किन्तु विचारपूर्ण पुस्तक लिखी है। कृष्णमित्र ने व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। नागेश की मंजूषा पर इनकी टीका का उल्लेख हो चुका है। व्याकरणदर्शन से सम्बन्ध रखने वाले इनके कई छोटे-छोटे ग्रन्थ भी प्रकाशित हैं। इनमें वादसुधाकर, लघुविभक्त्यर्थनिर्णय और वृत्तिदीपिका उल्लेखनीय हैं। कृष्णमित्र के पुत्र लक्ष्मीदत्त का पदार्थदीपक भी व्याकरणदर्शन का ग्रंथ है। मौनी श्रीकृष्णभट्ट की स्फोटचंद्रिका, रसभनन्दि का कारकसम्बन्धोद्योत, अचलोपाध्याय का वाक्यवाद, श्री हरियशोमिश्र की वाक्यदीपिका (वाक्यवाद टीका) भी उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में व्याकरणदर्शन पर अल्प कार्य हुआ है। डॉ० गोपीनाथ जी कविराज, प्रो. के. एस. ए. अय्यर और पं० अम्बिकाप्रसाद उपाध्याय ने व्याकरणदर्शन पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती की दो पुस्तकें 'फिलासफी ऑफ संस्कृत ग्रामर' और 'लिंग्विस्टिक स्पैकुलेशन ऑफ द हिन्दूज़' इस अवधि की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। पं० रामाज्ञा पाण्डेय का प्रतिभादर्शन और पं. सभापति उपाध्याय रचित मंजूषा की टीका भी उल्लेखनीय हैं।

इधर व्याकरणदर्शन की ओर कई विद्वानों का ध्यान गया है और इस विषय में शोधकार्य हो रहे हैं। डॉ० के० राघवन् पिल्लै ने वाक्यपदीय का अंग्रेजी में अनुवाद

किया है। प्रो. अय्यर ने भी प्रथम काण्ड सवृत्ति का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। पं. रघुनाथ शास्त्री ने वाक्यपदीय प्रथम काण्ड पर वृषभ के आधार पर संस्कृत में टीका लिखी है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से वाक्यपदीय से सम्बद्ध विषय पर कुछ प्रबन्ध अंग्रेजी और हिन्दी में प्रस्तुत किए गए हैं जिनमें उल्लेखनीय डॉ० गौरीनाथ शास्त्री का 'फिलासफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग' है।

२

वाक्-ध्वनि-वर्ण-शब्द

व्याकरण का सम्बन्ध भाषा से है और भाषा का मूल रूप वाक् है। वाक् का एक स्वतंत्र दर्शन है। वाक् के बिना जगत् सूना और जीवन पंगु है। संसार के प्रायः सारे व्यवहार वाग्-व्यापार पर ही निर्भर हैं। सभ्यता और संस्कृति इसकी गोद में फूलती-फलती हैं। वाक् केवल विचारों के विनिमय का ही माध्यम नहीं, अपितु विश्व में जो कुछ सत्य है, शिव है, सुन्दर है उन सब का भी व्यंजक है। वाक् का एक स्थूल रूप है, एक सूक्ष्म रूप है। स्थूल रूप में वाक् भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। सूक्ष्म रूप में वाक् ब्रह्ममय है, चिति तत्त्व है। वाक् तत्त्वमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये (वाक्यपदीय १।१२७ हरिवृत्ति)। भर्तृहरि ने वाक् की महिमा का उद्घाटन मुख्य रूप में तीन तरह से किया है, श्रुति के आधार पर, आगम के आधार पर और भाषाविज्ञान के आधार पर। वेदों और उपनिषदों में वाक् पर पर्याप्त विचार किया गया है। भर्तृहरि ने श्रुतियों के उन वाक्यों को उद्धृत किया है जिनमें वाक् सृष्टि का मूल तत्त्व मानी गयी है। सम्पूर्ण सृष्टि नाम और रूप इन दो वर्गों में विभाजित है। दोनों एक ही के विवर्त हैं। रूप अपने सूक्ष्म रूप में नाम है :

नामैवेदं रूपत्वेन वर्तते रूपं चेदं नामभावेवतस्थे।
एके तदेकमविभक्तं विभेजुः प्रागिवान्ये भेदरूपं वदन्ति॥

—वाक्यपदीय १।१२ हरिवृत्ति में उद्धृत

वेद में वाक् को सूक्ष्म और अर्थ से अविभक्त तत्त्व कहा गया है और इसके नाना रूप माने गये हैं :

सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमनभिष्यन्दमानाम्।
उतान्ये विदुरन्यामिव च एनां नानारूपामात्मनि संनिविष्टाम्॥

—वाक्यपदीय १।१ हरिवृत्ति में उद्धृत

वेद को ब्रह्मराशि कहा गया है। वेद ब्रह्म का प्राप्ति उपाय है और अनुकार भी है। प्राप्ति शब्द का प्रयोग यहाँ पारिभाषिक है। भर्तृहरि के अनुसार 'मेरा' या 'मैं' इस अहंकार-ग्रंथि का सर्वथा उन्मूलन ब्रह्म की 'प्राप्ति' है। कुछ लोगों के मत में विकारों का अपने मूलप्रकृतिरूप में हो जाना प्राप्ति है। प्राप्ति के निम्नलिखित नव विकल्प भर्तृहरि ने वाक्यपदीय १।५ की वृत्ति में गिनाए हैं—

(१) **वैकरण्य**—चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों, हाथ-पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियों,

बुद्धि और मन इन सब की निवृत्ति को वैकरण्य कहते हैं। क्योंकि संसार का परिज्ञान इन्द्रियों द्वारा ही होता है, इन्द्रियों की निवृत्ति से संसार की निवृत्ति मान ली गई है।

(२) **असाधना**—वृषभ के अनुसार असाधना का अर्थ अबहिः साधना है। बाह्य संसार में अनुकूल विषयों की साधना भी की जाती है। उससे भी तृप्ति होती है। परन्तु अन्तःसाधना का ही महत्त्व अधिक है।

(३) **परितृप्ति**—वह तृप्ति जिसमें कोई इच्छा नहीं रह जाती।

(४) **आत्मतत्त्वम्**—वह अवस्था जिसमें बाह्य परिस्थिति सर्वथा ओझल हो जाती है और व्यक्ति केवल आत्मानुभूति में लीन हो गया रहता है। उपनिषदों में इस परिस्थिति को प्रिय स्त्री से आलिंगित पुरुष की आत्मविभोर परिस्थिति के प्रतीक के द्वारा व्यक्त किया है (आत्मतत्त्वं यदुपनिषत्सु वर्ण्यते यथेष्टया स्त्रिया परिष्वक्तो न किंचन वेद इति—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२१—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।५)।

(५) **आत्मकामत्व**—रूप, रस आदि विषय-भोगों की कामना न होना और केवल आत्मा की कामना होना आत्मकामत्व है। आत्मतत्त्व और आत्मकामत्व में भेद यह है कि आत्मतत्त्व में आत्मानुभूति की गहराई द्योतित है जबकि आत्मकामत्व में बाह्य विषयों में अनासक्ति लक्षित है।

(६) **अनागन्तुकार्थत्व**—आगन्तुक या परिवर्तनशील भोगों में तितिक्षा का होना। श्रीमद्भगवद्गीता में संस्पर्शज भोगों को उत्पन्न होनेवाला (आगामी) माना गया है।

(७) **परिपूर्ण शक्तित्व**—सब तरह के सामर्थ्य का होना।

(८) **कालवृत्तियों का आत्ममात्रा में असमावेश**—जन्म, विपरिणाम आदि विकार कालवृत्ति के रूप हैं। कालवृत्ति के धर्मों का आत्मवृत्ति के धर्मों से पृथक् परिज्ञान कालवृत्तियों का आत्ममात्रा में असमावेश है।

(९) **सर्वात्मना नैराश्य**—सर्वथा निरीह होना। नैराश्य परमसुख माना गया है।

प्राप्ति के उपर्युक्त भेद एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न न होकर एक-दूसरे से मिले हुए हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि वेद के प्रसंग में प्राप्ति शब्द का जो पारिभाषिक अर्थ मीमांसादर्शन में गृहीत है उससे अतिरिक्त अर्थ यहाँ भर्तृहरि द्वारा गृहीत हुआ है।

वेद ब्रह्म का अनुकार अर्थात् अनुकरण माना गया है। ऋषियों ने दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थों का सर्व साधारण के लाभ के लिए प्रवचन किया है। यह प्रवचन वाक् के द्वारा ही सम्भव है। यद्यपि वाक् सूक्ष्म, नित्य तथा अतीन्द्रिय है फिर भी ध्वनि-नाद के संयोग से वह अभिव्यक्त होकर भेद के द्वारा अभेद के प्रतिपादन में समर्थ होती है। सूक्ष्म और अतीन्द्रिय वाक् प्रतिभा द्वारा क्रमशक्ति के साहचर्य से ज्ञान के रूप में, अर्थ के रूप में परिणत होती है और उपदेश का विषय बनती है। अतीन्द्रिय के बोध को समझाने के लिए भर्तृहरि ने स्वप्न वृत्त का उदाहरण दिया है। स्वप्न में बिना बाह्य व्यापारों के विषय अनुभूत होते हैं और उनका अन्वाख्यान किया जाता है।

यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मभ्योपरेभ्यः प्रवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति स्वप्नवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्त इत्येष पुराकल्पः।

—वाक्यपदीय १।५ हरिवृत्ति पृ० १३ (द्रष्टव्य-निरुक्त १।२०।२)

अतीन्द्रिय, प्रज्ञास्वरूप वाक् कैसे ज्ञान का अथवा प्रत्यक्ष का विषय होती है इस पर भर्तृहरि की तरह योगसूत्र १।४३ के भाष्य में व्यास ने भी प्रकाश डाला है। उनके मत में शब्द के साहचर्य से अतीन्द्रिय और असंकीर्ण प्रज्ञा ज्ञान के रूप में बदल जाती है और प्रत्यक्ष का विषय होती है। योगियों को सूक्ष्म प्रज्ञा का दर्शन "निर्वितर्क समाधि" में होता है। किन्तु निर्वितर्क समाधिज दर्शन शब्द संकेत के साहचर्य से परिशुद्ध स्मृति में ग्राह्यस्वरूप वाला हो जाता है। बिना शब्द का सहारा लिए उस निर्वितर्क समाधिज ज्ञान का उपदेश दूसरों को दिया ही नहीं जा सकता और न वह दूसरों से गृहीत हो सकता है। ग्राह्यस्वरूप वाली अवस्था को 'निर्वितर्का समापत्ति' कहते हैं। दृष्ट मंत्रों का वाणीरूप में व्यक्त होने का प्रकार यही माना जाता है। इसी पद्धति से वेद प्रकाश में आए। इसमें यास्क, व्यास और भर्तृहरि एकमत[1] हैं।

वाक् की महिमा उसके व्यावहारिक दृष्टि से भी स्पष्ट है। वाक् और ज्ञान के विषय में दो तरह के मत प्रचलित रहे हैं। कुछ लोग मानते हैं कि शब्द प्रकृति है और ज्ञान उसका विकार है। कुछ आचार्य ज्ञान को प्रकृति और शब्द को उसका विकार मानते हैं। पहले पक्ष के अनुसार शब्द-भावना बीज-रूप में मस्तिष्क में उद्बुद्ध होती है। इसके बाद उसके अर्थ का संवेदन होता है। दूसरे पक्ष के अनुसार अर्थ-ज्ञान पहले होता है। बाद में उसके लिए शब्द की सृष्टि होती है। इसलिए ज्ञान प्रकृति और शब्द उसका विकार है। भर्तृहरि पहले पक्ष के समर्थक हैं। उनके मत में शब्द भावना अनादि है। शब्द की अभिव्यक्ति के प्रकार अर्थात् प्रयत्न भी स्वाभाविक (प्रतिभाजन्य) हैं।

अनादिश्चैषाशब्दभावना प्रतिपुरुषमवस्थितज्ञानबीजपरिग्रहा। न ह्येतस्याः कथञ्चित्पौरुषेयत्वं संभवति। तथा ह्यनुपदेशसाध्याः प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादयः।

—वाक्यपदीय १।१२३ हरिवृत्ति पृ० ११०

शब्दानुविद्ध ज्ञान के द्वारा वस्तु का अवभास होता है। सुप्तावस्था में भी जाग्रत् अवस्था की तरह ज्ञानवृत्ति व्यापारित रहती है। केवल अन्तर यह है कि स्वप्नावस्था में शब्दभावनाबीज अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रहते हैं। अतः उस अवस्था को आचार्यों ने तामसी अवस्था (अस्पष्ट अवस्था) कहा है।[2]

सभी प्रकार के ज्ञान निम्नलिखित तीन प्रकार से व्यावहारिक अनुभव के विषय

---

१. द्रष्टव्य-वाक्यपदीय १।१५ हरिवृत्ति पृ० १३-१४, निरुक्त १।२० और योगसूत्र व्यास भाष्य १।४३ और गोपीनाथ जी कविराज का लेख शैव एंड शाक्त स्कूल, हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टर्न एंड वैस्टर्न, वाल्यूम फर्स्ट, पृष्ठ ४०१, ४०२।

२. हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२४, पृष्ठ १११।

होते हैं—(१) स्मृतिनिरूपणा (२) अभिजल्प निरूपणा और (३) आकार निरूपणा के द्वारा।

शब्दानुविद्ध बुद्धि के द्वारा 'यह है', 'ऐसा है' आदि का जो स्मरण होता है वह स्मृति-निरूपणा कहा जाता है। स्मृति के द्वारा शब्द और अर्थ का अभेद-ज्ञान अभिजल्प निरूपणा कहलाता है। 'यह वह है' इस रूप में जब शब्द का अर्थ के साथ अध्यास किया जाता है उसे शब्द का अभिजल्प कहा जाता है। भर्तृहरि ने अभिजल्प की परिभाषा यों की है:

सोऽयमिति सम्बन्धाद्रूपमेकी कृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते॥

—वाक्यपदीय २।१३०

कुछ लोगों के मत में 'वह' इस तरह के अनुसंधान में स्मृति, 'यह वही है' इस तरह के बोध में प्रत्यभिज्ञा, 'वह उसके तरह है' इस तरह के ज्ञान में उत्प्रेक्षा, 'यह वही है' इस तरह की धारणा में अनुयोगव्यवच्छेद होता है और ये सभी विकल्प अभिजल्प के ही भेद हैं।[3]

'यह इसका साधन है', 'यह इनका साध्य है' इसे आकारनिरूपणा कहते हैं। स्मृति-निरूपणा से ज्ञान का, अभिजल्पनिरूपणा से शब्द का और आकारनिरूपणा से अर्थ का निरूपण होता है ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।[4]

भर्तृहरि के मत में जिस तरह प्रकाशकत्व अग्नि का धर्म है, चैतन्य आत्मा का धर्म है उसी तरह ज्ञान भी शब्द का धर्म है। बिना शब्द के ज्ञान हो ही नहीं सकता। यदि वाक् न हो, जगत् प्रकाशित ही न हो। वाक् ही प्रकाशक है। वही समस्त विद्याओं, कलाओं तथा विज्ञान का आधारभूत है। सभी विद्यायें वाक् रूप से बुद्धि में निबद्ध हैं। वाक् न हो तो घट-पट आदि की सत्ता ही न हो। वाक् से ही वस्तु का निष्पादन होता है। वह सूक्ष्म-रूप में बुद्धि में स्थित है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति ही वस्तु है। वाक् तत्त्व और चेतना तत्त्व एक ही बात है। वाक् तत्त्वमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये।[5]

वृषभ के अनुसार वाक् और चैतन्य में अभेद इस दृष्टि से है कि परा प्रकृति में भावों के आकार ग्रहण के रूप में विवर्त होता है और वह चैतन्य के रूप में परिणत होता है। (यतश्च भावनामाकारपरिग्रहेण परा प्रकृतिः विवर्तते, तच्चैतन्यात्मना परिणमत इति वाक्चैतन्ययोरभेदः।—वाक्यपदीय १।२७ टीका, पृष्ठ ११४)

---

३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम भाग, पृष्ठ ११५

४. वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।११६, पृष्ठ १०७ (स्मृतिनिरूपणयेति ज्ञानस्य निरूपणमाह। अभिजल्पनिरूपणयेति शब्दस्याह। आकारनिरूपणयेत्यर्थस्याह। सर्व एवैते शब्दानुविद्धा व्यवहाराङ्गं न स्वलक्षणरूपेणेति।)

५. वाक्यपदीय १।१२५, १२६, १२७।

तीन तरह की वाक्

वैखरी

भर्तृहरि ने वाक् के तीन अवयव माने हैं। वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती। भर्तृहरि के अनुसार वैखरी सभी तरह के अभिव्यक्त शब्दों का प्रतीक है। यह व्यापाररूप और कार्यरूप दोनों है। व्यक्तवर्ण और अव्यक्तवर्ण, साधुशब्द और असाधु-शब्द (अपभ्रंश), गाड़ी के पहिये की चरचराहट, नगाड़े की आवाज, बाँसुरी की ध्वनि और वीणा की झंकार जैसे अपरिमित ध्वनि-समूह का द्योतक शब्द वैखरी है और इसलिये वैखरी के अपरिमित भेद सम्भव हैं।[६] चरचराहट, झंकार आदि यद्यपि शब्दभेद के रूप में गृहीत होते हैं, वाक् के भेद के रूप में नहीं, फिर भी अर्थवाद के आधार पर वैखरी की व्याख्या में इनका स्थान[७] है। वैखरी शब्द का निर्वचन विखर शब्द से किया जाता है जिसके अनेक तरह से अर्थ किये गये है :

(१) **विखरः शरीरं, तत्र भवा तत्पर्यन्त चेष्टा संपादिकेत्यर्थः।**

—अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग ३, पृ० १८७

(२) **वक्तृभिः विशिष्टायां खरावस्थायां स्पष्टरूपायां भवा वैखरी।**

—वादिदेवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर १।७, पृष्ठ ८९

(३) **विखर इति देहेन्द्रिय संघात उच्यते तत्र भवा वैखरी।**

—जयन्तभट्ट, न्यायमंजरी, पृ० ३४३ चौखम्बा संस्करण १९३६

(४) **विशिष्टं खमाकाशं मुखरूपं राति गृह्णाति इति विखरः प्राणवायुसंचार-विशिष्टः वर्णोच्चारः, तेनाभिव्यक्ता वैखरीति।**

—जयरथ, अलंकारसर्वस्व, टीका, पृ० २

वैखरी संज्ञा वर्णों के उच्चारण से सम्बद्ध है। वैखरी की विशेषता यह है कि यह स्वसंवेद्य और परसंवेद्य दोनों है। व्याकरण की दृष्टि से वैखरी का महत्त्व बहुत अधिक है। इसी के आधार पर साधु-असाधु विचार चलता है। और कुछ आचार्य यहाँ तक मानते हैं कि वैखरी का संस्कार अन्य सभी वाक् के अवयवों के संस्कार का उपलक्षण है। येयं वैखरी वाक् तस्यां संस्क्रियमाणायां सर्वा एव संस्कृता भवन्ति तज्जातीयकत्वात्—वृषभ, वाक्यपदीय १।१४३, पृष्ठ १२८)।

---

६. परैः संवेद्यं यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी। श्लिष्टा व्यक्तवर्णसमुच्चारणा प्रसिद्धसाधुभावा भ्रष्टसंस्कारा च। तथा याऽक्षे, या दुन्दुभौ, या वेणौ (या) वीणायामित्यपरिमाणभेदा।

—वाक्यपदीय १।१४३, हरिवृत्ति, पृष्ठ १२६

'वैखरी करणव्यापारानुग्रहा श्रोत्रज्ञानविषया शब्दबुद्धिः।'

—महाभाष्यव्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, आर. ४४३६

७. ननु वाचो भेदकथनमेतत्, न तु शब्दमात्रभेदकथनम्। तत्कथं शकटाद्य उपातः। उच्यते, अर्थवाददर्शनादिदमुपात्तम्।

—वृषभ, वाक्यपदीय १।१४३

मध्यमा

मध्यमा को भर्तृहरि ने 'अन्तः संनिवेशिनी' कहा है। उसका व्यापार भीतरी है। वह सूक्ष्म प्राणशक्ति के सहारे परिचालित होती है। उसका उपादान केवल बुद्धि है। वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रम रूप से प्रतिभासित से होते हैं। उसमें क्रमसंनिवेश नहीं भी हो सकता है। मध्यमा में बुद्धिगत आकार के अवभास से क्रम, और एक बुद्धि होने के कारण और शब्द का बुद्धि से अभिन्न होने के कारण अक्रम दोनों रूप माने जाते हैं—(बुद्धिस्थत्वात् अन्तःसंनिवेशित्वक्रमादाकारेण प्रत्यवभासनात् क्रमवत्वमेकबुद्धित्वादव्यतिरेकादक्रमत्वम्—वृषभ, वाक्यपदीय १।१४३, पृ० १२६)। मध्यमा में यद्यपि प्राणवृत्ति का संचार माना जाता है फिर भी प्राणवृत्ति का अतिक्रमण कर शब्द के उपादान के रूप में केवल बुद्धिमात्र भी रह सकती है। दूसरे शब्दों में, चिन्तन शब्द से जो कुछ द्योतित होता है उसे मध्यमा का रूप दिया जा सकता है। भर्तृहरि के अनुसार द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता इन तीनों वृत्तियों में शब्द के उच्च, मन्द (शनैः), उपांशु, परमोपांशु और संहृतक्रम ये पाँच औपाधिक भेद माने जाते हैं।[८] इनमें उपाँशु और परमोपांशु मध्यमा के प्रतीक हैं। उपांशु मौन भाषण को कहते हैं। इसमें प्राणवृत्ति का संचार रहता है। पर वाक् किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा गृहीत नहीं हो सकती। वह दूसरों द्वारा सर्वथा असंवेद्य होती है। प्राणवृत्ति की सहायता के बिना जब शब्द अपने एकमात्र उपादान बुद्धि में ही समाविष्ट रहता है उस अवस्था को परमोपांशु कहते हैं।

> **तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहे सत्येव यत्र शब्दरूपं परैरसंवेद्यं भवति तदुपांशु। अन्तरेण तु प्राणवृत्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादानएव शब्दात्मा तत् परमोपांशु।**
>
> —वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति, पृ० १९.

मध्यमा के भीतर ये दोनों अवस्थाएं आ जाती हैं और इनके आधार पर मध्यमा के दो भेद माने जा सकते हैं। वाक् के तीन भेद—वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती में मध्यमा मध्य अवस्था को अभिव्यंजित करती है और इसलिए उसे मध्यमा कहते हैं।

पश्यन्ती

पश्यन्ती का स्वरूप भर्तृहरि ने निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है : **प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्ट क्रमशक्तिः पश्यन्ती। सा चला च अचला च, प्रतिलब्धा समाधाना च, आवृत्ता विशुद्धा च संन्निविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा चैत्यपरमितभेदा।"**

—वाक्यपदीय १।१४३ हरिवृत्ति, पृष्ठ १२६

पश्यन्ती प्रतिसंहृतक्रमा है। प्रतिसंहृतक्रम परमोपांशु के एक डग और परे की

---

८. वाक्यपदीय २।१९, हरिवृत्ति, पृष्ठ १७, लाहौर संस्करण।

स्थिति है। क्रम नाम की एक शक्ति है। उसके साथ बुद्धि का योग होता है। बुद्धि द्वारा अव्यक्त शब्द में शब्दों के क्रम का अध्यारोप होता है। ये अध्यारोपित शब्दक्रम जब दूसरे निमित्तों से युक्त होते हैं—प्रवक्ता की मानसिक चेष्टाओं से परिचालित होते हैं उनका साक्षात्कार-सा होता है। इस पूरी प्रक्रिया को प्रतिसंहृतक्रम कहते हैं। (यत्र तु प्रतिसंहृत-क्रमशक्तियोगया बुद्धया निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्देऽध्यारोपितं हि शब्दानां क्रम-रूपमिव साक्षात् क्रियते तत् प्रतिसंहृतक्रमम्—वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति)। पश्यन्ती में क्रम शक्ति सन्निहित रहती है इसलिए उसमें, क्रमों में भेद के कारण, भेद होना चाहिए। पर वस्तुतः भेद नहीं होता क्योंकि क्रम आरोपित होते हैं, वास्तविक नहीं। जब बुद्धि में क्रमरूप का पूर्णतया उपसंहार हो जाता है, वह असंप्रख्यात अवस्था की-सी हो जाती है और लोक व्यवहार (शब्द व्यवहार) से अतीत होती है। वाक् की अन्य विकसित अव-स्थाओं का मूल पश्यन्ती है, इसलिए उन सबका इसके साथ सम्बन्ध है और उनके स्वरूपों का बीज भी इसमें हैं। अतः पश्यन्ती चला और अचला दोनों है। वह चला है क्योंकि शब्दात्मा की अभिव्यक्ति में गति होती है। टीकाकार वृषभ के अनुसार पश्यन्ती चला इसलिए है कि रूप, रस आदि विषयों में लीन बुद्धि साधारण व्यक्ति को वाक् की तरह जान पड़ती है। (रूपादिषु विषयेष्ववर्वाग्दर्शनानां विक्षिप्तोत्पद्यते बुद्धिर्वागेव हि सा—वाक्यपदीय १।१४३ टीका) वह अचला है क्योंकि अपने स्वरूप में वह निस्पन्द है। वह प्रतिलब्धा है क्योंकि उसमें क्रम आदि की अलग-अलग उपलब्धि संभव है। वह समाधाना भी है क्योंकि क्रम आदि उसमें एक साथ समाहित भी हैं। वह आवृत्ता है क्योंकि वह अपभ्रंश आदि से संकीर्ण है। वह विशुद्धा भी है क्योंकि वाक् के रहस्य को जानने वाले (वाग्योगविद्) उसके अक्रमरूप के अथवा अपभ्रंश से असंकीर्ण रूप के दर्शन करते हैं, वह सर्वथा शुद्ध स्वरूप वाली है। वह सन्निविष्टज्ञेयाकारा है क्योंकि उसमें ज्ञेय का रूप आविष्ट (जुटा) रहता है, जैसे ज्ञान में ज्ञेय का रूप अनुस्यूत रहता है। उसमें ज्ञेय का आकार पूरा लीन भी रहता है और ऐसा भी हो सकता है कि उसमें ज्ञेय के आकार का बिल्कुल ही परिज्ञान न हो। उस दशा में वह निराकारा है। उसमें शब्द के अर्थों का, गो-अश्व आदि का अलग-अलग अवभास हो सकता है। इस दशा में उसे परिच्छिन्नार्थ प्रत्यवभासा कहते हैं। सन्निविष्टज्ञेयाकारा और परिच्छिनार्थ-प्रत्यवभासा इन दो रूपों में भेद केवल इतना है कि एक में ज्ञेय का आकार ज्ञान में सन्निहित रहता है और दूसरे में शब्द में अर्थ का आकार सन्निहित रहता है। एक ऐसी भी दशा संभव है जिसमें शब्द और अर्थ एक-दूसरे में बिल्कुल गुँथे हुए से जान पड़ते हैं—संसृष्ट रहते हैं। प्रतिलीनाकार और संसृष्टार्थप्रत्यवभास इन दो रूपों में यह भेद है कि पहले में आकार का परिज्ञान अत्यन्त कठिन है पर दूसरे में शब्द और अर्थ के आकार का अलग-अलग तो नहीं परन्तु संसृष्ट रूप में ज्ञान संभव है। ऐसा भी हो सकता है कि अर्थों का अवभास अनुद्बुद्ध रह जाय, उनका बिल्कुल ही भान न हो। उस समय पश्यन्ती प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा है। इस तरह पश्यन्ती अनेक भेद वाली है। परन्तु अपने मूल रूप में वह क्रमरहित है, स्वप्रकाशा है और संविद् रूप है।

वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती के लिए इतिहास के निदर्शन का उल्लेख करते हुए

भर्तृहरि ने महाभारत के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। उद्धृत श्लोकों में कुछ श्लोक महाभारत के आश्वमेधिकपर्व के २१वें अध्याय में पाठभेद के साथ मिलते हैं। भर्तृहरि द्वारा उद्धृत श्लोकों का सारांश निम्नलिखित है :—

भारती वाणी (संस्कृत) दिव्य और अदिव्य भेद से दो प्रकार की है। उसमें एक प्राण और अपान के बीच रहती है और दूसरी बिना प्राणवृत्ति के ही रहती है और अप्रेर्यमाणा-सी है। उससे प्राण उत्पन्न होता है और प्राण से युक्त होकर वह व्यवहार का साधन बनती है। व्यवहारनिबन्धन वाक् के भी तीन रूप हैं। घोषिणी, जातनिर्घोषा और अघोषा। घोषिणी और निर्घोषा में निर्घोषा का अधिक महत्त्व है। भर्तृहरि ने तीन प्रकार के वाक् के लिए भी महाभारत का उद्धरण दिया है। महाभारत के अनुसार वैखरी वाक् प्राणवृत्तिनिबन्धना है अर्थात् प्राणों के आधार पर उसकी भित्ति निर्मित है। मध्यमा वाक् का उपादान बुद्धि है और उसमें क्रम रहता है। परन्तु प्राणवृत्ति नहीं रहती। पश्यन्ती में क्रम का उपसंहार हो गया रहता है, उसमें किसी प्रकार का विभाग नहीं होता। वह स्वप्रकाशा है और नित्य है। वाक् के स्थूल भेदों से संपृक्त होने पर भी उसमें कोई विकार नहीं होता। वह अमृतकला है।[९]

यह ध्यान देने की बात है कि भर्तृहरि परा वाक् का कहीं उल्लेख नहीं करते। वे वाक् के केवल तीन अवयव पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ही स्वीकार करते हैं। भर्तृहरि के इस व्यवहार से कुछ प्राचीन आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि व्याकरण-दर्शन में परा वाक् का कोई स्थान नहीं है। अभिनवगुप्त ने लिखा—"**ननु पश्यन्त्येव परं तत्त्वमिति जरद्वैयाकरणाः मन्यन्ते**"[१०] अर्थात् प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार पश्यन्ती ही परमतत्त्व है, परा वाक् नहीं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में अभिनवगुप्त ने वैयाकरणों के साथ शास्त्रार्थ किया है और समझाने का प्रयास किया है कि वैयाकरणों को भी परा वाक् की सत्ता माननी चाहिए।[११] क्षेमराज ने भी लिखा—"**शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपं आत्मतत्त्वमिति वैयाकरणाः**"।[१२] अर्थात् वैयाकरणों के मत में पश्यन्ती ही परम तत्त्व है। वाक् के तीन प्रकार का उल्लेख सुचरित मिश्र ने मीमांसाश्लोकवार्तिक की काशिका नाम्नी टीका में किया है—**त्रेधा हि वाचं विभजन्ते वैखरी मध्यमा सूक्ष्मा चेति। यथोक्तम्**—

शब्दब्रह्मैव तेषां हि परिणामि प्रधानवत्।
वैखरीमध्यमासूक्ष्मा वागवस्था विभागतः॥ —काशिका टीका पृष्ठ २४८

भर्तृहरि ने परा वाक् का उल्लेख क्यों नहीं किया, उसकी सत्ता क्यों नहीं मानी, यह प्रश्न विचारणीय है। उनके 'त्रय्या वाचः परं पदम्' (वाक्यपदीय १।१४४) इस वाक्य से स्पष्ट है कि वे वाक् के केवल तीन ही अवयव मानते हैं। परा वाक् की चर्चा भी उनके समय अवश्य रही होगी। उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में

---

९. वाक्यपदीय १।१४३ हरिवृत्ति में उद्धृत।
१०. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९१।
११. द्रष्टव्य. वही, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९५।
१२. प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ४३ अड्यार संस्करण।

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' यह ऋक्मंत्र उद्धृत किया है। इससे यह स्पष्ट है कि वे चार भेद से अवगत थे। वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती के साथ परा वाक् की चर्चा अवश्य चल पड़ी थी। तभी यहाँ उपर्युक्त मंत्र उद्धृत किया जा सकता है। केवल तीन भेद मानने से उक्त मंत्र के चत्वारि शब्द का सामंजस्य नहीं बैठता।

इस प्रश्न पर पहले के कुछ विद्वानों का ध्यान गया था। नागेश ने इस प्रश्न का एक उत्तर निकाला। उनके मत में भर्तृहरि के त्रयी वाक् कहने का कारण यह है कि वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती इन तीनों तक प्रकृति-प्रत्यय-विभाग का ज्ञान होता है। यद्यपि पश्यन्ती लोकव्यवहार से सर्वथा परे है फिर भी योगियों को उसमें भी प्रकृति-प्रत्यय का विभाग दृष्टिगोचर होता है। परा वाक् में प्रकृति-प्रत्यय आदि का ज्ञान योगियों को भी नहीं होता। इसलिए भर्तृहरि ने परा वाक् का उल्लेख नहीं किया और वाक् को केवल तीन अवयव वाली माना :

पश्यन्ती तु लोकव्यवहारातीता, योगिनां तु तत्रापि प्रकृति-प्रत्यय-विभागावगतिरस्ति; परायां तु नेति त्रय्या इत्युक्तम्

—उद्योत, महाभाष्य पस्पशाह्निक।

परन्तु नागेश की यह उक्ति युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि भर्तृहरि जब शब्द-ब्रह्म और शब्द से जगत् का विकास जैसे गूढ़ विचार सामने रख सकते हैं तो परा वाक् के नाम लेने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी और परा वाक् की सत्ता, चाहे जिस किसी रूप में भी मानते हुए वाक् को त्रयी वाक् कहना असंगत होता। नागेश ने प्रमाण के रूप में 'स्वरूप ज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी' यह वाक्य उद्धृत किया है। परन्तु वाक्यपदीय की हरिवृत्ति में, न्यायमंजरी में और स्याद्वादरत्नाकर में 'परावागनपायिनी' के स्थान पर सूक्ष्मावागनपायिनी पाठ मिलता है। कहीं-कहीं सूक्ष्मा के स्थान पर 'सैषा' पाठ है। अस्तु, नागेश की उक्ति से उपर्युक्त प्रश्न का समाधान नहीं होता।

हेलाराज का ध्यान इस प्रश्न पर अवश्य गया होगा। क्योंकि एक स्थान पर वे पश्यन्ती को ही परा वाक् के रूप में व्यवहृत करते हैं :

संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्द ब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न भिद्यते। विवर्त दशायां तु वैखर्यात्मना भेदः

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, द्रव्य समुद्देश ११।

इससे तो इतना स्पष्ट हो जाता है कि हेलाराज के अनुसार भर्तृहरि परा की सत्ता नहीं मानते और पश्यन्ती को ही परम तत्त्व मानते हैं। परन्तु यह प्रश्न अभी बना हुआ है कि परा वाक् को स्वीकार करने में उनके सामने क्या कठिनाइयाँ थीं।

एक कठिनाई का संकेत उत्पल ने किया है। उत्पल के मत में यदि वैयाकरण प्रत्यभिज्ञादर्शन में गृहीत पश्यन्ती के स्वरूप को मान लें तो उन्हें ईश्वर की भी सत्ता (उपगम) माननी पड़ेगी :

पश्यन्ती च नेश्वरप्रत्यभिज्ञोक्त न्यायेन शब्दनात्मिका परमेश्वरशक्तिरिष्यते भवद्भिः, ईश्वरोपगमप्रसंगात्, अपितु सूक्ष्मो वाच्याभेदेन स्थितः वाचकः शब्द इत्येवं शब्दात्मासौ। —शिवदृष्टि २।३५, पृष्ठ ५८।

वैयाकरणभूषण के एक टीकाकार कृष्ण मित्र ने स्फोट को ही परा वाक् माना है, परा वाक् ही शब्दब्रह्म है। **"अत्र परावाक् स्फोट शब्देनोच्यते। सैव शब्दब्रह्म इत्युच्यते"** (कृष्णमित्र, वैयाकरणभूषण टीका, मैन्युस्क्रिप्ट पृष्ठ १)। परन्तु ऐसा जान पड़ता है, परा वाक् को वाक्यपदीय में स्थान न देने का मुख्य कारण भर्तृहरि का 'प्रतिभावाद' है। प्रतिभावाद पर आगे विवेचन किया जायगा। यहाँ केवल यह दिखलाना है कि भर्तृहरि के मत से वाक् का मूल प्रतिभा है : **वाग् विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति**' (वाक्यपदीय १।१४ हरिवृत्ति, पृष्ठ २७)।

वे प्रतिभा, सत्ता और महासत्ता को एक ही तत्त्व मानते हैं।

तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भाव-विकारप्रकृतिं सत्तां साध्यसाधनशक्तियुक्ताम् सम्यगवबुद्ध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।

—वाक्यपदीय १।१३२ हरिवृत्ति, पृ० ११८।

शैवागम में विश्व का विकास परा वाक् से व्यक्त किया गया है। भर्तृहरि विश्व का विवर्त प्रतिभा से मानते हैं। प्रतिभा से विश्व का विकास मानने पर उन्हें परा वाक् नाम की किसी अन्य वस्तु के मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। शैवागम में भी परा वाक् और परा सत्ता को एक ही माना गया है :

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

उत्पलकारिका १३,१४।

भर्तृहरि ने पर शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में केवल एक बार प्रयोग किया है और उसे प्रतिभा के अर्थ में किया है"**···भेदानुरागमात्रंच परस्मिन् अभेदे शब्दात्मनि संनिवेशयति**" (वाक्यपदीय १।११८ हरिवृत्ति, पृ० १०५) टीकाकार वृषभ ने यहाँ परस्मिन् का अर्थ प्रतिभारूपी शब्दतत्त्व किया है (**परस्मिन् इति प्रतिभाख्ये शब्दतत्त्वे**—वृषभ पृ० १०६)।

शिवदृष्टिकार, उत्पल और उनके अनुगामी अभिनवगुप्त आदि ने वैयाकरणों द्वारा परा वाक् के गृहीत न किए जाने पर जो आक्षेप लगाए हैं उन पर विचार करने के पूर्व कश्मीर शैवागम में गृहीत परा पश्यन्ती आदि का संक्षेप में उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

कश्मीर शैवागम में वाक्

शैवागम की दृष्टि में परमेश्वर ही शब्द-राशि है। उसकी शक्ति भिन्न और अभिन्न रूप में विचित्र है। मातृका के वर्गाष्टक रुद्र के शक्त्यष्टक हैं और पचास वर्ण रुद्र की पचास शक्तियाँ हैं। आगमों में प्रकाश शरीर वाले विमर्शात्मा भगवान् का स्वरूप शब्दनामय

माना गया है।[१३] शैवागम में वाक् को एक सूक्ष्म सत्ता या शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति (शक्त्यद्वयवाद नहीं) के रूप में मानने का प्रधान कारण यह है कि कश्मीर के आभासवादी वाक् को पाणि आदि की तरह इन्द्रिय रूप नहीं देना चाहते। उनके मत में संपूर्ण ज्ञान और बोध संवित्मय हैं। 'प्रकाश' और 'विमर्श' इन दो तत्त्वों में संपूर्ण विश्व आ जाता है। प्रकाश और विमर्श दो विभिन्न वस्तु नहीं हैं, किन्तु एक ही के दो पहलू हैं। विश्व का वाच्य अंश प्रकाश है और वाचक अंश विमर्श है। वाच्य और वाचक में कोई भेद नहीं है :

न च वाच्यं पृथक् जातु वाचकाद् व्यवतिष्ठते।

—मालिनीतन्त्र वार्तिक, पृ० ४०।

इसलिए शब्द विमर्श से अभिन्न है, फलतः शिवरूप है और स्व-पर प्रकाशक है—**'इत्थं शिवात्मकविमर्शपदादभिन्नः**

शब्दः स्फुटत्वत इह स्वपरप्रकाशः।[१४]

चार प्रकार की वाक्

वाक् के चार प्रकार के भेद की चर्चा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद का 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' यह मन्त्र[१५] उपर्युक्त भेद का आधार मान लिया गया है। परन्तु चार से वैदिक ऋषि का तात्पर्य क्या था वह आज तक स्पष्ट न हो सका है। ब्राह्मण ग्रन्थों में चार प्रकार की वाक् का तात्पर्य मनुष्य की भाषा, पशुओं की बोली, पक्षियों के कूजन और क्षुद्र जन्तुओं जैसे सरीसृप आदि की ध्वनियाँ—इन चार रूपों में बतलाया गया है।[१६] प्राचीन वैयाकरण चार प्रकार की वाक् का अभिप्राय नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में समझते थे। यास्क ने अपने समय में प्रचलित अन्य अर्थों का भी उल्लेख किया है।[१७] बहुत बाद में चार प्रकार के वाक् का विवरण परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार रूपों में किया जाने लगा। महाभाष्यकार पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) तक यह अर्थ स्वीकृत नहीं हुआ था। मुझे ऐसा जान पड़ता है, ये चार भेद पहले-पहल तन्त्र-ग्रन्थों में व्यवहृत हुए। उसका प्रभाव बाद के उपनिषदों पर पड़ा और वैयाकरण भर्तृहरि भी इन भेदों से प्रभावित हुए। परन्तु भर्तृहरि ने परा वाक् को अपने दर्शन में स्थान नहीं दिया। शेष तीन पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी— की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की, जो तन्त्र-ग्रन्थों में गृहीत व्याख्याओं से बहुत दूर तक भिन्न है। शैवागम के लेखक जो सभी भर्तृहरि के बाद हुए और प्रायः सभी भर्तृहरि के व्याकरण-दर्शन से परिचित हैं, वैखरी आदि की व्याख्या के लिए तन्त्रों की अपेक्षा वाक्यपदीयकार के अधिक ऋणी हैं। अवश्य ही वे, भर्तृहरि के

---

१३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९६।
१४. मालिनीतन्त्रवार्तिक, पृष्ठ ४१।
१५. ऋक्संहिता १।१६४।४५।
१६. शतपथ ब्राह्मण ४।१।३।१६
१७. द्रष्टव्य निरुक्त १३।९ परिशिष्ट

विपरीत परा वाक् की सत्ता मानते हैं और पश्यन्ती आदि का विवेचन आगम की मान्यताओं के अनुसार करते हैं फिर भी वे अपने मत की पुष्टि के लिए वाक्यपदीय के अवतरण आदर के साथ उद्धृत करते हैं। अस्तु, आगमों में वाक् के चार भेद परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी स्वीकृत कर लिए गए और इनकी चर्चा इतनी अधिक हुई कि बाद का सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य और लोक-साहित्य उनके प्रभाव में आ गए। और नव्य वैयाकरणों ने भी परा को स्थान देते हुए चार भेद मान लिए।

वैखरी

शैवागम के अनुसार वाक् का वैखरी रूप क्रियाशक्ति से परिचालित है। इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, और क्रियाशक्ति ये तीन शैवागम की आधारशिला हैं। क्रियाशक्ति का प्रतिनिधित्व वैखरी करती है। वैखरी क्रियाशक्तिरूपा है। जिह्वा-व्यापार वागिन्द्रिय का उपलक्षण है और वह विमर्श स्वभाव वाला है। सभी तरह के व्यापार या क्रियायें—विमर्श रूप के भीतर आ जाती हैं। वैखरी में दो रूप मिलते हैं। एक सघोष और दूसरा अघोष। सघोष से यहाँ तात्पर्य अन्य द्वारा श्रूयमाण से है, जो दूसरों द्वारा स्पष्ट सुन लिया जाता है। अघोष से तात्पर्य यहाँ उपांशु से है अर्थात् ऐसा उच्चारण जो स्वतः सुनाई दे परन्तु जो दूसरों को न सुनाई दे सके। सघोष और अघोष दोनों रूप शब्दानुविद्ध होते हैं। स्वतन्त्र वर्ण के उच्चारण में सुने जाने की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। पद भी, यदि उसमें अल्प वर्ण हों, अच्छी तरह सुने जा सकते हैं। परन्तु वाक्य में श्रूयमाणताबुद्धि अस्पष्ट रहती है क्योंकि बुद्धि वर्णों के संकलन और स्मरण की क्रिया में संलग्न रहती है इसलिए स्फुट श्रवण संभव नहीं। अतएव वैयाकरण भी वाक्यस्फोट को बुद्धिग्राह्य ही मानते हैं।

वैखरी मध्यमा का बाह्य प्रसार है। प्रमाता का स्थान-करण अभिहनन रूप जो व्यापार है, वैखरी पहले उसका रूप धारण करती है, पुनः उन व्यापारों से संपादित शब्दरूप धारण करती है और श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होकर भिन्न रूप से आभासित होती हुई तथा वेद्य अथवा ग्राह्य वस्तु के स्वरूप को छूती हुई सी परिस्पष्ट होती है। वैखरी व्यापार रूप और कार्यरूप दोनों हैं।

अभिनवगुप्त ने सामान्य वैखरी और विशेष वैखरी के आधार पर वैखरी के कई रूप माने हैं :

> **वचनं सप्तधा। तद् यथा मध्यमारूपंतत्-प्ररोहात्मकं सामान्यवैखर्यात्मकं तत्प्ररोहात्मकं विशेषशब्दात्मकं वैखरीस्वभावं आवेशोचित-विशेषवैखरीरूपं तत्प्रबन्धं विच्छेदं च।** —अभिनवभारती, तृतीय भाग, पृ० ३०७

शैवागम में गृहीत वैखरी का उपर्युक्त स्वरूप भर्तृहरि के मत से मेल खाता है। वैखरी शब्द का निर्वचन अभिनवगुप्त ने विखर शब्द से किया है जिसका अर्थ शरीर है।

> **विखरः शरीरं, तत्रभवा तत्पर्यन्त चेष्टा संपादिकेत्यर्थः।**
> —अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग २, पृ० १८७

विशेष खर, अपेक्षाकृत रूखर, ध्वनि के प्रतीक होने के कारण इसका नाम वैखरी पड़ा होगा।

मध्यमा

अन्तःकरण मन, बुद्धि और अहंकार लक्षणवाला है। मध्यभूमि में, पुर्यष्टक प्राणाधार में वह विश्राम करता है। विमर्श शक्ति जब अन्तःकरण को प्रेरित करती है, तब वह शक्ति मध्यमा वाक् कहलाती है। विमर्श शक्ति से प्रेरित अन्तःकरण में विकल्पना नामक व्यापार पैदा होता है, जिसके भीतर संकल्प, निश्चय और अभिमनन व्यापार गृहीत हैं। उस समय वह विमर्शमयी वाक् संकल्प-वस्तु (ग्राह्य अथवा वाच्य और संकल्प करने वाले (ग्राहक अथवा वाचक) को स्पष्ट रूप से क्रम से ग्रहण करती है। चैत्र के घट देखने की क्रिया में इस घट को मैं चैत्र देख रहा हूँ इस रूप में ग्राह्य और ग्राहक दोनों का स्पष्ट भान होता है। चिन्तनप्रधान होने के कारण मध्यमा को चिन्तन शब्द से भी कहते हैं। इसलिए मध्यमा ज्ञानशक्ति रूप भी मानी जाती है। ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के बीच की वस्तु है। मध्य में होने के कारण मध्यशक्ति के प्रतीक वाक् को भी मध्यमा वाक् कहते हैं।

कश्मीर शैवागम में मध्यमा ही विकल्प भूमि मानी जाती है। विकल्प के प्राण अभिलाषस्पर्श हैं, विकल्प में ही वाचक का स्वरूप निहित है, जो सदा अहंभाव रूप में होता है। किसी शब्द का संकेत आदि भी विकल्प भूमि में ही होता है। अभिनवगुप्त के मत में, जो शब्द सुनाई देता है, वास्तव में वह वाचक नहीं है। उसके पूर्व का मध्यमास्थित जो उसका स्वरूप है वही वाचक है। क्योंकि वाच्य और वाचक में 'यह वही है' ऐसा अध्यास माना जाता है। स्वलक्षण का स्वलक्षणान्तर में अध्यास संभव नहीं है। इसलिए शब्द का जो शब्दनरूप और क्रमिक रूप है वह मध्यमावस्था में ही स्फुट हो गया रहता है। श्रोत्रग्राह्य जो शब्द है, वह मध्यस्थित शब्द-रूप का एक विकसित या पल्लवित रूप है। विकल्प्य घट से बाह्यघट में कोई भेद नहीं होता। दोनों का रूप एक ही माना जाता है। वही घटाभास देश आदि अन्य आभासों के सहारे स्वलक्षणभाव प्राप्त करता है। यही बात शब्द के विषय में ठीक है। वही शब्द स्थूलरूप में पूर्ण आभासित होने पर भी दूसरे अभासों से भेद करने के लिए श्रोत्रग्राह्य शरीर वाला माना जाता है। यही उसका स्वलक्षण है।[१८]

अभिनवगुप्त के मत में स्मित मध्यमा का सूचक है क्योंकि स्मित एक तरह का भीतरी संजल्प है जो मध्यमा का रूप है—

"स्मितं ह्यन्तः संजल्परूपां मध्यमां सूचयति"—

—अभिनवभारती, भाग तृतीय, पृ० ३०७

---

१८. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृ० १६२

पश्यन्ती

पश्यन्ती में ग्राह्य और ग्राहकगत क्रम देश और काल-दृष्टि से यद्यपि संभव है, परन्तु वह स्फुट नहीं होता। क्योंकि पश्यन्ती का विमर्श निर्विकल्पक होता है, वह अक्रम है और इसलिए उसमें विभाग संभव नहीं है। जिस तरह प्रसेवक (बोरा) अपने भीतर अन्नराशि को समेटे रहता है, उसी तरह पश्यन्ती में भी ग्राह्य और ग्राहकगत क्रम अन्तःसंकुचित रहते हैं। अतः पश्यन्ती को संहृतक्रम वाली कहते हैं। उसमें शब्द अन्तर्लीन-से रहते हैं। अतः उसे सूक्ष्म भी कहते हैं। उसमें रस सर जैसे पद और देवदत्ततुरगादि जैसे वाक्य क्रमहीन रूप में पिण्डीभूत-से हो गये रहते हैं, एक में मिले रहते हैं। जिस तरह सूत्र अधिक से अधिक भाव को अपने अन्दर समेटे रहते हुए भी सूक्ष्म कहा जाता है उसी तरह पश्यन्ती का 'अभिजल्प' भी सूक्ष्म माना जाता है। भर्तृहरि ने भी पश्यन्ती को 'प्रतिसंहृतक्रमा' और 'समाविष्टक्रमशक्तिः' कहा है।

पश्यन्ती को इच्छाशक्ति रूप माना गया है। मध्यमा ज्ञानशक्तिरूपा है और वैखरी क्रियाशक्तिरूपा है। इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का अनुग्राहक है। वैसे ही पश्यन्ती भी मध्यमा और वैखरी का अनुग्राहक है। पश्यन्ती को बोध्य और बोधस्वभावा भी माना गया है। उसमें वस्तु का अवभास परिपूर्ण रहता है। इच्छाशक्ति का प्रकाश रूप अप्रतिहत होता है। इच्छाशक्तिमयी पश्यन्ती विद्याशक्ति और उसके प्रसारस्वरूप बुद्धि और इन्द्रिय वर्ग को समेटती हुई निर्विकल्पक ज्ञान को उद्बुद्ध करती है।

कश्मीर शैवागम की दृष्टि में, पश्यन्ती में चिन्तन की भी सत्ता है। इसीलिए वह पश्यन्ती को परा वाक् के रूप में नहीं स्वीकार करता :

> **यतः पश्यन्त्यां प्रमाणोपपन्नं चिन्तामयत्वं ततः पश्यन्त्याः परत्वं शिवदृष्टिशास्त्रे निवारितम्।**[१९]

साथ ही पश्यन्ती देश और काल से, उसके मत में, संकुचित है और जैसा कि उसके नाम (पश्यन्ती शब्द) से ध्वनित होता है वह दृश् क्रिया अथवा देखने के व्यापार के कारण सकर्मक, विषयगर्भित है। देश और काल से संकुचित वस्तु परिपूर्ण नहीं हो सकती। अतः पश्यन्ती को परा वाक् का महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

शैवदर्शन के किसी-किसी आगम में पश्यन्ती को अवश्य परा वाक् कहा गया है। परन्तु सोमानन्द और उत्पल ऐसे स्थलों में परा का पश्यन्ती में उपचार मानते हैं। श्रीकिरणसंहिता में नाद बिन्दु आदि के रूप में पश्यन्ती में परा का उपचरित रूप स्वीकृत है।[२०]

पश्यन्ती को देश और काल से संकुचित इसलिए मानते हैं कि यदि पश्यन्ती देश और काल से असंकुचित मानी जाएगी तब मध्यमा में जो विकल्प होता है और

---

१९. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृ० १९२

२०. शिवदृष्टि ३।१५, और उस पर उत्पल की टीका।

वैखरी में जो दूसरे के लिए कहा जाता है या बोला जाता है वह सब देश और काल से असंकुचित ही माना जाएगा। क्योंकि नील को देखकर पीत का विकल्प नहीं होता और न उसे पीत शब्द से व्यक्त करते हैं। अतः शैवागम में पश्यन्ती को अविकल्पिका मानते हुए भी उसे देश-काल से संकुचित मानते हैं। पश्यन्ती निर्विकल्पकदशारूपा है। अहंभाव, जिसमें घट, पट, संपूर्ण विश्व निमग्न रहता है, स्वयं संकोच-रहित है तब वह पश्यन्ती को कैसे संकुचित कर सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में अभिनवगुप्त आदि की मान्यता है कि मायीय अहंभाव संकुचित ही होता है। मायीय व्यक्तियों का अहंभाव देह आदि की वासना से संकुचित रहता है। उनका इदंभाव भी दूसरे प्रमेयों के परिहार से संकुचित रहता है। अन्य प्रमेयों की सत्ता दूसरे प्रमाताओं की दृष्टि से भी है। पुनः उसी प्रमेय की कुछ अवस्था उसी प्रमाता को नहीं भी दिखाई दे सकती है जैसे कामिनी को वैराग्यायतन नहीं भी दिखाई दे सकता है। अतः माया-प्रमेताओं का अहंभाव और इदंभावमय निर्विकल्पक रूप प्रमाता और प्रमेय दोनों दृष्टि से संकुचित होता है। परा वाक् में, उनके मत में, जो अहंभाव का विमर्श है, वह मायीय अहंभाव के विमर्श से भिन्न है और वह सर्वथा असंकुचित है। इसलिए परा वाक् में संकोच संभव नहीं है। वह अहंभाव शुद्ध है, नित्य है, चित् स्वरूप है। वह देश-काल, आदि-अन्त से रहित है। वही परा है। अतः परा वाक् में पूर्वोक्त संदेह नहीं उठ सकता। शैवागम शास्त्र के अनुसार चित् या 'चिन्मात्र' शरीर, प्राण, बुद्धि आदि से संकुचित नहीं है। चित् की चित्राभासकारित्व नाम की एक शक्ति है। विश्व के वाच्यगत या वाचकगत भेद को जब अभिव्यक्त करना होता है, उस अभिव्यक्त करने वाली या उल्लसित करने वाली भगवान् की इच्छा को विश्वावभासनेच्छा कहते हैं। उस इच्छा के समय ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाता नहीं होता। इसलिए किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उन भावों के किसी अन्य रूप में आभासित होने की संभावना ही नहीं है। इसलिए अहंभाव सर्वथा असंकुचित होता है।

अभिनवगुप्त ने पश्यन्ती के पश्यन्ती, महापश्यन्ती और परमपश्यन्ती ये तीन रूप व्यक्त किए हैं। पश्यन्ती ज्ञानशक्तिस्वभावा, महापश्यन्ती प्रत्यगात्मरूप और परमपश्यन्ती महापश्यन्तियों का अविभक्त रूप है। परमपश्यन्ती के द्वारा आनंद महिमा उल्लसित होती है। उल्लसित आनंद परा वाक् का प्रतीक है।[२१]

परा

कश्मीर शैवागम की परा रहस्यात्मक है। वह चितिस्वरूप है। नित्य है। वही महासत्ता है:

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तवैश्वर्यं परमात्मनः॥

---

२१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १८७।

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥[२२]

आगमों में अनाहत शब्द से जिस महान् विश्वव्यापी शब्दव्यापार का बोध होता है तन्मयी परा वाक् है ।

भगवान् का अपने भोग के प्रति जो आस्वाद या चमत्कार है, वह परा वाक् है ।

पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी प्रति वाच्य के साथ भिन्न-भिन्न है । परा वाक् वैसी नहीं है । शब्द के जितने अभिधेय हैं चाहे वे ग्राह्य रूप में हों या वाचक रूप में, वे सब परा के गर्भ में रहते हैं और अक्रम रूप में रहते हैं । इसे मयूराण्डरसन्याय से स्पष्ट किया जाता है । मयूर के अण्डे के रस में सभी नील पीत आदि रंग जो बाद में अभिव्यक्त होंगे, छिपे रहते हैं वैसे ही सभी वर्ण परा के पेट में पड़े रहते हैं ।

संपूर्ण वाङ्मय शब्दनामय है । वह परामर्श के संवेदन से युक्त है । वही विश्व है । यह शब्दनारूपात्मा विश्व यथाक्रम से परा में अविकसित, पश्यन्ती में विकासोन्मुख, मध्यमा में विकसित होता हुआ और वैखरी में अलग-अलग परामर्श के रूप में विकास प्राप्त हो गया रहता है ।[२३]

इस तरह कश्मीर शैवागम में वाक्तत्त्व और चितितत्त्व एक ही है । शक्ति और शक्तिमान् में अभेद की दृष्टि से वाक् और शिव भी अभिन्न हैं ।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि शैवागम में वाक् के भेदों का विवेचन व्याकरण-दर्शन से विशेषकर भर्तृहरि की वाग्-व्याख्या से प्रभावित है । अभिनवगुप्त ने तो अनेक स्थलों पर वाग्-विचार के प्रसंग में भर्तृहरि का स्मरण किया है । व्याकरण भी एक तरह का आगम है । वाक् के संबंध में कश्मीर शैवागम और भर्तृहरि-दर्शन में मुख्य भेद पश्यन्ती और परा के संबंध में है । उत्पल ने शिवदृष्टि में और अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में भर्तृहरि के परा वाक् न मानने पर आक्षेप किया है पर प्रायः सभी आक्षेप अपनी विशेष मान्यता के कारण हैं । जिस तरह से शैवागम के अनुयायी पश्यन्ती, परा आदि के स्वरूप-निर्धारण में स्वतंत्र हैं वैसे ही भर्तृहरि भी स्वतंत्र हैं । पश्यन्ती या परा एक आनुमानिक तथ्य है और विभिन्न दर्शन में उनके विभिन्न स्वरूप संभव हैं । भर्तृहरि का वाग्-दर्शन स्थूल से सूक्ष्म की ओर गया है और अन्ततः शक्ति स्वरूप प्रतिभा या महासत्ता पर आधारित है । शैवागम का वाग्दर्शन शिव-शक्ति पर केन्द्रित है । वाक्यपदीय का वाग्विवेचन धार्मिक मान्यता से तटस्थ और विचार सौंदर्य से परिपूर्ण है । शैवागम का वाग्विवेचन पहले से स्वीकृत मान्यताओं पर आधारित है और जहाँ कहीं भी उसमें विचार-सौन्दर्य है वह सब मूलतः भर्तृहरि का ही है । उनके मत में उत्पल ने पश्यन्ती को जड़ इसलिए माना है कि वह (विषय) कोटि की है । (विषयार्पितात्मा) और देश-काल से संकुचित है । परन्तु यह उत्पल की अपनी मान्यताएँ हैं । भर्तृहरि ने पश्यन्ती का स्वरूप दृश् क्रिया

२२. प्रत्यभिज्ञादर्शन, उत्पल की कारिकायें ।
२३—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम भाग, पृष्ठ १५ ।

के आधार पर नहीं गढ़ा है और न उसे देश-काल से सीमित माना है। अभिनवगुप्त ने यह सुझाव रखा कि यदि पश्यन्ती को देश-काल से संकुचित नहीं मानेंगे तो मध्यमा और वैखरी में भी वाक् को असंकुचित ही मानना पड़ेगा।[२४] इसलिए पश्यन्ती को देश-काल से संकुचित ही मानना चाहिए। परन्तु यही तर्क शैवागम की 'परा' के विरुद्ध भी रखा जा सकता है क्योंकि इस तर्क के अनुसार 'परा' की नित्य असंकुचित आदि विशेषताएँ वैखरी में भी आ जानी चाहिए। अभिनवगुप्त के मत में वाक् को करण रूप में मानने पर वह कर्मेन्द्रियवर्ग की वस्तु होगी इसलिए उसे कर्तृ रूप (वक्ति) में स्वीकार करना चाहिए। परन्तु भर्तृहरि ने स्वयं शब्द तत्त्व को अनादि-निधनब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसलिए अभिनवगुप्त का उपर्युक्त आक्षेप निःसार है।

बाद के वैयाकरणों ने परा वाक् को स्वीकार कर लिया परन्तु उन पर कश्मीर शैवागम का प्रभाव न पड़कर तंत्रग्रन्थों का पड़ा। नागेश ने परा, पश्यन्ती आदि का विवेचन तंत्र-ग्रंथों के आधार पर किया है जो प्राचीन व्याकरण सम्प्रदाय के मंतव्यों से मेल नहीं खाता।

भाषा

संस्कृत

संस्कृत का प्राचीन नाम भाषा था। बोलचाल की भाषा होने से इसे भाषा कहते थे। 'भाष्यते इति भाषा'। बाद के वैयाकरण जिनमें पाणिनि मुख्य हैं, वैदिक संस्कृत से अथवा छान्दस भाषा से लौकिक संस्कृत को अलग करने के लिए इसके लिए भाषा शब्द का व्यवहार करते थे। जब बोलचाल में अपभ्रंश भाषाएँ अपना घर करने लगीं तो उनसे पाणिनि की 'भाषा' को अलग करने के लिए संस्कृत शब्द का प्रचलन हुआ। अपभ्रंश शब्दों को प्रकृति-प्रत्यय के झमेलों में डालने की आवश्यकता प्रारंभ में नहीं थी। एक तरह से वे असंस्कृत थे। जिन शब्दों को प्रकृति-प्रत्यय के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता था वे ही संस्कृत शब्द थे। और ऐसे शब्दों से गठित भाषा संस्कृत भाषा थी। संस्कृत शब्द संस्कार किया हुआ के अर्थ को व्यक्त करता है। यास्क ने संस्कार शब्द का उल्लेख किया है और भाष्यकार ने भी पदों के संस्कार का उल्लेख किया है। (संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्सृज्यन्ते, महाभाष्य १।१।१) संस्कृत का अर्थ शुद्ध की हुई भाषा नहीं है जैसा कि बहुत-से लोग समझते हैं। यह उन शब्दों को व्यक्त करती है जो प्रकृति-प्रत्यय के द्वारा बनाए जा सकते हैं, जिनकी सिद्धि की जाती है। भर्तृहरि ने स्वरूप संस्कार शब्द का प्रयोग किया है (**शब्द ब्रह्मणो हि स्वरूपसंस्कारः साधुत्वप्रतिपत्यर्थः**, वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।११) वृषभ ने संस्कार का भाव स्पष्ट करते हुए कहा है कि किसी विशेष या उत्कर्ष का आधान यहाँ संस्कार से तात्पर्य नहीं है अपितु प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग से है। **न विशिष्टोत्पत्तिरत्र संस्कारः, अपितु प्रकृति**

---

२४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९३।

प्रत्ययादिविभागान्वाख्यानम् (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १९३) कालिदास ने संस्कृत के लिए **संस्कारवत्येव गिरा,** (कुमारसंभव १।२८) शब्द का प्रयोग किया है। इस पर मल्लिनाथ ने लिखा है—**संस्कारो व्याकरणजन्या शुद्धिः। संस्कारपूतेन परं वरेण्यं** (कुमारसंभव १।९०)। इसमें भी संस्कारपूत शब्द का उपर्युक्त ही भाव है। संस्कृत शब्द का भाषा के अर्थ में व्यवहार वाल्मीकि रामायण में हुआ है। साथ ही संस्कृत से इतर भाषा का भी संकेत है। पतंजलि के समय में प्राकृत बोलचाल में आ गई थी।[२५] भर्तृहरि के समय तक संस्कृत लोक जीवन से दूर जा पड़ी थी और इसलिए 'दैवी वाक्' मान ली गई थी। (वाक्यपदीय १।१५५)।

अपभ्रंश

संस्कृत के वैयाकरण अपभ्रंश शब्द से उन शब्द-समुदायों को द्योतित करते हैं जिनके मूल (प्रकृति) संस्कृत शब्द रहे हैं। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ उनके मत में संस्कृत से विकसित हुई हैं। अपभ्रंश के विषय में वाक्यपदीय में कई उल्लेखनीय बातें दी गई हैं और अनेक तरह की विचारधाराओं का संकेत किया गया है।

भर्तृहरि के मत में संस्कारहीन शब्द को अपभ्रंश कहते हैं। भर्तृहरि ने संग्रहकार के एक वाक्य का उल्लेख किया है जिसमें संस्कृत को अपभ्रंश की प्रकृति माना गया है। **शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकारः** (वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१४८)। उनके मत में ऐसे अपभ्रंश की जिसका मूल संस्कृत न हो स्वतन्त्र सत्ता नहीं है (**नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद् विद्यते। सर्वस्यैव साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः**।—वाक्यपदीय १।१४८ टीका)।

अपभ्रंश शब्दों के बारे में चार मूल्यवान विचार भर्तृहरि ने व्यक्त किए हैं—

(१) शुद्ध संस्कृत शब्द के उच्चारण के असामर्थ्य से या प्रमाद से उसका अशुद्ध उच्चारण चल पड़ता है और वह कालान्तर में शब्द मान लिया जाता है। गो शब्द से गावी शब्द उच्चारण की अशक्ति या प्रमाद से चल पड़ा।

(२) बहुत-से अपभ्रंश शब्द प्रतीक पद्धति पर और अनुकरण के आधार पर प्रचलित हो गए। जैसे संस्कृत में गोणी शब्द आवपन (एक विशेष प्रकार की थैली) के अर्थ में व्यवहृत होता था। गौ के लिए गोणी शब्द का व्यवहार संभवतः इसलिए होने लगा कि उसके थन गोणी के आकार से साम्य रखते थे या गोणी की तरह अधिक दूध धारण करने में समर्थ थे (**गोणी वेयं गौ र्गोणीति बहुक्षीरधारणादिविषयादावपनत्वसामान्यादभिधीयते**।—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१४९)।

(३) कुछ अपभ्रंश शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता थी। अर्थात् उनकी प्रकृति का कोई

---

२५. महाभाष्य १।३।२ महाभाष्यकार के समय में कृषि के लिए लोक में 'किसि' शब्द और दृश्य के अर्थ में 'दिसि' शब्द प्रचलित थे। लोके हि कृष्यर्थे किसिं प्रयुञ्जते दृश्यर्थे च दिसिम्. महाभाष्य १।३।२। महाभाष्य में देव दिण्ण (देववत के लिये), आणवयति, वट्टति और वड्ढतिये प्राकृत शब्द मिलते हैं। 'स्वपादिषु'(३।१।९१) वार्तिक अपभ्रंश सुपति शब्द को सामने रखकर लिखा गया था। सुपति—सोवइ।

पता नहीं था। इन्हें ही पीछे के वैयाकरण देशी शब्द द्वारा व्यक्त करने लगे (**प्रसिद्धेस्तु रूढितामापद्यमानाः स्वातंत्र्यमेव केचिदपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते**—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१४८)।

अन्नंभट्ट ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि संस्कृत के साथ-साथ अन्य भाषाओं की भी सृष्टि हुई होगी। यवन देश में यवन भाषा ही पहले बनी होगी। यवनों के यहाँ भी पहले संस्कृत भाषा थी, बाद में अपभ्रंश का प्रयोग प्रारम्भ हुआ— इस कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

> **न हि तदानीं संस्कृतमेव सृष्टं न भाषान्तरमित्यत्र मानमस्ति। तत्तद्यवनादिसृष्टौ तदीयभाषाया अपि तदानीमेव सृष्टत्वात्। न हि तेषामपि प्रथमं संस्कृतेनैव व्यवहारः, पश्चादपभ्रंशरूपभाषाप्रवृत्तिरिति कल्पनायां मानमस्ति।**
>
> —अन्नंभट्ट : महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, प्रथम भाग, पृष्ठ ४७.

(४) संस्कृत शब्दों के विकृत या विकसित रूप वाले अपभ्रंश शब्द भी मूल संस्कृत शब्द की अपेक्षा कुछ विशिष्ट अर्थ रखते थे (**तमपभ्रंशमिच्छति विशिष्टार्थनिवेशिनम्**—वाक्यपदीय १।१४८)। इसके अनुसार गो शब्द के लिए लोक में जितने गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि शब्द प्रचलित थे वे केवल गौ अर्थ को नहीं व्यक्त करते थे अपितु विशेष प्रकार या जाति के गौ अर्थ को प्रकट करते थे। इनमें से प्रत्येक के अर्थ में कुछ विशेषता थी। भाषा-विज्ञान के अनुसार गोपोतलिका को गो शब्द का अपभ्रंश नहीं माना जा सकता। अवश्य ही लोक में गोपोतलिका शब्द गाय के किसी विशेष नस्ल के लिए प्रयुक्त होता होगा। पर शिष्ट-समुदाय में वह प्रचलित नहीं था। इसलिए पतंजलि ने लोक में प्रचलित मानते हुए उन शब्दों को अपभ्रंश शब्द माना।

भर्तृहरि ने अपभ्रंश के विषय में उन प्रवादों का भी उल्लेख किया है जो आज भी किसी न किसी रूप में सजीव हैं। भर्तृहरि के समय में अपभ्रंश का व्यवहार इतना बढ़ गया था कि उन्हीं की प्रधानता हो गई थी। (**तैरेव प्रसिद्धतरो व्यवहारः**) और जहाँ कहीं शुद्ध (साधु) शब्द के प्रयोग में संशय होता था, उसका निर्णय उसके अपभ्रंश के आधार पर किया जाता था। (**सति च साधुप्रयोगात्संशये यस्तस्यापभ्रंशस्तेन संप्रति निर्णयः क्रियते**।—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१५४) अतः एक ऐसा वर्ग खड़ा हो गया था जो अपभ्रंश को ही संस्कृत का मूल (प्रकृति) मानता था और संस्कृत को अपभ्रंश की विकृति मानता था। उनके मत में प्राकृत शब्द का अर्थ था साधु शब्दों का समुदाय जो प्रकृति से उत्पन्न है। विकार बाद में पैदा हुआ और स्वर संस्कार आदि विकृत भाषा में ही किए जाते हैं। प्राकृत (मूल) भाषा में नहीं।

> **अनित्यवादिनस्तु ये साधूनां धर्महेतुत्वं न प्रतिपद्यन्ते, मल्लसमयादिसदृशीं साधुव्यवस्थां मन्यन्ते, ते प्रकृतौ भवं प्राकृतं साधूनां शब्दानां समूहमाचक्षते। विकारस्तु पश्चाद् व्यवस्थापितः, यः संभिन्नबुद्धिभिः पुरुषैः स्वरसंस्कारादिभिर्निर्णीयते इति।**
>
> —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१५५।

341

कुछ लोगों के मत में संस्कृत भाषा कभी भी असंकीर्ण (अपभ्रंश-शून्य) नहीं थी। संस्कृत और अपभ्रंश का सदा से साथ-साथ व्यवहार होता आया है। दोनों अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं। व्यवहार में एक शब्द को साधु और दूसरे को अपभ्रंश उसी रूप में कहते थे जैसे एक स्त्री को गम्या और किसी दूसरी को अगम्या मानते थे। यद्यपि दोनों की विशेषताएँ स्त्रीरूप में सदा से एक ही रही हैं। और दोनों का गम्यत्व और अगम्यत्व केवल परम्परा से परिचालित है न कि स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक है (**येषामपि च नैव पुराकल्पो न च दैवी वागसंकीर्णा कदाचिदासीत्तेषामपि गम्यागम्यादिव्यवस्थावदियं साध्वसाधुव्यवस्था नित्यमविच्छेदेन शिष्टैः स्मर्यते**—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१५६)।

अपभ्रंश की अर्थबोधकता शक्ति के बारे में भी वाक्यपदीय में मुख्यरूप में तीन तरह के विचार व्यक्त किए गए हैं।

(१) अपभ्रंश शब्द साक्षात् वाचक नहीं है। उनके सुनने पर श्रोता को शुद्ध शब्द का स्मरण होता है और तब अर्थ बोध होता है। अतः अपभ्रंश शब्द साधु शब्द के व्यवधान से अर्थ प्रत्यायक होते हैं।

(२) अपभ्रंश शब्द प्रसिद्धिवशात् रूढ़ होकर बिना साधु शब्दों की याद दिलाये ही अर्थ बोधक होते हैं।

(३) जिस रूप में साधु शब्द साक्षात् अर्थ-बोधक होते हैं उसी रूप में अपभ्रंश शब्द भी साक्षात् अर्थबोधक होते हैं। वाचकत्व की दृष्टि से साधु शब्द और अपभ्रंश शब्द में कुछ भी अन्तर नहीं है।

सिद्धान्त रूप में तृतीय मंतव्य ही वैयाकरणों को मान्य है। भाष्यकार ने भी माना है कि शब्द और अपशब्द दोनों से समान रूप से अर्थ का बोध होता है। केवल अंतर यह है कि साधु शब्द का प्रयोग अभ्युदय करने वाला है जब कि अपशब्द अथवा अपभ्रंश का प्रयोग प्रत्यवायकारक है।

समानायामर्थावगतौ शब्देनचापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते—महाभाष्य पस्पशाह्निक।

भर्तृहरि ने कहा है :—**वाचकत्वाविशेषो वा नियमः पुण्यपापयोः**—वाक्यपदीय ३ संबन्धसमुद्देश ३०।

भर्तृहरि ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि साधुता-असाधुता का सम्बन्ध शब्द की आकृति अथवा रूप से नहीं है। एक ही शब्द अर्थभेद से साधु भी हो सकता है और असाधु भी। जैसे गोणी शब्द आवपन के अर्थ में तो साधु है और गाय के अर्थ में असाधु माना जाता है (वाक्यपदीय १।१४९)

हरदत्त ने पदमंजरी (प्रथम भाग पृष्ठ ८) में और भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में साधुता के चार रूप दिए हैं :

अनपभ्रष्टतानादिर्यद्वाभ्युदययोग्यता।

व्याक्रिया व्यञ्जनीया वा जातिः कापीह साधुता।—शब्दकौस्तुभ, पृ० २०

शक्ति वैकल्य के कारण किसी शब्द का अन्यथा उच्चारण अपशब्द या अपभ्रष्टता है।

उससे रहित अनपभ्रष्टता है। वही साधुता है। महाभाष्य में अपशब्द के लिए तेऽ **सुराहेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः**—इस ब्राह्मण-वाक्य का उद्धरण है। हेलय-हेलय में क्या अपशब्दता है इसमें टीकाकारों में विवाद है। कुछ लोग मानते हैं कि प्लुत और प्रकृतिभाव इस वाक्य में होना चाहिए। (हे ३ अलयः हे ३ अलयः) पर नहीं हुआ है। जो लोग प्लुत को वैभाषिक मानते हैं उनके मत में यहाँ अपशब्दता पद को द्वित्व करने की अपेक्षा वाक्य को द्वित्व कर देना है। कुछ लोग हेरय (हे अरयः) में र के स्थान में ल श्रुति होना ही अपशब्दता मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण ३।२।१।२३-२४ में 'हे लवो हे लव' ऐसा पाठ है। इधर हाल ही में डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने हेलय शब्द पर नवीन प्रकाश डाला है। उनके मत में 'इल्लु' बेबीलोनियनों का एक प्रतिष्ठित देवता था। बेबीलोन शब्द बेबा और इल्लु से बना है जिसका अर्थ स्वर्ग-द्वार था। इल्लु शब्द सभी सेमेटिक भाषाओं में है। हिब्रू में एल, और कन्नाइट में इलु, फोनीशी में एल, केडियन में इलु और अरबी में इलाह है और सब में इसका अर्थ ईश्वर है। बेबीलोन वाले युद्ध में अपने देवता को पुकारते हुए इसी शब्द का उच्चारण करते होंगे जिसे पतंजलि आदि ने हेलय के रूप में ग्रहण किया है। हेलय हे अरय का अपभ्रंश नहीं है। (द जरनल आफ द यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, वाल्यूम २३ पार्ट १।२, १९५०)।

अपशब्द को साधु शब्द के समानार्थक माना गया है। (अपशब्दोहिलोके प्रयुज्यते साधु शब्दसमानार्थश्च—कैयट महाभाष्य ३।१।८) किन्तु वैयाकरण अपशब्द का अन्वाख्यान नहीं करते और न उसे साधु शब्द के पर्याय ही मानते हैं। नागेश के मत में व्याकरण की दृष्टि से शब्द का जरा-सा भ्रंशन अपशब्दता है (**अपशब्दत्वं व्याकरणानुगत—शब्दस्येषद् भ्रंशनं एव प्रसिद्धम्**)—नागेश पस्पशाह्निक पृष्ठ २३ गुरुप्रसाद) अथवा अनादिता साधुता है। जिस शब्द के आदि का पता नहीं है जो अनन्तकाल से जिस रूप में आ रहा है वही उसका साधुरूप है। जो शब्द पौरुषेय संकेत का रूप रखते हैं वे अनादिसाधुता के रूप में गृहीत नहीं हो सकते।

अथवा अभ्युदय योग्यता साधुता है। जिन शब्दों के उच्चारण में अभ्युदय होता है वही साधु शब्द हैं।

अथवा साधुता एक तरह की जाति-विशेष है। जिस तरह रत्नों को बार-बार पहचानने से उनकी शुद्धता पहचानने की योग्यता आ जाती है उसी तरह शास्त्र के बार-बार परिशीलन से विद्वानों को साधु शब्दों की पहचान हो जाती है। साधुता एक तरह से जाति-विशेष है।

यह चारों प्रकार की साधुता निर्दोष मानी जाती है और व्याकरणगम्य है। इसी तरह असाधुता भी चार प्रकार की है। अपभ्रष्टता, सादिता, प्रत्यवाययोग्यता और तदवच्छेदक जातिविशेष।

टि, घु आदि संज्ञा शब्द न तो साधु माने जाते हैं और न असाधु। किसी-किसी के मत में अनपभ्रष्टरूपसाधुता उनमें भी है। भस्य आदि सौत्र निर्देश और 'कुत्वं कस्मान्न भवति' आदि भाष्य के वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

संज्ञा शब्द

वाक्यपदीय में संज्ञा शब्द के विषय में कई तरह के विचार हैं। लोक में देवदत्त आदि संज्ञा शब्द प्रचलित हैं। देखा जाता है कि केवल दत्त कहने से देवदत्त का, केवल भामा कहने से सत्यभामा का बोध हो जाता है—ऐसा कैसे होता है ? क्योंकि संज्ञा के एक देश का जैसे देवदत्त में 'देव' का लोप किसी शास्त्र से बिहित नहीं है और केवल दत्त संज्ञा भी नहीं की गई है। पुनः दत्त आदि संज्ञा किसी दूसरे की भी हो सकती है। अतः दत्त शब्द देवदत्त का बोधक कैसे होता है ? यह प्रश्न कई रूप में सुलझाया जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि शब्द-स्वरूपों का अपने सभी अवयवों के साथ सभी प्रकार के संज्ञी के साथ समकाल संबंध होता है। जिस तरह समुदाय अर्थात् पूरा शब्द सज्ञी का बोधक है उसी तरह उसका अवयव भी संज्ञी का बोधक है। अतः शब्द का एक देश भी सम्पूर्ण का अर्थ-प्रत्यायक है और इसलिए दत्त शब्द भी देवदत्त का वाचक है। (वाक्यपदीय २।३५९) इस पक्ष में दो दोष माने जाते हैं। यदि एक देश (अवयव) को भी प्रत्याधक माना जाएगा तो वर्णों को अर्थ-वान् मानना पड़ेगा। देवदत्त शब्द का एक वर्ण भी देवदत्त अर्थ को कहने लगेगा। फिर समुदाय से अलग होकर उसमें वाचकता भी नहीं आ सकेगी। अतः एक देश से अथवा एक देश के तुल्य से संज्ञी का प्रत्यायन सम्भव नहीं है।

इसलिए दूसरे आचार्य मानते हैं कि देवदत्त, देवदत्त शब्द बार-बार सुनते रहने पर कभी केवल एकदेश दत्त आदि के भी सुनने पर पूरे शब्द (देवदत्त) की स्मृति आ जाती है। अतः संज्ञा शब्द के एकदेश, स्मृति के सहारे समुदाय के अर्थ को अभि-व्यक्त करते हैं। इस पक्ष में यह दोष माना जाता है कि संघात के अवयवों में बँट जाने पर अवयवों से स्मृति संभव नहीं है क्योंकि स्मृति सदृशदर्शन से होती है। संघात या समुदाय से ही सादृश्य संभव है, छिन्न-भिन्न संघात से संभव नहीं है। दूसरी बात यह कि स्मृति प्रतीयमान वस्तु (देवदत्त) का अभिधायक नहीं हो सकती। जो कर्णेन्द्रिय गोचर होता है वही अभिधायक होता है जो प्रतीयमान है वह नहीं।

अतः तीसरा मत, जो सिद्धान्त के रूप में माना जाता है, यह है कि संज्ञा शब्द के जो अवयव हैं वे एकदेश के तुल्य (एकदेशस्वरूप) हैं। वे अनुनिष्पादी (नान्तरीयक) हैं। और समुदाय के सभी लिंग (गुणों) से युक्त हैं। इसलिए देवदत्त शब्द जिस संज्ञा को बतलाता है, दत्त शब्द या देव शब्द भी उसी संज्ञा को बतला सकता है। यह ठीक है कि देव शब्द देवता अर्थ को भी कहता है और किसी (देवदत्त) से अन्य व्यक्ति का भी वाचक हो सकता है, इसी तरह दत्त शब्द क्रिया शब्द भी हो सकता है, संज्ञा शब्द भी हो सकता है फिर भी शब्द सामर्थ्य से ये नियत अर्थ वाले मान लिए जाते हैं। अतएव शास्त्र में लोप आदि कार्य उनके किये जाते हैं। देवदत्त शब्द से स्वतन्त्र देव (देवता बोधक) और दत्त (क्रियार्थक) अनुनिष्पादी नहीं होने के कारण देवदत्त शब्द के अवयव के रूप में गृहीत नहीं हो सकते। ज्येष्ठा के लिए

ज्ये, मघा के लिये घा, यद्यपि अनुनिष्पादी शब्द हैं फिर भी असाधु माने जाते हैं क्योंकि व्याकरणशास्त्र में जिस तरह दत्त से देवदत्त आदि के ग्रहण की बात कही गई है वैसे उन अनुनिष्पादी शब्दों की नहीं कही गई है।

संज्ञा शब्द का अपने अर्थ से नित्य सम्बन्ध है

प्रश्न यह है कि संज्ञा शब्दों के संज्ञी से संयोग के पहले व्याकरण के नियम लागू किए जाते हैं या बाद में। यदि पहले माना जाए तो वे संज्ञा शब्द ही न कहा पाएँगे क्योंकि संज्ञी से संयोग होने पर वे संज्ञा शब्द होते हैं। तो ऐसी दशा में संज्ञा-निबन्धन कार्य उनमें कैसे संभव है? यदि उत्तरकाल माना जाय तो संज्ञा शब्द में अनित्यत्व आ जाता है क्योंकि इस दृष्टि से खुरणास जैसे शब्द पहले मानो खुरनास थे बाद में न का ण हुआ। उत्तर यह है कि दोनों रूप में कोई दोष नहीं पड़ेगा। संज्ञी से सम्बन्ध के पहले भी लक्षणयोग संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध से संज्ञात्व मान कर हो जाएगा। (**अत्र संज्ञा-संज्ञि सम्बन्धात् संज्ञात्वं तत्रलक्षणम्, पुण्यराज**—वाक्यपदीय २।३६७)। यदि लक्षणयोग उत्तरकाल में मानें तो भी संज्ञा शब्द में अनित्यता नहीं आने पाएगी क्योंकि हम यह नहीं मानते कि खुरणास शब्द खुरनास के रूप में था और बाद में णत्व हुआ। हम णत्व वाले शब्दों को और बिना णत्व वाले (नकारात्मक) शब्दों को दो वर्गों में बाँटेंगे। कृत्वणत्व शब्द भी स्वाभाविक रूप में नित्य है। वे णत्व के साथ ही संज्ञा शब्द हैं। खुरणास शब्द खुरणास रूप में ही साधु है, नित्य संज्ञा शब्द है। इस तरह चर्मनासिक शब्द चर्मनासिक रूप में ही साधु है, नित्य है और संज्ञा शब्द नहीं है। अतः पाणिनि ने ८।४।३ के अनुसार कृत्वणत्व शब्दों को साधु माना है। न का णत्वविधान केवल प्रक्रिया सूचक है। उससे नित्यता पर प्रभाव नहीं पड़ता।

संज्ञा शब्दों की नित्य सम्बन्धता पर एक दूसरे प्रकार का भी आक्षेप है। कुछ लोगों का कहना है कि संज्ञा शब्द पौरुषेय होते हैं। वे किसी द्वारा किसी वस्तु के संकेत में व्यवहृत होते हैं। बच्चे खेल में धूल आदि से नगर बनाते हैं उनका मधुरा आदि नाम रखते हैं। जिस तरह यहाँ मधुरा आदि नाम का अपने अर्थ से नित्य सम्बन्ध भी नहीं है वैसे ही संज्ञा शब्द अनित्य सम्बन्ध वाले हैं:

> **कृतकत्वादनित्यत्वं सम्बन्धस्योपजायते। संज्ञायाः सा हि पुरुषैर्यथाकामं नियुज्यते। यथा हि पांसुरेखाणां बालकैर्मधुरादयः संज्ञाः क्रियन्ते संज्ञासु सर्वास्वेषैव कल्पना॥**
>
> —पुण्यराज द्वारा वाक्यपदीय २।३६८ में उद्धृत।

इस आक्षेप का समाधान वैयाकरण शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनादि मान कर करते हैं। गो शब्द और उसके अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। उनके मत में नित्य शब्द से किसी विशेष व्यक्ति का ज्ञान व्यवहार में होता है, परन्तु नित्य शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध अनादि है। और वह शब्द प्रत्येक वस्तु को द्योतित करने में समर्थ है। (**संज्ञाशब्दानां तु सर्वसंज्ञि प्रत्यायनशक्तियुक्तत्वेऽपि विशिष्टे संज्ञिनि शक्त्यवच्छेदः सामयिकः**—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश २९)। इसी

तरह शास्त्रीय वृद्धि आदि संज्ञायें भी सभी तरह के अर्थ-प्रकाशन में समर्थ हैं परन्तु दूसरी संज्ञाओं से भेद दिखाने के लिए और व्यवहार में सुविधा के लिए नियम कर दिया जाता है कि आदैच् की ही वृद्धि संज्ञा मानी जाए। जिस तरह से विशेषण-विशेष्य में नील-उत्पल में नीलादि योग कोई पुरुष नहीं करता, स्वाभाविक है, उसी तरह वृद्धि आदि संज्ञाशब्दों का भी संबंध स्वाभाविक है कृत्रिम नहीं।

व्यवहाराय नियमः संज्ञानां संज्ञिनि क्वचित्।
नित्य एव तु सम्बन्धो डित्थादिषु गवादिवत् ॥
वृद्ध्यादीनां तु शास्त्रेस्मिञ्छक्त्यवच्छेद लक्षणः।
अकृत्रिमोऽभिसम्बन्धो विशेषणविशेष्यवत् ॥

—वाक्यपदीय २।३६९, ३७०।

संज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का विचार

संज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के विषय में भाष्यकार ने यह माना है कि प्राथमिक कल्प के संज्ञी के गुण और क्रिया संज्ञा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त होंगे। (**कश्चित् प्राथमकल्पिको डित्थो डाम्भिट्टश्चेति। तेन कृतां क्रियां गुणं वा यः कश्चित् करोति स उच्यते डित्थत्वं त एतड्डाम्भिट्टत्वं त एतत्**—महाभाष्य ५।१।११९) प्राथमकल्पिक में वृत्ति कैसे होगी इस पर भाष्यकार ने विशेष प्रकाश नहीं डाला है, केवल यह कहा है कि जैसे उसका (संज्ञा शब्द का) प्रयोग होता है वैसे किसी तरह उसमें 'वृत्ति' भी हो जाएगी (**यथैव तस्य काथंचित्कः प्रयोगः एवं वृत्तिरपि भविष्यति।** —महाभाष्य ५।१।११९)

भर्तृहरि के अनुसार संज्ञा शब्दों के प्रवृत्ति-निमित्त उनके स्वरूप हैं। सभी संज्ञा शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त उनके स्वरूप ही होते हैं। कहीं तो उसमें अर्थ का सान्निध्य भी निमित्त रूप में रहता है और कभी-कभी अर्थशून्य भी स्वरूप निमित्त होता है। एकाक्षर संज्ञा हो या बड़ी संज्ञा हो इस विषय में उनमें भेद नहीं है। शास्त्र में महती संज्ञा करने के कारण यह अनुमान होता है कि उनका शब्दस्वरूप ही प्रवृत्ति-निमित्त है और उनके अवयवों का प्रत्यायक है। अनुमान का रूप तीन रूप में देखा जाता है। आवृत्ति के रूप में, शब्दभेद के रूप में और शक्तिभेद के रूप में। एक ही संज्ञा शब्द की दो बार आवृत्ति की जाती है। एक के द्वारा स्वरूप निरूपित संज्ञी का ज्ञान होता है और दूसरे के द्वारा अवयवार्थनिबन्धन ज्ञान होता है। सारूप्य के कारण आवृत्ति का अनुमान होता है। अथवा दो बार शब्द का उच्चारण हुआ है इसी का अनुमान करते हैं। उनमें एक से स्वरूप से आच्छादित संज्ञी का ज्ञान होता है। दूसरे से अवयवार्थनिबन्धन प्रतिपत्ति होती है। अथवा वही एक शब्द दो शक्तियों से उच्चरित हुआ है ऐसा अनुमान कर लेते हैं। इनमें एक से संज्ञी की प्रतिपत्ति और दूसरे से अवयवार्थ की संगति होती है।

कैयट ने प्रवृत्तिनिमित्त के प्रश्न को दो तरह से सुलझाया है। उनके मत में शब्द के स्वरूप में अर्थ का अध्यास कर 'यह डित्थ है' ऐसा संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध करते

हैं। शब्द स्वरूप के आसंग से डित्थ शब्द का जिस तरह डित्थ अर्थ में व्यवहार होता है उसी तरह शब्दस्वरूप अर्थ में भावप्रत्यय होता है। कुछ लोग मानते हैं कि डित्थ आदि संज्ञी में भी जाति रहती है। उत्पत्ति से लेकर अंत तक कुमार, यौवन आदि अवस्थाभेद से भिन्न द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति डित्थ में है ही जिसके कारण बालक-डित्थ को युवा अवस्था में देखने पर यह वही डित्थ है ऐसी प्रतीति होती है। वही जाति संज्ञाशब्द की प्रवृत्तिनिमित्त है, उसी में प्रत्यय होता है। यदृच्छा शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त शब्द स्वरूप भी माना जाता है (कैयट, महाभाष्य ५।१।११९)।

कुत्व आदि के विषय में कैयट ने लिखा है कि शब्द और अर्थ में अभेद मान कर संज्ञी के संज्ञास्वरूप में प्रत्यय का अध्यास होता है। किसी-किसी के मत में संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में प्रत्यय होता है (**कुत्वमित्यादौ संज्ञा स्वरूपे संज्ञिष्वध्यस्ते प्रत्ययः अन्येतु संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध इत्याहुः**—कैयट, महाभाष्य ५।१।११९) नानात्व, सहत्व, यौगपद्यत्व जैसे शब्दों में उनका अर्थ प्रवृत्तिनिमित्त होता है और उसी में प्रत्यय होता है (नागेश ५।१।११९)।

संज्ञा शब्द के चार प्रकार

व्याकरण शास्त्र में संज्ञा शब्द चार रूप में गृहीत होते हैं—(१) कृत्रिम रूप में (२) अकृत्रिम रूप में (३) कृत्रिम और अकृत्रिम उभयरूप में और (४) अकृत्रिम का कृत्रिम रूप में।

शास्त्रीय परिभाषा जिन संज्ञाओं की दी गई हैं वे कृत्रिम हैं और कृत्रिमरूप में शास्त्र में व्यवहृत है। जैसे कर्मण्यण् ३।२।१ में कर्म पारिभाषिक है परन्तु कर्तरि कर्म व्यतिहारे १।३।१४ में अकृत्रिम का ग्रहण है। व्यतिहार की यहाँ कृत्रिम संज्ञा उपयुक्त नहीं है। अतः कर्म भी लौकिक कर्म है पारिभाषिक नहीं। 'कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८ में करण शब्द कृत्रिम संज्ञा है जबकि शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करण ३।१।१७ में करण शब्द अकृत्रिम है। संख्या विषयक सूत्रों में लौकिक और शास्त्रीय, अकृत्रिम और कृत्रिम दोनों तरह के संज्ञा शब्दों का निर्वाह हो जाता है जैसे बहुगण बहुडति-संख्या १।१।२३ में संख्या शब्द कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों रूप से समानरूप में गृहीत है। कभी-कभी लौकिक अकृत्रिम संज्ञाशब्द शास्त्रीय कृत्रिम संज्ञाशब्द का प्रत्यायक होता है जैसे एकश्रुतिदूरात् सम्बुद्धौ १।२।३३ में सम्बुद्धि पद लौकिक अकृत्रिम होता हुआ भी कृत्रिम शास्त्रीय कृत्रिम संबुद्धि पद का भी प्रत्यायक होता है (वाक्यपदीय २।२५६-२७७)।

संज्ञा-संज्ञी शक्ति के अवच्छेदक

जिस तरह एक ही वस्तु निमित्त भेद से भिन्न-भिन्न हो जाती है उसी तरह संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध भी निमित्त भेद से भिन्न-भिन्न भासित होता है। लोक में बुद्धि प्रकल्पित भेद को मान कर सोने की अंगूठी (सुवर्णस्य अंगुलीयकम्) कहते हैं, भेदनिबन्धन षष्ठी

विभक्ति का प्रयोग करते हैं। इकोयणचि ६।१।७७ में भी इकारादि चार की इक् संज्ञा है। यकारादि चार की यण् संज्ञा है। यहाँ भी संज्ञी से संज्ञा भिन्न रूप है। इनमें इक् या यण् उच्चारण के कारण क्रमशः स्थानी या आदेश नहीं है अपितु उनसे प्रत्यायित संज्ञी कार्य के पात्र होते हैं। भाव यह है कि वृद्धि शब्द संज्ञा नहीं है अपितु वृद्धि शब्द से प्रत्यायित जो वृद्धि शब्द वह संज्ञा है इसी तरह आदैच् शब्द से प्रत्यायित जो आदैच् वे संज्ञी हैं।

वृद्ध्यादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः।
आदैच् प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः॥ ---वाक्यपदीय १।६०

संज्ञी के सम्बन्ध से पहले संज्ञा अपने स्वरूप की द्योतिका होती है और इसलिए षष्ठी और प्रथमा विभक्ति का निमित्त होती है। संज्ञा शब्द में प्रथमा विभक्ति का व्यवहार किया जाता है क्योंकि स्वरूप से अधिष्ठित होने के कारण अर्थवत्व है। सोऽयम् इस रूप में संज्ञी के द्वारा शक्त्यवच्छेदलक्षण सम्बन्ध नियमित होता है। जैसे गौर्वाहीकः सिंहो माणवकः जैसे वाक्यों में शक्ति का अवच्छेद किया गया है। वाहीक शब्द के द्वारा विशिष्ट गो का और पुरुष शब्द के द्वारा संज्ञा शब्दों का शक्त्यवच्छेद किया गया है। (वाक्यपदीय १।६७, ६८)

संज्ञा शब्द और अनुकरण शब्द में भेद

संज्ञा शब्द और अनुकरण शब्दों में कुछ दूर तक साम्य है। अनुकरण शब्द भी संज्ञा शब्द की तरह स्वरूप का प्रत्यायक होता है। संज्ञा शब्द और अनुकरण शब्द में भेद यह है कि अभिधेय के उच्चारण किये जाने पर अनुकरण होता है। संज्ञा के लिए अभिधेय प्रत्यायक होता है उच्चार्यमाण नहीं। (**अतएव अनुकरण शब्दात् संज्ञा शब्दस्य विशेषः स्पष्टो भवति। उच्चार्यमाणेऽभिधेयेऽनुकरणम्। संज्ञायास्तु प्रत्याय्यमेवाभिधेयम्, नोच्चार्यमाणमिति**—वृषभ—वाक्यपदीय टीका १।६६ पृष्ठ ६९)

इस भाव को संग्रहकार ने भी व्यक्त किया है :

न हि स्वरूपं शब्दानां गोपिण्डादिवत्करणे संनिविशते। तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसंनिवेशे सति तुल्यरूपत्वादसंनिविष्टमपि समुच्चार्यमाणत्वेनावसीयते।

संग्रह, वाक्यपदीयवृत्ति में भर्तृहरि द्वारा उद्धृत १।६६, पृ० ६९-७०

'गोरित्ययमाह' इत्यादि अनुकरणात्मक वाक्यों में केवल स्वरूप बोध का निर्देश रहता है। उनमें अवयवों के निर्देश की भावना नहीं रहती। क्योंकि अवयवों में कार्य (प्रत्यय आदि) नहीं होते। जैसे अग्नेर्ढक् में अग्नि शब्द से प्रत्यय होता है न कि अग्नि शब्द के अवयवों से। ठीक यही बात अनुकरण शब्दों के लिए भी है। यदि अनुकरण शब्दों में भी अवयवनिर्देश माना जाएगा तो वे अलग-अलग क्रमहीन जान पड़ेंगे। गौ इस अनुकरण शब्द में स्थित औकार से औपगव के औकार की प्रतीति होने लगेगी।

अनुकरणेष्वपि यद्यवयवा उपादित्सिताः ते पृथगनियतक्रमाः प्रतीयेरन्निति । गौरित्ययमाहेत्यत औपगवमित्यत्र स्थिता औकारादयः प्रतीयेरन् ।

—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।४४ पृष्ठ ५६

अनुकरण शब्द प्रत्यायक होने के कारण संज्ञा हैं और अनुकार्य प्रत्याय्य होने के कारण संज्ञी हैं। संज्ञा कभी संज्ञी को नहीं छोड़ती (न संज्ञा संज्ञिनं व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।५६) जिस तरह गो आदि शब्द सास्ना, लांगूल वाले अर्थ (व्यक्ति) को जताते हुए उस अर्थ वाले के अर्थ में मतुप् प्रत्यय लाते हैं जैसे गोमान्, उसी तरह अनुकरण शब्द भी अपने अर्थ अनुकार्य को बताते हुए उसके द्वारा अनुकार्य वाले के अर्थ में छ प्रत्यय लाते हैं। अनुकरण शब्द जाति समवेत अर्थ को व्यक्त करता है। वह जाति शब्द है। यह बात लृकार वार्तिक में (भाष्य में) कही गई है। (कैयट—महाभाष्य ५।२।५६)

भट्टोजि दीक्षित ने भी अनुकरण शब्द को जाति शब्द माना है। **अनुकरण शब्दाश्च जाति शब्दा एव तत्रानुकार्यनिष्ठजातेः प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।**

—शब्दकौस्तुभ, १।१।१

अनुकरण शब्द और आम्नाय शब्द में भेद

अनुकरण शब्द का आम्नाय शब्द से भेद स्वर, वर्णानुपूर्वी, देश और काल की दृष्टि से किया जाता है।

आम्नायशब्दानामान्यभाव्यं स्वरवर्णानुपूर्वीदेशकालनियतत्वात् ।

वार्तिक ५।२।५६

अनुकार्य और अनुकरण में अर्थभेद से भेद होता है। इस दृष्टि से आम्नाय शब्द और अनुकरण शब्द में भेद है ही। स्वर आदि की दृष्टि से भी भेद है। आम्नाय शब्दों के स्वर नियत हैं जबकि अनुकरण शब्द एक श्रुति रूप में भी देखे जाते हैं। अस्यवाम शब्द आम्नाय में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। 'अस्य' भी अन्तोदात्त है। 'वाम' भी अन्तोदात्त है। अनुकरण अस्यवाम शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है। इसमें दो उदात्त न होकर एक ही उदात्त है। क्योंकि यहाँ अनुकरण के रूप में अस्यवाम शब्द एक पद है। आम्नाय शब्द में वर्णों का क्रम नियत रहता है। अनुकरण शब्द में उनका उच्चारण व्युत्क्रम रूप में करने पर भी अनुकार्य की प्रतीति हो जाती है। आम्नाय शब्दों के उच्चारण के लिए देश काल नियत हैं। श्मशान में आम्नाय नहीं पढ़ना चाहिए, अमावस्या को अध्ययन नहीं करना चाहिए आदि। जब कि अनुकरण शब्द के लिए देश काल का बन्धन नहीं है। आम्नाय शब्दों में पद के एक देश का तथा विभक्ति का लोप भी देखा जाता है, अनुकरण शब्द में विभक्ति के अभाव में उनका लोप सम्भव नहीं है। नागेश मानते हैं कि आम्नाय शब्दों के श्रवण से शूद्रों को प्रायश्चित्त होता है। जब कि अनुकरण शब्द सुनने से उन्हें प्रायश्चित्त नहीं होता (**अनुकरणंश्रृण्वतः शूद्रस्य प्रायश्चित्ताभाव इत्यपि बोध्यम् ।**—नागेश, महाभाष्य ५।२।५६)।

अनुकरण शब्द और अपशब्द में भेद

अनुकरण शब्द में और अपशब्द में भेद यह है कि शिष्ट अनुकरण साधु माना जाता है। अशिष्ट अनुकरण न तो दोषजनक माना जाता है और न अभ्युदयजनक। जबकि अपशब्द का प्रयोग अर्थबोधक होते हुए भी प्रत्यवायजनक माना जाता है। 'अविरविकन्याय' (महाभाष्य ४।१।८८) शब्द में अवि शब्द, कैयट के अनुसार, विभक्त्यन्त रूप में अनुकरण है। अनुकरण होने के कारण समास होते हुए भी विभक्ति का लोप नहीं हुआ है।

अविर्रविकन्यायेनेति।······अथवाऽविरित्यस्य विभक्त्यन्तस्यानुकरणमवि-रिति। ततोऽनुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वाद् या विभक्तिरुत्पद्यते तस्यां द्वन्द्वान्तर्भा-वाल्लोपः, न तु पूर्वस्याः, अनुकरणत्वात्सुप्त्वाभावात्। यथाऽस्यवामीयमिति षष्ठ्या लुगभावः। अथवा भाष्यकारवचनप्रामाण्यादस्य साधुत्वम्।

—कैयट, महाभाष्य ४।१।८८

व्याकरण

शिष्ट प्रयुक्त साधु शब्दों का अन्वाख्यान व्याकरण करता है। (**शिष्टप्रयोगानुविधायि इदं शास्त्रम्**—महाभाष्य दीपिका पृ० १२६) अपभ्रंश के भी व्याकरण बाद में बने किन्तु संस्कृत के वैयाकरण व्याकरण का लक्ष्य परिनिष्ठित शब्दों को ही मानते थे। भर्तृहरि ने व्याकरण शास्त्र को आगम माना है और इसके प्रति अत्यन्त मनोरम भाव व्यक्त किया है। विद्या का अधिष्ठान वेद है। वह एक है। पर उसके परिकल्पित भेद किए गए हैं। मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने साधारण ज्ञान वाले प्राणी के लिए वेद का कई रूप में अन्वाख्यान किया है। वेद लोक का प्रकृति (मूल) है। वही लोक का उपदेष्टा है। लोक की सभी व्यवस्थाओं का विधाता है। वह प्रणवमय है। वह सर्व शब्द-अर्थ की प्रकृति है। सभी तरह के विद्याभेद उसी से उदबुद्ध हुए हैं। विद्याभेद ज्ञान के हेतु हैं। इनसे पुरुष का संस्कार होता है। उनकी बुद्धि का उनके ज्ञान का संस्कार होता है। ये विद्याभेद वेद के अंग के रूप में प्रसिद्ध हैं और उन अंगों के भी उपांग हैं जिनसे स्वप्न, पाक, योनि आदि का ज्ञान होता है। **उपाङ्गेभ्यश्च स्वप्नविज्ञानपाकयोनिज्ञानादयो विद्याभेदाः प्रसिद्धा लोके**—वाक्यपदीय-हरिवृति १।१०

इन अंगों, उपांगों में सर्वप्रथम स्थान व्याकरण का है (**प्रथमं छन्दसामंगमा-हुर्व्याकरणं बुधाः**—वाक्यपदीय १।११)

वेद शब्दमय हैं। व्याकरण शब्द का ही संस्कार करता है। इसलिए शब्द के साक्षात् उपकारी होने के कारण वेद का समीपी है। इसीलिए अक्षर समाम्नाय के ज्ञान-मात्र से सर्व वेद की पुण्यफल-प्राप्ति कहा जाता है। इसलिए अंगों में व्याकरण को प्रधान माना है।

शब्द समूह को भर्तृहरि ने वाणी का परमरस कहा है (**यो वाचः परमोरसः**) वह पुण्यतम ज्योति है। व्याकरण उस परम ज्योति का ऋजु मार्ग है। स्वरूप और पररूप के द्योतक तीन तरह के प्रकाश होते हैं। एक अग्नि का प्रकाश। दूसरा पुरुष

का आन्तरिक प्रकाश। तीसरा प्रकाश और अप्रकाश सबको प्रकाशित करनेवाला शब्द नाम का प्रकाश। इस शब्दरूप प्रकाश से अखिल चर-अचर जगत् सम्बद्ध है।

इह त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः स्वरूपपररूपयोरवद्योतकाः तद्यथा। योयं जातवेदा यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः तत्रैतत्सर्वमुपनिबद्धं यावत्स्थास्नु चरिष्णु च इति।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१२

इसको दण्डी ने यों व्यक्त किया है :

इदमंधस्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयः ज्योतिरासंसारं न दीप्यते। —काव्यादर्श, १।४

जो व्याकरण नहीं जानता वह शब्दार्थ सम्बन्ध के तत्त्व को नहीं समझ सकता। वह एक ही अर्थ वाले साधु-असाधु शब्द का निर्णय नहीं कर सकता। बिना उपदेश के साधु प्रयोग से शिष्टों का अनुमान नहीं कर सकता।

शब्दार्थ सम्बन्ध निमित्त तत्त्वं वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून्। साधुप्रयोगानुमितांश्च शिष्टान् न वेद यो व्याकरणं न वेद।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१२ में उद्धृत

अर्थ के प्रवृत्ति अथवा व्यवहार के तत्त्व का शब्द ही निबन्धन है। वह अर्थ-प्रवृत्ति चाहे विवक्षा मानी जाय या संसर्ग मानी जाए। सत्ता मानी जाए अथवा बाह्यरूप में स्थित प्रत्यगात्मा मानी जाए। शब्दों का तत्त्वबोध—उनका शुद्ध अपभ्रंश-रहित स्वरूप बिना व्याकरण के नहीं जाना जा सकता।

व्याकरण स्वर्ग का द्वार है। वाणी के मल की चिकित्सा है। सर्वविद्याओं से पवित्रतम है और सभी विद्याओं में प्रकाशित होता है।

जैसे संसार के सभी अर्थ-जाति शब्दाकृति से ग्राह्य हैं—संसार के सभी पदार्थ शब्द से द्योतित होते हैं—वैसे ही व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल है। वह सिद्धि के सोपान का प्रथम पर्व है। वह मोक्षार्थी के लिए सरल राजमार्ग है।

भर्तृहरि के अनुसार व्याकरण स्मृति है। वह प्रातिभ-ज्ञान-सम्पन्न-ऋषियों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। वह अपौरुषेय है। व्याकरण को अपौरुषेय रूप देते हुए ही मुनियों ने शब्दानुशासन प्रकट किया है।

भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्या-अगम्या आदि का विचार जैसे स्मृति-ग्रन्थ करते हैं और शिष्टजन अपने आचरण में उनका पालन करते हैं, उसी तरह व्याकरणस्मृति भी साधुत्व ज्ञान का प्रतिपादन करती है। साधु और असाधु शब्द की व्यवस्था व्याकरण करता है। जिस तरह परम्परा को अविच्छिन्न रखते हुए समय-समय पर स्मृतियों का संस्करण होता आया है उसी तरह परम्परा को अविच्छिन्न रखते हुए शब्दानुशासन भी समय-समय पर शब्दतत्त्वज्ञों द्वारा प्रचारित होता रहा है।

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्।।—वाक्यपदीय १।१४२

व्याकरण का पद-अन्वाख्यान और वाक्य-अन्वाख्यान

भर्तृहरि प्रवाहनित्यता (गुरु परम्परा से क्रमागत) के आधार पर शब्दानुशासन को अनादि मानते हैं। शब्दानुशासन की प्रायः दो तरह की पद्धति रही है। एक है 'शब्दवती' और दूसरी है 'अशब्दा'।

तस्मादनादि गुरुपूर्वक्रमागता शिष्टानुमानहेतुरव्यभिचारा लक्षणप्रपञ्चाभ्यां शब्दवती चाशब्दा च स्मृतिर्निबध्यते। —वाक्यपदीय १। २९ हरिवृत्ति

शब्दवती के रूप में शब्दानुशासन कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द का नामतः उल्लेख कर प्रकृति-प्रत्यय आदि के रूप में उसका संस्कार किया जाता है। पाणिनि आदि सूत्रकारों के लक्षण इसी कोटि में आते हैं जैसे 'अग्नेर्ढक्' इस सूत्र के द्वारा जो अनुशासन कहा जा रहा है उसे हम शब्दवती अनुशासन पद्धति कह सकते हैं।

परन्तु सहस्रों ऐसे शब्द हैं जिनके बारे में अनुशासन उपलब्ध नहीं हैं। ऐसे भी सैकड़ों शब्द हैं जिनमें लक्षण ठीक नहीं बैठते फिर भी वे साधु माने जाते हैं। ऐसे शब्दों का अनुशासन शिष्टों के व्यवहार के आधार पर मान लिया गया है। यद्यपि शब्दतः उनका उल्लेख विधि के रूप में नहीं है फिर भी वे शब्द अपने प्रकृत रूप में शास्त्रकार को इष्ट हैं। इसीलिए ऐसे वाक्य मिलते हैं। **इष्टमेवैतद्गोनर्दीयस्येति**—महाभाष्य ३। १। ९२। इस तरह के अनुशासन को भर्तृहरि ने अशब्दा स्मृति कहा है।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आचार्यों अथवा शिष्टों द्वारा दो प्रकार से व्याकरण अथवा शब्दानुशासन आरम्भ किया गया। पहला उपेयनिर्देश के द्वारा और दूसरा उपायनिर्देश के द्वारा। उपेयनिर्देश का भाव निपातन जैसी प्रक्रिया से है। बहुत से शब्द हैं जिन्हें पाणिनि आदि ने निपातन से सिद्ध किया है अर्थात् वे शब्द जैसे सुने जाते थे, जैसे लोक में प्रचलित थे उनका उसी रूप में उल्लेख कर दिया गया। प्रकृति-प्रत्यय का विचार उनके बारे में ठीक से नहीं किया गया। निपातन के बारे में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।
अनुबन्ध विकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्॥

—कैयट ५। १। ११४ में उद्धृत

उपायनिर्देश से तात्पर्य विधि से है, प्रातिपदिक आदि से प्रत्यय आदि का विधान कर शब्द के साधुत्व प्रदर्शन से है। शास्त्रकारों ने प्रकृति और प्रत्ययों में अनुबंध की कल्पना विशेष दृष्टि से की है। प्रकृति के अकार आदि अनुबन्ध उपग्रह आदि के संकेत की दृष्टि से किए गए हैं। घञ् अण् आदि प्रत्ययों में अनुबंध वृद्धि, उदात्तादि स्वर आदि के संकेत के लिए किए गए हैं। वस्तुतः शिष्ट जनों को, शिक्षित, सभ्य समुदाय को प्रकृति-प्रत्यय आदि की आवश्यकता नहीं होती। शब्दों की ठीक पहचान उन्हें लोक व्यवहार से परंपरया मिल जाती है। हेलाराज के अनुसार शिष्टों की प्रतिभा निर्मल रहती है। उनकी बुद्धि सब को यथार्थरूप में ग्रहण करने में स्वभावतः समर्थ होती है। इसलिए उन्हें प्रकृति-प्रत्यय के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिए उपायनिर्देश (निपातन से शब्द सिद्धि) भी असत्य ही हैं।

जब ऐसी बात है, शिष्ट के व्यवहार से ही काम चल जाएगा, शब्दानुशासन की, अष्टाध्यायी आदि व्याकरण ग्रन्थों की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि शिष्ट प्रयोगों का कोई उल्लंघन न करे इसलिए उन शिष्टों द्वारा प्रयुक्त शब्दों को ही व्याकरण लक्षण द्वारा समझता है। वैयाकरण स्वयं शब्द नहीं गढ़ता। लोक में प्रयुक्त शब्दों का ही अन्वाख्यान करता है। किसी नियम के न रहने पर शिष्टंमन्य लोक मनमाना व्यवहार कर सकते हैं और भाषा के परिनिष्ठित रूप में विच्छृंखलता ला सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि शिष्टों को भी विशेष शब्द के बारे में भ्रम हो सकता है। भ्रम के निराकरण के लिए भी आकर ग्रन्थों की आवश्यकता है। इसलिए भर्तृहरि ने कहा है कि जो शिष्ट प्रयोग के साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, अन्धे हैं, उनके लिए शास्त्र ही दृष्टि हैं (**शास्त्रं चक्षुरपश्यताम्**-वाक्यपदीय ३, वृत्ति समुद्देश ७९)। जो लक्षण जानते हैं परन्तु लक्षणनिरपेक्ष रूप में ही साधु शब्दों का व्यवहार करते

हैं। उन्हें भी पतंजलि ने शिष्ट कहा है। उनके ऐसे व्यवहार से उनके शिष्ट होने का अनुमान कर लिया जाता है। अतः व्याकरण सम्प्रदाय में 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' और 'सैषाशिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी' ये दोनों ही उक्तियाँ प्रचलित और मान्य हैं। (हेलाराज, वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश, ७८, ७९)।

व्याकरण द्वारा शब्दों का अन्वाख्यान किया जाता है। इस सम्बन्ध में दो तरह के मत हैं। एक मत है कि व्याकरण द्वारा शब्द का अन्वाख्यान पद-अवधिक है। दूसरा मत यह है कि अन्वाख्यान वाक्य अवधिक है। भर्तृहरि ने दोनों पक्षों का उल्लेख किया है :

केषांचित् पदावधिकमन्वाख्यानम्, वाक्यावधिकमेकेषाम्।

—वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति, पृष्ठ ३८।

पाणिनि आदि के अनेक वक्तव्य पद के अन्वाख्यान और वाक्य के भी अन्वाख्यान में प्रमाण हैं। पद संस्कार पक्ष में एक शब्द दूसरे शब्द से निरपेक्ष होता है। उसका संस्कार भी निरपेक्ष रूप में ही होता है। जैसे शुक्ल शब्द गुणवाचक शब्द है। मतुप् प्रत्यय के लोप के होने पर शुक्ल शब्द शुक्ल गुण वाले वस्तु का भी बोधक है। ऐसी परिस्थिति में वह विशेषण हो जाता है। किसी दूसरे पद के सम्पर्क में भी वह विशेषण हो सकता है जैसे शुक्लः पटः में। अब पदसंस्कारपक्ष में शुक्ल शब्द को विशेषण के रूप में भी नपुंसक लिंग और एकवचनान्त होना चाहिए क्योंकि निरपेक्ष रूप में एकवचन और नपुंसक लिंग ही स्वाभाविक है और अन्तरंग होने के कारण तथा श्रुति अभेद के कारण विशेष अर्थ में वर्तमान शुक्ल शब्द में भी वे ही उपस्थित हो जाएंगे। इस दोष को हटाने के लिए विशेषणानां चाजातेः १।२।५२ यह नियम बनाया गया। अर्थात् गुणवचन शब्दों का आश्रय के अनुसार लिंग वचन होते हैं। आश्रय का बहिरंग और भावी होना इसमें बाधक नहीं है। अतः विशेषणानां चाजातेः १।२।५२ यह सूत्र पदसंस्कारपक्ष का समर्थक है। वाक्यसंस्कारपक्ष में गुण का आश्रय में अत्यन्त संसृष्ट होने के कारण, उनका अलग विवेक न होने के कारण गुण का कोई 'सामान्य' रूप ही संभव नहीं है। आश्रय के भान होने के साथ ही साथ गुण का भी भान होगा क्योंकि गुण तन्निष्ठ है और इसलिए द्रव्यगत लिंग और वचन भी स्वभावतः सिद्ध हो जाएँगे। इस पक्ष में सूत्र केवल अनुवाद मात्र हैं।

पदसंस्कारपक्षे वाचनिकमेतत्। पदे हि पदान्तरनिरपेक्षे संस्क्रियमाणे नपुंसकलिंगसर्वनामप्राप्तमेकत्वं च वस्त्वन्तरनिरपेक्षत्वात् सन्निहितमिति शुक्लं पटा इति प्राप्ते भाविनो बहिरंगस्याश्रयस्य लिंगसंख्येऽनेन प्रतिपाद्यते। ...यदा तु वाक्यसंस्कारः तदायमनुवाद एव।

—कैयट, महाभाष्य, १।२।५२,

द्रष्टव्य—वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति पृष्ठ ३८।

पाणिनि ने **तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्** १।२।५३ सूत्र से भी उपर्युक्त सूत्र की निरर्थकता द्योतित की है।

कात्यायन ने पदसंस्कारपक्ष को मान कर द्वन्द्व समास में प्रत्येक अवयव के संस्कार की दृष्टि से '**द्वन्द्वेऽबहुषु लुग् वचनम्**' कहा और वाक्य-संस्कारपक्ष के आधार पर '**न वा सर्वेषां द्वन्द्वे बह्वर्थत्वात्**' यह कहा (वार्तिक, महाभाष्य २।४।६२)।

उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५ जैसे सूत्र और 'भवति' के लिए 'भू, भूति, भू अति आदि की कल्पना पदावधिक अन्वाख्यान पक्ष में ही ठीक हैं।

भर्तृहरि ने संग्रहकार का निम्नलिखित वक्तव्य वाक्यावधिक अन्वाख्यान पक्ष के समर्थन में उद्धृत किया है :

न हि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित् ।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥

न्यासकार ने भी कौस्तः, यौस्तः इन शब्दों की सिद्धि पदसंस्कारपक्ष में दुरूह बताते हुए वाक्यसंस्कारपक्ष पाणिनि को अभिप्रेत है ऐसा माना है :

किं पुनरिदं राजशासनं पदसंस्कारार्थैव शब्दानुशासनं कर्तव्यमिति। अथ शास्त्रकारस्यैवायमभिप्राय इति चेत् । न । शास्त्रकारेण हि युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम (१।४।१०५) इति युष्मदाद्युपपदे मध्यमादि-पुरुषविधानात् वाक्यसंस्कारप्रयुक्तमपि शास्त्रमेतदिति सूचितम् ।

—न्यास, १।१।५८, पृष्ठ १११ ।

पुरुषोत्तमदेव ने भी पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारपक्ष दोनों को आचार्य-सम्मत माना है ।

इह प्रातिपदिकार्थ मात्रे प्रथमां विवदता आचार्येण ज्ञाप्यते पदसंस्कारकमिदं व्याकरणमिति ।...तथा वाक्यसंकारकं चेदं व्याकरणमाचार्यस्याभिमतमिति धातु सम्बन्धे प्रत्यया (३।४।१) इति सूत्रकरणात् ।

—पुरुषोत्तमदेव, ज्ञापक समुच्चय, पृष्ठ ६७, ६८ ।

पदावधिक अन्वाख्यान और वाक्यावधिक अन्वाख्यान में हेलाराज के मत में, भेद यह है कि सम्बन्ध सामान्य की अपेक्षा में पदावधिक अन्वाख्यान और सम्बन्ध विशेष की अपेक्षा से वाक्यावधिक अन्वाख्यान किया जाता है ।

...सम्बन्धि (सम्बन्ध) सामान्यापेक्षायां पदावधिकं तद्वाक्योपात्तसम्बन्ध-विशेषापेक्षायां तु वाक्यावधिकमन्वाख्यानमिति इयाननयोः पक्षयोः विशेषः ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३ साधनसमुद्देश ३, पृष्ठ १७६ ।

यद्यपि पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारपक्ष दोनों ही गृहीत हैं । फिर भी व्याकरणशास्त्र प्रकृति-प्रत्यय आदि के द्वारा पदसंस्कार ही करता है । ऐसे विभाग पद में ही संभव हैं । वाक्य में अनेक पदों के होने के कारण वाक्य का साक्षात् अन्वाख्यान उतना उपयुक्त नहीं है । दर्शन भेद से दोनों पक्षों में भेद होने पर भी पदसंस्कार को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि पद का स्वरूप व्यवस्थित है ।

दर्शनभेदात् भेदेऽपि व्यवस्थित रूपत्वात् पदमेवान्वाख्येयम् इति ।

—वृषभ्, वाक्यपदीय १।१२६ पृष्ठ ४३ ।

व्याकरण लोकपक्ष को महत्व देता है

शब्दानुशासन की प्रक्रिया में सब तरह के न्यायसिद्ध सिद्धान्त काम में लाए जाते हैं । फिर भी व्याकरण-दर्शन 'लोकविज्ञान' को भी महत्त्व देता है । पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि लौकिक पक्ष के समर्थक हैं । जहाँ कहीं शास्त्रीय सिद्धान्त और लोकप्रसिद्ध व्यवहारों में विरोध होता है, व्याकरण-दर्शन लोक प्रसिद्ध पक्ष को ही प्रश्रय देता है । उदाहरण के लिए, सभी दर्शन मानते हैं कि अवयव मे अवयवी रहता है । इस सिद्धान्त के अनुसार शाखा में वृक्ष है, वृक्ष में शाखा नहीं । किन्तु लोक में सदा 'वृक्ष में शाखा' यही कहते हैं । अतः वैयाकरणों ने शास्त्रीय आधाराधेय भाव को ठुकराकर लोकपक्ष को ही अपनाया है और उसके अनुसार 'वृक्षे शाखा' यही कहते हैं ।

एतच्च लौकिक व्यवहारानुगुण्येन शास्त्रेऽस्मिन् व्युत्पाद्यते । शास्त्रान्तर प्रसिद्धा व्यवस्था लोकविरुद्धा । लोके हि गवि श्रृङ्गं वृक्षे शाखा इति व्यवहारः । तथैव व्याकरणेऽप्याधार सप्तमी । शास्त्रान्तरे तु अवयवेष्ववयवीति श्रृंगं गौः,

शाखायां वृक्ष इति स्यात् ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जाति समुद्देश ११ ।

परन्तु विचार के लिए व्याकरणदर्शन विचार अवश्य करता है। भट्टोजि दीक्षित ने लिखा है कि जैसे कोई वराटिका (कौड़ी) ढूँढ़ने चले और उसे चिन्तामणि मिल जाए उसी तरह शब्द विचार में प्रवृत्त भर्तृहरि ने प्रसंग से विवर्तवाद आदि का भी अन्वाख्यान किया है जिससे वैयाकरणों को भी अद्वैतब्रह्म के विषय में परिज्ञान हो।

तदेवं वराटिकान्वेषणाय प्रवृत्तश्चिन्तामणिं लब्धवानिति वसिष्ठरामायणोक्ता-भाणक न्यायेन शब्दविचाराय प्रवृत्तः सन् प्रसंगादद्वैते ब्रह्मण्यपि व्युत्पद्यता-मित्यभिप्रायेण भगवान् भर्तृहरिर्विवर्तवादादिकमपि प्रसङ्गाद्व्युत्पादयत् ।

—शब्दकौस्तुभ, पृष्ठ १२ ।

परन्तु भट्टोजि दीक्षित की उक्ति उतनी सही नहीं है। वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्द विचार एक दार्शनिक की भाँति आरम्भ किया है और वाक्यपदीयके आरम्भ में ही उसकी प्रतिष्ठा कर दी है। विवेचन की सूक्ष्मता और व्यापकता के आधार पर सभी तरह के मौलिक विचार दर्शन के क्षेत्र में आ जाते हैं। शब्दानुशासन की प्रक्रिया के मूल में छिपे हुए गहन विचारों का विश्लेषण अपना स्वतंत्र महत्त्व रखता है। वाक्य-पदीय का दर्शन एक प्रासंगिक दर्शन नहीं है। अपितु 'भाष्याब्धिपीयूषच्छटाच्छुरित' व्याकरण-दर्शन का रस है।

ध्वनि

ध्वनि की परिभाषा

भर्तृहरि के अनुसार जो स्फोट का अभिव्यंजक है उसे ध्वनि शब्द से व्यक्त करते हैं। दूसरे शब्दों में, शब्द के व्यंजक को ध्वनि कहते हैं। महाभाष्यकार ने प्रतीतपदार्थक ध्वनि को शब्द माना है (**प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते**—महाभाष्य पस्पशाह्निक)। अर्थात् लोक में जो ध्वनि समूह पदार्थ-बोधक के रूप में प्रसिद्ध है, जो श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है और वर्णरूप है वह शब्द है। इस दृष्टि से ध्वनि और शब्द में कोई भेद नहीं है। किन्तु सूत्र १।१।७० में भाष्यकार ने ध्वनि शब्द को शब्द का गुण कहा है (स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः)। ध्वनि को शब्द के गुण मानने का भाव है कि ध्वनि शब्द का उपकारक अथवा व्यंजक है। भाष्यकार ने '**उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यतेरश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति**' इस वाक्य में स्फोट शब्द का व्यवहार किया है। आकृतिनित्यत्ववादियों के मत में इस वाक्य में स्फोट शब्द से अन्य शब्दाकृति अभिप्रेत है। शब्दत्व और शब्दाकृति में भेद यह है कि शब्दत्व सभी शब्दों में रहने वाला धर्म है, सर्व शब्द साधारण है। शब्दा-कृति विशेष शब्द से सम्बद्ध है। वह क्रमशक्ति से उद्बुद्ध एक-एक कर सुनाई देने वाली और उसी क्रम से गृहीत वर्णों से गठित होती है। ये (उपलब्धि निमित्त संस्कार) उसमें कल्पित होते हैं वास्तविक नहीं। शब्द-व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। उनमें स्वयं अपने आप को अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं होती परन्तु वे स्फोट को द्योतित करते हैं। स्फोट को द्योतित करने वाले शब्द-व्यक्ति का नाम ध्वनि है (वाक्यपदीय १।९४ हरिवृत्ति)। श्लोकवार्तिककार के अनुसार स्फोट शब्द है और ध्वनि उसका व्यायाम (विस्तार) है।

स्फोटः शब्दो ध्वनिः तस्य व्यायाम उपजायते ।

—वाक्यपदीय १।२२ की हरिवृत्ति में उद्धृत ।

कुछ लोगों के अनुसार जातिस्फोट के व्यंजक को ध्वनि कहते हैं।

अनेक व्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इतिस्मृता
कैश्चित् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः ।

—वाक्यपदीय १।९४

शब्द के अनित्यत्व और नित्यत्व के विचार से भी ध्वनि के रूप में कुछ भेद दृष्टिगत होता है। भर्तृहरि ने इसे निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥—वाक्यपदीय १।१०३

अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुकः प्रथमाभिनिर्वृतो यः शब्दः स स्फोट इत्युच्यते। तज्जातास्तु सर्वदिक्कास्तद्रूपप्रतिबिम्बोपग्राहिणः सर्वद्रव्याणां स्वेनात्मना निरवयवत्वात् आकाशस्यापि मुख्यसमवायिदेशवत् संयोगि-द्रव्यान्तरदेशप्रविभागोपचारे सति, देशनैरन्तर्यप्रत्यासत्त्याकार्यकारणसन्ताना-विच्छेदेन यथोत्तरमपचीयमानपूर्वप्रतिबिम्बोपग्रहणशक्तयो मन्दप्रदीपप्रकाशित-रूपकल्पाः क्रमेण प्रध्वंसमाना ये वर्णश्रुतिं विभजन्ति ते ध्वनय इत्युच्यन्ते । नित्यपक्षे तु संयोगजविभागजध्वनिव्यंग्यः स्फोटः । एकेषां संयोगविभागजध्व-निसंभूतनादाभिव्यंग्यः । स्फोटरूपानुग्राहिणस्तु यथोत्तरमपचीयमानाभि-व्यक्तिसामर्थ्या द्रुतादिवृत्तिभेदव्यवस्था हेतवोऽपचयात्मका ध्वनयः ।

—वाक्यपदीय १।१०३ पर हरिवृत्ति

अनित्य पक्ष में स्थान और करण के संयोग विभाग के हेतु से निर्वृत्त को शब्द कहते हैं। उसकी प्रथम अभिव्यक्ति होती है। उस शब्द को स्फोट कहते हैं। अपने समवायी आकाश की तरह वह भी निरवयव है परन्तु जैसे आकाश में घट आदि संयोगी द्रव्य से देश भेद होने के कारण पूर्वापर व्यवहार होता है उसी तरह शब्द में भी पूर्वापर व्यवहार आरोपित रहता है। शब्द के बाद जो पैदा होती हैं वे ध्वनियाँ हैं। वे वर्णश्रुति को विभक्त करती हैं। अर्थात् प्रविभक्त स्फुट अक्षर वाली होती हैं। वे शब्द के प्रतिबिम्ब से युक्त रहती हैं और सब दिशाओं में फैलती हैं। इनके फैलने की दो पद्धतियाँ मानी गई हैं। वीचितरंगवत् और कदम्ब कोरकवत्। जैसे एक लहर दूसरी लहर को पैदा करती हुई विस्तार पाती है वैसे ध्वनि भी एक ध्वनि लहर से दूसरी ध्वनि लहर उठाती हुई संतत रूप में फैलती है। कदम्बकोरक का मत मानने वालों का अभिप्राय यह है कि जिस तरह कदम्ब के कोरक एक-ब-एक चारों तरफ समान रूप से खिलते हैं वैसे ही ध्वनियाँ चारों तरफ समान रूप से फैलती हैं। वीचितरंगन्याय और कदम्बकोरकन्याय में भेद यह माना जाता है कि पहले मत के अनुसार चारों दिशाओं में फैलने वाली ध्वनि की एक लहर-सी होती है जबकि दूसरे मत के अनुसार चारों ओर फैलने वाली ध्वनि अलग-अलग-सी होती है। ध्वनि का स्वभाव यह है कि वह क्रमशः क्षीण होती जाती है और अन्त में क्रम से नष्ट होती जाती है। भर्तृहरि ने इनकी उपमा मन्द प्रदीप के प्रकाश से दी है। यद्यपि ध्वनि दीपक के तुल्य है व्यंजक होने के कारण, न कि प्रकाश के। फिर भी जैसे मन्द प्रकाश दूर पड़ने पर क्रमशः क्षीण और विलीन होते जाते हैं वैसे ही ध्वनि की भी बात है। यही दोनों में साम्य है।

शब्द के नित्यत्वपक्ष में ध्वनि यथोत्तर अपचय प्राप्त होने वाली अभिव्यक्ति में समर्थ, द्रुतादिवृत्तिभेद व्यवस्था का कारण और अन्त में विनशनशील है। अनित्य पक्ष और नित्यपक्ष में ध्वनि के स्वरूप में भेद न होकर शब्द अर्थात् स्फोट के स्वरूप में भेद है। अनित्य पक्ष में शब्द पैदा होता है तब ध्वनि फैलती है। नित्य पक्ष में शब्द ध्वनि से व्यंग्य है। शब्द व्यक्ति को ही स्फोट मानने वाले संयोगविभागज ध्वनि

समूह से उद्‌बुद्ध नाद से व्यंग्य स्फोट को मानते हैं। प्रथम ध्वनि (प्राकृत ध्वनि) ह्रस्व दीर्घ आदि की व्यवस्था का और द्वितीय ध्वनि (वैकृत ध्वनि अथवा नाद) द्रुतादि वृत्ति व्यवस्था का हेतु है (वाक्यपदीय १।१०३)।

भेरीदण्डाभिघात से उत्पन्न ध्वनि दूर तक सुनाई देती है और लोहकंसाभिघात से उत्पन्न ध्वनि नजदीक तक ही सुनाई देती है। ध्वनि की इस महत्ता अथवा अल्पता से शब्द को भी लोक-व्यवहार में अल्प या महान् कहते हैं। वस्तुतः शब्द अल्प या महान् नहीं होता। ध्वनि कार्यरूप और कारणरूप दोनों हैं। उत्तरोत्तर ध्वनियों का पूर्ववर्ती ध्वनियाँ कारण हैं। और पूर्ववर्ती ध्वनियों का उत्तरवर्ती ध्वनियाँ कार्य हैं।

ध्वनिः प्राकृत और वैकृत

संग्रहकार ने दो तरह की ध्वनि मानी हैं। प्राकृत और वैकृत। शब्द के ग्रहण में हेतु प्राकृत ध्वनि है। स्थिति भेद अर्थात् द्रुतविलम्बित आदिवृत्ति के ग्रहण में हेतु ध्वनि को वैकृत कहते हैं।

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे (वृत्ति भेदे) निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते।

—संग्रह, वाक्यपदीय १।७७ हरिवृत्ति पृष्ठ ७७-७८ पर उद्धृत।

भर्तृहरि के मत में प्राकृत ध्वनि वह ध्वनि है जिसके बिना अनभिव्यक्त स्फोट का परिज्ञान ही नहीं हो सकता। वैकृत वह ध्वनि है जिसके द्वारा व्यक्त स्फोट बार-बार दीर्घ दीर्घतर आदि काल के साथ जान पड़ता है (वाक्यपदीय १।७७ हरिवृत्ति)।

वृषभ के अनुसार ध्वनि की प्रकृति स्फोट है। स्फोट रूपी प्रकृति से उद्‌भूत ध्वनि को प्राकृत ध्वनि कहते हैं। इस ध्वनि के उत्तरकाल में होने वाली ध्वनियाँ उससे विलक्षण जान पड़ती हैं। वे मानो स्फोट के विकार हैं। इसलिए उन्हें वैकृत ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि स्फोटयोः पृथकत्वेनानुपलंभात् तं स्फोटं तस्य ध्वनेः प्रकृतिमिव मन्यते। तत्र भवः प्राकृतः। तदुत्तरकालभावी तस्माद् विलक्षण एवोपलभ्यते इति विकारापत्तिरिव स्फोटस्येति वैकृत उच्यते।

—वृषभ, वाक्यपदीय १।७७ पृ० ७८

हेलाराज के अनुसार प्राकृत ध्वनि स्वगत काल भेद का अवभास कराती है। वैकृतध्वनिजनित वृत्तिभेद भेदक नहीं होता। —कालसमुद्देश ६५

देवसूरि के अनुसार प्राकृत ध्वनि वह ध्वनि है जिसके बिना सामान्यरूप से या विशेषरूप से स्फोट की प्रतीति नहीं होती। स्फोट की प्रतीति होने के बाद जिन ध्वनियों से यह वही है (स एव अयम्) इस रूप में देर तक स्फोट की उपलब्धि होती रहती है वे वैकृत ध्वनियाँ हैं (स्याद्वादरत्नाकर ४।१० पृष्ठ ६५४)।

नागेश के मत में आलस्य आदि कारणों से जन्य ध्वनि वैकृत कहलाती है। वह वर्ण के अभिव्यक्ति के उत्तर काल में होती है। वह उपलब्धि के बार-बार ग्रहण में कारण है। बार-बार से यहाँ तात्पर्य लगातार धारावाहिक उपलब्धि से है न कि खण्डित उपलब्धि से। (नागेश, महाभाष्य १।१।७०)

सभी के मत में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत का ग्रहण प्राकृतध्वनि का कार्य है। और द्रुत मध्यम और विलम्बित वृत्ति में भेद ग्रहण वैकृत ध्वनि का कार्य है। व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से प्राकृत और वैकृत ध्वनि में मौलिक भेद यह है कि प्राकृत ध्वनि का स्फोट

में अध्यारोप होता है पर वैकृत ध्वनि का स्फोट में अध्यारोप नहीं होता।

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ध्वनि

पाणिनि के मत में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञायें स्वरों की हैं। उकार के उच्चारणकाल के तुल्य जिस स्वर का उच्चारणकाल होता है वह ह्रस्व संज्ञक है। ऊकार के उच्चारणकाल सदृश जिस स्वर का उच्चारणकाल है वह दीर्घ संज्ञक है और ऊ३कार के उच्चारण के सदृश जिस स्वर का उच्चारणकाल है वह प्लुत संज्ञक है। (ऊकालोऽज् ह्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७) किन्तु ह्रस्व, दीर्घ आदि का व्यवहार ध्वनि के साथ भी होता है। भेरी पर क्रमशः जोर का आघात करने पर उसका नाद भी क्रमशः दूर तक फैलता और देर तक अनुरणित होता जान पड़ता है। यही बात ह्रस्व-दीर्घ आदि ध्वनियों की भी है। भर्तृहरि के अनुसार अपचित ध्वनि ह्रस्व का द्योतक है। प्रचित ध्वनि दीर्घ का द्योतक है और प्रचिततर ध्वनि प्लुत को व्यक्त करती है। जैसे गर्गादि वाक्य तुल्यमात्रा परिमाण वाले होने पर भी और इसलिए तुल्यकाल वाले होने पर भी, कभी एक-दो आवृत्ति में धारण कर लिए जाते हैं और कभी-कभी देर तक आवृत्ति करनी पड़ती है। इसी तरह ह्रस्व आदि का भी काल तुल्य है किन्तु प्रचित या अप्रचित ध्वनि से व्यंग्य होने के कारण उनमें भेद जान पड़ता है। बुद्धि उनके स्वरूप का ग्रहण अभिव्यक्ति के आधार के द्वारा करती है जो प्रचित अप्रचित आदि रूप में है (वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।७७)।

कैयट के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वतः भिन्न हैं और इसलिए भिन्न-भिन्न ध्वनि से व्यंजित होते हैं। इसीलिए उनमें परस्पर काल भेद माना जाता है। (**ह्रस्वदीर्घप्लुतास्तु स्वतः एव भिन्ना भिन्नैः ध्वनिभिर्व्यज्यन्त इति तेषां कालभेदः** कैयट महाभाष्य १।१।७०)

पतंजलि के अनुसार ध्वनि अल्प भी होती है, महान् भी होती है और ऐसा स्वभावतः होता है। (**अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः**—महाभाष्य १।१।७०)। कैयट ने केषांचित् शब्द का यह अभिप्राय बताया है कि व्यक्त शब्दों के तो स्फोट और ध्वनि दोनों गृहीत होते हैं पर अव्यक्त की केवल ध्वनि ही गृहीत होती है।

देवसूरि ने भर्तृहरि के भाव को इस रूप में व्यक्त किया है: जो ध्वनि सर्वप्रथम पैदा होती है वह मात्राकालिक है। उससे जो स्फोट अभिव्यक्त होता है वह भी यद्यपि निरवयव और पूर्वापर भाग से रहित होता है, उपचार से मात्राकालिक कहा जाता है। और शास्त्र में व्यवहार के लिए उसे ह्रस्व शब्द से व्यक्त करते हैं। इसका आधार **एक मात्रो भवेद् ह्रस्वः** यह उक्ति है। पहले जो ध्वनि पैदा हुई फिर उससे जो ध्वनि पैदा हुई उन दोनों से अभिव्यक्त स्फोट दो मात्रा काल का (दीर्घ) उपचार से माना जाता है क्योंकि वे दोनों ध्वनियाँ द्विमात्राकालिक हैं। द्विमात्रा को ही शास्त्र में दीर्घ कहा जाता है। (**द्विमात्रो दीर्घ उच्यते**)। प्रथम ध्वनि से उत्पन्न ध्वनि से उत्पन्न जो तीसरी ध्वनि उससे और पूर्वोक्त दोनों ध्वनियों से अभिव्यक्त स्फोट तीन मात्रा काल का उपचार से माना जाता है क्योंकि वे ध्वनियाँ त्रिमात्राकालिक हैं। त्रिमात्राकालिक मानने के कारण उसे प्लुत भी कहते हैं। (**त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयः**)। देवसूरि के अनुसार इसके अर्थात् तृतीय ध्वनि के बाद व्यक्त होने वाली ध्वनियाँ वैकृत ध्वनि कही जाती हैं। उनका काल स्फोट में आरोपित नहीं होता। वह केवल ध्वनिकाल है, शब्दकाल नहीं। विशिष्ट अभिघात से उत्पन्न ध्वनियों में कुछ ध्वनियाँ बिना किसी दूसरी ध्वनि को व्यापारित किए ही विलीन हो जाती हैं, कुछ एक ध्वनि को पैदा करके नष्ट हो जाती हैं, कुछ दो

ध्वनि को और कुछ बहुत ध्वनियों को जन्म देकर विलीन होती हैं। इसलिए शब्दकाल ध्वनिकाल से भिन्न है। इसी आधार पर द्रुता, मध्यमा आदि वृत्तियों में ध्वनिभेद ही माना जाता है। शब्द भेद नहीं (स्याद्वाद रत्नाकर ४।१०, पृष्ठ ६५४-६५५)।

द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता ये तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं। प्राचीनकाल में समय नापने की एक प्रकार की नाडिका थी। एक कटोरे में पानी भरा रहता था। उसमें से पानी चूने का प्रबन्ध था। चूने वाले जल बिन्दुओं को 'पानीय पल' कहते थे। द्रुतावृत्ति पढ़ने के उस ढंग को कहते थे जिसमें एक ऋचा के पढ़ने के काल में नव पानीय पल चू जाते थे। मध्यमा वृत्ति में द्रुतावृत्ति के तीन भाग अधिक समय लगता था। अर्थात् यदि द्रुतावृत्ति में ९ पानीय पल का समय लगता था तो मध्यमा में १२ पानीय पल का समय लगता था। विलम्बिता वृत्ति से पढ़ने पर १६ पानीय पल का समय लगता था। (नागेश ने नाडिका का अर्थ सुषुम्ना किया है। और पानीय पल को ब्रह्माण्ड से अमृतबिन्दु का चूना माना है। पीछे के वैयाकरणों ने व्याकरण-दर्शन को किस तरह रहस्यात्मक बना दिया है उसका यह भी एक दृष्टान्त है। नाडिकाया सुषुम्नाया इत्यर्थः। पलानि बिन्दवः। ब्रह्माण्ड सम्बद्धा साऽमृतबिन्दुस्राविणीति प्रसिद्धिर्योगिनाम्—नागेश महाभाष्य १।१।७० ।)

वृत्तियों में ध्वनिकृत भेद होते हुए भी वर्ण का काल एक ही रहता है। एक ही वर्ण को कोई शीघ्रता से उच्चारण करता है और कोई देर से उच्चारण करता है। जिस तरह से गति भेद से मार्ग में भेद नहीं माना जाता उसी तरह से वक्ता के उच्चारण भेद से वर्णों में उपचय का अपचय नहीं माना जाता। हाथी का हाथी के साथ और मशक का मशक के साथ संनिकर्ष एक-सा है। उनमें भेद उनके शरीर की मात्रा पर निर्भर करता है। घट बार-बार देखे जाने पर भी वही रहता है। उसमें भेद नहीं हो जाता। उसी तरह द्रुतविलम्बित आदि वृत्तियों में अकार अकार के रूप में अकार ही रहता है। उसमें कोई भेद सम्भव नहीं है। इसलिए वृत्तिभेद होते हुए भी वर्णभेद नहीं होता यह सिद्धान्त है। इसीलिए सभी वृत्तियों में तत्काल (एक ही वर्णकाल) माना जाता है जबकि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत में काल भेद माना जाता है जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है।

वृषभ के अनुसार द्रुता मध्यमादि वृत्तियों में भेद बुद्धि कृत है। उनके मत में स्फोटग्राहिका बुद्धि उपाधि रूप में कालभेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है और इसलिए द्रुतादि वृत्तियों में भेद हो जाता है (**अभिन्नेऽपि स्फोटे ता एव बुद्धयः उपाधिभूताः कालभेदेनावर्तमाना भिद्यन्ते। तत्कृताश्च द्रुतादि वृत्तिभेदः**—वाक्यपदीय टीका १।७६ पृष्ठ ७८ लाहौर संस्करण)

उपर्युक्त विवरण वर्ण को नित्य मान कर उल्लिखित हैं। वर्ण के उत्पत्ति वाद के पक्ष में भी वर्ण की अभिव्यक्ति के बाद दूर से भी ग्राह्य किसी ध्वनि की सत्ता माननी ही पड़ेगी। उस ध्वनि के कालभेद से वृत्तिभेद माना जाना चाहिए। (**वर्णोत्पत्तिपक्षेतु तदनुनिष्पादी दूरादपिग्राह्यः कश्चिद्ध्वनिरवश्याभ्युपेयः। तस्यैव कालभेदाद् वृत्तित्रैविध्यम्** शब्दकौस्तुभ, १।१।७०)

वृत्तियों का उद्देश्य निम्नलिखित श्लोक में किसी ने लिखा है :

अभ्यासार्थे द्रुतावृत्तिः प्रयोगार्थे तु मध्यमा।
शिष्याणां तूपदेशार्थं वृत्तिरिष्टा विलम्बिता।—शब्दकौस्तुभ १।१।७० में उद्धृत

शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के विषय में कई मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि उत्पन्न होकर कर्णेन्द्रिय में एक अपूर्व शक्ति का संचार करती है।

कान का संस्कार करती है। उसमें सुनने की शक्ति पैदा करती है अथवा उसमें स्थित शक्ति को जगा देती है। दो तरह का संस्कार देखा जाता है।—लौकिक (प्राकृत) और अलौकिक। ये दोनों ही संस्कार ज्ञानेन्द्रियों में होते देखे जाते हैं। उनके विषय में नहीं। आँख में अंजन लगाने से आँख की शक्ति बढ़ती है। यह आँख का लौकिक संस्कार हुआ। कभी-कभी कोई व्यक्ति अपनी आँखों से बहुत सूक्ष्म ढकी हुई अथवा अत्यन्त दूर की भी वस्तु का प्रत्यक्ष कर लेता है। यह आँखों का कोई अलौकिक संस्कार है। ये दोनों ही संस्कार ज्ञानेन्द्रिय में होते हैं न कि विषय में। यदि विषय में संस्कार होते तो बिना अंजन आदि के द्वारा और बिना दिव्य दृष्टि आदि अलौकिक शक्ति के द्वारा भी सबको उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता। ऐसा होता नहीं है। इसलिए, ज्ञानेन्द्रिय में ही संस्कार होने के कारण कर्णेन्द्रिय का ही संस्कार होता है और तब शब्द का श्रवण हो पाता है।

इसके विपरीत कुछ लोग मानते हैं कि संस्कार विषय में ही होता है ज्ञानेन्द्रिय में नहीं। पृथ्वी पर जब जल छिड़कते है, उसमें से गंध निकलती है और उसका ग्रहण घ्राणेन्द्रिय करती है। तेल को जब किसी सुगन्धित द्रव्य से वासित करते हैं तब वह सुगन्धित जान पड़ता है। इसीलिए विषय में ही संस्कार मानना ठीक है अन्यथा घ्राणेन्द्रिय में संस्कार मानने से संस्कृत-असंस्कृत सभी प्रकार के विषयों में कोई भेद ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए, इस मत के अनुसार, ध्वनि के संसर्ग से शब्द का ही संस्कार होता है और तब वह कर्णगोचर होता है।

कुछ लोगों के मत से विषय और इन्द्रिय दोनों का संस्कार होता है। जो लोग चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं उनके मत में अन्धकार में स्थित पुस्तक का प्रत्यक्ष प्रकाश में होता है। प्रकाश माना विषय का संस्कार करता है। जिनके मत में चक्षु प्राप्यकारी है उनके मत में तुल्यजातीय तेज (प्रकाश) से नयन रश्मियों का अनुग्रह होता है। सूक्ष्म रश्मियाँ आँख के प्रवाहरूप में निकलकर बीच के तेज परमाणुओं से जो व्यापक होने के कारण सर्वत्र हैं मिल कर एक तरह की सूक्ष्मतर और भिन्न कोटि की रश्मि पैदा करती हुई वहाँ तक जाती हैं जहाँ तक आलोक है। फिर उस आलोक से उन रश्मियों का संस्कार होता है ऐसा वैशेषिक मानते हैं।

ध्वनि के अभिव्यंजक के बारे में भी तीन तरह के विचार हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि सदा स्फोट से संसक्त ही गृहीत होती है। स्फोट से अलग वह कभी भी ग्राह्य नहीं होती। न तो स्फोट और न ध्वनि ही परस्पर विभक्त रूप में जाने जा सकते हैं। जिस तरह से विषय और आलोक एक दूसरे से संसृष्ट गृहीत होते हैं पर व्यवहार में आलोक सूर्य-किरण से जन्य है और विषय स्तम्भ आदि काष्ठजन्य है ऐसा उनमें भेद करते हैं उसी तरह तालु आदि स्थान से ध्वनि पैदा होती है और स्फोट नित्य होने के कारण अकार्य है ऐसा उनमें भेद करते हैं परन्तु उनका ग्रहण अलग-अलग न होकर सदा संसृष्ट ही रहता है।

कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि अगृहीत रूप में ही शब्द का अभिव्यंजक है। ध्वनि का रूप कभी गृहीत नहीं होता। वह अगृहीतरूप में ही शब्द के ग्रहण में निमित्त होता है। इस दर्शन के मत में इन्द्रिय और इन्द्रियों के गुण अनुमेय होते हैं। उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। विषय का प्रत्यक्ष होता है। उसका कोई साधन अवश्य है। इससे इन्द्रियों का अनुमान कर लिया जाता है। उसके मत में इन्द्रियाँ भौतिक हैं और उनके आश्रित रूप आदि अपनी अधिकता से समान जातीय रूप आदि के ग्रहण में हेतु होते हैं। पृथ्वी गंधत्व ज्ञान में गंधमयी होने के कारण हेतु और गंध की अधिकता होने के कारण

हेतु है। घ्राणेन्द्रिय की गंध-उपलब्धि में निमित्त पृथ्वी का समवेत गन्ध है जो अपने समवायि कारण इन्द्रिय को व्यक्त करता हुआ (अनुगृह्णन्) गन्ध की उपलब्धि में निमित्त होता है परन्तु स्वयं समवेत गंध का संवेदन नहीं होता। उसी तरह ध्वनि भी असंवेदितरूप में ही किसी दूसरे उपाय से स्फोट की उपलब्धि में कारण होती है। (**तत्र यथा घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवीभूयिष्ठगन्धवत्वात् समवेतो गन्धस्तत् समवायि कारणमिन्द्रियमनुगृह्णन् गन्धोपलब्धेर्निमित्तम्। नच समवेतो गन्धः संवेद्यते। तथा ध्वनिरसंवेदित एवान्येनोपायेन स्फोटोपलब्धे र्निमित्तम् भवतीति**—वृषभ-वाक्यपदीय १।८२ पृ० ८३)

कुछ लोग मानते हैं कि केवल ध्वनि का भी स्वतन्त्ररूप में ग्रहण होता है। इस मत में दो तरह के विचार हैं। एक तो यह कि स्फोट (शब्द) के अवधारण या परिज्ञान के बिना भी दूर से केवल ध्वनि का ग्रहण देखा ही जाता है। दूसरा यह कि ध्वनि स्वयं शब्द की उपलब्धि की तरह है (**शब्दोपलब्धि कल्प एवासावित्यपरे**—वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।८२)। देखा जाता है कि रेगिस्तान जैसे स्थानों में छोटा भी टिल्ला पर्वत की तरह दिखाई देता है। चन्द्रमण्डल बहुत बड़ा है पर देखने में अत्यन्त लघु जान पड़ता है। देशविशेष और सम्बन्ध-विशेष के कारण भिन्न आकार और अवस्था वाली वस्तु उससे भिन्न आकार अवस्था वाली मालूम पड़ती है। स्फोट और ध्वनि अलग-अलग हैं। जब वर्ण-बोध रहित केवल अनुरणन रूप ध्वनि रहती है उस समय इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्पष्ट है। अकार आदि स्पष्ट वर्णबोध के समय वह स्फोट से संस्पृष्ट जान पड़ती है।

प्रयत्नविशेष से उद्बुद्ध ध्वनि वर्णसम्बन्धी भी होती है, पदसम्बन्धी भी होती है और वाक्यसम्बन्धी भी होती है। दूसरे शब्दों में, वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट को बुद्धि में आरोपित करती हैं। बुद्धि के सहारे ही वर्णों के पौर्वापर्य का ज्ञान होता है। अन्यथा वर्णों के विनाशशील होने के कारण उनमें क्रम संभव नहीं है। अतः उनका परिज्ञान भी संभव नहीं है। क्रम से उत्पन्न वर्ण भी यदि अवस्थित रहते तो उनमें भी उसी तरह वर्ण का व्यपदेश संभव था जिस तरह ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ में होता है। किन्तु उच्चारण के बाद प्रध्वस्त हो जाने के कारण वर्ण अनवस्थित हैं और इसलिए तत्त्वतः उनमें पूर्वापर भाव नहीं है। शब्दों के पूर्वापर का व्यवहार बौद्धिक है। वर्णों के विषय में सावयव और निरवयव सम्बन्धी विचार इस ग्रन्थ में अन्यत्र किया गया है। वृषभ के अनुसार भर्तृहरि वर्णों की भागशः रूप में बुद्धिग्राहिता स्वीकार करते नहीं जान पड़ते। वर्ण की अभिव्यक्तिपक्ष में और वर्ण की उत्पत्तिपक्ष में भी भागशः अभिव्यक्ति मानने पर भी उनके समुदाय का ग्रहण नहीं हो सकता। उत्पत्तिवादियों के मत में वर्ण के विभाग परमाणुकल्प हैं, इसलिए क्रम से उत्पन्न होने पर भी वे अतीन्द्रिय ही रहेंगे। फलतः उनका समुदित रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

वर्ण के निरवयवपक्ष में भी और उसके भागों को इन्द्रियग्राह्य मानते हुए भी उनके समुदायभाव की स्मृति नहीं हो सकती। वे क्रम से उत्पन्न होते जायेंगे और नष्ट होते जायेंगे, इस कारण, उनका समुदाय ही नहीं हो सकता। एक-एक के अनुभव होने पर भी

समुदाय का अनुभव सम्भव नहीं है। अनुभव न होने से उनकी स्मृति भी नहीं हो सकती। पुनः वर्ण के भागों में स्मृति जगाने की शक्ति भी नहीं है क्योंकि उसके बारे में किसी प्रकार का अभ्यास नहीं देखा जाता।

निरवयव वर्ण के अभिव्यक्ति-वाद के पक्ष में भी सकल शब्द का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि अभिव्यंजक से अभिव्यंग्य का ग्रहण होता है किन्तु अन्त में उन समुदित व्यंजनों की सत्ता न रह सकेगी। इसलिए सम्पूर्ण शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता। जो लोग स्फोट की भी भागशः अभिव्यक्ति मानते हैं और उसे भाग वाला मानते हैं उनके मत में भी यह दोष है।

यदि यह कहा जाए कि पूर्व उच्चरित वर्ण आगे वाले वर्ण में अपना संस्कार डालते चलते हैं और जब अंतिम वर्ण उच्चरित हो जाता है तब उन सबका समूहालंबनात्मक संस्कार बुद्धि में पैदा हो जाता है और शब्द का ग्रहण होता है—तो यह भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि अभिव्यक्त वस्तु संस्कार ग्रहण करती है, जबकि आगे वाला वर्ण अनभिव्यक्त है। वहाँ संस्कार का आधान कैसे सम्भव है और जब आगे वाला वर्ण अभिव्यक्त होता है उस समय पूर्व का वर्ण अनभिव्यक्त हो जाता है। इसलिए भी संस्कार नहीं हो सकता। क्योंकि अपनी अभिव्यक्ति में संस्कार का आधान होता है, अनभिव्यक्ति में नहीं। अन्यथा नित्य होने के कारण सबका सर्वत्र आधान होने लगे (वृषभ, वाक्यपदीयटीका १।८५)।

ध्वनि और नाद

वाक्यपदीय में ध्वनि और नाद शब्द का समान अर्थ में प्रयोग हुआ है। भर्तृहरि ने इनमें अन्तर केवल यह किया है कि नाद ध्वनि का विवर्त है।

तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनौ करण-व्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेनाभ्रसंघातवदुपलभ्येन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन......।

—हरिवृत्ति वाक्यपदीय १।४८, पृष्ठ ५८.

दूसरे शब्दों में, प्राकृत ध्वनि को ध्वनि और वैकृत ध्वनि को नाद शब्द से प्रकट करते हैं। इन दोनों ध्वनियों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। ध्वनि ह्रस्व, दीर्घ आदि का व्यवस्था-हेतु है और नाद द्रुता-मध्यमा आदि वृतिभेदों में व्यवस्था स्थापित करता है। भर्तृहरि ने प्राकृतनाद और वैकृतनाद शब्द का भी व्यवहार किया है।

नादोहि प्राकृतः शब्दात्मनि प्रत्यस्यमानस्थितिरूपो भेदस्याग्रहणार्थं ह्रस्वदीर्घप्लुतकालभेदव्यवहार व्यवस्थाहेतुः। वैकृतस्तु नादो बाह्यद्रुतादि वृतिकालव्यवस्थां प्रकल्पयति। —वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।१०२ पृष्ठ, ९७,९८

द्रव्याभिघात से, तालवादिस्थान में जिह्वादि के अभिघात से कम्प पैदा होता है। कम्प के बाद नाद पैदा होता है। अभिघात कृत वायु के स्पन्दन को कम्प कहते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि जिस तरह ज्वाला से ज्वाला पैदा होती है उसी तरह स्फोट से ध्वनियाँ पैदा होती हैं। कम्प से उत्पन्न शब्द के समानकालिक ध्वनियाँ स्फोट का संस्कार

करती हैं। उनके बाद प्रकाशित होने वाली उनके अनुषंग से भासित होने वाली ध्वनियों को नाद कहते हैं :

द्रव्याभिघातात्प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि ।
कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषकाः ॥
अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोपरे ।
स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव ॥

—वाक्यपदीय १।१०६,१०७

वृषभ के अनुसार नाद सूक्ष्म है क्योंकि नाद के भाग परमाणु कल्प हैं (परमाणु कल्पत्वान्नादभागानाम्—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।४८)। नाद के भाग सकल व्योम-व्यापी हैं। नाद क्रमवान् है। स्थान और करण (जिह्वादि) के अभिघात क्रमवाले हैं। उनके सहारे अभिव्यक्त नाद भी क्रमवाला माना जाता है। नाद उपसंहृत क्रम के रूप में, प्रचयरूप में प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा वृत्तियों के द्वारा स्फोट को द्योतित करता है।

भर्तृहरि के मत में नाद और ध्वनि दोनों से बुद्धि में शब्द का अवधारण होता है। नाद से बुद्धि में जिस उत्कर्ष का आधान होता है उसे भर्तृहरि ने 'अनुगुण संस्कार भावनाबीज' कहा है और अन्त्य ध्वनि से जो उत्कर्ष का आधान होता है उसे 'परिच्छेद-संस्कारभावनाबीज वृत्तिलाभप्राप्तयोग्यता' कहा है। संस्कार से तात्पर्य यहाँ शक्ति-विशेष से है। शक्ति ही चित्त का संस्कार करती है (**शक्तयः चेतः संस्कुर्वन्ति विशिष्टं जनयन्ति इति संस्कार शब्दोक्ताः।** —वृषभ, वाक्यपदीय १।८५) विशेष बुद्धि के जनक होने के कारण बीज और तद्रूप की भावना होने से उन्हें भावना भी कहते हैं। अन्त्य ध्वनि के बाद शब्द के विशिष्ट स्वरूप का, गौः आदि शब्द का अवधारण होता है। इसलिए बुद्धि-संस्कार को स्फोट का परिच्छेदक या परिच्छेदोपाय भी कहते हैं। बुद्धि में स्फोट के स्वरूप के अवधारण की योग्यता आ जाना बुद्धि का परिपाक कहा जाता है। अन्त्य ध्वनि से ऐसी योग्यता-संपन्न बुद्धि में शब्द का आकार (स्वरूप) उद्बुद्ध होता है। इसे ही बुद्धि में शब्द का अवधारण होना कहते हैं।

नाद (ध्वनि) और स्फोट

शब्दनित्यवादियों के मत में नाद और स्फोट में अन्तर यह है कि नाद व्यंजक है और स्फोट व्यंग्य है। अनित्यवादी प्रथम अभिघातज ध्वनि को शब्द अथवा स्फोट कहते हैं, और उससे उत्पन्न होने पर उससे भिन्न ध्वनियों को ध्वनि या नाद कहते हैं।

प्रथमोऽभिघातजस्तारतरः शब्दः, तदन्यो नाद इति स्पष्ट एव भेदः.

—वृषभ, वाक्यपदीय १।१०५

वर्ण

स्थान-करण के अभिघात से ध्वनि पैदा होती है। ध्वनि पृथक्-पृथक् प्रयत्न से पृथक्-पृथक् रूप में अभिव्यक्त होती है। पृथक् प्रयत्न-जन्य ध्वनि को वर्ण कहते हैं।

पृथक् प्रयत्ननिर्वर्त्य हि वर्णमिच्छन्ति आचार्याः ।

—काशिका-ऐऔच् ।

वर्ण नाम क्यों पड़ा यह स्पष्ट नहीं है । हरदत्त के अनुसार वर्णन किये जाने के कारण इसकी संज्ञा वर्ण है (**वर्ण्यते उपलभ्यते इति वर्णः**—पदमंजरी ७।४।५३)

कुछ लोगों के अनुसार वर्ण वृञ् से बना है (वर्णो वृणोतेः) । न्यासकार के अनुसार वचन शब्द भी वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त होता था । उनके अनुसार मुखनासिका-वचनोऽनुनासिकः १।१।८ में वचन शब्द वर्णपरक है (उच्यत इति वचनो वर्णो वर्तते) ।[२६]

वर्ण की निष्पत्ति के प्रकार

वर्ण की अभिव्यक्ति के विषय में भर्तृहरि ने अनेक वादों का उल्लेख किया है । शिक्षासूत्रकारों में कुछ मानते हैं कि आभ्यन्तर प्रयत्न से ऊपर उठाया हुआ प्राणवायु आन्तरिक उष्मा से युक्त होता है । फिर शरीर के भीतर की नाड़ियों के छिद्रों में स्थित सूक्ष्म शब्दावयवों को प्रेरित करता है । जिस तरह वायु से प्रेरित धूम के अवयव एकत्र होते हैं वैसे ही प्राण-वायु से प्रेरित शब्दावयव घनीभूत हो जाते हैं । फिर किसी विशेष प्रकाश-मात्रा के सहारे अन्तःस्थित शब्द के बिम्ब को ग्रहण कर वर्णरूप में अभिव्यक्त होते हैं । अत्यन्त सारूप्य के कारण वर्ण के आन्तरिक और बाह्य स्वरूप में भेद नहीं है ।

अन्तर्वर्तिना प्रयत्नेनोर्ध्वमुदीरितः प्राणो वायुस्तेजसानुगृहीतः शब्दवहाभ्यः शुषिभ्यः सूक्ष्मांशं धूमसन्तानवत्संहन्ति । स स्थानेषु शब्दघनः संहन्यमानः प्रकाशमात्रया कयाचिदन्तः संनिवेशिनः शब्दस्याविभक्तं बिम्बमुपगृहणाति ।

—वाक्यपदीय १।११६ की हरिवृत्ति में उद्धृत

आपिशलीय शिक्षा के अनुसार नाभि प्रदेश से प्रयत्न-प्रेरित वायु ऊपर उठती हुई उरस्य, कण्ठ आदि स्थानों में किसी स्थान पर टकराती है, उससे शब्द की निष्पत्ति होती है :

नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुरुर्ध्वमाक्रामन् उरस्यादीनां स्थानानामन्यतमं स्थानभिहन्ति । ततः शब्दनिष्पत्तिः ।

—वाक्यपदीय १।११६ की हरिवृत्ति में उद्धृत

किसी दूसरे प्रातिशाख्यकार का मत है कि वायु कोष्ठस्थानगत ध्वनि-विशेष (अनुप्रदान) को प्राप्त होती है । वही कंठ में पहुँचकर श्वास-नाद आदि के रूप में परिणत हो जाती है :

वायुः कोष्ठस्थानमनुप्रदानमापद्यते । स कंठगतः श्वासतां नादतां वा-इत्यादि ।

—वाक्यपदीय १।११६ की हरिवृत्ति में उद्धृत

इस मत के अनुसार कंठ के विवृत होने पर श्वास और संवृत होने पर नाद

---

२६. अभिनवगुप्त ने वाक् तत्व के अन्तरंग विवर्त को नाद और बहिरंग विवर्त को वर्ण माना है —
अभिनवभारती, चतुर्थ भाग, पृ०४१२

की सृष्टि होती है। इस दृष्टि से श्वास और अनुप्रदान भेद से दो तरह के वर्ण होते हैं। वृषभ के अनुसार यह मत बह्वृचप्रातिशाख्य में शौनक ने व्यक्त किया है :

यथा बह्वृचप्रातिशाख्ये शौनकः—वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठः...... विवृते संवृते चापद्यते श्वासतां नादतां च वक्त्रीहायामुभयं चान्तरे तदपीति।

बह्वृचप्रातिशाख्य—वृषभ द्वारा वाक्यपदीय १।११६ की टीका में उद्धृत।

अनुप्रदान शब्द के विभिन्न अर्थों का न्यासकार ने उल्लेख किया है :

उपरिवर्तिनौ तौश्वासनादौ अनुप्रदानमिति केचिदाचक्षते। वर्णनिष्पत्तेरनु पश्चात् प्रतीयत इत्यनुप्रदानम्। अन्ये तु ब्रुवते अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्लादिवत्।

—न्यास १।१।९ पृष्ठ ५७

किसी अन्य प्रातिशाख्य के अनुसार मन से अभिहत कायाग्नि प्राण को प्रेरित करती है। वह प्राणवायु नाभि से उठती है। मूर्धा से जाकर टकराती है। पुनः एक दूसरी उठती हुई वायु से टकराकर क, ख आदि ध्वनियों का रूप ग्रहण करती है :

मनोभिहतः कायाग्निः प्राणमुदीरयति। स नाभेरुद्यन्मूर्धनि अभिहतोऽन्येन पुनरुद्यता मरुताभिहन्यमानो ध्वनिः संपद्यते क इति वा ख इति वा।

—वही, उद्धृत

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार जब किसी वस्तु को शब्द द्वारा कहने की इच्छा होती है, पहले बुद्धि मन का संयोग होता है। मन कायाग्नि पर आघात करता है। कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है। वायु उरप्रदेश में मन्द्रस्वर करती है और आगे बढ़ती है। कंठ स्थान में पहुँचकर मध्यम स्वर करती है और शीर्ष स्थान में पहुँचकर तारस्वर करती है। फिर मुर्धा से टकराकर वह लौट आती है और मुख में विशेष स्थानों में टकराकर विशेष वर्णों को पैदा करती है।

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥
कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्।
तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥

—पाणिनीय शिक्षा, ६-९

वाक्यपदीयकार ने शिक्षाकारों के विभिन्न मतों की समीक्षा न कर उन्हें किसी-न-किसी प्रकार मान लेने की सलाह दी है—**प्रतिशाखं शिक्षासु भिन्नं आगमदर्शनं दृश्यमानं सर्वं प्रपंचेन समर्थयितव्यम्।**

—वाक्यपदीय १।११६ हरिवृत्ति, पृष्ठ १०४

वायुशब्दत्वापत्तिवाद

किसी दर्शन के अनुसार वायु की शब्दत्वापत्ति होती है। वायुं प्रकृतिमाचार्याः (ऋक्तंत्र, पृष्ठ १) वायु वक्ता के इच्छाजन्य प्रयत्न से क्रियाशील होकर ताल्वादि स्थानों में टकराकर शब्द-रूप में परिणत हो जाती है। वायु के वेग से ध्वनि का उद्भूत होना कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वायु शक्तिशाली है। उसके वेग से सारवान् वस्तुएँ पर्वत आदि तक विभक्त हो जाते हैं फिर उसके प्रकर्ष से तालु आदि से ध्वनि के प्रकट होने में कोई बाधा नहीं —(वाक्यपदीय १।१०९, ११०)।

अणु शब्दत्वापत्तिवाद

भर्तृहरि ने एक ऐसे दर्शन का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार अणु ही शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं। शब्द परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे सर्वशक्तिशाली हैं। संयोग और विभाग उनकी क्रियायें हैं। जब किसी निमित्त से उनका संयोग हो जाता है, वे परिणत होने लगते हैं। जब अलग होते हैं, परमाणु की छाया में अवस्थित रहते हैं। यद्यपि अणु शब्दत्वापत्ति शक्ति-युक्त है, फिर भी प्रयत्न से संह्रियमाण होकर ही वे शब्दरूप को प्राप्त करते हैं। शब्दरूप में परिणत होने के कारण उन अणुओं को शब्द कहते हैं।

अणु के वाक्-तत्त्व में बदलने का सिद्धान्त जैनदर्शन का है :

आर्हतास्त्वाहुः सूक्ष्मैः शब्दपुद्गलैः आरधशरीरः शब्दः स्वप्रभवभूमेः निष्क्रम्य प्रतिपुरुषं कर्णमूलमुपसर्पतीति—न्यायमंजरी, चौखम्बा संस्करण १९३६, पृष्ठ १९८

शब्द परमाणु श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होकर शब्दरूप में परिणत हो जाते हैं। इस सिद्धान्त को बौद्धदर्शन भी मानता है।

शब्दपरमाणव एवं संहता श्रोत्रेन्द्रियग्राह्या शब्दाकाराः।

—जिनेन्द्रबुद्धि-प्रमाणसमुच्चय टीका, पृष्ठ ७७

ज्ञान शब्दत्वापत्तिवाद

कुछ विचारकों के अनुसार ज्ञान ही शब्द-रूप में परिणत हो जाता है। ज्ञान सूक्ष्म है। उसमें और सूक्ष्म शब्दतत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। ज्ञानात्मा और वागात्मा एक ही चीज़ है। सूक्ष्मता के कारण अतीन्द्रिय है। ज्ञान जब अपने को स्थूल रूप में व्यक्त करना चाहता है, शब्द रूप में उसका विवर्त होने लगता है और वह श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने लगता है। वह पहले मनोभाव को प्राप्त होता है। पुनः आन्तरिक उष्मा से उसका पाक होता है जिससे उसमें विषय के ग्रहण की शक्ति आ जाती है। फिर वह प्राण-वायु में प्रवेश करता है। प्राण-वायु अन्तःकरण के तत्त्व से युक्त होती है। अर्थात् मनोमयरूप धारण करती है और जिस तरह ईंधन अग्नि के संयोग से ईंधनरूप को छोड़कर अग्निमय बन जाता है उसी तरह प्राण-वायु भी अपना स्वरूप छोड़ कर मनोमय हो जाती है। पुनः भिन्न-भिन्न श्रुतियों (विशेष ध्वनियों) से अपने स्वरूप को विभक्त

करती हुई प्राणवायु वर्णों को व्यक्त कर वर्णों में ही लीन हो जाती है। अर्थात् प्राण-वायु वर्ण के रूप में अभिव्यक्त हो उठती है। इसीलिए ज्ञान की विवृति में शब्द प्रकाशक माना जाता है। (वाक्यपदीय १।११३-११६)

कैयट के अनुसार आख्यातोपयोगे १।४।२९ सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने भी ज्ञानशब्दत्वापत्तिवाद का संकेत किया है। महाभाष्यकार ने अध्यापन काल के उपाध्याय के ज्ञान को सन्तत कहा है और उसे ज्योति की तरह माना है। जिस तरह ज्योति लगातार अविच्छेदरूप में निकलती हुई भिन्न-भिन्न होती हुई भी सादृश्य के कारण एक-सी एक सन्तान में जान पड़ती है उसी तरह उपाध्याय के ज्ञान भी भिन्न-भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न शब्द स्वरूप को ग्रहण करते हैं और इसलिए उसे संतत कहते हैं :

यथा ज्वालारूपं ज्योतिः अविच्छेदेन उत्पद्यमानं सादृश्यात् तत्त्वेन अध्यवसीय-मानं सन्ततं तथैव उपाध्यायज्ञानानि भिन्नानि भिन्नशब्दरूपताम् आपद्यमानानि सन्ततान्युच्यन्ते। ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य।

—कैयट, महाभाष्य, १।४।२९

एक दूसरे प्रवाद के अनुसार शब्द नित्य (अजस्रवृत्तिः) है, सूक्ष्म होने के कारण उसकी स्वतंत्र उपलब्धि नहीं होती। जिस तरह वायुपरमाणु व्यंजक या निमित्त के अभिघात से संहति को प्राप्त होते हैं वैसे ही सूक्ष्म शब्दपरमाणु करण (आभ्यन्तर प्रयत्न) के अभिघात से संह्रियमाण होकर शब्दरूप में व्यक्त होते हैं।

—(वाक्यपदीय १।११७)

ध्वनि या शब्द की निष्पत्ति के बारे में भर्तृहरि ने एक और मत का निर्देश किया जो उनका अपना जान पड़ता है। निष्पत्ति की दृष्टि से शब्द दो तरह का है। प्राणा-धिष्ठान और बुद्धि-अधिष्ठान। प्राणमात्राशक्ति और बुद्धिमात्राशक्ति दोनों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है और तब अर्थ का आभास होता है। बुद्धि-शक्ति से प्राण-शक्ति का अनुग्रह (सहभाव) होता है। वह प्राण में विशेष शब्दाकार को डाल देती है जिससे प्राण विशिष्ट स्थान पर टकराकर विशिष्ट ध्वनि या वर्ण को पैदा करता है। यदि बुद्धिशक्ति से प्राण का अनुग्रह न हो—उसमें किसी विशेष शब्द की भावना न हो तो प्राणशक्ति के आघात से केवल अव्यक्ताक्षर ध्वनि पैदा होती है। प्राणशक्ति के द्वारा भी बुद्धिशक्ति का अनुग्रह होता है। क्योंकि बुद्धि शब्दाकारयुक्त प्राणशक्ति के बिना शब्दरूप में परिणत नहीं हो सकती। प्राणशक्ति ऊपर उठती हुई जिस वर्ण विषयक प्रयत्न से प्रेरित रहती है, उस स्थान पर जाकर चोट करती है। इस तरह से वर्ण की निष्पत्ति होती है। वह विवर्त के रूप में पृथ्वी, कलल, न्यग्रोधः धान्य आदि भेद को ग्रहण करता है और शब्द तत्त्वरूप प्रतिभा में तो वास्तव में इन भेदों की छाया ही (अनुराग) रहती है :

शब्दः खलु प्राणाधिष्ठानो बुद्ध्यधिष्ठानश्च स तु द्वाभ्यां प्राणबुद्धिमात्राशक्ति-भ्यां प्रतिलब्धाभिव्यक्तिरर्थं प्रत्याययति। तत्र प्राणो बुद्धि तत्त्वेनान्तराविष्टः। स चोर्ध्वमभिप्रवृत्तो ज्वालावद्वर्णस्थानेषु आक्षेपकप्रयत्नानुविधायी प्रतिविघातविवर्तेन नित्यशब्दोपग्राहिणा विवर्तते। स च संसृष्टप्राप्तशक्ति-

विवर्तः पृथिवीकललन्यग्रोधधानादिवद्‌भेदमुपगृह्णाति । भेदानुरागमात्रं च परस्मिन्नभेदे शब्दात्मनि संनिवेशयति ॥११८॥

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।११८, पृष्ठ १०५

वर्ण सावयव और निरवयव

प्राचीन वैयाकरणों ने वर्ण के सावयव और निरवयव पक्ष पर भी विचार किया है। यद्यपि सावयव और निरवयव दोनों रूप में वर्ण पर विचार किया गया है परन्तु सिद्धान्तरूप में निरवयव पक्ष को अधिक मान्यता दी गई है। भर्तृहरि ने वर्ण के लिए विभाग शब्द का भी प्रयोग किया है। विभक्त किए जाने के कारण वर्णों को विभाग कहते हैं। (**विभज्यन्ते इति विभक्ता वर्णाः**) और कहीं-कहीं वर्ण के अवयवों के लिए मात्रा शब्द का भी व्यवहार किया है। निरवयववर्णपक्ष में मात्रा-विभाग कल्पित होते हैं **ततश्चायं निरवयवेषु वर्णेषु मात्राविभागाध्यवसायः** —वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।८९)।

भर्तृहरि ने 'वर्णतुरीयांश' (वाक्यपदीय १।९३ हरिवृत्ति) और तुरीयतुरीयक (वाक्यपदीय १।७३ हरिवृत्ति) शब्दों का व्यवहार किया है जो वर्ण के सावयव पक्ष में ही सार्थक हो सकते हैं। वृषभ के अनुसार तुरीयतुरीयक का अर्थ वर्ण की षोडशीकला है (**तुरीयतुरीयमिति चतुर्थस्य चतुर्थो भागः**षोडशी कला पृष्ठ ७६)। व्याकरण संप्रदाय में वर्ण की चतुर्थ या षोडशी कला प्रसिद्ध नहीं है। परन्तु भर्तृहरि के समय में तंत्रों में इस तरह के विचार प्रारंभ हो गये थे जिसका प्रभाव भर्तृहरि पर पड़ा है। वर्ण की षोडश कलाओं का उल्लेख शैवागम में मिलता है:

अमी चाकाराद्याः स्थितिमन्तः प्राणे त्रुटिषोडशकादिस्थित्या एकां त्रुटिं सन्धीकृत्यार्धार्धभागेन प्रलयोदययोर्बहिरपि पंचदशदिनात्मककालरूपतां तन्वते इति तिथयः कलाश्चोक्ताः षोडश्येव च कला विसर्गात्मा ।

—परात्रिंशिका, पृष्ठ २००, २०१

कश्मीर शैवागम में विसर्ग हकार का आधा माना जाता है और विश्लेष उसका भी आधा। वर्ण जब निरवयव है, उपर्युक्त मत कैसे ठीक है? इसके उत्तर में अभिनवगुप्त का कहना है कि सब कुछ अनवयव है क्योंकि सब एक चिन्मय से अवभासित है। तथापि स्वातंत्र्य के कारण ही अवयव के अवभास होने पर भी अनवयवता ही अविनश्वरी (अनपायिनी) है। ऐसे ही वर्ण के विषय में भी समझना चाहिए। वर्ण की उत्पत्ति ही ऐसी है। अन्यथा दन्त्य, ओष्ठ्य, कण्ठ्य, तालव्य आदि वर्णों में 'क्रम' से प्रसारित होने वाली वायु कैसे कंठ को हनन कर तालु पर आघात करती है। यदि दोनों स्थान पर युगपत् आघात मानें तो दोनों ध्वनियाँ समकालिक हो जाएँगीं और कण्ठ-स्थान से उद्‌बुद्ध ध्वनि तालव्यज जान पड़ने लगेगी। पश्चात् प्रतीयमान होने के कारण श्वास और नाद को अनुप्रदान कहते हैं। जिस तरह द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक के गर्भ में एकमात्रिक द्विमात्रिक पड़े ही रहते हैं उसी तरह मात्रिक में भी अर्धमात्रा आदि का योग मानना चाहिए। इस तरह वर्ण में षोडश कलाएँ संभव हैं। ये ही कलाएँ ह्लादनामात्र चित्तवृत्ति के अनुभावक होकर स्वर कही जाती हैं:

तदेवमेताः कला एव ह्लादनामात्रचित्तवृत्यनुभावकाः स्वरा इत्युक्ताः । स्वरयन्ति शब्दयन्ति सूचयन्ति चित्तं स्वं च स्वरूपं आत्मानं रान्ति एवम् इति परप्रमातरि संक्रामयन्तो ददति स्वं च आत्मीयं कादियोनिरूपं रान्ति बहिः प्रकाशयन्तो ददति इति स्वराः ।

—अभिनवगुप्त, परात्रिंशिका, पृष्ठ २०२

परन्तु व्याकरणदर्शन में निरवयव पक्ष ही निरवयववाक्यस्फोट की तरह अधिक उपयुक्त माना जाता है । जैसे पद अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य होता है वैसे ही वर्ण की प्रतिपत्ति भी अन्त्य बुद्धिनिर्ग्राह्य होनी चाहिए । फलतः उसमें भी तुरीय अंश होना चाहिए । भर्तृहरि इस बात को स्वीकार करते हैं परन्तु उनके मत में वर्ण का तुरीय अंश अव्यपदेश्य है, फलतः व्यवहारातीत है । इसलिए वर्ण में अवयवों की सत्ता कल्पित रूप में ही गृहीत है ।

वर्णानां तु अव्यपदेश्यानि व्यवहारातीतानि भिन्नरूपाभिमतानि अकारादीनां तुरीयाणि प्रतिपादकानि कल्पितानि ।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।७४, पृष्ठ ७६

यदि सावयव वर्ण के अवयवग्रहण को कल्पित न मानकर यथार्थ माना जाए तो वर्ण का अवधारण ही संभव नहीं है क्योंकि वर्ण के तुरीय अंश तक ध्वनि का इतना अधिक अपकर्ष हो जाएगा कि वह व्यवहार से परे होगी और उसका व्यपदेश असंभव होगा । यदि यह माना जाए कि वर्ण-ध्वनि यौगपद्य रूप में (एक साथ) सर्व अवयवों की अभिव्यक्ति करती है तो गवे के स्थान पर वेग और तेन के स्थान पर नते ऐसा भी श्रवण संभव हो सकता है । इसलिए सावयव पक्ष सदोष है और निरवयव पक्ष अपेक्षाकृत निर्दोष है :

यौगपद्येनाभिव्यक्तेः ध्वनिकृतापि नास्तीति सदोषत्वात् सावयवपक्षस्य पक्षान्तरमवश्यभ्युपेतव्यम् ।

—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।९३, पृष्ठ ९२

वर्ण की प्रतिपत्ति और वर्ण का निर्भास

वाक्यपदीयकार ने वर्ण के संबंध में प्रतिपत्ति और निर्भास शब्द का पारिभाषिक रूप में प्रयोग किया है । वृषभ के अनुसार वर्णरूपी विषय के प्रति ज्ञान का व्यापार प्रतिपत्ति है । उसमें उसके कर्तृत्व का भान निर्भास है ।

प्रतिपत्तिशब्देन वर्णाख्ये विषये ज्ञानस्य व्यापार उच्यते । तस्मिंश्च यत्तस्य कर्तृत्वं तद्धि निर्भास शब्देनोच्यते ।

--वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।७४

एक मत के अनुसार वर्ण की विवक्षा से निष्पादित ध्वनि से अभिव्यक्त वर्ण के विषय वाली बुद्धि अन्य है और वर्ण की विवक्षा न रहते हुए पद आदि के उच्चारण में अपोद्धार की कल्पना से जो वर्ण विषयक बुद्धि होती है वह कुछ अन्य है । इसमें से पहली वर्णप्रतिपत्ति है और दूसरी वर्णनिर्भासा है ।

वर्ण सार्थक और निरर्थक

वैयाकरण वर्ण को सार्थक और निरर्थक दोनों मानते हैं। जहाँ अन्वय व्यतिरेक के आधार पर वर्ण सार्थक जान पड़ता है वहाँ वह अर्थवान् है। अन्यत्र अर्थहीन माना जाता है। वर्ण के अर्थयुक्त होने का मुख्य आधार तर्क है। पद, जो वर्ण समुदाय है, सार्थक देखा जाता है। यदि वर्णों का संघात सार्थक है तो उसका एक अवयव, वर्ण भी सार्थक है। भाष्यकार ने इसके समर्थन में कहा है कि यदि एक तिल में तेल निकल सकता है तो एक पसेरी तिल में भी तेल निकल सकता है। यदि एक सिकता-कण में तेल असंभव है तो बालू की ढेर में भी तेल असंभव है। अतः यदि वर्ण-समुदाय सार्थक है तो प्रत्येक वर्ण भी अर्थयुक्त होगा। इसके अतिरिक्त एक-एक अक्षर वाले धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात सार्थक देखे जा सकते हैं। वर्ण व्यत्यय (एक वर्ण के स्थान पर दूसरा वर्ण आ जाना) से दूसरा अर्थ देखा जाता है और एक पद से एक वर्ण के हटा देने से अर्थ बदल जाता है। इन कारणों से वर्ण की सार्थकता सिद्ध होती है।

वर्ण को निरर्थक मानने वालों का कहना है कि प्रत्येक वर्ण का अर्थ अनुभव में नहीं आता इसलिए वर्ण को सार्थक नहीं मानना चाहिए। वर्ण के व्यत्यय (एक पद में वर्ण का स्थान परिवर्तन), अपाय (लोप), उपजन (आगम) और विकार (आदेश) होने पर भी कभी-कभी वही अर्थ देखा जाता है। इससे भी वर्ण की अर्थहीनता द्योतित होती है। यदि प्रत्येक वर्ण सार्थक हो और उदाहरण के लिए, कूप, सूप, यूप में विशेष अर्थ क, स, और य का मान लिया जाय तो उप शब्द व्यर्थ हो जाता है। इसलिए प्रत्येक वर्ण में अर्थवत्ता न मान कर वर्णों के संघात में ही विशिष्ट अर्थ की बोधकता शक्ति माननी चाहिए।

न कूपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्य विद्यते।
अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते॥

—वाक्यपदीय २।१७० (लाहौर संस्करण)

अभिनवगुप्त ने वर्ण की वाचकता का समर्थन करते हुए कहा है कि सकार परमानन्द अमृत स्वभाव वाला है। वह अपने आविर्भाव के साथ सम्पूर्ण वर्ण-समुदाय का आक्षेप कर उल्लसित होता है। देखा जाता है कि दूसरे के अभिप्राय और इंगित को शीघ्र ही समझ जाने वाले व्यक्ति गगन, गवय, गो आदि शब्दों के आदि में अथवा बीच में स्थित ग आदि वर्ण या मात्रा से ही अभीष्ट समझ जाते हैं—अर्थात् ग सुनते ही वक्ता का अभिप्राय गगन से है, ऐसा समझ जाते हैं—उतने मात्र से सत्य का संकेत हो जाता है। वस्तुतः प्रत्येक वर्ण में वाचकता होती है। इसीलिए कहा है—

शब्दार्थप्रत्ययानां इतरेतराध्यासात् संकरः। तत् प्रविभागसंयमात् सर्वभूत-रुतज्ञानम्।

—योगसूत्र ३।१७

अ च आदि एक वर्ण वाले निपात विभक्ति आदि वाचक देखे जाते हैं। वे मायापद में रहते हुए भी पारमार्थिक प्रमातृपद में लीन रहते हैं। और इदन्ता से पराङ्-

मुख, असत्वभूत, कभी निषेध के रूप में और कभी समुच्चय के रूप में निषेध या समुच्चय के अर्थ को व्यक्त करते हैं। भर्तृहरि का भी ऐसा अभिप्राय है जब वे वाक्य-विचार के प्रसंग में कहते हैं—

पदमाद्यं पृथक्सर्वं पदं साकांक्षमित्यपि (वाक्यपदीय २।२)। इसलिए वेद-व्याकरण में, शैवागमों में, मन्त्र-दीक्षा आदि के शब्दों में अक्षरवर्ण के साम्य पर निर्वचन किया जाता है। **तथा च वेदव्याकरणे पारमेश्वरेषु शास्त्रेषु मंत्रदीक्षादिशब्देषु अक्षर-वर्णसाम्यात् निर्वचनमुपपन्नम्।**

—परात्रिंशिका २३६-२४१

शब्द

'शब्द' शब्द का प्रयोग नदी-घोष आदि के रूप में भी देखा जाता है। किन्तु व्याकरण-दर्शन में विचार के क्षेत्र में 'शब्द' शब्द सदा उस ध्वनि के लिए आता है जिसके उच्चारण से किसी विशेष अर्थ का ज्ञान होता है। भर्तृहरि ने ऐसे शब्दों के लिए 'उपादान' शब्द का प्रयोग किया है। वाचक शब्द को उपादान कहते हैं। क्योंकि उससे अर्थ का ग्रहण होता है, अथवा उससे अर्थ अपने स्वरूप में अध्यारोपित होता है, अथवा वाचक शब्द स्वतः मानो अर्थाकार हो जाता है क्योंकि वक्ता अर्थ के आकार से पहले संक्रान्त होकर शब्द का उच्चारण करता है इसलिए मानो शब्द स्वयं अर्थमय हो जाता है।

'संग्रह' में उपादान का विश्लेषण दो-तीन तरह से किया गया है। अव्युत्पत्तिपक्ष में शब्द अपने स्वरूप को ही निमित्त मान कर अर्थ को जताता है। इसलिए वह उपा-दान है, वाचक है। व्युत्पत्तिपक्ष में, वह अर्थ को ध्यान में रखकर निमित्त होता है, शब्द की व्युत्पत्ति का प्रयोजक होता है। गो शब्द, व्युत्पत्तिपक्ष में, गमनशील अर्थ रखता है। इसलिए गमनशील गोजातिरूप अर्थ का वह निमित्त होता है। इस दृष्टि से वह स्वरूप से भिन्न है और उपादान अर्थात् मूल कारण है। कुछ लोगों के मत में उपादान द्योतक होता है क्योंकि 'यह वह है' ऐसा व्यपदेश के द्वारा सम्बन्ध-निर्णय में समर्थ होता है।

> **एवं हि संग्रहे पठ्यते—वाचक उपादानः स्वरूपवान् अव्युत्पत्तिपक्षे। व्युत्पत्ति-पक्षे त्वर्थावहितं समाश्रितं निमित्तं शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि प्रयोजकम्। उपादान द्योतक इत्येके। सोऽयमिति व्यपदेशेन सम्बन्धोपयोगस्य शक्यत्वात् इति।**
>
> संग्रह, वाक्यपदीय १।४४ हरिवृत्ति में उद्धृत

वृषभ के अनुसार **'प्रयोजकं उपादानः'**—ऐसा पाठ होना चाहिए।

भर्तृहरि के मत में शब्द को उपादान इसलिए कहते हैं कि उसमें समुदाय वर्ण-समूह की उपादेयता होती है। स्वरूप पक्ष में अवयवों से कार्य नहीं होता, इसलिए वर्णों का अलग-अलग ज्ञान भी अपेक्षित नहीं होता।

> **उपादेयो वा समुदाय उपादानः। तथाहि स्वरूपपदार्थकेषु अवयवानामनुपा-देयत्वाद् विभागानामप्रतिपत्तिः।**
>
> —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।४४

उपादान शब्द दो तरह का होता है। यह भेद कल्पित है, वास्तविक नहीं। शब्द के उच्चारण के बाद शब्द के स्वरूप और उसके अर्थ के अवधारण में दो तरह की क्रिया देखी जाती है। इस आधार पर दो तरह के उपादान शब्दों का अनुमान किया जाता है। एक प्रत्यायन का निमित्त होता है और दूसरा अर्थ का प्रत्यायक, प्रतिपादक होता है। पहला प्रत्यायन का निमित्त इसलिए माना जाता है कि ये प्रत्यायन के आश्रय होते हैं और श्रुति द्वारा शब्दार्थ की प्राप्ति प्रत्यायन द्वारा ही होती है। दूसरे उपादान को प्रतिपादक या प्रत्यायक इसलिए कहते हैं कि वह केवल प्रत्याय्य परतन्त्र होता है। स्थान-करण के अभिघात से शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने पर शब्द में अर्थ के आकार का प्रातिबिम्बिक संक्रमण हो गया रहता है, शब्द अर्थाकार-सा हो गया रहता है और उसमें अर्थप्रकाशन की शक्ति की पूर्णता आ गई रहती है। निमित्त और प्रतिपादक में थोड़ा भेद है। कुछ लोग लब्धानुसंहार को निमित्त और उपजनितक्रम को प्रतिपादक या प्रत्यायक मानते हैं। क्योंकि एक पद में स्थित वर्ण अलग-अलग रूप में केवल निमित्त होते हैं। परन्तु अन्तिम वर्ण के उच्चारण होते-होते समुदित रूप में एकाकार बुद्धि में जब भासित हो उठते हैं, वाचक कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में, अक्रम को निमित्त और क्रमवान् को प्रतिपादक कहते हैं। वक्ता की दृष्टि से अक्रम क्रमवान् का निमित्त होता है। परन्तु श्रोता की दृष्टि से यह क्रम उलट जाता है। अर्थात् क्रम अक्रम का निमित्त होता है। क्योंकि उच्चरित शब्द क्रमवान् के रूप में श्रोता तक पहुँचता है परन्तु उस क्षण श्रोता की प्रत्याय्य-प्रत्यायक शक्ति अक्रमरूप में ही रहती है। कुछ प्राचीन आचार्य निमित्त और प्रतिपादक में स्वभावतः भेद मानते हैं। जो लोग कार्य-कारण में भेद वाले सिद्धान्त के अनुगामी हैं उनके अनुसार निमित्त और प्रतिपादक में भेद कार्य-कारण में भेद के अनुसार है। कुछ लोगों के मत में निमित्त और प्रतिपादक एक ही शब्दात्मा के दो पहलू हैं। दो तरह की शक्तियों से दो तरह की बुद्धि-भावना के हो जाने के कारण एक ही दो रूप में दिखाई देता है। कुछ आचार्य शब्दाकृति को निमित्त और शब्द-व्यक्ति को प्रतिपादक मानते हैं। इसके विपरीत, कुछ चिन्तक शब्द-व्यक्ति को निमित्त और शब्दाकृति को वाचक मानते हैं। पुनः कुछ आचार्य शब्दाकृति और शब्द-व्यक्ति में भेद और कुछ आचार्य उनमें अभेद मानते हैं।

उपादान शब्द निमित्तरूप में भी स्वरूप और पररूप का प्रकाशक होता है। जैसे अरणि में बीजरूप से स्थित प्रकाश दूसरे प्रकाश का कारण होता है जो संघट्टना से व्यक्त होता है, उसी तरह बुद्धि में बीजरूप से स्थित शब्द परिपाक पाकर स्थान-करण के अभिघात से ध्वनिरूप में व्यक्त होकर स्वरूप और पररूप का प्रकाशक होता है। भर्तृहरि के मत में बुद्धि में विभिन्न शब्दों की भावना रहती है। बुद्धि में शब्द की स्पष्टता और मुख्यता उसका परिपाक है। विवक्षा होने पर वह व्यंजक ध्वनि के सहारे प्रकट होता है। ध्वनिभेद से उसके आकार में भेद और उसमें पूर्वापर जान पड़ता है। वक्ता की दृष्टि से पहले शब्द का बौद्धिक ग्रहण होता है और शब्द की अभिव्यक्ति के पहले उस शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध स्थापित कर लिया गया रहता है। जिस

तरह अभ्र कणों के संघात से उनकीस थूल अभिव्यक्ति होती है वैसे ही नाद परमाणुओं के संघात से शब्द की स्थूल अभिव्यक्ति होती है। शब्द श्रोत्रग्राह्य होता है। शब्द अपने आप में अविकृत है जबकि नाद या ध्वनि विक्रियाधर्मा हैं। नाद के रूप में विवर्त होने से उसमें नादगत गुणों का, क्रम आदि का आभास होता है और वह विकार को प्राप्त होता हुआ जान पड़ता है। जैसे जलगत चन्द्र प्रतिबिम्ब जल की चंचलता से चंचल जान पड़ता है परन्तु वस्तुतः उसमें चंचलता नहीं है। उसी तरह अभिन्नात्मा शब्द भी भेदमयी नादवृत्ति के कारण विचित्र अवस्था को प्राप्त हुआ जान पड़ता है।

ज्ञान में ज्ञान का स्वरूप और ज्ञेय का स्वरूप दोनों दिखाई देते हैं। ज्ञान ज्ञेय परतन्त्र होता है। और ज्ञान के स्वरूप का स्मरण होता है। इससे ज्ञान के स्वरूप का अनुभव अवश्य होता है। इसी तरह शब्द में शब्द के स्वरूप और अर्थ-स्वरूप दोनों भासित होते हैं। जैसे ज्ञान ज्ञेय परतंत्र है वैसे शब्द भी अभिधेय परतंत्र है। अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये शब्द अर्थ और अपने स्वरूप दोनों को व्यक्त करता है। व्याकरण की दृष्टि से, अर्थ में प्रत्यय आदि न हो सकने के कारण स्वरूप को प्रधानता दी जाती है। (वाक्यपदीय १।४७-५१)।

भर्तृहरि ने शब्द की अभिव्यक्ति में काम करने वाली क्रमशक्ति का बार-बार उल्लेख किया है। शब्द पहले क्रमवान् होता है। शब्द स्वतन्त्र रूप में अपने अवयवों से परिपूर्ण है। किन्तु जब वक्ता की बुद्धि में लीन रहता है, उसके सभी भाग एक में मिल गए रहते हैं। सभी अवयवों का उपसंहार रहता है, वह 'अक्रम' हो गया रहता है। किन्तु विवक्षा जगने पर अक्रम रूप में वर्तमान शब्द पद, वाक्य आदि के धर्म को ग्रहण करता हुआ अपने प्रत्येक अवयव को व्यक्त करता हुआ क्रमशः क्रमवान् का रूप लेता है। यह व्यापार जिस शक्ति के द्वारा होता है उसे क्रमशक्ति कहते हैं। जिस तरह वक्ता के शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में शब्द क्रमशः क्रमवान्, अक्रम और पुनः क्रमवान् होता है उसी तरह श्रोता की दृष्टि से भी अभिव्यक्ति के उपर्युक्त तीन रूप देखे जाते हैं। श्रोता जब शब्द सुनता है, शब्द क्रम-रूप में जान पड़ता है, पूरा सुन लेने पर शब्दों के अवयव एक में मिल जाते हैं और विभाग मिट-सा जाता है, क्रम का ज्ञान मन्द पड़ जाता है। पुनः दूसरों को बतलाते समय शब्द क्रमवान् हो उठता है। ध्वनि के सहारे अभिव्यक्ति होने के कारण शब्द का क्रमरूप में जान पड़ना स्वाभाविक है। एकबुद्धिनिबन्धन के रूप में शब्द का प्रतिसंहृतक्रम के रूप में होना भी अस्वाभाविक नहीं है किन्तु उसके पूर्व की अवस्था में भी शब्द का क्रमवान् होना चिन्त्य है।

तेज स्वयं ग्राह्य भी होता है और ग्राहक भी होता है। दीप से घट का प्रत्यक्ष होता है और स्वयं प्रकाश का भी। शब्द भी एक तरह का अन्तःप्रकाश है। इसलिए उसमें भी दो तरह की शक्तियाँ हैं। वह प्रकाशक है। वह प्रकाश्य है। वह कारण भी और कार्य भी है :

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा।। —वाक्यपदीय २।३२

भौतिक तेज से शब्द तेज में अन्तर यह है कि भौतिक प्रकाश से प्रकाशित वस्तु उस प्रकाश से सर्वथा भिन्न हो सकती है जैसे दीप के प्रकाश से घट। किन्तु शब्द प्रकाश से प्रकाशित वस्तु, भर्तृहरि के मत में, उस प्रकाश से भिन्न-सी जान पड़ती है पर वस्तुतः भिन्न नहीं है।

अयमन्तर्मात्रा शब्दोऽनपायिन्यपायिनीभ्यां द्वाभ्यां शब्दशक्तिभ्यामनुगतः। तस्यैतस्मिन्नात्मन्यविभक्तमपि प्रकाशकत्वे प्रकाश्यत्वं विभक्तमिव प्रत्यवभासते॥

—वाक्यपदीय २।३२ पर हरिवृत्ति, लाहौर संस्करण

जब भर्तृहरि शब्द और अर्थ (प्रकाशक और प्रकाश्य) की अभिन्नता की चर्चा करते हैं उस समय वे उस दर्शन को मानते जान पड़ते हैं जो अर्थ (वस्तु) को बुद्धि-संक्रान्त मानता है। बिना बौद्धिक-अर्थभावना के बाह्य अर्थ-व्यवहार सम्भव नहीं है। बुद्धि-संक्रान्त अर्थ बुद्धिसंक्रान्त शब्द का एक पहलू है, दोनों एक ही तत्त्व के दो रूप हैं।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थाव पृथक्स्थितौ।

न हि प्रतिलब्धार्थ रूपविपर्यासां बुद्धिमन्तरेण बाह्यं वस्तु व्यावहारिकीष्वर्थक्रियासु समर्थ भवति। तस्मादन्तर्निविष्ट रूपेणार्थेन सर्वो व्यवहारः क्रियते।

—वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति, ला० सं० पृष्ठ २४

वाक्यपदीयकार के मत से ध्वनि के उच्चारण और शब्द स्वरूप के परिज्ञान के बीच में कुछ शब्द ज्ञान के सहायक साधन हैं। वे कई हैं पर उनका स्वरूप समझना कठिन है। संवेदन और प्रत्यक्ष के बीच में जैसे कुछ मानसिक क्रिया होती है वैसे ध्वनि-संवेदन और शब्द प्रत्यक्ष के बीच भी अवश्य होती होगी।

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥

—वाक्यपदीय १।८४

शब्द के आकार-ग्रहण का प्रकार

प्रत्येक वर्ण के संस्कार बीजरूप से बुद्धि में अवस्थित रहते हैं। शब्द की अभिव्यंजक ध्वनियों के उच्चारण पर वे बीज परिपाक अवस्था को प्राप्त होने लगते हैं। कार्योत्पादन की विशेष शक्ति का आ जाना परिपाक है (**परिपाकः कार्योत्पादनं प्रति विशिष्ट आत्मलाभः** वृषभ-वाक्ययपदीय टीका १।८५। शब्द की अभिव्यक्ति की योग्यता ही वर्ण का परिपाक है। अन्तिम ध्वनि (शब्द के अन्तिम वर्ण) के उच्चारण होते-होते वह परिपाक पूर्णता को पहुँच जाता है। बार-बार वर्ण की श्रुति से बुद्धि में भी उसका संस्कार गहरा होता जाता है—बुद्धि भी वर्ण-बीज के परिपाक से परिपाक अवस्था को प्राप्त हुई मानी जाती है, अतः अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ-साथ बुद्धि में शब्द के आकार का संनिवेश हो जाता है। गौ शब्द के औकार के उच्चारण के साथ ही गौ शब्द की अवधारणा हो जाती है। —वाक्यपदीय १।८५

सांख्य दर्शन वाले अवधारण स्वरूप ज्ञान का भी अधिकरण बुद्धि रूप अन्तः-

करण को मानते हैं। इस तरह के बौद्धिक अवधारण को वार्तिककार ने (धर्मकीर्ति और उनके व्याख्याता प्रज्ञाकर गुप्त) 'चित्र बुद्धि' कहा है :

अवधारणापरपर्यायं ज्ञानमपि बुद्ध्याख्यान्तःकरणाधिकरणमिति सांख्याः मन्यन्ते। एतच्चावधारणं चित्रबुद्धिरिति वार्तिककारीया मन्यन्ते।

—स्फोटसिद्धि, टीका पृ० १३३

स्फोट सिद्धि की व्याख्या में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने यहाँ अवधारण को समस्त वर्ण-विषयक स्मरण माना है। उसके मत में श्रवण के बाद शब्द का स्पष्ट परिज्ञान ही अवधारण है :

अवधारणं समस्तवर्ण विषयं स्मरणमित्याचक्षते। परमार्थतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवैतत्। ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजनितत्वात्। न अन्यथा स्फुटप्रकाश उपपद्यत इति।

—चारुदेव शास्त्री द्वारा वा० प० १।८५ की टिप्पणी में उद्धृत, पृ० १३३

भर्तृहरि के अनुसार शब्द का आकार क्रमशक्ति के द्वारा पाँच भागों में निम्न रूप में वक्ता और श्रोता दोनों में मूर्तमान होता है। शनैः रूप में, उच्च रूप में, उपांशु रूप में, परमोपांशु रूप में और सन्निहितक्रम रूप में। इनमें शनैः और उच्च, अभिव्यंजक ध्वनियों के पीछे रहने वाली प्राणशक्ति अथवा बलाघात आदि की शक्ति पर निर्भर करता है। बलाघात के तार या मन्द से ध्वनि भी उच्च या शनैः रूप में भासित होगी। उच्च ध्वनि के विषय में महाभाष्य (१।२।२९) में **आयामो दारुण्यम् अणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य** लिखा है। गात्रों का निग्रह (स्तब्धता) आयाम है। स्वर की रूक्षता (अस्निग्धता) दारुण्य है। कण्ठ की संवृतता अणुता है। ये सब शब्द के उच्चैःकरण हैं। नीच ध्वनि के विषय में वहीं लिखा है—**अन्ववसर्गो मार्दवम् उरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।** गात्रों की शिथिलता का नाम अन्ववसर्ग है। स्वर की स्निग्धता मार्दव है। कण्ठ की महत्ता उरुता है (कण्ठविवर के महत् होने के कारण वायु शीघ्र ही निकल जाती है। फलतः गलावयव शुष्क न हो पाते हैं और स्निग्ध बने रहते हैं—न्यास १।२।३०)। महाभाष्यकार के अनुसार उर, कण्ठ और शिर के समान प्रक्रम पर भी उच्च-निच्च भाव अवस्थित है। कैयट के मत में प्रक्रम का अर्थ स्थान है। एक (वक्ता) के तालु आदि स्थानों में जो ऊर्ध्व और अधरभाग से युक्त हैं, ऊर्ध्व-भाग से निष्पन्न ध्वनि उच्च (उदात्त) है और अधर भाग से निष्पन्न नीच (अनुदात्त) है। उच्च और नीच शब्द ऊर्ध्व और अधरभाग के उपलक्षण हैं। षड्ज आदि स्वर-विशेष की तरह ऊँच-नीच का अनुभव भी अभ्यासगम्य है। (कैयट-महाभाष्य, १।२।२९, ३०)। उपांशु शब्द की उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें प्राणशक्ति का संवेग तो रहता है किन्तु दूसरा कोई व्यक्ति उस संवेगजन्य ध्वनि को ग्रहण नहीं कर सकता है। वह सूक्ष्म होती है और दूसरे से असंवेद्य होती है :

तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहे सत्येव यत्र शब्दरूपं परैरसंवेद्यं भवति तदुपांशु।

—वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति, लाहौर संस्करण पृ० १७

जब शब्द प्राणशक्ति के संचार से रहित केवल बुद्धि में संक्रान्त रहता है और

बुद्धि शक्ति से ही संचालित रहता है उस अवस्था को परमोपांशु शब्द से द्योतित करते हैं—

अन्तरेण तु प्राणवृत्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादान एवं शब्दात्मा तत् परमोपांशु ।

—वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति, पृ० १७ ।

अव्यक्त शब्द में आरोपित क्रम का बुद्धि द्वारा साक्षात्कार तो होता है परन्तु अभिव्यंजक किसी भी निमित्त से उसका सम्पर्क नहीं होता, वह निस्पन्द पर बुद्धिग्राह्य क्रममय रहता है। उस अवस्था को प्रतिसंहृतक्रम कहते हैं :

यत्र तु प्रतिसंहृतक्रमशक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तान्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्देध्यारोपितं हि शब्दानां क्रमरूपमिव साक्षात्क्रियते तत् प्रतिसंहृतक्रमम् ।

—वही पृ० १७ ।

इससे परे भी एक अवस्था होती है। बुद्धि में शब्द जब क्रमरहितरूप में अवस्थित रहते हैं, सर्वथा उसमें लीन हो गए रहते हैं, वे अनिर्वचनीय से होते हैं और व्याख्यान शक्ति से परे हैं :

शब्दानां क्रमरूपोपसंहार विषयायां बुद्धावसम्प्रख्यात तत्त्वमिव प्रतिपद्यमानायामारभ्यते शब्दातीतो व्यवहारः ।

—वही पृष्ठ १७

विवक्षा होने पर प्रवक्ता का शब्द बुद्धि में, प्रयत्न में, प्राण में, जिह्वेन्द्रिय में क्रमशः व्यापारित होता हुआ व्यक्त होता है और श्रोता को भी क्रमरूप में भासित होता है।

अल्प शब्द और महत् शब्द

अल्पता और दीर्घता परिमाण हैं। इसलिए गुण हैं। द्रव्य के समवायी हैं। शब्द तो, एक दृष्टि से, स्वयं गुण है इसलिए उसमें अल्पता या महत्ता (दीर्घता) कैसे सम्भव है? दूसरे शब्दों में, अल्पत्व और दीर्घत्व मूर्त पदार्थ के धर्म हैं। शब्द तो अमूर्त है। अतः शब्द अल्प या महत् कैसे कहा जा सकता है? भर्तृहरि ने इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया है। पहला तो यह कि शब्द अल्प या महत् उपचार (लक्षणा) के कारण कहा जाता है। एक सुई छोटी कही जाती है क्योंकि वह अल्पस्थान घेरती है। एक पर्वत बड़ा कहा जाता है क्योंकि वह अधिक स्थान घेरता है। इस सादृश्य के सहारे जो शब्द कम स्थान में फैलता है वह अल्प और जो दूर तक फैलता है उसे महान् या दीर्घ कहते हैं। शब्द की यह व्याप्ति अनुमान से जानी जाती है। दूसरा यह कि व्याकरणदर्शन लोकगत व्यवहार को आधार मानकर चलता है। सर्वत्र अर्थव्यवस्था का कारण लोक-प्रसिद्धि है। लोक को छोड़ देने पर पदार्थ व्यवस्था के निर्णय में कठिनाई पड़ती है। क्योंकि तर्क अनवस्थित है, उसका निश्चय डाँवाडोल है और शास्त्रों में सिद्धान्त-विषयक परस्पर मतभेद पाया जाता है। इसलिए लोकविज्ञान उपयुक्त आधार है। लोक में शब्द को अल्प और महत् शब्द से व्यक्त करते हैं। अतः शब्द को अल्प या महत् कहा जाता है (वाक्यपदीय १।१०४, हरिवृत्ति और वृषभ टीका)।

शब्द का स्वरूप

ऊपर ध्वनि के आधार पर शब्द के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। अर्थ के आधार पर भी इसके स्वरूप पर विचार किया जाता है। शब्द का उच्चारण अर्थपरिज्ञान के लिए ही किया जाता है। अतः अर्थ के आधार पर शब्दस्वरूप का अवच्छेद स्वाभाविक है। पतंजलि ने भी ऐसा ही किया है। शब्द के स्वरूप के विषय में उनके दो प्रसिद्ध वक्तव्य हैं।

"येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूल ककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः।

अथवा

प्रतीतपदार्थकः लोके ध्वनिःशब्द इत्युच्यते।"

—महाभाष्य पृ० १, कीलहार्न संस्करण

इन दोनों वाक्यों के अर्थ में प्राचीन काल से ही विवाद चला आ रहा है। पहले वाक्य का सरल अर्थ यह है—जिसके उच्चारण से सास्ना, लाङ्गूल, ककुद, खुर और सींग वाले का बोध होता हो, वह शब्द है। इसमें सास्ना, लाङ्गूल आदि का उल्लेख गो शब्द के प्रसंग से पतंजलि ने किया है उसे हटा देने पर उनके मत में शब्द की परिभाषा का रूप यों होगा :

येनोच्चारितेन (कस्यचित्) संप्रत्ययो भवति स शब्दः।

इसमें उच्चारण और संप्रत्यय ये दोनों शब्द शब्द के लक्षण पर प्रकाश डालते हैं। शब्द वह है जो उच्चरित होता हो और किसी अर्थ का प्रत्यायक हो। 'उच्चारण-शब्द' शब्द के ध्वन्यात्मक स्वरूप को सामने लाता है। ''संप्रत्ययशब्द' शब्द के सांकेतिक रूप को व्यक्त करता है।

पतंजलि के दूसरे वक्तव्य का अर्थ है कि प्रतीतपदार्थक ध्वनि को शब्द कहा जाता है। प्रतीतपदार्थक का अर्थ है लोक-प्रचलित अर्थ। लोक-प्रचलित अर्थवाले ध्वनि का नाम शब्द है। पतंजलि ने महाभाष्य में अन्य दो स्थानों पर प्रतीतपदार्थक शब्द का प्रयोग किया है।

द्वयोर्हि प्रतीतपदार्थकयो लोके विशेषणविशेष्यभावो भवति। न आदैच् शब्दः प्रतीतपदार्थकः।

—महाभाष्य १।१।१। पृ० ३९

इहहि व्याकरणे ये वैते लोके प्रतीतिपदार्थकाः शब्दाः तैः निर्देशाः क्रियन्ते पशुः अपत्यं देवतेति। या वैताः कृत्रिमा टिघुभसंज्ञाः ताभिः।

—महाभाष्य १।४।२३, पृ० ३२३, कीलहार्न)

इन उद्धरणों से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि आदैच टि, घु, भ आदि प्रतीतपदार्थक शब्द नहीं हैं। दूसरी यह कि पशु, अपत्य, देवता आदि प्रतीतपदार्थक शब्द हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीतपदार्थक शब्द का अभिप्राय ऐसे शब्दों से है जो सर्वसाधारण के लिए समान अर्थ रखते हैं और निरपेक्ष रूप से व्यवहार में आते हैं। प्रतीतपदार्थक शब्द के लिए यहाँ पतंजलि ने 'प्रतीतपदार्थक ध्वनि' शब्द का व्यवहार किया है। वस्तुतः प्रतीतपदार्थक शब्द स्पष्टतार्थ के लिए प्राचीन समय में व्यवहृत होता था जैसा कि कौटल्य के निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट है :

'प्रतीतशब्दप्रयोग स्पष्टत्वम्'

—कौटल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय १०, पृ० १७०, भाग १, त्रिवेन्द्रम संस्करण।

इसलिए स्पष्टार्थक ध्वनि को शब्द कहा जाता है। यह अभिप्राय महाभाष्यकार का जान पड़ता है।

पहले वाले वक्तव्य से दूसरे वक्तव्य में थोड़ा भेद है। यदि संप्रत्यायक ध्वनि को शब्द माना जाएगा, टि, घ, भ आदि कृत्रिम संज्ञाएँ भी शब्द मानी जाएँगी। क्योंकि टि आदि से भी संप्रत्यय किसी-न-किसी को होता ही है। किन्तु टि आदि सबके लिए शब्द नहीं है। इसलिए संप्रत्यय के स्थान पर प्रतीतपदार्थक रखना पतंजलि को अधिक उपयुक्त जान पड़ा होगा। दूसरा भेद लोक शब्द से ध्वनित है। शब्द की दूसरी परिभाषा में पतंजलि ने लोक शब्द भी रखा है। अर्थात् दूसरी परिभाषा लोक-व्यवहार को सामने रखकर की गई है। पहली परिभाषा के अनुसार कृत्रिम संज्ञाएँ भी शब्द हैं। दूसरी परिभाषा के अनुसार सामान्य रूप में वे शब्द नहीं हैं। पहली परिभाषा में संप्रत्यय प्रधान है। दूसरी परिभाषा में ध्वनि-रूप प्रधान है।

इस विषय पर महाभाष्य के कतिपय व्याख्याताओं के मत का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

येनोच्चारितेन संप्रत्ययः भवति—

—इस वाक्य के तीन अभिप्राय भर्तृहरि ने भिन्न-भिन्न मत के के रूप में दिखाए हैं।

केचित् मन्यन्ते-योवाऽयमुच्चार्यते क्रमवान् अवरः कश्चिदन्यः अक्रमः शब्दात्मा बुद्धिस्थो विगाहते। तस्मादर्थप्रतीतिः कुतः यथैवार्थान्तरनिबन्धनो नार्थान्तरं प्रत्यायति एवं स्वरूपनिबन्धनो नोत्सहते प्रत्याययितुम्।

—महाभाष्यत्रिपादी, पृ० ३, पूना संस्करण

इसका अभिप्राय है कि, कुछ लोगों के मत में, जिसका उच्चारण किया जाता है वह क्रमवान् है। इससे भिन्न एक संहृतक्रम अथवा क्रमरहित रूप है जिसमें वर्णों के क्रम अक्रम रूप में रहते हैं वही शब्द है। वह बुद्धि में रहता है। उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे एक अर्थ में निश्चित शब्द किसी दूसरे अर्थ का प्रत्यायन नहीं करा सकता वैसे ही उच्चरित शब्द अपने स्वरूप का ही प्रत्यायन करा सकता है उससे अन्य किसी वस्तु का प्रत्यायक वह नहीं हो सकता।

दूसरे आचार्य मानते हैं कि वर्ण में भी भाग होते हैं, वर्ण का तुरीयभाग वर्ण जाति का व्यंजक होता है। इसी तरह पद में कई वर्ण होते हैं, तुरीयवर्ण शब्द जाति का व्यंजक होता है। वर्ण क्रमजन्मा होते हैं। एक समय में नहीं होते। अंतिम वर्ण पदस्थ जाति के व्यंजक हैं। वृक्ष शब्द के उच्चारण से वृक्षत्व व्यंजित होता है। अर्थात् जाति से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। यह अर्थ का स्वरूप स्फोट कहलाता है। यह शब्दात्मा है। यह नित्य है।

कुछ अन्य आचार्यों की मान्यता है कि शब्द में दो प्रकार की शक्ति है—आत्म-प्रकाशन शक्ति और अर्थप्रकाशन शक्ति। जैसे दीप अपने को व्यक्त करता हुआ अन्य

अर्थों का भी प्रकाशक है। इन्द्रिय में बाह्य अर्थ के प्रकाशन की शक्ति तो होती है किन्तु आत्मप्रकाशन-शक्ति नहीं होती। इनके मत में उच्चारितेन शब्द के दो अर्थ हैं—उच्चारण और प्रकाशन।

इन तीनों मतों को संक्षेप में यों कहा जा सकता है। पहले मत के अनुसार शब्द ध्वनि-समूह के पीछे छिपी हुई बुद्धिस्थ शक्ति-विशेष है। दूसरे मत में, शब्द जाति है। शब्द जाति का ही नाम स्फोट है। तीसरे मत के अनुसार शब्द वह ध्वनि है जो अपने स्वरूप का साथ ही अन्य वस्तु का प्रत्यायक होता है।

कैयट, शेषनारायण, अन्नंभट्ट, नागेश आदि ने यहाँ स्फोट अर्थ माना है। उनके मत में पदस्फोट अथवा वाक्यस्फोट वाचक हैं।

महाभाष्यकार के प्रतीतपदार्थक शब्द भर्तृहरि के अनुसार प्रतीतपदार्थकता के लिए प्रसिद्धि के लिए हैं। जो शब्द प्रसिद्ध हैं वही 'शब्द' शब्द से यहाँ अभिप्रेत हैं। उन्होंने प्रतीत-पदार्थः को प्रतीतः पदार्थः (कर्मधारय) रूप में लिया है और ध्वनि को इसका अभिधेय माना है। शब्द ध्वनि में ही अपना स्वरूप पाता है। इसके लिए उसे अर्थ, प्रकरण, शब्दान्तर की अपेक्षा नहीं होती।

शेषनारायण ने प्रतीतपदार्थ शब्द में बहुव्रीहि समास माना है :

प्रतीतः पदार्थों यस्येति विग्रहः। युक्तु प्रतीतस्य पदार्थस्यायमिति वा विग्रह इति तन्न।

—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख।

अन्नंभट्ट के अनुसार प्रतीतपदार्थक शब्द के आगे शब्दशब्द छिपा हुआ है। अर्थात् प्रतीतपदार्थकशब्द शब्द-शब्द का विशेषण है।

नागेश ने प्रतीतपदार्थ को पदार्थबोधक रूप में लिया है। उनके अनुसार पदार्थ-बोधक रूप में प्रसिद्ध श्रोत्रग्राह्य ध्वनिसमूह का नाम शब्द है। किसी के मत में प्रतीतपदार्थक वाला वक्तव्य उन लोगों के लिए है जो स्फोट को नहीं मानते हैं किन्तु श्रोत्रग्राह्य ध्वनि को शब्द मानते हैं। उनके मत में समुदित वर्णसमूह का किसी वस्तु-विशेष बुद्धि-द्वारा उपपादित संस्कार शब्द है। (सूक्ति रत्नाकर-हस्तलेख)

शब्द नित्य है। संस्कृतव्याकरणदर्शन में शब्द को कार्य मानकर भी विचार किया गया है और शब्द को नित्य मानकर भी विचार किया गया है। किन्तु सिद्धान्त रूप से शब्द नित्य ही माना जाता है। जहाँ शब्द द्रव्य के रूप में माना जाता है वहाँ भी प्रवाहिनित्यता रूप में नित्यत्व अपेक्षित रहता है।

पाणिनि ने **तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्** १।२।५३ कथन के रूप में शब्द की नित्यता का संकेत किया है। व्याडि ने नित्य और अनित्य विषय पर पर्याप्त विचार कर शब्द की नित्यता का समर्थन किया था। कात्यायन ने **"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे"** इस प्रथम वार्तिक द्वारा शब्दनित्यत्व का उद्घोष किया है। श्लोकवार्तिककार ने भी **"स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते"** के रूप में शब्द को नित्य माना है। भर्तृहरि ने (**नित्या शब्दार्थसंबन्धाः**—वाक्यपदीय १।२३ आदि वाक्यों द्वारा शब्द के नित्यपक्ष की चर्चा की है।

शब्द के नित्यत्व के विषय में कुछ तर्क भी दिए जाते हैं। सबसे पहले संभवतः

वेदवादियों ने शब्द की नित्यता का समर्थन किया था। मीमांसकों और वैयाकरणों द्वारा शब्द के नित्यत्व के विषय में जो तर्क दिए जाते हैं, नैयायिकों और बौद्धों ने उनका बड़ी निर्दयता से खण्डन किया है। जैमिनि के लचर तर्कों पर तरस खाते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है :

तस्य तावदीदृशं प्रज्ञास्खलितं कथं वृत्तमिति सविस्मयानुकम्प्यं नः चेतः। तमपरेप्यनुवदन्तीति निर्दयाक्रान्तभुवनं धिग् व्यापकं तमः।

—प्रमाणवार्तिक, पृ० ८० वाराणसी संस्करण

अर्थात् जैमिनि जैसे विचारक ने इतने हलके स्तर के तर्क उपस्थित किए यह देख कर हमारा मन विस्मय और अनुकम्पा से भर जाता है। उसे दूसरे भी दुहराते चले आ रहे हैं। ओह, संसार में कितना गहरा अज्ञान का अन्धकार है।

भर्तृहरि ने नित्यत्व के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिए हैं।

उन दिनों भी कुछ ऐसे आचार्य थे जो प्राकृत को मूल भाषा मानते थे और संस्कृत को उसका विकृत रूप मानते थे। उनके मत में प्राकृत प्राकृतिक भाषा है और इसलिए नित्य है।

'केचिदेवं मन्यन्ते, य एवैते प्राकृताः शब्दाः त एवैते नित्याः। प्रकृतौ भवाः प्राकृताः। —महाभाष्य त्रिपादी (दीपिका) पृ० २० पूना संस्करण

शब्द की नित्यता पर विचार आकृति और द्रव्य पदार्थ की दृष्टि से भी है। यदि शब्द से आकृति की अभिव्यक्ति होती है, शब्द नित्य है, क्योंकि वृक्षत्व आदि आकृति नित्य है। द्रव्यपक्ष में भी शब्द नाद से अभिव्यक्त के रूप में नित्य माना जाता है। आश्रय भेद से भेद की प्रतीति होती है। स्वरूप में भेद नहीं होता। नित्यता अनित्यता के विपर्यय के रूप में भी स्वीकार की जाती है। भर्तृहरि ने तीन प्रकार की अनित्यता का उल्लेख किया है—संसर्गानित्यता, विपरिणामानित्यता और वस्तुविनाशानित्यता।

स्फटिक का दूसरे द्रव्य के संयोग से अपने शुद्ध स्वरूप की अनुपलब्धि संसर्गानित्यता है। बदरी-फल के अपने श्याम रंग को छोड़कर रक्तरंग का आश्रय विपरिणामानित्यता है। वस्तुविनाशानित्यता सर्वात्मना विनाश का नाम है। कैयट ने इसके लिए प्रध्वंसानित्यता शब्द रखा है। इन तीनों प्रकार की अनित्यता के विपरीत जो हो वह नित्यता है। अथवा जो ध्रुव है, कूटस्थ है,[27] अविचालि है, जिसमें अपाय, उपजन, विकार, उत्पत्ति, वृद्धि और व्यय नहीं होते वह नित्य हैं। शब्द में इन सब बातों के मिलने से वह भी नित्य है। अथवा वह भी नित्य है जिसमें तत्त्व का विघटन नहीं होता। यह वही है यह ज्ञान ही तत्त्व है। इसी को प्रवाहनित्यता भी कहा जाता है। शब्द भी देश और काल-भेद से उच्चरित होने पर भी 'यह वही है' इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का

---

२७. कूटे राशिरूपे तिष्ठति, न किंचिदपि चलति; कूटे वचन अनुल्लङ्घनीये तिष्ठति, न केनचिदन्यथा कर्तुं शक्यम्; कूटे विश्वतो दाहे विनाशकारणोपनिपातेऽपि तिष्ठति, कूटे व्याजेऽपि अपन्हवात्मनि क्रियमाणे तिष्ठतिन अन्यथा भवतीति अचलरूपतया भवत् कूटस्थनित्यमुच्यते।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १, पृष्ठ १२६

विषय बना रहता है। अतः प्रवाहनित्यता के सहारे शब्द नित्य माना जाता है। अर्थ भी जातिलक्षणरूप में नित्य है। सम्बन्ध भी व्यवहारपरम्परा में अनादि के कारण नित्य माना जाता है।

किसी के मत में शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का कर्ता कोई नहीं होता। जिस शब्द के उच्चरित होने पर जिस किसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वही उस शब्द का अर्थ है:

"अन्ये मन्यन्ते नेह कश्चित् शब्दार्थसम्बन्धस्य कर्त्ता।

—वाक्यपदीय २।३२९ हरिवृत्ति, हस्तलेख

शब्द से चाहे असत्य का ज्ञान हो अथवा मिथ्या का प्रतिपादन होता हो, शब्द अपने अर्थ से नित्य सम्बद्ध है:

असत्यां प्रतिपत्तौ च मिथ्या वा प्रतिपादने।
स्वैरर्थे नित्यसम्बद्धास्ते ते शब्दा व्यवस्थिताः॥

—वाक्यपदीय २।३३७

कोई आचार्य शब्दजाति का सम्बन्ध अर्थ से मानते हैं, कोई शब्द-व्यक्ति का सम्बन्ध अर्थ से बताते हैं। किसी के मत से जाति अथवा व्यक्तिसाधना क्रिया अभिप्रेत होती है। वाच्यवाचक सम्बन्ध के आधार पर बुद्धिस्थ शब्द का बुद्धिस्थ अर्थ में विनियोग होता है अर्थात् अनेक अर्थ में से किसी एक के साथ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध शब्दगत उक्ति के सहारे अभिव्यक्त होता है:

इह केचिदाचार्याः शब्दजातिमर्थसम्बधिनं मन्यन्ते। केचित् शब्दव्यक्तिम्। अन्येषां तु जातिसाधना व्यक्तिसाधना वा क्रिया संप्रत्यफला। तत्रानेनायं वक्तव्य इत्युभयोः परिग्रहं कृत्वा बुद्धिस्थशब्दो बुद्धिस्थे यत्र विनियुज्यते प्रवर्णीक्रियते सत्यप्यनेकार्थत्वे तत्रास्य सामर्थ्यमवच्छिद्यते।

—वाक्यपदीय २।४०६ हरिवृत्ति, हस्तलेख

शब्द और अर्थ को बौद्ध मानकर भी इनमें नित्यत्व दिखाया जाता है। भर्तृहरि ने इस विषय में अनेक प्रवादों का अनेक स्थलों में प्रसंगवश उल्लेख किया है। कुछ दर्शन सब कुछ वास्तविक मानते हैं। इस पक्ष में शब्द विशिष्टार्थ भाग का स्पर्श करता है और उसका अन्य से निर्धारण (विभाग) करता है। कुछ अन्य दर्शन किसी वस्तु की सत्ता नहीं मानते। इस पक्ष मे शब्द उन-उन अर्थों की प्रकल्पना करता है:

अत्र केचित् वास्तव सर्व इति प्रपंचितम्। तस्य तु विशिष्टार्थभागोपनिपातिनः शब्दाः तां तां शक्तिमवछिदति इति प्रतिपन्नाः। अपरे पुनः, नैव वस्तु किंचिदस्ति। शब्दा एव तु प्रवर्तमानास्तं तमर्थं प्रकल्पयन्ति।

—महाभाष्यत्रिपादी १।१।४४

कुछ अन्य विचारक मानते हैं कि केवल शब्द सुनने मात्र से बुद्धि में अवस्थित अर्थ का बोध नहीं होता। अर्थबोध अनुमान की प्रक्रिया से होता है। शब्द से जिस बुद्धि का उदय होता है, उससे सन्निहित अप्रयुक्त पदाश्रय कोई दूसरी बुद्धि होती है, उस बुद्धि के सहारे अर्थ का प्रतिभास होता है:

अपरे तु मन्यन्ते नावश्यं श्रुत एव शब्दो बुद्धौ संनिपतितमर्थं प्रत्याययति। सर्वथा बुद्धौ संनिविष्टः प्र......स्मिन्नेव शब्देविशिष्ट रूपे या बुद्धिरूत्पद्यते तया व्यवहितं बुद्ध्यन्तरं बुद्धौ प्राप्तसंनिधानं तदर्थ प्रतिपत्तिनिमित्तं भवति। अपरे तु पदै : —वाक्यपदीय २।३२८ हरिवृत्ति हस्तलेख[२८]

कुछ अन्य विचारकों के मत में एक ही अर्थात्मा होती है। अर्थ एक है। वह सर्वसाधारण है। जैसे संयोगसंज्ञा दो में भी होती है, समुदाय में भी होती है वैसे ही अर्थ एक में, दो में, सबमें अवस्थित रहता है। केवल संनिधान से अभिव्यक्त होता है :

केचित् मन्यन्ते यथा संयोग संज्ञा द्वयीः द्वयोः समुदाये चावतिष्ठते। तथा प्रत्येकं द्वयोः समुदितेषु च स एवैकार्थात्मा व्यवस्थित एव। स तु सन्निधानेन व्यज्यते। —वाक्यपदीय २।४०१ हरिवृत्ति, हस्तलेख

जैसे आँख में सब-कुछ देखने की शक्ति है किन्तु जिस-जिसको देखना ईप्सित होता है उसे उसके माध्यम से देखा जाता है उसी तरह शब्द में सब अर्थ व्यक्त करने की क्षमता है। जो अर्थ अभीप्सित होता है उसे वह प्रकाशित करता है, अपने-आप में अभिव्यक्त करता है (वाक्यपदीय २।४०७)।

अथवा शब्द अभिधान (करण) है। अर्थ अभिधेय (कर्म) है। दोनों में अभिधानियम है।[२९]

अथवा शब्द और अर्थ का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। अर्थ के स्वरूप का परिज्ञान शब्द से सम्भव नहीं है। अर्थ का अवधारण अशब्द होता है। दाह शब्द से जो कुछ अर्थभासित होता है उसमें और यथार्थ रूप से आग से जलन होने पर जो कुछ अनुभव में आता है उसमें आकाश-पाताल का भेद है। हिम शब्द के उच्चारण में और बर्फ से ठिठुरन में बहुत भेद है। शब्द केवल अर्थ का आभास मात्र कराते हैं अथवा किसी सादृश्य के आधार पर अर्थ की स्मृति मात्र जागते हैं (वाक्यपदीय २।४२४)।

अथवा शब्द वस्तु का उपलक्षण मात्र है। जैसे हम काक से देवदत्त के गृह को बतलाते हैं वैसे विशेष शब्द से विशेष वस्तु को बतलाया जाता है। शब्द में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह पदार्थ की समग्रता को छू सके। अथवा शब्द से वस्तुमात्र निर्विशेष रूप में, विशेष धर्मरहित रूप में जनाया जाता है। शब्द पदार्थ का (वस्तु का) किसी रूप में उपकारक नहीं है। शब्द में पदार्थ के किसी भी धर्म के स्पर्श करने की क्षमता नहीं है :—

वस्तुमात्रमनाश्रितशक्तिविशेषमपरिगृही तस्वधर्मकं येन संविज्ञानपदेनोपलक्ष्यते। न तद्वस्तुकृताना शक्तिनां यदुपकारिरूपं तत् सव्यापारं स्व कार्येण शक्नोती वक्तुम्। न हि स वस्तुमात्र संस्पर्शित्वात् भेदकान्युपकारीणि शक्तिरूपाणि संस्पृशति। —वाक्यपदीय २।४४२ हरिवृत्ति, हस्तलेख

---

२८. पुण्य राज के अनुसार भर्तृहरि का अभिप्राय यहाँ श्रुतार्थापत्ति से है।

२९. अभिधानियमः तस्मादभिधानाभिधेययोः। वाक्यपनीय २।४०८

अभिधानियम शब्द को अभिधावृति का मूलरूप समझना चाहिए।

शब्द का अर्थ

उपर्युक्त विभिन्न मत शब्द के स्वरूप और सामर्थ्य पर प्रकाश डालते हैं। शब्द का अर्थ क्या है? इस प्रश्न पर भी भर्तृहरि ने विचार किया है। और पुण्यराज ने उसे १२ प्रकारों में बाँटा है। ये प्रकार भी शब्द की शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं और मतभेद-प्रदर्शक हैं न कि अर्थभेद-प्रदर्शक।

शब्द का अर्थ क्या है? इसके उत्तर में किसी आचार्य की मान्यता है कि शब्द का अर्थ क्या है, नहीं कहा जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि शब्द के अर्थ होते हैं। शब्द निरर्थक नहीं है। शब्द का जो अर्थ है उसे 'यह है' 'वह है' आदि के रूप में नहीं बतलाया जा सकता है। स्वर्ग शब्द कहने से जिस अर्थ का आभास होता है उसे कहा नहीं जा सकता क्योंकि स्वर्ग अदृष्ट है। इसी तरह से अपूर्व शब्द मीमांसादर्शन में शक्ति-विशेष के अर्थ में व्यवहृत होता है किन्तु उसे बतलाया नहीं जा सकता। देवता शब्द का अर्थ केवल अर्थ रूप में जाना जा सकता है, वह क्या है, कैसा है, नहीं जाना जा सकता। यही बात गो शब्द, घट शब्द आदि की भी है। गो शब्द केवल अर्थ की सत्ता मात्र का प्रत्यायक है। गो शब्द के सुनने से आकार आदि का भान नान्तरीयक रूप में होता है। वह शब्द का अर्थ नहीं है। इसलिए 'अर्थ है' इतना ही वाच्य का लक्षण है अर्थात् शब्द से जो प्रत्याय्य है उनका केवल अस्तित्व मात्र शब्द से व्यक्त होता है। घट पट शब्दों से आकार के ग्रहण का भाव प्रयोग, दर्शन, अभ्यास आदि के सहारे होता है। वे यत्नान्तर साध्य हैं। शब्द का व्यापार उन तक नहीं है।

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् ।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥

—वाक्यपदीय २।१२०

इसकी समीक्षा में कुमारिल का कहना है कि शब्द की शक्ति नियत होती है। अर्थापत्ति के आधार पर शब्द की वाचक शक्ति नियत अर्थ विषयक होती है। किन्तु कुमारिल भट्ट ने उपर्युक्त मत का भाव अन्यथा रूप में लिया है। उपर्युक्त मत में सभी शब्दों का अर्थ सत्ता मानने का यह अभिप्राय नहीं है कि शब्दों का अन्य कोई अर्थ नहीं है, उसका अभिप्राय केवल इतना है कि शब्द का अर्थ होता है, क्या होता है इसे ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। किसी अन्य आचार्य का मत है कि शब्द से जो कुछ अर्थ भासित होता है उस अर्थ के साथ अनुनिष्पादि रूप में जो कुछ भासित होता है वह भी शब्द का अर्थ है। जैसे शब्द का अर्थ जाति है तो उस जाति के प्रयोजक व्यक्ति भी शब्द का अर्थ होगा। कुछ लोग व्यक्ति को अनुषंग रूप में लेते हैं। जाति शब्द में व्यक्तिगत धर्म-बोध कराने की क्षमता नहीं होती। शब्द सम्पूर्ण विशेषताओं से युक्त अर्थ का बोध नहीं करा पाता है।

न हि सकलविशेषसहितमर्थं शब्दः प्रत्याययितुमलम् ।

—पुण्यराज २।१२४

किसी अन्य विचारक के मत में शब्द का अर्थ वह सब कुछ है जिसके बिना अर्थ

में अर्थवत्ता ही नहीं आती है। इस मत में, कुछ अंश को प्रत्यायक और कुछ अंश को नान्तरीयक नहीं माना जाता। अपितु शब्द का अभिधेय सब आकार सहित अर्थ है। केवल कहीं किसी पक्ष का प्राधान्य और कहीं किसी स्वरूप का गौणभाव अभिप्रेत रहता है।

इसी तरह किसी के मत में शब्द का अभिधेय समुदाय है किन्तु उसमें विकल्प या समुच्चय का स्थान नहीं है। वन शब्द से धव, खादिर आदि का समुदाय अभिधेय है। ब्राह्मण शब्द से तप, विद्या जाति आदि से युक्त समुदाय अभिधेय है। वन शब्द से धव है कि खदिर है इस रूप में, विकल्प रूप में, प्रतीति नहीं होती। वन धव भी है खदिर भी है इस रूप में, समुच्चय रूप में भी प्रतीति नहीं होती। अपितु साकल्य रूप में एक प्रतीति होती है। इसलिए विकल्प-समुच्चय-रहित समुदाय शब्द का अर्थ है।

कोई-कोई शब्द का अर्थ संसर्ग मानते हैं। संसर्ग जाति, गुण और क्रियात्मक अर्थ का असत्यभूत रूप है। द्रव्य का द्रव्यत्व आदि के साथ जो सम्बन्ध होता है वह शब्द का अर्थ है। वह सम्बन्ध सम्बन्धियों के शब्दार्थ होने के कारण असत्य माना जाता है। अथवा तप श्रुत आदि का एक में संस्सृष्ट रूप से भान होने से उनका परस्पर संसर्ग, ब्राह्मण शब्द में, असत्य है। अथवा घट आदि शब्दों से घट आदि की जाति आदि संसर्ग कही जाती है। अलग रूप में वह असत्यभूत मानी जाती है। संस्सृष्ट पदार्थ ही सत्यभूत है। किसी अन्य मत में असत्य उपाधि से अवच्छिन्न सत्य ही शब्द का अर्थ है :---

असत्योपाधि यत् सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धनम्।

—वाक्यपदीय २।१२८

इस वक्तव्य पर पुण्यराज ने प्रकाश नहीं डाला है किन्तु जिस आचार्य की यह मान्यता है उसने बहुत गूढ़ तरा अल्प में व्यक्त कर दिया है। उसने शब्ददर्शन और सत्यदर्शन को एक कर दिया है। शब्द अपने अन्तिम विश्लेषण में सत्य है। इसलिए निरपेक्ष रूप में शब्द का अभिधेय यदि सम्भव है तो वह सत्य है।

कमलशील ने सुवर्ण को सत्य और वलय, अँगूठी आदि को असत्य माना है। शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त स्वर्ण की तरह सामान्य रूप सत्य है। वही उसका अभिधेय है। अथवा शब्द का अभिजल्प स्वरूप शब्द का अर्थ है। 'सः अयम्' यह वह है इस रूप में शब्द के स्वरूप का अर्थ में अध्यास किया जाता है। अध्यासवश शब्द और अर्थ एकाकार हो गये रहते हैं। शब्द के इस स्वरूप का नाम अभिजल्प है। अभिजल्प शब्दार्थ है। वह शब्द ही है। शब्दार्थ के एकाकार रूप में होने के कारण उनका कोई रूप कहीं प्रधान रूप में अवगत होता है और कहीं उनका कोई अन्य रूप अवगत होता है। लोक में उनका अर्थरूप अधिक गृहीत होना है, शास्त्र में शब्द और अर्थ दोनों रूप विवक्षा के आधार पर गृहीत होते हैं। लोक में 'अग्निम् आनय' वाक्य से अग्नि रूप अर्थ अभिप्रेत रहता है। शास्त्र में स्त्रीभ्यो ढक् (४।१।१२०) कहने से स्त्री वाचक सार्थक शब्दों का बोध होता है।

दर्शन से और उत्प्रेक्षा से अर्थ को अभिधेय के रूप में ग्रहण कर शब्दात्मा

अपनी शक्ति का नियंत्रण कर इस शब्द से यह कहा गया है इस रूप में बुद्धि में झलकता हुआ बाह्य ध्वन्यात्मक श्रुत्यन्तर की प्रवृत्ति में हेतु होता है। अभिजल्प शब्द विज्ञान लक्षण हैं। आन्तर शब्द है। मल्लवादि के अनुसार यह मत भर्तृहरि का है :

दर्शनोत्प्रेक्षाभ्यामर्थमभिधेयत्वेनोपगृह्य तत्र न्यग्भूतस्वशक्तिः बुद्धौ परिप्लवमानः अयमित्थिमनेन शब्देनोच्यत इत्यान्तरो विज्ञानलक्षणः शब्दात्मा श्रुत्यन्तरस्य बाह्यस्य ध्वन्यात्मकस्य प्रवृत्तौ हेतुः। सः अभिजल्पाभिधेयाकारपरिग्राही बाह्यात् शब्दादन्य इति भर्तृहर्यादिमतम्।

—द्वादशारनयचक्र, पृ० ७७९

अथवा अर्थ असर्वशक्ति है। अर्थ में शक्ति नहीं है। शब्द के द्वारा अर्थ में नियत शक्ति का आधान होता है। जिस रूप में शब्द अर्थ की शक्ति की अभिव्यक्ति चाहता है, उसी रूप में अभिव्यक्ति होती है। इसलिए शब्द का अर्थ स्वशक्ति से उत्थापित अर्थ है। एक ही अर्थवस्तु एक ही क्षण में अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक रूप में व्यवहृत की जाती है। जैसे भोजन पकाने की क्रिया को भिन्न-भिन्न व्यक्ति यों कह सकते हैं :--**ओदनं पचति। पाक ओदनस्य। पाकं निर्वर्तयति। करोति निर्वृत्तिं पाकस्य।** अतः यदि शब्द से अर्थवस्तु की अभिव्यक्ति होती तो एक ही ओदन की एकसाथ कर्म के रूप में, सम्बन्ध के रूप में. भिन्न-भिन्न विरोधी रूप में, अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। इसलिए मान लेना चाहिए कि अर्थ में शक्ति नहीं है। शक्ति शब्द में है। शब्द अपनी शक्ति को बुद्धि के द्वारा अर्थ में आरोपित कर देता है। अतः शब्द द्वारा नियत शक्ति ही शब्द का अर्थ है। अथवा अर्थ अशक्त नहीं है। वह सर्वशक्तिसंपन्न है। शब्द से केवल उसकी नियत शक्ति का अभिधान होता है। शक्ति के द्वारा अर्थ कभी क्रिया के रूप में प्रकाशित होता है कभी कारक के रूप में व्यक्त होता है। दोनों सर्वथा शब्द द्वारा ही अर्थशक्ति नियत होती है। मल्लवादि के अनुसार यह मत वसुरात का है :

वसुरातस्य भर्तृहर्युपाध्यायस्य मतम् तु स च स्वरूपानुगतमर्थरूपमन्तरविभागेन सन्निवेशयति—अशक्तेः सर्वशक्तेर्वाशब्दैरेव प्रकल्पिता। एकस्यार्थस्य नियता क्रियादि परिकल्पना।

—वाक्यपदीय २।१३३ द्वादशार नयचक्र, पृ० ७८०

अथवा शब्द का कोई बाह्य अर्थ नहीं होता। शब्द का केवल बुद्धि-उपारूढ़, बौद्ध अर्थ होता है। यह बौद्ध अर्थ बाह्य वस्तु के लिए होता है उसका रूप बुद्धि उपारूढ़ ही होता है किन्तु भ्रमवश बुद्धिगत अर्थ को बाह्य अर्थ समझ लिया जाता है। अथवा शब्द के दो प्रकार के अर्थ होते हैं जो वस्तु मूर्त है, आकारवान् है उसका अर्थ आकारविशेष के रूप में ज्ञात होता है। जो वस्तु अमूर्त है, निराकार है, उसका अर्थ केवल संवित् है। अर्थात् शब्द का अर्थ आकारसहित अर्थ भी है। संवित् (ज्ञानमात्र) भी है।

अथवा शब्द का कोई नियत अर्थ नहीं होता। अपनी-अपनी वासना, संस्कार के बल से श्रोता भिन्न-भिन्न अर्थ एक ही शब्द का ग्रहण करते हैं। इसलिए शब्दार्थ अपने-अपने भाव के अनुरूप विभक्त-विभक्त भासित होता है। एक ही वस्तु को एक ही समय में भिन्न-भिन्न प्रेक्षक भिन्न रूप में देख सकते हैं। एक ही पदार्थ एक ही व्यक्ति को

कालान्तर में भिन्न जान पड़ सकता है। इसलिए शब्द का कोई नियत अर्थ नहीं होता। शब्द के अर्थ के साधन भी अव्यवस्थित हैं। वे भी नियत नहीं हैं। इसलिए एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यही कारण है कि एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न दर्शनशास्त्रों में विभिन्न रूप से व्याख्यात हैं।

यह मत भाषाविज्ञान के इस सिद्धान्त के अनुकूल है कि अर्थ एक समझौता-मात्र है। विभिन्न भाषाओं में एक ही प्रकार की ध्वनियाँ विभिन्न अर्थ द्योतित करती हैं। शब्द का अर्थ सामाजिक रूप में आरोपित तत्त्व है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

गौः शब्द कहने से गौ शब्द का, गौरूप अर्थ का और गौरूप ज्ञान का एक साथ एक में मिला हुआ-सा आभास होता है (**गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानम्** —योगसूत्रभाष्य ३।१७) यह आभास सम्बन्धसापेक्ष है। जब शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विचार किया जाता है तब अर्थ से अभिप्राय वस्तु से न होकर अर्थ के शब्दमय रूप से होता है। प्रतीति के कारण ऐसा होता है। रूढ़ के कारण भ्रम नहीं होता।

शब्द का अपने स्वरूप और अर्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध माना जाता है। वक्ता की दृष्टि से (बाह्य अर्थ न मानकर बुद्धि उपारूढ़ अर्थ) शब्द और अर्थ में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध माना जाता है। एक अध्यास सम्बन्ध की भी चर्चा की जाती है जो वास्तव में योग्यता और कार्यकारणभाव सम्बन्ध का निष्कर्ष है, इनसे भिन्न नहीं है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थ के प्रवृत्तितत्त्व का शब्द निबन्धन है। अर्थ की प्रवृत्तित्त्व के कई अभिप्राय हैं। अर्थ के प्रवृत्तित्त्व विवक्षा हैं। सत्त्व के रूप में अथवा असत्त्व के रूप में वस्तु का स्वरूप अर्थ का प्रवृत्ति तत्त्व नहीं है। विवक्षा योग्य शब्द पर निर्भर करती है। कुछ कहने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति जिस वस्तु को अभिधेय मानकर कुछ कहने की अभिलाषा रखता है वह उस अर्थ की अभिव्यवित के लिए योग्य शब्द का आश्रय लेता है। अर्थ व्यक्त करने की क्षमता योग्यता है।

अथवा अर्थ के व्यवहार में जो निमित्त होता है उसे अर्थप्रवृत्तितत्त्व कहा जाता है। निमित्त के आधार पर निमित्त वाले अर्थों का निमित्तस्वरूपमय ज्ञान जब उत्पन्न होता है अर्थ द्वारा व्यवहार संभव होता है। गोत्व निमित्त है। गोपिण्ड निमित्तवान् है। जातिरूपानुकारी निमित्तस्वरूप है। जब तक पृथक्-पृथक् गो-पिण्ड गोत्व से अनुरंजित नहीं होते तब तक द्रव्यरूप में उनमें व्यवहार की सरलता नहीं आती। जातिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्य कैवल्य की तरह अव्यवहार्य होगा। दूसरे शब्दों में जाति के आधार पर अर्थ व्यवहार के विषय बनते हैं।

अथवा अर्थ के व्यवहार का तत्त्व संसर्ग है। संबंध से रहित अर्थ का व्यवहार सम्भव नहीं है। संसर्ग क्रिया और कारक के परस्पर संस्पर्श का नाम है। अर्थ साधन-रूप भी होता है और साध्यरूप भी होता है। नाम पद क्रिया सस्पृष्ट साधन का प्रति-पादन करते हैं। क्रियापद साधनसंस्पृष्ट क्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे पदों के

प्रयोग कारक और क्रियापद के आश्रयविशेष के उपसंहार के लिए होते हैं। इस तरह संसर्ग सभी पदों का संस्पर्श किए रहता है।

अथवा अर्थ से तात्पर्य केवल वस्तु से है। उसके प्रवृत्तितत्त्व को संसर्ग कहा जाता है। अथवा ज्ञान अर्थ के आकार के रूप में वाह्य वस्तु में आरोपित होता है। यही अर्थप्रवृत्ति का तत्त्व है।

हेलाराज ने सम्बन्ध के प्रसंग में सम्बन्ध को पश्यन्ती आदि वाक् के भेदों के साथ दिखाने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार चित्शक्ति का वाक्नाम का व्यापार होता है। इसका दूसरा नाम शब्दना है। शब्दना व्यापार ध्वनि रूप में न होता हुआ भी उपांशु प्रयोग में शब्द कहा जाता है। वही वाचक माना जाता है। शब्द जब अपने अविभागापन्न दशा में रहता है, जब वह शब्दार्थमय रहता है, जब उद्भेद आरम्भ नहीं हुआ होता, तब वह अपने स्वरूप में पश्यन्ती (परवाक्) के रूप में स्थित रहता है। बाद में वह प्राणवृत्ति से अनुप्राणित और मन की भावना से अवलम्बित होकर अपने-आप को वाच्य और वाचक इन दो शाखाओं में विभक्त करता हुआ स्थित रहता है। यह मध्यमा की अवस्था है। इसमें परामर्शन व्यापार होता है। परामर्शन वाचक शब्द है। परामर्शात्मा वाचक शब्द-चैतन्य अभी पश्यन्ती से सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं किए होता है। उसका सम्बन्ध चैतन्य से विकम्पित किन्तु अविभक्त पश्यन्ती से भी अभी बना रहता है किन्तु वह अपने स्वरूप को ही वाच्य के रूप में परामर्श करने लगता है। यह परामर्श सामानाधिकरण्य रूप में होता है, गौः अर्थ है। इसलिए उस वाच्य अर्थ को वाचक का अध्यास वाला कहा जाता है। इसके पश्चात् वही परामर्शक शब्द पूर्व-अवस्था को पकड़े हुए ही स्थान करण आदि के स्पर्श की योग्यता से श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य स्वरूप के रूप में अपने-आपको ढालकर वाच्य और वाचक रूप में विभक्त होता हुआ व्यक्त होता है। शब्द पश्यन्ती (परवाक्) का निस्पन्द है। पश्यन्ती के प्रभाव से उसमें शब्दनात्मक व्यापार होता है। इस व्यापार के बल से वह अपने विशेष स्वरूप से विशिष्ट अर्थाभिधान की दशा को प्राप्त कर लेता है। इसका प्रकार सामानाधिकरण्य से अर्थ का संस्पर्श और अभेद रूप से एक ही व्यापार का होना है। "अयं शुक्लः पटः" इस बोध में शुक्लगुण से अवभासित विशेष्य पट का परामर्श एक साथ ही हो जाता है। शुक्लगुण का अलग से परामर्श नहीं होता। इसी प्रकार घटः अयम् से घट के स्वरूप का परामर्श प्रधानभूतविशेष्य से स्पृष्ट रहता है। इसलिए शब्द और अर्थ की एक ही शब्दनात्मिका प्रतीति होती है। कहीं-कहीं शब्द की अपने स्वरूप में ही विश्रान्ति रहती है। जैसे अग्नेर्ढक् ४।२।२३ में। यहाँ शब्द का स्वरूप ही अनुकार्य है। वही प्रधान है। बाह्य अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा में स्वरूप और अर्थ का भेद के रूप में अवभास होता है। शब्द अपने को व्यक्त करता है और अर्थ को भी प्रकाशित करता है। अर्थ का प्रकाशन अभिधीयमान रूप में करता है। अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति शब्द अभिधेयक रूप में करता है। श्रोत्रेन्द्रियका विषयभाव प्राप्त कर लेना अभिधायक का रूप नहीं है। जो शब्द के अभिधान का विषय होता है उसे अभिधेय कहा जाता है किन्तु अर्थ के साथ स्वरूप का सामानाधिकरण्य, स्वरूप का

अर्थ के रूप में परामर्श आवश्यक है। वाचकता में अभिधीयमानता नहीं होती। पश्यन्ती (परवाक्) के कर्तृभूमि उपारूढ़ परामर्शमय प्रकाशस्वभाव वाचक होता है। उसमें परामृश्यमानात्मक वाच्यता का अविरोध होता है। जो कर्तृशक्ति से युक्त होता है वही कर्मशक्ति का आधार उसी समय नहीं होता। क्योंकि स्वातंत्र्य और पारतन्त्र्य एक साथ एक समय में नहीं रह सकते। जो प्रतिपादक हैं वह प्रतिपाद्य नहीं।

इस तरह शब्द और अर्थ के सामानाधिकरण्य से अभेद-अध्यास नाम का संबंध व्यक्त होता है। योग्यता और कार्यकारण में भी फल की दृष्टि से अध्यास सम्बन्ध ही प्रमुख है।

जैसे इन्द्रियों की अपने विषय में योग्यता अनादि-सिद्ध है उसी तरह शब्दों का अर्थ के साथ योग्यता-सम्बन्ध अनादि-सिद्ध है। यद्यपि इन्द्रियाँ कारक होने के कारण अज्ञात ज्ञान को ही उत्पन्न करती हें, शब्द ज्ञापक है वह अपने ज्ञान द्वारा अन्य बुद्धि का हेतु होता है फिर भी पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा न होना दोनों में समान हैं।

शब्द और अर्थ में कार्यकारण भाव भी है। क्योंकि शब्द अर्थ का कारण है, शब्दपूर्वक अर्थ की प्रतीति होती है। श्रोता के मन में जो अर्थ शब्द सुनने के बाद झलकता है उस अर्थ का जनक शब्द है। अर्थ भी शब्द का कारण है। क्योंकि वक्ता पहले मन में अर्थ को रखकर ही उसके लिए शब्द का प्रयोग करता है। इसलिए दोनों ओर से कार्यकारण भाव होने के कारण शब्द और अर्थ का अध्यास लक्षण अभेद सम्बन्ध माना जाता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि-उपारूढ है। ओदनं भुंक्ते जैसे वाक्य से भी शब्द और अर्थ का परिज्ञान बुद्धि-अधीन है। इसी दृष्टि से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है। क्योंकि अनित्य पदार्थों के नष्ट होने पर भी अभिधेयता के रूप में नित्यत्व बना रहता है। घट आदि शब्दों के उच्चारण से अर्थाकार ज्ञान सदा उद्बुद्ध होता है। इसलिए प्रवाहनित्यता के रूप में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

अतीत, अनागत आदि शब्दों के भी अर्थ होते हैं और इस आधार पर यहाँ भी सम्बन्ध नित्यता है। शशविषाण आदि असत् पदार्थ में भी बुद्धि परिकल्पित सत्ता रहती है और इस आधार सम्बन्ध वहाँ भी है। उपचारसत्ता के आधार पर भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की उपपत्ति की जाती है।

सर्वत्रोपचारसत्तारूढ एव शब्दार्थ इत्युक्तं भवति।
क्रियाकारकभावेनापि चार्थानां निरूपणं बौद्धमेव॥

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ५१

शब्द चाहे भाव-बोधक हो, अथवा अभाव-बोधक हो अर्थ की अभिव्यक्ति प्रत्येक दशा में होती है। अस्तु प्रवाहनित्यता के आधार पर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

शब्द और अर्थ के अनित्य सम्बन्ध के मानने पर अथवा शब्द को नित्य न मान

कर कार्य मानने पर शब्द और अर्थ की व्यवस्था लक्षण के अनुसार होती है ।

कार्या शब्द इति दर्शने लक्षणादेव शब्दानामर्थव्यवस्था ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।१।६

संस्कृतव्याकरणदर्शन लोकविज्ञान, लोकमत को प्रमाण मानता है इसलिए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में भी लोक ही प्रमाण माना जाता है :

शब्दार्थसम्बन्धे लोकव्यवहार एव प्रमाणं, नान्यत् ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ४।१।९३

लोक में अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसलिए व्याकरण दर्शन में भी उसको सामने रखकर ही विचार किया जाता है। शब्द से अर्थ नहीं बनाए जाते। अर्थ के लिए शब्द का आश्रय लिया जाता है :

न हि शब्दैरर्था उत्पाद्यन्ते । यथोक्तं न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।२।२९

अवश्य ही दार्शनिक धरातल पर अर्थशब्द से वस्तु-अर्थ न लेकर शब्दार्थ रूप अर्थ लिया जाता है :

इह हि व्याकरणे न वस्त्वर्थोऽर्थः, अपितु शब्दार्थोऽर्थः ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश १

कभी-कभी शब्दरूप को सामने रखकर अर्थ-व्यवहार लोक में देखा जाता है और व्याकरण में भी उसे उसी रूप में अपनाया जाता है । जैसे भ्रमर के लिए द्विरेफ शब्द का व्यवहार किया जाता है । भ्रमर शब्द में दो रेफ हैं । इस दो रेफमय शब्द-लक्षण के आधार भ्रमर को द्विरेफ कहा जाता है :

यद्यप्यर्थे शब्दस्य गुणभावादर्थत एव साम्यं न्याय्यं तथापि शब्दधर्मेणाप्यर्थस्य व्यपदेशो दृश्यते यथा भ्रमर शब्दस्य द्विरेफत्वात् द्विरेफो भ्रमरः । तथा द्व्यक्षरं मांसं द्व्यक्षरमस्थि ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।३।१०

शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को अधिक महत्त्व देने के कारण अर्थपरिवर्तन जैसे विचार संस्कृत व्याकरणदर्शन में संभव नहीं थे । शब्द कभी भी अपना अर्थ छोड़-कर दूसरे अर्थ को नहीं बताता :

न तु शब्दः स्वार्थं परित्यज्यार्थान्तरं वक्तुं समर्थः, शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यता प्रसंगात् ।

कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।२।६, ५।१।११५

जहाँ अर्थ में परिवर्तन दिखाई देता है ऐसे स्थलों के लिए प्राचीन वैयाकरण कई उपाय काम में लाते हैं । भर्तृहरि ऐसे स्थलों पर शब्द के मूल अर्थ में एक दूसरे अर्थ का आरोप करते हैं । उनके अनुसार शब्द के अर्थ में परिवर्तन संभव नहीं है अर्थ का अर्थान्तर में अध्यारोप संभव है ।

अथवा जिन शब्दों के अर्थ में भेद उन्हें दिखाई देता था उन शब्दों को अव्युत्पन्न अथवा रूढ़ मान लिया जाता था । प्रवीण, कुशल, प्रतिलोम, अनुलोम आदि, उनके मत

में रूढ़ शब्द हैं :

तुलया संमितं तुल्यम् । व्युत्पत्त्यर्थमेव तुलोपादीयते । रूढिशब्दस्त्वयं सदृश पर्यायः । यथा प्रवीणः कुशलः प्रतिलोभः अनुलोम इत्यवयवार्थाभावः. एवं तुल्यशब्देऽपि ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।१।९

अपनी मान्यता के कारण वे कभी-कभी कठिनाई में पड़े जान पड़ते हैं । तिल शब्द से तैल शब्द तिल के तेल के अर्थ में निष्पन्न होता है । किन्तु सर्षपतैल, इङ्गुदी तैल का भी लोक में व्यवहार होता था । कात्यायन ने इस समस्या को तैलच् प्रत्यय की सृष्टि कर सुलझाया था । पतंजलि ने तैल का सम्बन्ध तिल से न मानकर उसे स्वतन्त्र अव्युत्पन्न शब्द माना था :

तैल शब्दाच्च प्रत्ययो न वक्तव्य इति । प्रकृत्यन्तरं तैलशब्दो विकारे वर्तते । एवं च कृत्वा तिलतैलमपि सिद्धं भवति ।

—महाभाष्य ५।२।२९

कैयट ने उल्लेख किया है कि कुछ लोग तिल के विकार को ही मुख्य रूप में तैल मानते हैं । दूसरे तैल भी तिल-तैल के सादृश्य से तैल कहे जाते हैं, किन्तु भेद दिखाने के लिए इङ्गुद तैल जैसे शब्द से व्यवहृत किए जाते हैं । किन्तु कैयट इससे सहमत नहीं हैं । पतंजलि के अनुकरण पर वे तैल शब्द को रूढ शब्द ही मानते हैं :

उपमानाश्रयेणापीङ्गुदतैलमित्यादि सिध्यति । तिलविकारे मुख्यं तैलं, तत् सादृश्यादन्यदपि तैलमिङ्गुदादिभिर्विशिष्यते । गौणसंभवे च मुख्यतैलप्रतिपादनाय तिलैः विशेषणात् तिलतैलमित्यपि भवतीति केचिदाहुः ।

व्युत्पत्युपाय एव तिलतैल विकारः तैलमिति । रूढिशब्दस्त्वयं स्नेहद्रव्यवृत्तिः । —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।२।२९

प्रवीण शब्द की भी यही कहानी है । **प्रकृष्टो वीणायां प्रवीण इति व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । कौशलं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् ।**

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।२।२९

अथवा, सब शब्द सभी प्रकार के अर्थ व्यक्त करने में समर्थ हैं : **सर्वे सर्वपदादेशाः** —(महाभाष्य १।१।२०) लोकव्यवहार के आधार पर किसी शब्द का किसी विशेष अर्थ में नियम कर दिया जाता है :

सर्वार्थाभिधान शक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टेऽर्थे संव्यवहाराय नियम्यते तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति । —कैयट, महाभाष्यप्रदीप—१।१।२२

अथवा शब्दशक्ति को नियत विषय में भी वे कभी-कभी स्वीकार कर लेते हैं—

नियतविषयाःशब्दानां शक्तयो दृश्यन्ते यथा द्विदशा इत्यादौ कृत्वोऽर्थाद्यभिधानमिति । —कैयट, महाभष्यप्रदीप ५।२।२८

जहाँ लाक्षणिक या प्रतीयमान अर्थ होते हैं उन्हें वे शब्द के स्वाभाविक वृत्ति से ही समझाने की चेष्टा करते हैं :

भवति हि पदान्तरसम्बन्धेन शब्दस्यार्थान्तरे वृत्तिः यथा सिंहो माणवकः ।

—न्यास ४।१।२४

अश्रुतवाक्यार्थे च पदानां वृत्तिः दृश्यते । —कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।२।२४

अस्तु शब्द और अर्थ के नित्य संबंध की रक्षा संस्कृत के वैयाकरण किसी-न-किसी प्रकार करते आए हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कार्यदर्शन भी उनके विचार क्षेत्र के बाहर का नहीं है। इसे कैयट ने स्पष्ट कर दिया है :

यद्यपि नित्या शब्दाः तथापि शास्त्रप्रक्रियायां क्वचिदुत्पन्नस्य लोपादिद्वारेण निवृत्तिः क्रियते । क्वचिदपवादविधानेनोत्सर्गस्यानुत्पत्तिः ज्ञाप्यते । ततो निवृत्तिपक्षो नानुपपन्नः । कैयट, प्रदीप ३।१।३१

शब्द के प्रकार

महाभाष्य व्याख्याप्रपञ्च के लेखक के अनुसार भर्तृहरि ने बारह प्रकार के शब्द-भेदों का निरूपण किया था। : **भर्तृहरिणा द्वादशप्रकाराः शब्दाः निरूपिताः यौगिकाः योगरूढाश्च रूढाः ।** —परिभाषावृत्ति (पुरुषोत्तमदेव), पृ० १३५

इनमें यौगिक, योगरूढ़ आदि भेद थे। इस तरह के कोई भेद वाक्यपदीय में उपलब्ध नहीं हैं। व्याकरणदर्शन में चार भेद की चर्चा अवश्य है। वे चार भेद यौगिक रूढ, योगरूढ, और यौगिकरूढ हैं।

यौगिक शब्द वह है जो अवयवशक्ति से ही अर्थ का प्रत्यायक होता है। यौगिक शब्द के लिंग अभिधेय की तरह होते हैं। जैसे लवणं शाकम्। लवणा यवागूः। लवणः सूपः। यहाँ लवणशब्द लवण से संसृष्ट अर्थ में है। इसलिए यौगिक शब्द है : **लवणेन संसृष्टमिति संसृष्ट इति ठक् (४।४।२२), तस्य लवणा ल्लुगिति (४।४।२४) लुक् । अतएव तद्धितार्थयोगे भूतत्वात् यौगिकोत्र लवणशब्दः**

—न्यास २।४।३१

रूढ शब्द—केवल समुदाय शक्ति से अर्थप्रत्यायक रूढ हैं। रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु व्युत्पत्ति से उनके अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिन शब्दों के विग्रहवाक्य में अन्य अर्थ होते हैं और वृत्ति में अन्य वे रूढिशब्द हैं : **रूढानां हि धर्मनियमाय यथाकथंचित् व्युत्पत्तिः क्रियते । न तु व्युत्पत्तिवशेन रूढयोवतिष्ठन्ते ।**

—शृंगार प्रकाश, पृ० ६७

कैयट के अनुसार रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति असदर्थ के आधार पर नहीं की जानी चाहिए। जहाँ सदर्थ संभव हो वहाँ असदर्थ का आश्रय रूढि में भी नहीं लेना चाहिए। जहाँ किसी भी प्रकार से अर्थ का सम्बन्ध नहीं बैठ पा रहा है, वहाँ असत् अर्थ के आश्रय से व्युत्पत्ति की जा सकती है। जैसे तैलपायिका आदि शब्दों में।

—कैयट, प्रदीप ३।२।४

योगरूढ अवयवशक्ति और समुदायशक्ति दोनों के द्वारा एक अर्थ के प्रत्यायक शब्द माने जाते हैं, जैसे पंकज शब्द।

यौगिक रूढ शब्द वे कहे जाते हैं जो कभी रूढ्यर्थ की उपस्थापना करते हैं, कभी यौगिक अर्थ की। जैसे मण्डप शब्द गृहविशेष का भी बोधक है और यौगिक अर्थ के रूप में मण्ड पान करने वाले पुरुष के अर्थ में भी आता है। कुछ लोग इस भेद को नहीं स्वीकार करते।

शब्द-वृषभ

पतंजलि ने शब्द स्वरूप के प्रसंग में वृषभ का प्रतीक रखा है, जिससे शब्द के सभी अवयवों का परिज्ञान हो जाता है। वेद में आता है:—

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तास अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ।।

—ऋग्वेद ४।५८।३

इस मंत्र में चार श्रृंग, तीन पैर, दो सिर, सात हाथ, तीन स्थान पर बद्ध शब्द करते किसी वृषभ का उल्लेख है। व्याकरण के क्षेत्र में, यहाँ वृषभ, शब्दस्वरूप का प्रतीक माना जाता है और उसके अनुरूप इस मंत्र की व्याख्या पतंजलि आदि ने प्रस्तुत की है।

चार सिंग से अभिप्राय चार पदजातों से है—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। कुछ लोग कर्मप्रवचनीय को भी पदजात मानते हैं। चार पक्ष में कर्मप्रवचनीय का निपात में अन्तर्भाव समझना चाहिए। कुछ लोग केवल दो ही पदजात मानते हैं—नाम और आख्यात:

कर्मप्रवचनीया निपातेष्वेवान्तर्भूता इति चत्वार्युच्यन्ते। अन्येषां द्वे पदजाते नाम आख्यातं च।

—महाभाष्य दीपिका, पृ० १३

उपसर्गशब्देन कर्मप्रवचनीया इह गृह्यन्ते। क्रियायोगमन्तरेणापि प्रयोग-दर्शनात्।

—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख

कुछ लोग चार सिंग का अभिप्राय चार प्रकार के वाक् से मानते हैं। आचार्यों का एक ऐसा भी वर्ग था जो नाम आदि की व्याख्या वाक्-भेद के आधार पर करता था इसका उल्लेख मल्लवादि ने किया है:

न हि काचिदपि चेतना अशब्दास्ति। अनादिकालप्रवृत्तशब्दव्यापाराभ्यास-वासितत्वाद् विज्ञानस्य। चैतन्यमेव पश्यन्त्यवस्था मध्यमा वैखर्ययोरवस्थयो-रुत्थाने कारणं नामेत्युच्यते। कारणात्मकत्वात् कार्यस्य।

—द्वादशारनयचक्र, पृ० ७७८

इसका अभिप्राय यह है कि चेतना शब्दमयी ही होती है। कोई चेतना अशब्दा नहीं है। विज्ञान (चैतन्य) अनादिकाल से शब्दव्यापार के अभ्यास से, पुनः-पुनः प्रवृत्ति से, वासित होता है। चैतन्य ही पश्यन्ती-अवस्था है। वह मध्यमा और वैखरी के

उत्थान में कारण होता है। फलतः उसे नाम कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, शब्द का बाह्य रूप कार्य है। शब्द का भीतरी रूप चैतन्य है, नित्य है। तीन पैर से अभिप्राय तीन काल से है। ये काल शब्द से अभिधेय हैं। अथवा अभिधान करने वाले के ही तीन काल होते हैं।

दो सिर का अभिप्राय दो तरह के शब्द से है—नित्य और कार्य। कुछ लोगों के मत में शब्द अनित्य है और कुछ लोगों के अनुसार वह नित्य है। अथवा दो से तात्पर्य जाति और व्यक्ति से है। अथवा स्फोट और ध्वनि से है। ये तीनों अर्थ भर्तृहरि के अनुसार हैं। बाद के वैयाकरण यहाँ व्यंग्य और व्यंजक भाव मानते हैं :

तेन द्वौ शब्दौ। व्यंग्यव्यंजकौ, स्फोटनादौ।

—सूक्तिरत्नाकार, हस्तलेख

सात हाथ से तात्पर्य सात विभक्तियों से है। सु, औ, जस् आदि प्रतीकवाली सात विभक्तियाँ हैं। अथवा शेष (सम्बन्ध) के साथ छः कारक ही सात विभक्ति रूप में उल्लिखित हैं। तीन स्थान पर बद्ध से अभिप्राय ध्वनि अभिव्यक्ति के तीन स्थानों—उर, कण्ठ, सिर (मूर्धा) से है। रोरव शब्द रव का प्रतीक है। वृषभ (महादेव) शब्द रूप में मानव में अवस्थित है।

इस प्रतीक में शब्द के अन्तःस्वरूप (उरस्थ रूप), बाह्य स्वरूप (रव-ध्वनि), शब्द के व्याकरणपक्ष वाले रूप सबका एक साथ निर्देश है। साथ ही उस युग में इस तथ्य का साक्षात्कार हो चुका था कि शब्द मानव की अनुपम उपलब्धियाँ हैं। वृषभ शक्ति का प्रतीक है। शब्द शक्ति है। वृषभ सर्जन का प्रतीक है। शब्द से विकास होता है। शब्द के दो रूप हैं। शब्द कार्य है, वह कृत्रिम है, बदलता है, नष्ट होता है। शब्द नित्य है, वह सतत है, अविच्छिन्न है। उसके मूर्त (भौतिक) रूप के पीछे उसका अमूर्त (चैतन्यमय) स्वरूप छिपा है। शब्द, व्याडि के शब्दों में सिद्ध है।[३०]

शब्द एकत्ववाद और शब्द नानात्ववाद

शब्द एकत्ववाद वह मत है जिसके अनुसार अर्थभेद होने पर भी शब्द एक ही रहता है। गौ शब्द का अर्थ गाय, इन्द्रिय, किरण आदि है पर अर्थभेद के कारण शब्द भेद नहीं होता। शब्द गौ एक ही है।

नानात्ववादी दर्शन के अनुसार एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में भिन्न-भिन्न

---

३०. अयं भावः, आन्तर एवायं शब्दः कामवर्षणात् वृषभशब्दवाच्यो वहिः प्रयुज्यमानः सर्वपुरुषार्थसाधनबोधकः। स एव संप्रति संहतक्रमः, अतः प्रतिबिंबितः सर्वकर्माधिष्ठानम्, अन्तःकरण द्वारा च सुख-दुखभोक्ता। अविद्यावृतत्वेन घटस्थित दीप इव निरुद्धप्रकाशः स्वप्न इव नानाविषयान् भासयन्, प्रवृत्या पर्जन्यं इव संसारार्वां पोषयन्, निकृत्या वडवाग्निरिव दहन् सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः महादेवः वाग्योगविदः मनुष्यान् व्यक्तस्वरूपप्रकाशेन प्रविष्टः श्रवणादिपरम्परया साक्षात्कृतः, अहंकारग्रन्थिं स्वस्मिन् विलाप्य लीयत इति। तथा च साधुशब्दस्य देवत्वात् तत्प्रयोगस्य च धर्महेतुत्वात् तत् ज्ञानसाधनं व्याकरणस्मृतिरारम्भणीया। सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख।

शब्द के रूप में गृहीत होना चाहिये। गाय का बोधक गो शब्द और इन्द्रिय का बोधक गो शब्द भिन्न-भिन्न हैं। उनमें एकता का भान सादृश्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञा के बल पर होता है।

शब्द के कार्यत्व पक्ष में और नित्यत्व पक्ष में एकत्ववादी और नानात्ववादी अपने-अपने सिद्धान्त अपनाए रहते हैं।

एकत्ववादी दर्शन के अनुसार जाति-व्यक्ति-व्यवहार की संभावना नहीं है। क्योंकि जाति के बिना भी एक बुद्धि या एक प्रत्यय की प्रवृत्ति स्वयमेव हो जाया करेगी। इसलिए उनके मन में जाति-भेद-निबन्धन संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध भी नहीं है।

एकत्ववादी के अनुसार, शब्द के नित्यत्वपक्ष में, एकत्व मुख्य होता है, अर्थात् उपचार से एकता नहीं होती बल्कि स्वाभाविक रूप में होती है। कभी-कभी कारण-भेद से प्राप्त भेद में उपचरित एकत्व मानना पड़ता है किन्तु भेद में भी अभेद ज्ञान के सदा होने से प्रकल्पित एकत्व मुख्यसदृश ही है। शब्द के कार्यत्व पक्ष में भी एक वर्ण या एक पद के एक बार उच्चारण के बाद पुनः उच्चारण करने पर यह वही वर्ण है, वही पद है ऐसी बुद्धि सदा देखी जाती है। इस अभेद बुद्धि से शब्द के एकत्व की कल्पना की जाती है।

एकत्व दर्शन को ही मान कर कात्यायन ने एकत्वादकारस्यसिद्धम् (वार्तिक अइउण) कहा है। उपलब्धि के व्यवधान से वर्ण या शब्द की एकता नष्ट नहीं होती। वस्तुतः व्यवधान उपलब्धि में होता है, वर्ण में नहीं। वर्ण की अभिव्यक्ति के साधन की क्रियाशीलता से वर्ण की उपलब्धि होती है, अन्यथा नहीं होती। जैसे भिन्न देशों में स्थित द्रव्यों में एक साथ ही गृहीत सत्ता सत्ता के रूप में एक ही रहती है, अपना एकत्व नहीं छोड़ती; वैसे ही वर्ण भी भिन्न काल में उच्चरित होकर भी अभेद प्रत्यय के कारण एकत्व नहीं छोड़ पाते हैं।

नानात्ववादी दर्शन के अनुसार, शब्द के नित्यत्व या कार्यत्व पक्ष में, नानात्व मुख्य रहता है और एकत्व औपचारिक होता है। नानात्ववादी को भी औपचारिक एकत्व मानना पड़ता है। क्योंकि शाब्दव्यवहार एकत्व के बिना सिद्ध नहीं होता। एक शब्द का उच्चारण किया गया, पुनः उसी शब्द का द्वितीय बार उच्चारण किया गया। अब यदि उस शब्द के प्रथम उच्चरित स्वरूप से द्वितीय उच्चरित स्वरूप का भेद माना जाए तो अर्थ में गड़बड़ी संभव है। एक व्यक्ति जब गो शब्द कहेगा और उस गो शब्द के अर्थ को पहले से जानने वाला व्यक्ति उसका अर्थ समझ जाएगा, परन्तु किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उच्चरितत गो शब्द को वही व्यक्ति नहीं समझ पाएगा क्योंकि उसे उस अन्य व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द का संकेत ज्ञान नहीं है। अतः नानात्ववादी भी गौण-रूप में एकत्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। गो शब्द के लगभग नव अर्थ होते हैं। इन नवों अर्थों में नव तरह के गो शब्द हैं। किन्तु गो द्रव्य का बोधक गो शब्द एक ही है। इसी तरह किरण-द्रव्य का बोधक गो शब्द एक है। इसी तरह विभिन्न अर्थों के साथ उनका एकत्व लगा हुआ है। भिन्नार्थक एक पद में और भिन्न पदों में स्थित एक ही वर्ण में, नित्यत्व और कार्यत्व दोनों पक्षों में, नानात्व मुख्य है और एकत्व औपचारिक है।

एकत्व दर्शन के अनुसार विभिन्न पदों में स्थित एक वर्ण के एकत्व की हानि नहीं होती। अर्क, अश्व, अर्थ शब्द में स्थित अकार एक ही है। यद्यपि उसकी उपलब्धि काल से व्यवहित हो सकती है। भिन्न-भिन्न समय में वह सुना जा सकता है, अन्य शब्द से व्यवहित हो सकता है, ध्वनि आदि शब्द-निमित्त के अभाव में वह स्पष्ट नहीं भी सुना जा सकता है और प्रयोक्ता की देश-भिन्नता या उच्चारण वैशिष्ट्य के कारण भी वह भेद रूप में भासित हो सकता है। परन्तु है वह एक ही। जिस तरह एक ही पुरुष की शीशे या जलगत छाया निमित्तभेद से भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देती है परन्तु पुरुष एक ही है उसी तरह विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में उच्चरित एक वर्ण भी वस्तुतः एक ही है। उसके स्वरूपों में अभेद है।

इसी तरह भिन्न वाक्यों में स्थित एक पद भी अपना एकत्व नहीं छोड़ता। अक्ष शब्द जूए के अर्थ में, गाड़ी के धुरे के अर्थ में और विभीतक के अर्थ में व्यवहृत होता है। विभिन्न वाक्यों और विभिन्न अर्थों में व्यवहार किया जाता हुआ भी वह अक्ष शब्द अपने मूलरूप में एक है। कभी-कभी नाम और आख्यात पदों में भी परस्पर एकता दिखाई देती है। जैसा अक्षि, अश्व आदि। अक्षि का, नाम के रूप में, आँख अर्थ है। क्रिया के रूप में इसका अर्थ 'तुम फैलो' आदि है (अक्षत् से, अश् से और अद् से इन तीनों धातुओं से यह पद बन सकता है)। आँख के अर्थ में और फैलने के अर्थ में भी प्रयुक्त अक्षि शब्द अपना एकत्व कायम रखता है। अश्व शब्द, नाम के रूप में, घोड़ा अर्थ का वाचक है और क्रिया के रूप में अश्व का अर्थ है तुम चलो या तुम बढ़ो। (गति और वृद्धि अर्थ वाले टुओश्वि धातु के मध्यम पुरुष एकवचन का रूप अश्व है)। इसी तरह 'तेन' शब्द सर्वनाम भी है और विस्तार अर्थ वाले तनु धातु के लिट् लकार मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप में क्रिया शब्द भी है। भिन्नार्थक नाम पदों में तो कुछ मात्रा में अर्थसादृश्य संभव भी है किन्तु सदृश आकार वाले नाम और आख्यात पदों में अर्थ एक-दूसरे से अत्यन्त विलक्षण होगा। इन पदों की एकता का कारण सुनने में सादृश्य अर्थात् श्रुति अभेद है।

एकत्ववादी एक डग और आगे जाते हैं। उनके अनुसार वस्तुतः पद और वाक्य की सत्ता नहीं है। सब वर्ण ही वर्ण हैं। पद भी वर्ण ही हैं। वर्ण के अतिरिक्त पद बन नहीं सकता। क्योंकि उनके अनुसार वर्ण सावयव हैं और क्रम वाले हैं। उच्चारण के बाद उनका प्रध्वंस होता जाता है। एक साथ उनका स्वतः उच्चारण भी संभव नहीं है। ऐसे स्वभाव वाले वर्णों से कोई शब्दान्तर गठित नहीं किया जा सकता। पद नाम की कोई वस्तु नहीं बनाई जा सकती। इसलिए वर्ण मात्र पद हैं। इस दर्शन के अनुसार वर्ण की भी वर्ण रूप में सत्ता नहीं है। क्योंकि वर्ण सावयव हैं। उनके अवयव उनके अवयव क्रम से प्रवृत्त होते हैं। कुछ दूर तक इनके अवयवों का बुद्धि द्वारा अलगाव किया जा सकता है। पर उसकी भी सीमा है। इनकी १६वीं कला (अवयव) व्यवहार से परे है, एक तरह से अनिर्वचनीय है, अव्यपदेश्य है। इसलिए जब वर्ण की ही सत्ता को ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता तो पद और वाक्य की सत्ता की चर्चा तो और दूर है :

······वर्णमात्रमेव पदम् । तेषामपि सावयवत्वात् क्रमप्रवृत्तावयवानामा व्यवहारविच्छेदात्तुरीयतुरीयकं किमप्यव्यपदेश्यं रूपं व्यवहारातीतं अस्ति इति न वर्णपदे विद्येते ।

—वाक्यपदीय १।७३, हरिवृत्ति, पृष्ठ ७५

जब वर्ण का समुदाय उपर्युक्त दृष्टि से संभव नहीं है, परिच्छिन्न रूप वाली और सीमित अर्थ वाली शब्द नाम की कोई वस्तु भी नहीं है ।

नानात्ववादी मानते हैं कि पद में वर्ण नहीं होते और न वर्ण में अवयव होते हैं । वाक्य से पदों का कोई अत्यन्त अलगाव नहीं होता । वे इस बात को तो मानते हैं कि वर्ण की विवक्षाजन्य ध्वनि से अभिव्यक्त वर्ण की प्रतिपत्ति (ज्ञान) पद की विवक्षाजन्य अभिव्यक्ति की प्रतिपत्ति से विलक्षण है । क्योंकि पद में समुदाय-विषयक प्रयत्न की ज़रूरत पड़ती है, वर्ण के उच्चारण में उतनी नहीं । फिर भी तुल्य स्थान-करण आदि के कारण वर्णों की ध्वनियों में एक सादृश्य आ जाता है । फलतः वर्ण-विभाग का ज्ञान पद की प्रतिपत्ति में आभासित होता है । अर्थात् पद जिसमें कोई विभाग नहीं है, विभाग वाला जान पड़ने लगता है । वस्तुतः पद एक है । अविच्छिन्न है । नित्य है । अभेद्य है । वह अन्तिम वर्ण (तुरीय वर्ण) से मानो अभिव्यक्त होता है । वर्णों के तुरीय (वह अन्तिम अवयव जिनसे उनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाती है) कल्पित हैं क्योंकि वे व्यवहारातीत और अव्यपदेश्य हैं । इसलिए शास्त्र-व्यवहार में उनका एकत्व प्रसिद्ध है । परन्तु लौकिक व्यवहार में वाक्य का प्रयोग होता है । वाक्य-प्रतिपत्ति में उपायस्वरूप पद-प्रतिपत्ति है । वाक्य अविच्छिन्न है । निर्भाग है । वाक्य के उच्चारण करने पर वर्ण, पद आभास वाली क्रमवती जो बुद्धि पैदा होती है वह अतात्त्विक है । वाक्य में अभिधेयनिबन्धन भेद के अभाव के कारण उसमें पद, वर्ण का विवेक अवास्तविक है । संग्रहकार ने कहा है :

न हि किञ्चित्पदं नामरूपेण नियतं क्वचित् ।
पदानामर्थं रूपं च वाक्यार्थादेव जायते ॥

—संग्रह, वाक्यपदीय २।३१९ में पुण्यराज द्वारा उद्धृत
और वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति में भर्तृहरि द्वारा उद्धृत ।

शब्द के भेदाभेद दर्शन को वार्तिककार और महाभाष्यकार दोनों ने अइउण सूत्र के विवेचन में स्पष्ट किया है । कात्यायन ने एकत्वदर्शन को अपनाते हुए 'एकत्वादकारस्य सिद्धम्' यह वार्तिक लिखा है और नानात्वदर्शन को मानते हुए "आन्यभाव्यं तु कालशब्दव्यवायात्" यह दूसरा वार्तिक लिखा है ।

भाष्यकार के अनुसार अक्षरसमाम्नाय में पठित अकार, अनुवृत्ति (शास्त्र का लक्ष्य में प्रवृत्ति) में उपलब्ध अकार और धात्वादि स्थित अकार एक हैं । अ मूल वाले प्रत्यय जैसे अण्, क आदि में अनुबन्ध कार्य सांकर्य नहीं हो सकेगा क्योंकि उनमें विशेष स्थलों के लिए विशेष अनुबन्ध इसी दृष्टि से किये गये हैं कि कित् आदि के स्थान में णित् आदि कार्य न होने पावें और उदात्तादि की पहचान स्पष्ट रहे । यह आक्षेप कि जैसे एक घट से अनेक व्यक्ति एक साथ ही काम नहीं ले सकते उसी तरह वर्ण एकत्व

मानने पर एक वर्ण का उच्चारण कई व्यक्ति एक साथ नहीं कर सकते, ठीक नहीं है। जिस तरह एक ही घट के दर्शन और स्पर्श जैसे कार्य अनेक व्यक्ति भी एक साथ कर सकते हैं वैसे ही अकार आदि वर्ण का उच्चारण भी अनेक व्यक्ति युगपत् कर सकते हैं।

भाष्यकार ने नानात्व पक्ष का भी समर्थन किया है। कालव्यवधान से शब्दव्यवधान से (शब्द के व्यवधान में भी कालव्यवधान रहता है) और उदात्तादि गुणों के भिन्न-भिन्न होने से अकार को भी भिन्न-भिन्न मानना चाहिए। भिन्न होते हुए भी उसका प्रत्यभिज्ञान अत्व आदि सामान्यनिबन्धन है। अकार अश्व, अर्क, अर्थ जैसे विभिन्न पदस्थलों में एक साथ ही उपलब्ध हो जाता है। एकत्वदर्शन के अनुसार ऐसा संभव नहीं है। एक ही देवदत्त एक साथ ही सुघ्न और मथुरा में अवस्थित नहीं देखा जा सकता। अकार विभिन्न स्थलों में एक साथ देखा जाता है। अतः अनेक हैं, एक नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे एक ही सूर्य अनेक स्थानों में युगपत् देखा जाता है वैसे एक ही अकार विभिन्न पदों में युगपत् देखा जा सकता है क्योंकि एक द्रष्टा अनेक स्थानगत सूर्य को एकसाथ ही नहीं देख सकता। शब्द प्रयोगमय ध्वनि से अभिव्यक्त होता है, श्रोत्र द्वारा उसकी उपलब्धि होती है, बुद्धिद्वारा उसका ग्रहण होता है और उसका देश आकाश है। जिस तरह एक ही पृथ्वी के विभिन्न नगरों के आधार पर विभिन्न देश का व्यवहार होता है उसी तरह एक ही आकाश में विभिन्न संयोगी द्रव्यों की सीमा के कारण अनेक आकाशदेश का व्यवहार होता है। अनेक अधिकरणस्थ सूर्य की तरह अनेक अधिकरणस्थ अकार की भी युगपत् उपलब्धि नहीं हो सकती।

शब्दभेद पक्ष को मान कर भाष्यकार ने लिखा, "ग्राम शब्द के बहुत अर्थ हैं—शाला समुदाय, वाटपरिक्षेप (गाँव की रक्षा के लिए उनके चारों ओर का घेरा) "मनुष्य, और अरण्यवाला सीमावाला और जमीन वाला।" पुनः अभेद पक्ष को मानते हुए यह कहा, "जब कहा जाता है कि ये दोनों ग्राम एक में मिले हैं तो वहाँ ग्राम शब्द से तात्पर्य सारण्यक ससीमक सस्थण्डिल से है।' —महाभाष्य १।१।७

व्याकरणदर्शन दोनों पक्षों को ग्राह्य मानता है। श्रुति के अभेद से अनेकार्थत्व में भी एक शब्दत्व और अर्थभेद से एक श्रुति होने पर भी अनेक शब्दत्व मानते हैं। एक के मत में भेद औपचारिक और एकत्व मुख्य है। दूसरे के मत में एकत्व व्यावहारिक और पृथक्त्व (भेद) मुख्य है। इसी तरह अनेक शक्तियोग और एक शक्तियोग के विषय में भी विकल्प है।

भर्तृहरि ने एकत्ववाद और नानात्ववाद को वैदिक वाङ्मय में भी दिखाया है। विकृति याग में त्रयोदश (किसी के मत में एकादश) सामधेनी ऋचाएँ होती हैं। समिन्धनार्थ होने के कारण ऋचाओं को भी सामधेनी कहते हैं। इनमें प्रथम और अन्तिम ऋचाओं की तीन-तीन बार आवृत्ति की जाती है जिससे इनकी संख्या सत्रह (अथवा पन्द्रह) हो जाती है। आवृत्ति से बढ़ी हुई ऋचाओं की संख्या से स्पष्ट ही है कि आवृत ऋचाओं को विभिन्न (स्वतंत्र) माना गया है। इससे शब्दभेदवाद वेद में भी अपनाया गया जान पड़ता है। इसी तरह एक ही मंत्र विनियोग के भेद से भिन्न-भिन्न

माना जाता है जैसा कि ऊहमंत्रों में भी देखा जाता है :

साभिधेन्यन्तरं चैवमावृतावनुषज्यते ।
मन्त्राश्च विनियोगेन लभन्ते भेदमूहवत् ।।

—वाक्यपदीय २।२६०

इसी तरह सावित्री मंत्र संस्कार में दूसरा, यज्ञ में दूसरा और जप में भी भिन्न माना जाता है यद्यपि उसका स्वरूप एक ही मालूम पड़ता है :

अन्या संस्कारसावित्री कर्मण्यन्या प्रयुज्यते ।
अन्या जपप्रबन्धेषु सा त्वेकैव प्रतीयते ।।

—वाक्यपदीय २।२६३

इसके विपरीत कुछ लोग वेद-मंत्रों में अर्थ ही नहीं मानते । इसलिए उनके लिए अर्थ-भेद से शब्द-भेद की चर्चा का मूल्य नहीं है । कुछ लोग शब्द-स्वरूप को ही अर्थ मानते हैं :

अनर्थकानां पाठो वा शेषस्त्वन्यः प्रतीयते ।
शब्दस्वरूपमर्थस्तु पाठोऽन्यैरुपवर्ण्यते ।।

—वाक्यपदीय २।२६१

वाक्यपदीय में एक शब्ददर्शन में शब्दोपचार प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि-निमित्तक माना गया है और अर्थोपचार स्वरूपार्थत्व और बाह्यार्थत्व भेद से दो तरह का माना गया है । इस प्रसंग में भर्तृहरि ने शब्द के गौण-मुख्य पहलू पर भी विचार किया है क्योंकि गौण-मुख्य का स्वरूप शब्द के भेदाभेददर्शन से प्रभावित है ।

गौण-मुख्य विचार

शब्द एकत्ववादी के मत में गौण-मुख्य भाव प्रसिद्ध अप्रसिद्ध भेद पर आश्रित है । गौर्वाहीक शब्द में गौ शब्द का ही अर्थ वाहीक भी है । अन्तर इतना ही है कि गौ के अर्थ में गो शब्द अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध है और वाहीक के अर्थ में कम प्रसिद्ध है (वाक्यपदीय २।२५५) ।

यदि केवल शब्दोपचार माना जाए तो शब्द और अर्थ के संबंध में अनित्यता दोष आ जाएगा इसलिए भर्तृहरि ने अर्थोपचार भी माना है । शब्द का अर्थ दो तरह का होता है—स्वरूप और बाह्य । गौर्वाहीकः में गो शब्द का अर्थ गोत्व है । जाड्य आदि के आधार पर गोत्व वाहीक से भी जुट जाता है यही वाह्यार्थोपचार है । अन्तर केवल इतना ही है कि गौ में गोत्व मुख्य है और वाहीक में उपचरित है ।

—वाक्यपदीय २।२५७

इसी तरह शब्द का स्वरूप भी सभी अर्थों से अनुषक्त होता है । सर्वत्र शब्द का उसका अपना स्वरूप ही है । गो शब्द का अर्थ अपना गो शब्दरूप स्वरूप है । वह स्वरूप कभी गो जाति से जुटता है और कभी वाहीक जाति से । इसमें किसी की मुख्यता और किसी की गौणता प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है ।

शब्दभेदवादी (नानात्ववादी) के अनुसार गौण अर्थ व्यक्त करने वाला गौ शब्द

अन्य है और मुख्य अर्थ व्यक्त करने वाला गौ शब्द अन्य है । शब्द-भेद-वाद व्याकरण-दर्शन के एक मान्य सिद्धांत पर अवलम्बित है । व्याकरणदर्शन में शब्द और अर्थ में अध्यासलक्षण संबंध माना गया है । यदि एक शब्दवाद माना जाएगा तो एक शब्द का किसी एक अर्थ में अध्यास माना जाएगा और वह उस अर्थ से अभेद प्राप्त कर लेगा फिर एक अर्थ के साथ अभेद होकर वह किसी अन्य के साथ कैसे अध्यास प्राप्त करेगा ? अतः शब्दभेद पक्ष मानना चाहिए । महाभाष्यकार ने भेद पक्ष और अभेद पक्ष दोनों को स्वीकार किया है (**एतच्च भेदाभेदस्वाभावं दर्शनद्वयं शब्दानां भाष्यकारेण वार्तिकव्याख्यानावसरे दर्शितम्** । (पुण्यराज वाक्यपदीय २।२५९) । भेदाभेद दर्शन पर भाष्यकार के मंतव्य का ऊपर विचार किया जा चुका है ।

अनेक शब्ददर्शन के पक्ष में अर्थभेद से शब्दभेद मानने के कारण गौण अर्थ अन्य है और मुख्य अर्थ अन्य है ऐसा माना जाता है ।

गौण—मुख्यभाव के संबंध में एकशब्दवाद और अनेक शब्दवाद में एक मौलिक भेद यह भी है कि अनेक शब्दवाद के अनुसार शब्दोपचार ही उपयुक्त माना जाता है क्योंकि उसके मत में सारूप्य के कारण अभेद प्रतीत होता है, मुख्य अर्थ के अधिक प्रसिद्ध होने के कारण उसके वाचक शब्द में उपचार मानना उचित है । जबकि एकत्ववाद के अनुसार अर्थोपचार का आश्रय लिया जाता है । एकत्ववादी अर्थोपचार का आश्रय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में अनित्यतादोषके निवारण के लिये लेते हैं ।भर्तृहरि ने शब्दोपचार और अर्थोपचार दोनों का यथा अवसर आश्रय लिया है (पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२६३) ।

गौण-मुख्य भाव का निमित क्या है—गौण-मुख्य का ठीक स्वरूप क्या है इस पर भर्तृहरि ने अनेक मतों का उल्लेख किया है । कुछ प्रसिद्ध मत निम्नलिखित हैं :

अर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निधानपक्ष

इस मत के अनुसार सभी तरह के अर्थ व्यक्त करने में समर्थ शब्द का गौण-मुख्य विभाग निमित्तवश होता है । निमित्त के आधार पर वही शब्द कभी मुख्य और कभी गौण कहा जाता है । वे निमित्त, अर्थ, प्रकरण और शब्दान्तर के योग हैं । गो शब्द जैसे सास्ना लांगूल वाले व्यक्ति को व्यक्त करता है उसी तरह वाहीक को भी व्यक्त करता है । इनमें मुख्य और गौण व्यवहार प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है ।

संग्रहकार के अनुसार मुख्य शब्द और अर्थ वह है जिसके निरपेक्ष उच्चारण से भी स्वार्थ की अभिव्यवित हो ; जो शब्द अपनी अभिव्यक्ति के लिए अर्थ, प्रकरण अथवा किसी अन्य शब्द के सन्निधान की अपेक्षा रखता है, वह गौण है :

शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते ।
स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः ।।
यस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते ।
तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशिनम् ।।

—ये संग्रहकार के श्लोक हैं इसमें प्रमाण पुण्यराज हैं, वाक्यपदीय २।२६७, २६८

इसको कुछ लोग इस रूप में भी कहते हैं कि निमित्त तो मुख्य अर्थ होता है और निमित्ती गौण होता है। गो शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ सास्ना आदि वाले अर्थ को व्यक्त करने वाले गो शब्द के सम्बन्धी अर्थ को निमित्त के रूप में ग्रहण करता है इसलिए उस विषय में मुख्य अर्थ निमित्त है और निमित्ती गौण है। दूसरे शब्दों में, जहाँ शब्द की गति स्खलित नहीं होती वहाँ मुख्य अर्थ और जहाँ शब्द की स्खलद्गति होती है वहाँ गौण अर्थ होता है। यह मत अर्थोपचार पक्ष में एक शब्दवाद के अनुसार है। यहाँ शब्दभेद कल्पित समझना चाहिए क्योंकि एकशब्ददर्शन-पक्ष में शब्द-भेद संभव नहीं है।

परन्तु भर्तृहरि ने अर्थप्रकरण के आधार पर गौण मुख्य विभाग को प्रश्रय नहीं दिया है। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ का निर्णय अर्थ-प्रकरण आदि के आधार पर किया जाता है जैसे पुरा, आरात् आदि। पुरा और आरात् शब्द का क्रमशः भूत और भविष्य और कभी दूर और समीप अर्थ होता है। प्रकरण के अनुसार उसका निश्चय हो जाता है। यदि प्रकरण-सहाय अर्थ को गौण माना जाए तो पुरा आरात् में भी गौण मुख्य भाव होने लगेगा पर होता नहीं है। इसलिए अर्थ प्रकरण के आधार पर गौण-मुख्य विवेचन उतना युक्ति-युक्त नहीं है।

एकशब्दवाद और अनेकशब्दवाद दोनों पद और पदार्थ को सत्य मान कर चलते हैं। परन्तु अखण्डवाक्यवादियों के मत में पद और पदार्थ असत्य हैं। फलतः पद और पदार्थ पर आश्रित गौण मुख्य भाव भी संभव नहीं है। गौर्वाहीक यह अखण्ड वाक्य है और इससे गोगतधर्म से अवच्छिन्न वाहीक लक्षण अर्थ अखण्ड रूप में ही प्रतिपादित किया जाता है। जहाँ एक ही पद है वहाँ भी क्रिया चरित (छिपी) रहती है। इसीलिए कोऽयम् के प्रश्न में गौः (अस्ति), अश्वः (अस्ति) आदि के रूप में क्रिया छिपी रहती है। इसलिए एक अखण्ड वाक्य ही वाचक है। फिर भी अपोद्धार पद्धति का आश्रय लेकर पद-पदार्थ की कल्पना की जाती है और प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि के आधार पर गौण-मुख्य विभाग किया जाता है।

न्यूनाधिकभाव

कुछ लोग गौण-मुख्य विभाग का आधार न्यून और अधिक भाव मानते हैं। धर्मों का न्यून भाव गौणता का प्रतीक है और अधिक भाव मुख्यता का द्योतक है परन्तु भर्तृहरि के मत में यह मत अवैज्ञानिक है। क्योंकि न्यून और अधिकभाव अनवस्थित हैं। किसी धर्म का आधिक्य या प्रसिद्धि भी कभी किसी दृष्टि से न्यून हो सकती है इसलिए न्यूनाधिक भाव को गौण-मुख्य विभाग का निमित्त नहीं माना जा सकता।

सादृश्य निमित्त के रूप में

कुछ आचार्यों के मत में गौण मुख्यभाव में निमित्त सादृश्य है। वाहीक में गोत्व जाति नहीं है। फिर भी गो शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता है क्योंकि गो व्यक्ति के

जाड्य मान्द्य आदि गुणों का वाहीक गत जाड्य-मान्द्य आदि गुणो से सादृश्य है। इसी सादृश्य के आधार पर गो शब्द गोत्व रहित वाहीक के लिए भी प्रयुक्त होता है।

पुण्यराज के अनुसार यह मत भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि काश्यपप्रतिकृतिः काश्यपः जैसे स्थलों में सादृश्य निमित्त तो है परन्तु गौणता नहीं है। इसलिए सर्वत्र सादृश्य को गौण-मुख्यभाव का निमित्त नहीं माना जा सकता।

विपर्यास

गौण और मुख्य भाव के विवेचन में एक मत विपर्यास पर भी अवलम्बित है। वाहीक रूप अर्थ विपर्यास से मानो गो रूप हो जाता है। वाहीक का गो रूप होना अर्थान्तर होना है। इसलिए उसका वाचक गो शब्द गौण है। विपर्यास दो तरह से होता है—अध्यारोप रूप में और अध्यवसाय रूप में। गौर्वाहीकः इस शब्द में गो गत गुणों का वाहीक में अध्यास होता है। अतः यहाँ विपर्यास अध्यारोपित है। 'रजतं इदम्' इसमें विपर्यास अध्यवसाय रूप में है। अध्यारोप और अध्यवसाय में अन्तर यह है कि अध्यारोप में आरोप्यमाण और आरोपविषय दोनों का भेद अपह्नुत नहीं होता जबकि अध्यवसाय में आरोप्यमाण के द्वारा आरोपविषय निगीर्ण (अंतःकृत) होता है। अध्यारोप में दो वस्तुओं में भेद होते हुए भी तादूप्य की प्रतीति मुख्य प्रयोजन है जबकि अध्यवसाय में सर्वथा अभेद का परिज्ञान प्रयोजन होता है। वस्तुतः जहाँ अध्यारोप है वहाँ गौण-मुख्यभाव हो सकता है परन्तु जहाँ अध्यवसाय है वहाँ गौण-मुख्यभाव स्पष्ट नहीं होता। इसलिए केवल अध्यारोपलक्षण विपर्यास को गौणमुख्यभाव का निमित माना जा सकता है।

रूप-शक्ति

शब्द रूप और शक्ति से स्वभावतः संपन्न रहता है। औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः (मीमांसा सूत्र १।१।५) इस न्याय से भी शब्द में स्वाभाविक शक्ति निहित है। शब्द, रूप और शक्ति दोनों से उत्पत्तिकाल से ही युक्त रहता है। शब्द में अनेक शक्तियाँ हैं। इसलिए शब्द अपनी शक्ति के बल से अनेक अर्थ कर सकता है। अतएव कुछ विचारकों के मत में, गौण-मुख्य-व्यवहार रूपशक्ति निमित्तक है। सीर (हल), मुसल, खंग आदि अपने रूप और अपनी शक्ति से समन्वित होकर नियत अर्थ रखते हुए भी कभी-कभी अन्य अर्थ को प्रकट करते हैं। जैसे किसी के 'खंग लाओ' इस वाक्य से 'लड़ाई की बात आ गई है' इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति रूप-शक्ति की महिमा है। रूप-शक्ति के बल से गौण-मुख्य विभाग की प्रक्रिया यह है कि शब्द श्रवणमात्र से अपने जिस स्वाभाविक अर्थ को व्यक्त करता है वह मुख्य अर्थ है और जहाँ अभिधान शक्ति के होते हुए भी अप्रसिद्धि के कारण प्रकरण आदि के सहारे यत्नपूर्वक उसका अन्य अर्थ किया जाता है वह अर्थ गौण है :

श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादार्थ्यमवसीयते ।
मुख्यं तमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ।।

—वाक्यपदीय २।२८०

अन्नंभट्ट के अनुसार मुख्यता और गौणता क्रमशः शब्दान्तर निरपेक्ष और शब्दान्तर सापेक्ष अर्थ प्रतीति के आधार पर माननी चाहिए :

यथा अंगेषु मुखस्य प्राधान्यं तथा शब्दान्तरनिरपेक्षतया प्रतीयमानत्व-मर्थस्य प्राधान्यम् । शब्दस्यापि स्वशक्तिविषय-तादृशार्थ प्रतिपादकत्वेन मुख्यत्वम् ।

—अन्नं, भट्ट महाभाष्यप्रतीपोद्योतन, द्वितीयभाग, पृ० ३३

व्याकरण संप्रदाय के अनेक आचार्य शब्दार्थ को बौद्ध मानते हैं । उनके अनुसार शब्दों में गौण-मुख्य विभाग संभव नहीं है । वक्ता जिस अभिप्राय से शब्द का प्रयोग करता है प्रतिपत्ता को उस शब्द से उसी अर्थ का ज्ञान होगा अतः सर्वत्र शब्द मुख्य रूप में ही रहेगा कभी गौण न हो सकेगा । फलतः गौण-मुख्य विभाग भी उपयुक्त न होगा । परन्तु भर्तृहरि इस मत को प्रश्रय नहीं देते । एक तरह के दर्शन या ज्ञान होने पर भी लोक में सत्य और असत्य का भेद देखा जाता है । देखने में मृगमरीचिका में जल दिखाई पड़ता है परन्तु मृगमरीचिका जल नहीं है, चित्रों में नदी, पर्वत आदि के स्वरूप निम्न और उन्नत दिखाई देते हैं परन्तु चित्रगत उच्चता या निम्नता से प्रतिघात आदि कोई कार्यभेद नहीं होता । देश, काल, इन्द्रियगत भेद से वस्तु अन्यथा रूप में (अपने शुद्धरूप के विपरीत) दिखाई पड़ती है परन्तु लोक में क्रियाभेद के आधार पर और प्रसिद्धि के आधार पर उस वस्तु का अविपरीत (यथार्थ) रूप में ही ग्रहण होता है । वस्तुतः जो सत्य के विपरीत उपघातज ज्ञान है और जो अलौकिक ज्ञान है उन दोनों से व्यवहार नहीं होता । शब्द लोक-व्यवहार के निमित्तभूत होते हैं । इसलिए प्रसिद्धि या अप्रसिद्धि अथवा स्खलद्गति या अस्खलद्गति के आधार पर शब्दार्थ के बौद्ध होने पर भी शब्द के गौण-मुख्य-विभाग सम्भव हैं ।

गौण-मुख्यभाव मानकर ही **गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्य संप्रत्ययः** (परिभाषा वृत्ति सीरदेव १०३) यह परिभाषा प्रतिष्ठित है । **अग्ने ढक्** (४।२।३३) इस सूत्र से मुख्य अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होता है, अग्निर्माणवक जैसे उपचरित (गौण) अग्नि शब्द से नहीं होता । **अगौः गौः संपद्यते गोऽभवत्** जैसे स्थानों में गौणार्थ होने के कारण ओदन्त के निपातन होने पर भी ओत् (पा० १।१।१५) से प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती ।

वार्तिककार ने गोऽभवत् जैसे स्थलों में प्रकृतिभाव के निषेध के लिए 'ओतश्च प्रतिषेधः' 'इस तरह का प्रयत्न किया है । इससे यह जान पड़ता है कि वार्तिककार के मत में गोऽभवत् में च्व्यर्थ लक्षण गो शब्द का मुख्य अर्थ ही है । सभी अर्थ मुख्य ही होते हैं । इसलिए गौण-मुख्य-भाव विभाग सम्भव नहीं है परन्तु महाभाष्यकार ने गौण-मुख्य न्याय के आधार पर यहाँ प्रगृह्य संज्ञा का निर्देश किया है । इसी तरह अग्निषोम शब्द में स का ष तो होता है परन्तु अग्निसोमौ माणवकौ में नहीं होता क्योंकि दूसरा गौण हो गया है । महाभाष्यकार ने इसकी पुष्टि के लिए कहा है कि जैसे 'गौरनु-

बन्ध्य' से वाहीक का अनुबन्ध नहीं होता।

परन्तु यदि गौणमुख्य न्याय के आधार पर केवल मुख्य में ही शास्त्रीय कार्य होंगे, गौण में नहीं तो गौः वाहीकः तिष्ठति, गां वाहीकं आनय जैसे वाक्यों में वृद्धि और आत्व नहीं होने चाहिए क्योंकि यहाँ ये शब्द गौणार्थक हैं। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि वृद्धि और आत्व शब्दाश्रय हैं। गौणमुख्य-न्याय अर्थाश्रय में होता है। भाव यह है कि शब्दों के कार्य दो तरह के हैं। प्रातिपदिककार्य और पद-कार्य। पद कार्य में गौण मुख्य न्याय लगता है। प्रातिपदिक कार्य में नहीं लगता। क्योंकि प्रातिपदिक कल्पित अन्वयव्यतिरेक के द्वारा कल्पितरूप में अर्थवान् होते हैं। उस अवस्था में लौकिक अर्थ के अभाव होने से गौण या मुख्य किसी के न होने से रूपमात्राश्रय कार्य होते हैं। भाष्यकार के 'शब्दाश्रय' शब्द का भाव, कैयट के अनुसार, यह भी है कि शब्द कभी भी अपने अर्थ को छोड़कर अर्थान्तर में नहीं प्रवृत्त होता है यदि ऐसा होगा, शब्द-अर्थ का सम्बन्ध अनित्य हो जायगा परन्तु अर्थ अर्थान्तर में आरोपित होता है। अर्थान्तर आरोपित अर्थ के लिए गौण शब्द का व्यवहार किया जाता है। इसलिए पदाश्रय कार्यों में ही गौण-मुख्य का विचार किया जाता है।

पदाश्रयेष्वेव कार्येषु गौणमुख्यव्यवस्थाश्रयणम्

—कैयट, महाभाष्य ८।३।८३

गां वाहीकमानय जैसे स्थलों में भी जहाँ जाड्य आदि विशिष्ट गो शब्द से द्वितीया होती है, पहले कारक का क्रिया से ही अन्वय होता है बाद में कारकों का विशेषण-विशेष्य के रूप में अन्वय होता है इसलिए विभक्ति काल में गौणता की प्रतीति नहीं होती। भाष्यकार के कटं करोति भीष्मं जैसे वाक्यों में यह स्पष्ट है। अरुणाधिकरण न्याय से भी यह स्पष्ट है।

अरुणाधिकरण न्यायेन इहापि कटं करोति भीष्मं इत्यादिभाष्यानुरोधेन च कारकाणां क्रियान्वय एवं प्रथमः। पश्चात् परस्पराकांक्षायां कारकाणामेव विशेषणविशेष्यभावेन अन्वयः इति विभक्तिकाले न गौणत्वप्रतीतिरित्यर्थः।

अन्नंभट्ट, महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, द्वितीय भाग, पृ० ३५

नागेश के अनुसार 'अमहान् महा संपद्यते महद्भूतश्चन्द्रमा' में महत् शब्द शास्त्रीय प्रक्रिया में कल्पित रूप में ही अर्थवान् है परन्तु पुण्यराज महत् शब्द को मुख्य अर्थ में ही मानते हैं (वाक्यपदीय २।२८१)।

पुरुषोत्तमदेव के अनुसार लक्ष्य के अनुसार मुख्य और गौण दोनों का आश्रय शास्त्रीय प्रक्रिया में लिया जाता है। गौण का आश्रय लेकर शीत और उष्ण शब्द से कन् प्रत्यय होता है जिससे शीतक (आलसी) और उष्णक (दक्ष) शब्द बनते हैं (परिभाषा वृत्ति, पृष्ठ ४)।

साहित्यमीमांसकों ने गौः वाहीकः में समानाधिकरण्य लाने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया है। मम्मट ने इस सम्बन्ध में तीन तरह के मत व्यक्त किए हैं। कुछ लोग मानते हैं कि गो शब्द ही वाहीक अर्थ का अभिधान करता है। इसमें प्रवृत्ति निमित्त जाड्यमान्द्य आदि गुण हैं जो गोत्व अथवा गो व्यक्ति के सहचारी हैं

और जो स्वयं लक्ष्यमाण हैं। भास्करसूरि ने इस मत में तीन दोष दिखाए हैं—प्रवृत्तिनिमित्त का लक्ष्यमाण होना, व्यधिकरणत्व और गो शब्द का सांकेतिक अर्थ को व्यक्त करना।

अस्मिन् पक्षे प्रवृत्तिनिमित्तस्य लक्ष्यमाणत्वं, व्यधिकरणत्वं शब्दस्यासंकेतित वाहीकार्थाभिधायकत्वं चेति त्रितयमप्ययुक्तम्।

—साहित्यदीपिका, काव्यप्रकाश की टीका, मैनुस्क्रिप्ट, पृ० १६

दूसरे मत में स्वार्थ सहचारी जाड्यमान्द्य आदि गुणों से अभेद होने के कारण परार्थगत (वाहीकगत) गुण ही लक्षित होते हैं न कि परार्थ का अभिधान होता है। इस मत में भास्करसूरि के अनुसार सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति और गौः जाड्यं अभीप्सित की अभिव्यक्ति में ये दो दोष हैं:

अत्र पक्षे लक्षकस्य गोशब्दार्थस्य लक्ष्यस्य वाहीकगतजाड्यादेः संबंधो दुर्घटः। तथाहि न तावद् गुणैक्यम्। तच्च तुल्यगुणत्वं वा तुल्यगुणवत्वं वा। तुल्यगुणत्वं लक्षके न घटते। तुल्यगुणवत्वं लक्ष्ये न घटते। किं च जाड्यादि-गुणमात्रप्रतीतौ गौ जाड्यमिति स्यात्।

—साहित्यदीपिका, मनुस्क्रीप्ट, पृष्ठ १६

तीसरे मत के अनुसार साधारण गुण के आश्रय से परार्थ ही लक्षित होता है न कि परार्थगत गुण। इस मत में पूर्वोक्त दोष नहीं है।

गौण और मुख्य के प्रसंग में भर्तृहरि ने मुख्य और नान्तरीयक का भी विचार किया है। जिसके प्रतिपादन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है वह उसका प्रयोजकमुख्य है। उस अर्थ के प्रतिपादन के समय उसके अतिरिक्त जो कुछ अन्य का भी बोध हो जाता है उसे मुख्य का नान्तरीयक कहते हैं।[31] किसी विशेष वस्तु के देखने के लिये दीप का आश्रय लिया जाता है परन्तु उस वस्तु के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु भी दीप के प्रकाश में दिखाई देती है। अग्नि के लिए अरणी का मन्थन किया जाता है पर आग के अतिरिक्त उसमें से अनपेक्षित धूम भी निकल उठता है। ऐसी ही शब्दों की भी कथा है। शब्द अपने अर्थ के अतिरिक्त लिंग, संख्या आदि को भी व्यक्त करते हैं। लिंग, संख्या आदि शब्द के साथ अत्यन्त संसृष्ट रहते हैं इसलिए न चाहते हुए भी नान्तरीयक रूप में इनकी अभिव्यक्ति होती है। कहीं लिंग, संख्या, काल आदि की विवक्षा रहती है और कहीं अविवक्षा। कहीं इनका उपयोग परार्थ के लिये होता है:

…लिंगसंख्याकालानामविवक्षा, क्वचिच्च विवक्षेति लक्षणव्यवस्थापनं तर्का-धीनम्। तथा च नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत् इति कालोपलक्षणार्थं नक्षत्र

---

३१. कैयट ने नान्तरीय शब्द पर यों टिप्पणी है—

अन्तर शब्दो महादिषु पठ्यते, स च विनार्थे वर्तते। अन्तरे भवं अन्तरीयम्। तत्र नञ् समासे कृते पृषोदरादित्वात् भाष्यकारवचनप्रामाण्याद्वा नलोपाभावः। ततः स्वार्थे कन् प्रत्ययः।

(कैयट, महाभाष्य ३।३।१८)

दर्शनं तत् । प्रधानस्यान्यथासिद्धौ परार्थत्वात् दृश्यमानेषु ज्योतिःषु काल-विशेषे परिच्छेदे सति तत् क्रियते ।

—वाक्यपदीय १।१३७ हरिवृत्ति

अविवक्षा और पारार्थ्य में अंतर यह है कि अविवक्षा में नान्तरीयक शब्दोपात्त का उपादान होता है, उसका कोई उपयोग नहीं होता जबकि पारार्थ्य में वह दूसरे का उपलक्षण होता है। (वृषभ, वाक्यपदीय १।१३७, पृष्ठ १२२)

मुख्य और नान्तरीयक के सम्बन्ध में चार प्रकार के विभाग वाक्यपदीय में व्यवहृत हैं : (१) गुण प्रधानता विपर्यय, (२) पदार्थैकदेशविवक्षा, (३) सकल पदार्थ अविवक्षा और (४) उपात्तपदार्थ के अपरित्याग से अन्य अर्थ का उपलक्षण ।

गुणप्रधानता विपर्यय वहाँ माना जाता है जहाँ गुण-प्रधानभाव की अविवक्षा रहती है। फलतः लिंग, पुरुष आदि का विपर्यय आवश्यकतानुसार कर लिया जाता है। तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४।४।२) में दिव्यति का निर्देश एकवचन में, एकसंख्यक और वर्त्तमान काल में किया गया है। अतः इस आधार पर द्विवचन और बहुवचन में तथा भूत-भविष्य काल में प्रत्यय नहीं होना चाहिए। साथ ही दिव्यति में प्रथमपुरुष के द्वारा अर्थ निर्दिष्ट है, फलतः 'शालाकिकः अस्मि', 'आक्षिकः असि' आदि उत्तम तथा मध्यम पुरुष के साथ तद्धित प्रत्यय नहीं होना चाहिए। आख्यात के क्रिया-प्रधान होने के कारण दिव्यति में क्रिया प्रधान है और कर्त्ता गुणीभूत है। आक्षिक आदि तद्धित में कर्ता प्रधान है और क्रिया गुणीभूत है। परन्तु 'दिव्यति' के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारथ तद्धित में भी क्रिया ही प्रधान होनी चाहिए। इन सब आपत्तियों को दूर करने के लिए मान लिया जाता है कि दिव्यति के प्रत्ययार्थ में संख्या काल आदि की अविवक्षा है।[३२] किसी-न-किसी संख्या द्वारा तथा किसी-न-किसी काल द्वारा निर्देश अनिवार्य है। फलतः संख्या, काल आदि नान्तरीयक हैं। नान्तरीयक रूप में वे यहाँ अविवक्षित हैं। फलतः द्विवचन, बहुवचन तथा भूत-भविष्य अर्थ में भी प्रत्यय होता है। आख्यात के क्रियाप्रधान होते हुए भी तद्धित साधनप्रधान स्वभावतः होता है अर्थात् स्वभावतः गुण-प्रधानभाव का विपर्यय हो जाता है। आख्यात में क्रिया प्रधान थी, साधन (कर्ता) गौण था। तद्धित में कर्ता प्रधान है, क्रिया गौण है। यही गुण प्रधानता विपर्यय है।

आख्यात तद्धितार्थस्य यत् किञ्चिदुपदर्शकम् ।
गुणप्रधानभावस्य तत्र दृष्टो विपर्ययः ।

—वाक्यपदीय २।३०८

जहाँ लिंग संख्या आदि का सान्निध्य अविवक्षित रहता है, लिंग और संख्या प्रयोजक नहीं होते, वहाँ पदार्थैकदेश-अविवक्षा मानी जाती है। तस्यापत्यम्

---

३२. वृषभ ने यहाँ काल की विवक्षा मानी है 'तेन दिव्यति खनति जयति जितम् इति कालस्य विवक्षा' (वाक्यपदीय १।१३७)
परन्तु जयादित्य, न्यासकार, पदमंजरीकार सभी अविवक्षा मानते हैं।

(४।१।६२), भावे (३।३।१८) जैसे स्थलों में पुंलिग द्वारा निर्देश किया गया है। अतः नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग से प्रत्यय नहीं होना चाहिए। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि यहाँ लिंग और संख्या नान्तरीयक हैं, अतः अविवक्षित है। जिस तरह अन्न की कामना से कोई व्यक्ति 'तुष और पलाल सहित शालि लाता है पुनः उसमें से अन्नादि जो कुछ लेने योग्य होता है उसे लेता है। शेष को छोड़ देता है। अथवा जिस तरह मांसार्थी शकल और कण्टक सहित मत्स्य लाता है क्योंकि शकल और कंटक नान्तरीयक हैं पुनः लेने योग्य अंश को लेकर शकल-कंटक आदि को फेंक देता है उसी तरह शब्द-शास्त्र में भी तद्धितार्थ निर्देश आदि में तद्धितार्थ का तो ग्रहण किया जाता है और नान्तरीयक रूप में व्यक्त लिंग और संख्या को छोड़ दिया जाता है। वे विवक्षित नहीं होते। इसी को पुण्यराज ने 'पदार्थैकदेशाविवक्षा' कहा है।

कैयट के अनुसार कहीं-कहीं संख्या विवक्षित होती है जैसे सुप्सुपा में :—

सर्वत्रैव हि शास्त्रेऽस्मिन् नान्तरीयकत्वादुपात्तं लिंगसख्यं न विवक्ष्यते। क्वचित् संख्या विवक्ष्यते यथा सुप्सुपेति।

—कैयट महाभाष्य ४।१।९२

सकलपदार्थ अविवक्षा वहाँ होती है जहाँ शब्द के द्वारा उपात्त पदार्थ का त्याग कर दिया जाता है और अनुपात्त अर्थ गृहीत होता है। जैसे तस्यादित उदात्तमर्द्धह्रस्वम् (१।२।३२) में अर्द्धह्रस्व शब्द। अर्द्ध ह्रस्व का अर्थ तो होना चाहिए ह्रस्व का आधा। पर इस अर्थ के लेने पर दीर्घ और स्वरित के अर्द्धमात्रा का ग्रहण नहीं होगा, परन्तु होना चाहिए। इसलिए अर्द्ध ह्रस्व शब्द का अर्थ अर्धमात्रा कर दिया जाता है। यहाँ ह्रस्व शब्द उपलक्षण है दीर्घ और स्वरित का भी : **अर्द्ध ह्रस्वमित्यनेन अर्द्धमात्रा लक्ष्यते, ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्।**

—काशिका १।२।३२

कुछ लोग ऊकालो ज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१।२।२७) में ह्रस्व दीर्घ और प्लुत के एक साथ निर्देश होने के कारण ह्रस्व शब्द से दीर्घ और प्लुत भी लक्षित हैं ऐसा मानते हैं। कुछ लोगों के अनुसार अर्द्ध ह्रस्व प्रमाण के अर्थ में रूढ़ि शब्द है। निरवयव है :

अर्द्धह्रस्व शब्दः प्रमाणवाची रूढिशब्दः। व्युत्पत्त्यर्थं च ह्रस्वस्योपादानम्। अर्द्धमात्रात्वनेनाभिधीयते।

—कैयट, महाभाष्य १।२।३२

उपात्त पदार्थ के अपरित्याग द्वारा अन्य अर्थ का उपलक्षण भी मुख्य और नान्तरीयक का एक प्रकार है। जब कोई कहता है 'अभी बहुत चलना है, सूर्य को देखो' तो उसका उद्देश्य दिन के अल्प शेष भाग को दिखाना रहता है। ऐसे स्थलों में प्रधान अर्थ ही अन्य अर्थ का उपलक्षण हो जाता है। इसी तरह 'काक से दधि की रक्षा करो' इस वाक्य का काक शब्द अन्य जीवों जैसे, कुत्ते आदि का भी उपलक्षण है। शास्त्र में भी 'विध्यत्यधनुषा' इस वाक्य में अधनुषा पद से करणसामान्य मात्र का निर्देश माना जाता है। 'भोजनमस्योपाद्यताम्' इस वाक्य के कहने पर नान्तरीयक के रूप में आसनदान, पात्र प्रक्षालन, आदि भोजन के अंग के रूप में भासित

होते ही है।

पुण्यराज के अनुसार सकलपदार्थ अविवक्षा और उपात्तपदार्थ के अपरित्याग द्वारा अन्य अर्थ का उपलक्षण ये दो मुख्य-नान्तरीयक के विभाग अविवक्षित-वाच्यलक्षणा (ध्वनि) और विवक्षितान्यपरवाच्य लक्षणा (ध्वनि) के सूचक हैं—

—वाक्यपदीय २।३१५

मुख्य और गौण संबंधी उपर्युक्त मतों में पुण्यराज ने निम्नलिखित चार को अधिक महत्व दिया था :

१. प्रसिद्ध-अप्रसिद्धि सहित प्रकरणादि।
२. प्रकरणादि सहित प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि।
३. अध्यारोपलक्षण विपर्यास।
४. रूपशक्ति।

भर्तृहरि-दर्शन में शब्द अनेकधर्मा है, सर्वशक्तिमान् है। एक ही गो शब्द कभी जाति-विशेष का अभिधायी होता है, जैसे 'गौरनुबन्ध्य' में और कभी जातिविशिष्ट द्रव्य का अभिधायक होता है जैसे गौः आनीयताम् में। कुछ लोग इसे केवल जातिमात्र का वाचक मानते हैं। कभी गौः शब्द परिच्छिन्न द्रव्य-विशेष के लिए प्रयुक्त होता है जैसे 'अस्त्यत्र कांचिद् गां पश्यसि' में। कहीं रूढ सम्बन्धों में क्रिया गुणों में गो शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे जाड्य के कारण, अथवा उच्छिष्ट (भोजन के कारण) अथवा सब कुछ सह लेने के कारण अथवा बहुत अधिक भोजन करने के कारण वाहीक को गौः कहा जाता है। इस तरह गो शब्द सर्वशक्तिमान् है। उसका सामर्थ्य दूसरे निमित्तों के कारण नियंत्रित होता है। इसलिए गौणभाव प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि पर निर्भर करता है। शब्द सुनने मात्र से ही जिस अर्थ में वह अवरुद्ध हो जाता है, किसी दूसरे शब्द से वाच्य प्रसिद्ध अर्थान्तर को नहीं समेटता, वह मुख्य माना जाता है।

जहाँ शब्दान्तर से अभिधेय अर्थान्तर का अवलम्बन कर लोक में अर्थ गृहीत होता है वहाँ गौण माना जाता है।[33]

---

३३. एक एवायं गोशब्दो वाक्ये क्वचिज्जातिविशेषाभिधायी,
तद् यथा 'गौरनुबन्ध्य' इति। क्वचिज्जात्युपसर्जने
द्रव्यमात्रे वर्तते। तद् यथा 'गौरानीयताम्' गौः दुह्यतामिति।
केचिदत्र जातिमात्राभिधायित्वं मन्यन्ते। तद् यथा......क्वचिद्
गोशब्दः परिच्छिन्न एव द्रव्यविशेषे वर्तते। तद् यथा
अस्त्यत्र कांचिद् गां पश्यसीति महति गोमंडले आसीनं यदा
गोपालकं पृच्छसो (ती) ति। क्वचित्तु रूढ़ि सम्बन्धेषु क्रियागुणेषु
गोशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते। तद् यथा जाड्याद् औच्छिष्ट्यात (?)
सर्वसहत्वात् महाशनत्वाद् वा गौर्वाहीक इति।
तस्य शर्वशक्तेः गोशब्दस्य निमित्तान्तरादवच्छिद्यमान
सामर्थ्यस्य प्रसिध्यप्रसिद्धिभ्यां गौणत्वं विज्ञायते।
......वाक्यपदीय २।२५५ हरिवृत्ति, हस्तलेख; शृंगार प्रकाश पृ० ३५८ में भी उपलब्ध।

किसी आचार्य के मत में शब्द की वृत्ति स्व विषय में, मुख्य में होती है। मुख्य से अन्यत्र नहीं होती। केवल रूपान्तर का अध्यारोप अर्थान्तर में किया जाता है। और इसका आधार बुद्धि का विपर्यास है। जैसे संमोह अथवा भ्रम से रज्जु में सर्प के विपर्यास हो जाने पर सर्प शब्द स्वविषय में (मुख्य विषय में) प्रयुक्त होता है। इसी तरह से भूतकाल में देखे गये किसी धर्म के सादृश्यता से, अथवा भविष्य में होने वाले भूत संस्पर्शी किसी धर्म से बुद्धि में विषर्यास हो जाने से वाहीक में गोत्व लाकर सास्नावाले गो पिण्ड में ही गो शब्द का प्रयोग करता है। यहाँ केवल अर्थ रूप मात्र विपर्यास है। शब्द का अपने मुख्य विषय में व्यभिचार नहीं है।[३४]

महाभाष्यकार ने भी ताद्रूप्य का समर्थन किया है। जैसे तस्य इदं में सम्बन्ध होता है वैसे ही सः अयम् के रूप में भी सम्बन्ध होता है। 'यह वह है' सम्बन्ध चार प्रकार से होता है—तात्स्थ्य से, ताद्धर्म्य से, तत् सामीप्य से और तत् साहचर्य से। महाभाष्य में इन चारों का उदाहरण दिया है :

तात्स्थ्यात्-मंचा हसन्ति। गिरिः दह्यते।

ताद्धर्म्यात्-जटिनं पीनं ब्रह्मदत्त इत्याह।

तत्सामीप्यात्-गंगायां घोषः। कूपेगर्गकुलम्।

तत् साहचार्यत् कुन्तान् प्रवेशय। यष्टीः प्रवेशय।[३५]

महाभाष्यकार की यह उक्ति लक्षणा शक्ति का बीज है। यहीं से लक्षण का विकास हुआ है। भर्तृमित्र ने महाभाष्यकार की इस उक्ति के आधार पर पाँच प्रकार की लक्षणा का उल्लेख किया था :

अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रिया योगात् लक्षणा पंचधा मता।

—ध्वन्यालोक लोचन में उद्धत पृ०, २८

उपचार के रूप में भी लक्षणा के संकेत महाभाष्य में मिल जाते हैं :

युवत्वं लोके ईप्सितं पूजेत्युपचर्यते[३६]

लोके हि संख्यां पवर्तमानामुपचरन्ति[३७]

---

३४. एकेषाभाचार्याणां मुख्यात् स्वविषयादन्यत्र शब्दस्य वृत्तिः नास्ति। रूपान्तराध्यारोपस्तु अर्थान्तरे क्रियते। यथैवैकः संमोहात् रज्जुद्रव्ये प्राप्तविपर्यासः सर्पशब्दं स्व विषये प्रयुंक्ते। विषयान्तरे तु विषयान्तर—रूपमध्यारोपयति। तथा कस्यचिदेव सदृश्य धर्मस्य भूतस्य दर्शनात् भाविनो वा भूतपदासंगात् गोत्वभासाद्य (आसज्य) वाहीके प्राप्त रूपविपर्यासां बुद्धौ गोशब्दं सास्नादिमत्येव पिण्डे प्रयुंक्ते। तत्रार्थरूपमात्रविपर्यासः। शब्दस्य तु विषये व्यभिचारो व दृश्यते वाक्यपदीय २।२५९ हरिवृत्ति, हस्तलेख। शृंगार प्रकाश, पृ०३५९ में भी उपलब्ध है।

३५. महाभाष्य ४।१।४८

३६. महाभाष्य ४।१।१६३

३७. महाभाष्य ४।१।९३

इस पर नागेश की टिप्पणी है :

उपचरन्तीत्यनेन लक्षणाबीजसम्बन्ध प्रदर्शनम् ।[३८]

लक्षणा शब्द का मूल भी महाभाष्य में मिल जाता है और वह है महाभाष्य-कार का 'लक्ष्यते', शब्द का प्रयोग —**त्रैकाल्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते महाभाष्य** ३।१।६६

मुख्य और गौण के आधार पर मुख्य वृत्ति और गौणी वृत्ति का शब्द-शक्ति के रूप में विचार आरम्भ हुआ । मुख के आधार पर मुख्य और जघन के आधार पर जघन्या वृत्ति की कल्पना बहुत पहले की जा चुकी थी । जघन्या शब्द का प्रचलन कम पड़ता गया और उपचार शब्द का ही प्रचार दर्शन के क्षेत्र में अधिक रहा । धीरे-धीरे गुण शब्द उपचार का स्थान लेता गया । आरम्भ में गुणा-कल्पना और उपचार-कल्पना समानार्थक थे । काशिका वृत्ति में गुण-कल्पना का प्रयोग उपचार-कल्पना के रूप में हुआ है :

द्विगु निमित्तको तर्हि गुणकल्पनया...

—काशिका वृत्ति ४।१।८८

न्यासकार ने यहाँ गुण-कल्पना को उपचार-कल्पना माना है :

गुणनिमित्ता कल्पना गुणनिमित्तकल्पना । सा पुनरुपचारात्मिकैव वेदितव्या

—न्यास ४।१।८८

किंतु बाद में गुण-कल्पना और उपचार-कल्पना में थोड़ा भेद माना जाने लगा । गुण-कल्पना का संबंध विशेष्य से और उपचार-कल्पना का संबंध विशेषण से होता है । गुणवृत्ति का अंतर्भाव उपचारवृत्ति में नहीं होता किंतु उपचारवृत्ति का अंतर्भाव गुण-वृत्ति में हो जाता है ।[३९] इसी तरह लक्षणा और उपचार शब्द के भी प्रयोग प्रारम्भ में समानार्थक रूप में देखे जाते हैं ।

जयादित्य और वामन ने लक्षणा और उपचार के समानार्थक प्रयोग किए हैं :

यदा तु लक्षणया वर्तते तदा पुरुषेण समानाधिकरण्यं भवति

काशिका ५।२।२२

न्यासकार के अनुसार यहाँ लक्षणा का अर्थ उपचार है—लक्षणा उपचारः—न्यास ५।२।२२ । न्यासकार ने अन्यत्र भी लक्षणा को उपचार के रूप में लिया है ।

लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा । सा पुनरिहोपचार एव ।

—न्यास ४।१।८८, पृ० ८८४

कुमारिल भट्ट ने लक्षणावृत्ति और गौणीवृत्ति में भेद माना है । अभिधेय से संबंध में प्रवृत्ति को लक्षणा कहा जाता है, अभिधेय से लक्ष्य गुण के योग से गौणी वृत्ति होती है ।

---

३८. महाभाष्य प्रदीपोद्योत ४।१।९३

३९. तथाहि विशेष्येषु गुणकल्पना, विशेषणेषूपचारकल्पनेति प्रदर्शितं पुरस्तात् । न च गुणवृत्तिरुपचारवृत्तावन्तर्भवति, अपितूपचारवृत्तिः गुणवृत्तौ-शृंगार प्रकाश, पृ० ३५८ मैसूर संस्करण ।

अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।।[४०]
अभिधेयसम्बन्धित्वरूपापरित्यागप्रदर्शनार्थोऽविनाभूतशब्दः

—न्यायसुधा, पृ० ४६५

अभिनवगुप्त ने भी लक्षणा और गौणीवृत्ति में भेदसूचक वक्तव्य उद्धृत किया है :

यदाह-गौणे शब्दप्रयोगः, न लक्षणायामिति।[४१] कैयट ने भी गौणीवृत्ति का आश्रय लिया है (गौणीवत्तिश्छत्रशब्दस्याश्रयणीया—प्रदीप ४।४।६२) किन्तु अधिकतर इनको एक मानकर विशेष विचार हुआ है। न्यायसूत्रकार ने लक्षणा को भी उपचार रूप में लिया है।[४२]

व्याकरणदर्शन में अखण्ड वाक्यार्थ की महत्ता होने के कारण लक्षणा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की गई है किन्तु कल्पित पद-पदार्थ विचार के अवसर पर उसके स्वरूप के संकेत अवश्य मिलते हैं जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। नागेश ने लक्षणा पर विस्तृत रूप में विचार किया है। किंतु वह साहित्यशास्त्र की छाया से संस्पृष्ट है। भर्तृहरि ने मुख्यावृत्ति और गौणीवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है।[४३]

भर्तृहरि ने नानात्व वाद के प्रसंग में प्रतीयमान शब्द और प्रतीयमान अर्थ का संकेत किया है। प्रतीयमान अर्थ ही आनन्दवर्धन का 'ध्वनि-सिद्धान्त' है जिसके सहारे व्यंजनावृत्ति पल्लवित हुई है। कुछ आचार्यों का मत था कि श्रूयमाण शब्द ही सदा प्रत्यायक नहीं होता, अनुमीयमान शब्द भी प्रत्यायक होता है।

केचित्तु मन्यन्ते नावश्यं श्रूयमाण एव शब्दः प्रत्यायकः। किं तर्हि। नियमेनानुमीयमानोऽपि श्रूयमाणवदेव प्रत्ययमुत्पादयति।[४४]

अनुमीयमान शब्द का भाई प्रतीयमान शब्द है। किसी ने विप्रतिपत्ति उठाई थी कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक नहीं हो सकता।[४५] इससे स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त का बीज व्याकरणदर्शन में मिल जाता है। केवल प्रतीयमान अर्थ का ही नहीं, आनन्दवर्धन के अविवक्षित वाच्य आदि वादों का भी मूल भर्तृहरि के वचन हैं। भर्तृहरि ने प्रश्न उठाया है कि शब्द के प्रयोग होते हुए भी अर्थ अविवक्षित कैसे रह सकता है? स्वयं उसका उत्तर घटप्रदीप न्याय के आधार पर दिया है। दीपक का उपयोग घट आदि द्रष्टव्य वस्तु के लिए किया जाता है। दीपक घट के साथ-साथ

---

४०. तंत्रवार्तिक, पृ० ३१८, काव्यप्रकाश में 'अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिः' पाठ मिलता है जो अशुद्ध है।

४१. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १५३, चौखम्बा संस्करण

४२. न्यायसूत्र २।२।६३

४३. वाटपरिच्छेपेऽस्य मुख्यावृत्तिः। पुरुषादिषु तु गौणी।

—महाभाष्यत्रिपादी, पृ० १३८, पूना संस्करण।

४४. वाक्यपदीय २।३६२ हरिवृत्ति, हस्तलेख.

४५. कथं प्रतीयमानः स्याच्छब्दोऽर्थस्याभिधायकः। —वाक्यपदीय २।३६३

सन्निहित तृण, कीट आदि को भी व्यक्त कर देता है। प्रकाशन शक्ति केवल ईप्सित का ही अभिव्यंजक नहीं है। किंतु सभी अभिव्यक्त इष्ट नहीं भी हो सकते हैं। अविवक्षित अर्थ का यही आधार है :

> **तत्रेदं विचार्यते । कथमभिधीयमानोऽर्थः शब्दवान् अविवक्षित इति। तस्मादिदं प्रक्रम्यते। प्रदीपो हि प्रकाशनशक्त्या युक्तः तमसि यस्य प्रकाशयितव्यस्य घटादेरुपलिप्सितस्य अर्थस्य दर्शनार्थमुपादीयते। ततोऽसौ अर्थान्तरस्यापि संयोगिनः समानदेशस्य तृणपांसुकीटसरीसृपादेः घटादिवदेव प्रकाशनं करोति। न ह्यत्र प्रकाशनशक्तिरिष्टविषयमेव परिगृह्णाति।**[४६]

यह उल्लेखनीय है कि आनन्दवर्धन ने भी वाच्य और प्रतीयमान के प्रसंग में दीपशिखा का उदाहरण दिया है।[४७]

४६. वाक्यपदीय २।३०० हरिवृत्ति, हस्तलेख.

४७. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।

—ध्वन्यालोक १

३

पदार्थ-विचार

अपने देश के विचारकों विशेषकर वैयाकरणों की यह मान्यता रही है कि पदार्थ सत्ता के निर्देशक हैं (**न पदार्थः सतां व्यभिचरति**—महाभाष्य ५।२।९४)। शब्द-प्रयोग सत्तापेक्ष ही होता है। भर्तृहरि भी इस बात को मानते हैं कि सभी शब्दों की प्रवृत्ति में मूल कारण सत्ता है।[1] अतः शब्द के आधार पर भी अभिधेय का विवेचन किया जा सकता है। अभिधेय के रूप में सम्पूर्ण विश्व ही है। इसके विवेचन के लिये पदार्थों का वर्गीकरण किया जाता है। वैयाकरणों ने शब्द की प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थों का उल्लेख किया है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। और इसी के अनुसार शब्द-प्रवृत्ति भी चार तरह की मान ली गई है जाति-शब्द, गुण-शब्द, क्रिया-शब्द और द्रव्य-शब्द (यदृच्छा शब्द)। ये चार भेद प्रायः स्वीकृत हैं। वस्तुतः शब्द-प्रवृत्ति के वर्गीकरण के विषय में विवाद है और वह प्राचीनकाल से ही है। जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार, निरुक्तकार और शाकटायन त्रयीशब्द प्रवृत्ति को मानने वाले हैं। उनके मत में जाति-शब्द, गुण-शब्द और क्रिया शब्द हैं। यदृच्छा शब्द नहीं हैं। कुछ लोग केवल क्रिया-शब्द मानते हैं। जाति-शब्द और गुण-शब्द भी क्रिया-शब्द से ही विकसित हुए हैं। अतः शब्दों की प्रवृत्ति एक ही है और वह है क्रिया-शब्द।

> **तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाश्च। न सन्ति यदृच्छा शब्दा इति।** अथवा
> **जातिगुणशब्दानामपि क्रियाशब्दत्वमेव। धातुजत्वात्। ततश्चैकैव शब्दानां प्रवृत्तिः क्रियाशब्दा इति।** —न्यास ३।३।१, पृष्ठ ६७४

कुछ आचार्य केवल जाति शब्द ही मानते हैं। उनके मत में तथा कथित गुण शब्द, क्रिया शब्द और यदृच्छा शब्द भी जाति शब्द ही हैं। क्योंकि पय, शंख, बलाका आदि में परमार्थतः भिन्न रूप में स्थित शुक्ल गुण का शुक्ल रूप में ज्ञान शुक्लत्व के आधार पर होता है। गुड़, तण्डुल आदि की पाक-क्रिया में भी पाकत्व सामान्य है। यदृच्छा शब्द डित्थ आदि में भी डित्थत्व है। शब्द की दृष्टि से बाल, वृद्ध, शुक

---

१. प्रवृत्तिहेतुं सर्वेषां शब्दानामौपचारिकीम्।
एतां सत्तां पदार्थो हि न कश्चिदतिवर्तते ॥
—वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ५०

आदि के द्वारा विभिन्न रूप में उच्चरित डित्थ शब्द में अनुगताकार प्रत्यय डित्थत्व के सहारे ही संभव है। अर्थ की दृष्टि से भी उसमें डित्थत्व बाल, वृद्ध आदि अवस्था भेद से भेद होते हुए भी 'यह वही डित्थ है' इस प्रकार के ज्ञान होने के कारण सर्वथा संभव है। इसलिये सभी प्रकार के शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त जाति को ही मानना चाहिये। इस दृष्टि से महाभाष्य का चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति वाला मत ठीक नहीं बैठता। अतः महाभाष्यकार के समर्थक केवल जाति शब्दवादियों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि गुण-शब्द, क्रियाशब्द आदि का ग्रहण जातिशब्द के रूप में नहीं किया जा सकता। क्योंकि पय, शंख, बलाका आदि का शुक्ल गुण परमार्थतः भिन्न-भिन्न नहीं है। उनमें भिन्नता आश्रयभेद से जान पड़ती है जैसे एक ही मुख का प्रतिबिम्ब खड्ग, मुकुर आदि आश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न जान पड़ता है। वस्तुतः शुक्ल गुण एक ही है। शुक्ल व्यक्ति के एक ही होने के कारण अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का लक्षण गुण शब्दों में घट ही नहीं सकता। इसी तरह क्रिया भी आश्रयभेद से भिन्न-भिन्न जान पड़ती है। वस्तुतः वह भी एक ही है। इसलिये केवल जाति शब्द न मान कर भाष्योक्त मत स्वीकार करना चाहिए।

गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयी शब्दप्रवृत्तिनोत्पपद्यते। अत्राभिधीयते-गुणक्रियाशब्दसंज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेका-कारतावगतिनिबन्धनत्वं न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्यात्राभिमतम्।

—मुकुलभट्ट, अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ट ५

पाणिनि चारों भेद मानते जान पड़ते हैं। जाति, गुण और क्रियापरक तो उनके अनेक सूत्र हैं। यदृच्छा शब्दों की मान्यता का आधार, कैयट के मत में 'उनका अर्थ-वदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५) सूत्र हैं। पतंजलि ने इस सूत्र का प्रत्या-ख्यान किया है। परन्तु इस सूत्र की रचना से जान पड़ता है पाणिनि अव्युत्पन्न यदृच्छा शब्दों की सत्ता स्वीकार करते हैं—

अर्थवत् सूत्रारम्भाच्च अव्युत्पन्ना यदृच्छा शब्दा सन्तीत्यवगम्यते।

—कैयट प्रदीप, महाभाष्य प्रत्याहारसूत्र, ऋलृक्

यदृच्छा शब्दों का ग्रहण शब्दाकृति के आधार पर होता है। शब्द की आकृति का अर्थ में वह यह है (सोऽयम्) के रूप में आरोप करते हैं। शब्दाकृति का ग्रहण कैसे होता है इस पर दो तरह के मत हैं। पहले मत के अनुसार एक शब्द में कई वर्ण होते हैं। क्रम से उनका उच्चारण वक्ता करता है। अन्त्यवर्ण के उच्चारण के बाद एक विशिष्ट संस्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को अन्त्यवर्णावलम्बन ज्ञान कहते हैं। यों तो पूर्व के वर्णों से भी कुछ-न-कुछ संस्कार होता ही है परन्तु वह संस्कार धुँधला होता है या अस्पष्ट होता है। अंतिमवर्णजन्यज्ञान पूर्ववर्णजन्यज्ञान की सहायता से जाति का ग्राहक होता है। दूसरा मत अन्त्यवर्ण ज्ञान को मुख्यता नहीं देता। उसके अनुसार सभी वर्णज्ञानों से जिसमें अन्त्यवर्ण ज्ञान भी गृहीत है बुद्धि विशेष संस्कार वाली हो जाती है। अन्त्यवर्ण के ज्ञान के बाद एक विशेष प्रकार का ज्ञान पैदा होता है जो जाति का ग्राहक होता है (**अत्रानेकं दर्शनम्। केचित् मान्यते, अन्त्यवर्णाव-**

लम्बनं यज्ज्ञानं तत् पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारसहायं जातेर्ग्राहकम्। अपरे मन्यन्ते अन्त्यवर्णज्ञानसहितैः सर्वैरेवपूर्ववर्णज्ञानैः संस्कारारम्भः। अन्त्यवर्णज्ञानानन्तरंतुजाति-ग्राहकं ज्ञानमुत्पद्यते—वृषभ वाक्यपदीय टीका १।२३, पृष्ठ ३३) शब्दाकृति की सत्ता में प्रमाण यह है कि शुक सारिका, मनुष्य आदि द्वारा उच्चरित वृक्ष आदि विशेष शब्द यह वही वृक्ष आदि शब्द हैं इस ज्ञान को जगाते हैं। इसी अनुगताकार प्रतीति या अभेद ज्ञान के आधार पर शब्दाकृति की सत्ता का अनुमान किया जाता है। (**तस्यास्तु शब्दा-कृतेररितत्वं शुकशारिकामनुष्यादिप्रयुक्तेषु वृक्षादिशब्दव्यक्तिविशेषेषु स एवायमिति प्रत्ययाभेदादनुमीयते**—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१५, पृष्ठ, ३३)। जो लोग शब्दाकृति अथवा शब्द के संहृतक्रमस्वरूप की सत्ता नहीं मानते उनके मत में भी वक्तृयदृच्छासंनि-वेशित काल्पनिक समुदाय रूप डित्थ आदि शब्द संज्ञा के अभिधान में समर्थ होते ही हैं (**येषामपि च डकारादिवर्णव्यतिरिक्तसंहृतक्रमस्वरूपाभावान् न डित्थादिशब्दस्वरूपं संहृतक्रमं संज्ञिष्वध्यस्यत इति दर्शनं तेषामपि वक्तृयदृच्छाभिव्यज्यमानशक्तिभेदा-नुसारेण काल्पनिकसमुदायरूपस्य डित्थादेः शब्दस्य तत् तत् संज्ञाभिधानाय प्रवर्तमा-नत्वाद् यदृच्छाशब्दत्वं डित्थादीनामुपपद्यत एव**—अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ठ ४)।

महाभाष्यकार ने त्रयी शब्दप्रवृत्तिवाले पक्ष का भी उल्लेख किया है और यदृच्छा शब्दों की सत्ता नहीं भी स्वीकार की जा सकती है इसका उल्लेख भी किया है। कैयट ने भाष्यकार का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रशस्यरूपा क्रिया और गुण के अध्यारोप से त्रयीपक्ष मानने पर भी काम चल सकता है।

सम्बन्ध पदार्थ

कुछ लोग सम्बन्ध को भी पदार्थ के रूप में मानते हैं। कुछ बौद्ध आचार्य द्रव्य शब्द के स्थान पर सम्बन्ध को मानते हैं :

> **यापि जाति गुण क्रिया सम्बन्धभेदेन चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः साप्यनेनैव वस्तुधर्मभेदेन संगृहीता** —कर्णकगोमिन, प्रमाणवार्तिक टीका, पृष्ठ १४१)।

कैयट ने स्वार्थ के रूप में सम्बन्ध को स्वीकार किया है।

> **स्वोऽर्थ स्वार्थः। स चानेकप्रकारो जातिगुणक्रियासम्बन्धस्वरूपलक्षणः**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।३।७४

सादृश्य पदार्थ

मीमांसकों में प्रभाकर के अनुयायी सादृश्य को एक अतिरिक्त पदार्थ के रूप में मानते हैं। वैयाकरणों में नागेश ने सादृश्य पदार्थ की सत्ता व्याकरण की दृष्टि से भी मानी है। शस्त्रीश्यामा देवदत्ता के भाष्य पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है :

> **"सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थ इति मतेनेदम्।"**
>
> —महाभाष्य, प्रदीपोद्योत, २।१।५५

मंजूशा में भी नागेश ने लिखा है :

"सादृश्यं तु साधारणधर्मसम्बन्धप्रयोज्यं सदृशादिपदशक्यतावच्छेदकतया सिद्धम्, सदृशदर्शने संस्कारोद्बोधकत्वस्य सर्वसंमतत्वेन तत्वेन तत्कारणतावच्छेदकतया च सिद्धमखण्डमतिरिक्तः पदार्थः ।"—मंजूषा, पृष्ट ६३४, ६३५

नागेश के मत में सादृश्य को अतिरिक्त पदार्थ मानने में गौतम, कणादादि गृहीत पदार्थों की संख्या के साथ विरोध नहीं होगा क्योंकि गौतमोक्त प्रमेय पदार्थ में उसका अन्तर्भाव हो जायगा।

काव्यप्रकाश में उपमा पर विचार करते हुए भी नागेश ने सादृश्य पदार्थ की आवश्यकता स्वीकार की है :

सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा, सादृश्यं चातिरिक्त पदार्थःइति ।

इसी तरह पंडितराज जगन्नाथ की—

अतएवालंकारिकाणामपि सादृश्यं पदार्थान्तरं न तु साधारणधर्म रूपमिति विज्ञायते —रसगंगाधर, पृ० ४२३

इस उक्ति पर टीका करते हुए नागेश ने कहा है कि आलंकारिकों के साथ-साथ वैयाकरणों के मत में भी सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है :

अपिना वैयाकरणादिसमुच्चयः । निरूपितं चैतत् कुवलयानन्दव्याख्यायांमञ्जूषायाञ्च । —रसगंगाधर की मर्मप्रकाशिनी टीका, पृ० ४२३

"नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः—इस परिभाषा की व्याख्या में नागेश के शिष्य वैद्यनाथ ने भी सादृश्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार की है ।

अभाव आदि पदार्थों का गुण में अन्तर्भाव

वैयाकरण अभाव को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते । ये उसे गुण के अन्तर्गत मानते हैं । द्रव्य, जाति और क्रिया के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ गुण के भीतर मान लिये गये हैं ।

एवमप्यभावस्य कथं गुणबहिर्भावः ? जातिक्रियाद्रव्यातिरिक्तस्यैव चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति वद्‌भिः वैयाकरणैः, तदनुसारिभिश्च आलंकारिकैर्गुणत्वांगीकारात् —वैद्यनाथ, कुवलयानन्द की चन्द्रिका टीका, पृ० ४८

तत्त्वबोधिनीकार ने भी द्रव्य, जाति और क्रियापदार्थ से अतिरिक्त पदार्थों को गुण माना है ।

संज्ञा जाति क्रिया शब्दान् हित्वाऽन्ये गुणवाचिनः । चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्याकरग्रन्थनिष्कर्षादेव निर्णय इति ।

—सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १६३६, पृ० १४८

चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थ ही प्रमुख रूप में मान्य रहे हैं । कालिदास ने इसे यों व्यक्त किया है :

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता ।

प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी[2] ।

—कुमारसंभव २।१७

भर्तृहरि के अनुसार अष्ट पदार्थ

भर्तृहरि के स्वतंत्र दर्शन में पदार्थ एक ही है और वह है शक्ति। शक्ति के ही रूपान्तर साधन, क्रिया, दिक्, काल आदि हैं :

शक्तिरूपे पदार्थनामत्यन्तमनवस्थिताः ।
दिक् साधनं क्रिया काल इतिवस्त्वभिधायिनः ।।

—वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १

परन्तु व्याकरण का लौकिक दर्शन से सम्बन्ध होने के कारण उसके विवेचन के लिये भर्तृहरि ने अपनी स्वतंत्र विचार-परम्परा के अनुकूल आठ पदार्थों की कल्पना की है और इन आठ पदार्थों में व्याकरण का सर्वस्व आ जाता है। वाक्यपदीय में आठ पदार्थों का विवेचन है। आठ पदार्थ इसके शरीर हैं :

इह पदार्थाष्टकविचारपरत्वात् वाक्यपदीयस्य

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३।१

ये आठ पदार्थ निम्नलिखित हैं—

(१) अपोद्धार पदार्थ
(२) स्थित लक्षण पदार्थ
(३) अन्वाख्येय पदार्थ
(४) प्रतिपादक पदार्थ
(५) कार्यकारण भाव
(६) योग्यभाव संबन्ध पदार्थ
(७) धर्म
(८) साधु-असाधु ज्ञान (अर्थप्रतिपादन) प्रयोजन पदार्थ

इन पदार्थों का उल्लेख भर्तृहरि ने स्वयं किया है।[3]

वृषभ ने भी इन आठ पदार्थों को शास्त्र का शरीर माना है :

तदेवं शब्दार्थसम्बन्धफलानां प्रत्येकं द्वैविध्याद् अष्टौ पदार्था भवन्ति' ।[4]

---

२. भाष्यव्याख्याप्रपंचकार ने ब्रह्मा के चार मुख के आधार पर चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति को मान्यता नहीं दी है क्योंकि सम्बन्ध आदि भी शब्द प्रवृत्ति के भीतर आ जाते हैं। उसके मत से दिव्य मानुष का 'समय' (व्यवहार) ही शब्दप्रवृति है—

तथा चोक्तं ब्रह्मणश्चतुर्मुखीतः चतुष्टयी शब्द प्रवृत्तिः चरितार्थेति न नियमः । अन्ये हि सम्बन्धादयः शब्दानां तदवच्छक्तिरपि । अतः समयैः दिव्यमानुषैः शब्दप्रवृत्तिरिति ।

—पुरषोतम परिभाषा वृत्ति एपेन्डिक्स ३, पृ० १२७

३. वाक्यपदीय १।२४-२६

४. वाक्यपदीय १।२४, वृषभ टीका, पृष्ठ ३६

अपोद्धारपदार्थ

अपोद्धार विभाग को कहते हैं (अपोद्धारो विभागः)[५]। एक में अविभक्त रूप में ग्रथित वस्तु के अवयव को लेकर विचार करने की अथवा एक अखण्ड वाक्य के अलग-अलग शब्दों पर विचार करने की पद्धति अपोद्धार नाम से प्रसिद्ध थी। परन्तु अपोद्धारपदार्थ के ठीक-ठीक अभिप्राय के विषय में टीकाकारों में भी मतभेद है। प्रसिद्ध टीकाकार वृषभ को भी कुछ संशय था क्योंकि उसने इसके अर्थ कई प्रकार से किये हैं:

अपोद्ध्रियन्ते इत्यपोद्धाराः पदार्थाश्चेति। अपोद्धृतानां वा पदार्थानामर्थाः। अपोद्धारेण परिकल्पिता वा अर्था इति शाकपार्थिवादिः। अपोद्धारसम्बन्धिनो वेति षष्ठीसमासः।[६]

वृषभ के अनुसार यहाँ पदार्थ शब्द में पद पारिभाषिक नहीं है। अपितु जिससे अर्थ जाना जाए उसके अर्थ में है। **पद्यतेऽनेनार्थ इति पदं न पारिभाषिकम्। तस्यार्थः पदार्थः।**[७]

भर्तृहरि के मत में अपोद्धार पदार्थ उस अनुमानित अथवा कल्पित प्रक्रिया का नाम है जिससे किसी अत्यन्त संसृष्ट वस्तु के उसके सम्बन्धों के आधार पर विभाग किये जाते हैं। अत्यन्त अविभक्त वस्तु व्यवहारातीत होती है। परन्तु अपनी परम्परा अथवा अपने आगम के आधार पर लोग उत्प्रेक्षा से काम लेते हैं और भावना अभ्यास से व्यवहारातीत के भी व्यावहारिक रूप, काल्पनिक ही सही, दे देते हैं। इसी तरह शब्दात्मा जो अपने यथार्थरूप में अविभक्त है काम चलाने के लिये कल्पना द्वारा विभक्त मान लिया जाता है। अन्वयव्यतिरेक के आधार पर समुदाय के भीतर से अलग-अलग उसके रूपों की कल्पना की जाती है।[८]

तत्रापोद्धारपदार्थो नामात्यन्तसंसृष्टः संसर्गादनुमेयेन परिकल्पितेन रूपेण प्रकृत-प्रविवेकः सन्नपोद्ध्रियते। प्रविविक्तस्य हि तस्य वस्तुनो व्यवहारातीतं रूपम्। तत्तु स्वप्रत्ययानुकारेण यथागमं भावनाभ्यासवशादुत्प्रेक्षया प्रायेण व्यवस्था-प्यते। तथैव चाप्रविभागे शब्दात्मनि कार्यार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां रूपसमनु-गमकल्पनया समुदायादपोद्धृतानां शब्दानामभिधेयत्वेनाश्रीयते।[९]

हेताराज ने अपोद्धार पदार्थ के विषय में वाक्यवादी और पदवादी दोनों के मतों का विवेचन किया है। वाक्यवादियों के मत में वाक्य अखण्ड है। उसकी व्युत्पत्ति

५. वाक्यपदीय, १.२४ वृषभ टीका, पृष्ठ ३५

६. वही, पृष्ठ ३५

७. वही, पृ० ३६

८. वृषभ ने प्रविविक्त के स्थान पर प्रविभक्त पाठ रखा है। उसके अनुसार यहाँ तात्पर्य यह है कि प्रविभक्त पदार्थों से प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहार संभव नहीं है (प्रविभक्तैः पदार्थैर्न प्रवृत्तिनिवृत्ति लक्षणो व्यवहारः)। परन्तु यह अर्थ भर्तृहरि के मूल अभिप्राय से मेल नहीं खाता।

९. वाक्यपदीय, हरिवृत्ति, १.२४, पृष्ठ ३६.

के उपाय के रूप में उपोद्धार का आश्रय लिया जाता है और अपोद्धार अखण्ड-वाक्य से शब्द को कल्पना-बुद्धि से अलग कर उसे पदनाम देने का नाम है। इस मत में पदव्युत्पत्ति काल्पनिक है।

पदवादियों के मत में पद अखण्ड है। कल्पना द्वारा पद में प्रकृति, प्रत्यय, आगम, आदेश आदि की व्यवस्था की जाति है। पदवादियों के मत में वाक्य को अखण्ड मान कर पद व्युत्पत्ति करना इसलिये उपयुक्त नहीं है कि वाक्य अनन्त हैं और इसलिये उन्हें आधार मान कर पद व्युत्पत्ति करना सहज नहीं है। परन्तु सदृश पद के द्वारा पद व्युत्पत्ति समझना अपेक्षाकृत सहज है।

परन्तु पदवादी और वाक्यवादी दोनों ही अपोद्धार को असत्य मानते हैं। यही इनमें समानता है। दोनों पक्ष में अपोद्धार के लिये अन्वयव्यतिरेक का आश्रय भी समान है। अपोद्धार के लिये अन्वयव्यतिरेक का उल्लेख वार्तिककार ने भी **'सिद्धं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्'** के रूप में किया है।[10]

अपोद्धार का पदार्थ और वाक्यार्थ की दृष्टि से विवेचन स्वयं भर्तृहरि ने भी किया है। उनके मत में केवल एक शब्द कहने से उसके अर्थ की सत्ता या असत्ता का परिज्ञान ठीक से नहीं होता। केवल वृक्ष शब्द कहने से वृक्ष है कि नहीं है यह संदेह बना रह सकता है। ऐसे स्थलों में हम अस्ति (है) या नास्ति (नहीं है) जैसे क्रिया-पदों का आक्षेप करते हैं और तब कहीं अर्थ स्पष्ट होता है (वृषभ के अनुसार वस्तुतः क्रियापद का आक्षेप नहीं होता अपितु क्रिया लक्षणरूप अर्थ का ही स्वार्थ के रूप में आक्षेप होता है। केवल उस पद से अभिधेय होने के कारण उस पद से क्रियापद का आक्षेप कहा जाता है अथवा आक्षेप-फल होने के कारण वैसा कहा जाता है)। वाक्य से ही ऐसे स्थलों में भी बोध होता है इसलिये वाक्यार्थरूप अपोद्धार उपयुक्त है। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने पूर्वपदार्थ, उत्तरपदार्थ, प्रातिपदिकार्थ, धात्वर्थ, प्रत्ययार्थ जैसे शब्दों का व्यवहार किया है और एक ही शब्द की व्युत्पति के लिये विभिन्न तरह की कल्पनाएँ की हैं इससे पदार्थ के रूप में भी अपोद्धार लक्षित होता है।[11]

अपोद्धारपदार्थ शब्द-अपोद्धार और अर्थ-अपोद्धार दोनों रूप में गृहीत है। हेलाराज के अनुसार अर्थ-अपोद्धार ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि वाक्य से उद्धृत पद का वाक्यार्थान्तिर के रूप में कल्पना की जाती है। अर्थ-अपोद्धार ही पद-अपोद्धार का निमित्त है। यदि अर्थ-अपोद्धार को पद-अपोद्धार का निमित्त न माना जाय, वर्ण-अपोद्धार भी होने लगेगा और उसकी व्युत्पत्ति की चिन्ता करनी पड़ेगी :

> **अर्थापोद्धार एव हि पदापोद्धारस्य निमित्तम्। अनिमित्ते हि तस्मिन् वर्णापोद्धारस्यापि प्रसंगात्तेषामपि व्युत्पाद्यता स्यात्**[12]

---

१०. हेलाराज, वाक्यपदीय, ३, जातिसमुद्देश १.
११. वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२४, पृष्ठ ३७
१२. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश १

स्थितलक्षण पदार्थ

स्थित लक्षण पदार्थ उसको कहते हैं जिसका लक्षण (स्वरूप) स्थित रहता है, जो अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। वृषभ के अनुसार मतभेद से स्थितलक्षण पदार्थ भी होता है और वाक्यार्थ भी। प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ पदार्थ में तिरोहित हो जाते हैं पर पदार्थ तिरोहित नहीं होता। इसलिये पदार्थ स्थित लक्षण है। इसी तरह, वाक्य-वादियों की दृष्टि में, पदार्थ वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में उपाय मात्र हैं, वाक्यार्थ के ज्ञान हो जाने पर वे विभक्त रूप में पृथक्-पृथक् नहीं जान पड़ते, उनका वाक्यार्थ में तिरो-भाव हो जाता है जब कि वाक्यार्थ ज्यों-का-त्यों रहता है। इस दृष्टि से वाक्यार्थ स्थित लक्षण हैं। हेलाराज ने वाक्यार्थ को स्थित लक्षण के रूप में ग्रहण किया है उसे निरंश माना है साथ ही उसे क्रियास्वभाव से संपृक्त कारकशरीरवाला भी माना है।

वाक्यार्थश्च स्थितलक्षणः निरंशः कारकोत्कलित शरीरक्रिया स्वभावतः।[१३]

भर्तृहरि ने व्याकरणदर्शन में स्थित लक्षण को पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों रूप में मानने का आधार संग्रहकार और महाभाष्यकार को माना है। संग्रहकार ने कहा है कि पदनाम की कोई निश्चित वस्तु नहीं है। पद का रूप और उसका अर्थ वाक्यार्थ से उत्पन्न होते हैं।

न हि किंचित्पदं नामरूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥[१४]

महाभाष्यकार ने भी न वा पदस्यार्थे प्रयोगात् (१।२।६४) और यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः (महाभाष्य २।३।४६) कहा है जिससे पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों के स्थितलक्षण होने की पुष्टि होती है।

परन्तु भर्तृहरि का झुकाव स्थितलक्षण को वाक्यार्थ रूप में लेने की ओर है। स्थितलक्षण का विवरण देते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि वह वाक्य-रूप का उपग्रह अथवा उपग्राहक (वाचक) है। उसके उद्देश्य विभाग (कर्तृ आदि) कल्पित होते हैं। वह विशिष्ट (नियताश्रय) है। एक है। क्रिया उसकी आत्मा है। वह अविच्छिन्न, निरन्तर उच्चरित शब्दों के अर्थग्रहण का उपाय है। अथवा विच्छिन (अपोद्धार पद्धति से उद्धृत) पदों के अर्थ के ग्रहण का उपाय है। विच्छेद प्रतिपत्ति जैसे, नमस्यति में नमः तथा करोति के रूप में अलग-अलग प्रतिपत्ति यद्यपि अर्थ कहने के लिए क्रिया और साधन भेद से जान पड़ती है, परन्तु वस्तुतः वहाँ इस तरह का क्रिया-साधन भेद नहीं है। विशेषकर प्रतिभा के उपसंहार काल में अर्थात् अर्थ के ज्ञान काल में अभिन्न एकाकार प्रतिभा के परिबोध से वाक्यार्थ स्थितलक्षण सिद्ध होता है। हेलाराज के अनुसार स्थितलक्षण और अपोद्धारपदार्थ में भेद यह है कि स्थितलक्षण में प्रक्रिया

---

१३. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश १

१४. वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२४, पृष्ठ ४२ पर उद्धृत।

भेद से भेद नहीं होता, अपोद्धार में होता है।

—वृत्ति समुद्देश २४८

अन्वाख्येय पदार्थ

अन्वाख्येय पदार्थ भी दो रूप में स्वीकृत हैं। पद अवधिक अन्वाख्यान और वाक्य अवधिक अन्वाख्यान के रूप में। इस पर अन्यत्र विचार किया जा चुका है। पद के अन्वाख्येय पक्ष में ही प्रातिपदिक शब्दों की व्यवस्था की जाती है। उसी पक्ष में विशेषणविशेष्यभाव ठीक से बैठता है। नीलोत्पल शब्द में नील में विशेषणता और उत्पल शब्द में विशेष्यता है। यदि पद अन्वाख्यान पक्ष नहीं मानेंगे तो ऐसे स्थलों में विभाग की पहचान सम्भव न होगी, फलतः विशेषण विशेष्यभाव भी न हो सकेगा। वाक्यसंस्कार पक्ष को मान कर वार्तिककार ने 'न वा सर्वेषां द्वन्द्वे बह्वर्थत्वात्' (महाभाष्य २।४।६२) कहा है। युगपदधिकरण विवक्षा में द्वन्द्व होता है।

चाहे पद-अन्वाख्यान पक्ष हो अथवा वाक्य-अन्वाख्यान पक्ष हो दोनों में अनियम देखा जाता है। पद में प्रकृति प्रत्यय के विभाग में अनियम देखा जाता है जैसे मरुत्, इन्द्र, ऐकागारिक, गिरिश आदि शब्दों में। मरुत् शब्द में कुछ लोग मरुतोऽस्य सन्ति इस अर्थ में तप्पर्वमरुद्भ्याम् (महाभाष्य ५।२।१२३) से तप् प्रत्यय मानते हैं। कुछ लोग मरुद्भिः दत्त इस अर्थ में प्रत्यय मानते हैं। इसी तरह गिरिश शब्द गिरौ शेते इस अर्थ में ड प्रत्यय से बनाया जाता है, गिरिंश्रयति इस अर्थ में क प्रत्यय से बनाया जाता है। भर्तृहरि ने गिरौ शिरा एक ऐसा भी विग्रह गिरिश शब्द के लिये किया है (वाक्यपदीय २।१७२ हरिवृत्ति)। वाक्य-अन्वाख्यान पक्ष में भी कल्पितपदों द्वारा अर्थ निर्णीत होता है :

> **अर्थात् पदं साभिधेयं पदात् वाक्यार्थनिर्णयः।**
> **पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम् ॥**[१५]

कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ

कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ शब्द के निमित्त रूप और उसके योग्यरूप पर आश्रित हैं। पक्षभेद से सम्बन्ध के द्योतक हैं। कार्यकारणभाव सम्बन्ध और योग्यभाव सम्बन्ध दोनों ही व्याकरणदर्शन में मान्य हैं। अर्थाकार बुद्धि का वस्तु के साथ अध्यवसाय होने पर उस अर्थ के उद्बोधन में शब्द निमित्त होता है। इसी तरह अर्थ (वस्तु) के दर्शन में भी शब्द स्वरूप का उसके अर्थ में 'यह वही है' (सोऽयम्) इस रूप में अध्यवसाय करते हैं। यहाँ नाद से अभिव्यक्त पर वस्तुतः अन्तःकरण संनिवेशी शब्द की प्रवृत्ति में अर्थ दर्शन ही कारण है। दूसरे शब्दों में, गो आदि कार्य हैं और शब्द कारण है तथा शब्द कार्य है और गो आदि कारण हैं। भर्तृहरि इस मत के पोषक हैं कि वाक् ही गो आदि में परिणत हो जाती है अथवा गो आदि वस्तु ही

---

१५. वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति में उद्धृत। वृषभ के अनुसार यह संग्रहकार का श्लोक है। परन्तु शौनक के बृहद्देवता २।११७ में भी है।

वाणी रूप में परिणत हो जाती हैं। इसलिए इनमें कार्यकारण भाव है :

वाच एव वा विभागा गवादित्वेन अवतिष्ठन्ते। गवादयश्च बाह्यार्थ रूपा इव विभागाः पुनः श्रुतिरूपेण परिणमन्ते। तथा एके कार्यकारणभावमेव शब्दार्थयोः सम्बन्धं मन्यन्ते।[१६]

योग्यभाव सम्बन्ध इन्द्रिय और वस्तु के प्रतीक पर मान लिया गया है। जिस तरह चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने विषय रूप आदि में स्वाभाविक शक्ति है कृत्रिम नहीं, उसी तरह शब्द भी अपने वाच्य अर्थ को स्वभावतः व्यक्त करता है। शब्द की यह योग्यता, भर्तृहरि के मत में, नित्य है, इसमें न किसी के कर्तृत्व की आवश्यकता है और न शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ को व्यक्त करने में कभी व्यभिचरित होता है। इन्द्रिय और विषय का जिस तरह प्रकाश्य-प्रकाशकभाव है उसी तरह शब्द और उसके वाच्य में भी है। हेलाराज के अनुसार इन्द्रिय और शब्द की योग्यता में केवल इतना ही अन्तर है कि इन्द्रियाँ कारक हैं। अतः अज्ञात ज्ञान को जनाती हैं जबकि शब्द ज्ञापक हैं फलतः अपने ज्ञान के द्वारा दूसरे ज्ञान के समझने में हेतु होते हैं। फिर भी दोनों में यह समानता है कि दोनों में शक्ति पुरुष-प्रयत्न अनपेक्ष है :

यद्यपि चेन्द्रियाणि कारकत्वादज्ञातान्येव ज्ञानं जनयन्ति, शब्दस्तु ज्ञापकत्वात् स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः तथापि पुरुषप्रयत्नानपेक्षा शक्तिः साधारणी इति।[१७]

योग्यता तो स्वाभाविक है। संकेत उसी योग्यता का संकेत करते हैं। यदि स्वाभाविक योग्यता नहीं मानी जायगी और मनमाने ढंग से किसी अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग होने लगेगा तो अव्यवस्था हो जायगी और अर्थज्ञान नहीं होगा (**यो हि गाम् अश्व इति ब्रूयात् न जातु चित् संप्रत्ययः स्यात्** —महाभाष्य १ २।६४

अप्रसिद्ध शब्दों का या संज्ञा शब्दों का प्रथम परिज्ञान सामयिक (समयाचार-संकेत) मान लिया गया है :

इन्द्रियविषयवत् तु प्रकाश्यप्रकाशकभावेन विशिष्टानां शब्दानां विशिष्टेषु अर्थेषु नित्यम्, अकर्तृव्यापारसाध्यम् अव्यभिचरितप्रसिद्धसाधुभावानां वाचकानां शब्दानां वाच्येषु योग्यत्वं, अप्रसिद्धसम्बन्धानां प्रथमप्रतिपादने समयोपाधिकम्।[१८]

साधु-असाधु पर पहले अपभ्रंश में प्रसंग में विचार किया जा चुका है। साधु ज्ञान से धर्म और असाधु ज्ञान से अधर्म होता है। अधर्म का अभिप्राय पाप नहीं है अपितु धर्म का अभाव है (**असाधु प्रयोगे तु धर्माभाव एव पापत्वेन उपचर्मते**—हेलाराज)। धर्म से भी अभिप्राय शिष्टता से है। शुद्धभाषा-व्यवहार मनुष्य की सभ्यता, उसके सांस्कृतिक अभ्युत्थान का मापक है।

वैयाकरण इस बात को मानते हैं, जैसा कि कैयट ने कहा है, कि साधु-असाधु का सदा के लिये कोई निश्चित रूप नहीं है। यह देश और काल से सीमित वस्तु है। केवल किसी नियत समय को लेकर ही साधु-असाधु व्यवस्था संभव है। लौकिक संस्कृत

---

१६. वाक्यपदीय १।१२ हरिवृत्ति

१७. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, सम्बन्धसमुद्देश २९

१८. वाक्यपदीय १।२५ हरिवृत्ति, पृ० ३९; द्रष्टव्य वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध-समुद्देश २९.

की साधु-असाधु व्यवस्था मुनित्रय के मत पर बहुत दूर तक अवलम्बित है।

नियतकालाश्च स्मृतयो व्यवस्था हेतव इति मुनित्रयमतेन अद्यत्वे साध्वसाधु-प्रविभागः
—कैयट, महाभाष्य प्रदीय ५।१।२१

भेद अभेदपूर्वक होता है इस न्याय के आधार पर हेलाराज ने असाधु (अपभ्रंश) की प्रकृति साधु शब्द को माना है। उनके मत में शब्द विद्या की भाँति है और अपभ्रंश अविद्या की भाँति। जैसे विद्यावस्था अभिन्नब्रह्मात्मिका होती है उसी तरह साधुशब्दमयी विद्या भी। जैसे विद्या के भेद मिथ्या अथवा काल्पनिक हैं उसी तरह शब्दविद्या के भेद भी अवास्तविक हैं। महाभाष्यकार ने जो अपभ्रंश और साधु शब्द दोनों में अर्थ बताने की शक्ति एकसी (समान) मानी है वह अविद्यादशा को सामने रख कर है।[१९] पुण्यराज ने शब्द के छः प्रकार माने हैं और असाधु शब्द को भी उनके भीतर ग्रहण किया है। उनके अनुसार शब्द दो तरह के होते हैं। साधु और असाधु। साधु शब्द शास्त्रीय और प्रायोगिक रूप में दो तरह के होते हैं। शास्त्रीय शब्द तीन तरह के होते हैं—प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभयरूप। दाधर्ति आदि निपातन सिद्ध शब्द प्रतिपाद्य माने जाते हैं। प्रकृति-प्रत्यय आदि प्रतिपादक माने जाते हैं। इतव्य जैसे शब्द उभयरूप माने जाते हैं। इस तरह असाधु शब्द को लेकर शब्द छः प्रकार के होते हैं।[१९अ]

उपर्युक्त आठ पदार्थों में व्याकरण की दृष्टि से अपोद्धारपदार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें पद अपोद्धारपदार्थ दो तरह का है। सिद्ध और साध्य रूप। इसी को नाम और आख्यात भी कहते हैं। सिद्ध रूप कारक से व्यक्त है और साध्यरूप क्रिया से। ये दो रूप अंश और अंशी की कल्पना पर आश्रित हैं।

तत्र चांशांशिकल्पनयाऽपोद्धारे कारकात्मा क्रियात्मा च प्रविभागार्ह इति सिद्धसाध्यलक्षणांशद्वयविषयः पदापोद्धारो द्विविधो नामाख्यातरूपः।[२०]

हेलाराज के अनुसार यद्यपि नामपदों में प्रत्ययार्थ की प्रधानता शब्द की दृष्टि से रहती है फिर भी अर्थ की दृष्टि से प्रातिपदिकार्थ रूप द्रव्य की प्रधानता मानी जाती है। सिद्ध रूप ही प्रधान है।

उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय का नाम और आख्यात में अन्तर्भाव हो सकता है। क्योंकि नाम सिद्ध अर्थ को व्यक्त करते हैं और उन सिद्ध अर्थों की विशेषता द्योतित करने वाला निपात सहज ही नाम के भीतर गृहीत हो सकता है। निपात चाहे सिद्ध अर्थ को साक्षात् व्यक्त करता हो अथवा सिद्ध अर्थ की किसी विशेषता को बतलाता हो उसके नाम के भीतर लेने में कोई विशेष अड़चन नहीं है। अव्ययों में स्वः आदि जैसे कुछ सत्वप्रधान (द्रव्य-प्रधान) हैं इसलिये वे भी नामपद ही हैं और जो क्रिया प्रधान अव्यय हैं जैसे हिसक् आदि उनका आख्यात में अन्तर्भाव हो जायगा क्योंकि केवल तिङन्त ही आख्यात नहीं है। आख्यात के भीतर वह सब कुछ गृहीत है जो

१९. हेलाराज, वाक्यपदीय, ३, सम्बन्ध समुद्देश ३०
१९अ. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।८३
२०. हेलाराज वाक्यपदीय ३, जाति समुद्देश १, पृष्ठ २

क्रिया-प्रधान है। इसी दृष्टि से उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय को भी आख्यातपद माना जा सकता है। क्योंकि उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय साध्य अर्थ के द्योतक होते हैं।

कुछ लोग पदअपोद्धार को चार भाग में विभक्त करते हैं। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। ये ही सबसे प्राचीन विभाग हैं। यास्क ने ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि'[२१] की व्याख्या, वैयाकरणों की दृष्टि से, नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में की है। महाभाष्यकार ने इसका समर्थन **"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च"**[२२] कह कर किया है। नाम-आख्यात से उपसर्ग-निपात इस दृष्टि से अलग माने जाते हैं कि नाम और आख्यात साक्षात् वाचक हैं जब कि उपसर्ग और निपात साक्षात् अर्थवान् नहीं हैं, वे विशेष अर्थ के द्योतक मात्र हैं।

उपसर्ग और निपात में परस्पर भेद यह है कि निपात सिद्ध (कारक) और साध्य (क्रिया) दोनों के अर्थ-विशेष के द्योतक होते हैं जबकि उपसर्ग केवल साध्य के अर्थ-विशेष के द्योतक होते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से निपात को वाचक इसलिये नहीं माना जाता है कि च आदि निपातों का वाक्य के आरम्भ में प्रयोग नहीं होता, उनका स्वतंत्र प्रयोग भी नहीं होता जैसे इव आदि का, उनके साथ षष्ठी आदि विभक्तियाँ नहीं लगतीं, लिंग और संख्या का योग भी उनके साथ नहीं होता।

"वैयाकरणगृहेषु हि प्राक्प्रयोगस्वातंत्र्यप्रयोगाभावात् षष्ठ्याद्यश्रवणालिंगसंख्याविरहाच्च वाचकवैलक्षण्येन द्योतक-निपाता इत्युद्धोष्यत एवेति।"[२३]

निपात का प्रयोग पाद पूरण के लिये भी होता रहा है।

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः॥[२४]

गार्ग्य के अनुसार उपसर्ग स्वतंत्र रूप में भी वाचक थे। उत्तर (उत्+तर), उत्तम (उत+तम्), निवत् (नि+वत्), उद्वत् (उत्+वत्) आदि शब्द इस बात के द्योतक हैं कि कभी उपसर्ग भी स्वतंत्र अर्थ रखते थे अन्यथा उनसे तर, तम आदि प्रत्यय संभव नहीं थे। परन्तु शाकटायन, यास्क के अनुसार, उपसर्गों को नाम और आख्यात से अलग रूप में वाचक नहीं मानते थे। वैयाकरण-संप्रदाय में उपसर्ग द्योतक रूप में ही ग्रहीत हैं।

कर्मप्रवचनीय भी क्रियाजनित सम्बन्ध-विशेष के द्योतन के द्वारा क्रिया-विशेष के प्रकाशक होते हैं इसलिए कुछ लोगों के अनुसार, कर्मप्रवचनीय का उपसर्ग में अन्तर्भाव संभव है। फलतः पद चार प्रकार के माने जाने चाहिये।

कुछ आचार्य कर्मप्रवचनीय को चार प्रकार के अतिरिक्त पाँचवाँ पद मानते

---

२१. ऋग्वेद १।१६४।४५, यास्क निरुक्त, १३।६ परिशिष्ट
२२ महाभाष्य, भाग प्रथम, पृ० ३, कीलहार्न संस्करण
२३. ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ३५४ (चौखम्बा संस्करण)
२४. दुर्गाचार्य वृत्ति, निरुक्त १।६

हैं। उनके मत में उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय में मौलिक भेद है। कर्मप्रवचनीय अतिक्रान्त क्रियागत संबंध को द्योतित करते हैं जबकि उपसर्ग वर्तमान क्रियागत विशेषण को द्योतित करते हैं। यहाँ वर्तमान पद का तात्पर्य क्रियाविशेष के सम्बन्ध के द्योतन से है। **क्रियागतविशेषद्योतनपूर्वकं हि सम्बन्धावच्छेदनमत्र वर्तमानम्**—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश १) महाभाष्यकार ने इसके लिये 'संप्रति' शब्द का प्रयोग किया है। अतिक्रान्त क्रिया का तात्पर्य अप्रयुज्यमान से है। भाव यह है कि सभी प्रकार के सम्बन्ध क्रिया-कारकपूर्वक होते हैं। कभी तो क्रिया सम्बन्ध को उत्पन्न कर विरत हो जाती है जैसे, राजपुरुष में। यह राजा का पुरुष है क्योंकि राजा इसका पालन-पोषण करता है इसलिए पालन रूप क्रिया आश्रयआश्रयीभावलक्षण सम्बन्ध को उत्पन्न कर अलग हो जाती है। कभी क्रियापद स्वयं श्रूयमाण होते हुए सम्बन्ध व्यक्त करता है जैसे, 'मातुः स्मरति' में माता सम्बन्धी स्मरण के रूप में स्मृति क्रिया श्रूयमाण रूप में ही निमित्तनिमित्तिभावलक्षण सम्बन्ध को उत्पन्न करती है।[२५]

क्रिया-पद जब सम्बन्ध को उत्पन्न कर निवृत्त हो जाता है, उस दशा में संदेह हो सकता है कि वह सम्बन्ध क्रियाजनित है कि नहीं। ऐसी अवस्था में कर्मप्रवचनीय काम देता है। वह उस अश्रूयमाण क्रिया के विशेष सम्बन्ध को द्योतित करता है:

"तदयमश्रुतक्रियाविषयसम्बन्धे कर्मप्रवचनीयानां महिमा

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, साधन-शेष ३

क्रिया-कृत विशेष सम्बन्ध के द्योतक होने के ही कारण इन्हें कर्मप्रवचनीय कहते हैं:

अतएव कर्मप्रोक्तवन्तः, क्रियाकृतंविशेषसम्बन्धं द्योतयन्तीति कर्मप्रवचनीया उच्यन्ते।[२६]

अश्रूयमाण क्रिया का आक्षेपक कर्मप्रवचनीय नहीं माना जाता। जिस शब्द से क्रिया का आक्षेप होता है वह कारक विभक्ति से जुटता है। जैसे, 'प्रादेशं विपरिलिखति' इस वाक्य में वि शब्द मान क्रिया का आक्षेप करता है क्योंकि इस वाक्य से 'प्रादेशं विमाय परिलिखति' यह अर्थ भासित होता है। विमान क्रिया से प्रादेश रूप कर्म का आक्षेप हुआ है, इसलिये उसके साथ द्वितीया का योग होता है। यदि कर्मप्रवचनीय के द्वारा अश्रूयमाण क्रियापद का आक्षेप होगा, उसके योग में भी कारक विभक्ति ही होगी, फलतः कर्मप्रवचनीय युक्ते द्वितीया २।३।८ इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, वह व्यर्थ होता। पुनः 'शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्' जैसे स्थलों में आक्षेप संभव भी नहीं है। क्रिया-कारक में ही परस्पर आक्षेप सम्भव है, जैसे,

---

२५. काशिकाकार और वाक्यपदीयकार में, पुण्यराज के अनुसार, मातुः गुणैः स्मरणम् के विषय में विवाद था। काशिकाकार अधिगर्थदयेशां कर्मणि (२।३।५२) में कर्मणि शब्द का प्रयोजन यह मानते हैं कि करण में न हो। उनके मत में गुणैः स्मरणम् यही होता है न कि गुणानां स्मरणम्। भर्तृहरि के अनुसार करण की शेष विवक्षा में गुणानां स्मरणम् गुण-स्मरणम् भी होता है। —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२००

२६. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२०१

प्रविश, पिण्डीं आदि स्थलों में। 'संहिता' में तो शैषकीय विभक्ति है इसलिए वहाँ आक्षेप संभव नहीं है। इसलिए निशामयति क्रिया के अप्रयुज्यमान होते हुए भी संहिता और प्रवर्षण में हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध अनु से द्योतित होता है।

सु,अति, जैसे शब्दों की जिनमें सम्बन्ध-नियामक शक्ति नहीं है कर्मप्रवचनीय संज्ञा उपसर्ग और गति संज्ञा के निषेध के लिए की जाती है जिससे अतिस्तुतम् जैसे शब्दों में षत्व का निषेध हो जाता है। यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा स्वार्थनिरपेक्ष रूप में है—

क्वचित्तु प्रवृत्तिनिमित्ताऽभावेऽपि वचनसामर्थ्यादियं संज्ञा प्रवर्तते। यथा सुः पूजायामिति षत्वादिनिवृत्तये गत्युपसर्गसंज्ञा बाधनार्था।

—कैयट, महाभाष्य १।४।८३

फलतः कर्मप्रवचनीय क्रिया का वाचक (द्योतक) नहीं होता। यदि क्रिया का द्योतक होता हो उससे कारकविभक्ति (द्वितीया) स्वभावतः हो जाती वह सम्बन्ध का भी वाचक नहीं होता, षष्ठी के अपवादभूत द्वितीया से ही सम्बन्ध उक्त हो जाता है, इसलिए सम्बन्ध का भी वाचक कर्मप्रवचनीय नहीं माना जाता। वह क्रियापद का आक्षेपक भी नहीं माना जाता। जैसाकि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है। वह क्रियाविशेष द्योतक भी पूर्ण रूप से नहीं माना जा सकता क्योंकि 'अनु हरिं सुरा' जैसे वाक्यों में क्रियापद का सान्निध्य नहीं देखा जाता। इसलिए कोई दूसरा उपाय न देखकर (पारिशेष्यात्) कर्मप्रवचनीय ही क्रिया-जनित सम्बन्ध का भेदक (विशेषक) अर्थात् द्योतक मान लिया जाता है। भाव यह है कि कर्मप्रवचनीय के प्रयोग के साथ क्रियाजनित सम्बन्ध की प्रतीति होती है वह सम्बन्ध किसी अन्य पद द्वारा ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि उन पदों की शक्ति सीमित है और वे अपना स्वाभाविक अर्थ ही व्यक्त कर सकते हैं। अतः सम्बन्ध के द्योतक किसी अन्य के न होने के कारण अन्ततः कर्मप्रवचनीय ही क्रियाजनित उस सम्बन्ध का द्योतक मान लिया जाता है। जहाँ अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वहाँ उस अधिक अर्थ को वाक्यार्थ भी माना जाता है। परन्तु शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् में क्रियाजनित सम्बन्ध को वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता। क्योंकि अधिक रूप में वाक्यार्थ सदा उपात्त साधन का उपात्त साध्य के संसर्ग के रूप में होता है अथवा उपात्त विशेषण का उपात्त विशेष्य के संसर्ग के रूप में होता है। यहाँ तो अनुपात्त पदार्थ का वाक्यार्थ से प्रतीति होती है। इसलिए अपदार्थ रूप वाक्यार्थ के रूप में सम्बन्ध का ग्रहण यहाँ सम्भव नहीं है। अनु की केवल पश्चाद्भाव मात्र अर्थ में शक्ति मान कर क्रियाजनित सम्बन्ध के अवच्छेदक के रूप में उसे स्वीकार करना उचित है। भर्तृहरि के अनुसार सम्बन्ध का निमित्तनियम शब्द से सदा गृहीत नहीं होता। निमित्त विशेष के ग्रहण के लिए ही मानो कर्मप्रवचनीय हैं—

निमित्तनियमः शब्दात् सम्बन्धस्य न गृह्यते।

कर्मप्रवचनीयैस्तु स विशेषेऽनुरुध्यते ।।

—वाक्यपदीय ३, शेष समुद्देश ३

क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः ।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ।।

—वाक्यपदीय २।२०६

कर्मप्रवचनीय के सम्बन्ध के भेदक के विषय में भी दो तरह के विचार हैं। एक तो यह कि कर्मप्रवचनीय के द्वारा सम्बन्धान्तर विलक्षण सम्बन्ध स्वरूपतः अवच्छेद्य होता है। दूसरा यह कि क्रियाविशेषजनितत्व के रूप में सम्बन्ध कर्मप्रवचनीय द्वारा अवच्छेद्य होता है। सम्बन्ध के स्वरूपतः अवच्छेद के पक्ष में विशेषक्रियाजनितत्व की प्रतीति सम्बन्ध-विशेष के पर्यालोचन से हो जाएगी। जैसे, 'अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः' इस वाक्य में स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित हैं। यहाँ ब्रह्मदत्त का स्वामी (ईश्वर) है। पञ्चाल जनपद (स्व) है। दोनों का सम्बन्ध परिपालन, करदान आदि क्रिया द्वारा ही प्रभावित है। इसी तरह 'अभिमन्युरर्जुनतः प्रति' इस वाक्य में सादृश्य लक्षण सम्बन्ध प्रति द्वारा द्योतित है। फिर वह सम्बन्ध संप्रहरण आदि क्रिया-कृत है यह पर्यालोचना से जान पड़ता है। 'शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्' इस वाक्य में, स्वरूप पक्ष के अनुसार, अनु से हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध द्योतित है। अधिक-से-अधिक अनु का इतना ही व्यापार है। इसके आगे अनु की शक्ति नहीं है। संहिता के पाठ-विशेष रूप में होने के कारण निशमन क्रिया की प्रतीति होती है। 'संहिता पाठ से वर्षा हुई' यह ज्ञान ही विशेष क्रिया से प्रभावित होना ध्वनित करता है।

जो क्रियाजनितत्व पक्ष के पक्षपाती हैं उनके अनुसार अनु का व्यापार निशमन क्रिया की अभिव्यक्ति तक है। संहिता और प्रवर्षण में जो हेतुहेतुमद्भाव संबंध है वह निशमयति क्रियाजनित है इतना अनु से द्योतित है। 'अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः' में परिपालन क्रिया हेतुवाला स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए। हेलाराज ने इसी मत को प्रश्रय दिया है। उनके अनुसार क्रियाफलरूप सम्बन्ध का द्योतन कर्मप्रवचनीय का कार्य है। उनके अनुसार भर्तृहरि का भी यही पक्ष जान पड़ता है—

...'वस्तुतः क्रियाफलस्यैव सम्बन्धस्य प्रकाशनात्। यथा तु तत्रभवद्भर्तृहरेस्तत्र तत्राभिप्रायो लक्ष्यते तथा निमित्तविशेषावच्छेद एव कर्मप्रवचनीयकृत इति राद्धान्तः।'

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३।१ पृष्ठ ५

कर्मप्रवचनीय पर संग्रहकार के मत का उल्लेख भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति में किया है। कर्मप्रवचनीय सम्बन्ध निर्धारण में हेतु माने जाते हैं। संग्रहकार के अनुसार दो प्रकार के सम्बन्ध होते हैं :

तिरोभूत क्रियापद और सन्निहित क्रियापद। तिरोभूत क्रियापद से अभिप्राय क्रियापद के अश्रूयमाण रूप से है। दो द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध में क्रिया स्वरूप के तिरोहित हो जाने पर भी सम्बन्ध अभिव्यक्त रहता है। सम्बन्ध क्रिया के आधार

पर होता है। कारकशक्तियों की अनभिव्यक्त दशा में भी क्रिया उनके सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करा सकती है। जैसे राजपुरुषः शब्दमें राजा में कर्तृशक्ति है, वह पुरुष को कुछ देता है। पुरुष में सम्प्रदान शक्ति है, वह राजा से कुछ लेता है। 'राजपुरुषः' में दोनों शक्तियों के तिरोहित होने पर भी ददाति क्रिया स्वस्वामिभाव सम्बन्ध को प्रकट कर देती है। दान आदि क्रिया के अश्रुत होने के कारण यहाँ सम्बन्ध अश्रूयमाण क्रियाविषय माना जाता है। सन्निहित क्रियापद सम्बन्ध वहाँ होता है जहाँ कारकपद और क्रियापद में सम्बन्ध दिखाया जाता है। इसका उदाहरण 'मातुः स्मरति' वाक्य है। यहाँ क्रियापद श्रूयमाण है और क्रिया और द्रव्य में सम्बन्ध दिखाया गया है। कर्मत्व की अविवक्षा में स्मरण के प्रति मातुः शब्द का विशेषण भाव प्रतिपादित होता है। क्रिया दो अर्थों को जोड़ने वाली मानी जाती है। इसलिए, किसी के मत में, मातुः स्मरति में भी क्रिया और द्रव्य में उपश्लेष के लिए किसी क्रियान्तर का आधार होना चाहिए। दूसरे आचार्य मानते हैं कि किसी अन्य अनिर्दिष्ट क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। क्रिया सम्बन्ध के लिए क्रियान्तर की अपेक्षा नहीं रखती है। दो काष्ठों के संश्लेष में जतु आदि द्रव्य तो आवश्यक हैं किन्तु जतु और काष्ठ के संयोग में अन्य की अपेक्षा नहीं होती। संग्रहकार का मूल उद्धरण निम्नलिखित है :

> **कर्मप्रवचनीयविषयविभागप्रदर्शनार्थं सम्बन्धोपन्यासः। द्विविधो हि सम्बन्धः संग्रहे पठ्यते। तिरोभूतक्रियापदः, संन्निहितक्रियापदश्च। एवं ह्याह— "उपर्युक्तार्थ द्रव्य सम्बधेषु क्रियान्तासु नष्टरूपासु भिन्ना धर्मतो विगुणेष्वेव सम्बन्धात्मा प्रकाशते। श्रूयमाणक्रियावद् द्रव्ययोः सम्बन्धः विषयभूतत्वाद् क्रियाया" इति।** —वाक्यपदीय २।१९९ हरिवृत्ति, हस्तलेख

भर्तृहरि ने एक दूसरा उदाहरण भी दिया है जो संग्रहकार का जान पड़ता है किन्तु स्पष्ट रूप से नाम का उल्लेख नहीं है :

> **तथैव केचित् पंचपदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपातकर्मप्रवचनीया इति पठन्ति। तेषामप्यर्थभेदेनोपसर्गनिपातेभ्यः उत्कर्ष क्रियते, अत आह—'क्रिया रूपनाशे न तिरोभवन्ती यं सम्बन्धमुपजनयति तस्या निमित्तभूतायाः क्रियायाः सहचारी वाक्यान्तरेषु विशेषदृष्टसामर्थ्यः कर्मप्रवचनीयः क्रियाविशेषोपादानेन सम्बन्धमवच्छिन्नत्ति, निमित्तानुग्रहानुगममात्रायाः सम्बन्धरूपं नियमयतीति।**
>
> —वाक्यपदीय २।२०१ हरिवृत्ति, हस्तलेख

पाणिनि ने कर्मप्रवचनीय ग्यारह गिना दिए हैं—अनु, उप, अप, परि, आङ्., प्रति, अभि, अधि, सु, अति, अपि। और इनके बाइस अर्थ दिए हैं—हेतुलक्षण, सहार्थ, हीनता, आधिक्य, वर्जन, मर्यादावचन, लक्षण, इत्थंभूताख्यान, भाग, विप्सा, प्रतिनिधि, प्रतिदान, आनर्थक्य, पूजा, अतिक्रमण, पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा, समुच्चय, स्वाम्य और अधिकार। इनमें पदार्थ, सम्भावना और अन्ववसर्ग अत्यन्त प्राचीन वाङ्मय के शब्द हैं जिनका उन दिनों विशेष अर्थ होता था और पाणिनि ने १।४।९६ में उन्हीं अर्थों में इनका प्रयोग किया है।

औदुम्बरायण दर्शन

वार्ताक्ष और औदुम्बरायण नाम के आचार्यों ने नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप में पदविभाग को अनुपपन्न माना था। वे वाक्य को अखण्ड मानते थे। उसका भी संप्रत्यय (ज्ञान) बुद्धि में संसृष्ट रूप में रहता है। शब्द (वाक्य) बौद्ध है। अर्थ भी बौद्ध है। शब्द भी बुद्धि में संसृष्ट रूप में रहता है, अर्थ भी संसृष्ट रूप में रहता है। बुद्धि से जो कुछ जाना जाता है वह सब संसृष्ट रूप में रहता है इसलिए बुद्धि भी संसृष्टार्थप्रत्ययावमर्शिनी है। संसृष्ट का प्रविभाग अवास्तविक होता है। अतः चार पदजातों की कल्पना भी अवास्तविक है।

संसृष्ट शब्द अथवा संसृष्ट अर्थ के परिज्ञान का एक कल्पित साधन है जिसे अपोद्धार कहा जाता है। अपोद्धार पद्धति के आधार पर लोक में और शास्त्र में भी, व्यवहार के लिए वाक्य को पद में विभक्त किया जाता है। सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, उपायान्तर से जिसे किसी तरह से नहीं समझा जा सकता, उन सब अर्थों के जानने का साधन शब्द है। व्याप्ति और लाघव के आधार पर शब्द का आश्रय लिया जाता है शब्द व्याप्तिमान् है क्योंकि वह मूर्त, अमूर्त सबका स्पर्श करता है। शब्द लघु है क्योंकि वह एक से अनेक का, अल्प से महत् का अवबोधक है। एक-एक शब्द अपने समानधर्मा अनन्त शब्दों के प्रतीक हैं। अत्यन्त संसृष्ट अर्थ का अथवा अत्यन्त अविभक्त शब्द के परिज्ञान के लिए अपोद्धार की कल्पना कर ली जाती है।[1] परंपरा से लोक में और शास्त्र में भी पद-व्यवहार प्रसिद्ध है। अपोद्धार रूप में पद की सत्ता मानकर नाम, आख्यात, नियात आदि के रूप में पद का विभाग उपपन्न होता है :

> **एतस्माद् एव औदुम्बरदर्शनात् तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यत इत्युच्यते। यथैव तु व्याप्तिमत्वात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वर्थेषु बहुभिरपि प्रकारैः दर्शयितुम् अशक्येषु लाघवात् शब्दव्यवहारो लोके प्रसिद्धिं गतः, एवमत्यन्तसंसृष्टेष्वर्थात्मसु शब्देसु वा विभक्तेषु अपोद्धारः कल्पितः। पदव्यवहारो व्याप्तिमत्वात् लघुत्वाच्च लोके शास्त्रे च रूढिः प्रसिद्धो व्यवस्थित इति।**
>
> —वाक्यपदीय २।३४८, हरिवृत्ति, हस्तलेख

---

१. औदुम्बरायण अखण्डवाक्यवादी थे इसकी पुष्टि महाभाष्य की एक अज्ञात नामवाली अप्रकाशित व्याख्या से भी होती है—

> निर्भागस्फोटवादिनस्तु भगवद् औदुम्बरायणमतानुसारिण एवमाहुः...।
>
> महाभाष्य व्याख्या, हस्तलेख, पृ० २१, मद्रास ओरियन्टल मनुस्क्रीप्ट लाइब्रेरी न० आर ४४३६।

भरतमिश्र ने भी इसकी पुष्टि की है—इह कैश्चिद् वर्णातिरिक्ततया पदत्वमेकाकारप्रत्ययनिर्भासमानमप्यनन्तरदृष्टार्थ हेतुतया च 'तदागमे हि दृश्यत' इत्यनेन न्यायेन प्रसिद्धमपि भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि...। —स्फोटसिद्धि, पृ० १

प्रातिपदिकार्थ

प्रातिपदिकार्थ के विषय में भर्तृहरि के पहले से ही विवाद चला आ रहा था। भर्तृहरि ने लिखा है कि पुरुष-विकल्प के आधार पर प्रातिपदिकार्थ पाँच, चार और तीन रूप में माने जाते हैं (**पञ्चकः प्रातिपदिकार्थः, चतुष्कः त्रिक इति पुरुषविकल्पाधीन एवं प्रकारः पक्षभेदः**——वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति, पृ० ४०)। इस भेद का मूल आधार विभक्ति का वाचक या द्योतक होने का विवाद था। कुछ लोगों के मत में प्रातिपदिक से स्वार्थ, द्रव्य, लिंग, संख्या और कर्मादि का अभिधान होता है, विभक्तियाँ कर्मादि की द्योतिका हैं। कुछ आचार्यों के मत में स्वार्थ, द्रव्य और लिंग प्रातिपदिक से (प्रकृति से) अभिहित होते हैं, विभक्तियाँ संख्या और कर्म आदि की वाचिका हैं। वाक्यपदीयकार ने स्वयं इसका उल्लेख वाक्यपदीय २।१६५, १६६ हरिवृत्ति में किया है।

जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार त्रिक प्रातिपदिकार्थ पक्ष वृत्तिकार को अभिमत है। क्योंकि उनके कथनानुसार, वही युक्त है। वृक्षं पश्य जैसे वाक्यों में विभक्ति के बिना संख्या कर्म आदि की प्रतीति संभव नहीं है। यद्यपि पयः पयो जरयति जैसे वाक्यों में बिना विभक्ति के भी संख्या, कर्म आदि का बोध देखा जाता है फिर भी पयसी पयांसि पयसा जैसे स्थलों में संख्या कर्म आदि के ज्ञान के लिये विभक्ति की अपेक्षा अनिवार्य है। जिस तरह 'गर्गाः' शब्द में बहुवचन के कारण यञ् प्रत्यय के बिना भी अपत्य अर्थ की प्रतीति होती है वैसे ही गार्ग्य शब्द में भी प्रकृति ही अपत्य-अर्थ को व्यक्त कर सकेगी ऐसा नहीं कहा जा सकता। पयः पयो जरयति जैसे स्थलों में भी वस्तुतः विशेष विभक्ति के कारण ही संख्या, कर्म आदि की प्रतीति होती है यदि विशेष विभक्ति नहीं होती अर्थ-विशेष का भी भान नहीं होता। इसलिये त्रिक पदार्थ पक्ष ही युक्तियुक्त है। (**कस्मात् पुनः वृत्तिकारेण त्रिकः प्रातिपदिकार्थ इति दर्शनमाश्रितम्। युक्तत्वात्।**

—काशिकाविवरण पञ्जिका १।४।२१, पृ० २७६।

हरदत्त ने त्रिक प्रातिपदिकार्थपक्ष के प्रसंग में प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के मतों का उल्लेख किया है। त्रिक प्रातिपादिकार्थ पक्ष में कर्म आदि की तरह एकत्व आदि संख्या विभक्ति के अर्थ हैं। प्रभाकर के अनुयायी मानते हैं कि कर्म आदि का विभक्ति द्वारा युगपत् अभिधान होता है, उनमें विशेषण विशेष्यभाव होने के पहले ही प्रातिपदिकार्थगत के रूप में ही वृक्ष एक वृक्ष, कर्म, करण आदि का अभिधान होता है बाद में एक क्रिया में अन्वय होने के बल से उनमें परस्पर सम्बन्ध होता है। भाट्ट संप्रदाय वाले विशिष्टाभिधान के पक्षपाती हैं। हरदत्त का भी यही मत है :

> **त्रिकः प्रातिपदिकार्थ इत्यस्मिन् दर्शने कर्मादिवदेकत्वादि संख्या विभक्त्यर्थः। तत्र कर्मादीनां युगपद् विभक्तिभिः अभिधीयमानानां परस्परं विशेषण विशेष्यभावमनापन्नानां केवलप्रातिपदिकार्थगतानामभिधानं वृक्ष एको वृक्षः कर्म पशुरेकः पशु करणमिति वाभिधानं, पश्चाच्चैकक्रियान्वयवतेन परस्पर-सम्बन्ध इति प्राभाकरा मन्यन्ते। भाट्टास्तु परस्परासम्बद्धस्य स्वतंत्रस्या-**

नेकार्थस्याक्षाः पादा भाषा इत्यादावभिधानदर्शनेष्येकशेषमन्तरेणादश-नाद् यजेत इत्यादौ च कृतिकार्ययोर्युगपल्लिङाभिधीयमानयोरपि विशेषण विशेष्यभावस्य प्राभाकरैरभ्युपगमात्तद्वदेव विशिष्टाभिधानं मन्यन्ते। अस्माकमप्ययमेव पक्ष। —पदमंजरी २।३।१ पृष्ठ ४१८

चतुष्क प्रातिपदिकार्थ पक्ष की व्याख्या दो तरह से की जाती है। स्वार्थ, द्रव्य, लिंग और कारक रूप में तथा स्वार्थ, द्रव्य, लिंग और संख्या रूप में। इसमें प्रथम चतुष्क संख्या के द्योतक पक्ष में घटित होता है (कैयट, महाभाष्यप्रदीप ४।१।१)।

वस्तुतः व्याकरणदर्शन में आवश्यकतानुसार कभी त्रिक पक्ष का और कभी चतुष्क और कभी पञ्च प्रातिपदिकार्थ पक्ष—ये सभी मान्य रहे हैं। नागेश के अनुसार भाष्यकार विभक्तियों को द्योतक रूप में मानते हैं, द्योतक पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष है। **अस्माद् भाष्यात् द्योतकत्वपक्ष एव सिद्धान्त इति मन्यते।** नागेश—महाभाष्य ४।१।५०

कैयट के अनुसार प्रातिपदिकार्थ ही अनेक शक्तियोग के कारण कर्म आदि शब्द से वाच्य होता है। जिसे हम विभक्ति विपरिणाम कहते हैं वह भी वस्तुतः प्रातिपदिक का ही विपरिणाम है। विभक्ति का विपरिणाम केवल औपचारिक रूप में होता है:

प्रातिपदिकार्थ एव हि नानाशक्तियोगात् कर्मादिशब्दवाच्य इति स एव विशिष्ट शक्तियुक्तो विभक्त्यन्तवाच्यः। अथवा तात्त्विकेऽपि भेदे शब्दस्य सारुप्यात् तत्त्वाध्यवसायाश्रयेण विभक्तिप्रत्ययत्यागोपादानाभ्यां प्रातिपदिकस्य विपरिणामव्यवहारोऽवसीयते। विभक्तेस्तूपचरितो विपरिणामव्यवहारः। न हि प्रथमायाः सप्तमीरूपेण विपरिणामः संभवः।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।३।६०

प्रातिपदिकार्थ स्वार्थ अनेक प्रकार का है। स्वार्थ शब्द में स्व शब्द आत्मीय का वाचक है और अर्थ शब्द अभिधेय का वाचक है। (स्वोऽर्थः स्वार्थः)। वह स्वरूप, जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, सम्बन्ध रूप में कई तरह का होता है। जब गौः ऐसा शब्दस्वरूप से विशिष्ट जाति कही जाती है, शब्दस्वरूप विशेषण होने के कारण स्वार्थ है और जाति विशेष्य होने के कारण द्रव्य है (द्रव्य शब्द से यहाँ व्याकरण-दर्शन प्रसिद्ध इदं तत् इस रूप में परामर्श योग्य वस्तु से अभिप्राय है)। पटस्य शुक्लो गुणः जैसे स्थलों में जाति से विशिष्ट गुण का अभिधान होता है इसलिये विशेषण होने के कारण जाति यहाँ स्वार्थ है और गुण विशेष्य होने के कारण द्रव्य है। शुक्लः पटः जैसे शब्दों में गुण विशिष्ट द्रव्य का उल्लेख होने के कारण विशेषणभूत गुण स्वार्थ है और विशेष्यभूत पट द्रव्य है। कभी-कभी द्रव्य भी द्रव्यान्तर का विशेषण होता है जैसे यष्टीः प्रवेशय, कुन्तान् प्रवेशय जैसे वाक्यों में। ऐसे स्थलों में विशेषणभावापन्न यष्ट्यादिक द्रव्य तो स्वार्थ है और विशेष्यभावापन्न द्रव्यान्तर (पुरुषादिक) द्रव्य ही हैं। दण्डी, विषाणी जैसे शब्दों में जहाँ सम्बन्ध-निमित्तक प्रत्यय होते हैं, सम्बन्ध ही स्वार्थ है। कभी क्रिया भी स्वार्थ मानी जाती है जैसे पाचकः पाठकः आदि में। इनमें क्रियानिमित्तक प्रत्यय हुआ है। पाचकः जैसे स्थलों में कुछ लोग क्रिया-कारक सम्बन्ध को स्वार्थ मानते हैं। जब प्रवृत्तिनिमित्तलिंगसंख्याव्यतिरिक्त लिंग और संख्या का अभिधान होता है वहाँ लिंग और संख्या भी स्वार्थ हैं जैसे स नपुँसकोऽभवत्, गावोविंशतिः आदि स्थलों में। इसी तरह कारक भी कर्म, करण आदि के रूप में स्वार्थ होता है। परन्तु जहाँ प्रवृत्तिनिमितव्यतिरिक्त लिंग और संख्या असम्भव है—जैसे

स्त्री, पुमान्, एकः, द्वौः, बहवः आदि में—वहाँ लिंग-संख्या का अभिधान नहीं होता।

यद्यपि लोक में पद के उच्चारण करते ही पाँचों प्रातिपदिकार्थ एक साथ ही (युगपत्) प्रतीत होते हैं क्योंकि शब्द-व्यापार विरम-विरम कर नहीं होता और न अर्थ के साथ उसका कभी वियोग होता है फिर भी शास्त्र में व्यवहार की सुविधा के लिये कल्पित अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा क्रम का आश्रय लिया जाता है। प्रातिपदिक स्वयं प्रयोग के योग्य नहीं होते। उनकी अर्थवत्ता भी कल्पित ही है फलतः कल्पित न्याय के बल पर उनमें क्रम माना जाता है। शास्त्र में क्रम अनेक प्रकार का माना जाता है जैसे श्रुतिक्रम, अर्थक्रम, पाठक्रम, काण्डक्रम, प्रवृत्तिक्रम, प्रतिपत्तिक्रम, प्रयोगक्रम, बुद्धिक्रम आदि। पुण्यराज ने वाक्यपदीय २।८० की टीका में इनका व्याकरणशास्त्र के उदाहरणों द्वारा विवेचन किया है। जहाँ तक प्रातिपदिकार्थों का सम्बन्ध हैं इनमें प्रतिपत्तिक्रम होना चाहिये। परन्तु भर्तृहरि के अनुसार प्रत्तिपतिक्रम श्रोता की दृष्टि से और वक्ता की दृष्टि से भी व्यवस्थित नहीं है (**न हि शब्दस्य क्रमवती विरम्य विरम्य स्वार्थादिषु वृत्तिः सम्भवति। सकृदुच्चारणात्। अर्थेन च नित्यमवियोगात्। प्रतिपत्तिक्रमोह्ययं श्रोतुरभिधातु र्वा न व्यवस्थितः** (वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति, पृष्ठ ४१)। मध्यमा में जो 'क्रम' है वह शब्द-व्यापार से नहीं होता अपितु वह एक तरह का कल्पित होता हैं। कभी-कभी श्रोता या अभिधाता को क्रम की प्रतिपत्ति होती है। नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः इस न्याय के अनुसार पहले स्वार्थ का तब विशिष्ट लिंग आदि की प्रतिपत्ति होनी चाहिये। भर्तृहरि के अनुसार क्रम ग्रहण के आधार निम्नलिखित पाँच हैं—

(१) प्रत्यासत्ति
(२) महाविषयता
(३) अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यंजनप्रकर्ष
(४) उपलिप्सा
(५) बीजवृत्तिलाभानुगुण्य

प्रत्यासत्ति के द्वारा प्रातिपदिकार्थों में प्रतिपत्ति क्रम का निर्धारण किया जाता है। प्रत्यासत्ति का अर्थ आसन्न अथवा समीपगत है। प्रत्यासत्ति उपकारभाविता मानी जाती है। उच्चरित शब्द में सभी प्रातिपदिकार्थ स्वार्थ, द्रव्य, लिंग आदि संसृष्ट रहते हैं। इनमें प्रतिपत्ता जिसको समीप समझता है उसको पहले अवगत करता हैं। प्रातिपदिकार्थों में आसन्न उपकारक जाति है। जातिस्वरूप के बिना द्रव्य का अवधारण दुष्कर है। अतः सर्वप्रथम प्रत्यासत्ति के आधार पर जाति का ज्ञान होता है। जाति द्रव्य के बिना अभिव्यक्त नहीं हो सकती और न व्यवहार के योग्य हो सकती है। लिंग आदि भी आश्रय के बिना नहीं टिक सकते। इसलिए जाति के बाद परन्तु लिंग संख्या आदि के पहले द्रव्य का भाव होता है। लिंग तथा संख्या और कारक में लिंग प्रत्यासन्न है। क्योंकि लिंग द्रव्यान्तर अनपेक्ष होता है जबकि संख्या और कारक दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा रखते हैं। दो-तीन आदि संख्याएँ एक वस्तु से अतिरिक्त वस्तु की अपेक्षा रखती ही हैं। एक संख्या भी द्वित्व आदि के व्यवच्छेदक के रूप में द्रव्यान्तर

सापेक्षा ही मानी जायगी। फलतः बहिरंग संख्या और कारक की अपेक्षा अंतरंग लिंग की प्रतिपत्ति पहले मानी जाती है। संख्या और कारक में संख्या सजातीय पदार्थ की अपेक्षा रखती है जबकि कारक विजातीय क्रिया की अपेक्षा रखते हैं। अतः बहिरंग कारकों की अपेक्षा अंतरंग संख्या का अवबोध पहले होगा। अतः प्रत्यासत्ति के आधार पर प्रातिपदिकार्थों में जाति, द्रव्य, लिंग संख्या और कारक इस तरह का क्रम होगा।

महाविषयता के द्वारा भी क्रम की प्रतिपत्ति होती है। जाति और द्रव्य में जाति का क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि जाति सर्व व्यक्ति में अनुगत है। स्फुटतर परिच्छेद होने के कारण पहले जाति का ही ग्रहण होगा। द्रव्य और लिंग में द्रव्य महाविषय है क्योंकि द्रव्य सभी लिंगों के साथ है जबकि एक लिंग दूसरे लिंग से व्यावर्तित है। अर्थात् स्त्रीलिंग पुलिंग आदि सबके साथ द्रव्य मिलेगा परन्तु जहाँ स्त्रीलिंग हैं वहाँ पुलिंग नहीं हैं। लिंग और संख्या में लिंग महाविषय है क्योंकि लिंग सभी संख्याओं में हैं जबकि एक संख्या दूसरी संख्या से भिन्न है। संख्या और कारक में संख्या महाविषयवाली है। संख्या का सम्बन्ध प्रातिपदिक और आख्यात दोनों से है जबकि कारक का सम्बन्ध केवल प्रातिपदिक से है। अतः महाविषयता की दृष्टि से भी जाति, द्रव्य, लिंग आदि का क्रम संभव है।

अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यंजनप्रकर्ष भी प्रतिपत्ति-क्रम में साधन है। अभिव्यक्ति के निमित्त में जितना ही अधिक उपव्यंजन होंगे उतना ही शीघ्र उसका ज्ञान होगा। जाति और द्रव्य में जाति के उपव्यंजन अधिक हैं क्योंकि जाति सर्वसाधारण होने के कारण अनेक व्यक्ति से व्यंग्य होती है। जबकि द्रव्य अपने अवयवों द्वारा व्यक्त किये जाने के कारण अल्पव्यंजनवाला है। इसी तरह द्रव्य और लिंग में लिंग और संख्या आदि में उपव्यंजन क्रमशः अल्प होता गया है।

उपलिप्सा के द्वारा भी क्रम का बोध होता है। सर्वप्रथम जिसकी उपलब्धि इष्ट होती है प्रतिपत्ता को उसी का भान सर्वप्रथम होता है।

बीजवृत्तिलाभ अनुगुण्य के द्वारा भी क्रम का ज्ञान होता है। प्रत्यय (ज्ञान) उत्पत्ति में जो आन्तर कारण है उसे बीज कहते हैं। उसके वृत्तिलाभ का तात्पर्य प्रबोध से है। आनुगुण्य का अभिप्राय कार्य के उत्पादन के अभिमुख होना है। जितने ज्ञान होते हैं वे पूर्व पूर्व आहित संस्कार के प्रबोध के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। जाति ज्ञान द्रव्य ज्ञान का बीजवृत्तिलाभानुगुण्य है। अर्थात् जाति के ज्ञान होने पर द्रव्य का ज्ञान होता है। इसलिये सर्वप्रथम जाति का ज्ञान होगा। इसी तरह व्यक्ति (द्रव्य) का ज्ञान आश्रय-परतंत्र लिंग आदि के ज्ञान का अनुगुण है। इसी तरह जाति, व्यक्ति, लिंग आदि का क्रम बीजवृत्तिलाभानुगुण्य के सहारे भी भासित होता है।

उपयुक्त क्रम का उल्लेख महाभाष्यकार ने भी किया है: **प्रातिपदिकं चाप्युपदिष्टं सामान्यभूतेऽर्थे वर्तते। सामान्ये वर्तमानस्य व्यक्तिरुपजायते। व्यक्तस्य सतो लिंगसंख्याभ्यामन्वितस्य बाह्येनार्थेन योगो भवति**—महाभाष्य १।१।५७। भाष्यकार ने उपर्युक्त मन्तव्य लौकिक आधार पर व्यक्त किया है। व्यक्ति प्रातःकाल उठ कर पहले शरीर-कार्य करता है। तब मित्रों का तब सम्बन्धियों का कार्य करता है। यही न्याय-

प्राप्तक्रम प्रातिपदिकार्थों में भी काम देते हैं।

फिर भी वाक्यपदीयकार के मत में क्रम में अनियम देखा जाता है (**ग्राह्यासु मात्रासु अनिमयेन बुद्धिक्रमो व्यवतिष्ठते**—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२६ पृ० ४२ जाति आदि की प्रत्यासत्ति में व्यभिचार देखा जाता है जैसे इयम् एकस्य एतत् कर्म जैसे स्थलों में जाति के बिना भी लिंग आदि द्रव्य को व्यवहार योग्य बनाते हैं। भर्तृहरि ने अपने मत की पुष्टि के लिऐ निम्नलिखित कारिका उद्धृत की है :

एकोऽयं शक्तिभेदेन भावात्मा प्रविभज्यते।
बुद्धिवृत्यनुकारेण बहुधा ज्ञानवादिभिः॥

वस्तुतः भर्तृहरि के दर्शन में शब्दात्मा और अर्थात्मा का रूप विभागातीत है (**समीहित पौर्वापर्योऽर्थात्मा स्वरूपादप्रच्युतोपि सर्वो विभागातीत तत्त्व एव**—वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।१३)। भर्तृहरि ने प्रतिपत्ति को लघुप्रक्रमा और गुरुप्रक्रमा इन दो रूपों में व्यक्त किया है। लघुप्रक्रमा तो वह है जिसके द्वारा सामान्यविशेष के विचार के साथ विभाग के द्वारा अविभक्त की प्रतिपत्ति की जाती है। गुरुप्रक्रमा उस प्रतिपत्ति का नाम है जिसके द्वारा संसृष्ट रूप का अविभक्त रूप में ही ज्ञान होता है। कुशल प्रतिपत्ता वही है जो भेद को अभेद के व्याघात के बिना ही देखता है (वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।१३)।

प्रातिपदिकार्थ-जाति अथवा व्यक्ति

वाजप्यायन के मत में शब्द का वाच्य जाति है। व्याडि के मत में शब्द का वाच्य व्यक्ति है। पाणिनि के मत में आवश्यकतानुसार जाति और व्यक्ति दोनों हैं। भर्तृहरि के अनुसार यदि आकृतिवाद पक्ष को माना जायगा, शास्त्र में विप्रतिषेध-बाध और शब्दान्तर प्राप्ति की उपपत्ति संभव नहीं है। यदि व्यक्तिवाद पक्ष माना जायगा, उत्सर्ग और अपवाद बेकार सिद्ध होंगे :

"**पाणिनेः सर्वत्राकृतेर्भावात् सकृत्गत विप्रतिषेधबाधनं शब्दान्तरप्राप्तिश्च नोपपद्यते। अथ द्रव्यमेव पदार्थः एवमपि सर्वासां व्यक्तीनां सर्वाभिश्चोदनाभिरङ्गीकरणात् उत्सर्गापवादौ न प्रकल्पेते।**"—महाभाष्य त्रिपादी पृष्ठ २३ ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का हस्तलेख, पृ० १८ पूना संस्करण

इसलिए पाणिनि ने जाति और व्यक्ति दोनों को दृष्टि में रख कर सूत्र रचे हैं। लक्ष्यानुरोध से कहीं जाति का और कहीं व्यक्ति का आश्रय लिया जाता है। जाति-पदार्थ पक्ष में जाति ही शब्द का अभिधेय है. उसके आधारभूत व्यक्ति की प्रतीति नान्तरीयक रूप में मानी जाती है। इस पक्ष में जाति के स्थानित्व, आदेशत्व, परत्व, अव्यवहितत्व आदि धर्म व्यक्ति के द्वारा शब्दसंस्कार में उपयोगी होते हैं। इसलिये यरोऽनुनासिकेनुनासिको वा ८।४।४५ जैसे लक्षण जातिमती व्यक्ति में ही प्रवृत्त होते है। कैयट के अनुसार स्वंरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा १।१।६८ में रूप शब्द का अर्थ सामान्य भी है और व्यक्ति भी है। दोनों प्रकार के अर्थ मानने पर भी फल में कोई भेद नहीं है। क्योंकि व्यक्ति सामान्य से युक्त रूप में ही, सामान्य व्यक्ति के आश्रय से ही प्रतिष्ठित होता है (महाभाष्यप्रदीप १।१।६८)। भर्तृहरि भी इस बात को मानते हैं कि जाति

और व्यक्ति के विवाद में केवल प्रतिज्ञाभेद है न कि वस्तुभेद है। तात्पर्य के अनुसार जाति और व्यक्ति में कोई कहीं प्रधान और कहीं नान्तरीयक होता है (**तात्पर्येण तु विवक्षाभिद्यते। किञ्चदत्र प्रधानम् किञ्चिन्नान्तरीयकमिति। तच्च प्रतिज्ञाभेदमात्रम्। जातिः शास्त्रे कार्ययोगिनी संचिकीर्षिता, व्यक्तिः शास्त्रे कार्ययोगिनी संचिकीर्षितेति।**

—वाक्यपदीय १।७० हरिवृत्ति, पृ ७३

व्यक्ति में अर्थक्रियाकारिता होते हुए भी व्यक्तिपक्ष में आनन्त्य और व्यभिचार दोष माने जाते हैं और जैसा कि मम्मट ने कहा है, गौः शुक्लः चलः डित्थः आदि में विषयविभाग भी न हो सकेगा। परन्तु व्यक्तिपक्ष का समर्थन करते हुए कौण्डभट्ट ने इन आक्षेपों को निराधार माना है क्योंकि जिस रूप में शक्तिग्रह होगा उसी रूप में पदार्थोपस्थिति भी होगी :

यद्यपि काव्यप्रकाशकारेणोक्तं गौः शुक्लः चलो डित्थ इत्यादीनां जातिगुण क्रियासंज्ञाशब्दत्वेन विषयविभागः शुद्धव्यक्तिवाच्यत्वे न स्याद् इति तच्चिन्त्यम्। येन रूपेणोपस्थिते शक्तिग्रहस्तेन रूपेणः पदार्थोपस्थितिः। ......उक्तं च भट्टपादैः अरुणाधिकरणे आनन्त्येऽपि हि भावानामेकं कृत्वोपलक्षणम्। शब्दः सुकरसम्बन्धो न च व्यभिचरिष्यति॥

—श्लोक वार्तिक, वैयाकरण भूषण, पृष्ठ ११९ बम्बे संस्कृत सीरीज़।

इस सम्बन्ध में भर्तृहरि ने जाति और व्यक्ति में व्यतिरेक दिखाते हुए दृष्टाभिधानपक्ष और अदृष्टाभिधानपक्ष का उल्लेख किया है। कुछ आचार्य मानते हैं कि व्यक्ति के स्वरूप-भेद निश्चित रूप में होते हैं। ऐसा नहीं होता कि व्यक्ति का स्वरूप असंवेद्य, अव्यपदेश्य अथवा अविद्यमान हो। व्यक्ति ही गौ है आकृति नहीं। गुण ही नील है न कि गुण सामान्य नीलत्व।

कुछ लोगों के मत में शब्द जाति के रूप में ही स्वरूपवान् होते हैं और जाति के द्वारा ही अव्यपदेश्यस्वरूप व्यक्ति के बोधक होते हैं। क्योंकि देखा जाता है कि निमित्त और अनिमित्त वाले अर्थ में निमित्त वाले अर्थ का पहले ज्ञान होता है। निमित्त दृष्टाभिधानवाले और अदृष्टाभिधानवाले होते हैं।

जिसके निमित्तों का अभिधान दृष्ट है उसे दृष्टाभिधान कहते हैं, जैसे, गोत्व आदि। गो शब्द गोत्व की अभिधा है (**गो शब्दादयो हि तेषां अभिधा**—वृषभ वाक्यपदीय १।७०)

जिसके निमित्तों का अभिधान दृष्ट नहीं है उसे अदृष्टाभिधान कहते हैं। जैसे, उत्पलगन्ध आदि। उत्पलगंध शब्द उसे व्यक्त नहीं करता। क्योंकि सम्बन्ध से अवच्छिन्न सम्बन्धी का अभिधान होता है (**न हि उत्पलगंध शब्दस्तदाह। सम्बंधावच्छिन्न-सम्बन्ध्यभिधानात्** (वही, पृष्ठ ७२)

निमित्त कभी तो एक देश के सारूप्य से और कभी अत्यन्त सादृश्य से शब्द के ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं। एक देश के सादृश्य से जैसे, ध्वनि अथवा कोई अंग अथवा चेष्टा देखकर प्राणी शब्द की प्रवृत्ति होती है। गौ शब्द की प्रवृत्ति और उसका ज्ञान अधिक अवयव सन्निवेश के सादृश्य से होता है।

मुख्य बात यह है कि दृष्टाभिधान में जाति. शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) इन तीनों का अनुवर्तन होता है। अदृष्टाभिधान में केवल जाति और बुद्धि इन दो का ही अनुवर्तन होता है।

तत्र दृष्टाभिधानेषु त्रयमनुवर्तते-जातिः शब्दः प्रत्यय इति । अदृष्टाभिधानेषु द्वयं जातिर्बुद्धिश्चेति ।

—वृषभ, वाक्यपदीय टीका १।७०, पृष्ठ ७२

इस तरह जाति व्यक्ति में परस्पर अविनाभाव रूप में वृत्ति है। इनमें यदि भेद है तो वह तात्पर्यवश से है। जाति की विवक्षा में जाति प्रधान है और व्यक्ति की विवक्षा में व्यक्ति प्रधान है, शेष नान्तरीयक है। अतः जाति और व्यक्ति एक-दूसरे के संस्कारक हैं। यही पक्ष व्याकरण संप्रदाय में गृहीत है और यही पक्ष भर्तृहरि को भी अभिमत है।

कात्यायन के मत में जाति और व्यक्ति

जाति और व्यक्ति पर विचार कात्यायन ने वाजप्यायन और व्याडि के आधार पर किया है। वाजप्यायन के अनुसार आकृति एक है। शब्द से उसी का अभिधान होता है। उसकी सत्ता और उसके एकत्व का ज्ञान बुद्धि की एकरूपता से होता है। प्रख्याऽविशेषात् १।२।६४-३६। श्वेत, कृष्ण आदि रंग में भेद होते हुए भी, प्रमाण आदि के भिन्न-भिन्न होते हुए भी गौ व्यक्तियों में गौः गौः इस तरह का एकाकार प्रत्यय होता है। इस अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर सामान्य का सद्भाव और उसका एकत्व माना जाता है। शब्द से जाति का अभिधान होता है इसके प्रमाण में वार्तिककार ने वार्तिक लिखा है—अव्यपवर्गगतेश्च १।२।६४-३७। अव्यपवर्ग का भाव है अभेद, अविच्छेद या अविशेष, उसकी प्रतीति को अव्यपवर्गगति कहते हैं। गौः कहने से व्यपवर्ग शुक्ल, नील, पीत आदि भेद का भान नहीं होता। शब्द द्वारा जाति के अभिधान होने पर उसके आधार से व्यक्ति में वाहन दोहन आदि व्यापार उत्पन्न हो जाते हैं। जाति और तद्वान् में अभेदोपचार से गौः शुक्लः जैसे सामानाधिकरण्य व्यवहार भी उत्पन्न हो जाता है। प्रख्याविशेष से वार्तिककार ने प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय के आधार पर जाति के एकत्व का प्रतिपादन किया है क्योंकि अनभिधीयमान भी जाति संन्निधि मात्र से प्रख्याविशेष में निमित्त हो जाती है। अव्यपवर्गगति से भी यही बात सिद्ध होती है। प्रख्याविशेष से जाति में प्रत्यक्ष प्रमाण का संकेत किया है। 'ज्ञायते चैकोपदिष्टाम् १।२।६४-३८ वार्तिक द्वारा अनुमान भी सहायक के रूप में अभिप्रेत है। देशभेद, कालभेद, अवस्थाभेद, पिण्डभेद के होते हुए भी अबाधित रूप में अनुगताकार प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय होता है। इसकी अन्यथानुपपत्ति से सामान्य की सत्ता अनुमेय है। धर्मशास्त्र से भी जातिवाद की पुष्टि होती है। ब्राह्मणं न हन्यात् से ब्राह्मण मात्र को नहीं मारते हैं। ऐसा नहीं कि एक को न मारकर शेष के विषय में कामचारिता है। धर्मशास्त्रं च यथा १।२।६४-३९ वार्तिक से, कैयट के अनुसार यह भी अभिप्रेत है कि भ्रान्त प्रत्यभिज्ञा न ग्रहण की जाय। कभी-कभी सादृश्य एकक्रियाकारित्व आदि के

निमित्त से भ्रान्त प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। ऐसा न होने पावे इसके लिए धर्मशास्त्र वाला वार्तिक है। स्मृतिकार भी जाति के आश्रय से व्यवहार का विधान करते हैं। एक का अनेक अधिकरण अथवा अनेक उपलब्धि के लिए वाजप्यायन और उनके अनुसार कात्यायन ने एक आदित्य और विभिन्न भागों में एक इन्द्र का दृष्टान्त अपनाया है। यदि शब्द का अभिधेय द्रव्य माना जायगा, आकृति का ज्ञान नहीं होगा, एक शब्द अनेक अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकेगा। श्रुति, स्मृति व्यवहित व्यवहार विच्छिन्न होने लगेंगे।

व्यक्ति के पक्ष में कात्यायन का वार्तिक है—द्रव्याभिधानं व्याडिः १।२।६४-४६। आचार्य व्याडि के अनुसार शब्द का अभिधेय द्रव्य (व्यक्ति) है। इसी आधार पर लिंग और वचन की सिद्धि होती है। वेद की आज्ञा से भी द्रव्य ही अभिधेय जान पड़ता है। आकृति-अभिधेय पक्ष में आलंभन आदि कार्य असम्भव हैं। एक वस्तु अनेकाधिकरणस्थ नहीं हो सकती, उसकी प्राप्ति युगपत् नहीं हो सकती। अन्यथा सबका प्रादुर्भाव और सबका नाश एक साथ होता। एक अश्व के निधन के बाद अश्व का नाम लोक से मिट जाता। अभिव्यंजक के विनाश से जाति के विनष्ट हो जाने के कारण उसी वर्ग के पिण्डान्तर का भान दुष्कर हो जाता। अथवा आश्रय के अपाय से आश्रित का अपाय (विनाश), अवयवों के अपाय से अवयवी के अपाय की भाँति हो जाता। गो पिण्ड से गो जाति की यदि अभिव्यक्ति मानी जाएगी तो एक गोपिण्ड को देखकर सभी गोपिण्ड का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त वैरुप्य भी है---अस्ति च वैरुप्यम् १।२।६४। एक तरह के गो को किसी को 'खण्ड' और किसी को 'मुण्ड' कहते हैं। एक ही वस्तु के भेद और अभेद दोनों विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते। गाश्च गोश्च जैसे विग्रह भी सामान्य के एकत्व पक्ष में युक्त नहीं हो सकते। क्योंकि समुच्चय भेदाश्रित होता है, सामान्य के एकत्व और अभिधेयत्व पक्ष में यह सम्भव नहीं है। इसलिए द्रव्य की ही सत्ता माननी चाहिए, सामान्य की नहीं।

वार्तिककार ने आकृति पक्ष पर लगाये गये दोषों के निराकरण के लिए भी वार्तिक लिखे हैं :

> **लिंगवचनसिद्धिर्गुणस्यानित्यत्वात्**—गुणवचनाद्वा १२।६४-५३, ५४ अर्थात्—**आकृति पक्ष में लिंग और वचन की अनुपपत्ति का समाधान गुण को अनित्य मानकर गुणवचन शब्दों के आश्रयगत लिंगसंख्या के आधार पर किया है।**

अधिकरण गतिः साहचर्यात् १।२।६४-५५ के द्वारा वेद आज्ञाजन्य आलंभन आदि का समाधान किया है। आकृति पक्ष में आकृति में आलंभन आदि की अचरितार्थता देखकर आकृति सहचरित द्रव्य में आलंभन आदि क्रियाएँ होंगी।

अविनाशोऽनाश्रितत्वात् १।२।६४-५७ वार्तिक द्वारा विनाश और प्रादुर्भाव वाले आक्षेप का उत्तर दिया है। द्रव्य के विनाश होने पर भी आकृति का विनाश नहीं होता। क्योंकि, भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार, आकृति और द्रव्य की आत्मा अनेक हैं।

वैरुप्यविग्रहौ द्रव्यभेदात् १।२।६४-५८ के द्वारा गाः गौः आदि वैरूप्य विग्रह का

कारण द्रव्य का भेद माना है। अतः द्रव्यगत भेद के उपचार से एक ही आकृति में समुच्चय विरुद्ध नहीं है।

व्यर्थेषु च सामान्यात् सिद्धम् १।२।६४-५६ वार्तिक द्वारा अनेकार्थक शब्दों पर के आक्षेप का समाधान किया है। विभिन्नार्थी में भी सामान्य मानने से काम चल जाएगा। विभिन्न क्रियाओं में भेद होते हुए भी अभिन्न प्रत्यय हुआ करता है उसका निमित्त सामान्य है और वही सामान्य द्रव्य में भी निमित्त है। जैसे पाचक में आश्रयान्तरगत भी सामान्य समवेतसमवाय के कारण द्रव्य में उपकारक होता है। जैसे गैरिकगत लौहित्य संयुक्त समवाय रूप होने पर भी लौहित्य प्रत्यय का ज्ञान कराता है।

इस तरह वार्तिककार ने आकृति पक्ष के दोषों का परिहार कर उसके प्रति अपना झुकाव द्योतित किया है। आकृति की इस व्यापकता के कारण ही व्याकरण-दर्शन सामान्य में भी सामान्य और अभाव में भी निरुपाख्यत्व सामान्य की कल्पना करता है। मुख्य उल्लेखनीय बात यह है कि कात्यायन ने केवल आकृति पक्ष और व्यक्ति पक्ष का विश्लेषण ही नहीं किया है, सूत्रकार के अनेक सूत्रों को इस धरातल पर लाकर उनका अन्वाख्यान किया है।

महाभाष्यकार के मत में जाति

महाभाष्य में जाति की चार परिभाषायें मिलती हैं—

१. **जननेन या प्राप्यते सा जातिः** —महाभाष्य ५।३।५५

२. **आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक् ।**
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रञ्च चरणैः सह ॥ —महाभाष्य ४।१।६३

३. **प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः ।**
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः ॥ —महाभाष्य ४।१।६३

४. **यर्त्हि तद् भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं**
सामान्यभूतं स शब्दः । नेत्याह । आकृतिर्नाम सा ।

—महाभाष्य पृ० १, कीलहार्न संस्करण

इनमें जाति का प्रथम लक्षण जाति शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर गठित है। यहाँ भाष्यकार ने जाति का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से जनन से जोड़ा है और उसमें अपकर्ष अथवा प्रकर्ष नहीं माना है। कैयट के अनुसार भाष्यकार का अभिप्राय अयत्नलभ्यता दिखाना मात्र है। अन्यथा परमाणु आदि नित्य पदार्थों में जनन के अभाव से जातित्व विरह होगा। अयत्नलभ्य अर्थ सत्ता है जिसमें प्रकर्ष-अपकर्ष नहीं होता। यत्न से उत्पाद्य घट आदि पदार्थों में जाति नित्यता के आधार पर रहती है। गुण में आश्रय भेद से भेद देखा जाता है, इसलिए उसमें प्रकर्ष-अपकर्ष आश्रयभेद के आधार पर व्यक्त किया जाता है किन्तु जाति में आश्रयभेद से भेद नहीं होता। अतः जाति में प्रकर्ष अथवा अपकर्ष नहीं होता।

नागेश ने जनन से प्राप्त जातिलक्षण को अद्वैतदर्शन के अनुकूल माना है।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ जन्य है। ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है अतः उसमें जाति भी नहीं है। महाभाष्यप्रदीपोद्योत ५।३।५५, तथा मंजूषा पृ० ४६४। नागेश ने सामान्य और जाति में भेद माना है। उनके मत में 'पाचकत्व' में सामान्य है किन्तु जाति नहीं है (मंजूषा, पृ० ४६४)।

जाति का दूसरा लक्षण आकृति से सम्बद्ध है। जाति वह है जिसका बोध आकृति के आधार पर होता है। अर्थात् जाति अवयवसन्निवेशविशेष से व्यक्त होती है। जैसे गोत्व। जाति उपदेश बोध्य लिङ्ग से भी व्यक्त होती है जैसे ब्राह्मणत्व। ब्राह्मणत्व जाति गोत्व की तरह अवयवसंस्थान पर निर्भर नहीं करती। किन्तु विशेष चिह्नों द्वारा किसी के बताए लक्षणों को देखकर ब्राह्मणत्व का परिज्ञान होता है। ब्राह्मणत्व जाति आरोपित धर्म है। गोत्व की तरह स्वाभाविक नहीं। अथवा जो सब लिङ्ग का आश्रय न लेती है। यद्यपि तट शब्द सर्वलिङ्गी है फिर भी यहाँ जाति प्रतिपादन अप्राप्तप्रापण रूप में माना जाता है इसलिए जहाँ सब लिंग संभव है वहाँ भी जाति हो सकती है और जो असर्वलिङ्ग है वहाँ भी जाति नहीं हो सकती। जैसे क्रमशः तट शब्द और देवदत्ता शब्द में। एक बार के कथन से ही पिण्डान्तर में भी जिसका बोध हो, वह भी जाति का लक्षण है जैसे गौः शब्द मात्र कहने से दूसरे गो व्यक्ति में स्थित गोत्व का भी बोध होता है। चरण के साथ गोत्र भी जाति व्यक्त करता है। नागेश के अनुसार कारिका में उल्लिखित सभी लक्षण शब्दपरक हैं :

आकृतिग्रहणार्थकः शब्दः, सकृदाख्यातनिर्ग्राह्यासर्वलिङ्गार्थकः शब्दः, जातिशब्द इति शब्दलक्षणमेतत् —महाभाष्यप्रदीपोद्योत ४।१।६३

जाति का तीसरा लक्षण आविर्भाव से सम्बन्ध रखता है। वस्तु के आविर्भाव और विनाश से जिसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है वह जाति है। जब तक द्रव्य है तब तक जाति है। निगुण द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती। जातिरहित द्रव्य की भी उपलब्धि नहीं होती। जाति बहुत विषयों में व्याप्त रहती है और असर्वलिङ्गा है। दूसरे और तीसरे जातिलक्षण में भेद से व्याकरणप्रक्रिया में भेद उपस्थित होता है। आकृतिग्रहण वाले पक्ष में 'कुमारीभार्य' शब्द बनता है, आविर्भाववाले पक्ष में 'कुमारभार्य' रूप होगा। कैयट के अनुसार आकृतिग्रहण वाला लक्षण भाष्यकार को इष्ट है :

पूर्वोक्तमेव लक्षणं भाष्यकारस्याभिमतम्, अपर आहेत्यभिधानादाहुः।

—महाभाष्यप्रदीप ४।१।६३

चतुर्थ जातिलक्षण भिन्न में भी अभिन्न, छिन्न में भी अछिन्न सामान्य रूप में जाति की प्रतिष्ठा करता है। यह लक्षण ब्राह्मणत्व, घटत्व आदि में साधारण है। भिन्न में भी अभिन्न से एकत्व लक्षित है। छिन्न में भी अछिन्न कहने से जाति का नित्यत्व अभिप्रेत है। पतंजलि ने यहाँ सामान्यभूत शब्द का प्रयोग किया है। भर्तृहरि के अनुसार भूत शब्द उपमावाची है। (भूत शब्द उपमावाची-महाभाष्यदीपिका पृ० ३)। इसके आधार पर कैयट ने भी भूत शब्द को उपमा के अर्थ में लिया है। फलतः सामान्यभूत शब्द का अर्थ है: सामान्य इव। सत्ताख्यमहासामान्य गोत्व आदि का

उपमान है।[1] इस तरह भाष्यकार के इस वचन से जाति में एकत्व, नित्यत्व और अनेकानुगत्व उपपन्न हो जाता है। आकृति और जाति में कुछ भेद माना जाता है। आकृति का सम्बन्ध सदा अवयवसंस्थान से होता है। जाति अवयवसंस्थान निरपेक्ष भी हो सकती है। किन्तु भर्तृहरि के अनुसार, भाष्यकार के उपर्युक्त जाति लक्षण में आकृति शब्द जातिपूरक है :

आकृतिरिति न तत् संस्थानम्। किं तर्हि। जातिरेव। यथा आकृत्याभिधानं वाजप्यायन इति। आक्रियतेऽनयेति आकृतिः। आक्रियत इति भिद्यते पदार्थान्तरेभ्य इत्याकृतिः। आक्रियेते बुद्धिशब्दावस्या इति आकृतिः।

—महाभाष्यदीपिका, पृ० ३

भर्तृहरि दर्शन में जाति

भर्तृहरि की दृष्टि से जाति का स्थान बहुत ऊँचा है और इस पर उन्होंने कई दृष्टियों से विचार किया है। अन्य दर्शनों में जाति के सम्बन्ध में उस समय तक प्रचलित वादों का भी उन्होंने संकेत किया है। व्याकरण-दर्शन में गृहीत जाति की कुछ चर्चा कात्यायन और पंतजलि के विचार से ऊपर की जा चुकी है। वाजप्यायन के जाति, पदार्थदर्शन के पक्ष में नामजाति, आख्यातजाति, कारक क्रियाजाति, संख्याजाति गुणजाति, आदि के रूप में सर्वत्र जाति-व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। इसका संकेत पहले किया जा चुका है और आगे भी उन-उन प्रकरणों में प्रसंगवश किया गया है। जाति के विषय में, व्याकरणदर्शन की दृष्टि से, कुछ विशेष वाद हैं उनमें मुख्य हैं—शब्द जाति, और सत्ता जाति। इन पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

शब्द जाति

किसी आचार्य के मत में शब्द का वाच्य शब्द का स्वरूप है। स्वरूप को ही दर्शनभेद से स्वा जाति कहा जाता है। उसी को शब्दजाति शब्द से भी कहा जाता है। गो शब्द से वाच्य गो शब्द में रहने वाली गो शब्दत्व जाति है, गोत्व नहीं। पहले शब्द अपने रूप को कहता है, अर्थ बाद में सामने आता है। शास्त्र में 'वृद्धि' शब्द-स्वरूप निबन्धन है, वह अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। इसी तरह अग्नि शब्द भी अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। जब शब्द के स्वरूप की चर्चा की जाती है, संज्ञा और संज्ञी का भेद के रूप में ग्रहण किया जाता है। ऐसी दशा में दो शब्द माने जाते हैं। श्रूयमाण और प्रतिपादक। प्रतीयमान भी दो होते हैं सम्बन्ध प्राप्त करने वाले और कार्यी। इसलिए अग्नि शब्द उच्चरित होकर अग्निशब्दमय अर्थ सामने लाता है। अग्निशब्दमय अर्थ से अग्नि शब्द अर्थवान् होता है। दोनों में अभेद है। इसलिए अग्नि शब्द अग्निशब्दमय अर्थ को किसी दूसरे अग्नि शब्द का अभिधेय बनाकर तुल्यश्रुति के आधार पर अग्निशब्द

१. शेष नारायण इस अर्थ से सहमत नहीं हैं—यत्तु भूत शब्दः उपमार्थ इति सत्ताख्यं महासामान्यं गोत्वादेः सामान्यविशेषस्योपमानं निर्दिष्टं सामान्यमिव सामान्यभूतमिति। तन्न। सामान्यश्रुतेः सर्वसामान्यविषयत्वेन प्रवृत्तायाः संकोचे कारणाभावात्—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख।

के संज्ञाभाव का प्रतिपादन करता है। इस तरह संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध शक्तिभेद के आधार पर कल्पित शब्द भेदाश्रित होता है। प्रत्यायक शब्द का उच्चारण परार्थ होता है। जिसके लिए शब्द का उच्चारण किया जाता है वह उसे कार्य में नियुक्त करता है। उच्चार्यमाण (शब्द) का यह स्वाभाविक धर्म है कि वह परतन्त्र होता है। इस आधार पर सभी प्रत्याय्य क्रिया के साधन माने जाते हैं। इसलिए जो शब्द शब्द के अभिधेय रूप में अवस्थित रहता है उसके उच्चारण में भी उससे भिन्न अन्य रूप की कल्पना करनी पड़ती है। यहाँ दो तरह के विकल्प हैं। कुछ लोग मानते हैं कि अभिधान का आवर्तन होता है। वह अपने अभिधेय से च्युत नहीं होता है। घट प्रत्याय्य है। यदि पूछा जाय प्रत्याय्य कैसा है तो किसी दूसरे शब्द द्वारा उसे बताया जाता है। इसी तरह शब्द का भी प्रत्यायन होता है। शब्द का वाचक शब्द के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं होता, इसलिये शब्द का ही आवर्तन होता है। इसी दृष्टि से अनुकरण शब्द में और संज्ञा शब्द में भेद स्पष्ट होता है। उच्चार्यमाण दशा में अनुकरण अभिधेय होता है। संज्ञा का अभिधेय प्रत्याय्य ही होता है, उच्चार्यमाण नहीं। अभिधेय अभिधेयस्वरूप को छोड़कर अभिधायक नहीं होता। संग्रहकार का भी कुछ ऐसा ही मत है। उन्होंने कहा है :—

न हि स्वरूपं शब्दानाँ गोपिण्डादिवत् करणे संनिविशते। तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसंनिवेशे सति तुल्यरूपत्वादसंनिविष्टमपि समुच्चार्यमाणत्वेनावसीयते।

—वाक्यपदीय १।६६ हरिवृत्ति में उद्धृत

अर्थात्, शब्द का स्वरूप सदा अभिधेय ही रहता है। जो जिसका अभिधायक होता है वह उसके कारण में संनिविष्ट माना जाता है। शब्द का स्वरूप असंनिविष्ट है। किन्तु तुल्यरूप के कारण संनिविष्ट-सा जान पड़ता है।

इस दुरूह पीठिका पर भर्तृहरि ने शब्द-जाति की प्रतिष्ठा की है। शब्द के स्वरूप के विषय में भी वृत्तिकारों में मतभेद था। कुछ के अनुसार शब्द का स्वरूप ग्राहक होता है, द्योतक होता है, प्रत्यायक होता है। इसके विपरीत दूसरे वृत्तिकारों ने माना है कि शब्द का स्वरूप ग्राह्य होता है, द्योत्य होता है, प्रत्याय्य होता है :—

इह केचित् वृत्तिकारा : पठन्ति—स्वं रूपं शब्दस्य ग्राहकं भवति द्योत्यं प्रत्यायकमिति। अपरे तु स्वं रूपं शब्दस्य ग्राह्यं द्योत्यं प्रत्याय्यमिति।

—वाक्यपदीय १।६९ हरिवृत्ति

जातिवादी आचार्यों के अनुसार शब्द जाति में ही अपने स्वरूप को पाता है और उसी रूप में वह अव्यपदेश्य व्यक्ति का प्रत्यायक होता है। इसलिए सभी शब्द सर्वप्रथम अपनी जाति 'स्वाजातिः' का अभिधान करते हैं। अपनी स्वजाति ही शब्दों का अपना असाधारण रूप है। वार्तिककार ने भी 'न वा, शब्दपूर्वकोह्यर्थे संप्रत्ययः'[1] कह कर शब्दपूर्वक अर्थपरिज्ञान का समर्थन किया है।

१. महाभाष्य १।१।६८ वार्तिक

अथवा प्राथम्य, हेलाराज के अनुसार, सम्बन्ध व्युत्पत्तिकाल की अपेक्षा से है। सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल में अर्थ जाति से सम्बन्ध नहीं रहता, शब्द जाति से रहता है। शब्द जाति को सर्वप्रथम ध्यान में रखकर विभक्ति आदि का विनियोग होता है। अतः शब्द सर्वप्रथम अपनी शब्दजाति का अभिधान करता है। यही शब्द जाति स्वरूप शब्द से और स्व जाति शब्द से शास्त्र में वर्णित है। शास्त्र में जिन शब्दों का स्वरूपपरक निर्देश है वे तो अपने स्वरूप के प्रत्यायक होते ही हैं, जिनका अर्थपरक निर्देश है वे शब्द भी सर्वप्रथम अपने स्वरूप को ही सामने लाते हैं। हेलाराज के अनुसार, जो शब्द अव्युत्पन्न हैं वे भी शब्द में अविनाभाव से अवस्थित शब्द जाति के ही प्रत्यायक हैं। जिन शब्दों के उच्चारण से अर्थ अत्यन्त शीघ्र उपस्थित हो जाते हैं, शब्द के स्वरूप के साथ ही जहाँ अर्थपरिज्ञान होता है, वहाँ भी क्रम रहता है और शब्दजाति का प्रथम उन्मीलन होता है, अर्थजाति का बाद में होता है क्योंकि, व्याकरणदर्शन में, अर्थ शब्द के विवर्त हैं। इसलिए शब्द और अर्थ में तात्त्विक भेद न होते हुए भी और शब्द और अर्थ के साथ-साथ अवभास होते हुए भी उनमें एक क्रम है। शब्द-अवभास पहले, अर्थ-अवभास बाद में होता है; यद्यपि सूक्ष्म काल के कारण क्रम का अवधारण नहीं होता।

अथवा सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल में, गौः शब्द के उच्चारण से, 'गौः अयम् अर्थः' इस रूप में शब्द और अर्थ में अभेद का अध्यारोप किया जाता है। जैसे गौः वाहीकः में किया जाता है। अन्यथा सामानाधिकरण्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह अध्यारोप कौन करता है? इसके उत्तर में हेलाराज की मान्यता है कि जैसे वाच्यवाचक भाव अनादि हैं, वैसे ही अध्यारोप भी अनादि है, अपौरुषेय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरे दार्शनिकों ने विशेषकर धर्मकीर्ति ने इसका खण्डन किया है। वैयाकरणों के कहने का अभिप्राय यह है कि अध्यारोप पुरुष की इच्छा पर नहीं होता। पुरुष की इच्छा से जिस किसी शब्द का जिस किसी अर्थ के साथ अध्यारोप मानने से लोक-व्यवहार अव्यवस्थित हो जायगा। इसलिए पुरुष की इच्छा न मानकर लोकानुगत इच्छा प्रत्येक दशा में माननी पड़ेगी। लोकानुगत इच्छा को ही, व्याकरणदर्शन में, व्यवहारनित्यता माना जाता है। इसलिए व्यवहारनित्यता के आश्रय से गौः वाहीकः आदि स्थलों में अध्यारोप पुरुष इच्छाकृत न होकर लोककृत है। दूसरे शब्दों में वह व्यवहारनित्यत्व के आधार पर अवस्थित है। इस अर्थ में वह अपौरुषेय है।

शब्द जाति की अभिव्यक्ति कैसे होती है? शब्द वर्णसमूह है। प्रत्येक वर्ण में जाति की अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। वर्ण भी असमयसमयभावी होते हैं, उनकी अभिव्यक्ति में क्रम होता है, इसलिए वर्णों द्वारा जाति अभिव्यंजन संभव नहीं है। इसका उत्तर भर्तृहरि, हेलाराज आदि ने वैशेषिक दर्शन के कर्म के आधार पर दिया है। वैशेषिक दर्शन में उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि कर्म हैं। उत्क्षेपण क्षण का भ्रमणक्षण से सारूप्यवश भेद अवगत नहीं होता, इसलिए उत्क्षेपण क्षण अकेले नियत जाति के अभिधान से अपने-आपको असमर्थ पाता है और दूसरे क्षण की अपेक्षा रखता है। उसमें भ्रमणक्षण से कोई विशेषता नहीं है क्योंकि आरम्भ में ही उत्क्षेपण क्रिया

के कर्त्ता की भावना प्रयत्न से जनित है। इसी तरह किसी में मन में 'गो शब्द का उच्चारण करूँ' यह भावना जन्य प्रयत्न यद्यपि, गान, गगन शब्द के प्रयत्न से भिन्न है, हेतु भेद के कारण ग ग में भी भेद है फिर भी सादृश्य के कारण इस भेद का अवधारण कठिन है। इसलिए वर्णध्वनि व्यंजक है किन्तु उसका व्यंजन अस्फुट है, उसका अवधारण ठीक से नहीं हो पाता, आवर्तमान, दुहराये जाने पर भी सामान्य-विशेष रूप में विशदतर अभिव्यक्ति नहीं कर पाती है। जब वह अवयवसन्तान क्रम से उपलब्ध होती है वह शब्द जाति कहलाती है और सब व्यवहार उससे परिचालित होते हैं। श्लोक सकृत् उच्चारण से अर्थ अवभास उतना नहीं करता जितना बार-बार दुहराने पर करता है। इसी आधार पर स्फोटवादी, वर्णस्फोट, पदस्फोट आदि की कल्पना करते हैं :

> **वर्णपदवाक्यविषया: प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुनः पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति**
>
> —वाक्यपदीय १।८३ हरिवृत्ति।

इसलिए प्रथम अक्षर से केवल जाति का अवभास मात्र होता है, आगे वाले वर्णों से स्फुट, स्फुटतर रूप में जाति का निर्धारण होता जाता है और इस तरह संस्कार-विशेष बन जाता है जिसके आधार पर अभिव्यक्ति विशेष उसी तरह से शीघ्र ग्राह्य हो जाती है, जैसे रत्नपरीक्षक शीघ्र ही रत्नतत्त्व को समझ लेते हैं। वैयाकरणों के लिए स्फोटतत्त्व रत्नतत्त्व है। शब्दतत्त्व अन्ततः निरवयव है और वह सर्वप्रथम स्वजाति का वाचक होता है। उसी को शब्दजाति कहा जाता है। जिस तरह रक्त गुण के सम्बन्ध से वस्त्र भी लाल कहा जाता है वैसे ही शब्दजाति अर्थ-जाति के व्यपदेश के लिए होती है। रक्तगुण और वस्त्र की तरह से शब्दजाति और अर्थजाति में सम्बन्ध है। अवश्य ही यह सम्बन्ध यहाँ योग्यतालक्षण माना जाता है। सभी शब्द सभी अर्थों के साथ योग्यतालक्षण सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। जैसे गो शब्द नव भिन्न-भिन्न अर्थों में व्यवहृत होता है किन्तु प्रकरण आदि के सहारे उसके अर्थ का अवच्छेद (निर्धारण) किया जाता है उसी तरह शब्दजाति से शब्दव्यक्ति अभेद रूप में उपस्थित होती है, अर्थजाति के द्वारा उसका निर्धारण किया जाता है। यह क्रम है। किन्तु, प्रत्यायन में अक्रमता रहती है। शब्द से च्छुरित, आक्रान्त, होने पर भी अर्थ के स्वरूप की हानि नहीं होती। जैसे प्रकाश से आक्रान्त घट के स्वरूप का तिरोधान नहीं होता। शब्द स्वरूप से उपरक्त अर्थ के स्वरूप का लोप नहीं होता। शब्द और प्रकाश दोनों प्रकाशक मात्र हैं। शब्दजाति अर्थजाति से एक होकर जाति कार्य का संपादन करती है यह वाजप्यायन का दर्शन है। शब्द में रहने वाली शब्द-जाति की तरह शब्दजाति शब्द में भी रहने वाली शब्दजाति है। एक ही शब्दजाति प्रयोक्तृभेद से भिन्न होकर अभेदप्रत्यय का निमित्त होता है। फलतः उस में भी शब्द-जाति मानी जाती है। इस तरह अध्यास दर्शन के आधार पर शब्दजाति की व्याख्या हेलाराज ने की है।

भर्तृहरि ने अध्यास का आश्रय न लेकर भी जाति पदार्थ की व्याख्या प्रस्तुत की है। शब्द के द्वारा विशुद्ध अर्थ जाति का अभिधान होता है। इस पक्ष में भी,

सभी शब्द जाति के अभिधायक होते हैं। जाति शब्द भी जाति का ही बोधक होता है। व्याकरणदर्शन में सामान्य में भी सामान्य माना जाता है। बाल, कौमार्य आदि अवस्था भेद से भेद मानकर डित्थ आदि व्यक्ति में भी जाति की कल्पना की गई है। व्याकरण-दर्शन में जाति प्रक्रिया वैशेषिकदर्शन से भिन्न रूप में स्वीकृत है। विज्ञानवाद में अनुप्र-वृत्तिरूप प्रख्या को जाति माना गया है। अनुगताकार वाली बुद्धि में प्रतिभासमान आकार अर्थ के रूप में माना जाता है। दृश्य और विकल्प में अभेद के अध्यास से उसी को सामान्य कहा जाता है। शक्ति के रूप में भी जाति की कल्पना भर्तृहरि ने की है। एक ही शक्ति, हेलाराज के मत में ब्रह्मशक्ति, सर्वशक्तिमय के रूप में है। व्यवहार के लिए जाति आदि के रूप में उसी का अवच्छेद किया जाता है। सत्य और असत्य भाव सर्वत्र हैं। जो सत्य है वह जाति है। जो असत्य है वह व्यक्ति है (वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश ३२)।

सत्ताजातिवाद

सत्ता जाति है। इस वाद का मूल महाभाष्य में मिल जाता है।

'स तत्र बुद्ध्या नित्यां सत्तामध्यवस्यति'

—महाभाष्य ३।३।१३३

'न सत्तां पदार्थः व्यभिचरति'

—महाभाष्य ५।२।९४

आदि वाक्यों में इस वाद की झलक मिल जाती है। किन्तु इस पर अधिक प्रकाश भर्तृहरि ने डाला है और यह वाद प्रायः उन्हीं के नाम से विख्यात है।

सत्ता भिन्न-भिन्न पदार्थों से भिन्न होकर सम्बन्धित भेद के आधार पर जाति कही जाती है। अश्व की सत्ता अश्वत्व है। उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। गो की सत्ता गोत्व है। इस तरह डित्थ की भी सत्ता डित्थत्व है। सभी शब्द सत्ता मात्र के वाचक हैं। सत्ता जाति है। वही महासामान्य है। महासत्ता है। अभाव का भी बुद्धिकल्पित आकार से निरूपण होता है। सत्ता से उसका भी सम्बन्ध है। वही प्रातिपदिकार्थ है। 'प्रातिपदिकार्थः सत्ता' उक्ति प्रसिद्ध है। वह नित्य है। महान् आत्मा है। पाणिनि ने त्व और तल् प्रत्यय से उसी का निर्देश किया है। ये प्रत्यय भाव में होते हैं। शब्दों के प्रवृत्ति निमित्त को भाव कहा जाता है। शब्द का भाव सत्ता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। षड्भाव विकारों की योनि भी वही है। क्रमाख्याशक्ति, कालशक्ति सबका स्रोत वही सत्ता है (वाक्यपदीय ३, जाति समुद्देश ३३-३६)। सत्तावाद का विवेचन भर्तृहरि ने सांख्य आदि दर्शनों की दृष्टि से भी किया। भर्तृहरि की यह शैली है कि ऐसे प्रसंगों पर दूसरे दर्शनों की मान्यताओं का संकेत करते चलते हैं। हेलाराज ने इस प्रसंग का सारांश यों दिया है—सभी शब्दों का वाच्य सत्ता है। फलतः जाति पदार्थ की व्याप्ति उपपन्न हो जाती है। यद्यपि भर्तृ-हरि ने द्रव्यपदार्थ के विवेचन में ब्रह्मद्रव्य को उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न कहा है फिर भी तात्पर्यभेद से अवस्थाभेद समझना चाहिए। जातिपदार्थ पक्ष में जाति रूप में

सर्वत्र ब्रह्म विवक्षित है, द्रव्यपदार्थ पक्ष में ब्रह्म परिनिष्ठित रूप में विवक्षित है—यह दार्शनिक विकल्प है। वस्तुतः परमार्थ रूप में दोनों पक्षों में अनुगत एक ही तत्त्व है। वह सत्ता है।

द्रव्य

व्याकरण दर्शन में वह सब कुछ द्रव्य माना जाता है जिसे इदं तत् कहा जा सके। अर्थात् इदं तत् सर्वनाम से वाच्य का नाम द्रव्य है। द्रव्य के इस रूप पर तथा गुणाधार द्रव्य के रूप में पतंजलि आदि के मत का उल्लेख यथावसर आगे किया गया है। वाक्यपदीय में द्रव्य समुद्देश एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में है जो सबसे मिला हुआ है, सबसे भिन्न है। द्रव्य के दो भेद हैं व्यावहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक रूप का दर्शनभेद से निर्देश भर्तृहरि ने यों किया है:

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायस्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥

—वाक्यपदीय, द्रव्य समुद्देश १।

आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व इन सब रूप में द्रव्य का उल्लेख उन दिनों तक हो चुका था। भर्तृहरि के अपने सिद्धान्त में सत्य वस्तु का अवधारण असत्य वस्तुओं के द्वारा किया जाता है, असत्योपाधिक शब्द से सत्य का निरूपण होता है। यह संसार का वैचित्र्य है। उपलक्षण द्वारा सत्य का निर्भास सदा देखा गया है। काक शब्द देवदत्त के गृह को पूर्ण रूप से जता देता है। असत्योपाधिक कुण्डल आदि के पीछे सत्य, शुद्ध स्वर्ण निहित है। जैसे नाडिका से काल का अवच्छेद होता है वैसे ही आकार से सर्वव्याप्त शक्ति का निर्धारण होता है। वस्तुतः तत्त्व और अतत्त्व में भेद नहीं है। अविकल्पित तत्त्व विकल्प रूप में, अविभाज्य काल विभक्त रूप में प्रतीत होता आया है।

आकृति के विलीन हो जाने पर भी जो अवस्थित रहता है उसे ही सत्य कहा जाता है। वही पारमार्थिक सत्य है। व्याकरण दर्शन की पश्यन्ती-वाक् उसी का प्रतीक है:

संवित् च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकात् न भिद्यते—हेलाराज द्रव्यसमुद्देश।[1]

इस प्रसंग के भर्तृहरि के अनेक वाक्य नागार्जुन की शैली पर हैं, जैसे:

न तदस्ति न तत्रास्ति न तदेकं न तत् पृथक्।
न संसृष्टं विभक्तं वा विकृतं न च नान्यथा।

—द्रव्य समुद्देश १२।

अस्तु व्याकरण दर्शन में जैसा कि कहा जा चुका है, द्रव्य के पीछे भी किसी शाश्वत शक्ति के देखने की चेष्टा की गई है। हेलाराज, कैयट आदि ने उसे ब्रह्म नाम दिया है।

---

१. हेलाराज ने परावाक् को अलग न मानकर उसे पश्यन्ती स्वरूप माना है।

४

आख्यात और आख्यातार्थ

आख्यात के देवता सोम कहे जाते हैं और ऋषि भारद्वाज हैं :

भारद्वाजकमाख्यातं भार्गवं नाम भाष्यते।

वाशिष्ठ उपसर्गस्तु निपातः काश्यपः स्मृतः ॥[1]

इससे यह जान पड़ता है कि आख्यात का सर्वप्रथम प्रयोग पारिभाषिक रूप में भारद्वाज ने किया था। इसका सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में मिलता है :

ओंकारं पृच्छामः को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातं, किं लिंगं, किं वचनम् का विभक्तिः, कः प्रत्यय इति।[2]

पाणिनि आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में नहीं करते। अष्टाध्यायी में केवल आख्यातोपयोगे (१।४।२९) और द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क् प्रथमाध्वर पुरश्चरणनामाख्याताट्ठक् (४।३।७२) इन सूत्रों में आख्यात शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में करते थे। काशकृत्स्न सूत्रों में आख्यात शब्द पारिभाषिक रूप में मिलता है। जैसे—

धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्।[3]

कात्यायन ने 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' जैसे वार्तिकों में और महाभाष्यकार ने 'क्रियाप्रधानमाख्यातम् (५।३।६६) जैसे वाक्यों में आख्यात शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है। आख्यात शब्द का मूल अर्थ 'जो कहा जा चुका' है।

आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति आख्यायतेऽनेन इस रूप में की जाती है :

आख्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानभूतेत्याख्यातस्तिङन्तः, कृत्यलुटो बहुलम् इति करणेक्तः, स्वनिकायप्रसिद्धिरेषा। दुर्गाचार्य ने आख्यात की व्युत्पतिमूलक व्याख्या यों की है :

---

१. वाजसनेयि प्रातिशाख्य, उव्वटभाष्य, ८।५२

२. गोपथ ब्राह्मण, प्रथमप्रपाठक, १।२४,

३. वृषभ ने वाक्यपदीय १।२६ की टीका में इसे काशकृतस्न का सूत्र कह कर उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त ने भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी, द्वितीयभाग, पृष्ठ २६५ पर इस सूत्र को उद्धृत किया है।

आख्यायतेऽनेन गुणभावेन वर्तमाना अनेककारकप्रविभक्ता स्फुरमाणेव प्रधानद्रव्यभावाभिव्यक्त्युन्मुखीभूता क्रिया तस्याश्च प्राधान्येन वर्तमानो भावः स्वात्मलाभप्रधान इत्याख्यातम्।

अथवा

आख्याते स्त्रीपुन्नपुंसकानि क्रियागुणभावेन वर्तमानान्यनेन क्रिया च तेषामुपरि प्राधान्येन वर्तमानेत्याख्यातम्।[४]

चन्द्रकीर्ति के अनुसार भू आदि के रूप जिससे व्यक्त हों वह आख्यात है अथवा जो कर्त्ता के व्यापार को व्यक्त करे वह आख्यात है :

आख्यायन्ते कथ्यन्ते अर्थात् निष्पाद्यन्ते भ्वादीनां रूपाणि येन तदाख्यातम्। अथवा आख्यान्ति आचक्षते कर्तुर्व्यापारमित्याख्याताः।[५]

लघुन्यासकार के अनुसार क्रिया का प्रधान रूप में अथवा साध्य अर्थ को व्यक्त करने वाली के रूप में होना आख्यात है :

आख्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानत्वेन साध्यर्थाभिधायितया वेत्याख्यातम्।[६]

भर्तृहरि के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा किये गये आख्यात के कुछ लक्षण निम्न-लिखित हैं :

भावप्रधानमाख्यातम्। ··· पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे।

—निरुक्त १।८, ११

तदाख्यातं येन भावं सधातुः।—ऋक्प्रातिशाख्य १।२।१८।

क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इहैक एव।
क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाह॥

—बृहद् देवता १।४४।

आविष्टलिंगं आख्यातं क्रियावाचि —कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१०।२८।

येषां तूत्पतावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तानि आख्यातानि।

—मीमांसा सूत्र २।१।४।

क्रियाप्रधानम् आख्यातम्। महाभाष्य ५।३।६६।

उपर्युक्त सभी लक्षणों में आख्यात का क्रियावाचकत्व समान है। वाक्यपदीय में भी 'जन्मादि क्रिया आख्यातपद निबन्धना' (वाक्यपदीय १।१३, हरिवृत्ति) आदि स्थलों में आख्यात का क्रियाप्रधानरूप ही अधिक वर्णित है। क्रिया के स्वरूप पर आगे विचार किया जायगा।

आख्यात चार रूपों में देखा जाता है—कर्त्ता में, भाव में, कर्म में और कर्म-कर्त्ता में। पचति जैसे शब्दों में कर्त्ता में। भूयते, पच्यते जैसे शब्दों में भावकर्म में।

---

४. दुर्गाचार्य, निरुक्त-टीका १।१।८.

५. श्री क्षितीशचन्द्र चटर्जी द्वारा टैकनिकल टर्म्स एण्ड टैकनिक आफ संस्कृत ग्रामर, प्रथमभाग, पृष्ठ ६९ पर उद्धृत.

६. वही, पृष्ठ ६८

और पच्यते स्वयमेव जैसे स्थानों में कर्मकर्ता में। इन चारों रूपों में द्रव्य के अर्थ अविवक्षित होने से द्रव्य अप्रधान होते हैं, क्रिया ही प्रधान होती है। उस क्रिया को कहता हुआ और स्वयं उस क्रिया से लक्ष्यमाण होता हुआ आख्यात आख्यात की संज्ञा पाता है।

आख्यात के अर्थ

पचति जैसे आख्यात के उच्चारण में कई अर्थों की प्रतीति होती है। पाक आदि क्रिया की प्रतीति होती है। वर्तमान आदि काल की प्रतीति होती है। प्रथम, मध्यम आदि पुरुष की प्रतीति होती है, पचति से पर पुरुष की, पचसि से युष्मदर्थ की और पचामि से अस्मदर्थ की। कर्तृगामिपरगामित्व लक्षण से उपग्रह की प्रतीति होती है पचते, यजते आदि आत्मनेपद के उच्चारण से कर्तृगामि फल की प्रतीति होती है और पचति, यजति आदि परस्मैपद के प्रयोग से परगामिफल की प्रतीति होती है। साधन की भी प्रतीति होती है, पचति से कर्त्ता, पच्यते से कर्म की। संख्या भी प्रतीति होती है। पचति से एकत्व, पचतः से द्वित्व, पचन्ति से बहुत्व आदि। अतः क्रिया, काल, पुरुष, उपग्रह, साधन और संख्या ये आख्यात से गम्य अर्थ माने जाते हैं। फलतः इन्हें ही व्याकरणदर्शन में आख्यातार्थ कहा जाता है।

क्रिया, काल, पुरुष, उपग्रह, साधन और संख्या ये सभी आख्यात के अर्थ हैं इसमें कोई विवाद नहीं है। सभी वैयाकरण इस मत को मानते हैं। सार्वधातुके यक् ३।१।६७ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने लिखा है :

तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते·· ···तिङभिहितो भावो कर्त्रा संप्रयुज्यते।

प्रशंसायां रूपप् ५।३।६६ के भाष्यविवरण में कैयट ने भी आख्यात के क्रिया, काल, उपग्रह आदि अर्थ माने हैं :

कालसंख्यासाधनोपग्रहाभिधानेप्याख्यातस्य क्रियाप्रधानत्वावगमः।

इसी तरह महाभाष्य के कः पुनस्तिङर्थः पर टिप्पणी करते हुये कैयट ने लिखा है कि काल, साधन, संख्या, पुरुष, क्रिया और उपग्रह ये तिङर्थ हैं। (**कालसाधनसंख्या-पुरुष क्रियोपग्रहरूपस्तिङर्थ :** —महाभाष्यप्रदीप २।२।१८)।

भर्तृहरि ने भी क्रिया, काल, पुरुष आदि का ग्रहण आख्यातार्थ के रूप में किया है :

प्रवृत्तिर्जन्मादि क्रिया आख्यातपदनिबन्धना। तस्याः प्रवृत्तिरिति समाख्याता-यास्तत्त्वं साध्यत्वं साधनाकांक्षता क्रमरूपोग्रहकालाभिव्यक्तिहेतुत्वम्।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१३।

क्रियासाधनकालादयोऽपि कैश्चित् कथंचिदभिधेयत्वेन प्रविभक्ता।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२६।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वाक्यपदीयकार के मत में आख्यात के उपर्युक्त ही अर्थ हैं। क्रिया, काल, पुरुष आदि का आख्यातार्थ के रूप में ग्रहण आलंकारिक भी

करते हैं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही लिखा है :

तिङन्तपदानुप्रविष्टस्यापि अर्थकलापस्य कारककालसंख्योपग्रहरूपस्य मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मदृशा भागगतमपि व्यंजकत्वं विचार्यम्।[७]

साधन काल आदि का आख्यातार्थ के रूप में सर्व प्रथम संकेत काशकृत्स्न सूत्र में मिलता है। एक सूत्र का रूप है--'धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति च तदाख्यातम्। लिंगं किमिति विभक्तौ एतन्नाम'। इस सूत्र के काशकृत्स्न व्याकरण के होने में वृषभदेव और अभिनवगुप्त के प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। यह सूत्र अत्यन्त प्राचीन है। इसमें प्रमाण यह भी है कि इस सूत्र में संख्या के अर्थ में चिति शब्द का प्रयोग हुआ है। दिक् का अर्थ क्रिया और काल है (दिक् शब्देन क्रियाकालश्चोच्यते-वृषभ, (पृष्ठ ४१)। आख्यात शब्द का प्रयोग और आख्यात के अर्थ रूप में क्रिया, काल, साधन, पुरुष, संख्या आदि का उल्लेख भी एक साथ हो गया है।

उपर्युक्त आख्यातार्थों का व्याकरणदर्शन की दृष्टि से विवरण अगले अध्यायों में वाक्यपदीय के आधार पर किया जाएगा।

क्रिया विचार

आख्यातार्थों में क्रिया की प्रधानता

क्रिया आख्यातगम्य है यह पूर्व के अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। आख्यातार्थों में क्रिया ही प्रधान मानी जाती है। महाभाष्यकार ने क्रिया-प्रधानमाख्यातं भवति'[१] कहा है। न्यासकार ने भी क्रिया और साधन दोनों को आख्यात का वाच्य मानते हुए क्रिया को ही उसका प्रधान अर्थ माना है :

आख्यातस्य यद्यपि क्रियासाधनञ्चोभयं वाच्यं, तथापि तस्य क्रियैव प्रधानमर्थः।[२]

क्योंकि जब पूछा जाता है 'देवदत्त क्या कर रहा है' तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर क्रिया द्वारा ही दिया जाता है, जैसे वह पका रहा है (पचति)। एक पद उपात्त कारक की अपेक्षा भी क्रिया की प्रधानता देखी जाती है (**एकपदोपात्तार्थापेक्षं च क्रियाप्रधानत्वमभिधीयते-महाभाष्य प्रदीप ५।३।६६**)। व्रीहीन् अवहन्ति जैसे वाक्यों में व्रीहि द्रव्य के संस्कारक होने के कारण अवधात की अप्रधानता है। अथवा यद्यपि अर्थ (द्रव्य) की दृष्टि से व्रीहि की प्रधानता है फिर भी क्रिया के साध्य होने के कारण शब्द की दृष्टि से उसी की प्रधानता है न कि व्रीहि की। भूत की अपेक्षा भविष्यत्काल में होने वाला (भाव्य) ही

---

७. ध्वन्यालोक लोचन ३।१६, पृष्ठ ३५६ (चौखम्बा संस्करण)।

१. महाभाष्य, ५।३।६६

२. काशिका विवरणपञ्जिका ५।३।६६, पृ० १२७

निर्वर्त्य कहा जाता है इसलिए साध्य अवस्था में होने के कारण कारक की अपेक्षा व्यापारमयी क्रिया की प्रधानता मानी जाती है। यद्यपि इस दृष्टि से क्रिया से भी बढ़ कर फल की प्रधानता है क्योंकि फल के लिए प्रवृत्ति होती है फिर भी फल की प्रधानता वस्तु की दृष्टि से है। आख्यात के उच्चारण से तो क्रिया की प्रधानता ही निश्चित होती है। क्योंकि पचति शब्द कहने से फल का शब्द के द्वारा उल्लेख नहीं होता अपितु उसके लिए पदान्तर का प्रयोग करना पड़ता है। एक पद से जब एक से अधिक अर्थों की अभिव्यक्ति होती है तो उनमें गुण और प्रधानभाव का ही विचार होता है। पचति शब्द से अभिव्यक्त पाकरूप फल और पाकरूप क्रिया में क्रिया अर्थ ही प्रधान है। पच्यते जैसे कर्म अर्थ में प्रयुक्त शब्दों से भी पाकरूप क्रिया की ही प्रधानता जान पड़ती है क्योंकि पच्यते का अर्थ 'पाकः निर्वर्त्यते' रूप में सामने आता है। वह पाक फल की सिद्धि के लिए है। इस अभिप्राय में हम फल की अपेक्षा क्रिया को गौण समझते हैं परन्तु यथार्थतः साक्षात् रूप में शब्द व्यापार के द्वारा क्रिया का ही प्राधान्य सिद्ध होता है। लोक में क्रिया का ही अनुष्ठान देखा जाता है, फल तो वस्तुसामर्थ्य से होता है। क्रिया की प्रधानता से ही वाक्यार्थ का क्रिया के रूप में व्याख्यान किया जाता है। कर्त्ता आदि कारक जो सिद्ध रूप में होते हैं साध्य क्रिया के गुणीभूत रूप में ही व्यवहृत होते हैं। कर्म का भी क्रिया के प्रति गुणभाव ही है। जहां कर्म ही फल रूप में होता है वहां उसकी प्रधानता फल की दृष्टि से अवश्य होती है पर शब्दतः वहां भी क्रिया की ही प्रधानता रहती है। इसलिए आख्यातार्थ साधन और क्रिया में क्रिया ही प्रधान है। संख्या और पुरुष भी साधन के आश्रय से क्रिया के उपकारी होते हैं अतः वे भी क्रिया की अपेक्षा गुणभूत हैं। काल और उपग्रह क्रिया के साक्षात उपकारक हैं। फलतः वे भी क्रिया के गुणभूत हैं। जहां भाव में लकार होता है वहां क्रिया की प्रधानता संख्या की अपेक्षा होती ही है। वस्तुतः जो साध्य रूप में है, अनिर्वृत्त है वह दूसरे का अंग-भाव (गुणीभूत) नहीं हो पाता है। क्रिया साध्य है। अतः प्रधान है। इसीलिए भाष्य में क्रिया को 'असत्या भेदाभाव इत्येका क्रिया' कहा गया है। हेलाराज के अनुसार इस वाक्य में एक शब्द भेदाभाव का प्रदर्शनपरक है न कि संख्या वाचक। असत्वभूत होने के कारण क्रिया निःसंख्य होती है, उसमें संख्या संभव नहीं है (हेलाराज, वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ४०)। अतः साधन, काल, पुरुष, संख्या आदि की अपेक्षा क्रिया प्रधान होती है।

क्रिया अनुमेय होती है

क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता। वह अनुमेय मानी जाती है। यदि क्रिया न होती, द्रव्य ही द्रव्य होता तो फलजनकता का रूप समझाया नहीं जा सकता। यदि पाक और पाठ में कोई भेद न हो, उनके फल में भी भेद होना कठिन है। इसलिए कारक के अतिरिक्त किन्तु कारक के आश्रित क्रमस्वरूपवाली भिन्नलक्षण कोई वस्तु है ऐसा अनुमान करना पड़ता है। वही क्रिया है। महाभाष्य में भूवादयो धातवः १।३।१ सूत्र की व्याख्या में इसे संवाद-पद्धति से यों व्यक्त किया गया है :

क्रिया किसे कहते हैं ?

क्रिया ईहा को कहते हैं।

ईहा किसे कहते हैं ?

ईहा चेष्टा को कहते हैं।

चेष्टा किसे कहते हैं ?

चेष्टा व्यापार को कहते हैं।

आप तो केवल एक शब्द के बदले दूसरे शब्द कहते चले जा रहे हैं। कोई अर्थ स्वरूप सामने नहीं लाते जिससे ज्ञात हो कि क्रिया क्या है।

क्रिया एक ऐसी वस्तु है जो अत्यन्त अपरिदृष्ट (अपरदृष्ट) है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। परमाणुओं के पिण्ड की तरह क्रिया का पिण्डीभूत कोई रूप नहीं होता। कुक्षिस्थ गर्भ की तरह क्रिया अप्रत्यक्ष होती है अथवा जैसे कुक्षि से बाहर आये हुये गर्भ का प्रत्यक्ष होता है वैसे क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता। वह अनुमान से जानी जाती है। सभी साधनों के रहते हुए कभी पचति का व्यवहार होता है और कभी नहीं होता। जिस साधन के रहते हुए पचति का व्यवहार होता है और जिसके न रहने से नहीं होता है वह अवश्य क्रिया है। अथवा देशान्तरप्राप्तिलक्षण कार्य से क्रिया रूप कारण का अनुमान होता है। देवदत्त यहां था, कुछ समय बाद पाटलिपुत्र में दिखाई देता है। उसके स्थानान्तर होने में अवश्य कोई न कोई व्यापार कारण है। वही क्रिया है। अतः क्रिया अनुमान से जानी जाती है।

क्रिया के अनुमान में कुछ कठिनाइयां हैं। पहले प्रत्यक्ष के आधार पर सम्बन्ध-ग्रहण हो तो अनुमान हो सकता है। फल और व्यापार में जन्यजनक भाव के प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद ही कार्यकारण भाव का अनुमान संभव होगा। यहां जब प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं है, क्रिया विषयक अनुमान भी संभव नहीं है। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि एक एक क्षण का प्रत्यक्ष होता है। धातुवाच्य समूह का युगपत् सन्निधान संभव नहीं है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होगा किन्तु एक एक क्षण का (अधि-श्रयण, स्थाल्युपस्थापन आदि का) प्रत्यक्ष होता है। बुद्धि के सहारे उन सभी क्षणों को एकत्र संकलन कर पचति का प्रयोग किया जाता है। जब एक ही क्षण के लिए (केवल अधिश्रयण आदि के लिए) पचति का प्रयोग किया जाता है, एक ही क्षण में समूह का आरोप कर लिया जाता है। शब्द शक्ति के स्वभाव के कारण एक क्षण धातुवाच्य नहीं माना जाता। कुछ लोगों के मत में अधिश्रयण आदि भी एक क्षणात्मक नहीं होते। उनमें भी हाथ का पसारना, पात्र का आदान, चुल्ली-संयोजन आदि अव-यव होते हैं इसलिए केवल अधिश्रयण भी समूह रूप होता है। उसका भी जो अवयव परमाणु रूप होगा वह शब्द शक्ति के स्वभाव के कारण न तो वाच्य होता है और न उसका प्रत्यक्ष होता है। अतः स्मृति के बल पर सम्बन्ध का ग्रहण कर क्रिया विषयक अनुमान होता है।

कुछ लोग मानते हैं कि 'पचति' यह प्रख्या (बुद्धि) निरालम्ब होती है। निरा-लम्ब होने के कारण भ्रान्त होती है। भ्रान्त होने के कारण अनुमापक नहीं हो सकती।

फलतः क्रिया को अनुमेय मानना ठीक नहीं है। यदि पचति की प्रख्या सालम्बना मानी जाय तो क्रिया का प्रत्यक्ष मानना ही उचित है (ननु पचतीति प्रख्याया निरालम्बनत्वेन भ्रान्तत्वादनुमापकत्वमयुक्त स्यात्। सालम्बनत्वे तु प्रत्यक्षैव क्रिया प्रख्याविशेषविषयत्वात्)।[3] इसके उतर में यह कहा जाता है कि व्याकरणदर्शन में वस्तुरूप अर्थ अर्थ नहीं है अपितु शब्द का अर्थ अर्थ है। अन्वय व्यतिरेक के आधार पर धातु भाग का जो अर्थ निश्चित किया जाता है उसकी उपलब्धि साक्षात् संभव नहीं है। द्रव्य स्वभाव सिद्ध होता है। घटः क्रियते जैसे वाक्यों में जिनमें साध्यावस्था भी व्यक्त है द्रव्यशब्द सन्मात्राकारावलम्बन प्रत्यय सत्ताज्ञान उत्पन्न करते हैं। किन्तु घटः क्रियते में घट की जो भाव्यमानावस्था है, जो शिवक, स्तूपक आदि अवस्थाओं से क्रमशः अभिव्यक्त होती है, उसकी प्रतीति घट शब्द से नहीं होती। उसकी प्रतीति तो क्रियते जैसे क्रिया पद के प्रयोग से ही संभव है। किसी शब्द का वही अर्थ होगा जो पदान्तर निरपेक्ष रूप में अन्वय व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होता हो। इस आधार पर घट से केवल सत्ता आकारक बोध होता है। इसीलिए सत्ता को प्रातिपदिकार्थ माना जाता है। क्रियापद के प्रयोग से (जैसे क्रियते शब्द से) आश्रितक्रमरूप अर्थ की, साध्यावस्था की प्रतीति होती है। इसलिये तिङन्त का अर्थ भाव्यमान रूप में गृहीत होता है। तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ अभिधेय के रूप में नित्य माने जाते हैं। जहां भूत या भविष्यत्काल का उल्लेख होता है जैसे घटः अभूत्, घटः भविष्यति आदि ऐसे स्थलों में भी अर्थ अभिधेय के रूप में नित्य माने जाते हैं क्योंकि उन स्थलों में भी सत् आकारक ज्ञान होता ही है। इसलिए शब्द रूप में भाव्यमाना क्रिया होती है। इसीलिए ध्वनति जैसे शब्दों में क्रियात्व माना जाता है। फलतः अन्वयव्यतिरेक के आधार पर द्रव्य से क्रिया का अनुमान होता है (**तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्रव्यादनुमिता क्रिया, हेलाराज, वही**)। अनुमान का प्रकार नागेश ने निम्नलिखित रूप में प्रकट किया है—

> **अनुमानं त्वेवम्, उत्तरदेशसंयोगादिफलं कारणजन्यं, कार्यत्वादिति। तच्च कारणं प्रसिद्धातिरेके इतरबाधकबलात् क्रियारूपमेव प्रसिध्यतीति भाष्यतात्पर्यम्।—महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।१**

भर्तृहरि ने क्रिया विषयक अनुमान को स्पष्ट करने के लिए कई प्रकार के तर्क सामने रखे हैं। इन्द्रियों का सम्बन्ध सत् वस्तु से ही होता है। क्रियाक्षण क्रमशः सदसत् रूप होते हैं, समूह रूप में होते हैं, इसलिए इन्द्रियार्थसन्निकर्षज्ञान के विषय वे ठीक से नहीं हो सकते। जहां क्रिया का एक ही क्षण है वहां भी समूह का पौर्वापर्य रूप में अध्यास होता है, पौर्वापर्यरूप में ही क्रियात्व होता है। इसलिए क्रिया-क्षण इन्द्रियविषय नहीं है। फिर भी उनका ज्ञान होता है और वह अनुमेय ही कहा जायगा। गौः, अश्व, आदि वर्ण समुदाय जिस तरह संस्कारक्रम से परिपाकप्राप्त अन्त्यबुद्धि निर्ग्राह्य होते हैं उसी तरह क्षणसमाहारात्मिका क्रिया समुदायरूप में फलानुमेय मानी

---

३. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश १, पृ० १८, त्रिवन्द्रम संस्कृत सीरीज, काशी के संस्करण में यहां का पाठ असमंजस है।

जाती है। उसमें वर्तमानक्षणगत इन्द्रियसम्बन्ध के आधार पर प्रत्यक्षत्व आरोपित रहता है और उसमें एकत्व का भान भी आपाततः होता है। भर्तृहरि ने इसके स्पष्टीकरण में अलातचक्र का उदाहरण दिया है। जिस तरह तेजी से घूमते हुए अलातचक्र में भ्रान्ति से चक्राकार का अध्यारोप होता है उसी तरह क्रियाक्षणों में भी एकत्व की परिकल्पना और प्रत्यक्ष का अभिमान होता है। जिस तरह से पचति के अधिश्रयण आदि भाग हैं उसी तरह अधिश्रयण आदि के भी स्वसंस्कारक अवयव हैं। अतः पौर्वापर्य उन अवयवों में भी होने के कारण वे प्रत्यक्ष से परे की वस्तु हैं। जो पर्यन्तवर्ती निरंश क्षणमात्र है उसके लिए क्रिया शब्द का प्रयोग नहीं होता। तात्पर्य यह है कि व्याकरणदर्शन में वास्तविक भेद का विचार नहीं है। जहाँ तक शब्द का सम्बन्ध है, शब्द से क्रिया समूहात्मा रूप में ही भासित होती है यद्यपि वह क्षणमात्रस्वभावमयी है और विप्रकीर्ण अवयव वाली है। अतः क्रिया का सक्रम होना और अतीन्द्रिय होना दोनों सिद्ध होता है। और यदि कभी निरंश क्षणमात्र (अपकर्षपर्यन्त अनुप्राप्त) के लिए क्रिया शब्द का प्रयोग हो भी तो वहां भी पूर्वोत्तर भाग की कल्पना से पौर्वापर्य क्रम अध्यवसित होता है। फलतः वह भी आख्यात वाच्य है। इसी आशय से निरुक्तकार ने भी पूर्वापरीभूत भाव को आख्यातवाच्य माना है (वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ६-१२)।

कुछ लोग मानते हैं कि क्रिया अनित्य है। जिस तरह व्यक्ति से आकृति अभिव्यक्त होती है उसी तरह अधिश्रयण, उदकासेचन, तण्डुलावपन आदि से क्रिया अभिव्यक्त होती है।

कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि क्रिया उत्पन्न होती है, अभिव्यक्त नहीं होती। जब दीप से घट की अभिव्यक्ति होती है, घट की सत्ता पूर्व सिद्ध होती है। क्रिया के लिए अभिव्यक्त पक्ष स्वीकार करने में अधिश्रयणादि से पूर्व क्रिया की सत्ता माननी पड़ेगी।

कुछ आचार्य मानते हैं कि जिस व्यापार के अनन्तर फल की निष्पत्ति होती है वही क्रिया है। पचति में वस्तुतः क्रिया विचटन (तण्डुल के अवयवों का फूल जाना, विक्लित्ति रूप व्यापार है। क्योंकि विचटन के बाद ही ओदन रूप फल की निष्पत्ति होती है। अधिश्रयण आदि विचटन के पूर्व के व्यापार ओदन की निष्पत्ति में साक्षात् उपकारक नहीं होते। इसलिए उन्हें यथार्थ रूप में कारक (साधन) नहीं कहा जा सकता। अधिश्रयण आदि के लिए पचति का प्रयोग प्रधान विचटन क्रिया के अधिश्रवण में अध्यास से होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि अधिश्रयण आदि विचटन क्रिया के सहायक हैं। अतः उनमें क्रियात्व उपचरित है वास्तविक नहीं। उनमें क्रियात्व तादर्थ्य के आधार पर माना जाता है। जिस तरह से तादर्थ्य के कारण स्थूणा में इन्द्र का आरोप करते हैं उसी तरह से अन्य अवयवों में क्रिया रूप का आरोप करते हैं। महाभाष्य का अथ कः पचेः प्रधानोऽर्थः यासौ तण्डुलानां विक्लित्तिरिति यह वाक्य भी इस मत का पोषक है। इसी मत के आधार पर क्रिया और व्यापार में भेद भी किया जाता है। जिससे फल की निष्पत्ति होती है। उस अन्त्य भाग को क्रिया कहते है

और जो अन्य उसके सहायक हैं उन्हें व्यापार कहते हैं—(**फलप्रसवयोग्योऽन्त्यो भागः क्रिया, तदर्थास्त्वन्ये व्यापारा इति—(हेलाराज, क्रिया समुद्देश १५)**। विचटन नियत-काल में होता है। वह पाक शब्द से वाच्य है। उसमें कोई भेद नहीं होता, उसमें पूर्व या पर जैसी कोई वस्तु नहीं है। फिर भी उसमें गुण क्रिया के पौर्वापर्य का आरोप कर उसे पूर्वापरीभूत मानते हैं। अन्यथा पौर्वापर्य के अभाव में उसमें क्रियात्व संभव ही नहीं हो सकता। कुछ लोग मानते हैं कि विचटन व्यापार के अनेक रूप हैं। अधि-श्रयण आदि भी उसके भीतर गृहीत हैं। पचति शब्द से अधिश्रयण आदि का भी बोध होता ही है। पचति की किसी अवस्था में ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिससे एक को प्रधान और दूसरी को गौण माना जाय। कुछ लोग इस रूप में भी कहते हैं कि पचि क्रिया का कोई अपना रूप नहीं है। अधिश्रयण आदि अवयव क्रियाओं का परिकल्पित समुदाय पचि क्रिया है।

क्रिया का स्वरूप

क्रिया के स्वरूप पर वाक्यपदीय में कई तरह से विचार किया गया है। आख्यात वाच्य भाव को पूर्वापरीभूत रूप में यास्क ने ग्रहण किया था और यह मान्यता लोक-प्रसिद्धि पर आधारित थी। लोक में व्रजति शब्द से उपक्रम से लेकर अपवर्ग पर्यन्त (आरम्भ से लेकर अंत तक) समझा जाता था। गमन क्रिया का प्रसार देवदत्त के एक स्थान छोड़ने से लेकर द्वितीय लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाने तक था और लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाने पर ही गमन क्रिया की पूर्णता समझी जाती थी। यद्यपि क्रिया एक सन्तान के रूप में एक है फिर भी उसमें पौर्वापर्य देखा जाता है। इस आधार पर उसे पूर्वापरीभूत मानते थे। यद्यपि अन्त्य व्यापार से भाव की निर्वृत्ति देखी जाती है। फिर भी पूर्व के बिना अन्त्य की ही सत्ता कठिन है। अन्त्य पूर्व सापेक्ष ही होता है। पुनः अभिमत देश में पहुँचने में केवल एक ही क्रिया काम नहीं करती। इसलिये यास्क के समय से ही भाव का पूर्वापरीभूत रूप महत्वपूर्ण मान लिया गया था और बाद के वैयाकरणों ने भी इस रूप का परित्याग नहीं किया। अवश्य ही सूक्ष्म दृष्टि से व्याकरणदर्शन में भाव और क्रिया में थोड़ा भेद माना जाता है। अपरिस्पन्दनसाधनसाध्य धात्वर्थ को भाव कहते हैं और सपरिस्पन्दनसाधनसाध्य को क्रिया कहते हैं। किन्तु क्रिया के स्वरूप विचार में सदा इस भेद को ध्यान में नहीं रखा जाता और कहीं कहीं भाव के दूसरे रूप भी व्यक्त किये गये हैं जैसे भावे घञ् जैसे स्थानों में सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ को भाव कहा गया है। सामान्यतः सुविधा की दृष्टि से भाव और क्रिया समानार्थक हैं। और पूर्वापरीभाव क्रिया का एक प्रधान रूप है। इसे भर्तृहरि ने भी स्वीकार किया है और उनके अनुसार क्रिया का शास्त्रीय लक्षण निम्नलिखित है :

> **यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।**
> **आश्रितक्रमरूपत्वात् तत् (सा) क्रियेत्यभिधीयते॥**[४]

---

४. वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश १.

इस लक्षण में आश्रितक्रम शब्द पूर्वापरीभूत का ही द्योतक है। संयोग विभागात्मक सिद्धस्वभाववाला अर्थ धातु वाच्य नहीं होता। क्योंकि उसका साध्य के रूप में आश्रितक्रम रूप में ज्ञान नहीं होता। क्रियात्व की प्रतीति के लिए साध्य के रूप में अभिधान आवश्यक है। साध्य भले ही अभी असिद्ध हो जैसे पचति और पक्ष्यति में, अथवा सिद्ध हो चुका है जैसे अपाक्षीत् में।

पाणिनि के पूर्व के आचार्यो ने 'क्रियावचनो धातुः' यह लक्षण सामने रखा था। इस लक्षण में कुछ कठिनाइयाँ जान पड़ीं। इस लक्षण को अपनाने से अस्ति, भवति, विद्यते जैसे शब्दों में धातुत्व नहीं संभव होगा। क्योंकि पचति का करोति के साथ जैसा सामानाधिकरण्य है वैसा सामनाधिकरण्य करोति का भवति आदि के साथ नहीं है। किं करोति (वह क्या करता है) पूछे जाने पर भवति (होता है) यह उत्तर नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त, लोक में उसी को क्रिया शब्द से कहते हैं जिसमें कुछ न कुछ परिस्पन्द देखा जाता है। अस्ति, भवति आदि का कोई परिस्पन्दमय रूप स्पष्ट नहीं है। इसलिए महाभाष्यकार ने क्रिया को ईहा, चेष्टा आदि के रूप में मानते हुए भी उसका सकलधातुव्यापक लक्षण बनाया और वह है 'कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रिया' (महाभाष्य १।३।१, ५।३।४२)। किन्तु इस लक्षण के अनेक अर्थ किये जाते हैं जिनमें कुछ का विवेचन हेलाराज के आधार पर यहाँ किया जाता है।

कारकों के प्रवृत्तिविशेष का नाम क्रिया है। ठीक है। परन्तु क्या सभी कारकों का एक ही प्रवृत्तिविशेष है अथवा प्रति कारक की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न है। सभी कारकों की एक ही प्रवृत्ति संभव नहीं है। क्योंकि करण की जो प्रवृत्ति होती है वही कर्त्ता की नहीं होती, संप्रदान की जो प्रवृत्ति होती है वही अधिकरण की नहीं होती। एक ही क्रिया का आश्रय अनेक नहीं देखा जाता।

अतः प्रत्येक कारक की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न होती है ऐसा मानना चाहिए। परन्तु इस पक्ष में भी कठिनाई है। प्रति कारक के साथ भिन्न प्रवृत्ति के मानने से सभी कारकों के व्यापार का अभिधायक धातु होगा। फलतः सभी कारकों का अभिधायक लकार भी होने लगेगा। वस्तुतः लकार का सम्बन्ध धातु से ही होना चाहिए। यह आक्षेप ठीक है। किन्तु देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति जैसे वाक्यों में पच् धातु का सम्बन्ध प्रायः सभी कारक-व्यापारों के साथ देखा जाता है। इसलिए धातु को सभी कारकों के व्यापार का अभिधायक माना जा सकता है। फिर भी लकार का सम्बन्ध सभी कारकों से न होकर कर्ता-कर्म से ही इसलिए होता है कि प्रधान रूप में कर्ता और कर्म के ही व्यापार लकारान्त से प्रतीत होते हैं। यह एक मत है।

कुछ लोग मानते हैं कि संप्रदान आदि कारकों के साथ धातु का सीधा सम्बन्ध नहीं होता, करण आदि के साथ ही होता है। क्योंकि करण आदि के साथ स्वातंत्र्य की विवक्षा देखी जाती है, अपादान आदि के साथ नहीं देखी जाती। इसलिए अधिश्रयण, उदकासेचन आदि के रूप में कर्त्ता आदि के व्यापार का ही नाम क्रिया है। वार्तिककार का भी ऐसा मत है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कारकों की प्रवृत्तिविशष को जब भाष्यकार ने क्रिया कहा है, उनका अभिप्राय क्रिया के स्वरूप

मात्र से है न कि धातुवाच्यत्व से । जिस कारक की जो प्रवृत्ति है वही क्रिया है । पाक क्रिया भी अनेक कारकों से सम्बद्ध होने के कारण अनेक हैं । धातु से केवल कुछ का ही अभिधान होता है, कभी कर्मगत के रूप में जैसे पच्यते, और कभी कर्तृगत के रूप में जैसे पचति । अतएव कर्ता और कर्म से ही लकार का सम्बन्ध होता है, उन्हीं के व्यापार का ही धातु से अभिधान होता है ।

कुछ व्याख्याता प्रवृत्तिविशेष में विशेष पद पर जोर देते हैं । प्रवृत्तियों के विशेष को वे प्रवृत्तिविशेष मानते हैं । सभी कारकों से अन्य विक्लित्ति आदि रूप भूति (भवन) क्रिया है क्योंकि कारक की प्रवृत्ति का फल वही है ।

कुछ लोगों के अनुसार यहां कारक से अभिप्राय प्रधानकारक-कर्ता-से है, अप्रधान करण आदि से नहीं । कारकाणां पद में बहुवचन इस बात का द्योतक है कि क्रिया भेद से कर्तृ भेद होता है और अनेक क्रिया के अनेक कर्तृ हैं । अनेक कर्तृत्व को दृष्टि में रख कर कारक शब्द में बहुवचन का प्रयोग हुआ है । कोई कह सकता है कि तब कारकाणां के स्थान पर कर्तृ पद का ही प्रयोग क्यों नहीं किया । इसका समाधान यह है कि कर्म में भी लकार देखा जाता है, उसका निराकरण न हो इसलिए कर्तृ के बदले कारक शब्द का व्यवहार उस लक्षणवाक्य में किया गया है । जहाँ कर्म की सम्भावना है वहाँ कर्म का व्यापार भी क्रिया है । विशेष बात यह है कि कर्म का विषय उतना व्यापक नहीं है जितना व्यापक कर्ता का है, इसलिए व्यापक होने के कारण कर्ता ही यहां विवक्षित है । इसमें प्रमाण—'अन्यथा च कारकाणि शुष्कौदने प्रवर्तन्ते, अन्यथा च मांसौदने'—(महाभाष्य १।३।१) यह वाक्य है । कर्ता सूखे ओदन की ओर मन्द रूप में प्रवृत्त होता है पर मांस युक्त ओदन की ओर उसकी प्रवृत्ति वेगमयी होती है । मन्दप्रयत्न या संरम्भमय प्रस्थान से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ कारक शब्द से कर्त्ता ही अभिप्रेत है । उसी की प्रवृत्ति देखी जाती है । वही चेतन भी है, अतः प्रवृत्ति उसी में सम्भव भी है । भाष्यकार ने क्रिया को मन्द प्रवृत्ति अथवा वेगमयी प्रवृत्ति के रूप में स्वयं व्यवहृत किया है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्त्ता की विशेष प्रवृत्ति ही क्रिया है । इस मत में कुछ लोग त्रुटि दिखाते हुए कहते हैं कि यदि क्रिया को प्रवृत्तिविशेष रूप में मानेंगे तो चेतन कर्त्ता तो गृहीत होंगे परन्तु अचेतन कर्ता गृहीत न हो सकेंगे । अचेतन होने के कारण उनमें प्रवृत्ति संभव नहीं हैं । इसके अतिरिक्त मांसौदन में करण आदि का भी हाथ हो सकता है । इसलिए कारक शब्द से केवल कर्ता ही निर्दिष्ट है ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता । इस आक्षेप का उत्तर यह है कि संरम्भ सामान्य का कर्ता में ही होना संभव है । थाली अथवा अन्य अधिकरण आदि कारक स्वयं ओदन की ओर मन्द रूप में अथवा वेगरूप में प्रवृत्त नहीं होते । कर्ता कर्म का सामान्य रूप में ग्रहण होने के कारण अचेतन प्रवृत्ति उनमें भी सम्भव है । वार्तिककार ने 'न वा तुल्यकारणत्वाद् इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिः' (महाभाष्य ३।१।७) कहा है चेतन और अचेतन में इच्छा की प्रवृत्ति देख कर ही । इच्छा चेतन देवदत्त में जैसे है वैसे ही अचेतन कूल में भी है । इसीलिए कूलं पिपतिषति प्रयोग किया जाता है । भाष्यकार ने इसे स्पष्ट करते हुए

कहा है कि प्रवृत्ति से इच्छा जानी जाती है। देवदत्त जब चटाई बनाना चाहता है चिल्ला-चिल्ला कर नहीं कहता कि मैं चटाई बनाऊंगा, अपितु उसके हाथ में रज्जु, कीलक, पूल आदि को देख कर उसकी चटाई बनाने की इच्छा का पता चल जाता है। इसी तरह कूल की प्रवृत्ति से उसकी इच्छा जानी जा सकती है। कूल जब गिरने को होता है लोष्ठ विशीर्ण होकर गिरने लगते हैं, दरारें पड़ जाती हैं और कूल एक स्थान से दूसरे स्थान पर गिर कर चला जाता है **(कूलस्यापि पिपतिषतो लोष्ठाः शीर्यन्ते भिदोपजायते, देशाद्देशान्तरमुपसंक्रामति-महाभाष्य ३।१।७)**। सर्वस्य वा चेतनत्वात्, वार्तिक, महाभाष्य ३।१।७ मे उल्लिखित दर्शन के अनुसार अचेतन में भी चेतनता संभव है। पदार्थों की उपलब्धि विचित्ररूप में होने के कारण सर्वत्र चैतन्य उपलब्ध नहीं होता (वैचित्र्येण च पदार्थानामुपलम्भात् सर्वचेतनधर्मप्रसंगः सर्वत्रनोद्भावनीयः—महाभाष्यप्रदीप ३।१।७)। दूसरी बात यह है कि भाष्यकार ने ओदन या मांस-ओदन की ओर मन्द या वेगवती प्रवृत्ति को दिखा कर प्रवृत्तिविशेष की ओर संकेत किया है। इसका तात्पर्य यह है कि कर्ता की विशिष्ट प्रवृत्ति को क्रिया कहते हैं। प्रवृत्तिविशेष का भाव प्रवृत्ति का ही विशेष (प्रवृत्तेरेव विशेषः) है। कारक के स्थान पर केवल कर्तृ-पद नहीं कहा इसलिए कि कर्म का भी यथा स्थान ग्रहण हो सके, कर्म का भी व्यापार क्रिया के रूप में प्रतीत होता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस मत में एक कठिनाई और है। भाष्यकार ने एक स्थान पर कहा 'पच का प्रधान अर्थ क्या है? तण्डुलों की जो विक्लित्ति है, वही प्रधान अर्थ है **(अथ कः पचेः प्रधानोऽर्थः—यासौ तण्डुलानां विक्लिवित्तरिति—महाभाष्य ३।१।२६)**। अब यदि कर्तृ व्यापार को ही क्रिया माना जायगा और वही धातुवाच्य होगी, महाभाष्यकार के उपर्युक्त कथन के साथ विरोध होगा। क्योंकि विक्लित्ति कर्ता का व्यापार नहीं है, कर्ता का व्यापार अधिक से अधिक विक्लेदना है। विक्लिक्ति तो फल है, व्यापार नहीं। पर इस आक्षेप का समाधान सरल है। वस्तुतः विरोध नहीं है। महाभाष्यकार ने विक्लित्ति को पच् का प्रधान अर्थ वस्तु-अर्थ की दृष्टि से कहा है न कि शब्दार्थ की दृष्टि से। अर्थ की दृष्टि से विक्लित्ति ही प्रधान है और शब्दार्थ की दृष्टि से विक्लित्ति सहित विक्लेदन अर्थ प्रधान है। कर्म में लकार मानने पर विक्लित्ति अथवा विक्लेदन सहित (उपसर्जन रूप में) विक्लित्ति अर्थ प्रधान है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। अस्तु, इस मत के अनुसार कर्ता और कर्म के व्यापार ही क्रिया है और क्रिया ही धात्वर्थ है। सम्प्रदान, अपादान आदि के व्यापार धातु वाच्य नहीं है इसमें कारण शब्द शक्ति स्वभाव है। परन्तु कैयट के अनुसार संप्रदान, अपादान आदि में भी व्यापार है। जैसे, सम्प्रदान का अनुमनन, अपादान का अवधि रूप में अवस्थान आदि। प्रतीयमान व्यापार भी कारक के व्यपदेश में निमित्त होता है—

> **शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्च अपादानसंप्रदानव्यापारे धातुर्न वर्तते। वस्तुतस्तु अपादानस्य अवधि भावेनावस्थानं व्यापारोस्ति। संप्रदानस्यापि अनुमनना-दिलक्षणः। प्रतीयमानोऽपि व्यापारः कारकव्यपदेशनिबन्धनम्। यथा प्रविश**

पिण्डीमिति—महाभष्यप्रदीप १।४।२३, पृ० ३५१, गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित।

इसलिए कुछ लोगों के अनुसार कारकों की प्रवृत्ति ही क्रिया है न कि प्रवृत्ति विशेष क्रिया है। महाभाष्यकार ने क्रिया को सामान्यभूता कहा है (**सामान्यभूता क्रिया वर्तते-महाभाष्य १।४।२३**)। सभी कारकों के साध्य होने के कारण क्रिया सब कारकों का साधारण (साधारणी) है। अतः क्रिया में सब का कर्तृत्व है। अवान्तर व्यापार की विवक्षा होने पर करण आदि रूप सामने आता है। जैसे सन्तान की उत्पत्ति में माता-पिता का कर्तृत्व है। किन्तु भेद की विवक्षा से यह इसमें पैदा हुआ, यह इससे पैदा हुआ इस तरह से अधिकरण और अपादान का रूप प्रतिष्ठित होता है। करणत्व आदि की अवस्था में कर्तृ संज्ञा नहीं होती। स्वतन्त्रः कर्त्ता १।४।५४ में कारकत्व के कारण ही स्वातन्त्र्य प्राप्त था फिर भी पाणिनि ने स्वतन्त्र शब्द को रखा नियम के लिए। और वह नियम यह है कि कर्तृ संज्ञा उसी की होगी जो स्वतः स्वतंत्र होगा। पारतन्त्र्यसहित स्वातंत्र्य युक्त जो होगा उसकी कर्तृ संज्ञा नहीं होगी। उद्‌भूत स्वातंत्र्यविवक्षा में कर्तृ संज्ञा होगी जैसे स्थाली पचति में, किन्तु उद्‌भूतपारतन्त्र्यविवक्षा में स्वातन्त्र्य के होने पर भी न्यग्भाव रूप में होने के कारण स्वातन्त्र्य प्रयुक्त कार्य नहीं होते।[५]

करण आदि में कारक संज्ञा तो होगी क्योंकि वस्तुस्थिति के कारण तथा उद्‌भूत होने के कारण अविवक्षित भी स्वातन्त्र्य का आश्रय लेकर करण आदि का विधान किया जाता है। जहां पर शक्तियों का निमित्तनिमित्तभाव से युगपत् विवक्षा होगी वहां पर संज्ञायों का विप्रतिषेध होता है इसलिए करण आदि के विप्रतिषेध भाव की भी अनुपपत्ति नहीं होगी। अतः सामान्यभूत क्रिया के आधार पर कारकों की प्रवृत्तिमात्र को क्रिया मान लेना चाहिए। इस मत के अनुसार फलजनन रूप साधारण क्रिया ही प्रवृत्तिविशेष कही जाती है। प्रवृत्ति ही विशेष है (**प्रवृत्तिश्चायं विशेषश्चेति प्रवृत्तिविशेषः**)। यदि विशेष रूप में किसी का ग्रहण भी करेंगे तो फलजनन रूप का ही, न कि अधिश्रयण आदि का। प्रवृत्तियों का जननरूप ही क्रिया है। इस मत के अनुसार सभी कारकों की एक ही प्रवृत्ति होती है और वह फलजननमयी है। सभी व्यापार फल उत्पन्न करने के लिए ही हैं। इसलिए फल के उत्पन्न करने वाली क्रिया का सभी कारकों के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक है। कोई कारक किसी रूप में फलजनक होता है और कोई किसी अन्य रूप में। करण, संप्रदान आदि व्यपदेश अवान्तर भेद के कारण होता है।

कुछ लोग प्रवृत्ति और परिस्पन्द को समानार्थक मानते हैं। उनके अनुसार लोक में क्रिया परिस्पन्द रूप में गृहीत होती है। कणाद दर्शन भी क्रिया को परिस्पन्दलक्षण मानता है। परन्तु व्याकरणदर्शन अन्य दर्शन में गृहीत क्रिया के स्वरूप को नहीं

---

५. स्वातंत्र्ये उद्‌भूतत्वं च विवक्षितप्रकृतप्रधानसंपूर्णधात्वर्थाश्रयत्वरूपमेव। पारतन्त्र्ये उद्‌भूतत्वं च प्रकृतधात्वर्थानाश्रयत्वरूपमेवेति बोध्यम्-नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।४।२३।

मानता। यदि कणाद दर्शन की क्रिया सम्बन्धी मान्यता स्वीकार की जायगी तो एक ही क्रिया अनेक स्थानों पर नहीं हो सकेगी, उस दर्शन में एक क्रिया अनेकत्र नहीं मानी जाती। यदि केवल प्रवृत्ति शब्द से क्रिया व्यक्त की जायगी परिस्पन्द रूप लोक-प्रसिद्ध व्यापार ही द्योतित होगा। इसलिए, इस त्रुटि को दूर करने के लिए 'विशेष' शब्द रखा गया है। प्रवृत्तिविशेष कहने से प्रवृतिमात्र का बोध होता है, केवल परि-स्पन्द का नहीं। सभी प्रवृत्तियाँ दूसरी प्रवृत्तियों से भिन्नता प्राप्त कर विशेष स्वरूप को प्राप्त करती हैं। यह विशेषता सजातीय से और विजातीय से भी होती है। सजा-तीय से भेद प्राप्त होने का उदाहरण सूखे ओदन और मांस-युक्त ओदन की ओर कारकों की भिन्न प्रवृत्ति से स्पष्ट है। भोजन की क्रिया जो वस्तुतः एक ही है फिर भी एक में मन्द प्रवृत्ति के कारण और दूसरी में संवेग प्रवृत्ति के कारण भिन्न जान पड़ती है। यदि संरभ वाली प्रवृत्ति को ही प्रवृत्ति-विशेष माना जायगा तो जहां मन्द प्रवृत्ति है वहां क्रियात्व नहीं लक्षित हो सकेगा। अतः प्रवृत्तिविशेष (अर्थात् प्रवृत्ति-मात्र) क्रिया का सामान्य लक्षण है। विजातीय भेद पचति, पठति आदि में एक दूसरे से नितान्त भिन्न होने के कारण स्पष्ट ही है।

अस्तु, प्रत्येक दशा में क्रिया कारकों का प्रवृत्तिविशेष है, आश्रित क्रमवाली है और साध्यस्वभाववाली है। घण्टा ध्वंनति जैसे वाक्यों में क्रम कार्यकारण भाव से जान पड़ता है। घण्टा ध्वनि का कारण है और ध्वनि कार्य है। घण्टा में कुछ क्रिया होने पर ही घण्टा बजता है ऐसा कहते हैं। वीचिसन्तान के रूप में फैलती हुई ध्वनि का भी पूर्वभाग उत्तरभाग का कारण है और उत्तरभाग पूर्वभाग का कार्य है। घण्टा के उपरत हो जाने पर ध्वनि को सिद्ध रूप में (ध्वनिः इस रूप में) व्यक्त किया जाता है। इसी तरह जब श्वेत गुण को श्वेत रूप में प्रकाशित होने के कारण श्वेतते जैसे तिङन्त पद से अभिव्यक्त करते हैं, उसका क्रमाश्रित क्रियारूप ही सामने आता है। पूर्वापरीभूत क्षणप्रवाह का एक क्रिया के रूप में एक साथ सन्निधान बौद्धिक संकलन द्वारा होता है। एक फल के उद्देश्य से प्रवृत्त अवयवों में एकत्व की कल्पना सहज है। काल्पनिक अभेद के आधार पर सभी क्रमभावी अवयवों के समुदाय को क्रिया कहते हैं। यह सब विवरण शब्दार्थ को सामने रख कर है न कि वस्त्वर्थ को।

जाति-क्रियावाद

कुछ आचार्य जाति को क्रिया मानते हैं। इस मत के पीछे वाजप्यायन का जाति-पदार्थ-दर्शन है। भर्तृहरि भी इस मत से प्रभावित हैं और उनका सत्तावाद, जिस पर आगे विचार किया जायगा, जातिवाद का ही एक दार्शनिक रूप है। भर्तृ-हरि ने स्पष्टरूप में कहा है कि व्याकरणदर्शन में अन्य दर्शन के जाति-विचार को ज्यों के त्यों ले लेना अथवा उनसे सर्वथा सहमत होना आवश्यक नहीं है **(न चावश्यं शास्त्रान्तरे परिदृष्टा जात्यभिव्यक्तिप्रक्रिया वैयाकरणैः परिगृह्यते—वाक्यपदीय हरि-वृत्ति १।१५ पृष्ठ ३२)**। इसीलिए व्याकरणदर्शन सामान्य में भी सामान्य की सत्ता मानता है और एक व्यक्ति में भी जाति का अस्तित्व मानता है। अभाव में भी

सामान्य की कल्पना करता है। कैयट ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है—

गोत्वाऽश्वत्वे सामान्ये इति व्यावृत्तेऽनुवृत्तप्रत्ययहेतु सामान्यानामपि सामान्यमाश्रितव्यम्। अथवा निःसामान्यानि सामान्यानीति तैर्थिककर्शनं न वैयाकरणैर्नियोगत आस्थेयम्। कार्योन्नीयमाना हि तेषां पदार्था इति सामान्येऽपि सामान्यमस्ति। अभावश्चत्वार इत्यत्रापि निरुपाख्यत्वं सामान्यं कल्पनीयम्।

—महाभाष्य प्रदीप १।२।४६, पृष्ठ १४०

जाति पदार्थ का विस्तार इतना व्यापक होने के कारण क्रिया भी उसके भीतर आ जाती है और इसी दर्शन के आधार पर जाति को क्रिया माना जाता है। एक होते हुए भी अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली वस्तु का नाम जाति है। क्रिया में भी कुछ ऐसी ही बात है। पचति इस एक क्रिया के भीतर अधिश्रयण आदि अनेक क्रियाएँ हैं। अधिश्रयण आदि का भी एक सामान्य रूप है। उन सब के साथ समवाय रूप से जिस सर्व विषय-सामान्य की अभिव्यक्ति होती है वही पचति का अर्थ है। इस बात को स्वयं भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्य-टीका में यों व्यक्त किया है :

एवं . शब्दे यास्ता अधिश्रयणादिक्रियास्तासां यानि प्रत्यर्थनियतानि सामान्याधिश्रयणादीनि तैः सहैकार्थसमवायि यत् सर्वविषयसामान्यमभिव्यज्यते तत् पचति शब्द वाच्यम्, यथा भ्रमणत्वमनेकार्थविषयं भ्रमणमित्युच्यते।'

महाभाष्यत्रिपादी, मेनुस्क्रीप्ट पृ० २३ (ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का हस्तलेख)

जाति की सत्ता अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर मानी जाती है। कर्त्ता, कर्म आदि में भेद होते हुए भी पचति ज्ञान की अनुवृत्ति देखी जाती है। अतः क्रियाव्यक्तिसमवेत जाति स्वीकार करनी चाहिए और उसे ही धातुवाच्य मानना चाहिए। जिस तरह से स्फोट की अभिव्यक्ति क्रमिक वर्णों से होती है उसी तरह क्रमिक (असमसमयभावि) क्षणों से क्रिया जाति की अभिव्यक्ति होती है। अथवा जैसे भ्रमण के क्षणों के उत्पन्न और विनाशशील होने पर भी उनमें भ्रमणत्व का समवाय मानकर भ्रमणत्व जाति की सिद्धि मानी जाती है क्योंकि उन्हीं क्षणों की आवृत्ति उसका उपव्यंजक है। उसी तरह उपव्यंजन (क्रिया के अवयव) के बल से क्रियाजाति अभिव्यक्त होती है। अतः जाति के नाते नित्य होते हुए भी क्रियाजाति में आश्रय के सहारे पौर्वापर्य के रूप में क्रमिकता और साध्यत्व बने रह सकते हैं। क्रियाजाति में साधन की आकांक्षा आश्रय (अपने अवयवों) के द्वारा होती है।

कुछ लोगों के मत में क्रियाजाति क्रिया का वह अंतिम भाग है जिसके तुरन्त बाद फल की सिद्धि होती है। जिस क्रिया-व्यक्ति के अनन्तर फल की निष्पत्ति होती है उसके साथ समवाय सम्बन्ध से रहने वाली वस्तु जाति है, वही क्रिया है। उससे पूर्व की क्रियाएं तादर्थ्यरूप में (उस अंतिम क्रियाव्यक्ति के कार्य में सहायक होने के कारण) क्रिया जाति के भीतर गृहीत होती हैं। उपर्युक्त दोनों मत निम्नलिखित कारिकाओं में उल्लिखित हैं :

जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम्।
असाध्या व्यक्तिरूपेण सा साध्येवोपलभ्यते॥

अन्ते या वा क्रिया भागे जातिः सैव क्रिया स्मृता ।
सा व्यक्तेरनुनिष्पादे जायमानेव गम्यते ।।

—वाक्यपदीय ३, क्रिया समुद्देश २०, २१

जातिक्रियावाद के आधार पतंजलि के क्रियासामान्यात् सिद्धम् (महाभाष्य १।२।६४) और सामान्यभूता क्रियावर्तते (महाभाष्य १।४।२३) जैसे कथन माने जा सकते हैं।

सत्ता क्रियावाद

सत्ता क्रियावाद जातिक्रियावाद का ही एक रूप है। सत्तावादी जाति को सत्ता ही मानते हैं। इस दर्शन के अनुसार प्रति पदार्थ का एक सत्य रूप है और एक असत्य रूप है। जो सत्य रूप है वह जाति है, जो असत्य रूप है वह व्यक्ति है। वह सत्य रूप सत्ता है। उसे ही परमसत्ता, अपरसामान्य, महासत्ता आदि नाम से व्यक्त करते हैं। सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है। विचित्र शक्ति योग के बल से वह सत्ता स्वयं भोक्ता, भोग्य, साधना आदि के रूप में व्यवहार का कारण होती है। भोग्य, भोक्तृ आदि में सन्मात्र ही संविद रूप में सत्य है। नानात्व कल्पित है। गोत्वादि जाति उसी महासत्ता का विवर्त रूप है। सम्बन्धिभेद से वही सत्ता गोत्व आदि भिन्न-भिन्न रूप में, जाति रूप में आभासित होती है। सभी प्रकार के शब्द सत्ता रूप जाति में व्यवस्थित हैं। उसी को प्रातिपदिकार्थ, उसी को धात्वर्थ कहते हैं। वह नित्य है। महान् आत्मा है, त्व, तल् आदि प्रत्यय उसी के व्यंजक हैं। यहां तक कि अभाव भी सत्ता विहीन नहीं है। उसकी भी बौद्धिक सत्ता (**अभावस्यापि बुद्ध्याकारेण निरुपणात्**)। साधन के परिस्पन्द के कारण वही सत्ता क्रमरूप को प्राप्त होकर क्रिया के रूप में अभिव्यक्त होती है। अतः साक्षात् सत्ताक्रिया ही सभी धातुओं का विषय है। (वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश ३२-३५)।

महासामान्यरूप महासत्ता क्रिया है। उसका क्रियाजातित्व साधनों के व्यापार से भी सिद्ध है। क्योंकि कर्ता, कर्म आदि साधनों के क्रियाभेद में सत्ता ही समवायिनी होती है। इसलिये कर्ता, कर्म के व्यापार से अवच्छिन्न सत्ता क्रियाजाति है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि व्यापारों में समवाय रूप से रहने वाली सत्ता आश्रय भेद से भेदमयी होकर क्रिया कहलाती है।

पहले कहा जा चुका है कि कुछ लोग जिस व्यापार के बाद फल निष्पन्न होता है उसे ही क्रिया मानते हैं। उसी आधार पर सत्तावादियों में भी कुछ अन्त्यव्यापारभाग की सत्ता को क्रिया मानते हैं (**अन्त्ये वात्मनि या सत्ता सा क्रिया कैश्चिदिष्यते—वाक्यपदीय, क्रियासमुद्देश २३**)।

बुद्धिसत्ता क्रियावाद

जो लोग बुद्धि को शब्दार्थ मानते हैं उनके मत में बुद्धिसत्ता ही क्रिया है। इस मत के अनुसार दृश्य और विकल्प में अभेद होता है, उसी आधार पर बुद्धि का भाव में अध्या-

रोप कर लिया जाता है। भाव के सहारे बुद्धिक्रिया में साधन की आकांक्षा और साध्यत्व भासित होते हैं।

भावसत्ता क्रियावाद

कुछ लोग सत्ता को भाव रूप में लेते हैं और उसी को क्रिया मानते हैं (**सत्तैव भावशब्दवाच्या मुख्यः क्रियेति मन्यन्ते—हेलाराज, वाक्यपदीय३, क्रियासमुद्देश २३**)। आचार्य वार्ष्यायणि ने षट्भावविकार का निर्देश किया था। (**षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः**)[६]। इस आधार पर भी भर्तृहरि ने क्रिया का विवेचन किया है। भावविकार के विषय में व्याख्याकारों के कई प्रकार के मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि भाव का अर्थ क्रिया है। द्रव्य में विकार देख कर उसके भाव स्वरूप का अनुमान किया जाता है। क्योंकि द्रव्य स्वयं अपने आप में विकार नहीं पैदा कर सकता, अपने आप में क्रिया नहीं होती। (स्वात्मनि क्रियाविरोधात्) और किसी असत् वस्तु से विकारकता नहीं आ सकती। ऐसा असंभव है। विकार शब्द यद्यपि प्रकृतिविकार-भाव आदि में कार्यवचन के रूप में देखा जाता है फिर भी यहां उसे प्रकार-वचन के रूप में मानना चाहिए। क्योंकि क्रिया के प्रति क्रिया का कारणत्व नहीं होता, कर्म कर्मसाध्य नहीं देखा जाता। इसलिए भावविकार का भाव है क्रिया प्रकार, क्रियाभेद और वे छः होते हैं।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि भाव शब्द पदार्थ का पर्याय है। 'कस्यचिद् भावस्याचिरव्यासा' 'स्तम्भकुम्भादयोभावा' इत्यादि प्रयोगों में भाव शब्द पदार्थपर्याय के रूप में देखा जाता है। इसलिए वार्ष्यायणि के सूत्र में भाव का अर्थ पदार्थ है। यद्यपि वह एक ही है फिर भी उसके छः भेद संसर्गिभेद से होते हैं, जैसे स्फटिक में संसर्गवाली वस्तु के धर्म (गुण) से भेद आ जाता है। कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि भाव शब्द का भाव शब्द है। इसीलिए यद्वा सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः के भाव शब्द के लिए शब्द शब्द का प्रयोग पतंजलि ने किया है—यद्वा सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति सतेषामर्थः।[८] शब्द यहां अर्थवान् और वाक्यभूत रूप में गृहीत है। क्योंकि जब तक क्रिया पद का प्रयोग नहीं होता प्रवृत्ति या निवृत्ति, सत्य या झूठ का पता नहीं चलता। केवल अंकुर शब्द कहने से अथवा केवल बन्ध्यासुत कहने से ठीक से अर्थ बोध नहीं होता। जब इनके साथ किसी क्रिया पद का प्रयोग करते हैं जैसे अस्ति, नास्ति आदि का, तभी ठीक से बोध होता है। अतः भावभेद का तात्पर्य, इस मत के अनुसार, वाक्यभूत शब्द भेद से है।

किन्तु भर्तृहरि भाव शब्द के सत्ता अर्थ वाले पक्ष को अधिक महत्त्व देते हैं। वार्ष्यायणि के भाव शब्द का अर्थ सत्ता, महासामान्य है। इसी सत्ता को कुछ लोग

---

६. निरुक्त १।२।८, महाभाष्य १।३।१

७. पाणिनिसूत्र ५।१।११९ पर कात्यायन-वार्तिक

८. महाभाष्य ५।१।११९

परमात्मा अथवा परमब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। वही सत्ता परा प्रकृति भी है। वह सर्वविकारों की अनुयायिनी है। वही सत्य है। इसकी पुष्टि के लिए भर्तृहरि ने निम्नलिखित अंश उद्धृत किया है—

पृथिवीधातौ किं सत्यं विकल्पः, विकल्पे किं सत्यं विज्ञानं, विज्ञाने किं सत्यं ॐ अथ तद् ब्रह्म इति।

—महाभाष्यत्रिपादी, मेनुस्क्रीप्ट, पृष्ठ ३४ (श्री ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का हस्तलेख)।[९]

अतः भावविकार से तात्पर्य महासामान्यात्मक सत्ता के जन्मादि विकार से है। वह विकार दर्शनभेद से परिणामरूप में अथवा विवर्तरूप में होता है और उत्तरोत्तर विकार प्राप्त कर जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते और विनश्यति इन रूपों में व्यक्त किया जाता है।

षड्भाव विकारों का विश्लेषण

छः प्रकार के भावविकारों में पहली अवस्था 'जायते' शब्द से अभिव्यक्त की जाती है। यास्क के अनुसार 'जायते' से पूर्वभाव का आदि व्यक्त होता है।[१०] भर्तृहरि के अनुसार जायते से उत्पन्न होने की प्रक्रिया मात्र की अभिव्यक्ति होती है। जन्म का हो जाना नहीं, अपितु जन्म का होते रहने वाला रूप जायते से व्यक्त किया जाता है। इसमें अर्थात्मा पूर्व अवस्था को पूर्ण रूप में अभी छोड़ता नहीं है और उत्तर अवस्था का केवल संस्पर्शमात्र करता है। दूसरे शब्दों में, जायते अस्ति का पूर्वभाव है और अस्ति जायते का उत्तरभाव है। पूर्वभाव को छोड़ने और उत्तर भाव से संयोग होने के पूर्व तक जो अन्तराल-अवस्था है उसे जन्म शब्द से कहते हैं। इसे भर्तृहरि ने यों व्यक्त किया है—

पूर्वावस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तरम्।
संमूर्च्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते।[११]

यहां प्रश्न यह है कि जायते की प्रक्रिया में कर्तृत्व प्रकृति का है अथवा स्वयं भावविकार का। हेलाराज के अनुसार दोनों का है। पूर्व अवस्था (कारण अवस्था) को पूर्ण रूप में न छोड़ने में प्रकृति के कर्तृत्व की संभावना है और उत्तर अवस्था के प्राप्त करने के प्रयत्न में विकार का भी कर्तृत्व है। प्रकृति और विकार दोनों के सामानाधिकरण्य होने से दोनों में कर्तृत्व मानना उचित है। अतः जायते से उस दशा को समझना चाहिए जो पूर्व और अपर दोनों अवस्थाओं की उपाधियों से अवच्छिन्न है, जो पूर्व अवस्था से सर्वथा विच्छिन्न नहीं है पर उत्तर अवस्था के प्राप्त करने में उन्मुख है, और जो प्रचीयमान है। सत्कार्यवाद के अनुसार जायते का अभिप्राय अभिव्यक्ति है और असत्कार्यवाद के अनुसार उसका अभिप्राय जन्म है। जायते

९. हेलाराज ने भी इस अंश को जाति समुद्देश ३२ की टीका में उद्धृत किया है।
१०. निरुक्त १।२।९
११. वाक्यपदीय, साधनसमुद्देश ११६, द्रष्टव्य क्रियासमुद्देश २८ और जाति समुद्देश ३९

को अस्ति से पूर्व इसलिये रखा गया है कि जायते की प्रक्रिया के उपरान्त ही अस्ति का अस्तित्व सामने आता है।

द्वितीय भावविकार 'अस्ति' शब्द से व्यक्त किया जाता है। अस्ति से उत्पन्न सत्व का अवधारण द्योतित होता है। वह जायते का उत्तरभाग है। क्योंकि जन्म सत्ता की ओर अभिमुख होने का ही नाम है जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। जन्म की प्रक्रिया (व्यापार) के अवसान पर वस्तु सत्ता को प्राप्त कर अस्ति शब्द से अभिव्यक्त होती है पर उसमें पूर्व व्यापार का अध्यारोप भी रहता है। इसलिए अस्ति से अपने आप को धारण करना (आत्मानं बिभर्ति) अथवा अपनी सत्ता की भावना करना (सत्तां भावयति) जैसे व्यापार ध्वनित होते हैं। अतः अस्ति में किसी परिस्पन्द के न देखे जाने के कारण, अथवा पचतितराम् में जैसा प्रकर्ष देखा जाता है वैसा अस्तितराम् में न देखे जाने के कारण, अथवा किंकरोति (क्या करता है ?) का प्रतिवचन अस्ति (है) प्रायः न सुने जाने के कारण जो लोग अस्ति में क्रियात्व का संदेह करते हैं उनका संदेह निराधार है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, अस्ति, विद्यते, आदि में आत्मधारणमयी क्रिया है। विद्यतेतरां इहधान्यम् में प्रकर्ष का बोध देखा जाता है और कभी कभी क्या करता है के उत्तर में भी "है, कुछ नहीं करता है" जैसे वाक्य सुने ही जाते हैं। सभी क्रियाओं के व्यापारानन्तर कोई न कोई फल देखा जाता है। अस्ति में वह स्पष्ट नहीं है फिर भी आत्मभरणप्रवृत्ति का जो ही फल होगा वही अस्ति क्रिया का फल माना जायगा।[१२] उत्पत्ति से लेकर विनाश तक सब वस्तुओं में सत्ता अनुषंगरूप से रहती ही है और इसीलिये उन वस्तुओं की प्रतीति अस्ति रूप में होती है। दूसरी बात यह है कि सभी क्रियाओं की योनि सत्ता है और वह अस्तित्व का ही दूसरा नाम है। वही अस्तित्वमय सत्ता जन्मादि रूपों में भासित होती है—**सत्त्वैवानेकक्रियात्मिका साधनसम्बन्धादवसीयमानसाध्यरूपा जन्मादिरूपतया अवभासते महाभाष्यप्रदीप** १।३।१ पृ० १७४। यद्यपि भावविकारों में तिष्ठति की गणना नहीं की गई है फिर भी उसका अस्ति में ही अन्तर्भाव मानना चाहिए। और उसमें भी क्रियात्व मानना चाहिये। भाष्यकार के 'क्रिया क्रिया की निर्वर्तिका होती है' इस उक्ति के आधार पर तिष्ठति में भी क्रियात्व है क्योंकि तिष्ठति कहने से वृद्धि और अपक्षय दोनों की निवृत्ति देखी जाती है। उसमें भी आत्मधारण रूप प्रवृत्ति है। भर्तृहरि ने आश्रित सारूप्य जन्म को ही स्थिति माना है। (**जन्मैवाश्रितसारूप्यं स्थितिरित्यभिधीयते-क्रियासमुद्देश** २६)।

तीसरी अवस्था विपरिणमते है। स्थित की विकारापत्ति विपरिणाम है। विपरिणाम से वस्तु का परिवर्तन मात्र लक्षित होता है, उस वस्तु की सत्ता बनी रहती है। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि में आकार-परिवर्तन होता रहता है फिर भी उनकी मूल सत्ता बनी रहती है।

---

१२. हेलाराज के अनुसार वह फल आत्ममोक्ष है (किमत्रफलमिति चेद् आत्मपमोक्षरूपेण इति ब्रूमः-क्रियासमुद्देश १, पृष्ठ १६.

चौथी अवस्था वर्धते शब्द से व्यक्त की जाती है। कोई भी वस्तु मुहूर्त भर भी अपने आप में ज्यों के त्यों अवस्थित नहीं रहती। वह या तो बढ़ती रहती है अथवा घटती रहती है। बढ़ती हुई दशा को चौथा भाव-विकार माना गया है।

पांचवीं अवस्था अपक्षीयते शब्द से द्योतित की जाती है। वर्धते के विपरीत अपक्षीयते का व्यापार है।

अंतिम अवस्था विनश्यति से व्यक्त की जाती है। इसमें सर्वथा नाश का व्यापार रहता है। सत्कार्यवादी इसे नाश न कह कर तिरोधान या तिरोभाव कहते हैं।

कुछ लोग मूल भाव विकार तीन ही मानते हैं जायते, अस्ति और विनश्यति। इन में ही शेष तीन का अन्तर्भाव हो जाता है। जन्म में अवयवों की वृद्धि अन्तर्भूत रहती है। अतः वर्धते का जायते में अन्तर्भाव हो जायगा। इसी तरह परिणमते का भी अन्तर्भाव जायते में हो जायगा, क्योंकि परिणाम धर्मान्तर आविर्भाव को व्यक्त करता है जो जायते के व्यापार में भी है। अपक्षीयते का अन्तर्भाव नश्यति में सहज ही हो जायगा।[13]

वाक्यपदीयकार ने षड्भावों की समीक्षा करते हुए मूलभाव दो ही माने हैं और वे भी औपचारिक रूप में। वस्तुतः उनके मत में एक ही भाव है और वह सत्ता-लक्षण है। पर व्यवहार की दृष्टि से आविर्भाव और तिरोभाव अथवा जन्म और नाश की कल्पना कर ली जाती है। सत्तालक्षण भाव नित्य है, उसमें उदय और ध्वंस संभव नहीं हैं। सदा एक स्वरूप होने के कारण उसमें आविर्भाव और तिरोभाव भी संभव नहीं हैं। इसलिए वे कल्पित होते हैं और कल्पित रूप में क्रियाव्यवहार के विषय होते हैं। इन्हीं के भीतर शेष भाव विकार किसी न किसी रूप में आ जाते हैं। अतः भाव विकारों में एक सत्ता ही रह जाती है (**अतो भावविकारेषु सत्तैका व्यवतिष्ठते**)। वह नित्य होती हुई भी क्रम भाव प्राप्त कर साध्यस्वभाव क्रिया के रूप में व्यक्त होती है।

विवर्तवाद के अनुसार क्रिया

वाक्यपदीय में विवर्तवाद के आधार पर भी क्रिया का लक्षण समझाया गया है। भर्तृहरि के मत में मूल तत्त्व एक है। वह अन्य रूपों में दिखाई पड़ सकता है पर इस विक्रिया से उसके मूल रूप में कोई भेद नहीं पड़ता। वह ज्यों का त्यों रहता है। संसार में अन्य पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के संसर्ग से अपने स्वरूप को खोते हुए जान पड़ते हैं, स्फटिक लाल रंग के संपर्क से लाल रूप में दिखाई देता है। पर वह मूल तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। किन्तु भेद के अवभास के कारण

---

१३. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ४८.

वह एक ही अनेक रूपों में बंटा जान पड़ता है। अनेक रूपों का अवभास वस्तुतः मिथ्या होता है। एक का भेद के आश्रय से अनेक रूप में मिथ्या अवभास विवर्त है :

एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।१, पृष्ठ ५ लाहौर संस्करण।[१४]

भर्तृहरि ने विर्वते के दो रूपों का उल्लेख किया है—

(१) मूर्ति विवर्त, और

(२) क्रियाविवर्त।

इनकी परिभाषा वृषभ ने यों की है : **देशभेदावग्रहरूपेणावस्थानं मूर्तिविवर्तः। उत्पादविनाशादिक्रियोपहितरूपावस्थानं क्रियाविवर्तः**।[१५] हेलाराज ने इनकी व्याख्या यों की है—**कालशक्त्यवच्छिन्नो हि क्रियाविवर्तः। दिक्शक्तयवच्छिन्नः मूर्तिविवर्तः**। दूसरे शब्दों में, जिन्हें हम नाम वा सिद्ध रूप कहते हैं वह मूर्तिविवर्त है और जिसे हम साध्यरूप कहते हैं वह क्रियाविवर्त है। भर्तृहरि के अनुसार ब्रह्म 'सर्वपरिकल्पातीतत्व' है। उसमें सभी शक्तियाँ समाविष्ट हैं। कालाख्य स्वातंत्र्यशक्ति से क्रम का अवभास कराता हुआ पूर्वापरीभूत क्रिया की प्रतिपत्ति उत्पन्न करता है। एक का तत्त्व से अप्रच्युत का वस्तुतः कोई क्रम नहीं होता फिर भी क्रम रूप में उसका आभास होता है। निष्क्रिय होते हुए भी सक्रिय रूप सा उसका प्रकाशन क्रियाविवर्त है।[१६]

प्रवृत्तिशक्ति-क्रियावाद

कुछ लोगों के अनुसार प्रवृत्ति ही एक शक्ति है, वही क्रिया है। वह साधन शक्ति से सहयोग कर साध्यफल को प्रसूत करती है। उस शक्ति को कोई अपूर्व, कोई कालशक्ति और कोई क्रिया शक्ति कहते हैं। उसका एक सामान्य रूप है और एक विशेष रूप है। अपने प्रथम अवस्था में, अपूर्व आदि के रूप में वह सामान्य रूप में रहती है। साधन व्यापारों से विभक्त होकर क्रिया का रूप धारण करती है। और आश्रय के अनुसार पकाना, फाड़ना आदि विशेष क्रिया रूपों को अपनाती है। वही प्रवृत्तिशक्ति सभी साधनों की प्रकृति है (**प्रकृतिः साधनानां सा**)। प्रेरक होने कारण उसकी उपमा स्रोत-प्रवाह से दी जाती है। फिर भी वह नित्य है और कारकों की प्रथम साधिका है। वही प्रकृति रूप प्रवृत्ति साधन-भेद के कारण प्रविभक्त होकर विशेष क्रियाओं का रूप धारण करती है। कुछ लोग सामान्य रूप प्रवृत्ति से विशेष साधन

---

१४. [illegible]र्त की इस परिभाषा को अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी—प्रथम भाग पृष्ठ ८ पर और हेलाराज ने वाक्यपदीय साधन समुद्देश ७९ की टीका में उद्धृत किया है।

१५. वाक्यपदीय १।१ पर वृषभटीका—पृष्ठ ६ लाहौर संस्करण।

१६. वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ३४।

व्यापारों को भिन्न मानते हैं।[१७]

विमर्श-क्रियावाद

शैवागम के अनुसार क्रिया विमर्श स्वभावा है। विमर्श रूप होने के कारण क्रिया का मूल रूप संवेदन है। प्रकाश का स्वात्मविश्रान्तिलक्षण परा वाक् का रूप विमर्श क्रिया है। पश्यन्ती में अहम् इदम् की संकीर्ण भावना (विमर्श) रहती है। उसमें प्ररोह नहीं रहता। किन्तु इदम्भाव अहम्भाव से ग्रस्त रहता है। इदम्भाव का सूचक पश्यन्ती की क्रिया है। मध्यमा इदंभाव को अहं से खींचती है—'मैं इसको जानता हूँ' 'मैं इसे करता हूँ' आदि। इसी रूप में दूसरों से कहने की भावना जब प्राण में परिस्फुट होती है, वह वैखरी कही जाती है और शरीर में स्पन्दन रूप क्रिया होती है। यहाँ तक सर्वत्र विमर्श रूप क्रिया सब में अनुगत है। 'मैं चलता हूँ', 'सिर हिलाता हूँ' जैसे विमर्श होने पर ही शरीर और उसके अंगों में चेष्टा देखी जाती है। ऐसी क्रियाएं जिनमें परिस्पन्द दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे ठहरना, खड़े रहना आदि में, उनमें भी खड़े रहने वालों में (कर्त्ता में) क्रमिक परामर्शमयी (मैं खड़ा हूँ इस रूप में) क्रिया है। इसी कारण वह (खड़े रहने की क्रिया) जड़ शिला आदि के स्थिर रहने की क्रिया से विलक्षण है। जड़ पदार्थगत क्रिया भी विमर्श रूप है। क्योंकि जड़ पदार्थ स्वयं आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। उनमें जो स्वात्मनिष्ठा है वह वस्तुतः प्रमाता की संवित् में परिनिष्ठित होने के कारण। ज्ञान शक्ति के मूल में अहं के साथ इदं भी जुड़ा है। इदं (वस्तु) में गतिशीलता अहं के विमर्श से युक्त है। अतः सभी क्रियाएं विमर्श रूप हैं।[१८]

क्रियाभेद से आभास और परामर्श भिन्न होते हुए भी एक परामर्श से व्यवहृत होते हैं:

> **क्रिया भेदेन च आभासपरामर्शौ भिन्नावपि एकपरामर्शप्रतिष्ठितौ भवतः निपीयमानं मधु मदयति, कुम्भकारोऽयं क्रियते इति।**[१९]

भावना-क्रियावाद

मीमांसकों के अनुसार भावक पुरुष का भाव्य स्वर्ग के लिए यज् धातु करणक आख्यात-प्रत्ययवाच्य व्यापार भावना क्रिया है।

---

१७. वही, क्रियासमुद्देश ३६-३८, साधन समुद्देश ३३-३४, हेलाराज के अनुसार यह मत जरन्मीमांसकों का है अथवा सांख्य दर्शन का है। (साधनाशक्तिः प्रवृत्ति लक्षणा क्रियाऽपकर्षति वहतीति केषांचिज्जरन्मीमांसकानामागमः। रजो लक्षणा वा प्रवृत्तिः नित्या सर्वभावेष्वनुयायिनी स्वकार्यप्रसवसमर्था कार्याणि जनयतीति सांख्यनयः। साधनसमुद्देश ३३, पृष्ठ १९७।

१८. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम भाग, पृष्ठ १०५।

१९. वही, द्वितीयभाग, पृष्ठ २१२

उपर्युक्त सभी दार्शनिक प्रवादों में क्रिया का पूर्वापरीभूत क्रमिक रूप और साध्यस्वरूप साधारण है। आख्यात से क्रिया की प्रतीति होती है यह निश्चित है। भाव का तिङन्तपद से वाच्य रूप साध्य है और कृदन्त पद से वाच्य रूप सिद्ध है।

तिङभिहितभाव और कृदभिहितभाव में भेद

तिङन्त से, शब्दशक्ति के अनुरोधबल से, पूर्वापरीभूत भाव का बोध होता है जैसे पचति से। कृदभिहितभाव का सिद्ध रूप में बोध होता है जैसे पाक से। कृदभिहितभाव में भी धातुभाग से साध्यमान अवस्था वाली क्रिया का ही बोध होता है। अन्तर यह है कि आख्यात से उसका बोध प्रधान रूप में होता है जबकि कृदन्त में वह प्रत्ययार्थ में गुणीभूत रहती है।

महाभाष्यकार के अनुसार तिङभिहितभाव का क्रिया के साथ समवाय नहीं होता, पचति, पठति ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता। वस्तुतः यह नियम करण आदि भाव को दृष्टि में रख कर है। कर्तृकर्मभाव से क्रिया-आख्यात वाच्य क्रिया के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है जैसे, भवति पचति, पश्य मृगो धावति आदि में। इसीलिए भाष्यकार ने पचादि क्रिया को भवति क्रिया का कर्ता माना है (**पचादयः क्रिया भवति क्रियायाःकर्त्र्यो भवन्ति**)[20] अर्थात् उनमें साध्यसाधनभाव होता है न कि सामान्य-विशेष भाव। यद्यपि क्रिया स्वयं साध्य है अतः किसी दूसरी क्रिया के प्रति उसका स्वयं कर्ता या कर्म होना सहज नहीं है फिर भी विषयभेद से एक ही वस्तु का अपने आप में साधनसाध्य सम्बन्ध देखा जाता है। जैसे, पश्य मृगो धावति में आख्यात कर्त्ता भी है कर्म भी है—सरण क्रिया धावति की दृष्टि से साध्य है और दर्शन की दृष्टि से साधन है। भोक्तुं इच्छति जैसे वाक्यों में दो क्रियाओं का सम्बन्ध स्पष्ट है। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि क्रिया भी क्रिया से इप्सित होती है, संपश्यति क्रिया से, प्रार्थयति-क्रिया से और अध्यवस्यति क्रिया से—

> **क्रियापि क्रियेप्सिततमा भवति। कया क्रियया। संपश्यति क्रियया प्रार्थयति क्रियया अध्यवस्यति क्रियया वा। इह य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या तावत् कंचिदर्थं संपश्यति, संदृष्टे प्रार्थना, प्रार्थितेऽध्यवसायः, अध्यवसाये आरम्भः, आरम्भे निर्वृत्तिः, निर्वृत्तौ फलावाप्तिः। एवं क्रियापि कृत्रिमं कर्म।**[21]

कृदभिहितभाव का लिंग से योग होता है जैसे, पक्तिः, पचनं, पाकः। तिङभिहित भाव का लिंग से योग नहीं होता। लिंग सत्वधर्म है। आख्यात असत्वभूत है। जिस तरह आख्यात से संख्या आदि की अभिव्यक्ति होती है उसी तरह आख्यात से लिंग की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती इसका ठीक-ठीक समाधान संस्कृत के वैयाकरणों ने नहीं

---

२०. महाभाष्य १।३।१

२१. महाभाष्य १।३ १४

किया है । कैयट ने इसे भावशक्ति का वैचित्र्य माना है—

आख्यातस्य शक्त्याश्रयद्रव्यसंख्या प्रतिपादने सामर्थ्यं न तु लिंगप्रतिपादने, विचित्रत्वाद्भावशक्तीनाम् ।

—महाभाष्य प्रदीप १।२।४७, पृष्ठ ७२.

कृदभिहितभाव में भी घञादि अभिहित भाव से ही लिंग योग होता है, अव्ययकृद-भिहित से नहीं होता । क्योंकि अव्ययकृदभिहितभाव साध्यस्वभाव सा ही जान पड़ता है न कि सिद्धस्वभाव सा । उसे क्रिया की तरह माना जाता है, द्रव्य की तरह नहीं । अतः उसके साथ लिंग संख्या आदि का योग नहीं होता । क्रियावत् माने जाने के कारण ही उससे कृत्वसुच् जैसे प्रत्यय देखे जाते हैं जबकि घञादि अभिहितभाव से कृत्वसुच् प्रत्यय नहीं होते । शायितव्यम् भवता, त्रिः भुक्तं देवदत्तेन, द्विः भुक्त्वा गतः जैसे प्रयोग देखे जाते हैं परन्तु द्विः पाकः जैसे प्रयोग नहीं होते । महाभाष्यकार 'पञ्चकृत्वः पचति' इस वाक्य को तो उचित समझते हैं परन्तु 'पञ्चकृत्वः पाकः' इसका प्रयोग पसन्द नहीं करते हैं । कुछ लोग घञन्त आदि के प्रयोग के साथ भी कृत्वसुच् प्रत्यय का प्रयोग उचित समझते हैं । स्वयं पाणिनि ने द्विर्वचनेऽचि १।१।५९। में द्विर्वचन शब्द का प्रयोग किया है । द्विरावृत्तिः, द्विःप्रयोगोद्विर्वचनम् जैसे प्रयोग देखे ही जाते हैं ।

कृदभिहितभाव का संख्या के साथ सम्बन्ध होता है, तिङभिहितभाव का संख्या से योग नहीं माना जाता । यद्यपि संख्या आख्यातार्थ है फिर भी क्रिया निःसंख्य मानी जाती है । पचति, पचतः पचन्ति आदि में जो संख्या की प्रतीति होती है वह साधन-गतसंख्या की होती है, पचति अर्थात् पाक-क्रिया का कर्त्ता एक है आदि । अतः क्रिया निःसंख्य होने के कारण एक मानी जाती है । आख्यात वाच्य क्रिया सर्वत्र भेद रहित ही प्रतीत होती है । 'भवद्भिः आस्यताम्' जैसे वाक्यों में कर्तृभेद से वस्तु-स्थिति के कारण भेद होते हुए भी तिङन्त से भेद की प्रतीति नहीं होती । एक क्रिया की भी जब आवृत्ति की जाती है, उसमें आवृत्ति निबन्धन भेद संख्या से सम्बद्ध होता है, उसे संख्या का अनुभव होता है । इसी कारण कृत्वसुच् आदि आवृत्ति द्योतक प्रत्ययों की उत्पत्ति भी उससे होती है । हेलाराज के अनुसार अत्यन्तभेद अथवा अत्यन्त अभेद में आवृत्ति सम्भव नहीं है । जहाँ भेद और अभेद दोनों हों वहीं आवृत्ति होती है ।[२२] फिर भी क्रिया में स्वतः संख्या योग नहीं होता । कैयट के अनुसार भी प्रकर्ष (जैसे पचति तराम्) और अभ्यावृत्ति (जैसे द्विः पचति) क्रिया के एकत्व के बाधक नहीं होते । क्योंकि वे आश्रय के प्रकर्ष अथवा अभ्यावृत्ति के भेद के निमित्त होते हैं ।

प्रकर्षाभ्यावृत्यादयस्तु भेदनिबन्धना आश्रयप्रकर्षाभ्यावृत्यादिभेदनिमित्ता नैकत्वं क्रियाया विघ्नन्ति ।[२३]

जहाँ क्रियापृथक्त्व है वहाँ भी क्रिया में संख्या नहीं होती । पञ्चधा गच्छति में एक ही गमन क्रिया का पाँच प्रकार से होना निर्दिष्ट है । इस सम्बन्ध में पाणिनि

---

२२. वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ४१, टीका-पृ० ४० त्रिवन्द्रम संस्करण ।
२३. महाभाष्यप्रदीप १।२।६४ पृष्ठ, ११३

और वार्तिककार में कुछ मतभेद आभासित होता है। पाणिनि ने संख्याया विधार्थे धा ५।३।४२ कहा था। इस पर कात्यायन ने 'धा विधानं धात्वर्थ पृथग्भावे' कहा है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि पाणिनि के मत में 'पञ्चधा श्लोकाः' प्रयोग होना चाहिए परन्तु कात्यायन के मत से यहाँ धात्वर्थ न होने से ऐसा प्रयोग नहीं होना चाहिए। साथ ही एकधा भुंक्ते में, जहाँ क्रिया है भी, पर पृथग्भाव के न होने के कारण प्रत्यय नहीं होना चाहिए। इस मतविरोध का समाधान इस रूप में किया जा सकता है। पञ्चधा श्लोकाः में क्रियापद के प्रयोग न होते हुये भी अस्ति क्रिया के अध्याहार से क्रिया पृथग्भाव मान लिया जाएगा। एकधा भुंक्ते में भी अनेक प्रकार की भोजन क्रिया की अपेक्षा एक प्रकार की भोजन क्रिया में क्रियापृथग्भाव है ही। एकः पाकः में प्रकार की विवक्षा न होने पर धा प्रत्यय नहीं होता, विवक्षा होने पर एकधा पाकः होता ही है। इसी तरह पञ्च पाकाः और पञ्चधा पाकः का भेद समझना चाहिए।

तिङन्तार्थ का उपमानोपमेयभाव नहीं होता

तिङन्तार्थ साध्यस्वभाववाला अपरिनिष्पन्नरूप होता है। इसलिए उसके साथ उपमानोपमेयभाव नहीं होता। उपमानोपमेय भाव वहां होता है जहां अभेद का अध्यवसाय हो सके, जैसे, सिंहो माणवकः में 'वह यह है' (सोऽयम्) के आधार पर अभेद सम्बन्ध सिद्ध होता है। तिङन्तपदों से सिद्ध रूपों का प्रत्यायन नहीं होता। इसलिए उनमें इदं तत् जैसे परामर्श का अभाव रहता है। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार ने भी कहा है — **न वै तिङन्तेनोपमानमस्ति।**[२४]

'क्रन्दतीव गायति' 'नृत्यतीव गच्छति देवदत्तः, जैसे वाक्यों में इव शब्द के प्रयोग के कारण भेद से उपमानोपमेयभाव की प्रतीति होती है। यहां पर भी जो गा रहा है, वह मानो क्रन्दन कर रहा है, इस रूप में साधनगत ही साम्य है न कि क्रियागत। यद्यपि यहां सर्वनाम के कारण साधन व्यापार से प्रधान नहीं है अपितु उसका गुणीभूत है फिर भी यः सः के रूप में प्राधानरूप से उसी का सम्बन्ध देख पड़ता है। कारक के द्वारा भी क्रिया में उपमानोपमेयभाव नहीं होता। 'पर्वतः चलति' जैसे वाक्य में किसी लम्बे व्यक्ति में पर्वत का अध्यारोप किया जाता है और अध्यारोप के द्वारा साधन का क्रिया से सम्बन्ध होता है न कि यहां उपमा है। चलतीव के रूप में यहां उपमानोपमेयभाव की प्रतीति नहीं होती।

लिम्पन्तीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनंनभः में उत्प्रेक्षा है, उपमा नहीं। क्योंकि उपमेय का निर्देश नहीं है। दूसरी बात यह है कि न्यून का परिपूर्ण के साथ उपमानोपमेयभाव होता है। चन्द्र इव दर्शनीयं मुखमस्याः में उपमान चन्द्र परिपूर्णगुण वाले के रूप में प्रसिद्ध है, उपमेय मुख न्यूनगुण वाला है। उपमान उत्कृष्टगुणवाला माना ही जाता है। और उपमेय उससे कुछ न्यून गुण वाला। व्यतिरेक अलंकार में भी, जब नारी मुख को उपमान के रूप में और शशिबिम्ब को उपमेय के रूप में

२४. महाभाष्य ३।१।७, पृष्ठ ४०, ४१ (गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित)

वर्णन किया जाता है, नारीमुख उत्कृष्टगुणशाली के रूप में ही सामने आता है। क्रिया अपने आश्रय में सर्वात्मना परिपूर्ण होती है, उसमें न्यूनता असंभव है। अतः वह उपमा का विषय भी नहीं बन सकती।

सजातीय क्रियाओं में उपमानोपमेयभाव नहीं होता। दो वाक्य लीजिये—

(१) हंसः पक्षाभ्यां पतति।

(२) आतिः पक्षाभ्यां पतति।

इन दो वाक्यों में हंस और आति (पक्षिविशेष) की गमन क्रिया समान है। दोनों के साधन पंख भी समान हैं। इसलिए न्यूनाधिकभाव न होने से पतति क्रिया सजातीय है। जिस तरह से सजातीय होने के कारण गवय इव गवय नहीं कहते उसी तरह पतति इव पतति नहीं कहा जा सकता, इनमें उपमानोपमेय नहीं होगा। 'आतिः पतति हंस इव' इसमें उपमानोपमेयभाव साधनों (हंस और आति) में है न कि दोनों की क्रियाओं में है।

विजातीय क्रियाओं में भी उपमानोपमेयभाव नहीं होता। पचति का गच्छति से इतनी अधिक भिन्नता है कि इनमें सादृश्यनिबन्धन उपमानोपमेयभाव सामने नहीं आता। सर्वनाम (इदं तत्) से परामर्श योग्य उपमान का क्रिया के रूप के साथ संबंध दुर्घट है और एक क्रिया का उपमान रूप में दूसरी क्रिया के साथ और दुष्कर है। कभी-कभी विजातीय क्रियाओं का परस्पर उपमानोपमेयभाव अवश्य देखा जाता है जैसे,

(१) स्थातव्येन तुल्यं गमनं मन्दत्वात्,

(२) नृत्तेन तुल्यं गमनं बहुविकारत्वात्,

इनमें गमन क्रिया का भिन्न जातीय नृत्तक्रिया और स्थातव्यक्रिया के साथ उपमानोपमेयभाव है। परन्तु यहां भाव कृदभिहित के रूप में है, तिङभिहित के रूप में नहीं है। अवश्य ही कृदभिहितभाव का केवल द्रव्यवत् भाव ही नहीं देखा जाता, क्रियावत्भाव भी देखा जाता है, इसी दृष्टि से भोक्तुं पाकः, कारकस्य गतिः जैसे स्थलों में तुमुन् और ण्वुल्, प्रत्यय देखे जाते हैं, क्रिया को उपपद मान कर ही ये प्रत्यय होते हैं। फिर भी उपर्युक्त वाक्यों में सिद्ध के रूप में कथन है साध्य के रूप में नहीं। अतः साध्यरूप क्रियाओं का उपमानोपमेय सम्बन्ध नहीं होता।

हन्तीति पलायते,

वर्षतीति धावति,

जैसे वाक्यों में विशेषणविशेष्यभाव जैसे माना जाता है वैसे ही उपमानोपमेयभाव नहीं माना जा सकता। क्योंकि इनमें न्यून-आधिक्य-भाव का अभाव है।

पचतिकल्पम्, पचतितराम् में क्रमशः न्यून और अधिक भाव का बोध क्रिया के सम्बन्धों के कारण होता है न कि क्रिया से।

वार्तिककार ने एक स्थान पर कालप्रकर्षात्तूपमानम्'[२५] लिखा है। इससे जान

२५. पाणिनि सूत्र ३।३।१५ पर वार्तिक।

पड़ता है; उनके मत में क्रियाओं में उपमानोपमेय भाव संभव है। जैसे यह वाक्य लीजिये—

'इयं नु कदा गन्ता या एवं पादौ निदधाति'

यह कब पहुंचेगी जब इस तरह से पैर डाल रही है (अर्थात् विलम्ब के कारण न पहुंच सकेगी) इस वाक्य में भविष्यत्सामान्य के अर्थ में अनद्यतनसामान्य का प्रयोग हुआ है। वार्तिककार के मत में यहां उपमानोपमेयभाव है कालप्रकर्ष के आधार पर, अर्थात् वे गन्ता इव गन्ता के रूप में इसकी व्याख्या करते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार तिङन्त के साथ उपमान संभव नहीं है अतः वे अनद्यतन इव अनद्यतन के अधार पर इसे समझाते हैं। गमन में दीर्घकाल के लगने की संभावना मान कर भविष्यत् सामान्य के अवसर पर अनद्यतन का प्रयोग हुआ है। यहां भविष्यत्काल अनद्यतनकाल के सदृश है यह तात्पर्य है। महाभाष्यकार के अनुसरण पर भर्तृहरि भी क्रियाओं में उपमानोपमेय भाव नहीं मानते।[२६]

पूर्वकालिक क्रिया

यद्यपि पूर्वकाल के अर्थ में वर्तमान धातु से भाव में क्त्वा प्रत्यय का विधान होता है फिर भी धातु सम्बन्ध के बल से वाक्यार्थ के अनुप्राणक के रूप में क्त्वान्तार्थ की प्रतीति होती है। उदाहरण के लिए—

(१) पूर्व आसवं पिबति ततो गायति

(२) आसवं पीत्वा गायति

इन दो वाक्यों में पूर्व के वाक्य से जैसा पौर्वापर्य झलकता है ठीक वैसा ही दूसरे वाक्य से नहीं झलकता। अपितु दूसरे वाक्य में पीत्वा शब्द के बल से आसवपान प्रधान वाक्यार्थ के अनुप्राणक के रूप में सामने आता है। स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा ब्रजति जैसे वाक्यों में भी ब्रज-क्रिया के प्रति स्नान भोजन आदि क्रियाओं की पौर्वकालिक सत्ता है। साथ ही आख्यात वाच्य क्रिया के विशेष्य होने के कारण ब्रज क्रिया के प्रति स्नानादि क्रियाएँ विशेषण हैं फलतः उनमें परस्पर असम्बन्ध है जैसा कि न्याय है : **गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्।** अर्थात् प्रधानक्रिया में अन्वय यदि सम्भव है, गुणभूत क्रिया में अन्वय करना उचित नहीं है। क्त्वा प्रत्यय से पौर्वकाल्य के द्योत्य होने के कारण 'मुखं व्यादाय स्वपिति" इस वाक्य में व्यादाय शब्द का प्रयोग कहां तक उचित माना जायगा। क्योंकि मुख का खुलना सोने की क्रिया के बाद में होता है वह पूर्वकालिक व्यापार नहीं है। वार्तिककार का ध्यान इस पर गया था और उन्होंने इसकी सिद्धि उपसंख्यान के बल पर करनी चाही। परन्तु उन्होंने स्वयं यह भी सुझाव दिया कि क्षणभर भी मुख खोल कर यदि कोई सोता है तो सोने की क्रिया के पूर्व ही मुख खोलने की क्रिया घटित होती है। अतः यहां भी पूर्वकालता है। कैयट के मत में यद्यपि स्वप्नक्षण

---

२६. द्रष्टव्य वाक्यपदीय ३, क्रियासमुद्देश ५३-५७.

पहले हैं और मुखव्यादान कुछ बाद में घटित होता है फिर भी दूसरी स्वप्न क्रिया से (प्रथमस्वप्नक्षणों के बाद जो गाढी नींद की क्रिया होती है) पहले होता है (**यद्यपि स्वप्नक्षणानां व्यादानात् पूर्वकालता तथापि व्यादानंतरभाविस्वप्नक्रियापेक्षं व्यादानस्य पूर्वकालत्वमस्ति**)।[२७]

'पक्त्वा ओदनं भुंक्ते देवदत्तः

पक्त्वा ओदनः भुज्यते देवदत्तेन'

इन दोनों वाक्यों में क्तवा प्रत्यय द्वारा कर्त्ता और कर्म के अनभिधान होने पर भी द्वितीया और तृतीया विभक्तियां पाक की अपेक्षा से नहीं होतीं। क्योंकि आख्यात वाच्य क्रिया विशेष्य होने के कारण प्रधान होती है। विशेषणभूतक्रिया अप्रधान होती है। इसी आधार पर उन क्रियाओं के साधक शक्तियों में भी गुण-प्रधानभाव होता है। प्रधान शक्ति के अभिधान में गुणक्रियाशक्ति अभिहित के रूप में प्रकट होती है। प्रधान का मुखापेक्षी गुण होता है, उसके विरुद्ध नहीं चल सकता।[२८] परन्तु हरदत्त के अनुसार एक बार ही सुने जाने वाले का एक ही साथ दो के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसलिए प्रधान के साथ शाब्द अन्वय और अन्य के साथ आर्थ-अन्वय मान लेना चाहिए (पदमंजरी ३।४।२६, पृष्ठ ७२८)। परन्तु नागेश ने हरदत्त की उक्ति को युक्तिसंगत नहीं माना है। हरदत्त के मत के मान लेने पर ग्रामाय गन्तुं इच्छति प्रयोग संभव न हो सकेगा। ग्राम में चतुर्थी न हो सकेगी। परन्तु महाभाष्यकार ने स्वयं इसका प्रयोग सन् सूत्रस्थ भाष्य में किया है (महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।४।२६ पृष्ठ ३५०)। नागेश ने कैयट के क्षुधं प्रतिहन्तुं शक्यम् इस प्रयोग की भी आलोचना की है। यहां यह जान लेना चाहिये कि भाष्यकार ने 'शक्यं चानने क्षुत् प्रतिहन्तुं' वाक्य का प्रयोग किया है। सामान्यतौर पर क्षुत् के स्त्रीलिंग होने के कारण शक्या का प्रयोग होना चाहिये। कैयट ने निम्नलिखित तीनों तरह के प्रयोग की उपपत्ति समझाई है—

(१) शक्यं चानेन क्षुत् प्रतिहन्तुम्,
(२) शक्या चानेन क्षुत् प्रतिहन्तुम्,
(३) शक्यं चानेन क्षुधं प्रतिहन्तुम्।

—महाभाष्यप्रदीप पस्पशाह्निक, पृष्ठ ५७, गुरुप्रसाद शास्त्री सम्पादित।

---

२७. महाभाष्यप्रदीप ३।४।२१, पृष्ठ ३४४, गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित।

२८. इस सम्बन्ध में पीछे के वैयाकरणों में विवाद था। उपर्युक्त मत कैयट का है जो वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिकाओं पर आश्रित हैं—

प्रधानेतरयोर्यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक्।
शक्तिर्गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते॥
प्रधानविषया शक्तिः प्रत्ययेनाभिधीयते।
यदा गुणे तदा तद्वदनुक्तापि प्रतीयते।

वाक्यपदीय ३, साधन समुद्देश ८०,८१.

तत्स्थाक्रिया

पहले कहा जा चुका है कि अपरिस्पन्दसाधनसाध्य धात्वर्थ को भाव कहते हैं और सपरिस्पन्दसाधनसाध्य को क्रिया कहते हैं। परन्तु इस भेद को ध्यान में न रखकर सामान्यरूप से तत्स्था क्रिया का विचार किया जाता है। स्वयं पाणिनि से लक्षण-हेत्वोः क्रियायाः (३।२।१२६) और यस्य च भावेनभावलक्षणम् (२।३।३७) जैसे सूत्रों में क्रिया और भाव में अभेद माना है। तत्स्था क्रिया वहां होती है जहां क्रियाकृतविशेष कभी कर्त्ता में और कभी कर्म में दिखाई देता है। इस आधार पर क्रिया भी कभी कर्तृस्था और कभी कर्मस्था होती है। यद्यपि ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिससे कर्तृगत-विशेषता कुछ-न-कुछ लक्षित न हो फिर भी प्राधान्य के कारण व्यपदेश होते हैं। इस उक्ति के आधार पर कर्तृस्था और कर्मस्था क्रिया कहते हैं। गच्छति, धावति, हसति आदि में क्रियाकृत विशेष कर्त्ता में दिखाई देता है। चलना, दौड़ना, हँसना ये सब व्यापार उसी में दिखाई पड़ते हैं। गाम् अवरुगद्धि, कटं करोति जैसे वाक्यों में क्रिया कर्मस्था है क्योंकि क्रियाकृतविशेषताएं गाय और कट में देख पड़ती हैं। नागेश के अनुसार जिस धातु के द्वारा कर्तृकर्मसाधारण फल शब्द से प्रतिपादित होताहै वह कर्तृस्थभावक है। जैसे, पश्यति, गच्छति आदि में। पश्यति में विषयता और समवाय के आधार पर ज्ञान उभयनिष्ठ है। गच्छति में भी संयोग उभयनिष्ठ है। जहां धातु से कर्ता में न रहने वाला धर्मरूपफल शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है वहां क्रिया कर्मस्वभावक है। जैसे, भिनत्ति आदि में।[२९] कभी-कभी क्रिया कर्तृस्था और कर्मस्था दोनों जान पड़ती है। "चैत्राय रोचते मोदकः" इस वाक्य में मोदक प्रीणयिता है और चैत्र अभिलाषवान् होने के कारण कर्म है। अतः क्रिया को यहाँ कर्मस्था ही कहना चाहिए। परन्तु रोचते क्रिया अपने विषयक अभिलाष उसमें पैदा करती है। इसलिए विषयिविषयभाव सम्बन्ध के आधार पर रुचिकर्तृक अभिलाष ही प्राधान्यरूप में प्रकट होता है। रोचते क्रिया अपने कर्ता को अप्रधान-सा करती है और अपने प्रयोजक व्यापार को भी गौण रूप देती है फलतः यहां संप्रदान संज्ञा होती है। सम्बन्ध-सम्बन्धि-भाव की दृष्टि से भी चैत्र अभिलाषा करने में कर्ता है, इसलिए क्रिया कर्तृस्था भी है। हेलाराज के अनुसार, "दृश्यते स्वयमेव" प्रयोग नहीं होना चाहिए। वे क्रिया-व्यवस्था को शब्द के आधार पर विचार करने वाले पक्ष का समर्थन करते हुए जान पड़ते हैं। केवल विशेषदर्शन के आधार पर यदि क्रिया व्यवस्था की जायगी तो कुछ कठिनाई पड़ सकती है। पच् जैसी क्रियाएं कर्मस्थभावक हैं। परन्तु पकाने की क्रिया में कर्ता में भी परिश्रम आदि देखे जाते हैं, वे भी क्रियाकृतविशेष किसी-न-किसी रूप में हैं ही। अतः शब्द के द्वारा विशेष की उपलब्धि को स्वीकार कर क्रिया व्यवस्था करनी चाहिए। शब्द प्रमाणकों के लिए शब्द का आश्रय ही उपयुक्त है। वस्तुतः जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति के आधार पर

---

२९. महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।१।८७, पृष्ठ १६१.

क्रिया विशेष-दर्शन के आधार पर तत्स्था क्रिया की व्यवस्था की जा सकती है। भर्तृहरि ने दोनों पक्षों का निर्देश कर दिया है—

विशेषदर्शनं यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता।
क्रियाव्यवस्था त्वन्येषां शब्दैरेव प्रकाश्यते।।

—वाक्यपदीय, ३ साधन समुद्देश ६६।

क्रिया का सकर्मक-अकर्मक रूप

क्रिया का सकर्मक और अकर्मक रूप भी क्रिया के स्वरूप से प्रभावित है और दर्शन-भेद से यहां भी विभिन्न प्रकार के विचार हैं। तत्स्था क्रिया के विचार के समय स्पष्ट किया जा चुका है कि क्रिया से क्रियाकृतविशेष का आभास होता है। एक तरह से प्रत्येक क्रिया किसी-न-किसी ईप्सा का द्योतक है, उससे किसी-न-किसी भाव का अवगमन होता है। इस दृष्टि से सभी क्रियाएं सकर्मक ही होनी चाहियें। फिर भी व्याकरण शास्त्र में सकर्मक-अकर्मक का विवेचन है। क्योंकि क्रिया की ईप्सा होने पर भी प्रत्येक क्रिया से बाह्य विषय की सम्भावना नहीं व्यक्त होती। कुछ क्रियाएँ कर्ता में ही विश्रान्त देखी जाती हैं, वे किसी बाह्यभाव की अपेक्षा नहीं रखतीं। जैसे, आस्ते, शेते आदि। शयन पूर्ण रूप से कर्तृविश्रान्तलक्षण है। 'शयन करता है' इस अर्थ में सोने की भावना का पर्यवसान देखा जाता है, शयन की भावना का "भाव्य" शयन ही है। इसलिए किम् (क्या) जैसे प्रश्न नहीं पूछे जाते जो वस्तुतः बाह्यभाव-विषयक हैं। कुछ ऐसी क्रियाएं होती हैं जो बाह्यभावों की अपेक्षा रखती हैं, जिनमें बाह्य निष्ठ भावना होती है। जैसे, पचति आदि। इस तरह की क्रियाओं का उत्तर बाह्यभावविषयक प्रश्न किम् (क्या) से मिल जाता है। जैसे क्या पका रहा है प्रश्न का उत्तर 'ओदन' है जो बाह्यभाव है। इन दो तरह की क्रियाओं में बाह्यभाव की अपेक्षा न रखने वाली क्रिया अकर्मक और बाह्यभाव की अपेक्षा रखने वाली क्रिया सकर्मक मानी जाती है।

व्याकरण-दर्शन में भावना और क्रिया में कुछ भेद माना जाता है और वह यह है कि भावना सदा सकर्मक ही होती है जब कि क्रिया सकर्मक भी होती है और अकर्मक भी होती है। फिर भी साध्य रूप दोनों में समान है और साधारण तौर पर भावना और क्रिया शब्द पर्याय के रूप में प्रायः प्रयुक्त होते है :

भावना सकर्मिकैव, अकर्मिकापि क्रियेति सत्यपि भेदे साध्यत्वाविशेषाद् अभेद-एवानयोः। यथा धात्वर्थभूता क्रिया साध्यरूपैव तथा भावनापीति कथम-वान्तरभेदाद् भेदोऽनयो र्भवेत्। —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

हेलाराज ने भी भावना और क्रिया में जरा-सा भेद माना है—

यद्यपीह दर्शने भावना धात्वर्थ एव तथापि फलपर्यन्ताऽसौ कर्तृव्यापाररूपा दीर्घतरावयवक्रियामात्रात् पृथग् व्यवहारसंज्ञा।

—साधन समुद्देश ८६, पृष्ठ २३४।

परन्तु यहाँ भावना और क्रिया में अभेद मान कर ही सकर्मक-अकर्मक का विचार किया जा रहा है।

महाभाष्यकार ने कर्म की व्याख्या क्रियाकृतविशेष के आधार पर की थी (यत्र कश्चित् क्रियाकृतो विशेष उपजायते तन्नाप्यं कर्मेति)। इसे वे प्राकृतकर्म (स्वाभाविक) कर्म समझते थे। परन्तु स्वाभाविक कर्म को क्रियाकृतविशेष के रूप में लेने पर आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं शृणोति जैसे वाक्यों में कर्म की सत्ता सिद्ध करना कठिन होगा। क्योंकि सूर्य को देखने आदि की क्रिया में कोई क्रियाकृतविशेष सूर्य में नहीं दिखाई देता है। प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा हम सूर्य में दर्शनक्रिया के कारण कोई विकार नहीं समझ पाते हैं। कुछ लोग आदित्य का दर्शन क्रिया का ईप्सिततम होना ही क्रियाकृतविशेष यहां मानते हैं और आदित्य को कर्म समझते हैं और क्रियाकृतविशेष के आधार पर सकर्मक-अकर्मक का विभाग किया जा सकता है ऐसा स्वीकार करते हैं।

महाभाष्यकार की यह भी मान्यता जान पड़ती है कि काल, भाव आदि की सर्वत्र सत्ता होने के कारण कोई भी धातु अकर्मक नहीं है, काल आदि के कारण सभी सकर्मक हैं। पर इसे स्वीकार करने में भी सकर्मक-अकर्मक का विभाग अनुपपन्न रह जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि अविवक्षा के आधार पर अकर्मक धातु माने जा सकेंगे। जब उनका व्यवहार कर्म की विवक्षा किये बिना ही होगा, वे अकर्मक माने जायेंगे। परन्तु अविवक्षा के आधार पर तो पच् आदि भी अकर्मक कहे जा सकते हैं। इसलिए, कैयट के अनुसार, जिस धातु के कर्म कभी संभव ही न हों अकर्मक पद से उन्हीं का ग्रहण होना चाहिए। पाणिनि ने गतिबुद्धि··· १।४।५२ सूत्र में अकर्मक शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। अकर्मक शब्द से अन्य पदार्थ प्रधान के बल पर धातु का ग्रहण होना चाहिए, न कि धातु के अर्थ का। अर्थ का आश्रय लेने पर कर्म की अविवक्षा होने पर अर्थ का नाम भी अकर्मक पड़ने लगेगा। धातु को अकर्मक मानने पर पच् आदि अकर्मक नहीं कहे जा सकेंगे। क्योंकि एक बार भी जो धातु कर्म के सहित देखा गया रहेगा उसे प्रत्यभिज्ञा अथवा सादृश्य प्रतिपत्ति के आधार पर अविवक्षा दशा में भी सकर्मक कहा जा सकेगा। अर्थ तो कारकभेद से भिन्न-भिन्न होते हैं इसलिए सकर्मक अन्य और अकर्मक अन्य होंगे। यदि अर्थ में भी स्वतः भेद नहीं होता इस सिद्धान्त को माना जायगा तब अर्थ से अन्य पदार्थ के रूप में बोध समझना चाहिए :

> **अर्थास्तु कारकभेदाद् भिन्ना एवेत्यन्ये सकर्मका अन्य एवाकर्मका इति स्याद् व्यपदेशः। यदा त्वर्थस्यापि नास्ति स्वतो भेद इति दर्शनं तदार्थेष्वप्यन्यपदार्थेष्वदोषः।**
>
> —महाभाष्यप्रदीप १।४।५२, पृष्ठ ४०१.

कुछ लोगों के अनुसार अकर्मक क्रिया उसे कहेंगे जहां फल और व्यापार एकनिष्ठ हो जाता हो। जहां फल और व्यापार एकनिष्ठ न होकर अलग-अलग आधार वाले हों, वहां क्रिया को सकर्मक समझना चाहिए। वैयाकरणभूषणकार का यही मत है। इस मत में भी कुछ कठिनाइयां हैं। 'आत्मानं जानाति' इस वाक्य में जानाति

क्रिया का फल और व्यापार एकनिष्ठ है, फलतः इसे अकर्मक होना चाहिए, परन्तु यह सकर्मक है। कुछ लोग इसका समाधान महाभाष्यकार के दो आत्मा वाले कथन के आधार पर करते हैं। महाभाष्य में एक स्थान पर लिखा है "आत्मा दो हैं। अन्तरात्मा और शरीरात्मा। अन्तरात्मा के क्रिया-कलाप से शरीरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है और शरीर की क्रियाओं से अन्तरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है।"[30] आत्मानं जानाति में फल और व्यापार के आधार दो आत्माओं के अलग-अलग हो जाने से सकर्मकत्व अक्षुण्ण रहेगा।

कुछ लोगों के अनुसार जब धात्वर्थ साक्षात् और अव्यभिचरित रूप में कर्म का भागी होता है, उस धातु को सकर्मक कहते हैं। यदि साक्षात् न होकर परम्परया कर्म का भागी होता है वह क्रिया अकर्मक होती है। इस मत में अन्योन्याश्रय दोष-सा आ जाता है। कर्म के निरूपण के बाद ही सकर्मक का विचार होगा और सकर्मक होने पर ही कर्म का निरूपण होगा। यही अन्योन्याश्रय है।

कुछ लोग मानते हैं कि जिस क्रिया के उच्चारण में कर्म की आकांक्षा होती है वह सकर्मक है, जहां आकांक्षा नहीं होती वह अकर्मक है। परन्तु यह मत भी निर्दोष नहीं माना जाता है। आता है (गच्छति), गिरता है (पतति) जैसी क्रियाओं में कर्म की आकांक्षा नहीं देखी जाती फिर भी ये क्रियाएँ सकर्मक हैं। पतति क्रिया के सकर्मक होने में प्रमाण पतित शब्द के साथ द्वितीया तत्पुरुष समास का विधान ही है जो द्वितीयाश्रितातीतपतित० २।१।४ सूत्र से सिद्ध है।

नागेश ने सकर्मक-अकर्मक को सार्थक शब्द माना है। उनके अनुसार व्याकरण-शास्त्र से संपादित कर्म संज्ञा से युक्त धातु सकर्मक है और उससे रहित अकर्मक है। इस आधार पर ही अध्यासिता भूमयः जैसे प्रयोग संभव हो पाते हैं।[31]

वस्तुतः सकर्मक-अकर्मक सापेक्ष शब्द हैं और एक-दूसरे के स्वरूप धारण करते रहते हैं। बाह्यकर्म के सद्भाव होते हुए भी क्रिया अकर्मक हो सकती है और किसी कर्म के न रहने पर भी क्रिया सकर्मक कही जा सकती है।

भर्तृहरि ने बाह्यकर्म के सद्भाव होते हुए भी क्रिया के अकर्मक कहे जाने के निम्नलिखित चार कारण बताये हैं—

(१) धातु के प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ का अभिधान,
(२) धात्वर्थक्रिया में कर्म का अन्तर्भाव,
(३) प्रसिद्धि,
(४) अविवक्षा।

---

३०. महाभाष्य ३।१।८७, पृष्ठ १६६.
३१. वैयाकरणभूषणसार की टीका काशिका में उद्धृत, पृष्ठ ३२४.

जब धातु अपने प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में व्यवहृत होता है, सकर्मक होता हुआ भी कभी कभी अकर्मक हो जाता है। जैसे, "भारं बहति" इस वाक्य में वहति (ढोता है) सकर्मक है। परन्तु बहने के अर्थ में वह अकर्मक हो जाता है जैसे 'नदी बहति'। बहने में जो जल का प्रवाह प्रतीत होता है वह नद्यात्मक जल से भिन्न नहीं है।

धातु के अर्थ बदलने में उपसर्ग आदि भी कारण होते हैं। फलतः सकर्मक क्रिया अकर्मक होती रहती है। चरति क्रिया देशान्तरगमन अर्थ में सकर्मक है परन्तु उत् उपसर्ग के साथ ऊपर उठने के अर्थ में वह अकर्मक मानी जाती है जैसे वाष्प उच्चरति, धूम उच्चरति। यहां उच्चरति अकर्मक है।

कभी-कभी आत्मनेपद के प्रयोग से भी सकर्मक क्रिया की अकर्मक के रूप में अभिव्यक्ति होती है। जैसे, तपति सकर्मक है परन्तु उत्तपते अकर्मक हैं। उत्तपते का अर्थ भासित होना है। यावद् भुक्तमुपतिष्ठते, सर्पिषो जानीते जैसे वाक्यों में आत्मनेपद का प्रयोग क्रिया के अकर्मकत्व का सूचक है।

कभी-कभी वाक्य के सामर्थ्य से अकर्मकत्व की अभिव्यक्ति होती है, जैसे 'वायुर्वहति' में। इसमें वायुलक्षणकर्तृ विशेष के सामर्थ्य से बहने की क्रिया में अकर्मकत्व भासित होता है।

पच्यते ओदनः स्वयमेव, भोक्ष्यते वत्सः स्वयमेव जैसे स्थलों में कर्म के कर्ता के रूप में व्यवहृत होने के कारण अकर्मकत्व की प्रतीति होती है।

धात्वर्थक्रिया में जब कर्म का अन्तर्भाव हो गया रहता है तब क्रिया अकर्मक मानी जाती है। जीवति क्रिया में प्राणधारणरूप कर्म अन्तर्हित है इसलिए वह अकर्मक है। इसी तरह म्रियते में प्राणत्यागरूप कर्म छिपा है। अस्ति में आत्मधारणरूप कर्म का अन्तर्भाव है। कर्म का अन्तर्भाव वहीं देखा जाता है जहां स्व शब्द से उसका निर्देश संभव न हो। पच् और भिद् जैसी क्रियाओं में कर्म का अन्तर्भाव संभव नहीं है। क्योंकि इनके कर्म का स्वशब्द से उल्लेख संभव है जैसे पचति पाक्यम्, भिनत्ति भेद्यम्। जहां अन्तर्भाव होगा स्वशब्द से निर्देश संभव नहीं होगा, जैसे जीवति जीवितं जैसे प्रयोग नहीं देखे जाते।

कभी-कभी व्याकरण सम्बन्धी अन्वाख्यान-व्यवस्था के कारण उनका भी अन्तर्भाव मान लिया जाता है जिनके स्वरूप निर्धायमाण होते हैं, जैसे, पुत्रीयति में पुत्र कर्म का अन्तर्भाव है। वस्तुतः यहां पुत्र कर्म क्रिया के भीतर अन्तर्हित है केवल प्रक्रिया दिखाने के लिए पुत्रं इच्छति इस तरह का विग्रह किया जाता है। ऐसे स्थलों में भी कभी-कभी पुत्र उपमा के रूप में सामने आता है, इसलिए उसका अन्तर्भाव नहीं माना जाता, फलतः क्रिया सकर्मक ही होती है जैसे पुत्रीयति छात्रम्।

कभी-कभी सामान्य कर्म के अन्तर्भूत होते हुए भी विशेषकर्म के द्वारा सकर्मकत्व अक्षुण्ण बना रहता है। जैसे, मुण्डयति माणवकम्। मिश्रयति तिलान् आदि। कभी-कभी विशेषकर्म अन्तर्भूत रहता है, जैसे धूमायते रोमन्थायते आदि में।

वे सकर्मक क्रियाएं भी अकर्मक के रूप में प्रतीत होती हैं जिनका कर्म सदा

अव्यभिचरित रूप में उनके साथ दृष्टिगोचर होता है। जैसे, वर्षति। वर्षण की क्रिया में देव की कर्ता के रूप में और जल की कर्म के रूप में प्रतीति स्वभावतः हो जाती है। इसलिए कर्म यहां अन्तर्हित-सा है। फलतः वर्षति अकर्मक है। अकर्मक मान कर ही वृष्टो देवः जैसे प्रयोग निष्पन्न होते हैं यहां कर्त्ता के अर्थ में क्त प्रत्यय अकर्मकत्व के आश्रय से हुआ है। परन्तु जब कर्म प्रसिद्ध नहीं होता, वर्षति क्रिया सकर्मक मानी जाती है जैसे, रुधिरं वर्षति, लाजान् वर्षति आदि। उत्पलः वृष्टः में कर्म में क्त प्रत्यय हुआ है।

प्रसिद्धि के कारण सकर्मक क्रिया के जो अकर्मक रूप होते हैं उनमें भी देश, काल आदि के भेद से अवान्तर भेद पाये जाते हैं। जैसे, दक्षिणापथ में यदि दोपहर के के पहले पच्यताम् कहा जाता था तो इसका तात्पर्य यवागू होता था। परन्तु यदि दोपहर के बाद पच्यताम् कहा जाता था तो उसका अभिप्राय ओदन होता था। यवागू और ओदन रूपी कर्म देश और काल के आधार पर समझ लिये जाते थे।

क्रिया के स्वरूपसामर्थ्य के बल से कभी प्रसिद्ध कर्म प्रतीत होता है जैसे केवल वर्षति से जल रूप कर्म की प्रतीति हो जाती है। कभी-कभी कर्ता के स्वरूपसामर्थ्य के कारण भी कर्म की झलक मिल जाती है, जैसे, सज्जनः करोति इस वाक्य में सज्जन शब्द के बल से उपकार रूपी कर्म की व्यंजना हो जाती है। इस तरह प्रसिद्धि के बल से सकर्मक के रूप में अभिव्यक्ति के अपरिमित रूप संभव हैं।

कर्म के रहते हुए भी यदि क्रिया मात्र के प्रतिपादन में तात्पर्य हो, कर्म की बिल्कुल ही विवक्षा न हो, वहां भी अकर्मकत्व देखा जाता है। ददाति पचति जुहोति क्रिया सकर्मक हैं परन्तु यदि ऐसा कहा जाय 'दीक्षितो न ददाति न पचति न जुहोति' यहां कर्म की विवक्षा न होने से इनका प्रयोग अकर्मक रूप में माना जाता है। क्योंकि दीक्षित व्यक्ति न देता है, न पकाता है, न हवन करता है यह कहते समय केवल विशेष क्रियाओं के निषेध के प्रति संकेत है न कि किसी कर्म के प्रति।

अविवक्षा का उद्देश्य भी कभी-कभी कर्म के सादृश्य मात्र के प्रतिपादन से रहता है जैसे, 'अनुवदते कठः कलापस्य' इस वाक्य में कठ और कलाप का भाषण-सादृश्य प्रतिपाद्य है, कर्म की विवक्षा नहीं है। इसी तरह यदि पूछा जाय देवदत्त क्या कर रहा है और यदि इसका उत्तर हो देवदत्त पका रहा है (पचति) अथवा पढ़ रहा है (पठति) तो ऐसे स्थलों में भी विशेष कर्म (कर्मसम्बन्ध) अविवक्षित ही रहता है। इसी तरह पचति एव, ददाति एव, जैसे स्थलों में क्रियाप्रबन्ध का अखण्डरूप ही अभि-प्रेत रहता है—वह सदा पकता ही है, देता ही है कहने में वक्ता का अभिप्राय कर्म से न होकर क्रिया के बराबर घटित होने वाले स्वरूप से रहता है। अतः ऐसे स्थलों में भी कर्म की अविवक्षा होने में क्रिया अकर्मक मान ली जाती है।

इसी तरह अकर्मक क्रियाएँ भी उपसर्गसंयोग, अर्थान्तरवृत्ति आदि कारणों से सकर्मक रूप में परिणत हो जाती हैं। भवति क्रिया अकर्मक है परन्तु अनुभवति सक-र्मक है। उपसर्ग के यौग से वह सकर्मक हो गई है :

भवतिरयमकर्मकः । अकर्मका अपि वै धातवः सोपसर्गा : सकर्मका भवन्ति ।—

—महाभाष्य ३।१।१०७.

यही भवति क्रिया प्राप्ति के अर्थ में सकर्मक है—

भवतिरकर्मकः ।······प्राप्त्यर्थः सकर्मकास्ति ।

—महाभाष्यप्रदीप ३।१।१०७.

काल आदि के आधार पर सभी क्रियाएं सकर्मक कही जा सकती हैं । इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है ।

क्रिया और उपसर्ग

क्रिया और उपसर्ग का बहुत घना सम्बन्ध है । एक तरह से उपसर्ग नाम क्रिया से संयुक्त होने पर ही पड़ता है । एक मत यह भी है कि उपसर्ग क्रिया से अतिरिक्त सत्ता नहीं रखते । उपसर्ग सहित जो धातु का रूप है उसे ही धातु का स्वरूप समझना चाहिए । शास्त्र में जो उपसर्गों का विवेचन है वह अपोद्धार पद्धति पर है और व्याकरण के नियमों के निर्वाह के लिए है जैसे, अट् द्विर्वचन आदि के । लङ् लुङ् आदि लकारों में अट्, आट् धातु के पूर्व परन्तु उपसर्ग के बाद देखे जाते हैं । यदि उपसर्ग सहित धातु को धातु माना जायगा, अट् आदि उपसर्ग के पूर्व लगने लगेंगे । अतः शास्त्र में प्रक्रिया निर्वाह के लिये उपसर्ग के धातु से पृथक् होने की कल्पना की जाती है । वस्तुतः उपसर्ग सहित धातु भी धातु है । इसीलिए असंग्रामयत में उपसर्ग के पूर्व अट् लगा है और सिसङ्ग्रामयिषते में उपसर्ग सहित का द्वित्व हुआ है ।[32]

सोपसर्ग धातु के मानने से ही धातूपसर्ग के आश्रय से होने वाले सुड् आदि अंतरंग माने जाते हैं । उपसर्ग युक्त होकर ही क्रिया कारक के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है । अतएव अनुभूयते में कर्म के अर्थ में लकार होता है । अतएव 'अडभ्यासव्यवा-

---

३२. महाभाष्यकार के अनुसार संग्राम में सम् उपसर्ग है । जैसा कि उनके 'अवश्यं संग्रामयते : सोपसर्गदुत्पत्तिर्वक्तव्या' (महाभाष्य ३।१।१२) इस वाक्य से स्पष्ट है । भर्तृहरि और कैयट का भी यही मत है । परन्तु नागेश संग्राम के सम् को उपसर्ग नहीं मानते—यद्यपि संग्राम शब्दे संशब्दो नोपसर्गस्तथापि सोपसर्गादित्यस्य सोपसर्गसमानाकारादित्यर्थो बोध्यः । परन्तु कैयट के अनुसार ग्राम शब्द ही युद्ध करने के अर्थ में है सम् शब्द केवल द्योतक है । जैसे इक् स्मरणे. इङ् अध्ययने में अधि द्योतक है । यदि 'संग्राम' को शब्द माना जायगा यहां 'वा पदान्तस्य ८।४।५९ से परसवर्ण विकल्प से नहीं हो सकेगा । महाभाष्यकार ने संग्राम शब्द को नियमार्थक माना है अर्थात् संग्राम यह नियम करता है कि यदि सोपसर्ग धातु से अट् आदि हों तो संग्रामयते से ही हों अन्य सोपसर्ग धातु से न हों । इसलिये अन्य सोपसर्ग धातुओं से उपसर्ग के बाद परन्तु धातु से पूर्व अट् आदि होते हैं ।

वस्तुतः केवल इसी एक (असंग्रामयत) उदाहरण के बल पर सामान्य नियम बनाना उचित नहीं है । या तो इसे अपवाद मान लेना चाहिए, अथवा, जैसा कि नागेश ने माना है, संग्राम के सम् को उपसर्ग नहीं मानना चाहिए ।

येपि' इस सूत्र की आवश्यकता नहीं मानी जाती। नामेश ने इस सूत्र को इसीलिए अनार्ष माना है। (**एवञ्चाडभ्यासव्यवायेपीत्यनार्षः सूत्रपाठः**—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ६।१।१३५)। इन्हीं आधारों पर कहा जाता है कि धातु पहले उपसर्ग से जुड़ता है, बाद में साधन (कारक) से अन्वित होता है। (पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन)।[33] कारकों की विशेष प्रवृत्ति को ही क्रिया कहते हैं। उपसर्गयुक्त विशिष्ट क्रिया ही साधन के साथ अर्थ लाभ के लिये जुड़ती है। विशिष्ट क्रिया साधन (कारक) से साध्य होती है न कि साधन द्वारा लब्ध स्वरूप क्रिया किसी अन्य से विशेषता प्राप्त करती है। यह ठीक है कि साधन से सम्बन्ध के पूर्व क्रिया का विशेषरूप निष्पन्न नहीं होता फिर भी धातु—उपसर्ग के संबंध को अभ्यन्तर मान कर धातु का साधन से सम्बन्ध होता है। वह बुद्धि निरूपित होता है और भावि साधन को मान कर होता है। इसलिए धातु-उपसर्ग समुदाय से ही विशिष्ट क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। फलतः 'पूर्वं धातुः उपसर्गेण युज्यते' इस पक्ष को अधिक महत्त्व देना चाहिए। यदि यह माना जायगा कि धातु का सम्बन्ध पहले साधन से होता है बाद में उपसर्ग से होता है तो उसके लिए इसे समझाना कठिन हो जायगा कि क्यों आस्यते गुरुणा में क्रिया अकर्मक है परन्तु आस्यते गुरुः में सकर्मक है।

जो लोग धातु का सम्बन्ध पहले साधन से मानते हैं और बाद में उपसर्ग से मानते हैं उनका तर्क यह है कि साधन से सम्बद्ध होकर क्रिया साध्य स्वरूपवाली कही जाती है। साधन ही क्रिया का निर्वतंक है। जब तक साधन से योग नहीं होगा क्रिया अनिष्पन्न रहेगी फलतः किसी विशेषण की भी आकांक्षा उसमें न हो सकेगी। अतः धातु पहले साधन से सम्बन्ध प्राप्त करता है बाद में उपसर्ग से जुड़ता है :—

> **इह प्रसिद्धं विशेष्यमनेकप्रकार संभवे सति दृष्टप्रयोगेण शब्देनाभिधीयमानं विशेषणविशेष्यभावं प्रतिपद्यते। साध्यत्वाच्चक्रियायाः साधनसम्बन्धनिर्वृत्तिः। तस्मात् प्राक् साधनसम्बन्धादनुपजाता क्रिया निरात्मिका द्योतकेनोपसर्गेण सह विशेषणविशेष्यसम्बन्धं नोत्सहते प्रतिपत्तुम्। पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते इत्येकेषां दर्शनम्।**
>
> —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति, २।१८४ लाहौर संस्करण

क्रिया के साथ उपसर्ग की प्रवृत्तियां

क्रिया और उपसर्ग में विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना जाता है और वह अर्थद्वारक माना जाता है :

> **अर्थद्वारकश्च तेषां सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावलक्षणः। स चोपसर्गैरेव पर्यादिभिः संभवति, नान्यैः।** —न्यास १।३।१८

क्रिया के साथ उपसर्ग के संयोग होने पर प्रायः अर्थपरिवर्तन देखा जाता है :—

---

३३. महाभाष्य ६।१।१३५, ८।१।७०

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
गंगासलिलमाधुर्यं सागरेण यथाम्भसा ॥[34]

फिर भी उपसर्ग की कई प्रकार की अवान्तर प्रवृत्तियाँ भी पाई जाती हैं। कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

असंदेहार्थ उपसर्ग

कभी-कभी असंदेहार्थ उपसर्ग का आश्रय लिया जाता है। महाभाष्यकार ने लिखा है कि मनायते के स्थान पर सुमनायते इसलिए कहा जाता है कि श्रोता को संदेह न हो। केवल मनायते कहने से यह नहीं पता चलता कि उसका मन शुभ रूप में हो रहा है अथवा दुखी हो रहा है :

तत्र मनायत इत्युक्ते संदेहः स्यात् अभिभवतौ, सुभवतौ, उद्भवतौ, दुर्भवताविति । तत्रासंदेहार्थमुपसर्ग : प्रयुज्यते ।

(यहां यह ध्यान देने की बात है कि अभिमनस्, सुमनस्, उन्मनस्, दुर्मनस् आदि का उपसर्ग सहित ही पाठ मिलता है। ये उपसर्ग सहित ही प्रकृति माने गये हैं। इस विषय को लेकर वैयाकरणों में प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष और प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष रूप में विवाद है। मन शब्द का सु, उत्, दुर्, अभि आदि उपसर्गों के साथ यदि समास नहीं माना जायगा तो वे उपसर्ग प्रत्ययार्थ के विशेषण होंगे। मन शब्द यहाँ तद्वान्—मनस्वी-अर्थ में है। अतः सुमनस् का अभिप्राय प्रत्ययार्थविशेषण पक्ष में मनस्वी अच्छा (सुष्ठु) होता है अर्थ होता है। जब सु अभि आदि का मन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास माना जायगा, वे उपसर्ग प्रकृत्यर्थ के विशेषण होंगे।)

उपसर्ग क्रिया का अर्थान्तर व्यक्त करता है

उपसर्ग धात्वर्थ के बाधक रूप में भी प्रसिद्ध हैं। तिष्ठति का अर्थ ठहरना है परन्तु प्रतिष्ठते का अर्थ प्रस्थान करना है। उपसर्ग की इस शक्ति के कारण संस्कृत भाषा की क्रियाओं का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। धातुपाठ में सीमित धातुओं का उल्लेख होते हुए भी उपसर्ग के बल से अर्थान्तर व्यक्त करने की क्षमता आ जाने के कारण उनके रूप का विस्तार हो गया है। कभी-कभी उपसर्गों के द्वारा बिलकुल विरोधी अर्थ व्यक्त किया जाता है जैसे,

पतति (गिरता है)	उत्पतति (उड़ता है),
ददते (देता है),	आददते (स्वीकार करता है)

"मलीमसीमाददते न पद्धतिम्
(रघुवंश ३।४६)

---

३४. चन्द्रकीर्ति, माध्यमिक कारिका टीका, पृष्ठ ५.
३५. महाभाष्य ३।१।१२, पृष्ठ ६३, गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित।

सृजति (रचना करता है) — उत्सृजति (छोड़ता है)
उत्सृष्टसकलव्यापारतया
(कादम्बरी पृ० २४०)

सीदति (दुखी होता है) — प्रसीदति (प्रसन्न होता है)।

उपसर्ग धात्वर्थ का अनुगामी होता है

कभी-कभी उपसर्ग धात्वर्थ का अनुवर्तन करता है। जैसे सूते, प्रसूते। अध्यागच्छति पर्यागच्छति में अधि और परि उपसर्ग अनर्थक से हैं। इनका प्रयोग केवल स्पष्टार्थक है। अध्येति, अधीते जैसी क्रियाओं में यह धातु का सहयोगी है। कुछ लोग इङ् और इक् धातु को निरर्थक मानते हैं, उपसर्ग के कारण वे सार्थक माने जाते हैं। महाभाष्यकार के अनुसार अधीते में अधि का अर्थ उपरिभाव है अर्थात् अधीते का अर्थ विशिष्टार्थ युक्त शब्दों का अध्ययन है (ततश्चाधीत इत्यस्य विशिष्टार्थयुक्तानां शब्दानां पठनं, विधिपूर्वकं करोतीत्यर्थः—महाभाष्यप्रदीप १।३।१)।

उपसर्ग की ससाधनक्रियावाचकता

बहुत से प्रत्यय उपसर्गों से किये जाते हैं। ऐसे स्थानों में उपसर्ग साधनसहित क्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं—

त एते उपसर्गेभ्यो विधीयमानाः ससाधनायां क्रियायां भविष्यन्ति—महाभाष्य ५।२।२८ विशाल, विशंकट शब्द विउपसर्ग से शालच् और शंकटच् प्रत्यय लगा कर बनाये जाते हैं। विशाल का अर्थ है बड़ी सींग वाला बैल। संकट, प्रकट, उत्कट आदि शब्द भी उपसर्ग से बनाये गये हैं। इन सब स्थानों पर उपसर्ग साधनक्रियवचन माने जाते हैं।[३६]

उपसर्ग का क्रिया द्योतकत्व

कुछ आचार्य उपसर्ग को द्योतक मानते हैं। इसका उल्लेख पदार्थ विचार के अवसर पर किया जा चुका है। धातु को अनेकार्थ मान कर उपसर्ग का द्योतकत्व प्रकट किया जाता है। तिष्ठति का अर्थ गमन भी है, प्र उपसर्ग इस गमन का द्योतकमात्र है। भर्तृहरि के अनुसार उपसर्ग का द्योतकत्व दो तरह के अनुमान से सिद्ध होता है। सामान्यतो दृष्ट से और विशेषतो दृष्ट से। प्रपचति में प्र शब्द आदि कर्म का द्योतक देखा गया है। इस सामान्य दृष्ट के आधार पर सभी प्रशब्द आदि कर्म के द्योतक हैं, प्र उपसर्ग है अतः सभी उपसर्ग द्योतक हैं।

इसी विशेषतो दृष्ट अनुमान से भी द्योतकता निश्चित की जाती है। प्र शब्द के समानधर्मा सभी प्रादि हैं। प्र शब्द में द्योतकत्व है। अतः सभी उपसर्गों में द्योतकत्व है। इसी तरह धातु भी सामान्यतो दृष्ट और विशेषतो दृष्ट द्विविध अनुमान

---

३६. कैयट के अनुसार ये सब गुण शब्द हैं, केवल व्युत्पत्ति मात्र उपर्युक्त प्रकार से की जाती है—व्युत्पत्त्यनुसारेण चेदमुच्यते। गुणशब्दास्तु विशालादयः। साधुत्वाख्यानाय तु कंचिदुपायमाश्रित्य व्युत्पत्तिः क्रियते। यथा प्रतिलोमोनुलोम इति।—महाभाष्यप्रदीप ५।२।२८, पृष्ठ ३६८.

के बल से अनेकार्थ हैं।[३७]

भर्तृहरि के अनुसार द्योतकत्व भी दो तरह का होता है

(१) अनाविर्भूताविर्भावन, और

(२) सहाभिधान

द्योतनमपि द्विविधम्। अनाविर्भूताविर्भावनम्। अव्युदासप्रसंगे वा प्रकारान्तरव्युदासेन कस्यचिदवधारणम्। तद् यथा प्रतिष्ठते उत्पुच्छयते अभिमनायत इति। तदपि प्रसिद्धाप्रसिद्धावियुतप्रयोगाणाम्। उपास्ते प्रपचति अधीते अध्येतीति यथा। सहाभिधानं वा। यावकः गोपायिता ब्रह्मणाधीनं जुगुप्सत इति।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति २।१६५,१६६, लाहौर संस्करण

संग्रहकार के अनुसार भी उपसर्ग द्योतक होते हैं—**शब्दान्तरोपग्रहमन्तरेण संभवि सन् अलब्धनियमो योऽर्थस्तद् द्योतको नियमन् वाचकतामतिक्रामतीति संग्रहकार आह।**—

—वाक्यपदीय २:१८९, हरिवृत्ति, हस्तलेख

उपसर्ग का वाचकत्व

उपसर्ग के संयोग से क्रिया के जो अवान्तर अर्थ जान पड़ते हैं, उनके वाचक, कुछ आचार्यों के अनुसार, उपसर्ग हैं। तिष्ठति कहने से स्थिर रहने की अभिव्यक्ति होती है परन्तु प्रतिष्ठते कहने से चलने का जो अर्थ भासित होता है वह प्र उपसर्ग के कारण अतः प्र को विशेष अर्थ का वाचक मान लेना चाहिए। भर्तृहरि ने उपसर्ग के वाचकत्व का निर्देश 'स वाचको विशेषाणाम्' कह कर किया है। यद्यपि बाद के वैयाकरण उपसर्ग को द्योतक ही मानते हैं परन्तु भाषा की दृष्टि से यह अच्छी तरह सिद्ध किया जा सकता है कि उपसर्गों के कभी स्वतन्त्र अर्थ थे। और उनके सार्थक मानने का अर्थ ही है उनमें वाचकत्व स्वीकार करना। महाभाष्यकार ने स्वयं कई उपसर्गों के अर्थों का उल्लेख किया है जो प्रायः निरुक्त में दिये हुए अर्थों से मेल खाते हैं। 'आङ् आभिमुख्ये वर्तते, 'प्र शब्दः आदि कर्मणि,' 'निरयं बहिर्भावे' वर्तते' जैसी उक्तियां उपसर्गों के सार्थक होने का संकेत करती हैं। बाद में इनका व्यवहार प्रतीक के रूप में होने लगा था। सम् उपसर्ग समता संतुलन का प्रतीक था। अभि सामने अथवा प्रत्यक्ष का प्रतीक था और अभिनव अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। अभ्यंका गावः (वे गाय या बैल जिन पर पहचान के लिए नये चिह्न लगे हों) में अभि शब्द अभिनव अर्थ में प्रयुक्त है (अभिशब्दोऽत्राभिनवार्थे वर्तते—न्यास २।१।१४)।

---

३७. वाक्यपदीय २।२९१, तथा इस पर पुण्यराज की टीका। भर्तृहरि ने उपसर्ग में वाचकत्व, द्योतकत्व और सहाभिधायकत्व माना है—वाचकत्वं द्योतकत्वं सहाभिधायकत्वमित्युपसर्गेषु त्रिविधा प्रतिपत्तिराचार्याणाम्। तत्रानभिहितार्थमभ्यारोपयन् वाचक इति प्रतिज्ञायते। संभविनमर्थमनभिव्यक्तमभिव्यंजयन् द्योतक इत्यभ्युपगम्यते। स्वभावतः प्राप्तनियतशक्तिमात्रमादवत् स्वार्थिकवत् सहाभिधाया व्यवस्थाप्यते—वाक्यपदीय २।१९० हरिवृत्ति हस्तलेख

भर्तृहरि ने वृत्ति के विषय में उपसर्गों की सार्थकता कण्ठ खोल कर स्वीकार की है और उन्हें सत्त्वाभिधायी कहा है—

क्रियायां साधने द्रव्ये प्रादयो ये व्यवस्थिताः ।
तेभ्यः सत्त्वाभिधायीभ्यो वतिः स्वार्थे विधीयते ।।

—वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ५८३

उद्वत् (उत्+वत्) , निवत् (नि+वत्) इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि उपसर्ग यहां सार्थक है। जयादित्य ने भी "प्रादयो हि वृत्तिविषये ससाधनां क्रियामाहुः"—(काशिका ६।२।१९२) कह कर उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि की है।

बहुत से ऐसे प्रत्यय हैं जो उपसर्गों से स्वार्थ में हुये हैं। यह तभी संभव है जब कि उपसर्गों के स्वतन्त्र अर्थ हों। उदाहरण के लिये पाणिनि का यह सूत्र लीजिये

अनुकाभिकाभीकः कमिता ५।२।७४

इसमें अनुक (अनु+क), अभिक (अभि+क) और अभीक (अभि+ई+क) उपसर्गों से कन् प्रत्यय लगा कर बनाये गये हैं।

उत्तर, उत्तम का उल्लेख पहले किया जा चुका है। भाष्यकार ने इसे अव्युत्पन्न शब्द होने का संकेत किया है और कैयट ने भी स्पष्ट ही कहा है कि······**उत् शब्दात् तमबेव, नास्ति, अव्युत्पन्न एवतूत्तमशब्दः स्वभावात् त्रिप्रभृतीनामन्त्यमाह (महाभाष्यप्रदीप ४।१।७८)** । परन्तु कोई भी भाषाविज्ञान का विद्यार्थी कैयट के मत से सहमत नहीं हो सकता। जैसा कि उद्वा, उद्वती में उत् से प्रत्यय हुए हैं वैसे ही उत् से तर और तम प्रत्यय हुए हैं। कैयट ने स्वयं उद्वा में उत् को सार्थक माना है **(उद्गतमस्यास्तीति ससाधनक्रियावचनात् उपसर्गात् प्रत्ययः**—महाभाष्यप्रदीप ५।२।१०९)

यह मान्यता कि उपसर्ग असम्बद्ध रूप में, स्वतन्त्र रूप में अर्थ व्यक्त नहीं करते, पूर्ण रूप से ठीक नहीं है। कवियों ने स्वतन्त्र रूप में भी इनके सार्थक प्रयोग किये हैं जैसे—**रेखामात्रमपिक्षुण्णाद् आ मनो वर्त्मनः परम् (रघुवंश १।१७)** इसमें आ का स्वतन्त्र रूप में प्रयोग हुआ है। जैसा कि मल्लिनाथ ने कहा है आ और मनु यहाँ दो शब्द हैं **(आ मनोः। मनुमारम्यइत्यभिविधिः। पदद्वयं चैतत्। समासस्य-विभाषितत्वात्)**। कुछ शब्द तो पूर्ण रूप से उपसर्ग से ही बने हैं और आज स्वतन्त्र शब्द से जान पड़ते हैं। जैसे अणु शब्द। यास्क के अनुसार अनु उपसर्ग ही अणु शब्द बन गया है।[३८] श्रत्, अन्तर् और मरुत् शब्दों का उपसर्गों के भीतर समावेश भी उपसर्गों के वाचकत्व का परिचायक है। कभी-कभी उपसर्ग तद्धित प्रत्यय के अर्थ में भी व्यवहृत होते देखे गये हैं। दुर्गाचार्य ने प्रमगन्द (कुसीदी की सन्तान) शब्द में प्र को अपत्यार्थक माना है।[३९] प्रस्कण्व में भी प्र शब्द अपत्यार्थक है। अभिरूपायकन्यादेया का भाव अभिरूपतमाय कन्या देया है अर्थात् अभि का प्रयोग यहाँ तमप् अर्थ में हुआ है।

---

३८. निरुक्त ६।२३।४.

३९. निरुक्त टीका ६।३२।१२७.

धातु और उपसर्ग के संघात में वाचकत्व

कुछ विचारकों की यह धारणा है कि उपसर्ग और धातु दोनों मिलकर संघात रूप में अर्थ के वाचक होते हैं। उपसर्गों का अलग विवरण अट् आदि की व्यवस्था के लिए है—

> **परमार्थतः धातूपसर्गसंघात एव क्रियावाची, पृथगुपदेशस्तु धातूपसर्गयोरडादिव्यवस्थार्थः।**[४०]

क्रिया और अव्यय

अव्ययों में कुछ विभक्तयर्थप्रधान होते हैं और कुछ क्रिया प्रधान होते हैं। जैसे हिरुक्, पृथक् ये क्रियाप्रधान अव्यय हैं। क्रिया विशेषण होने के कारण इन्हें क्रिया प्रधान माना जाता है। पृथग् देवदत्त जैसे प्रयोग अवश्य देखे जाते हैं, इसमें कोई क्रियापद नहीं है फिर भी ऐसे प्रयोग स्थिति आदि क्रियापद के आक्षेप की आकांक्षा रखते हैं। क्रियाप्रधान होने के कारण तथा अव्यय होने के कारण इनके साथ लिंग और संख्या का योग नहीं होता। क्रिया में तो एकत्व संख्या मानी भी जाती है और पचतिरूपम् जैसे प्रयोगों में नपुंसक लिंग भी देखा जाता है परन्तु क्रिया प्रधान अव्यय के साथ लिंग और संख्या नहीं जुड़ते।

क्रिया और रूढि शब्द

रूढिशब्द उस शब्द को कहते हैं जिसके विग्रह वाक्य में अन्य अर्थ प्रतीत होता है और वृत्ति में अन्य।

> **"येषां तु वाक्यप्रक्रमोऽन्य एवार्थः क्रिया सम्बन्धी वृत्तिक्रमोऽन्य एव तेषां-रूढिशब्दत्वम्।**
>
> —वाक्यपदीय, हरिवृत्ति २।३७, लाहौर संस्करण

विग्रह वाक्य और वृत्ति में सादृश्य की कल्पना की जाती है। फिर भी किसी-किसी शब्द के विग्रह-वाक्य से सर्वथा अन्य अर्थ प्रकट होने लगता है, ऐसे ही शब्दों को रूढि शब्द कहते हैं। जैसे, तैलपायिका। इस शब्द का विग्रह तैलं पिवति (तेल पीता है) के रूप में किया जाता है और इससे यही अर्थ झलकता है परन्तु वस्तुतः इस शब्द का अर्थ कीट विशेष है। तेल पीने से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए तैलपायिका रूढि शब्द है।

रूढिशब्दों में क्रिया का आश्रय केवल व्युत्पत्ति के लिए लिया जाता है। गौ शब्द की व्युत्पत्ति गच्छतीति के द्वारा समझाई जाती है। परन्तु यह व्युत्पत्ति मात्र है, वास्तविकता से इसका दृढ़ सम्बन्ध कोई नहीं है। अतः जो गमन नहीं करती है

---

४०. महाभाष्यप्रदीप ८।१।७०।

उस गाय को भी गौ कहते हैं और गमन करने वाली गाड़ी आदि को गौ नहीं कहते हैं।

क्रिया का जो सम्बन्ध रूढ़िशब्दों के साथ है वही ताच्छीलिक शब्दों के साथ है। ताच्छीलिक भी एक तरह के रूढ़ि शब्द ही हैं। रूढ़ि शब्द में और ताच्छीलिक में केवल यही अन्तर है कि रूढ़ि शब्दों में किसी का गति से सम्बन्ध नहीं होता जबकि ताच्छीलिकों में कुछ का गति से सम्बन्ध होता है और कुछ का गति से सम्बन्ध नहीं होता। ताच्छील्य शब्द भी क्रिया विषयक ताच्छील्य के आश्रय से प्रयुक्त होते हैं यद्यपि उनमें क्रिया का आवेश नहीं रहता। उनमें कुछ गति से जुड़ते हैं जैसे आगामुकः, प्रवर्षुकः। कुछ नहीं जुड़ते। जैसे कामुकः। प्रकामुक नहीं होता। व्याघ्र जैसे शब्द उपसर्ग सहित ही रूढ़ि शब्द माने जाते हैं, इनके साथ किसी दूसरे गति की आवश्यकता नहीं है।

क्रियाभ्यावृत्ति

एककर्तृक तुल्यजातीय क्रियाओं का बार-बार घटित होना अभ्यावृत्ति कहलाता है। अभ्यावृत्ति क्रिया में ही सम्भव है, द्रव्य और गुण में नहीं। क्योंकि शब्द से प्रतिपाद्य द्रव्य और गुण स्वभाव सिद्ध होते हैं, अभ्यावृत्ति साध्यस्वभाववाली क्रिया में होती है। कभी-कभी "पुनः पुनः दण्डी", "पुनः पुनः स्थूलः" जैसे स्थलों में द्रव्य और गुण की भी अभ्यावृत्ति देखी जाती है परन्तु ऐसे स्थलों में भी वस्तुतः सामर्थ्यवश क्रिया की ही अभ्यावृत्ति होती है। पुनः-पुनः दण्डी भवति, पुनः पुनः स्थूलो भवति इस रूप में क्रियापद का आक्षेप ऐसे शब्दों में समझना चाहिए।

महाभाष्यकार ने कहा है कि आवृत्ति अभ्यावृत्ति नहीं है अपितु अभिमुखीप्रवृति को अभ्यावृत्ति कहते हैं।[४१]

अभ्यावृत्ति भिन्न काल की क्रियाओं में होती है (अभ्यावृत्तिर्हि भिन्नकालानां क्रियाणां भवति।—न्यास ५।४।१७.

नित्य, आभीक्ष्ण्य और क्रियासमभिहार—

क्रियाभ्यावृत्ति की तरह नित्य और आभीक्ष्ण्य भी क्रिया से सम्बद्ध हैं। बार-बार क्रिया की प्रवृत्ति को आभीक्ष्ण्य कहते हैं। आभीक्ष्ण्य साध्यरूप क्रिया में ही सम्भव है, द्रव्य में नहीं। द्रव्य के सिद्धरूप होने से उसमें पुनः-पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। नित्य भी आभीक्ष्ण्य का अर्थ रखता है। पाणिनि ने नित्यवीप्सयोः ८।१।४ में नित्य शब्द का व्यवहार आभीक्ष्ण्य के अर्थ में किया है। जिस क्रिया को कर्ता प्रधानरूप से लगातार करता है उसे नित्य कहते हैं। आभीक्ष्ण्य और नित्य में थोड़ा-सा अन्तर है। आभीक्ष्ण्य में क्रिया की आवृत्ति प्रतीत होती है जब कि नित्यता में क्रिया का

---

४१. महाभाष्य ५।४।१९.

अविच्छेद जान पड़ता है। जैसे "भुक्त्वा-भुक्त्वा व्रजति" इस वाक्य में क्रिया के विच्छेद होने पर भी बार-बार खाता है और बार-बार जाता है इस रूप में क्रिया की आवृत्ति प्रतीत होती है। अतः यहां आभीक्ष्ण्य है। "जीवति-जीवति" कहने से क्रिया का अविच्छेद प्रतीत होता है, वह जीता ही है यह अर्थ भासित होता है। उसमें वह जीकर मरता है, अथवा मर कर जीता है इस रूप में आवृत्ति नहीं जान पड़ती। व्यक्ति का दीर्घकाल तक अविच्छिन्न रूप में जीवित होना ही व्यक्त होता है।

क्रियासमभिहार शब्द क्रिया के बार-बार होने को अथवा उसके अत्यन्त तीव्र-स्वरूप को व्यक्त करता है। क्रियासमभिहार का रूप प्रायः यङन्त से द्योतित होता है—

पौनः पुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः।—काशिका ३।१।२२

क्रिया की प्रत्येक परिसमाप्ति—

कुछ विशेष क्रियाओं को लेकर भर्तृहरि ने क्रिया के सम्बन्ध में यह भी विचार किया है कि क्रिया का वाक्य में प्रत्येक परिसमाप्ति माना जाय अथवा समुदाय परिसमाप्ति अथवा उभयपरिसमाप्ति। वाक्यपदीय में तीनों तरह के मत उल्लिखित हैं उनका विवरण संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है।

एक मत यह है कि वाक्यार्थभूत क्रिया का अवस्थान प्रत्येक से सम्बद्ध है। उस अवस्थान को "सामर्थ्यलक्षण" शब्द से व्यक्त किया जाता है। संघ, एक शेष, द्वन्द्व में क्रिया की प्रत्येक में परिसमाप्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिए भोजन की क्रिया (भुजि क्रिया) को लीजिए। जब कहा जाता है कई ब्राह्मण अथवा एक ब्राह्मण अथवा देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र भोजन करें तो इस वाक्य से ब्राह्मण कर्तृक भोजन क्रिया का प्रत्येक से सम्बन्ध होता है। क्योंकि भोजन क्रिया का फल तृप्ति है और वह प्रत्येक भोक्ता में अलग-अलग होती है। भोजन के व्यापार भी, जैसे पाद-प्रक्षालन, आसन पर बैठाना, दूसरे द्वारा परोसे जाना आदि—प्रत्येक भोक्ता के अलग-अलग किये जाते हैं। अथवा प्रत्येक भोक्ता स्वयं इन व्यापारों को करता है। इसलिए फल की दृष्टि से और स्वरूप की दृष्टि से भी भोजन-क्रिया की परिसमाप्ति प्रत्येक में होती है।

भुजिक्रिया नाट्यक्रिया की तरह नहीं है। नाट्यक्रिया अनेक साधन से साध्य है और सब साधनों के सहयोग से फलवती होती है। भोजन-क्रिया वैसी नहीं है। वह तो प्रत्येक कारक (यहां भोक्ता) से निर्वर्त्य है। यह भेद वस्तुगति की दृष्टि से है। वस्तुगति नियत होती है [**नियत स्वरूपा हि वस्तुगतयो दृश्यन्ते**]।[४२] वस्तु-स्वभाव के कारण ही दीपक की प्रकाश-क्रिया एक अधिकरण [आधार] पाकर भी चारों ओर प्रकाश-फल देती है। परन्तु भोजन-क्रिया विभक्त रूप में ही प्रत्येक में तृप्ति-फल उत्पन्न करती है।

---

४२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३८०

इस मत का समर्थन शास्त्र से भी किया जा सकता है। व्याकरण का पारिभाषिक वृद्धि शब्द आ ऐ औ इनमें से प्रत्येक में परिसमाप्त माना जाता है अर्थात् प्रत्येक वृद्धि संज्ञक कहा जाता है।[४३]

क्रिया की समुदायपरिसमाप्ति

एक मत यह भी है कि क्रिया की परिसमाप्ति समुदाय में होती है। यदि यह कहा जाय 'देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र देखें" तो देखने की क्रिया दर्शनीय वस्तु के समुदाय में परिसमाप्त होती है। और दर्शनक्रिया का फल भी युगपत् ही होता है।

जिस क्रिया में भिन्न-भिन्न व्यापार विभिन्न कारकों के देखे जाते हैं उसकी परिसमाप्ति समुदाय में सम्मिलितरूप से (संभूय) माननी चाहिये। जैसे, "देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचति" इस वाक्य में वाक्यार्थभूत पकाने की क्रिया में देवदत्त, काष्ठ, स्थाली आदि विभिन्न कारकों का व्यापार भिन्न-भिन्न है। कर्ता के भी संदर्शन, प्रार्थना, अध्यवसाय आदि कई व्यापार हैं। उपर्युक्त सभी व्यापार संघ रूप में पाकक्रिया के साधक माने जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि क्रिया चाहे कर्तृस्था हो या कर्मस्था पचिक्रिया कर्म में ही समवेत होती है। कुछ लोग मानते हैं कि पचिक्रिया के कर्म में समवेत होने पर भी उसमें अधिश्रयण, उपसर्जन, विक्लित्ति आदि कई व्यापार भी उसके अर्थ के भीतर हैं, उन सबके द्वारा पचि क्रिया निष्पन्न होती है अतः उसकी समुदाय में ही परिसमाप्ति माननी चाहिए।

"गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्" जैसे वाक्यों से सौ के दण्ड की परिसमाप्ति समुदाय में ही देखी जाती है। यहां प्रत्येक गर्ग को सौ का दण्ड देना अभिप्रेत नहीं है। यदि यहां प्रत्येक में दण्ड की परिसमाप्ति मानी जायगी तो शतं के स्थान पर शतानि संख्या का आश्रय लेना पड़ेगा जिससे वाक्य में विरोध होगा, प्रधानकर्म का स्वरूप भ्रंश होगा और वीप्सा की भी प्राप्ति नहीं होगी। अतः गर्गसंघ पर ही शत दण्ड समझा जाता है।

शास्त्र में भी कार्यपदान्वाख्यान—दर्शन के अपनाने पर समुदायपरिसमाप्ति पक्ष देखा जाता है। समास संज्ञा और अभ्यस्त संज्ञा समुदाय की ही होती है।[४४]

---

४३. वाक्यपदीय २।३७९-३८४. आ, ऐ, औ प्रत्येक वृद्धिसंज्ञक है इसमें प्रमाण पाणिनि का संकेत है। प्रस्थे वृद्धमकर्क्यादीनाम् ६।२।८७ सूत्र प्रस्थ उत्तरपद रहते पूर्वपद उदात्त करता है कर्क्यादि और "वृद्ध" को छोड़ कर, मालादीनां च ६।२।८८ यह सूत्र भी प्रस्थ उत्तर पद रहते पूर्वपद को आदि उदात्त करता है। 'वृद्ध' यहाँ पारिभाषिक है जो वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७३ के अनुसार होता है। अब आ, ऐ, आदि को प्रत्येक को वृद्धि संज्ञा जब होगी तभी मालादि उपर्युक्त सूत्र (१।१।७३) से वृद्ध कहे जा सकेंगे—

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३८४।

४४. वाक्यपदीय २।३८२, ३८३, ३८५, ३९४।

उभयपरिसमाप्ति

कुछ क्रियाओं में ऐसा देखा जाता है कि उनकी परिसमाप्ति प्रत्येक में भी और समुदाय में भी एक साथ ही देखी जाती है। जैसे यह कहा जाता है कि वृषल को इस मन्दिर में आना मना है तो यहां निषेधरूपक्रिया का संबंध वृषल से एकाकीरूप में भी होता है और वृषलसंघ के साथ भी होता है। शास्त्र में भी णत्व करने में अट् कवर्ग पवर्ग आङ् नुम् आदि का व्यवधान प्रत्येक रूप में और सामूहिकरूप में भी माना जाता है।[४५]

वस्तुतः वाक्यार्थक्रिया की परिसमाप्ति कहीं प्रत्येक में होती है और कहीं समुदाय में होती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि केवल प्रत्येक में ही हो अथवा वाक्य में ही हो :—

प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरित्येतत् न राजाज्ञावशात् व्यवस्थाप्यते।—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३८५

क्रिया एक अथवा अनेक

क्रियाओं के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने उनके एकत्व और नानात्व पर भी विचार किया है। भुजि क्रिया एक है अथवा अनेक। एक भी है और अनेक भी है। भोक्ता की तृप्ति की दृष्टि से भोजन-क्रिया का समारम्भ होता है वहां वह एक ही मानी जायगी। क्योंकि तृप्तिफल समान है। परन्तु देशभेद कालभेद आदि के कारण एक होते हुए भी अनेक जान पड़ती है। इसके विपरीत, कुछ लोग मानते हैं कि भोक्तृभेद से फलभेद होता है। इसलिए भोजन-क्रिया में भी स्वभावतः भेद माना जायगा। उसमें यदि अभेद की प्रतीति होती है तो इसलिए होती है कि भोजन-व्यापार के पात्र आदि प्रायः एक से भासित होते हैं। पात्र के अभेद से उसमें एकत्व और स्वभावतः अनेकत्व है।

फल की दृष्टि से भी क्रिया में भेद जान पड़ता है। कोई स्वर्ग के लिए यजन करता है, कोई पुत्र के लिए, कोई धन के लिए। इस फल भेद से इतिकर्तव्यता में भी भेद आ जाता है और इस कारण क्रिया में अनेकत्व झलकता है। परन्तु वस्तुतः क्रिया एक है। (**एकाहि क्रिया-महाभाष्य १।२।६४**)। आख्यात वाच्य क्रिया सर्वत्र भेदनिवृत ही होती है, यही सिद्धान्त है। फल और साधनभेद से यजन—क्रिया में भेद अर्थ की दृष्टि से भले ही अवगत हो, शब्द की दृष्टि से वह सदा सामान्यरूप में एक है। प्रकर्ष या आवृत्ति के कारण क्रिया का एकत्व विघटित नहीं होता। क्रिया के एकत्व की रक्षा के लिए भर्तृहरि ने क्रिया में व्यक्तिभाग और जातिभाग की कल्पना की है :—

क्वचित् क्रिया व्यक्तिभागैरूपकारे प्रवर्तते।
सामान्यभाग एवास्याः क्वचिदर्थस्य साधकः।।[४६]

---

४५. द्रष्टव्य वाक्यपदीय २। ३८७-३९०
४६. वाक्यपदीय २।४६५

क्रिया का एक व्यक्तिभाग है और एक उसका सामान्यरूप जातिभाग है। समीहित सिद्धि के लिए कभी व्यक्तिरूप में क्रिया प्रवृत्त होती है और कभी जातिरूप में। बाधा, विकल्प, समुच्चय, अतिशय, प्रशंसा[४७] आदि में क्रिया व्यक्तिभाग के रूप में प्रवृत्त होती है क्योंकि क्रिया के सामान्यरूप से प्रवृत्ति मानने पर समुच्चय विकल्प आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती। अनेक क्रियाओं के अध्याहार को समुच्चय कहते हैं। तुल्य बलवाली अविरोधी क्रियाओं का अध्याहार भी समुच्चय है। जैसे—**देवदत्तं भोजय लवणेन सर्पिषा शाकेन च**, अथवा—

अहरहनयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्।
वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदः॥

इसमें एक ही नयति क्रिया में गौ, अश्व, पुरुष आदि का समुच्चय है। ऐसे स्थलों में क्रिया का जातिस्वरूप प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि जाति में समुच्चय सम्भव नहीं है। विकल्प भी तुल्यबल के विरोध में होता है। जैसे कौण्डिन्य को दधि और तक्र दिया जाय में विकल्प है। यहां भी क्रिया व्यक्तिभाग के द्वारा उपकारक है। इसी तरह अतिशय आदि स्थानों में समझना चाहिये। परन्तु लोक-व्यवहार की सिद्धि के लिये क्रिया जाति रूप में भी प्रवृत्त होती है जैसे पचति, यजते आदि में क्रिया का सामान्यरूप ही वाक्यार्थ में अधिक उपयोगी होता है। कालभेद अथवा साधनभेद से क्रिया-भेद की प्रतीति क्रिया के जातिरूप का विघातक नहीं होती।

जहां क्रिया विजातीय और विभिन्नपदवाच्य है परन्तु साधन एक ही है वहां भी कालभेद से साधन में भेद मानकर क्रिया की प्रत्येक के साथ परिसमाप्ति सिद्ध होती है जैसे, 'अक्षाः भक्ष्यन्तां भज्यन्तां दीव्यन्ताम्' में अक्ष साधन एक शब्दोपात्त है और क्रिया भिन्न जाति वाली और भिन्न शब्दोपात्त है फिर प्रतिपत्ति बेला में अक्ष शब्द से बहेड़े, गाड़ी की धूरी और जूवे की प्रतिपत्ति होने से विभिन्न क्रियाओं का इन विभिन्न साधनों से पृथक् पृथक् सम्बन्ध हो जायगा। क्योंकि विभीतक का ही भक्षण होता है न कि शकटाक्ष अथवा देवनाक्ष का। इसी तरह शकटाक्ष का ही भंजन होता है न कि विभीतक अथवा देवनाक्ष का। इसीलिये क्रिया को यौगपद्य अवस्था में भी क्रमवाली माना जाता है—

क्रिया तु यौगपद्येऽपि क्रमरूपानुपातिनी[४८]।

वस्तुतः क्रम और यौगपद्य शब्द की शक्तिविशेष हैं जिन्हें क्रमशः भेदशक्ति और संसर्ग-शक्ति कह सकते हैं। ये शब्द के व्यापार हैं जो शब्द से भिन्न-से जान पड़ते हैं।

---

४७. त्रिप्रकारा हि प्रशंसाशब्दाः। केचिज्जाति शब्दाः परार्थे प्रयुज्यमाना प्रशंसामाचक्षते यथा सिंहोदेवदत्त इति। केचिद् गुणशब्दाः गुणगुणिसम्बन्धेन प्रशंसा वचना भवन्ति यथा रमणीयो ग्रामः, शोभनः पाचक इति। केचिद् रूढिशब्दा मतल्लिकादयः। तेषां प्रशंसैव पदार्थः—न्यास २।१।६६

४८. वाक्यपदीय २।४७१

आख्यातशब्द वाक्यम्

वाक्य का सर्वस्व क्रिया पर अवलम्बित है। भर्तृहरि ने क्रिया का विचार वाक्य की दृष्टि से भी किया है। वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड के आरम्भ में वाक्य सम्बन्धी आठ तरह के विकल्प उल्लिखित हैं। उनमें से पहला आख्यात शब्द है। कुछ विचारकों के अनुसार क्रियाशब्द वाक्य हैं। कभी कभी एक ही क्रियापद से कर्ता और कर्म के अर्थ-सहित बोध देखा जाता है। जैसे वर्षति से। वर्षति क्रिया से देव-कर्त्ता का और जल-कर्म का बोध हो जाता है। फलतः वर्षति वाक्य है।[४९]

वार्तिककार ने वाक्य के दो पारिभाषिक लक्षण दिये हैं। एक है—आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। यहां आख्यात पद से एक क्रियापद का ग्रहण होता है। अव्यय, कारक, विशेषण सहित आख्यात वाक्य है। अव्यय सहित जैसे, उच्चैः पठति। कारक सहित, जैसे, ओदनं पचति। क्रियाविशेषणसहित जैसे, सुष्ठु पचति। ये सब अलग अलग और समुदितरूप में भी गृहीत होते हैं। अव्यय यद्यपि कारक और विशेषण भी होता है फिर भी प्रपंचार्थ उसका ग्रहण यहां किया गया है। अख्यातं सविशेषणं इतना ही लक्षण पर्याप्त है। अख्यात पद से यहां क्रिया की प्रधानता लक्षित है इसलिये 'देवदत्तेन शयितव्यम्' भी वाक्य है। यह वाक्य का शास्त्रीय लक्षण है। कैयट के अनुसार वाक्य का लौकिक लक्षण "अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाक्षं चेद् विभागे स्यात्"[५०] है अर्थात् साकांक्ष एकार्थ पद समूह को वाक्य कहते हैं। यह मीमांसकों का मत है जिसे कैयट ने लौकिक माना है। यह वाक्यलक्षण व्याकरण-दर्शन में मान्य नहीं है। अयं दण्डो, हरानेन (यह लाठी है इससे गायों को ले जाओ), ओदनं पच, तव भविष्यति (भोजन बनाओ, तुम्हारा अथवा तुम्हारे स्वामी का होगा) जैसे वाक्य वस्तुतः दो वाक्य माने जाते हैं। क्योंकि इनमें दो आख्यातपद हैं। इन्हें दो वाक्य मान कर ही वार्तिककार ने ऐसे स्थानों में निघात आदि के निषेध के लिए **'समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः'**[५१] इस वार्तिक में समानवाक्य शब्द रखा है। लौकिक अथवा मीमांसक वाक्यलक्षण के अनुसार उपर्युक्त वाक्यों में एक वाक्य होने से निघात आदि की प्राप्ति होने लगेगी। अतः वार्तिककार का ही वाक्यलक्षण अधिक उपयुक्त है।

वार्तिककार के इस वाक्यलक्षण के अनुसार ही व्रजानि देवदत्त जैसे वाक्य में पाणिनिसूत्र ८।१।१९ से निघात सिद्ध होता है। क्योंकि यहां जाने की क्रिया संबोध्य देवदत्त के जाने की क्रिया से अथवा यज्ञदत्तविषयक जाने की क्रिया से पृथक् होने के कारण विशिष्ट मानी जाती है फलतः देवदत्त क्रियाविशेषण होने के कारण वाक्य की परिभाषा के भीतर आ जाता है। क्रिया का विशेषण सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य दोनों रूपों में देखा जाता है। शोभनं करोति, सुष्ठु करोति जैसे वाक्यों में क्रिया की सुष्ठु आदि विशेषण युक्त रूप में ही प्रतीति होती है। इसलिये करोति क्रिया

---

४९. वाक्यपदीय २।३२७

५०. मीमांसासूत्र २।१।४६, महाभाष्यप्रदीप ८।१।१९

५१. पाणिनि सूत्र ८।१।१८ पर वार्तिक

का सुष्ठु, शोभन के साथ सामानाधिकरण्य है। असत्वभूतक्रिया के विशेषण होने के कारण ही क्रियाविशेषण सदा नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं। क्रिया के निर्वर्त्य होने के कारण क्रियाविशेषण में कर्मत्व भी स्वाभाविक ही है। व्रजानि देवदत्त में वैयधिकरण्य के रूप में विशेषण है। यहां देवदत्त और जाने की क्रिया का सामानाधिकरण्य नहीं है। देवदत्त को आमंत्रण करके जाने में केवल बिना आमंत्रण के जाने की अपेक्षा आमन्त्रणपूर्वक जाने वाली क्रिया विलक्षण हो गई है इसलिये आख्यात इस वाक्य में सविशेषण है। नागेश के अनुसार सविशेषण का अर्थ साक्षात् अथवा परम्परा विशेषण सहित है अतः 'नद्यास्तिष्ठति कूले' में समान वाक्यत्व सिद्ध होता है।

भर्तृहरि ने वार्तिककार के दूसरे वाक्यलक्षण पर भी विचार किया है और वह है "एकतिङ् वाक्यम्"। वार्तिककार के प्रथम वाक्य लक्षण में आख्यात शब्द में एकत्व की अविवक्षा की शंका किसी को न होने पावे इसलिये ही वार्तिककार ने 'एक तिङ् वाक्यम्' पुनः कहा है अर्थात् दो आख्यात वाले वाक्य एक वाक्य न माने जांय यह उनका अभिप्राय है। परन्तु पाणिनि ने तिङतिङः ८।१।२८ सूत्र में अतिङ् ग्रहण किया है। इससे जान पड़ता है कि उनके मत में अनेक तिङन्तपद के रहते हुए भी यदि अर्थ साकांक्ष है तो एक वाक्य ही मानना चाहिये।

कुछ लोग मानते हैं कि वार्तिककार और सूत्रकार में यहां मतभेद नहीं है। वार्तिककार का एकतिङ्त्व प्रधानतिङन्त की अपेक्षा प्रतिपाद्यमान है अतः सूत्रकार के मत के अनुकूल ही वार्तिककार का भी मत है। परन्तु कुछ लोग इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते और दोनों मुनियों में वाक्यविषयक मतभेद मानते हैं।[५२] कुछ लोग अनेक क्रियापदों वाले वाक्यों में भेदाभेद सिद्धान्त को अपनाते हैं। पश्य मृगो याति इस वाक्य में दो तिङन्तपद होने के कारण यहां वाक्यभेद है साथ ही मृग पद का याति पद से और उसका पश्य से योग होने के कारण एक ही वाक्य है, अभेद है—

तिङन्तान्तरयुक्तेषु युक्तयुक्तेषु वा पुनः।
मृगः पश्यत यातीति भेदाभेदौ न (च) तिष्ठतः॥[५३]

क्रियावाक्यार्थवाद

वाक्यपदीय में वाक्यार्थ छः प्रकार के विवेचित हैं—संसर्ग, प्रयोजन, संसृष्टि, निराकांक्षपदार्थ, प्रतिभा और क्रिया। इनमें क्रियावाला पक्ष क्रिया वाक्यार्थवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसके भी फलवाक्यार्थवाद और कर्मवाक्यार्थवाद नाम के अवान्तरभेद होते हैं। जो लोग आख्यातपद को वाक्य मानते हैं उनके मत में क्रिया ही वाक्यार्थ है। क्रिया के अनुषंग से ही पदार्थ की प्रतीति होती है। बिना क्रिया के किसी वस्तु के अस्तित्व अथवा नास्तित्व का पता नहीं चलता। जहां एक ही पद निराकांक्ष सत्ता का प्रतिपादक होता है वहां भी है, था, नहीं हुआ आदि रूप में अनुभूति होने पर ही वाक्य की परिसमाप्ति देखी जाती है। अतः ऐसे स्थलों में भी किसी न किसी रूप में क्रियापद का सम्बन्ध अनिवार्य है। क्रिया वाक्यार्थ होने के कारण ही एक

---

५२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४५२
५३. वाक्यपदीय २।४५२

क्रिया दूसरी क्रिया से विशिष्ट होती है, फलतः भिन्न होती है। क्रिया के आधार और साधन नियत होते हैं इसी से क्रिया में वैशिष्ट्य आता है। वाक्य में विशेषणों (साधनों) के प्रयोग क्रिया के मुख्य रूप के उद्बोधन में सहायक होते हैं।[५४]

जब फल पर अधिक दृष्टि रहती है तब क्रिया का प्रयोजन फल होता है। अतएव क्रिया फल का अंगभूत हो जाती है। ऐसे स्थलों में ही फलवाक्यार्थवाद का सिद्धान्त अपनाया जाता है। इसे भर्तृहरि ने **'साध्यप्रयुक्तान्यङ्गानि फलं तस्याः प्रयोजकम् (वाक्यपदीय २।४३४)** के रूप में व्यक्त किया है।

कर्मवाक्यार्थवाद में भी क्रिया कर्म के लिये होती है। इस दृष्टि से कर्म क्रिया से प्रधान ठहरता है :—

पचिक्रिया करोमीति कर्मत्वेनाभिधीयते।
पक्तिः करणरूपं तु साध्यत्वेनप्रतीयते ।।[५५]

फलवाक्यार्थवाद, कर्मवाक्यार्थवाद और क्रियावाक्यार्थवाद एक ही के विभिन्न पहलू हैं। क्रिया मुख्य है। कर्म क्रिया से ही निष्पन्न होता है और फल तो फल है। क्रिया के बिना इनकी सत्ता नहीं है। इसीलिये भर्तृहरि ने क्रियावाक्यार्थवाद को महत्त्व दिया है।

वस्तुतः भर्तृहरि के अनुसार प्रतिभा वाक्यार्थ है। प्रतिभा पर आगे विचार किया जायगा। परन्तु वाक्यार्थरूप प्रतिभा भी क्रियाश्रित ही है। पुण्यराज ने इसकी पुष्टि में निम्नलिखित वाक्यपदीय का श्लोक उद्धृत किया है यद्यपि यह श्लोक छपे वाक्यपदीय में नहीं मिलता :—

प्रतिभा यत् प्रभूतार्था (प्रभूत्यर्था) यामनुष्ठानमाश्रितम्।
फलं प्रसूयेत यतः सा क्रिया वाक्यगोचरः ।।

—वाक्यपदीय २।१ की टीका में पुण्यराज द्वारा उद्धृत।

५४. वाक्यपदीय २।४२१

५५. वही २।४३६

५

कालविचार

शक्त्यात्मदेवतापक्षे भिन्नं कालस्य दर्शनम्

—वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६२।

आख्यातार्थो में क्रिया के बाद प्रमुख स्थान काल का है। भर्तृहरि ने काल पर विचार एक दार्शनिक की भांति किया है। इनके काल सम्बन्धी अपने स्वतन्त्र विचार हैं जो व्याकरण-संप्रदाय में प्रसिद्ध नहीं रहे हैं। आगे हम देखेंगे कि इनका काल-दर्शन कश्मीर शैवागम की मान्यताओं से मेल खाता है। परन्तु अपने स्वभाव के अनुसार भर्तृहरि ने काल सम्बन्धी उन दार्शनिकवादों का भी वाक्यपदीय में संकेत किया है जो उनके समय तक प्रसिद्धि पा चुके थे।

अपने देश में काल सम्बन्धी विचार वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो गये थे। यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि संसार परिवर्तनशील है। रात बीतती है। दिन आता है। शरद्, हेमन्त आदि बारी-बारी से आते-जाते रहते हैं। ग्रह और नक्षत्र अनवरत गतिशील हैं। कोई भी वस्तु अपने आप में क्षण भर स्थिर नहीं रहती। वह या तो बढ़ती रहती है अथवा घटती रहती है। इस परिवर्तन की अवस्था विशेष के बोध के लिये और अवस्थाओं के पूर्वापरसंबन्ध ज्ञान के लिये किसी न किसी उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। वह उपाय काल है। वैदिक ऋषियों ने "ऋत" नाम की एक शक्ति की कल्पना की थी जो सार्वभौम नियम के रूप में थी।[1] ऋतावा (वरुण) यह देखते थे कि सूर्य और चन्द्र, नदियां तथा सभी जन यथास्थान यथावसर अपने अपने व्यापार करते हैं। वरुण कालज्ञ थे। वे बारह महीनों को और उनसे उत्पन्न होने वाले मास (मलमास) को जानते थे :—

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते।।[2]

---

१. ऋत शब्द का सम्बन्ध अवेस्ता के अश शब्द से है। अवेस्ता में अश के कई रूप मिलते हैं। अश, अर्श, एर्श और एरेत। ऐरेत वैदिक ऋत शब्द का ही रूपान्तर है। यह निश्चित सा है कि आर्यकाल में, जबकि भारतीय आर्य और इरानी आर्य अलग नहीं हुए थे, ऋत का ज्ञान पूर्ण रूप में फैल चुका था। अवेस्ता के एरेत और वेद के ऋत दोनों का अर्थ अपरिवर्तनीय शाश्वत नियम है।

२. ऋक्संहिता १।२५।८

वत्सर, परिवत्सर आदि शब्द तथा भूत भव्य इत्यादि काल-भेद द्योतक शब्द ऋग्वेद में मिलते हैं। काल-दर्शन के बीज भी ऋग्वेद में हैं। यह कहा गया है कि देश, काल आदि पुरुष के ही विकार हैं। सूर्य और चन्द्र पुरुष से ही प्रसूत हैं, वसन्त, ग्रीष्म, शरद् पुरुष की क्रिया हैं (वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः)।[3] काल भी पुरुष ही है :

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।[4]

अथर्ववेद में काल परमदेवता के रूप में स्थित है। काल ही स्रष्टा है। काल ही भर्ता है। काल में सब कुछ प्रतिष्ठित है। काल से विश्व का विकास हुआ है :—

काले भूतिमसृजत् काले तपति सूर्यः।
कालो ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥[5]
कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ॥[6]

काल के स्वरूप का विचार उपनिषदों में मिलता है। सभी भाव किसी देश और किसी काल में उत्पन्न होते हैं। अतः काल-रचना प्रपंच का कारण हो सकता है कि नहीं इसका विचार-विमर्श उपनिषदों में मिलता है :—

कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा
भूतस्य योनिः पुरुष इति चिन्त्या।[7]

पुराणों में काल के देवता-स्वरूप का ही अधिक विवरण है। महाभारत में "कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः" आदि के रूप में अथर्ववेदोक्त काल के अलौकिक महिमा का विवरण पाया जाता है। भर्तृहरि ने इन सब मतों का संकेत शक्त्यात्मदेवतापक्षे भिन्नं कालस्य दर्शनम्" इस वाक्य से किया है और ये सब विचार आगे के काल-दर्शन के विवरण में पीठिका रूप से उपयोगी हैं।

काल शब्द की व्युत्पत्ति जटिल नहीं है फिर भी प्रकारभेद देखा जाता है। यास्क के अनुसार काल शब्द गत्यर्थक कालय से निष्पन्न हुआ है—**कालः कालयते-र्गति कर्मणः**।[8] पाणिनीय धातुपाठ में कल शब्दसंख्यानयोः, कलक्षेपे, कल गतौ संख्याने च इस रूप में कल धातु के कई अर्थ उल्लिखित हैं। क्षीरस्वामी ने "कलयत्यायुः कालः" ऐसा कहा है।[9] फिर भी "सः कलाः कालयन् सर्वाः कालाख्यं लभते विभुः।"[10] कालो-

३. ऋक्संहिता, पुरुषसूक्त १०।९०
४. वही १०।९०।२
५. अथर्व संहिता १९।५३।६
६. वही १९।५४।१
७. श्वेताश्वतरोपनिषद् १।२
८. निरुक्त २।२५।१
९. अमरकोश १।१।५९
१०. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश १४

ऽन्यः कलनात्मकः[११] "कालः कलयतामहं "[१२] इत्यादि वाक्यों में इसका प्रयोग गति और संख्यान अर्थ में ही बहुधा देखा जाता है। इसलिये काल शब्द का व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ गति और संख्यान हैं। काल के विचार में व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ का भी थोड़ा सा प्रभाव है।

न्याय-वैशेषिक के मत में काल

कालसमुद्देश की प्रथम कारिका में भर्तृहरि ने काल के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक-दर्शन के मत का उल्लेख किया है। नैयायिक और वैशेषिक काल की बाह्य सत्ता मानते हैं। उनके मत में काल द्रव्य है। काल की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है। पर-अपर, चिर-क्षिप्र आदि लिंगों के द्वारा काल की सत्ता का अनुमान होता है :

कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिंगम् । तेषां विषयेषु पूर्व-प्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तौ अन्यनिमित्ताभावात् यदत्र निमित्तं सः कालः।[१३]

पर-अपर, चिर-क्षिप्र आदि का ज्ञान आदित्य के परिस्पन्द के द्वारा जाना जाता है। केवल आदित्यपरिस्पन्द को ही काल इसलिए नहीं कह सकते कि काल युगपदादि ज्ञान से भी अनुमेय होता है। केवल आदित्य-परिवर्तन से युगपदादि ज्ञान सब को सम्भव नहीं है। वैशेषिक के मत में काल सभी कार्यों का हेतु है। नित्य है। विभु है। एक है।

नैयायिकों में रघुनाथशिरोमणि काल की पृथक् सत्ता अंगीकार नहीं करते। उनके मत में दिक् और काल ईश्वर के अतिरिक्त नहीं हैं, उनका ईश्वर में ही अन्त-र्भाव सम्भव है :

दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात्। तत् तत् निमित्तविशेषसमवधा-नवशाद् ईश्वरादेव तत् तत् कार्यविशेषाणामुत्पत्तेः।[१४]

किन्तुरघुनाथ शिरोमणि से सैकड़ों वर्ष पूर्व भर्तृहरि ने इस मत का प्रतिपादन भी वाक्यपदीय में किया था जो निम्नलिखित कारिकाओं से स्पष्ट है—

चैतन्यवत् स्थिता लोके दिक्कालपरिकल्पना।
प्रकृतिं प्राणिनां तां हि कोऽन्यथा स्थापयिष्यति ।।[१५]
कालविच्छेदरूपेण तदेवैकमवस्थितम् ।
स ह्यपूर्वापरो भागः पररूपेण लक्ष्यते ।।[१६]

---

११. सूर्यसिद्धान्त १।१०
१२. भगवद्गीता १०।३०
१३. प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ ३३२.
१४. पदार्थ तत्त्व निरूपण, पृष्ठ १-२.
१५. वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १८.
१६. वही, साधन समुद्देश ४२.

सांख्य-दर्शन के अनुसार काल

वाक्यपदीय में सांख्यदर्शन के अनुसार जो काल का विवरण है वह वर्तमान समय में उपलब्ध सांख्य के किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। हम उसका उल्लेख काल-भेद विचार के अवसर पर करेंगे। कुछ आचार्यों के अनुसार सांख्यदर्शन में कालतत्व की चर्चा नहीं है। स्वयं वाचस्पति मिश्र भी इस मत के पोषक जान पड़ते हैं। उनके मत में सांख्य के आचार्यों ने काल तत्व का निर्देश इसलिए नहीं किया है कि जिन उपाधियों के आधार पर काल भेद किया जाता है वे ही उपाधियां काल-व्यवहार का काम कर सकती हैं—

> **कालश्च वैशेषिकाभिमते एको न अनागतादि व्यवहार भेदं प्रवर्तयितुमर्हति। तस्मादयं यैरुपाधिभेदैरनागतादि भेदं प्रतिपद्यते, सन्तु त एवोपाधयः येऽनागतादिव्यवहारहेतवः, कृतमन्तर्गड़ुना कालेनेति सांख्याचार्याः।**[17]

सांख्य के इस मत का भी वाक्यपदीय में संकेत है। व्यवहार की सुविधा के लिए क्रिया आदि काल की उपाधि रूप में मान लिए जाते हैं। अभिन्न-काल से व्यवहार सम्भव नहीं है। काल भेद उपाधिकृत होता है। अतः उपाधि ही मुख्य है। काल नाम की किसी वस्तु की बाह्य सत्ता नहीं है। और यदि उसके कल्पित रूप की आवश्यकता होगी भी तो भी उसका स्वरूप बौद्धिक ही होगा। काल का लक्षण इस मत के अनुसार, बुद्ध्यनुसंहारात्मक है। बुद्धि के द्वारा चिर क्षिप्र आदि क्रियाओं का जो संकलनात्मक काल्पनिक रूप है वही काल है। उसकी बाह्य सत्ता नहीं है—

> **कलाभिः पृथगर्थाभिः प्रविभक्तं स्वभावतः।**
> **केचिद् बुद्ध्यनुसंहारलक्षणं तं प्रचक्षते॥**[18]

परन्तु बाद के सांख्याचार्यों ने काल को आकाश की तन्मात्रा का परिणाम मान लिया है जैसा कि "दिक्कालावाकाशादिभ्यः "इस सांख्य सूत्र से स्पष्ट है।

योग-दर्शन में काल

उपर्युक्त सांख्य-दर्शन की मान्यता के अनुरूप ही योग-दर्शन के भी काल सम्बन्धी विचार हैं। एक परमाणु पूर्व देश को छोड़ कर उत्तर देश के साथ जब तक संयोग प्राप्त करता है उस काल को क्षण कहते हैं। क्षण के निरन्तर प्रवाह को क्रम कहते हैं। क्षण और उसके क्रम का समाहार सम्भव नहीं है क्योंकि क्षण अयुगपत् होते हैं। इसलिए बौद्धिक समाहार माना जाता है। वही बौद्धिक समाहार मुहूर्त, अहोरात्र आदि के रूप में जान पड़ता है। काल वस्तुशून्य (अवास्तविक) है। वह बुद्धिनिर्मित है, शब्दज्ञानानुपाती है और भ्रान्तिवश वस्तु रूप में प्रतिभासित होता है।[19] भर्तृहरि

---

१७. तत्वकौमुदी, सांख्यकारिका ३३.
१८. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ५७.
१९. वाक्यपदीय ३, काल समुद्देश ६९

ने इसे इस रूप में व्यक्त किया है कि जितने क्षण-सन्तान बुद्धि के द्वारा संकलात्मक-रूप से एक के रूप में गृहीत होते हैं तब तक एक काल होता है।[१९] इसी आधार पर मास, वर्ष आदि का विभाग समझना चाहिए। क्षण में और मन्वन्तर आदि में भेद केवल यह है कि अपचय का पराकाष्ठागत काल क्षण है और उपचय का पराकाष्ठागत काल मन्वन्तर है। सर्वथा काल भेद बुद्धि-भेद पर आधारित है। बाह्य क्रिया के अभाव में भी बुद्धि-निवेशिनी क्रिया द्वारा चिर-क्षिप्र आदि काल भेद का ज्ञान संभव है। योगी प्राणचार की प्रक्रिया से क्षण आदि का परिज्ञान करते देखे जाते हैं। लोक में भी प्राणगति से कालगति की कलना होती है। प्राणसंचारमयी क्रिया काल है। इस मत का दार्शनिक आधार, जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा है, यह है कि सभी रूपों की ज्ञान में संक्रान्ति देखी जाती है, सभी वस्तुओं का परिज्ञान उनकी बुद्धि में संक्रान्त होने के बाद ही होता है। साथ ही ज्ञान के द्वारा ही उन सब का अनुसंहार अथवा संकलन भी होता है। (**ज्ञाने रूपस्य संक्रान्तिः ज्ञानेनैवानुसंहृतिः**)।[२०] काल की बौद्धिक प्रातिभासिक सत्ता होने के कारण ही काल सापेक्ष रूप में जान पड़ता है। योगवासिष्ठ में काल के सापेक्ष रूप को अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है। विरह-पीड़ित किसी व्यक्ति को एक दिन भी वर्ष की भांति जान पड़ता है। और ध्यान में लीन व्यक्ति को दिन-रात का पता नहीं चलता। काल की लघुता और दीर्घता सर्वथा सापेक्ष हैं (**देश दैर्ध्यं यथा नास्ति कालदैर्ध्यं तथाङ्गने**)।[२१] योगवासिष्ठ में काल को संकल्पमात्र माना गया है।[२२]

बौद्ध दर्शन में भी काल की बाह्य सत्ता नहीं मानी गई है। उसके अनुसार क्षणिक प्रवाह रूप विज्ञान-संतति ही काल है।

अद्वैतदर्शन के अनुसार काल

हेलाराज ने अद्वैत मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि ब्रह्मतत्व क्रमरहित है। परन्तु अविद्यावश क्रम रूप में उसका विवर्त होता है और विवर्त देश काल में होता है। कोई भी वस्तु सर्वप्रथम किसी देश और किसी काल में होती है। काल की वास्तविक सत्ता नहीं है। परब्रह्म में अध्यारोपित उसकी प्रातिभासिक सत्ता है। काल के आधार पर जो भेद-प्रभेद किये जाते हैं, सब अविद्या-जन्य हैं। विद्या के आदि-र्भूत होने पर सभी प्रपंच का विलय हो जाता है। काल का भी विलय हो जाता है। अतः काल के विषय में युक्तायुक्त विचार करने में प्रयासमात्र फल है।[२३]

---

२०. वही ७८.

२१. योगवासिष्ट ३।२०।२२.

२२. विप्रसंकल्पमात्रोसौ कालो ह्यात्मनि तिष्ठति—
योगवासिष्ठ ५।४६।४.

२३. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश, टीका ६२.

ज्योतिष में काल

ज्योतिषशास्त्रप्रसिद्ध ग्रहों की गति पर अवलम्बित काल-स्वरूप का निर्देश भर्तृहरि ने निम्नलिखित कारिका में किया है—

आदित्यग्रहनक्षत्रपरिस्पन्दमथापरे।
भिन्नमावृत्तिभेदेन कालं कालविदो विदुः ॥[२४]

व्याकरण-दर्शन में काल

पाणिनि ने काल सम्बन्धी नियम अशिष्य माने थे। काल का ज्ञान लोक से सहज ही हो जाने के कारण काल विशेष द्योतक अनद्यतन आदि शब्दों की परिभाषा करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। फलतः पाणिनि का व्याकरण अकालक कहा जाता था (**पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्-काशिका २।४।२१**)। परन्तु महाभाष्यकार आदि ने काल पर एक दार्शनिक की भांति विचार किया है। महाभाष्य में काल सम्बन्धी कई तरह के वक्तव्य हैं।

कुछ वैयाकरण मानते हैं कि क्रिया ही काल है। क्रिया से काल का बोध होता है अतः क्रिया को ही काल मान लेना चाहिये (**नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यत्-वर्तमानकाला: व्यज्यन्ते—महाभाष्य १।१।७०**)। इस मत के पोषक कैयट हैं। उनके मत में उस प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया को काल कहते हैं जो अप्रसिद्ध परिमाणवाली दूसरी किसी क्रिया की परिच्छेदिका है :—

कालो हि प्रसिद्धपरिमाणाक्रिया अप्रसिद्धपरिमाणस्य क्रियान्तरस्य परिच्छेदिका—महाभाष्यप्रदीप १।१।७०

कैयट ने क्रिया के प्रसिद्ध परिमाणको सूर्यादिकर्तृक माना है। "दिवसमधीते" इस वाक्य में दिवस शब्द से सूर्य की गति-क्रिया अभिप्रेत है जो उदय से लेकर अस्त-काल तक व्याप्त है। वह दिवस (आदित्य-क्रिया-प्रबन्ध) अध्ययन क्रिया का परिच्छेदक है अतः उसे काल कहते हैं :

प्रसिद्धपरिमाणक्रिया सूर्यादिकर्तृका अप्रसिद्धपरिमाणायाः क्रियायाः परिच्छेदोपात्ता अहरादिव्यपदेश्या काल इत्याहुः।

—महाभाष्यप्रदीप ३।२।८४.

इस मत की पुष्टि महाभाष्यकार के भी कुछ वक्तव्यों में होती है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है—**बाह्यश्च पुनः आस्यात् कालः** अर्थात् काल मुख से बाह्य है। यह उक्ति क्रिया को काल मान कर ही संभव है (**क्रियैव कालो नातिरिक्तमते इदम्**)।[२५] प्रसिद्ध परिमाण वाली क्रिया बाह्य क्रियान्तर का परिच्छेदक होती है। इस बाह्यत्व के आधार पर उस क्रिया को बाह्य काल कहा गया है। "गोदोहमास्ते"—गाय के दोहन-

---

२४. वही, कालसमुद्देश ७६
२५. महाभाष्यप्रदीपोद्योत, अ इ उ ण

काल तक ठहरता है—इस वाक्य में गोदोह क्रियाविशेष है। उसके काल की इयत्ता अच्छी तरह ज्ञात होने के कारण वह क्रिया प्रसिद्ध परिमाण वाली है। इसलिये वह देवदत्त के ठहरने की क्रिया का परिच्छेदक है। फलतः वह काल है। जहां पर बाह्य-क्रिया नहीं है, जहां सूर्य संचार अथवा नालिकास्रुति [काल-नापने का यन्त्र] आदि प्रसिद्ध परिमाण बतानेवाले साधन नहीं हैं, वहां बुद्धिनिवेशिनी क्रिया ही क्रियान्तर का परिच्छेदक हो जाती है। प्राणप्रवाह के आधार पर काल की गणना संभव है। प्राण प्रवाह के आधार पर अधिक बुद्धि के उदय से चिरकाल का और अल्प बुद्धि के उदय से क्षिप्रकाल का परिज्ञान हो जायगा।

यदि क्रिया से अतिरिक्त काल की सत्ता नहीं है तो 'भूता सत्ता' जैसे वक्तव्य कैसे सम्भव हैं क्योंकि क्रिया स्वयं सत्ता रूप है उसका किसी सत्ता रूप क्रिया से योग संभव नहीं है। इस प्रश्न का उतर स्वयं भर्तृहरि ने दिया है। जिस तरह से "भूतो घटः' इस वाक्य में सत्ताख्य क्रिया की ही भूतता मानी जाती है वैसे ही "भूता सत्ता" इस वाक्य में भी सत्ताख्य क्रिया की ही सत्ता भूत रूप में मानी जाती है। भाव यह है कि भूतो घटः में भूतता घट की संभव नहीं है। घट द्रव्य है। द्रव्य का काल से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। साध्य स्वभाववाली क्रिया का करणभूत काल के साथ सम्बन्ध होता है। निष्ठा प्रत्यय के द्वारा धातु वाच्य सत्ताख्य क्रिया की भूतता अभि-व्यक्त होती है। वह सत्तारूप किया यहां घट में है। इसलिये काल का क्रिया के सम्बन्ध से घट से भी परम्परया सम्बन्ध हो जाता है और घट की भूतता जान पड़ती है, यहां द्रव्य और काल का सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह "भूता सत्ता" इस वाक्य में भी धातु वाच्य क्रिया रूप सत्ता अन्य है और प्रातिपदिक पद [सत्ता शब्द) वाच्य द्रव्यमय अन्य है। यहां भी धातुवाच्य सत्ता की भूतता के द्वारा ही द्रव्याय-माण सत्ता के भूतत्व की प्रतीति होती है। इसलिये क्रिया को काल मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। सत्ता नित्य है। फिर भी आश्रय भेद से उसमें भेद मान कर भूत, वर्तमान आदि त्रिकालभेद की व्यवस्था भी सम्भव है।

कुछ वैयाकरण काल को क्रिया से भिन्न मानते हैं और काल को क्रिया का परिच्छेदक मानते हैं। क्रिया अनेकक्षण का समाहाररूप है। क्षण युगपत् नहीं होते। क्रम से होते हैं। इसलिये क्रिया सक्रमा होती है। क्रम काल का धर्म है। अतः सक्रमा क्रिया काल शक्ति से अनुगृहीत होती है। दो क्रियाओं का उदय और अन्त समान होते हुये भी एक चिर से सम्पन्न होती देखी जाती है और दूसरी क्षिप्र सम्पन्न होते देखी जाती है। यह विलक्षण परिच्छेद बिना किसी उपाधिभूत सम्बन्धी के सम्भव नहीं है। क्रिया में आश्रयभेद से भेद होता है। अतः एक क्रिया चिरता और क्षिप्रता की प्रतीति का कारण नहीं हो सकती। आश्रयभेद से भेद होने के कारण उसमें भेद की अनुवृत्ति हो जाया करेगी। जिसमें भेद की अनुवृत्ति होती है वह अभिन्न व्यपदेश का हेतु नहीं हो सकता। इसी आधार पर कार्य-द्रव्य भी यहां निमित नहीं हो सकता। उसमें भी भेद होता है। कारक भी निमित्त नहीं हो सकते। उनमें भी भेद की अनुवृत्ति होती है। अतः यहां विलक्षण परिच्छेद का जो निमित्त है वह काल है। जिस तरह से तुला-

दण्ड रजत स्वर्ण आदि द्रव्य की गुरुता को पल आदि के रूप में परिच्छिन्न करता है उसी तरह काल भी अपनी शक्ति की महिमा से क्रियासन्तान का चिर अचिर रूप में परिच्छेद करता है।

क्रिया भेद के परिच्छेदक होने के कारण ही काल हायन [संवत्सर] कहा जाता है। हायन का अर्थ है क्रिया को छोड़ना (**जहाति क्रिया इति हायनः**)। हायन व्रीहि को भी कहते हैं क्योंकि व्रीहि भी सह अवस्थित उदक को छोड़ देता है। हरदत्त के अनुसार जांगल (कुरु जांगल)[२५] देश के धान को हायन कहते हैं (**जांगलदेशोद्भवा केचिद् व्रीहयो हायन इत्याहु :—पदमञ्जरी ३।१।१४८**)। इसी दृष्टि से पाणिनि ने भी "हश्च व्रीहिकालयोः" ३।१।१४८ सूत्र के द्वारा हायन शब्द की सिद्धि व्रीहि और काल दोनों अर्थ में अभिव्यक्त की है।[२६] जिस तरह से सह अवस्थित जल से व्रीहि का उपकार होता है उसी तरह सहकारी क्रियाओं से काल भावों का उपकार करता है।

विश्वप्रपंच मूर्ति विवर्त के भीतर आ जाता है। इनका विवेचन पहले किया जा चुका है। इनमें मूर्ति के परिच्छेदक प्रमाण, परिमाण, उन्मान आदि हैं। दिष्टि, वितस्ति आदि एक दिग् विभाग के अवच्छेद से वस्तु के परिच्छेदक होते हैं। इन्हें प्रमाण कहते हैं। प्रस्थ, द्रोण, आढक आदि आरोह और परिणाह के द्वारा धान्य आदि के परिच्छेदक होते हैं। इन्हें परिमाण कहते हैं। निष्क, पल आदि सुवर्ण आदि के गुरुत्व के परिच्छेदक होते हैं। इन्हें उन्मान कहते हैं। ये सब मूर्तिभेद के लिये माने जाते हैं। परन्तु काल क्रिया का परिच्छेदक है। वह क्रिया के भेद के लिये है (क्रिया भेदाय कालस्तु)।[२७] सूर्य आदि ग्रहों की संचार क्रिया काल से मापी जाती है। उस माप को मास, संवत्सर आदि के द्वारा व्यक्त करते हैं। परिच्छेदक की दृष्टि से संख्या और काल में यह भेद है कि काल केवल क्रिया का परिच्छेदक होता है जब कि संख्या मूर्त-अमूर्त सब की परिच्छेदिका है। जैसे द्वौ घटौ। बहवः आत्मानः। द्वे क्रिये। एका वितस्तिः। द्वौ हस्तौ। चत्वारः प्रस्थाः। पञ्चं पलानि। संख्या संख्या की भी परिच्छेदिका है जैसे दो बीस (द्वे विंशती) पाँच पचास (पञ्च पञ्चाशत)।

सभी पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और उनके विनाश देखे जाते हैं। पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति आदि का अलग अलग रूप काल के आधार पर ही संभव है। पदार्थ किसी न किसी काल में उत्पन्न होते है, किसी न किसी काल में स्थित होते हैं और किसी न किसी काल में विनष्ट होते हैं। इसलिये जन्मादि अवस्था वाले पदार्थों का निमित्तकारण काल है। फलतः जन्मादि क्रिया का परिच्छेदक है। यद्यपि वह एक है फिर भी उपाधिभेद से भेद प्राप्त करता है और संसर्गी क्रियाओं में भेद करने में

२५अ. कुरुजांगल जनपद पृथूदक(वर्तमान पिहोवा)के दक्षिण पश्चिम में था। आज कल का हरियाना कुरुजांगल है। हांसी, हिसार, फतेहाबाद, सिरसा आदि इसी में हैं।

२६. काशिकाकार ने काल के अर्थ में हायन शब्द की व्युत्पत्ति जिहीते से की है—जिहीते भावान् इति। इसकी व्याख्या हरदत्त ने यों की है—भावाः पदार्थाः तान जिहीते गच्छति परिच्छेदकत्वेन व्याप्नोतीत्यर्थः—पदमंजरी ३।१।१४८.

२७. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश २.

समर्थ होता है। मास आदि भेद व्यवहार और भूत आदि व्यपदेश संसर्गिसूर्यादि क्रिया के भेद से होते हैं।[२८]

जिस तरह से द्रव्य न तो शुक्ल है और न कृष्ण है फिर भी संसर्गि गुण के कारण शुक्ल और कृष्ण आदि रूप में व्यक्त होता है उसी तरह काल भी भेद-अभेद से अनिर्वाच्य है। उत्पत्ति आदि क्रिया के सम्बन्ध के कारण काल को उत्पत्तिकाल, स्थितिकाल, विनाशकाल जैसे भेद द्योतक शब्दों से व्यवहृत करते हैं। वस्तुतः भर्तृहरि के अनुसार भेद-अभेद, एकत्व-अनेकत्व, आदि किसी के भी स्वाभाविक नहीं होते। इसीलिये कहा है—"**न हि गौः स्वरूपेण गौः नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः**" इति।[२९]

महाभाष्यकार ने काल की एक परिभाषा यों दी है—

येन मूर्तीनाम् उपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमित्याहुः।[३०] तरु, तृण, लता आदि का कभी उपचय देखा जाता है और कभी अपचय। पदार्थों के इस वृद्धि-ह्रास से काल का अनुमान होता है। उपचय और अपचय काल कृत हैं।[३१] उसी काल का किसी क्रिया से सम्बन्ध होने पर दिन और कभी रात्रि आदि नाम पड़ता है। वह क्रिया, भाष्यकार के अनुसार, आदित्यगति है। यद्यपि आख्यात से क्रिया की अभिव्यक्ति सदा निवृत्तभेद रूप में ही होती है और इसलिये क्रिया एक मानी जाती है फिर भी आदित्य आदि साधन भेद से क्रिया भिन्न भिन्न ही होती है। काल का उपर्युक्त स्वरूप भी 'काल क्रिया का भेदक है' इस पक्ष की परिपुष्टि करता है।

परन्तु नागेश इस मत से सहमत नहीं है। उनके मत में काल को क्रिया का भेदक मानने पर क्रिया में क्षण—उपाधि संभव नहीं है। उत्तरदेश-संयोगावच्छिन्न क्रिया को मानने पर भी क्रिया के विशेषण विशेष्य और सम्बन्ध रूप में होने के कारण तीनों के स्थिर रहने के कारण उसके लिये क्षण का व्यवहार असंभव है। नागेश ने 'क्रिया ही काल है' इस पक्ष में भी यह दोष दिखाया है। साथ ही प्रसिद्धपरिणामा क्रिया को काल मानने में नागेश के अनुसार अनवस्था भी है। यदि क्रिया से काल को अतिरिक्त माना जाय तब भी काल को अखण्ड न मान कर उसे क्षण पदार्थ के रूप में मानना चाहिये। क्षणों के प्रचय से मुहूर्त आदि व्यवहार की उपपत्ति हो जायगी :

आद्यपक्षे क्षणोपाधेर्निर्वक्तुमशक्यत्वम्। उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नक्रियेति चेत् तस्या विशेष्यविशेषणसम्बन्धरूपत्वे त्रयाणामपि स्थिरत्वात् क्षणव्यवहारनिया-

---

२८. वाक्यपदीय ३. कालसमुद्देश ३.

२९. मम्मट के अनुसार यह वाक्य वाक्यपदीय का है। परन्तु अब तक की प्रकाशित वृत्ति में यह वाक्य नहीं है। इसे कहीं न कहीं होना चाहिए। इस वाक्य का उल्लेख हेलाराज ने सम्बन्ध-समुद्देश ५२ की टीका में किया है।

३०. महाभाष्य २।२।५.

३१. इस मत को भर्तृहरि ने निम्नलिखित कारिका में व्यक्त किया है—
मूर्तीनां तेन भिन्नानामाचयापचयाः पृथक्।
लक्ष्यन्ते परिणामेन सर्वासां भेदयोगिना॥ कालसमुद्देश १३.

मकत्वाभावः। अतिरिक्तत्वे सिद्धोऽतिरिक्तःक्षणपदार्थ इति तत् प्रचयैरेव कलामुहूर्तादिव्यवहारोपपत्तौ किमखण्डेन तेन।

.........किंच प्रसिद्धपरिमाणेत्युक्तिरसंगता, तस्या अपि क्रियान्तरस्यैव परिच्छेदकत्वे अनवस्थापतिरितिदिक्।[32]

नागेश ने क्षण-प्रवाह को ही काल माना है और अर्वाचीन सांख्य-आचार्यों के शब्दतन्मात्रा के परिणाम वाले वाद का भी समर्थन किया है :

प्रकृतेः परिणामस्य विवर्तस्य वातिभङ्गुरस्य विभोः क्षणस्य धारायाः कालत्वात्।.........यद्वा शब्दतन्मात्रापरिणाम एव दिग्वत् कालः।[33]

स्पष्ट ही नागेश योग-दर्शन और सांख्य-दर्शन के मत से प्रभावित हैं। उनकी काल सम्बन्धी मान्यता व्याकरण-संप्रदाय में प्रसिद्ध मान्यता के विरुद्ध हैं। अपने मत के अनुकूल उन्होंने भाष्य के वक्तव्यों का तोड़-मरोड़ कर अर्थ किया है। नागेश की उपर्युक्त समीक्षा भी सार-हीन है। क्योंकि नागेश ने क्षण की सत्ता पहले से मान ली है। वस्तुतः क्षण भी क्रिया-सन्तान के भीतर है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है क्रिया-भेद के लिये काल की सहायता अनिवार्य है। व्याकरण की दृष्टि से अस्ति, अभूत्, भविष्यति इन क्रिया रूपों को बिना काल के आश्रय के समझाया ही नहीं जा सकता।

भर्तृहरि का काल-दर्शन

काल स्वातंत्र्य-शक्ति है

भर्तृहरि के मत में काल शक्तिविशेष है।

स्वातन्त्र्य शक्ति को काल कहते हैं।

स्वातन्त्र्य रूप काल-शक्ति के आश्रय से जन्मादि षड्भावविकार विश्व के विकास में सहायक होते हैं। काल-शक्ति लोकयंत्र का सूत्रधार है। काल विश्वात्मा है—**काल एव हि विश्वात्मा व्यापार इति कथ्यते**।[34] भर्तृहरि के अनुसार सत्य भाव परमब्रह्म है। उसमें नानाशक्ति योग समाविष्ट हैं। उस शक्ति योग द्वारा भावों की कला को वह बिखेरता है (कालयति) इसलिये उसे काल कहते हैं। अपनी कर्तृशक्ति के कारण काल शक्ति को स्वातन्त्र्यशक्ति कहते हैं।[35] हेलाराज ने भर्तृहरि के काल-विचार का निष्कर्ष दो बार स्वातन्त्र्यशक्ति के रूप में व्यक्त किया है :—

---

३२. महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।२।८४ और मंजूषा, पृष्ठ ८४७.

३३. मंजूषा, पृष्ठ ८३९, ८४०.

३४. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश १२

३५. वही, १४

अतएव स्वातंत्र्यशक्तिः काल इति वाक्यपदीये सिद्धान्तितम् ।[३६]

तथा

कालाख्या स्वातंत्र्यशक्तिर्ब्रह्मण इति तत्रभवद्भर्तृहरेरभिप्रायः ।[३७]

भर्तृहरि ने स्वयं भी काल का स्वातंत्र्यशक्ति के रूप में उल्लेख किया है :—

कालाख्येन हि स्वातंत्र्येण सर्वाः परतन्त्रा जन्मवत्यः शक्तयः समाविष्टाः कालशक्तिवृत्तिमनुपतन्ति । ततश्च प्रतिभावं वैश्वरूपस्य प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां शक्त्यवच्छेदेन क्रमवानिवावभासोपगमो लक्ष्यते । सर्वेषां हि विकाराणां कारणान्तरेष्वप्यपेक्षावतां प्रतिबन्धजन्मनामाभ्यनुज्ञयासहकारिकारणंकालः ।

—वाक्यपदीय १।३ हरिवृत्त, लाहौर संस्करण.

भर्तृहरि के अनुसार कालशक्ति की सहकारिणी कई अवान्तर शक्तियाँ हैं। वाक्यपदीय में प्रतिबन्धशक्ति, अभ्यनुज्ञाशक्ति, क्रमशक्ति, समवायशक्ति और जराख्याशक्ति का उल्लेख है। इनमें प्रथम दो महत्वपूर्ण हैं।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्ति

किसी क्रिया के साधनशक्तियों के व्यापार का विघात प्रतिबन्ध है और इसके विपरीत अभ्यनुज्ञा है। कोई शक्ति प्रतिबन्ध करती है और कोई प्रतिबन्ध को हटाती है। ये व्यापार सर्वत्र होते हैं। जैसे किसी एक वृक्ष में पहले किसलय की अभ्यनुज्ञा और पल्लव का प्रतिबन्ध होता है। पुनः किसलय का प्रतिबन्ध और पल्लव की अभ्यनुज्ञा होती है। भावों का स्थगन और उन्मज्जन, जन्म और नाश इन दो शक्तियों से परिचालित हैं। पौर्वापर्य का ज्ञान इन्हीं शक्तियों की क्रिया है। काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के द्वारा विश्व को विभक्त करता है।

भर्तृहरिके अनुसार यदि प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा अपने व्यापार न करें तो भावों की युगपत् उत्पत्ति होने लगे, बीज, अंकुर, नाल, काण्ड आदि में पौर्वापर्य क्रम विच्छिन्न हो जाय और सर्वत्र सांकर्य छा जाय।[३८] सर्ग, स्थिति और प्रलय भी कालकृत प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के वश से होते हैं।

अतीत और अनागत भी क्रमशः प्रतिबंध और अभ्यनुज्ञा के ही पर्याय हैं।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा में विरोध नहीं है। दोनों एक ही शक्ति से परिचालित हैं। वाक्यपदीयकार ने इसे स्पष्ट करने के लिये शकुन्त-तन्तु का उदाहरण दिया है। पहले कभी ऐसा होता था कि बहेलिये किसी छोटे पक्षी को सूत्र में बाँध देते थे। यथावसर उन्हें उड़ाते थे फिर सूत्र खींच लेते थे। पक्षी उतनी ही दूर तक उड़ सकते थे जितनी सूत की लम्बाई होती थी। उनका उड़ना और उनका पुनः वापस आना सूत

---

३६. हेलाराज वही

३७. हेलाराज, वाक्यपदीय कालसमुद्देश ६२.

३८. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६.

के विस्तार और संकोच पर निर्भर था। बहेलिये बड़े पक्षी को फँसाने के लिये इस तरह के व्यापार करते थे। सूत्र के विस्तार की तरह अभ्यनुज्ञा शक्ति है और सूत्र के सँकोच की तरह प्रतिबन्ध शक्ति है। दोनों का नियन्ता काल है। हेमन्त से जो साधन-शक्ति को कुंठित करता है वही वसन्त से उन्हें उद्भूत भी करता है। काल सूत्र से बंधे हुए सभी पदार्थ संकोच विकास, उत्पत्ति और ध्वंस का अनुभव करते हैं। काल रूपी प्रसेवक (बोरे) के भीतर सम्पूर्ण विश्व पड़ा हुआ है। वह उसमें उगता है, विकसित होता है और विनष्ट भी होता है।

जराख्याशक्ति

जराख्या शक्ति प्रतिबंध शक्ति का ही एक रूप है। भर्तृहरि ने लोक से इसे विचार-क्षेत्र में ले लिया है। चर-अचर सब के यौवन को कुण्ठित करने वाली जरा शक्ति-विघातक मानी जाती है और शक्ति-विरोधी दूसरे जरा-जन्य दोष का कारण होती है—

जराख्या काल शक्तिर्या शक्त्यन्तर विरोधिनी।
सा शक्तिं प्रतिबध्नाति जायन्ते च विरोधिनः ॥[३९]

स्थिति भाग [जन्म के बाद वाली दूसरी अवस्था] के हेतु जरा शक्ति के आगमन से हटने लगते हैं और भावों में कार्यकारिता शक्ति प्रक्षीण होने लगती है।

क्रम शक्ति

क्रमाख्या शक्ति उस शक्ति को कहते हैं जिनके आधार से उपसंहृत वस्तु अपने अवयवों में फिर से अभिव्यक्त होती है। भर्तृहरि ने क्रमशक्ति का उल्लेख शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के प्रसंग में भी किया है। अन्तःकरणस्थ शब्द में उसके विभाग प्रत्यस्तमित रहते हैं, लीन रहते हैं। विवक्षा होने पर उस अन्तः शब्द में पद वाक्य आदि के विवर्त के रूप में प्रत्येक अवयवों का विकास होता है परन्तु वह क्रम से ही होता है। अवयवों का क्रम से अवभास होना ही क्रमाख्या शक्ति का काम है। क्रम से उदय और क्रम से प्रत्यस्त होना दोनों ही उसकी किया है। वस्तुतः क्रम क्रिया का धर्म है—

क्रमाख्यां शक्तिम्। यतस्तेऽवयवाःक्रमेणावभासमुपगच्छन्ति।
तेषामवयवानां यः क्रमेणोदयप्रत्यस्तमयप्रत्यवभासः सैवास्य क्रिया।[४०]

भर्तृहरि ने इस क्रमशक्ति को काल की मीमांसा में भी अपनाया है। काल विश्वात्मा है। उससे विश्व का विकास होता है। वह विकास भी क्रम शक्ति के

---

३९. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश २४.
४०. वृषभ, वाक्यपदीय १।५२ टीका, लाहौर संस्करण.

आधार पर होता है। काल की शाश्वत वृत्ति प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा से लक्षित होती है। काल वृत्ति से विश्व अवयवों में विभक्त होता है। वह विभाग क्रमिक होता है। क्रम मुख्यत: क्रिया का धर्म है पर क्रिया भी काल के सम्बन्ध से ही अपना स्वरूप पाती है। इसलिए काल में भी क्रम है। भाव सतत परिणामी हैं। उनमें सदा परिवर्तन होता रहता है। उस परिवर्तन का आधार भी क्रम ही है। काल ही क्रम का रूप धारण कर लेता है—

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां वृत्तिर्या तस्य शाश्वती।
तया विभज्यमानोऽसौ भजते क्रमरूपताम्॥[41]

अदृष्टवश से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। परमाणुओं के परस्पर मिलन से द्वणुक आदि बनते हैं और उनके द्वारा सभी पदार्थ स्वरूप प्राप्त करते हैं। इन सभी व्यापारों में क्रमाख्य काल शक्ति का हाथ रहता है—"**अत्र च सर्वत्र क्रमाख्या कालशक्तिः स व्यापारेत्यस्यनुज्ञेयम्।**"[42] कुछ लोग मानते हैं कि विश्व अपने मूल रूप में अक्रम है। वह ब्रह्म का विवर्त है। काल ब्रह्म की शक्ति है। वह अविद्या का सहकारी है। अविद्या के कारण अक्रम क्रमवान-सा होने लगता है। क्रम के अध्यास से ही कालभेद का ज्ञान होता है। फलत: क्रम को ही काल कहते हैं। निमेष आदि भी सूक्ष्म क्रम रूप काल से परिच्छिन्न हैं। अत: सभी भावों में क्रमाख्या कालशक्ति सूक्ष्म रूप से अनुस्यूत है। सभी प्रकार के संवित् क्रम से अनुप्रमाणित रहते हैं। पश्यन्ती स्वरूप संवित् क्रम का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्त होता है—

अक्रमा हि पश्यन्ती रूपा संवित् प्राणवृत्तिमुपारूढा कालात्मना परिगृहीतक्रमेव चकास्तीति कृतनिर्णयं वाक्यपदीये शब्दप्रभायामस्माभिः।

—हेलाराज, कालसमुद्देश ६२.

समवाय शक्ति

काल के प्रसंग में समवाय शक्ति जन्मादि क्रिया के विश्लेषण में व्यवहृत हुई है। समवाय शक्ति वह शक्ति है जो कारण और कार्य के भेद को तिरोहित करती है। इस शक्ति के साहचर्य से कारण और कार्य अभिन्न से लगने लगते हैं। भर्तृहरि के अनुसार विशिष्ट काल के सम्बन्ध से परिपाकप्राप्त शक्तियों में नित्य क्रिया अभिव्यक्त होती है। सामान्यभूत प्रवृत्ति क्रिया है। परमाणुओं में कार्यजनक शक्ति के अभिमुख होने से परस्पर संश्लेष होता है अथवा मूल तत्त्व में प्रेरणामय कर्म विशेष अभिव्यक्त होता है। उससे किसी अद्भुत शक्ति के द्वारा फल की अभिव्यक्ति होती है। फल व्यक्ति (कार्य) और उसके कारण में एकत्व की सी बुद्धि समवाय शक्ति से होती है—

---

४१. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ३०.
४२. हेलाराज, वाक्यपदीय, कालसमुद्देश २०.

ततस्तु समवायाख्या शक्तिर्भेदस्य वाधिका ।
एकत्वमिव ता व्यक्तीरापादयति कारणैः ।।[४३]

इन सब व्यापारों से जन्म की अभिव्यक्ति होती है और जन्म भी काल का ही व्यापार है । इसी तरह से स्थिति भी काल परतन्त्र है । ये सब काल की अभ्यनुज्ञा-शक्ति के भीतर आ जाते हैं ।

उपर्युक्त सभी शक्तियां स्वातंत्र्यशक्ति रूप काल की ही शाखायें हैं ।

स्वातंत्र्यशक्ति और कर्तृशक्ति

भर्तृहरि ने स्वातन्त्र्य शक्ति और कर्तृशक्ति में कोई भेद नहीं माना है । ब्रह्म की कर्तृशक्ति क्रम रूप पाकर काल शक्ति के रूप में व्यक्त होती है—

अध्याहितकलां (अव्याहताः कलाः) यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः ।
तस्य क्रमवद्भिः मात्रारूपैः कर्तृशक्तिः प्रविभज्ययमाना विकार-मात्रागतं भेदरूपं तत्राध्यारोपयति । —वाक्यपदीय १-३, हरिवृत्ति.

वृषभ ने भी स्वातंत्र्य को कर्तृशक्ति के रूप में ग्रहण किया है :—

(स्वातंत्र्य कर्तशक्तिः । पदार्थनिष्पादनोपसंहारयोग्या कर्तृशक्तिः) ।[४४]

भर्तृहरि का कालदर्शन और कश्मीर शैवागम में काल

भर्तृहरि की काल शक्ति की कल्पना कश्मीर शैवागम में गृहीत काल स्वरूप से बहुत दूर तक मेल खाती है । भर्तृहरि जिस तरह से काल को द्रव्य नहीं मानते उसी तरह शैवागम में भी काल द्रव्य नहीं है । भर्तृहरि जिस तरह क्रम को काल का धर्म मानते हैं उसी तरह शैवागम में भी क्रम को क्रिया का सर्वस्व फलत; काल का आधार माना गया है । क्रम को आभासित करने वाली भगवान् की शक्ति काल शक्ति है । वैयाकरणों की तरह कश्मीर शैवागम में भी सूर्यादिसंचार रूप प्रसिद्ध परिणाम वाली क्रिया को अन्य अप्रसिद्ध क्रियाओं का परिच्छेदक माना गया है और भावों के अवच्छेदक होने के कारण उसे काल माना गया है । इस मत में अनवस्था दोष, जैसा कि नागेश ने बताया है, बताना ठीक नहीं है । अभिनव गुप्त ने अनवस्था दोष का परिहार कनक-प्रतिवर्तक के दृष्टान्त से किया है । प्रतिवर्तक (सोने को नापने के लिए सोने की ही मासे जैसी वस्तु) से सोना नापा जाता है । एक मासे स्वर्ण का जो परिच्छिन्न रूप है वह स्वर्ण के रूप से भिन्न नहीं है । मासे (प्रतिवर्तक) में जो स्वर्ण है वह उपलक्षण-मात्र है न कि प्रतिवर्तकगत स्वर्ण परिच्छेद्य स्वर्ण में जाकर मिलता है अथवा आक्रान्त होता है । इसी तरह सूर्यादिसंचार की क्रिया उपलक्षण रूप में है । वसन्त काल में क्रम के दर्शन कोरक, मुकुल पिक-स्वर आदि विचित्र परिवर्तनों में हो सकते हैं, सूर्य की गति तो उपलक्षण मात्र है । फलतः अन्योन्याश्रय और अनवस्था जैसे दोष प्रसिद्ध

---

४३. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश १८.

४४. वाक्यपदीय टीका १।३ पृष्ठ ११ लाहौर संस्करण.

या नियत परिणाम वाली क्रिया के पक्ष में नहीं सम्भव है (**अनवस्थादि च कनक-प्रतिवर्तकवृत्तांतेन कृतसमाधानमेव**) ।[४५] सूर्यादिगत जो नियत स्वभाव भेद है वह क्रम है और वही काल है। अभिनवगुप्त के अनुसार सभी दर्शनों के कालस्वरूप का अन्तर्भाव क्रम-दर्शन में हो जाता है। वैशेषिकों का द्रव्य रूप काल परत्व अपरत्व आदि के द्वारा क्रम मय है। सांख्य दर्शन में काल रजः स्वभाव है और रजोगुण प्रवर्तक के रूप में क्रम मय ही है। वैयाकरणों का काल-स्वरूप नित्य अनाश्रित ? (आश्रित) प्रवृत्ति स्वभाव है और प्रवृत्ति क्रमाश्रित होती है। बौद्धों का भी सन्तान प्रवाहमय काल क्रम से सर्वथा रहित नहीं है—

> **तेन सूर्यसंचारादिभिः योऽन्यो लक्ष्यते प्रवहण धर्मा···चिरशीघ्रताद्यसंकीर्ण-भावस्वभावोत्थापको वैशेषिकाणां द्रव्यरूपः, कापिलानां रजःस्वभावः प्रवर्तनात्मकत्वात्, वैयाकरणानां नित्यानाश्रितप्रवृत्तिस्वभावः, सौगतानां सन्तन्यमान-भावैकपरमार्थः, सोऽपि वस्तुतः क्रमरूपतां न अतिक्रामतीति क्रम एव नाम बहिः काल इति व्यवह्रियते ।**
>
> —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीयभाग, पृ० ५

भर्तृहरि की स्वातन्त्र्य शक्ति और कश्मीर शैवागम में गृहीत स्वातन्त्र्य शक्ति भी समान है। दोनों दर्शनों में वह काल का दूसरा नाम है। एक में वह ब्रह्म की शक्ति है और दूसरे में परमेश्वर की।

शैवागम में भगवान् की इच्छाशक्ति का नाम स्वातन्त्र्य शक्ति है। (स्वतंत्र इति तस्येच्छा शक्तिः स्वातन्त्र्यसंज्ञिता)[४६]। "प्रकाश" और "विमर्श" भी स्वतन्त्र के रूप में गृहीत होते हैं। शैवागम में प्रकाश ज्ञान का और विमर्श क्रिया का प्रतीक है। स्वातन्त्र्य शक्ति भगवान् की कर्तृशक्ति है। भगवान् में जब अपने आपको अथवा अपने अन्तर्व्यवस्थित चिन्मात्र रूप भाव जगत् को अवभासित करने की इच्छा होती है, भगवान् की कर्तृ शक्ति, निर्माण करने वाली माया शक्ति के सम्बन्ध से काल-क्रम के रूप में अवभासित होते लगती है। अपने आप को इस तरह से प्रकाशित करने की परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति कालोत्थापक होने के कारण उसकी काल शक्ति कही जाती है। वही स्वातंत्र्य शक्ति प्रमातृ प्रमेय आदि रूप में क्रिया के आधार से विस्तार पाती है। क्रिया प्रधान रूप से प्रतिभासित होती हुई भी काल शक्ति से अनुविद्ध होती है। सर्वथा काल शक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति का ही रूप है :

> **···यस्याः परमेश्वरस्वातंत्र्यशक्तेः, सा कालोत्थापकत्वात् भगवतः कालशक्ति-रिति उच्यते, अव्याहतकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता इत्यादौ ।**[४७]

अभिनवगुप्त ने यहां स्वातन्त्र्य शक्ति के सम्बन्ध में अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिये वाक्यपदीय की कारिका उद्धृत की है। यह इस बात का प्रमाण है कि दोनों दर्शनों

---

४५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृष्ठ ५.
४६. अभिनवगुप्त, मालिनीविजय वार्तिक ८७.
४७. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृतिविमर्शिनी द्वितीय भाग, पृष्ठ ८.

में काल का स्वरूप एक सा है और स्वातन्त्र्य शक्ति भी एक सी है।

भर्तृहरि के स्वातन्त्र्यशक्ति में और शैवागमगृहीत स्वातन्त्र्य शक्ति में यदि अन्तर है तो यह कि शैवागम में स्वातन्त्र्यशक्ति कई विभिन्न रूपों में उपचरित है जब कि भर्तृहरि ने इस पर विशेष चर्चा नहीं की है और उसका स्वरूप भी अपेक्षाकृत सीमित है। दूसरा अन्तर यह है कि शैवागम में स्वातन्त्र्यशक्ति का सम्बन्ध परावाक् से है—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ।।[४८]

जब कि भर्तृहरि परावाक् की सत्ता स्वीकार नहीं करते। यदि वाक् से स्वातन्त्र्यशक्तिरूप काल का सम्बन्ध जोड़ा भी जाय तो पश्यन्ती के साथ जोड़ना उचित होगा जैसा कि हेलाराज ने किया है :

अक्रमा हि पश्यन्तीरूपा संवित् प्राणवृत्तिमुपारूढा कालात्मना परिगृहीतक्रमैव चकास्ति ।[४९]

स्वातन्त्र्य शक्ति का मूल स्रोत क्या है ? महाभाष्य में स्वातन्त्र्य शक्ति जैसी किसी शक्ति का संकेत नहीं है। शैवागम के जितने लेखक संप्रति ज्ञात हैं वे सब भर्तृहरि के बाद हुए हैं। परन्तु यह कल्पना किसी न किसी आगम की ही जान पड़ती है। बहुत संभव है शैवागम की परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन हो। भर्तृहरि आगमों से अधिक प्रभावित थे और व्याकरणदर्शन को भी आगम मानते थे।

कुछ लोग स्वातन्त्र्यशक्ति का मूल उद्भावक पाणिनि को मानते हैं।[५०] उनके मंतव्य का आधार पाणिनि का "स्वतन्त्रः कर्त्ता" १-४-५४ यह सूत्र है। स्वतन्त्र शब्द से अपने आपका प्राधान्य अभिव्यक्त होता है (**स्व आत्मा तंत्रं प्रधानं यस्य स स्वतंत्र उच्यते। महाभाष्यप्रदीप १।४।५४**)। स्वातन्त्र्य शक्ति में भी अपनी इच्छा का अविघात और आत्म प्राधान्य है। फिर भी व्याकरण संप्रदाय में कर्त्ता के स्वातन्त्र्य को न तो शक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है और न उसका सम्बन्ध काल से जोड़ा गया है। स्वयं भर्तृहरि ने भी स्वतन्त्रः कर्त्ता की व्याख्या में स्वातन्त्र्यशक्ति का संकेत नहीं किया है। स्वयं पाणिनि ने स्वातंत्र्य को प्रयोजक हेतु के अर्थ में भी लिया है और कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८ जैसे सूत्रों में उसे साधन के रूप में भी व्यवहृत किया है।

काल एक, नित्य और विभु

काल व्यापक है। पर-अपर, चिर-क्षिप्र आदि का ज्ञान सब को सब देश में समान होता

---

४८. वही, पृष्ठ १८७.

४९. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ६२ की टीका.

५०. डा० के० सी० पाण्डेय, एन हिस्टारिकल एण्ड फिलासफीकल स्टडी आफ अभिनवगुप्त, पृष्ठ २०३, २०४.

है इससे काल की व्यापकता स्पष्ट है। काल अमूर्त है। अकृतक है। अतः नित्य है। वह एक है। उसमें भेद कल्पित है।

महाभाष्यकार ने काल को नित्य माना है (**नित्ये हि कालनक्षत्रे—महाभाष्य** ४।२।३)। काल को नित्य और एक मानने में एक कठिनाई सामने रखी गई थी। पाणिनि ने ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७ इस सूत्र में कालभेद का संकेत किया है। महाभाष्यकार ने भी द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता वृत्तियों के सम्बन्ध में काल-भेद का उल्लेख किया है।[५१] ह्रस्व के उच्चारण में नालिकायन्त्र से जलविन्दु अल्पमात्रा में चूते हैं, दीर्घ के उच्चारण में उससे अधिक और प्लुत के उच्चारण में उससे भी अधिक चूते हैं। इनमें ६: १२: १६ पानीयपल का आनुपातिक सम्बन्ध माना जाता है। अब यदि काल के काल्पनिक भेद के आधार पर ह्रस्व आदि में भेद की कल्पना की जाय तो यह उचित नहीं है। क्योंकि सलिल-स्रुति की यथार्थ सत्ता है, एक कल्पित वस्तु का यथार्थ वस्तु से अन्वय संभव नहीं है। भाव यह है कि कल्पना के आधार पर ह्रस्व आदि में काल्पनिक भेद मानने पर जल-स्रुति के प्रकर्ष को, एक की अपेक्षा दूसरे में अधिक पानीयपल के चूने को—समझाना कठिन हो जायगा। जो लोग शब्द को नित्य मानते हैं वे ह्रस्व आदि में काल्पनिक भेद ही स्वीकार करते हैं। जिस तरह "यह शीघ्र किया" "यह देर में किया" इन दोनों ज्ञान के समानकाल वाले होने पर भी विषयगत विस्तार अथवा अविस्तार के आधार पर काल-भेद प्रतिभासित होता है, उसी तरह से शब्द के नित्य होने के कारण समानकाल होने पर ह्रस्व आदि में कालभेद उपचरित होता है। अब कालभेद उपचरित मानने पर ह्रस्व आदि के उच्चारण समय जो पानीयपलों में अन्तर देखा जाता है वह नहीं होना चाहिये। पर होता है। इससे जान पड़ता है कि ह्रस्व आदि स्वभावतः भिन्न-भिन्न काल वाले हैं। फलतः शब्द की नित्यता में व्याघात पहुँचता है। इस कठिनाई का समाधान भर्तृहरि ने किया है। उनके अनुसार शब्द का तत्त्व अभिन्न है, वह प्रचित या अपचित नहीं होता। अभिव्यक्त के निमित ध्वनिकृत कालभेद उसमें आभासित होता है। प्राकृत ध्वनियां स्वगत कालभेद को शब्द में भी प्रतिविम्बित करती हैं। अर्थात् व्यंजक का धर्म व्यंग्य में जान पड़ता है। फलतः कालभेद से सलिलस्रुति में भी उपचय अप-चय का ज्ञान-भेद जान पड़ेगा ही। इससे शब्द की नित्यता में बाधा नहीं पड़ती। वैकृतध्वनि जनित भेद शब्द का भेदक नहीं होता। ह्रस्व, दीर्घ आदि शब्दधर्म सर्वथा व्यंजकाधीन है—

> **वैकृतध्वनिजनितस्तु वृत्तिभेदो न भेदक इति निर्णीतमेव पूर्वकाण्डे। वक्ष्यते चाग्रे "सर्वश्च ह्रस्वदीर्घानुनासिकत्वादि धर्मव्रातः शब्दात्मनि व्यंजकाधीन" इति।**[५२]

सर्वथा काल भेद औपाधिक है। नालिका यंत्र की जल-स्रुति ही काल नहीं

---

५१. किं पुनः कारणं न सिध्यति। कालभेदात्—महाभाष्य १।१।७०.

५२. हेलाराज द्वारा, कालसमुद्देश ६५ की टीका में भर्तृहरि के वाक्य के रूप में उद्धृत।

है। काल उसका परिच्छेदक है। जल-स्रुति का परिच्छेद निमेष के व्यापार से अथवा प्राण-संचार से अथवा बुद्धि क्षण-सन्तान से सम्भव है। वह परिच्छन्न होकर दूसरे कालों के परिच्छेद में समर्थ होता है। नालिका के अल्पछिद्र से जल देर में गिरता है और बड़े छिद्र से शीघ्र ही गिर जाता है। इससे दीर्घकाल और अल्पकाल का परिज्ञान अवश्य होता है परन्तु इससे काल की अभिन्नता खण्डित नहीं होती।[५३] भर्तृहरि ने लता, तरु आदि पदार्थों की वृद्धि और ह्रास के साथ अपने आप में भेद की विचित्रता प्रकट करने की काल की इच्छा को "आक्रीड" (खेल) कहा है। जिस तरह से राह चलने वाले के गति-भेद से मार्ग में भेद नहीं होता और न उसके रुक जाने से राह समाप्त हो जाता है उसी तरह क्रिया आदि के भेद से काल के स्वरूप में भेद नहीं होता। जिस तरह मार्ग का दूर होना या समीप होना चलने वाले की गति पर निर्भर है न कि स्वभावतः मार्ग भेद है उसी तरह दीर्घकाल या अल्पकाल क्रिया-सन्तान की दीर्घता या अल्पता पर निर्भर है। स्वभावतः काल मार्ग की तरह अभिन्न है। दिन बीत गया, रात चली गई, वसन्त नहीं रहा आदि भाव क्रिया के शान्तभाव (उपरम) के द्योतक हैं न कि काल के उपरम का। जिस तरह से एक व्यक्ति को क्रिया भेद के कारण कभी बढ़ई कहते हैं और कभी उसे लोहार कहते हैं उसी तरह विशेष पुष्प, फल आदि को उत्पन्न करने वाली क्रिया के भेद से वसन्त आदि नाम काल के पड़ते हैं। काल नित्य और एक है।

परन्तु नागेश भट्ट काल के एकत्व के पक्ष से सहमत नहीं हैं। काल के एकत्व स्वीकार करने पर, उनके मत से, काल में कार्य-वैचित्र्यनियामकता सिद्ध नहीं हो सकती—

वस्तुतस्तु एकत्वे तस्य कार्यवैचित्र्यनियामकत्वानुपपत्तिः

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।२।५

नागेश काल की नित्यता भी नहीं मानते। काल का कार्य के अधिकरण के रूप में व्यवहार होता है। परन्तु काल में अपरिच्छिन्न सूर्यादि क्रिया के द्वारा उपाधित्व संभव नहीं है और यदि सूर्यादि क्रिया को किसी दूसरी क्रिया से परिच्छिन्न मानेंगे तो अनवस्था दोष आ जायगा। अतः काल नित्य अखण्ड या विभु नहीं हो सकता।[५४] यदि काल को नित्य माना भी जाय तो प्रवाह नित्यता के रूप में ही नित्य माना जा सकता है और यदि उसे एक कहा जाय तो समूह के रूप में ही।[५५]

नागेश के ये दोनों मन्तव्य चिन्त्य हैं। ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जन्म, स्थिति और लय तीनों अवस्थाएँ काल कृत हैं। क्रम काल का धर्म है और सभी वैचित्र्य क्रमाश्रित हैं।

अनवस्थादोष का निराकरण अभिनवगुप्त के आधार पर कनक-प्रतिवर्तक-

---

५३. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ७१.

५४. मंजूषा ८४८.

५५. नित्यः प्रवाहनित्यतया। एकः समूहरूपेण। महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।२।५ पृष्ठ १६६.

न्याय से पहले किया जा चुका है। सूर्य गति के अतिरिक्त क्रिया की इयत्ता के परिचायक निमेष व्यापार, प्राणप्रवाह, बुद्धिक्षण आदि हैं। सूर्यादि संचार भी लोक में दिन-रात के रूप में निश्चित परिमाण के रूप में प्रसिद्ध हैं।

भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से काल को नित्य माना है—

न नित्यः परमात्राभिः कालो भेदमिहार्हति

—**वाक्यपदीय**, २।२४

भर्तृहरि के अनुसार काल शक्ति प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के आधार पर पर-अपर की पहचान कराती है (**कालाख्या हि कर्तृशक्तिः कार्येष्वेव प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां पौर्वापर्यं प्रकल्पयति—वाक्यपदीय २।२२ हरिवृत्ति**)। यदि काल नित्य है तो उसमें पौर्वापर्य सम्भव कैसे है? इसके उत्तर में भर्तृहरि का कहना है कि वह काल शक्ति की महिमा है कि एक होते हुए भी क्रम के रूप में प्रतिभासित होती है। यहां भर्तृहरि ने बौद्ध-दर्शन और वेदान्तदर्शन की क्रम-मीमांसा का उल्लेख किया है। बौद्ध-दर्शन में बुद्धिलक्षण अक्रम है। उसमें सब का विरुद्ध रूप भी अविरुद्ध रूप में प्रतिभासित होता है, क्रम एकत्व का अतिक्रमण नहीं करता। वेदान्त की दृष्टि से विश्वात्मा एक है, क्रम का अवभास उसके एकत्व का व्याघातक नहीं होता—

क्रमप्रत्यवभासत्वम् एकत्वानतिक्रमेण अक्रमे बुद्धिलक्षणे क्षणिकवादिनः सर्वस्य विरुद्धरूपमिवाविरुद्धं भवति। त्र्यन्तविदां तु विश्वात्मन्येकत्वानतिक्रमेण क्रमप्रत्यवभासत्वं भवति।

—वाक्यपदीय, २।२२ हरिवृति, लाहौर संस्करण

भर्तृहरि ने इस प्रसंग में एक ऐसे दर्शन का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार मात्रा भेद के आधार पर काल भेद सम्भव नहीं है क्योंकि मात्राओं की सत्ता उदय-अस्तमयी है, वे स्वयं असत् सी हैं और उनके अभाव मानने पर क्रम भी, जो मात्राओं के परिणाम पर निर्भर करता है, संभव नहीं है। इस दर्शन के अनुसार विश्व की मात्रा, परिणाम जन्यभेद, अनित्य है, पूर्व का अपर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सब कुछ एक दूसरे से असंस्पृष्ट है। पूर्व और अपर भी निरुपाख्य हैं। इनमें सम्बन्ध अहंकार द्वारा होता है जो पूर्व और अपर का परामर्श सा करता है। सूक्ष्म (अपकर्षपर्यन्त), अभेद्य और परिमाणभेदरहित होते हुए भी पूर्वापर का सम्बन्ध मिथ्या-अभ्यासवश अबुध व्यक्ति को दीर्घ-सा जान पड़ता है। इस दर्शन के अनुसार सभी व्यवहार एक धर्म से आबद्ध, एक धर्म में प्रतिष्ठित और अभिन्न काल वाले होते हैं। मात्राभेद असत् हैं। असत् का असत् से अथवा असत् का सत् से सम्बन्ध में कोई क्रम नहीं होता। खरहे की सींग का ऊँट की सींग के साथ में अथवा हिमालय के साथ में कोई क्रम नहीं होता:

तदेतस्मिन् पक्षे एकधर्मावबद्धेषु एकधर्मप्रतिष्ठितेषु अभिन्नकालेषु सर्वव्यवहारेषु कीदृशः सतामत्यन्तासतां च मात्राभेदानांक्रमः। न हि

शशविषाणस्योष्ट्रविषाणेन हिमवता वा कश्चिदपि क्रमो विद्यते ।

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।२४

इस दर्शन के अनुसार, किसी एक अर्थ का समानकालिक अथवा भिन्न-कालिक व्यापार के साथ भी क्रम-सम्बन्ध नहीं होता। क्रम की संभावना न देखकर और कोई दूसरा उपाय न पाकर, एक व्यावहारिक क्रम मान लिया जाता है। मूर्तियों का जो परिमाण भेद है वही भेद है। उसके अतिरिक्त कोई कल्पित परिमाण भेद नहीं है। इस मत के अनुसार, सह उत्पन्न सभी भाव काल, मन्वतर अथवा क्षण जैसे कल्पित कालान्तर अवस्थाओं में आत्म तत्त्व का अतिक्रमण नहीं करने और न किसी आगन्तुक अथवा अनागन्तुक भेद से संस्पृष्ट होते हैं। उन भावों के अतिरिक्त क्षण, काल, मन्वन्तर नाम जैसी कोई वस्तु ही नहीं है जिसके आधार पर उन्हें कालान्तर अवस्थायी, नित्य अथवा क्षणिक कहा जा सके (हरिवृत्ति, वही)।

यदि यह कहा जाय कि परिमाण भेद की व्याख्या प्रचित और अप्रचित बुद्धि के आधार पर कर लिया जायगा, काल की कोई आवश्यकता नहीं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि बुद्धि एक है। इसलिए बुद्धि प्रत्यवमर्श भी भाग रहित ही होंगे।

भर्तृहरि ने इन सब के समाधान के लिए क्रमाख्या शक्ति का आश्रय लिया है। उस शक्ति के सामर्थ्य से मात्राओं में क्रम का आभास होता है—

भेदभावनानुगतबुद्धीनामेकत्वेन व्यवहरताम् अनादिना मिथ्याभ्यासेन विहित-समवायानाम् एकस्यां बुद्धौ अव्यतिरिक्तासु अनपायोपायिनीषु सर्वमात्रासु क्रमाख्यायाः शक्तेः सामर्थ्यमविद्यमानं प्रकल्प्यते क्रम प्रसिद्धये।

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।२७

अतः काल में क्रमभेद से भेद होता है। काल औपाधिक भेद से भिन्न है। स्वतः अभिन्न है। नित्य है।

काल का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान

किसी के मत से काल प्रत्यक्षगम्य है और किसी के मत से वह अनुमेय है। महाभाष्यकार के मत में काल अनुमान-गम्य है। जैसे क्रिया का पिण्डीभूत दर्शन सम्भव नहीं है वैसे ही काल का भी। वर्तमाने लट् ३।२।१२३ के भाष्य में स्पष्ट ही "सूक्ष्मो-हि भावोऽनुमितेन गम्यः" कह कर काल को अनुमेय माना है। वाक्यपदीय में भी अनुमान पक्ष का समर्थन किया गया है। भर्तृहरि के अनुसार दो विभिन्न आश्रयवाली क्रियाओं में उनके उदय और अस्त समान होने पर भी उनके शीघ्र या देर से सिद्ध होने का ज्ञान बिना किसी सम्बन्धी परिच्छेदक के सम्भव नहीं है। काल के अनुमान में यह भी एक हेतु है :

क्रिययोरपवर्गिण्योर्नानार्थसमवेतयोः ।
सम्बन्धिना विनैकेन परिच्छेदः कथं भवेत् ॥[५६]

---

५६. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश २७.

मूर्त पदार्थों का उपचय और अपचय भी काल के अनुमान में सहायक हैं।

कुछ लोग काल को अतीन्द्रिय मानते हैं और दिक् के विपरीत परत्व-अपरत्व के आधार पर काल का अनुमान करते हैं।

नागेश 'इस समय देख रहा हूँ', 'इस समय सूँघ रहा हूँ' जैसे अनुभवों के आधार पर काल को षड् इन्द्रिय वेद्य मानते हैं (**क्षणसमूहरूपश्च स षडिन्द्रियवेद्यः-मंजूषा पृष्ठ ८४६**)। मीमांसकों का भी यही मत है (**स च कालः षडिन्द्रियग्राह्यः**)।[५७] कुछ लोग काल का प्रत्यक्षत्व स्वीकार करते हैं। काल में रूप न होना काल के प्रत्यक्ष होने में बाधक नहीं है क्योंकि इन्द्रियग्राह्यता का नाम प्रत्यक्ष है और वह काल में है।

वैशेषिक प्रसिद्ध काल-गुणों का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है जैसे—

कालपरिमाण	(महाभाष्य २।२।५)
कालपृथक्त्व	(महाभाष्य ३।१।२६)
कालविभाग	(महाभाष्य ३।२।३२)
काल संयोग	(,, ३।१।२६)

इसके अतिरिक्त तत्रभवः ४।३।५३ सूत्र के भाष्य में कालाभिसम्बन्ध" का और तपरस्तत्कालस्य १।१।७० सूत्र के भाष्य में "कालसहचरित" शब्द का उल्लेख है।

कालभेदविचार

काल का स्वरूप चाहे जो हो शब्द व्यवहार में वह भिन्न रूप में ही देख पड़ता है। व्याकरण-दर्शन का सम्बन्ध मुख्यरूप में शब्द-व्यवहार वाले काल के स्वरूप से है। अस्ति, अभून्, भविष्यति आदि क्रिया भेद की विवेचना उसे करनी ही पड़ेगी :

> **नास्माभिर्दर्शनविवेकः प्रारब्धः, किन्तु शाब्दे व्यवहारे यदङ्गं तत् परीक्ष्यम्। अस्ति च भिन्नकालः शाब्दो व्यवहारोऽभूत्, अस्ति, भविष्यतीति। तत्र यथा-योगमविचारितरमणीयः कालोऽभ्युपगन्तव्यः।**[५८]

फलतः व्याकरणदर्शन काल को वर्तमान, भूत और भविष्यत् इन तीन रूपों में विभक्त कर देता है। परन्तु इस विभाग के पीछे भी कुछ दार्शनिक प्रवाद हैं जिनका उल्लेख भर्तृहरि ने किया है।

काल की तीन शक्तियां

कुछ लोग मानते हैं कि काल तो एक है किन्तु उसकी तीन शक्तियां हैं। कार्य के भेद से कारण भेद का अनुमान होता है। शक्तिभेद से ही कार्यभेद सम्भव है। इस आधार पर काल की शक्तियाँ स्वीकार की जाती हैं। इन शक्तियों के आधार पर भावों का

---

५७. नारायणभट्ट, मानमेयोदय, पृष्ठ १३७, मद्रास संस्करण.

५८. हेलाराज, वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ५८.

उन्मीलन और निमीलन, दर्शन और तिरोधान होता है। इनमें दो आवरणात्मक हैं और एक प्रकाश है। अतीत शक्ति और अनागत शक्ति भावों का आवरण करती हैं। वर्तमान शक्ति भावों को प्रकाश में लाती है। अनागत शक्ति आवरणात्मक होते हुये भी वर्तमान शक्ति का प्रतिबन्धक नहीं है क्योंकि जो अनागत है वही वर्तमान का रूप धारण करता है। परन्तु अतीत शक्ति वर्तमान का विरोधी है जो अतीत हो चुका वह फिर वर्तमान नहीं होता। मृत व्यक्ति फिर लौट कर नहीं आता, जो रास्ता बीत गया वह पुनः आगे नहीं आता। कालसमुद्देश ४९-५१।

इन शक्तियों का विवेचन परिणामवाद के आधार पर भी भर्तृहरि ने किया है। सत्व, रज और तम ये तीनों गुण नित्य हैं, इनका स्वभाव एक दूसरे के विरुद्ध है, फिर भी तीनों साथ रहते हैं और दीपवर्तिका न्याय के अनुसार परस्पर सहयोग प्राप्त कर, अङ्गाङ्गिभाव के आधार पर विचित्र सृष्टि करते हैं। उसी तरह काल शक्तियां भी आवरण और प्रकाशक के रूप में एक दूसरे के विरुद्ध जान पड़ती हुई भी अपनी शक्ति के बल से भावों के भेद में क्रम का परिज्ञान कराती हैं। काल विभाग को मार्गभेद की तरह कहा गया है। जिस तरह पथिक एक मार्ग में बीते हुए मार्ग और आगे के मार्ग के रूप में विभाग किया करते हैं वैसे ही भाव परिणाम का अनुभव करते हुए अतीत अनागत आदि का भेद व्यक्त किया करते हैं। जो भविष्य में है वही वर्तमान पर आता है, और जो वर्तमान में है वही अतीत में हो जाता है। इसीलिये परिणामवादी पदार्थ को "त्रैयध्विक" कहते हैं। पातंजलदर्शन में इसे "धर्मास्तु त्र्यध्वानः" (व्यासभाष्य ३।१३) के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। अतीत वर्तमान और भविष्य एक दूसरे से सर्वथा विमुक्त नहीं होते। वे एक दूसरे की सीमा छूते रहते हैं। इनके अवियुक्त स्वभाव को इस प्रसिद्ध दृष्टान्त से व्यक्त किया जाता है—

यथा पुरुषः एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवति। व्यासभाष्य ३।१३

कुछ सांख्यवादी मानते हैं कि अतीत, अनागत आदि सत्व, रज और तम की शक्तियां हैं। भाव सतत परिणामी हैं। सभी भावों में तीनों गुण हैं। शक्ति के उद्भव से उनकी सत्ता जान पड़ती है और उसके अनुद्भव से वे असत् जान पड़ते हैं। काल के गुणों के शक्ति रूप में होने के कारण भावों की अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति के साथ वह भी अतीत, अनागत आदि नाम पाता है। इनमें अतीत और अनागत तमोगुण के प्रतीक हैं क्योंकि तमोगुण आवरण करता है। वर्तमान सत्वगुण का प्रतीक है क्योंकि सत्वगुण प्रकाशक माना जाता है। रजोगुण कालमात्र में अन्वित है क्योंकि यह प्रवृत्यात्मक है। प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के द्वारा काल प्रेरणात्मक है ही। साथ ही कुछ सांख्यवादी यह भी मानते हैं कि जो अतीत है वह पुनः वर्तमान भी हो सकता है। पहले कहा जा चुका है कि जो अतीत हो चुका वह वर्तमान नहीं हो सकता। जगत् परिवर्तनशील है फिर भी अतीत नहीं वर्तमान होता है अपितु अतीत के सदृश हो सकता है। इसलिये अतीत का वर्तमान से विरोध माना गया था। परन्तु सांख्यवादी

"नाभावो विद्यते सतः" वाले सिद्धान्त के आधार पर यह मानते हैं कि जो तिरोभूत है वही वर्तमान होता है। सभी भाव मानो किसी प्रसेवक (बोरे) के भीतर रहते हैं वहीं से अपने आपको व्यक्त करते हैं और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं। हेलाराज के अनुसार पञ्चाधिकरणदर्शनस्थ सांख्यों का यह दर्शन है।[५९] यह विचार धर्मी और धर्म में कुछ भेद मानकर है। धर्मी स्थायी सदा रहता है और उसके धर्म तीन अध्वा वाले (त्र्यध्वानः), अतीत, वर्तमान और अनागत के रूप में प्रकट होते हैं।

जो लोग धर्म को धर्मी से अतिरिक्त नहीं मानते उनके मत में भी धर्मी का एकसाथ ही अतीत, वर्तमान आदि व्यपदेश धर्म के द्वारा सम्भव हैं। वर्तमान के समय में भी अतीत के कुछ धर्म से अतीत, और अनागत के कुछ धर्म होने से अनागत कहा जा सकता है। अतः धर्मी सदा वर्तमान होता हुआ भी धर्म के तीन तरह के होने के कारण तीन अध्वावाला अथवा तीन काल वाला कहा जाता है। हेतु के आधार पर जब कोई क्रिया-कलाप प्रत्यक्ष होने लगता है उसे वर्तमान कहते हैं। जब हेतु-व्यापार बंद हो जाते हैं, उन्हें कुछ करने को नहीं रहता तब भावों का अदर्शन होता है, उसे अतीत कहते हैं। जब हेतु अर्थक्रिया के लिए चेष्टा नहीं करते उसे अनागत कहते हैं। इस तरह एक के ही उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न नाम हो जाते हैं। इसमें सांकर्यदोष नहीं है। क्योंकि वृत्ति-वैचित्र्य है। आविर्भाव और तिरोभाव क्रम रूप से घटित होते हैं। दर्शन और अदर्शन यही वृत्तियों का व्यापार है और वह विलक्षण है। वर्तमान शक्ति से दर्शन और अतीत-अनागत शक्ति से अदर्शन यह एक दूसरे को बाधा न देते घटित होते हैं। इसलिये संकर सम्भव नहीं है। दृष्ट और अदृष्ट अवस्था में भी धर्मी एक है। सत्त्व से असत्त्व का भेद नहीं है। सत्त्व तिरोभूत होकर असत्त्व कहा जाता है। इसलिये भावों से शक्ति के अतिरिक्त न होते हुए भी और सदा एक साथ रहते हुए भी सांकर्य नहीं होता। हेलाराज के अनुसार यह महाभाष्यकार का मत है :

> **धर्मधर्मिणोरव्यतिरेकं भाविकमाश्रित्य धर्मिणो युगपदपि व्यपदेशत्रयं धर्मद्वारकं प्रवर्तत इति महाभाष्यमतम्।**[६०]

हेलाराज के अनुसार ब्रह्मदर्शन ? के अनुसार भी शक्ति रूप काल के तीन गुणोंमय परिणाम सम्भव है। जीवात्मा में ज्ञान क्रिया और शक्ति (इच्छा ?) के रूप में तीनों गुण रहते हैं—**त्रैगुण्यपरिणामाश्च ब्रह्मदर्शनेऽपि कालस्योपपन्नमेव शक्ति-रूपस्यापि। ज्ञानक्रियाशक्तिभिः जीवात्मनि गुणत्रयम्।**[६१]

क्रिया के आधार पर भी कालभेद की मीमांसा की जाती है। व्याकरणदर्शन इसी मत को प्रश्रय देता है :

---

५९. हेलाराज, वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ५३.

६०. वही, ५४, यह मत वस्तुतः योग-सूत्र भाष्य का है। प्राचीन टीकाकार व्यासभाष्य को पातंजल मानते थे। इसी आधार पर हेलाराज ने उपर्युक्त वक्तव्य महाभाष्यकार का माना है।

६१. वही ५३ त्रिवेन्द्रम संस्करण में यह वाक्य खंडित है, उसमें 'ब्रह्मदर्शन' पाठ नहीं है। यह शब्द काशी वाले संस्करण में है। उसी से यहां उद्धृत किया गया है।

तस्याभिन्नस्य कालस्य व्यवहारे क्रियाकृताः ।
भेदा इव त्रयः सिद्धा याँल्लोको नातिवर्तते ।।[६२]

भूत, भविष्य और वर्तमान क्रियोपाधिक हैं। जब क्रिया उत्पन्न होकर ध्वस्त हो जाती है, उनके उपाधि-काल को भूत कहते हैं। जब क्रिया के साधन सन्निहित रहते हैं और उनका आरम्भ समीप रहता है, उसके उपाधि-काल को भविष्यत् कहते हैं। जब क्रिया प्रारब्ध हो गई रहती है परन्तु अभी समाप्त नहीं हुई रहती उसके उपाधि-काल को वर्तमान कहते है।

क्रिया जो बीत गई है, जो अब वर्तमान नहीं है वह काल में भूतकालत्व कैसे लाती है? इसी तरह जो क्रिया अभी हुई नहीं है वह काल में भविष्यत् का स्वरूप कैसे दिखाती है? इसके उत्तर में भर्तृहरि का कहना है कि जो क्रिया बीत जाती है वह काल में अपना संस्कार छोड़ जाती है। बुद्धि या स्मृति के द्वारा उस संस्कार का ग्रहण कर काल में भूतकाल का व्यपदेश किया जाता है। इसी तरह अभी सम्पन्न होने वाली क्रिया का भी प्रतिबिम्ब काल में पड़ता है। उस होने वाली क्रिया के प्रतिविम्ब का काल में अध्यारोप कर काल को भविष्यत् काल कहते हैं। भर्तृहरि के अनुसार काल एक स्वच्छ आदर्श की तरह है :

काले निधाय स्वं रूपं प्रज्ञया यन्निगृह्यते ।
भावास्ततो निवर्तन्ते तत्र सङ्क्रान्तशक्तयः ।।
भाविनां चैव यद् रूपं तस्य च प्रतिविम्बकम्
सुनिर्मिष्ट इवादर्शे काल एवोपपद्यते ।।[६३]

वर्तमान काल

वाक्यपदीय में वर्तमानकाल पर विचार महाभाष्य की पद्धति पर है। पतंजलि के पूर्व ही वर्तमानकाल के विषय में कुछ विप्रतिपत्तियां सामने आ गई थीं जिन्हें सुलझाने का प्रयत्न कात्यायन ने किया था। पतंजलि ने भी अपनी पद्धति से उन्हें सुलझाया और अन्य दर्शनों में भी, जैसा कि वात्स्यायनभाष्य से जान पड़ता है, उन पर विचार होता रहा।

वर्तमान काल के सूचक लट् की प्राचीन संज्ञा "भवन्ती" थी। कात्यायन ने "इह अधीमहे" "इह वसामः" जैसे वाक्यों में वर्तमान के होने में इस आधार पर आक्षेप लगाया था कि अध्ययन करने और रहने के बीच में दूसरी भी क्रियाएँ होती रहती हैं। अतः अध्ययन आदि क्रियाएँ विच्छिन्न हो जाती हैं। वर्तमान काल से हम उसी क्रिया की अभिव्यक्ति करेंगे जो आरम्भ तो कर दी गई हो परन्तु जिसका उपरम अभी नहीं हुआ हो। बीच में खण्डित होती हुई क्रिया को वर्तमान रूप नहीं देंगे।

इसका समाधान कई तरह से कर दिया गया था। वर्तमान काल उसको माना जायगा जहां क्रिया का आरम्भ समाप्त न हुआ हो (**एष नाम न्याय्यो वर्तमानः कालः**

---

६२. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश ४८.
वही ३९,४०.

यत्रारम्भोऽनपवृक्तः महा—भाष्य ३।२।१२३) । अतः अध्ययन जब तक समाप्त नहीं होगा हम उसे वर्तमान काल में व्यक्त कर सकते हैं । बीच बीच में जो भोजन आदि की क्रिया व्यवधानरूप में जान पड़ती हैं वे नान्तरीयक हैं । अतः वे व्यवधायिका नहीं हो सकतीं । "देवदत्त भोजन कर रहा है" इस वाक्य में भोजन की क्रिया को वर्तमान-काल में बिना किसी हिचक अथवा संशय के व्यक्त करते हैं । परन्तु भोजन के व्यापार में भी बीच बीच में बोलना, हंसना, पानी पीना आदि व्यापार होते ही रहते हैं । जिस तरह से इन व्यापारों के होते हुए भी 'भुंक्ते' में वर्तमान काल की अनुपपत्ति नहीं मानी जाती उसी तरह "इह अधीमहे" जैसे स्थलों में भी अवान्तर क्रियाओं के होते हुये भी कोई अनुपपत्ति नहीं होगी ।

भर्तृहरि के अनुसार ऐसी कोई क्रिया नहीं है जो किसी न किसी अन्य क्रिया से संकीर्ण सी न जान पड़ती हो और नहीं तो निमेष-क्रिया, श्वास क्रिया जैसी क्रियाएँ सभी व्यापारों के साथ रहेंगी ही । अतः अन्तरालवर्ती क्रियाओं से मुख्य का व्यवधान नहीं मानना चाहिये । अन्तरालवर्ती क्रियाओं को मुख्य क्रिया का अवयव मान लेना चाहिये । इस तरह भोजन के बीच में हंसने आदि के व्यापार भोजन क्रिया के अवयव हैं अतः व्यवधायक नहीं हो सकते । भोजन की प्रवृत्ति हो जाने पर भी ऊपर से दधि शक्कर आदि का बाद में परोसे जाना जैसे भोजन क्रिया का अंग ही माना जाता है वैसे ही मित्रों का परस्पर बातचीत करते, हंसते-बोलते भोजन करना भोजन क्रिया का अंग ही है ।

अथवा हम फल की दृष्टि से क्रिया-सन्तान की व्याख्या करेंगे । भोजन की क्रिया का फल तृप्ति है । अध्ययन की क्रिया का फल ज्ञान है । जब तक इन फलों के लिये प्रयत्न जारी है बीच में अन्य व्यापारों के होते हुये भी वे अविच्छिन्न माने जायेंगे इसलिये अन्य व्यापारों के करते हुये भी 'अधीमहे' कहा जा सकता है ।

अथवा भौतिक व्यापार के उपरत होने पर भी मानसिक व्यापार के द्वारा क्रिया-सन्तान का एकत्व जहां बना रहेगा हम उसे वर्तमान काल में व्यक्त कर सकते हैं । पहले क्रिया विचार के अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस तरह क्रिया में संदर्शन, प्रार्थना आदि अध्यवसाय होते हैं । जानाति, इच्छति ततो यतते—मनुष्य पहले जानता है, तब इच्छा करता है और तब उस इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होता है...यह सब तरह के व्यापार का मनोवैज्ञानिक पहलू है । अतः मानस व्यापार जब तक विरत न हो तब तक क्रिया भी उपरत नहीं मानी जायगी :

> **संदर्शनादिफलपर्यन्तः क्षणसमूहः क्रिया । तत्र च भौतिक व्यापारोपरमेऽप्यन्तरा सन्दर्शनप्रार्थनादेः मानस-व्यापारस्य यावत् फलाधिगमः तावदविराम एव ।**[६४]

तात्पर्य यह है कि प्रत्यवयव क्रियासमाप्ति न मान कर फलपर्यन्तक्रिया समूह के आश्रय से क्रियासन्तान का विवेचन करना चाहिये ।

---

६४. हेलाराज, वाक्यपदीय कालसमुद्देश ८२,८३

वर्तमान काल के सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह थी कि जो नित्यप्रवृत्त भाव हैं, जिनका कभी बीच में विच्छेद नहीं होता उन्हें हम वर्तमान काल से कैसे व्यक्त करेंगे। क्योंकि वर्तमानकाल भूत और भविष्यत् काल का प्रतियोगी है। नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भूत और भविष्यत् संभव नहीं है। अतः वर्तमान भी सम्भव नहीं है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि अविच्छिन्नरूप में सदा प्रवृत्त भावों में भूत, भविष्यत् तो संभव नहीं है परन्तु उनके सदा वर्तमान होने के कारण उनके साथ वर्तमान काल का सम्बन्ध सदा बना रहेगा ही। क्योंकि यहाँ काल का सम्बन्ध उन्हीं भावों से होता है जो नियत अवधि वाले होते हैं। साधन के सन्निहित होते हुये जिनकी उत्पत्ति आसन्न होती है उनका सम्बन्ध हम भविष्यत् काल से जोड़ते हैं, साधनों के बल पर जन्म प्राप्त कर जब तक ठहरे रहते हैं उन्हें हम वर्तमान काल से प्रकट करते हैं और जो नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, जिनके शरीर विलुप्त हो जाते हैं उन्हे हम भूत शब्द से व्यक्त करते हैं। इसलिये वर्तमान की सत्ता भूत और भविष्यत् के बीच में होती है। फलतः जहां भूत और भविष्यत् की संभावना नहीं है वहां वर्तमान भी संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि काल तो क्रियोपाधिक है। नित्यप्रवृत भावों में किसी क्रम के न होने के कारण क्रमाश्रित साध्यस्वभाववाली क्रिया ही संभव नहीं है इसलिये वहां काल विभाग ही संभव नहीं है।

इसके उत्तर में व्याकरण संप्रदाय के अनुसार भर्तृहरि का कहना है कि किसी के स्वरूप में, आत्मा में भेद नहीं होता। भेद परतः होता है। सभी भावजात वस्तु उपाधिसंसर्ग से भेद प्राप्त करती है। अतः नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भी कालभेद संभव है और जब कालविभाग संभव है तो वर्तमान काल भी संभव है। अस्तु, पर्वत हैं 'नदियाँ बहती हैं' जैसे नित्यप्रवृत्ति के द्योतक वाक्यों में भी तत् तत् कालीन राजाओं की क्रिया के आधार पर काल विभाग किया जा सकता है। राजाओं की क्रियाओं में त्रैकाल्य, क्रमिकता और साध्यमानता हैं। अतः उनके साहचर्य से पर्वतों आदि के साथ त्रैकाल्य संभव है। पर्वत थे, पर्वत होंगे ऐसे प्रयोग इसी आधार पर होंगे जब भूत भविष्यत् संभव होंगे, वर्तमान की उपपत्ति भी उनके साथ होगी ही (वाक्यपदीय कालसमुद्देश ८०)।

अथवा एक विरूपावयव क्रिया होती है और एक सरूपावयवक्रिया होती है। पर्वत के स्थितिरूप व्यापार में सरूपावयव क्रिया है। आत्मभरणरूप क्रियावयव एक दूसरे के सदृश हैं। सादृश्य के कारण उनमें भेद की अभिव्यक्ति उतनी सरल नहीं है जितनी कि पकाने आदि के व्यापार में विरूपावयव क्रियाएँ होती हैं। राजाओं की क्रिया विरूपावयव है। अतः उनमें विभाग संभव है। वे प्रसिद्धपरिमाणवाली हैं। प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया ही किसी दूसरी क्रिया के परिच्छेदक होकर काल कहलाती है। स्थिति, भूत आदि के रूप में राजाओं की क्रिया भिन्न-भिन्न होकर पर्वत की स्थिति आदि का भेदक होकर कालशब्द से व्यवहृत होती है। अतः नित्यप्रवृत्त भावों में भी क्रिया और तीनों काल के योग उपपन्न हैं। राजक्रिया को सूर्य-संचार आदि का उपलक्षण मानना चाहिये। नित्य पदार्थों में भी अपने आपको प्रतिक्षण धारण करने

की क्रिया में क्रियात्व है। शब्द व्यवहार में शब्द का अर्थ ही अर्थ रूप में गृहीत होता है। तिष्ठति आदि क्रियापदों से क्रम की अभिव्यक्ति होती है। अतः क्रिया-योग नित्य पदार्थों के साथ भी शब्द शक्ति के कारण है। साहचर्य से काल व्यपदेश के उदाहरण बहुत से हैं। कलापी उस काल को कहते हैं जिस समय मयूर कलापी होते हैं (**यस्मिन् काले मयूराः कलापिनो भवन्ति स कलापी—काशिका ४।३।४६**)। महाभाष्यकार ने माना है कि यहां साहचर्य से काल व्यपदेश है (**कलापिसहचरितः कालः कलापी कालः—महाभाष्य ४।३।४८**)। इसी तरह अश्वत्थ और यववुस भी काल वाचक शब्द हैं जो साहचर्य के आधार पर गठित हुए हैं।

वर्तमानकाल की सत्ता पर आक्षेप

कुछ लोग मानते हैं कि यदि काल विभाग है तो वह दो ही हैं भूत और भविष्यत्। वर्तमान काल नाम का कोई तीसरा विभाग संभव नहीं है। कोई भी वस्तु या तो सत् होती है अथवा असत् होती है। कोई तीसरी कोटि नहीं है। जो क्षण बीत गया वह सिद्ध स्वभाव का हो गया। फलतः क्रिया भी अतीत कहलावेगी। जो क्षण अभी आया नहीं है वह भावी है। इसलिये उसकी द्योतक क्रिया भविष्यत् से सम्बन्ध जोड़ेगी। बीच में कोई तीसरा क्षण जो सत् भी हो और असत् भी हो नहीं है। अतः वर्तमान काल भी नहीं है। पतति में पतनक्रिया की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि पात-क्रिया का जो अनागतरूप है वह असत्व है, उसे पतति शब्द से नहीं कहा जा सकता। और जो पातक्रिया का अतीत रूप है वह भी अतिक्रांत होने के कारण असत्त्व है, इस-लिये उसके लिये भी पतति का प्रयोग नहीं हो सकता और इस दशा में भी कोई पतति का प्रयोग करे तो उसके लिये हिमवान् अपि चलति—हिमालय भी हिलता डोलता है—कहना सरल है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु या तो सत् रूप है या असत् रूप है। इन दोनों रूपों में क्रम संभव नहीं है। जो सत् है वह विद्यमान होने के कारण अनिर्वर्त्य है, उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है और इसीलिये उसे क्रम के आश्रय लेने की भी आवश्यकता नहीं है। जो असत् है वह भी असत् अवस्था में है, सिद्ध किये जाने की कोटि में नहीं है इसलिये उसमें भी क्रम संभव नहीं है। इन दोनों अवस्थाओं में निर्व-र्त्यमान क्रमिक क्रियारूप के अभाव होने के कारण वर्तमानता संभव नहीं है।

तीसरी बात यह है कि सदा एक ही क्षण की उपलब्धि होती है। एक में कोई भेद नहीं होता। भेद न होने से उसमें कोई क्रम भी संभव नहीं है। एक ही क्षण में गमन आदि क्रिया का संभार संभव नहीं है इसलिये गच्छति—जाता है—जैसे वर्तमान कालिक वक्तव्य अनुपपन्न है...

> **एक एव क्षण उपलभ्यते, नातीतो नापि अनागतो, न चैकस्य क्षणस्य गमनादिक्रियावेशः संभवति—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३**

इसका समाधान

उपर्युक्त आक्षेप के उत्तर में यह कहा जाता है कि देवदत्त के एक स्थान से

दूसरे स्थान पर जाने में कोई न-कोई हेतु अवश्य है । और वह गमन क्रिया है । गमन क्रिया ही उसके एक स्थान से दूसरे स्थान में होने का निमित्त है । उस गमन क्रिया के अवलम्ब से 'जाता है' ऐसा ज्ञान अबाधित रूप में व्यक्त होता है । अतः क्रिया का भी सत्व है । पुनः सत्व ही वर्तमान का लक्षण नहीं है । वर्तमान का लक्षण प्रारब्ध-अपरिसमाप्तत्व है । क्रिया के आरम्भ से लेकर समाप्ति के समीप तक जितने क्षण हैं उनके समूह में वह अध्यस्त रहता है । कार्य-सम्पादन के लिए मानसिक व्यापार से लेकर शारीरिक चेष्टा तक सब उसके भीतर गृहीत हैं । क्रम रूप में समूह की जो विद्यमानता है वही वर्तमान है । एक-एक क्षण में भी क्रम अध्यस्त हैं । एक फल के उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण क्षण समूह भी एक हैं । अथवा अनेक क्षण-समूहात्मक क्रिया प्रबन्ध का बौद्धिक संकलन कर "जाता है" जैसा प्रयोग किया जाता है । क्रिया-कलाप के अवयव बिखरे रहते हैं फिर भी ज्ञानात्मा में उनका आकार संक्रान्त रहता है, ज्ञानात्मा के एक होने से वे भी एक जान पड़ते हैं । इस आधार पर वर्तमान को भी अनेक क्षण समूहात्मक और एक माना जाता है :

क्रियाप्रबन्धरूपं यदध्यात्मं विनिगृह्यते ।

सङ्क्रान्तबिम्बमेकत्र तामाहुर्वर्तमानताम् ।।—काल समुद्देश ६०

दूसरी बात यह है कि यदि वर्तमान की सत्ता न मानी जायगी तो भूत और भविष्यत् की सत्ता भी खतरे में पड़ जायगी । वर्तमान के अभाव में उनका भी अभाव होगा । वर्तमान के आधार पर ही भूत और भविष्यत् की भित्ति खड़ी है । वर्तमान की सिद्धि से ही अतीत और अनागत की सिद्धि सम्भव है अन्यथा नहीं :

वर्तमानात्वाभावे च भूतभविष्यतोरप्यभावप्रसंगः, वर्तमानो हि भूतत्वं भविष्यत्वञ्च प्रतिपद्यते ।—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३

महाभाष्यकार के अनुसार काल के तीन विभाग योगियों के अनुभव से सिद्ध हैं । वस्तुतः वे सूक्ष्म हैं और अनुमान गम्य हैं :

अस्तीति तां वेदयन्ते त्रिभावाः सूक्ष्मो हि भावोऽनुमितेन गम्यः

महाभाष्य ३।२।१२२

दो प्रकार का वर्तमान काल

भर्तृहरि के अनुसार वर्तमान काल दो तरह का है । एक तो मुख्य है जो प्रारब्ध-अपरिसमाप्त अर्थ में होता है । दूसरा वह है जो वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा ३।३।१३१ सूत्र के अनुसार भूत और भविष्यत् अर्थ में होता है । कभी-कभी क्रिया की समाप्ति के बाद भी क्रिया के संस्कार शेष रह जाते है । उसके आधार से भूत विषयक वर्तमान सामीप्य होता है अर्थात् भूत काल के अर्थ में वर्तमान काल का प्रयोग किया जाता है । भविष्यत् विषयक वर्तमानसामीप्य वहां होता है जहां भविष्यत् क्रिया का मानस संकल्प से वर्तमान रूप आ जाता है । वर्तमान का यह रूप वैकल्पिक माना जाता है । फलतः अयम् आगच्छामि, अयम् आगमम्, एषोऽस्म्यागतः जैसे वाक्य

एक ही अवसर के लिए प्रयुक्त होते हैं।

आशंसा के अर्थ में भी वर्तमान काल का प्रयोग वैकल्पिक रूप में देखा जाता है। अप्राप्त प्रिय-अर्थ के प्राप्त करने की इच्छा को आशंसा कहते हैं। यद्यपि प्रार्थना अथवा इच्छा का सम्बन्ध वर्तमान से है परन्तु आशंसा का विषय भविष्यत् काल होता है। इस आधार पर महाभाष्य में इसे भविष्यत् काल का माना है (**आशंसा नाम भविष्यत्काला—महाभाष्य** ३।३।१३२)। भविष्यत् काल से सम्बन्ध होते हुए भी उसके साथ भूतकाल (भूत सामान्य) के से प्रलय होते हैं। फलतः वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनों काल आशंसा की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होते हैं। कुछ लोग आशंसा और संभावना को समानार्थक मानते हैं। कुछ लोग संभावना को आशंसा का अवयव मानते हैं। कुछ लोग दोनों में कुछ भेद मानते हैं। भेद की दृष्टि से इनमें अन्तर यह है कि आशंसा में ईप्सित अर्थ की प्राप्ति साधन बल से शक्य और अशक्य दोनों होती है जब कि सम्भावना में उसकी प्राप्ति शक्य होती है—

आशंसा नाम प्रधारितोर्थोऽभिनीतश्चानभिनीतश्च। संभावनं नाम प्रधारितोऽर्थोऽभिनीत एव।—महाभाष्य ३।३।१३२

वस्तुतः आशंसा प्रयोक्तृधर्म है। वह शब्दार्थ नहीं है। फिर भी आशंसा शब्दसंस्कार में निमित्त होतीं है। पुरुषधर्म में भी शास्त्र की प्रवृत्ति होती है यह वाक्यपदीयकार का मत है (**पुरुषधर्मेष्वपि शास्त्रमधिकृतमिति विचारितं वाक्यपदीये —हेलाराज, कालसमुद्देश १०५।**

कभी-कभी भूत अर्थ में भी वर्तमान काल का प्रयोग होता है, जैसे, कंस और बलि की घटना को बीते सैकड़ों वर्ष हो जाने पर भी "कंसं घातयति," "बलिं बन्धयति" ऐसे वर्तमानकालिक प्रयोग देखे जाते हैं। भाष्यकार के अनुसार इन वाक्यों में वर्तमान काल के प्रयोग का आधार वर्तमान काल में रंगमंच पर दिखाये जाने वाले कंस बध और बलि बंधन के व्यापार हैं। शौभिक (नटों के आचार्य) और ग्रन्थिक (कथक) उन व्यापारों को प्रत्यक्ष से दिखाते हैं। कथकग्रन्थिक के मन में उन व्यापारों की बुद्धिविषयकसत्ता रहती है इसलिए वे उन्हें प्रत्यक्ष-सा व्यक्त करने में समर्थ होते हैं—

शब्दोपहितरूपांश्च (रूपांस्तु) बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥

—वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश ५।

केवल वर्तमान का ही नहीं भूत और भविष्य का भी ऐसे अवसरों पर प्रयोग देखा जाता है। उस एक ही घटना के तीनों काल में इस तरह प्रयोग देखा जाता है—

जाओ देखो कंस मारा जा रहा है (गच्छ हन्यते कंसः)। जाओ देखो कंस मारा जायगा (गच्छ घानिष्यते कंसः)। अब जाने से क्या लाभ, कंस मार डाला गया (किं गतेन, हतः कंसः)।

कभी-कभी मुख्य वर्तमान के क्षेत्र में, प्रारब्ध-अपरिसमाप्त की अवस्था में भूतकाल का व्यवहार देखा जाता है। कोई पाटलिपुत्र के लिए चल पड़ा। एक दिन बीत जाने पर रास्ते में ठहर गया। अभी वह पाटलिपुत्र पहुँचा नहीं है और जब तक नहीं पहुंचेगा उसकी गमन क्रिया अपरिसमाप्त मानी जायगी। फिर भी रास्ते में एक दिन के बाद ठहर जाने पर भी "आज इतना रास्ता बीत गया (इदमद्य गतम्)" ऐसा भूतकालिक प्रयोग करते हैं। गमन क्रिया के समाप्त न होने पर भी जितना अंश समाप्त हो चुका है उसी को मान कर समाप्ति सूचक भूतकाल का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः क्रिया के कई अवयव होते हैं। शब्द के आधार पर समूह रूप क्रिया का जिस अवयव के साथ सम्बन्ध होता है उसी में उसकी समाप्ति भी होती है। अवयवों का तीनों काल से सम्बन्ध होने के कारण क्रिया का भी तीनों काल से योग उपपन्न है :

> **शब्देन प्रत्याय्यमाना येन येनावयवेन संबध्यते समूह-रूपा क्रिया तस्मिन्नेवावयवे समाप्यते। तत्र अवयवानां कालत्रययोगात् क्रियाया अपि कालत्रययोगः**
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३।२।१०२

भूतकाल

जिसकी अपनी सत्ता समाप्त हो जाती है वह भूत शब्द से व्यक्त किया जाता है (**यस्य स्व सत्ता व्यपवृक्ता तत्सर्वं भूत शब्देनोच्यते—महाभाष्यप्रदीप** २।२।८४)। कभी-कभी अल्प सत्ता की परिसमाप्ति पर भी भूतकाल माना जाता है (**एष च न्याय्यो भूतकालो यत्र किंचिदपवृक्तं दृश्यते—महाभाष्य** ३।२।१०२)। उत्पन्न होकर ध्वस्त हुई क्रिया की उपाधि के रूप में भूतकाल का प्रयोग किया जाता है। भर्तृहरि के अनुसार भूतकाल पांच तरह का होता है। हेलाराज के अनुसार ये पाँच प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) सामान्य भूत,
(२) अद्यतनभूत,
(३) अनद्यतनभूत,
(४) अद्यतनानद्यतनभूत,
(५) भविष्यत् के स्थान पर आरोपितभूत

सामान्यभूत

भूत विशेष का आश्रय न लेकर केवल सामान्यभूत के अर्थ में क्रिया का प्रयोग देखा जाता है। पाणिनि ने लुङ् लकार से ऐसे ही भूत सामान्य को द्योतित किया है। विशेष में भी सामान्य होता है और इस आधार पर कभी-कभी विशेषभूत के अर्थ में सामान्यभूत का व्यवहार देखा जाता है। जैसे अगमाम घोषान् अपाम पयः जैसे

वाक्यों में विशेषभूत की सम्भावना होते हुए भी उसकी अविवक्षा से सामान्यभूत का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः विवक्षारूढ़ अर्थ ही शब्द प्रयोग का निमित्त होता है। विशेषभूत की विवक्षा होने पर उपर्युक्त वाक्यों में विशेषभूत के द्योतक लङ् आदि लकारों के प्रयोग हो सकते हैं।

ननु शब्द के साथ प्रश्न के उत्तर देने पर सामान्यभूत के अर्थ में वर्तमानकाल का प्रयोग होता है जैसे—"अकार्षीः कटं देवदत्त, ननु करोमि भोः (देवदत्त तुमने चटाई बीन ली, जी, अवश्य मैंने चटाई बीन ली)। नु शब्द के साथ प्रत्युत्तर देने में भी सामान्यभूत के अर्थ में वर्तमानकाल व्यवहृत होता है परन्तु विकल्प से। जैसे, अकार्षीः कटं देवदत्त, नु करोमि भोः। अथवा, नाकार्षम्।

अद्यतनभूत

अद्यतन की परिभाषा दो तरह की व्याकरण संप्रदाय में प्रसिद्ध है। न्यासकार, कैयट, हरदत्त आदि के अनुसार पूरा दिन, बीती हुई रात का अंतिम (चौथा) पहर और आने वाली रात का पहला पहर अद्यतनकाल है :

दिवसः सकलः अतिक्रान्ताया रात्रेश्चतुर्थो याम आगामिन्याश्च प्रथमो याम इत्येषोऽद्यतनःकालः।

न्यास ३।२।११०

भट्टोजि दीक्षित के अनुसार बीती हुई पिछली आधी रात से लेकर आगे आने वाली आधी रात तक का समय अद्यतन है :

अतीताया रात्रेः पश्चार्धेन आगामिन्याः पूर्वार्धेन च सहितो दिवसः अद्यतनः।
—सिद्धांत कौमुदी पृष्ठ ३०१

वस्तुतः अद्यतन और श्वस्तन शब्द पाणिनि के पूर्व के आचार्यों के हैं और अपने मूल रूप में इनका भाव अद्य भवः अद्यतनः कालः श्वो भवः श्वस्तनः कालः के रूप में था।

जब अद्यतन में कोई क्रिया समाप्त हुई रहती है उसे अद्यतन भूत के रूप में व्यक्त किया जाता है। यद्यपि यहाँ सामन्यभूत की भी सत्ता है। फिर भी सामान्य में विशेष रहता है। इस आधार पर हम अद्यतन को विशेष मान लेते हैं और सामन्यभूत से अद्यतनभूत को अलग करते हैं।

महाभाष्यकार के अनुसार अद्यतन में भी अद्यतन संभव है। (**अद्यतनेऽपि अद्यतनो विद्यते। कथम्। व्यपदेशिवद् भावेन—महाभाष्य ३।२।१११**)। अद्यतन का भी एक सामान्य रूप है और उसके भीतर मुहूर्त क्षण आदि के रूप में अद्यतन का एक विशेष रूप भी है। इस तरह समुदाय और अवयव के रूप में भेद मान कर समुदाय अद्यतन में अवयव अद्यतन है ऐसा कहा जा सकता है। वस्तुतः यहाँ अवयव से व्यतिरिक्त रूप में समुदाय की सत्ता आधार रूप में नहीं है। एक काल का दूसरे काल के

साथ आधाराधेयभाव सर्वथा कल्पित होता है, यथार्थ नहीं। इसे भर्तृहरि ने इस रूप में व्यक्त किया है—

> **कालस्याप्यपरं कालं निर्दिश्यन्त्येव लौकिकाः।**
> **न च निर्देशमात्रेण व्यतिरेकोऽनुगम्यते ॥**
>
> —वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ८३.

अनद्यतनभूत

अनद्यतन शब्द में बहुव्रीहि समास माना जाता है। जिसमें अद्यतन न हो वह अनद्यतन है। अर्थात् जहां अद्यतन का गंध भी है वहाँ अनद्यतन भूत नहीं होता है। अनद्यतन-भूत का प्रतिनिधि लकार लङ् है। अकरोत्, अहरत् जैसी क्रियाएँ अनद्यतनभूत को व्यक्त करती हैं।

परोक्ष भी अनद्यतनभूत का ही एक भेद है। इसलिये पाँच प्रकार के उपर्युक्त भूत-भेदों से अतिरिक्त के रूप में इसकी गणना भर्तृहरि ने नहीं की है। परोक्ष का प्रतिनिधि लकार लिट् हैं। परोक्ष शब्द में अक्षि शब्द केवल आँख मात्र का बोधक न होकर सभी इन्द्रियों का वाचक माना जाता है। इसलिये जो इन्द्रियों से परे है, जो वस्तु इन्द्रियगोचर नहीं है वह परोक्ष है। एक तरह से सभी धात्वर्थ परोक्ष ही होते हैं क्योंकि धात्वर्थ वह क्रिया है जो साध्य है। जो अभी साध्यमान है वह असत् है। जो असत् है वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। अतः धात्वर्थ परोक्ष होगा। फिर भी जहाँ पर साधन प्रत्यक्ष है उसके आधार पर क्रिया के प्रत्यक्ष की बात लोक में देखी जाती है। साधन यद्यपि शक्तिरूप है फिर भी द्रव्याश्रित होने के कारण द्रव्य के प्रत्यक्ष के द्वारा वे भी प्रत्यक्ष होने वाले मान लिये जाते हैं। अथवा शक्ति और शक्तिमान में अभेद की विवक्षा से साधन को ही द्रव्य मान लिया जाता है। जहाँ द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है वहाँ प्रत्यक्ष का और जहाँ द्रव्य का परोक्ष होता है वहाँ परोक्ष का व्यवहार लोक में देखा जाता है।

पतंजलि के समय में परोक्ष के विषय में कई तरह की मान्यताएँ प्रचलित थीं। किसी के अनुसार सौ वर्ष पहले का वृत्त परोक्ष था। किसी के अनुसार किसी दिवाल या कुटी से अन्तरित वृत्त भी परोक्ष था। कुछ लोग दो-तीन दिन पहले बीती हुई घटना को भी परोक्ष मानते थे। कैयट के अनुसार इन्द्रिय से अगोचर साधन से साधित सभी अनद्यतन क्रियावाची अर्थ एक तरह से परोक्ष हैं और ऐसे परोक्ष में लिट् का प्रयोग साधु है। फलतः "कल पकाया" इस अर्थ में "ह्यः पपाच" वाक्य शुद्ध है:—

> **इन्द्रियागोचरसाधनसाधितानद्यतनक्रियावाचिनस्तु धातोर्लिट् प्रत्यय इति निर्णयः। तथा ह्यः पपाचेत्याद्यपि भवति। महा-भाष्य प्रदीप ३।२।११५**

उत्तम पुरुष में 'जहां क्रिया आत्मसाध्य होती है, परोक्ष का व्यवहार चित्तव्या-क्षेप अथवा अपह्नव के आधार पर माना जाता है। भाष्कार ने इस प्रसंग में

शाकटायन की तल्लीनता का उल्लेख किया है जो राजमार्ग पर स्थित होते हुये भी सामने से जाते हुए शकटों को नहीं देख सके थे। पतंजलि के अनुसार मन से संयुक्त होकर इन्द्रियां उपलब्धि में कारण होती हैं। मन यदि पास में नहीं है तो वस्तु प्रत्यक्ष होती हुई भी परोक्ष सी है—

किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते। मनसा संयुक्तानि इन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति, मनसोऽसान्निध्यात्। महाभाष्य ३।२।११५

स्वयं अनुभूत न होने के कारण जो परोक्ष घटनाएँ हैं परन्तु वक्ता के समय में ही घटित हुई हैं उनके लिये परोक्ष के अर्थ में अनद्यतन का व्यवहार किया जाता है। अर्थात लिट् के स्थान पर लङ् लकार का प्रयोग किया जाता है जैसे "अरुणत् यवनः सांकेतम्"। इस वाक्य में वक्ता के स्थिति काल में साकेत पर यवनों का आक्रमण हुआ था। यह भाव लङ् के प्रयोग से जान पड़ता है। (**अरुणत् इत्युदाहरणे तु तुल्यकालः प्रवक्तेति बोध्यम्—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ३।२।११५**)। इसी तरह ह, शश्वत और आसन्न-काल प्रश्न के सम्बन्ध में भूत अनद्यतन परोक्ष के अर्थ में लङ् लकार का प्रयोग पाणिनि ने उपयुक्त माना है।

वस् (निवास करना) के साथ अनद्यतन के अर्थ में सामान्यभूत का लकार (लुङ्)प्रयुक्त होता है। कोई प्रातःकाल सोकर उठता है। उससे कोई पूछता है "आप ने रात कहां बिताई"। वह उत्तर देता है--"इस स्थान पर रहा" (अमुत्र अवात्सम्)। परन्तु यहां लङ्लकार का प्रयोग तभी होता है जब कि जागरण सन्तति अर्थ गम्य हो अर्थात् रात के चौथे पहर में जग जाने के बाद वक्ता फिर नहीं सोया हो। यदि चौथे पहर में जग जाने के बाद वह एक मुहूर्त के लिये भी सोता है, "अवात्सम्" के स्थान पर उसे "अवसम्" कहना चाहिये। कैयट के अनुसार जागरण सन्तति का अभिप्राय यह है कि यदि प्रयोक्ता रात्रि के प्रथम तीन पहर जागे जागे ही बिताया हो तभी अवात्सम् प्रयोग होगा, यदि बीच में सोकर पुनः उठ कर अपने सोने की बात वह करता है तो उसे अवसम् कहना चाहिये।

पुरा और स्म के साथ (उपपद रूप में) अनद्यतन भूत के अर्थ में वर्तमान काल का व्यवहार देखा जाता है, पुरा शब्द के साथ वैकल्पिक रूप में ही वर्तमान काल मिलता है। जैसे, वसन्तीह पुरा छात्राः। इति स्मोपाध्यायः कथयति।

अद्यतन-अनद्यतनभूत

भूत काल का एक अद्यतन और अनद्यतन का मिश्र रूप भी भर्तृहरि ने स्वीकार किया है। अद्यतन और अनद्यतन का समुदाय अनद्यतन से भिन्न है। इसलिये अद्यतना-नद्यतन नाम से एक अलग भूतभेद मान लिया गया है। इसका उदाहरण "अद्य ह्यः अभुक्ष्महि" है।

भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत

पाणिनि ने आशंसायां भूतवच्च ३।३।१३२ जैसे सूत्रों द्वारा भविष्यत् काल के अर्थ में

भूतकाल के प्रत्ययों का विधान किया है। ऐसे स्थलों के लिये भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत होने से इसे एक अलग भूत-भेद मान लिया गया है।

भविष्यत् काल

भर्तृहरि के अनुसार भविष्यत् काल चार प्रकार का है—

(१) सामान्य भविष्यत्,

(२) अद्यतन भविष्यत्,

(३) अनद्यतन भविष्यत्,

(४) अद्यतनानद्यतन भविष्यत्।

इनमें सामान्य भविष्यत् का निर्देशक लृट् लकार है। अद्यतन भविष्यत् के लिए भी लृट् का प्रयोग किया जाता है। अनद्यतन भविष्यत् अनद्यतन भूत की तरह है। इसका द्योतक लुट् लकार है। अद्यतनानद्यतनसमुदाय अद्यतन और अनद्यतन भविष्यत् से भिन्न है।

जिस तरह भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत होता है उसी तरह अनद्यतन भूत के अर्थ में भविष्यत् काल का भी आरोप देखा जाता है, विशेषकर स्मरणार्थक धातुओं के साथ। जैसे, अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः। परन्तु भर्तृहरि ने इसे अलग भविष्यत् भेद के रूप में स्वीकृत नहीं किया है इसी तरह अनद्यतन-भविष्यत् होते हुए भी जिनमें सामान्यभविष्यत् के प्रत्यय आदि प्रतिषेध के आधार पर किये जाते हैं उन्हें सामान्य भविष्यत् में ही परिगणित करना चाहिए (**यस्तु अनद्यतनवत् प्रतिषेधात् भविष्यत् सामान्यकार्याणि प्रतिपद्यते, सोऽनद्यतनोपि शास्त्र-व्यवहारो भविष्यत्सामान्यमेव—हेलाराज, काल समुद्देश ३८**)।

परिदेवन (खेद) के अर्थ में अद्यतनभविष्यत् के लिये अनद्यतन भविष्यत् का प्रयोग साधु माना जाता है जैसे, इयं कदा नु गन्ता या एवं पादौ निदधाति (जब यह इस तरह से पैर रख रही है, तब कब पहुँच सकेगी)। पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य लुट् को श्वस्तनी और लृट् को भविष्यन्ती कहते थे।

लोक में भविष्यत् के अर्थ में भूत का प्रयोग एक वाक्य में देखा जाता था। वह वाक्य यह है—देवश्चेद् वृष्टः निष्पन्नाः शालयः (यदि पानी बरसेगा धान की फसल अच्छी होगी)। वस्तुतः संपत्स्यन्ते शालयः कहना चाहिये क्योंकि अभी धान होने वाले हैं, वे अभी निष्पन्न नहीं हुए हैं। फिर भी जनता भविष्यत् काल का प्रयोग नहीं करती थी और यदि कोई भविष्यत् काल का प्रयोग (संपत्स्यन्ते) कर देता था तो उससे कहा जाता था कि संपत्स्यन्ते के स्थान पर संपन्नाः कहो। वाक्य-पदीयकार ने यहाँ भूतकाल के प्रयोग के पक्ष में कुछ अपने सुझाव दिये हैं।

उनके मत में निष्पत्ति शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो आरम्भ जो फल की उत्पत्ति के कारण है और दूसरा फल का सिद्ध होना। जहाँ तक धान की निष्पत्ति का प्रश्न है पहले अर्थ के अनुसार जल और शालि का संयोग ही निष्पत्ति है। धान के सिद्ध होने में जल-शालि का संयोग सम्पन्न होने वाली अवस्था का एक अवयव

है। वह वर्षण क्रिया मात्र से सिद्ध है। धान की जो फसल होगी उसके बहुत पहले ही जल-शालि का संयोग घटित हो गया रहता है। इस आधार पर क्रिया अतीत मान ली जायगी और भविष्यत् के स्थान पर भूत का (निष्पन्न शब्द का) प्रयोग उपपन्न हो सकेगा।

यदि निष्पत्ति शब्द का दूसरा अर्थ, फल प्रसव रूप अर्थ, लिया जायगा तब भी उपर्युक्त वाक्य में भूतकाल के व्यवहार का समर्थन किया जा सकता हैं। धान की निष्पति का अर्थ फल रूप धान का सम्पन्न होना है। उसके कारण जल-शालि संयोग आदि हैं। कार्य के धर्म का कारण के धर्मों में अध्यास किया जाता है। इस आधार पर फलनिष्पन्नरूप कार्य का जल-शालि संयोग में अध्यास हो जायगा। जल-शालि का संयोग केवल वर्षण क्रिया से सिद्ध हो जाने के कारण क्रिया अतीत मान ली जायगी। फलतः फल निष्पत्ति भी अध्यस्त रूप में अतीत ही मानी जायगी और इस तरह निष्पन्न शब्द का व्यवहार, भविष्यत् के अर्थ में भूत का प्रयोग उपपन्न हो जायगा।[६६]

अथवा कार्य में कारण के धर्म का अध्यारोप किया जायगा। धान की फल-निष्पत्ति कार्य है। जल-शालि का संयोग कारण है। उसका वर्षण क्रिया अतीत-धर्म है, उस धर्म का निष्पत्ति में आरोप कर निष्पत्ति को अतीत मान निष्पन्नाः शालयः कहा जा सकता है। पूर्व वाले मत से इस मत में इतना ही अन्तर है कि पहले कारण धर्म में कार्य धर्म का आरोप कहा गया था, इसमें फल में कारण धर्म का अध्यास कहा गया है। कात्यायन ने 'हेतुभूतकालसंप्रेक्षितत्वात् (वार्तिक, महाभाष्य ३।३।१३३) के द्वारा इसी मत का समर्थन किया है। धान की निष्पत्ति में हेतुभूत वर्षा आदि हैं। वर्षा के काल का (अतीत का) धान की संपन्नतारूप कार्य में अपेक्षा की जाती है अर्थात् कार्य और कारण में अभेद मान कर कारण को ही कार्य रूप में व्यक्त किया जाता है। इस तरह औपचारिक व्यवहार करने का प्रयोजन किसी विशेष कारण को अन्य कारणों की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न जताना है। यदि इस तरह से शालि निष्पन्न माना जायगा तो उससे भोजन आदि के व्यापार (अर्थक्रिया) भी तुरन्त क्यों नहीं होने लगते ? इसके उत्तर में महाभाष्यकार ने कहा है कि जो धान यथार्थरूप में निष्पन्न हो चुके हैं और खलिहान से उठा कर कोठलों (कोष्ठ) में रखे गये हैं वे भी तुरन्त बिना किसी दूसरी क्रिया के सहारा लिये अर्थ क्रिया के उपयोगी नहीं होते। उन्हें भी भोजन के योग्य होने के लिये अवहनन (मूसल से छांटना) आदि व्यापारों की अपेक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई विद्यमान वस्तु अर्थ क्रिया को नहीं कर रही है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें अर्थ क्रिया की शक्ति ही नहीं है। उसमें भी अर्थ क्रिया की शक्ति अनभिव्यक्त रूप में हो सकती है। इसलिए निष्पन्न कहे जाने वाले पर अभी अनिष्पन्न शालि भी जनन आदि क्रिया की प्रतीक्षा करने वाले कहे जा सकते हैं। और अर्थक्रियाशक्ति संपन्न माने जा सकते हैं।

इस प्रसंग में भर्तृहरि ने निष्पत्ति और सिद्धि में थोड़ा सा भेद दिखाया है

---

६६. वाक्यपदीय, कालसमुद्देश १०६, १०७।

जो ध्यान देने योग्य है। भर्तृहरि के अनुसार निष्पत्ति के हेतु अनवस्थित होते हैं, उसकी कारण-शक्ति की परिकल्पना ठीक ठीक नहीं हो पाती है। जबकि सिद्धि का साधन सदा सन्निहित और व्यवस्थित होता है। निष्पत्ति का सम्बन्ध हेतुजन्म और फलजन्म दोनों से है जबकि सिद्धि का सम्बन्ध फल से ही है। निष्पत्ति बाह्य साधनों के अधीन है जब कि सिद्धि अन्तरंग साधन के अधीन है :

निष्पत्तावववधिः कश्चित् कश्चित् प्रतिविवक्षितः।
हेतुजन्मव्यपेक्षातः फलजन्मेति चोच्यते ।।
अबहिस्साधनाधीना सिद्धि र्यत्र विवक्षिता ।
तत् साधनान्तराभावात् सिद्धमित्युपदिश्यते ।।

—वाक्यपदीय ३, काल समुद्देश १०९, ११०

भर्तृहरि ने अवधिभेद के आधार पर उपर्युक्त वाक्य में भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के प्रयोग का समर्थन किया है, निष्पन्नाः शालयः, निष्पत्स्यन्ते शालयः, निष्पद्यन्ते-शालयः ये तीनों वाक्य विवक्षानुसार प्रयुक्त हो सकते हैं। भर्तृहरि ने सर्वत्र तीनों कालों की मान्यता पर जोर दिया है। इसके पीछे उनका सत्ता-दर्शन है। रास्ते में एक कूप है। जो पथिक उसे प्रत्यक्ष देख रहा है उसके लिये कूप की वर्तमान-सत्ता है, जो उसे देख चुका है उसके लिए उस कूप की भूत-सत्ता है और जो उसे अभी देखेगा उसके लिये उस कूप की भविष्यत्-सत्ता है। इन्द्रिय सम्बन्ध या असम्बन्ध के आधार पर एक ही सत्ता भिन्न-भिन्न व्यपदेश वाली है। साथ ही वस्तु की बौद्धिक सत्ता सदा वर्तमान रूप में उपलब्ध हो सकती है। इस आधार से "कूप है" जैसे वर्तमानकालिक प्रयोग सर्वथा उपपन्न है। इस तरह की उपलब्धि में भूत भविष्यत् आदि की विवक्षा प्राधान्यरूप में नहीं उठती, केवल वस्तु के सन्मात्र की विवक्षा मानसिक ग्रहण में देखी जाती है :

सतामिन्द्रियसम्बन्धात् सैव सत्ता विशिष्यते ।
भेदेन व्यवहारो हि वस्त्वन्तरनिबन्धनः ।।
अस्तित्वं वस्तुमात्रस्य बुद्ध्या तु परिगृह्यते ।
यः समासादनाद् भेदः स तत्र न विवक्षितः ।

—वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ११२, ११३

क्रियातिपत्ति में भूत और भविष्यत्

जब किसी प्रतिबन्धक के कारण अथवा सामग्री की विकलता से किसी क्रिया की उत्पत्ति बिल्कुल नहीं हो पाती है, उसे क्रियातिपत्ति कहते हैं : **कुतश्चिद् वैगुण्याद् अनभिनिर्वृत्तिः क्रियायाः क्रियातिपत्तिः—काशिका** ३।३।१३९। अब प्रश्न यह है कि क्रिया की अनुत्पत्ति के साथ भूत या भविष्यत् का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। क्योंकि भूत उत्पन्न के अतिक्रान्त अवस्था को द्योतित करता है जो अनुत्पन्न है उस के साथ उसका सम्बन्ध दुर्घट है। इसी तरह साधनसन्निधान के होते हुए संभावित उत्पत्ति भविष्यत् का क्षेत्र है। अनुत्पन्न से उसका भी सम्बन्ध कठिन है।

भर्तृहरि ने इस प्रश्न का समाधान अवधिभेद से विषयभेद के आधार पर किया है। यदि कमलकम् आह्वास्यन् न शकटं पर्याभविष्यत् (यदि कमलक को बुलाता गाड़ी नहीं टूटती) । कमलक एक ऐसा व्यक्ति है जो शकट को संभालने में कुशल है, उसकी कुशलता पूर्व के अवसरों पर परीक्षित है । इसलिए भविष्य में भी कमलक का आह्वान शकट की सुरक्षा में साधक हो सकता है ऐसा समझना स्वाभाविक है । शास्त्रीय शब्द में यही लिंग है और कमलक का आह्वान सामान्य धर्म है । यहाँ कमलक के पुकारे जाने की और गाड़ी के टूटने की अतिपत्ति है और वह प्रमाणान्तर गन्य है । कमलक के पुकारे जाने की अतिपत्ति उसके देशान्तर चले जाने से सम्भव है और गाड़ी का भंग होना भी अत्यधिक भार आदि से सम्भव है। इस बात को समझते हुए ही वक्ता ने उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किया है । इसमें कमलक के आह्वान और शकट के न टूटने में हेतुहेतुमद्भाव है । इस वाक्य से इन दोनों की अतिपत्ति भविष्यन् कालिक जान पड़ती है। वर्तमान में तो वह देख ही रहा है कि कमलक को बुलाया नहीं जा सकता और न गाड़ी ही टूटने से बचाई जा सकती है। अतः यहाँ भविष्यत् काल सम्बन्धी क्रियातिपत्ति है । अर्थात् काल का अवच्छेद भविष्यत् रूप में होने के कारण क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भी भविष्यत् से हो गया है ।

इसी तरह क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भूतकाल से भी हो जाता है। जैसे कोई किसी से कह रहा है—"मैंने अ पके भूखे पुत्र को भोजन की फिराक में इधर-उधर घूमते देखा है, एक दूसरे आदमी को भी देखा जो भोजन कराने के लिये ब्राह्मण की खोज में घूम रहा था । यदि उसे देखा होता अवश्य खिलाता, परन्तु उसने भोजन नहीं किया वह दूसरे रास्ते से चला गया" इस उक्ति में न भोजन करने का व्यापार, जो भोजन का प्रतिद्वन्द्वी है, भूतकाल के रूप में व्यक्त किया गया है, वह अतीत को विषय हो गया है। इसलिये क्रियातिपत्ति भी अतीत विषय वाली जान पड़ती है। इसलिये यहाँ उसका व्यवहार भूत रूप में किया गया है ।

नागेश के अनुसार ऐसे स्थलों में भविष्यत् आदि का आरोप किया जाता है और इस आरोपित अर्थ के द्वारा ही क्रियातिपत्ति का भविष्यत् आदि से सम्बन्ध हो पाता है—

> **साधनाभावाद् अभविष्यदपि वस्तुनि भविष्यत्त्वम् आरोप्यते निषेधप्रतियोगित्वायेत्यदोषात् । सुभिक्षभवन-हेतुसुवृष्टिभवनं भविष्यत्वेन असम्भावयन् एवमभिधते । एवं हि क्रियातिपतिः अवगता भवति** —मंजूषा, पृष्ठ ९२३.

व्यामिश्र काल

संस्कृत में ऐसे बहुत से वाक्य मिलते हैं जिनमें दो विरुद्ध काल एक साथ उलझे रहते हैं जैसे—

(१) भावि कृत्यं आसीत्,

(२) अग्निष्टोमयाज्यस्य पुत्रो जनिता,

(३) साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो ये प्लावयिष्यन्ति समं ततोमी,

(४) गोमान् आसीत्, आदि।

इनमें प्रथम वाक्य में भावि शब्द में भविष्यत्काल का प्रत्यय है, आसीत् भूतकाल का है। द्वितीय वाक्य में अग्निष्टोमयाजी शब्द में भूत काल का प्रत्यय है, जनिता भविष्यत् काल है। तृतीय वाक्य में नदन्तः वर्तमानकाल का "प्लावयिष्यन्ति" भविष्यत् काल से सम्बन्ध है। चतुर्थ वाक्य में वर्तमान काल का भूतकाल से संबंध है। पाणिनि ने इस तरह के प्रयोगों की साधुता दिखाने के लिये 'धातु सम्बन्धे प्रत्यया.' ३।४।१ इस सूत्र का निर्माण किया था। धात्वर्थों में परस्पर संबंध संभव है। वह विशेषण विशेष्यभाव रूप में होता है। सुबन्तवाच्य अर्थ विशेषण होता है और तङिन्त वाच्य अर्थ प्रधान होने के कारण विशेष्य होता है। अग्निष्टोमयाजी में भूतकाल विशेषण है, जनिता शब्द में भविष्यत् काल विशेष्य है। विशेषणविशेष्यसंबन्ध के बल पर भूतकाल भविष्यत् काल से मिल कर भविष्यत्काल हो जाता है। अतः उपर्युक्त वाक्य का भाव हो जाता है—"इसको ऐसा पुत्र होगा जो अग्निष्टोम से यज्ञ करेगा"। इसलिये पाणिनि का उपर्युक्त सूत्र से अभिप्राय यही था कि धातु के संबंध में कालान्तरविहित प्रत्यय वाले शब्दों का किसी अन्यकाल के साथ सम्बन्ध संभव हो सके और उन्हें साधु माना जाय। परन्तु महाभाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है और भर्तृहरि आदि ने इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार का अनुकरण किया है। कात्यायन के अनुसार प्रत्यय के यथाकाल विधान से काम चल जायगा। जिस तरह से "इन सूत्रों से साड़ी बनाओ' इस वाक्य से साड़ी की भावि व्यपदेश रूप में प्रतिपत्ति होती है उसी तरह अग्निष्टोमयाजी के भूत का जनिता के भविष्यत् के सहारे भाविव्यपदेश हो जायगा। उपपद में, विशेषण में विशेष्य के काल से अन्य काल का होना अस्वाभाविक नहीं है परन्तु वाक्य के सामर्थ्य से विशेषण का काल विशेष्य के काल से सम्बद्ध होकर ही भासित होगा। इसलिये सूत्र के बिना भी काम चल सकता है। किन्तु भर्तृहरि ने सूत्र की सार्थकता के पक्ष में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। व्यामिश्रकाल में, भूत और भविष्यत् आदि के एक साथ प्रयोग को मान्यता देने के लिये सूत्र की सार्थकता है—

शुद्धे च काले व्याख्यातमामिश्रे न प्रसिध्यति।
साधुत्वमयथाकालं तत् सूत्रेणोपदिश्यते ॥[६७]

इस तरह से वाक्यपदीय में ग्यारह तरह के कालभेद का विवेचन किया गया है :

भूतः पञ्चविधस्तत्र भविष्यंश्च चतुर्विधः।
वर्तमानो द्विधा ख्यात इत्येकादश कल्पनाः ॥[६८]

---

६७. वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६८.

६८. वही ३८.

परन्तु भर्तृहरि-दर्शन में ये सब भेद व्यवहार की सुविधा की दृष्टि से कल्पित हैं, यथार्थ नहीं हैं। कालाख्य स्वतन्त्रशक्ति भेद से सर्वथा रहित है—

विकल्परूपं भजते तत्वमेवाविकल्पितम् ।
न चात्र कालभेदोस्ति कालभेदश्च गृह्यते ।।[६९]

दिक् और काल

भारतीय विचार परम्परा में दिक् और काल साथ-साथ आते रहे हैं। व्याकरण में भी इनका साहचर्य है। पाणिनि ने कई नियम दोनों के लिये साथ-साथ व्यक्त किये हैं जैसे···'दिग्देशकालेष्वस्तातिः' ।५।३।२७। भर्तृहरि ने भी काल की तरह दिक् पर भी विचार किया है।

भर्तृहरि के दर्शन में दिक् और काल में कई तरह के साम्य हैं। जिस तरह वे काल को शक्ति मानते हैं वैसे ही दिक् को भी शक्ति मानते हैं —

शक्तिरुपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थितः ।
दिक् साधनं क्रिया काल इसि वस्त्वमिधायिना ।।

—वाक्यपदीय, दिक् समुद्देश १

कालशक्ति क्रिया का भेदक है और दिक् शक्ति मूर्ति का (**कालात् क्रियाविभज्यन्ते आकाशात् सर्व मूर्तयः**—वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश, अधिकरण, ६)।

दिक् और काल दोनों क्रम के आधार पर भेदक होते हैं। देश भेद चलने वाले (गन्ता) की गति से स्पष्ट है। ठहरने (तिष्ठति) में भी देश भेद है। काल भेद तो क्रमाश्रित है ही। यौगपद्य में भी परमार्थतः क्रम रहता है।

भर्तृहरि के अनुसार दिक् अवधि और अवधिमान में भेद का हेतु है। ऋजु या वक्र के ज्ञान का निमित्त भी दिक् है। कर्म के तिर्यक् ऊर्ध्व आदि के व्यंजक भ्रमण उत्क्षेपण आदि जातिभेद की अभिव्यक्ति भी दिक् के ही आश्रय से होती है। दिक् शक्ति एक है फिर भी उपाधिभेद से दश प्रकार की मानी जाती है। दिक् के सहारे ही परत्व और अपरत्व विवेचन होता है। मूर्ति (सर्वगतद्रव्यपरिमाण) में क्रमरूप की कल्पना दिगाश्रित है। अमूर्त आकाश में भी परत्व अपरत्व वस्तुओं के संयोग-विभाग के आधार पर औपाधिक रूप में माने जाते हैं।[७०] इसी पूर्व अपर आदि ज्ञानों के बल पर दिक् की सत्ता का अनुमान किया जाता है (**यथा पूर्वापरादि प्रत्ययलक्षणेन कार्येण अनुमित सत्वा तथाभ्युपगन्तव्या शक्तिरूपा दिक्—हेलाराज, दिक् समुद्देश ७**)

भर्तृहरि ने दिक् की बाह्य सत्ता के अतिरिक्त उसकी आन्तरिक सत्ता भी मानी

---

६९. वही, द्रव्यसमुद्देश ८
७०. वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश २-५।

है। उनके अनुसार दिक् अन्तःकरण का एक धर्म है जो बाह्य रूप में, पूर्व-अपर रूप में, प्रकाशित होता है। दिक् का कोई बाह्य रूप नहीं है (**न बाह्या काचिद् दिगस्ति—हेलाराज, दिक् समुद्देश २३**)।

अन्तःकरणधर्मो वा बहिरेवं प्रकाशते।[७१]

७१. वही, दिक् समुद्देश २३

६

उपग्रह-पुरुष-संख्या-विचार

उपग्रह शब्द पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों का जान पड़ता है यद्यपि निरुक्त और प्रातिशाख्यों में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु कात्यायन, पतंजलि आदि ने इसका व्यवहार पारिभाषिक रूप में किया है। पाणिनि-सूत्रों में यह शब्द नहीं है। पाणिनि के एक सूत्र 'चूर्णान्यप्राणिषष्ठ्याः' ६।२।१३४ का पाठभेद 'चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहात्' इस रूप में मिलता है। इसका उल्लेख काशिका में वामन ने किया है। इसमें उपग्रह शब्द है। वामन के अनुसार पूर्व के आचार्य षष्ठ्यन्त को उपग्रह कहते थे:

> **चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहादिति सूत्रस्य पाठान्तरम्। तत्रोपग्रह इति षष्ठ्यन्तमेव पूर्वाचार्यानुरोधेन गृह्यते।**—काशिका ६।२।१३४
>
> **पूर्वाचार्या हि षष्ठ्यन्तमुपग्रह इत्येवमुपचरन्ति स्म।**
>
> —न्यास ६।२।१३४

किन्तु आख्यातगम्य उपग्रह षष्ठ्यन्त-उपग्रह से भिन्न है। आख्यातगम्य उपग्रह शब्द का प्रयोग कात्यायन ने उपग्रह प्रतिषेधश्च (वार्तिक ३।२।२२७) में किया है। महाभाष्य में पारिभाषिक उपग्रह शब्द का व्यवहार कई स्थलों पर मिलता है। जैसे—

> **न निष्ठापरस्यानुप्रयोगेण पुरुषोपग्रहौ विशेषितौ स्याताम्।**
>
> महाभाष्य ३।१।४०
>
> **सुप्तिङुपग्रह लिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।**
> **व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन॥**
>
> —महाभाष्य ३।१।८५
>
> **तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते।**
>
> —महाभाष्य ३।१।६७

उपग्रह की परिभाषा

स्कन्दस्वामी ने उपग्रह के स्वरूप बतलाते हुए उसे कर्तृगामी और परगामी लक्षण वाला माना है। आत्मनेपद के उच्चारण से फल कर्तृगामी जान पड़ता है और परस्मैपद

के उच्चारण से फल परगामी जान पड़ता है :—

> **उपग्रहः कर्तृगामि परगामित्व लक्षणः। स्वरितञ्जितः आत्मनेपद उच्चारिते ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इति कर्तृगामिफलत्वं प्रतीयते। परस्मैपदे तु यजन्ति याजका इति परगामिफलत्वम्।**[1]

जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार उपग्रह एक तरह का क्रिया विशेष है परन्तु उससे आत्मनेपद और परस्मैपद इसलिये गृहीत होते हैं कि वे ही उसकी अभिव्यक्ति में निमित्त हैं—

> **लादेश व्यङ्ग्यः क्रियाविशेषो मुख्य उपग्रहः। इह तु तद् व्यक्तिनिमित्तत्वात् परस्मैपदात्मनेपदयोर्वर्तते।**[2]

इसको भट्टोजि दीक्षित ने यों कहा है:—

> **लादेश व्यङ्ग्यः क्रियासाधनविशेषरूपः स्वार्थपरार्थत्वादिश्चोपग्रहशब्दस्य वाच्यः।**[3]

इन सब उक्तियों का आधार वाक्यपदीय है। उपग्रह की परिभाषा वाक्यपदीय में ही सर्वप्रथम देख पड़ती है। वह यों है:—

> **य आत्मनेपदाद् भेदः क्वचिदर्थस्य गम्यते।**
> **अन्यतश्चापि लादेशान्मन्यन्ते तमुपग्रहम्॥**[4]

आत्मनेपद या परस्मैपद के प्रयोग से क्रिया या साधन के किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है जिसका सम्बन्ध सीधे कर्त्ता से होता है अथवा कर्त्ता से अन्य किसी दूसरे से होता है। इसी क्रिया या साधन के विशेष को उपग्रह कहा जाता है। हेलाराज के अनुसार पूर्वाचार्यों ने इसी अर्थ में उपग्रह शब्द का व्यवहार किया था और उसी आधार पर उसी अर्थ में यह शब्द संप्रति व्याकरण-दर्शन में गृहीत है :—

(पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्योपग्रहशब्दवाच्योऽयमर्थो व्यवहृयतेऽत्र शास्त्रे—हेलाराज, उपग्रह-समुद्देश १)।

साधन उपग्रह रूप में

कर्म, कर्त्ता जैसे साधन आत्मनेपद से व्यंग्य होने के कारण उपग्रह कहीं कहीं कहे जाते हैं। जैसे, 'पच्यते', 'गम्यते' जैसे शब्दों में आत्मनेपद से कर्म द्योतित होता है। एधते,

---

१. निरुक्तभाष्यम् पृष्ठ ६, डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित।
२. काशिका विवरण पंजिका ३।१।८५
३. शब्द कौस्तुभ पृष्ठ ८६९ (चौखम्बा संस्करण)
४. वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश १

याति जैसे शब्दों में आत्मनेपद और परस्मैपद से कर्त्ता व्यंग्य है। कभी कभी भाव भी साधन के रूप में व्यवहृत होता है और वह आत्मनेपद से अभिव्यक्त होता है। जैसे आस्ते, शय्यते जैसे पदों में आत्मनेपद के द्वारा ही भाव की अभिव्यक्ति होती है, भाव क्रिया के एकपदवाच्य साधनावेश को अभिव्यक्त करता हुआ स्वयं साधन हो जाता है। कभी कभी उपग्रह साधन के विशेषणरूप में व्यक्त होता है, विशेषकर व्यक्तवाक् के अर्थ में। जैसे "संप्रवदन्ते ब्राह्मणाः" इस वाक्य में उपग्रह साधन का विशेषण है। यद्यपि शुक, सारिका आदि के उच्चारण में भी वर्णों के स्पष्ट उच्चारण जान पड़ते हैं किन्तु वे सीमित या इने-गिने वर्णों में ही स्पष्ट जान पड़ते हैं और वह भी पुरुष के प्रयत्न से, बहुत दिन तक सिखाने-रटाने से संभव हो पाते हैं। इसलिये उनके लिये 'वदन्ति' शब्द का ही प्रयोग होता है 'वदन्ते' शब्द का नहीं।

क्रियाविशेष उपग्रह रूप में

कभी कभी क्रियाविशेष उपग्रह होते हैं। जैसे गन्धन (पीड़ा पहुंचाने वाली निन्दा) और अवक्षेपण (भर्त्सना) धातु से वाच्य क्रियाविशेष होते हुये भी जब तक आत्मनेपद से न व्यक्त किये जाय तब तक अनभिव्यक्त ही रहते हैं। जैसे, उत्कुरुते। इस शब्द से हिंसात्मक निन्दा का अर्थ आत्मनेपद के प्रयोग से ही जान पड़ता है। इसी तरह "श्येनः वर्तिकाम् उदाकुरुते" इस वाक्य में श्येन द्वारा वर्तिका की भर्त्सना उदाकुरुते में आत्मनेपद के प्रयोग से अवगत होती है। इसी तरह कर्मव्यतिहार भी क्रियाविशेषण के रूप में आत्मनेपद से व्यंग्य होकर उपग्रह होता है। कर्मव्यतिहार का अभिप्राय यहां क्रिया-व्यतिहार है। जब एक सम्बन्धी क्रिया को कोई दूसरा व्यक्ति करने लगता है और दूसरे के लिये नियत क्रिया को जब पहला व्यक्ति करने लगता है उसे कर्म व्यतिहार अथवा क्रिया-व्यतिहार कहते हैं (**यत्रान्य संबन्धिनीं क्रियामन्यः करोति, इतर सम्बन्धिनीं चेतरः स कर्म व्यतिहारः—काशिका १।३।१४**)। क्रिया के साध्यस्वभाव के होने के कारण, क्षणस्थायि होने के कारण उनमें व्यतिहार अथवा विनिमय यद्यपि संभव नहीं है फिर भी साध्य-साधन का विपर्यास संभव है। योग्यतावश से अमुक व्यक्ति की यह क्रिया साध्य है और अमुक का यह साधन है इस तरह के ज्ञान होते हुये भी जब साध्यसाधनभाव में व्यत्यास हो जाता है उसे क्रियाव्यतिहार कहते हैं। वस्तुतः क्रिया अभी करने वाले को अभीष्ट रहती है, "मैं इस क्रिया को करूंगा" इस तरह के विचार उसके मन में रहते हैं तभी कोई दूसरा व्यक्ति उस क्रिया को करने लगे तो क्रिया व्यतिहार होता है जैसे-व्यतिलुनीते। इसका अभिप्राय है कि अन्य द्वारा काटे जाने वाले धान को पहले ही कोई दूसरा काट रहा है। यहां आत्मनेपद से यही व्यत्यास द्योतित है। फलतः क्रियाव्यतिहार भी उपग्रह माना जाता है। क्रिया व्यतिहार में तो आत्मनेपद होता है परन्तु साधनकर्म व्यतिहार में नहीं होता, जैसे देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति (देवदत्त द्वारा संग्रहीत धान्य को कोई अन्य संग्रह कर रहे हैं)। यहां अन्य सम्बन्धी धान्य का अन्य द्वारा संग्रह किये जाने के कारण साधन-

कर्म-व्यतिहार है। इसे परस्मैपद से ही व्यक्त किया जाता है। कभी कभी परस्परकरण भी क्रिया व्यतिहार होता है जैसे--'संप्रहरन्ते राजानः।' इस वाक्य में एक ही क्रिया संचारिणी सी जान पड़ती है। क्रिया व्यतिहार प्रायः उपसर्ग से द्योतित किये जाते हैं (उपसर्गाश्च प्रायः कर्मव्यतिहारद्योतनाय प्रयुज्यन्ते—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।३।१६) उपसर्गों में भी प्रायः व्यति (वि और अति) ही क्रियाव्यतिहार के लिए प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी सम् भी प्रयुक्त होता है। क्रिया व्यतिहार प्रायः अनेक कर्तृक होता है इसलिये उसके लिये क्रियाशब्द सदा बहुवचन में ही होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। किन्तु "अन्यो व्यतिस्ते तु ममापि धर्मः" जैसे वाक्यों में एकवचन का प्रयोग भी देखा जाता है।

विषयभेद के आधार पर क्रिया विशेष उपग्रह रूप में

एक ही क्रिया विषयभेद से भिन्न-भिन्न मान ली जाती है और उसके भिन्न स्वरूप आत्मनेपद और परस्मैपद से द्योतित किये जाते हैं। पचति और पचते में अन्तर है। पचति शब्द में परस्मैपद इस बात का द्योतक है कि पकाने वाले की पकाने की क्रिया जीविका रूप में है, वह केवल भृत्य की तरह का व्यापार है। यहां प्रधान क्रिया-फल कर्तृगामी नहीं है, भृत्य के लिये वेतन मात्र फल है। किन्तु पचते में आत्मनेपद से यह ध्वनित होता है कि पाक-क्रिया का प्रधान फल कर्त्ता को मिलेगा। कर्त्ता अपने लिये ही पका रहा है। विषयभेद के आधार पर क्रिया का भेद वाक्य में भी दिखाई दे सकता है।, जैसे "स्वं यज्ञं यजते" और "स्वं यज्ञं यजति"। यह भ्रम हो सकता है कि परस्मैपद से द्योत्य (यजति) प्रधान क्रिया-फल कर्तृगामी नहीं होगा। ऐसे भ्रम के निवारण के लिये ही 'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने' (१।३।७७) सूत्र की आवश्यक्ता है। अर्थात् उपपद (समीप में उच्चरित, न कि पारिभाषिक) से द्योत्य क्रियाफल कर्तृगामी होगा चाहे वह आत्मनेपद से द्योत्य हो अथवा परस्मैपद से। फलतः 'स्वं कटं करोति और स्वं कटं कुरुते' में फल की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।[५] वस्तुतः इन वाक्यों में प्रधानफल का कर्तृगामित्व के रूप में बोध स्व शब्द की शक्ति के कारण होता है। अतः विषयभेद से क्रिया भेद के आधार पर कहीं कहीं क्रियाविशेषण भी उपग्रह हो सकते हैं।

इस प्रसंग में महाभाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि याति, वाति जैसी क्रियाओं में आत्मनेपद क्यों नहीं होता। क्योंकि जब क्रिया-फल कर्तृ-अभिप्राय वाला (कर्तृगामी) हो, आत्मनेपद होता है। एक तरह से सभी क्रिया-फल कर्तृ-अभिप्राय वाले होते हैं। इसका समाधान स्वयं उन्होंने किया है। उनका कहना है कि उन धातुओं से आत्मनेपद होगा, जिनके क्रिया-फल कर्तृ-अभिप्रायवाले और अकर्तृ-अभिप्राय वाले भी होंगे। या, वा जैसे धातु कर्तृगामी और अकर्तृगामी भी क्रिया-फल

---

५. वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश ३.

वाले नहीं हैं। इसलिये इनसे आत्मनेमद नहीं होता। पाणिनि ने, महाभाष्यकार के अनुसार, ऐसे भी स्वरित ञित् धातु पढ़े हैं जिनके क्रियाफल कर्तृगामी भी हैं और अकर्तृगामी भी हैं। फलतः "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" १।१।७२ इस सूत्र में स्वरितञित् की आवश्यकता नहीं है।[६] यद्यपि पाणिनि ने धातुओं में ञ आदि अनुबन्ध को लक्ष्य कर ही स्वरितञित् ग्रहण किया होगा और इस दृष्टि से स्वरितञित् की सार्थकता भी है परन्तु प्रत्याख्यान के पक्षपाती ञकार आदि अनुबन्धों को धातु की स्वाभाविक शक्ति के द्योतक मानते हैं (स्वाभाविको हि धातूनां शक्तिः नियतविषया, ञकाराद्यनुबन्धः तदवगमाय कृतो गणकारैः—हेलाराज, उपग्रहसमुद्देश ११)। भर्तृहरि के अनुसार ञकार आदि अनुबन्ध स्मरणार्थक हैं। जो लोग केवल प्रयोग से धातु के स्वाभाविक अर्थ के समझने में असमर्थ हैं उनके लिये अनुबन्धों का विन्यास किया गया है। प्रयोगज्ञ के लिये उनकी आवश्यकता नहीं है:

अनुबन्धश्च सिद्धेऽर्थे स्मृत्यर्थमनुषज्यते[७]

कुछ लोगों के अनुसार स्वार्थ की दृष्टि से जब क्रिया आरंभ की जाती है, आत्मनेपद होता है। परार्थ की दृष्टि से जब क्रिया का आरंभ होता है, परस्मैपद होता है परन्तु एक तरह से सभी क्रिया स्वार्थ के लिये ही होती हैं। महाभाष्यकार ने इसे इस रूप में व्यक्त किया है—"सभी व्यक्ति अपने अपने लाभ के लिये ही क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। जो गुरु की सेवा दिन-रात किया करते हैं वे भी वस्तुतः अपने स्वार्थ के लिये ही ऐसा करते हैं। हमें पुण्य मिलेगा और प्रसन्न होकर गुरु हमें पढ़ावेगा ऐसी उनकी भावना गुरु सेवा में अन्तर्हित रहती है। जो कमकर (कर्मकर) हैं वे भी स्वार्थ-भावना से ही काम करते हैं। हमें अन्न-वस्त्र मिलेंगे और फटकार न सुननी पड़ेगी ऐसी उनकी अभिलाषा रहती है। शिल्पी भी वेतन और मित्र की अभिलाषा से ही अपने काम में प्रवृत्त होते हैं।"[८] स्वार्थता ही पारमार्थिक (सत्य) है और परार्थता असत्य है। अतः कुछ लोग स्वार्थता-परार्थता को विवक्षाधीन मानते हैं। कुछ लोग स्वार्थता में स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण उसे विवक्षा-निमित्त नहीं मानते, केवल परार्थता को विवक्षा-निबन्धन मानते हैं। कुछ लोग प्रधानफल की दृष्टि से स्वार्थता और परार्थता दोनों को वास्तविक मानते हैं। कंयट ने स्वार्थपरार्थता की दृष्टि से भी स्वरितञित् ग्रहण को प्रत्याख्येय माना है क्योंकि जहाँ स्वार्थ-परार्थ दोनों की विवक्षा होगी वहीं सूत्र की प्रवृत्ति होगी। याति आदि क्रियाओं में परार्थता संभव नहीं है इसलिये वहां आत्मनेपद की प्राप्ति ही न होगी। फलतः उपर्युक्त सूत्र में स्वरितञित् ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।

---

६. महाभाष्य १।३।७२

७. वाक्यपदीय ३, उपग्रहसमुद्देश १२.

८. महाभाष्य, ३।१।२६

कुछ लोग मानते हैं कि संविधानवृत्ति वाले धातुओं से आत्मनेपद होता है। संविधान शब्द के दो तरह से अर्थ किये जाते हैं। एक मत के अनुसार संपूर्ण धात्वर्थ की प्रवृत्ति के अनुकूल प्रवर्तना नामक व्यापार को संविधान कहते हैं। (संविधानं कृत्स्न-धात्वर्थ-प्रवृत्त्यनुकूलः प्रवर्तनाख्यो व्यापारः)। दूसरे मत के अनुसार क्रिया की सिद्धि के लिये आवश्यक सामग्री का संघटन ही संविधान है (**संविधानं सामग्रीसंघटनरूपम्—महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।७२**)। इस मत के अनुसार पचते का भाव पकवाता (पाचयति) है। यजते और याजयति का अर्थ समान है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं। जब धातु की प्रकृति से ही संविधान (सामग्रीसंघटन) अर्थ व्यक्त हो, उसका द्योतक आत्मनेपद होता है। जब प्रकृति से संविधान अर्थ न झलकता हो, उसकी अभिव्यक्ति के लिये णिच् (पाचयति) का आश्रय लिया जाता है। जब कर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल के लिये ण्यन्त से आत्मनेपद होता है, द्वितीय संविधान में ण्यन्त की वृत्ति की कल्पना करनी चाहिये। जैसे, "राजा पाचयते" में। कर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल में आत्मनेपद विधान करने से संविधानलक्षण ही क्रियाविशेष लक्षित होता है। कुछ लोग आत्मनेपद में और णिच् में अन्तर मानते हैं। यजते और याजयति कहने में शाब्दी प्रतीति भिन्न भिन्न होती है। यजते से ज्ञात होता है कि फल चाहने वाला व्यक्ति स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र रूप में याग की भावना कर रहा है। यहाँ किसी अन्य के प्रेरक होने की ध्वनि नहीं है। याजयति कहने से जान पड़ता है याग की प्रेरणा अन्यत्र से आ रही है, याग पर-प्रयुक्त है। इसलिये आत्मनेपद और णिच् के विषय भिन्न भिन्न मानने चाहिये। संविधान में आत्मनेपद और प्रैष में णिच् मानना उपयुक्त है। जिस धात्वर्थ में पारार्थ्य (पर का प्रेरक भाव) किसी दूसरे शब्द के साहचर्य से अवगत होता है वहां आत्मनेपद नहीं होता, जैसे, उक्तः करोति (कहने पर करता है)। इसी तरह अजां नयति ग्रामम् और अजां नयते ग्रामम् में अर्थ की दृष्टि से सूक्ष्म भेद है। पहले वाक्य में परस्मैपद से भृत्य का कर्तृत्व द्योतित है जब कि दूसरे वाक्य में आत्मनेपद से स्वामी का कर्तृत्व अभिप्रेत है।

जो लोग णिच् के साथ आत्मनेपद का विकल्प मानते हैं अर्थात् यजते और याजयति का प्रयोग एक अर्थ में करते हैं उनके सिद्धान्त के आधारभूत कुछ शिष्ट प्रयोग हैं। जैसे, वपते, धत्ते, चिनुते आदि। "केशश्मश्रु वपते" यह एक शिष्ट प्रयोग है। वपन का अर्थ मुण्डन है। यहां आत्मनेपद से कर्तृगामी क्रियाफल जान पड़ता है। परन्तु प्राचीन काल में बाल स्वयं नहीं बनाते थे अतः वाक्य के सामर्थ्य से दूसरा व्यक्ति (नापित आदि) से बाल बनवाने का अर्थ उपर्युक्त वाक्य से भासित होता है। यहां णिच् और आत्मनेपद का समान विषय हो गया है। शिष्टों का एक दूसरा वाक्य है "तृप्ता पत्नी रेतो धत्ते"। इस वाक्य में यद्यपि धत्ते शब्द का प्रयोग है परन्तु इसका अर्थ धापयति है। क्योंकि रेतस् का धारण पुरुष-इन्द्रिय में संभव है, स्त्री-इन्द्रिय में नहीं। यहां भाव यह है कि तृप्त पत्नी रेतस् का आधान करवाती है। धत्ते क्रिया में आत्मनेपद से धारणस्वातंत्र्य मात्र झलकता है। विशेष अर्थ पत्नी शब्द के

साहचर्य से और वाक्यार्थ के पर्यालोचन से समझ पड़ता है। ऐसे उदाहरणों में अर्थ के सामर्थ्य से जिस ण्यर्थ की उपलब्धि होती है उसकी आत्मनेपद से ही उपलब्धि का भ्रम होना स्वाभाविक है। और इस भ्रान्ति के आधार पर आत्मनेपद और णिच् के विकल्प का सिद्धान्त खड़ा है। परन्तु नागेश इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत में विकल्प-उक्ति असंगत है। वपते, चिनुते आदि प्रयोग अन्तर्भावितण्यर्थ के आधार पर उपपन्न हो सकते हैं। अथवा प्रकरण आदि के बल पर उनका तात्पर्य समझा जा सकता है और इस तरह की बात परस्मैपद के प्रयोगों के साथ भी दिखाई दे सकती है—

> **चिनुते इत्यादिप्रयोगश्च अन्तर्भावितण्यर्थतया उपपाद्यः प्रकरणादिकं च तात्पर्यग्राहकम्। कदाचित् परस्मैपदेऽपि तत् प्रतीत्या तस्यावश्यकत्वाच्च।** [९] **वस्तुतः णिच् प्रेरणावाची।...किञ्च सामान्यविहितस्य णिचो धातुविशेषाद् विहितेनात्मनेपदेन बाध एवोचितः।**[१०]

अकर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल में भी आत्मनेपद देखा जाता है यदि अण्यन्तावस्था का कर्म ण्यन्त में कर्म होता हुआ भी कर्त्ता के रूप में व्यवहृत हो। जैसे, आरोहयते हस्ती स्वयमेव। अण्यन्तावस्था में यह वाक्य "आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः" के रूप में था। हस्तिन् शब्द कर्म था। वही कर्म ण्यन्तावस्था में कर्म होता हुआ कर्त्ता हो गया है। इसलिए यहां आत्मनेपद है। एक ही समय में एक ही शब्द कर्म और कर्त्ता दोनों कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि धर्म भेद से ऐसा सम्भव है। एक वस्तु-धर्म है, दूसरा विवक्षा-धर्म है। हस्ती पर आरोहण किया जाता है, वह आरुह्य है, अतः वस्तु-धर्म के कारण उसमें कर्मत्व है। स्वातंत्र्य की विवक्षा से उसमें कर्तृत्व भी है। आङ्पूर्वक रुह् धातु से दो क्रियाएँ अवगत होती हैं न्यग्भवन् (नीचे झुकना) और न्यग्भावन (झुकवाये जाना)। न्यग्भवन क्रिया में हस्ती कर्त्ता है। न्यग्भावन क्रिया में हस्तीपक कर्त्ता है। झुकते हुए हाथी को हस्तीपक (पिलवान) झुकाता है। किन्तु अच्छी तरह से सिखाया हुआ और सरल हाथी न्यग्भवन क्रिया में अनुकूल हो जाता है। उस दशा में हस्ती हस्तीपक के प्रयोजक होता है और हस्तीपक प्रयोज्य होता है। "मुझ पर आरोहण करो" इस भावना से हस्ती हस्तीपक का प्रयोजक होता है। प्रयोज्य प्रयोजक भाव की विवक्षा में णिच् होता है। पुनः हाथी इतना कुशल हो सकता है कि उसे किसी प्रयोज्य की अपेक्षा न हो। उस अवस्था में रुह् का अर्थ न्यग्भवन मात्र है और ऐसे ही समय पर "आरोहयते हस्ती स्वयमेव" प्रयोग किया जाता है। प्रयोज्य प्रयोजक भाव की निवृत्ति होने पर भी णिच् की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि निवृत्ति के कारण का यहां अभाव है। जैसे देवदत्त के व्यापार की निवृत्ति होने पर भी "पच्यते ओदनः स्वयमेव" कहते हैं अर्थात् पच् की पाक से निवृत्ति

---

९. महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।७२, पृष्ठ २६१, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

१०. मंजूषा, पृष्ठ ६४०

नहीं होती वैसे ही प्रयोज्यप्रयोजक व्यापार के निवृत्त हो जाने पर भी णिच् की निवृत्ति नहीं होती। कर्मकर्तृ की अवस्था को भर्तृहरि ने पंचमी अवस्था मानी है। अर्थ-विभाग-भूमि की अन्तिम अवस्था पांचवीं अवस्था मानी जाती है और वह प्रायोगिक होती है :—

यावतीषु सोपानस्थानीयासु पदं विन्यस्येयं प्रायोगिकी पर्यन्तभूमिः प्राप्यते ता अन्तरालभाविन्यो गम्यमाना भूमयोऽवस्थाशब्दवाच्याः।[११]

न्यग्भवन और न्यग्भावन दो रूप शुद्ध रुह् (णिच् रहित रुह्) से प्रतीत होते हैं। ये दो रूप णिच् सहित रूप से भी व्यक्त किए जाते हैं। ये चार अवस्थाएँ हैं। पांचवीं अवस्था कर्मकर्तृ अवस्था से द्योतित होती है :

न्यग्भावना न्यग्भवनं रुहौ शुद्धे प्रतीयते।
न्यग्भावना न्यग्भवनं ण्यन्तेऽपि प्रतिपाद्यते॥
अवस्था पंचमीमाहुः ण्यन्ते तां कर्मकर्तरि।
निवृत्तप्रेषणाद् धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते॥[१२]

(१) आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः,
(२) आरुह्यते हस्ती स्वयमेव,
(३) आरोहयन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः,
(४) आरोहयते हस्ती स्वयमेव।

इन वाक्यों में एक ही व्यापार को सौकार्य-असौकार्य के आधार पर विभिन्न रूपों में व्यक्त किया गया है। कैयट ने इसे एक-दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है :—

(१) लुनाति केदारं देवदत्तः,
(२) लूयते केदारः स्वयमेव,
(३) लावयते केदारः स्वयमेव।

इनमें प्रथम दो वाक्यों का कर्मकर्त्ता ण्यन्त वाले तीसरे वाक्य में भी कर्मकर्त्ता है। ऐसा इसलिए होता है कि लुनाति क्रिया का अर्थ द्विधाभवन और द्विभाभावन भी है। "लुनाति केदारं देवदत्तः" ऐसा कहने से "खण्ड होते हुए धान को खण्ड-खण्ड कर रहा है" ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। जब धान के सौकार्यातिशय को प्रकट करने की इच्छा होती है, देवदत्त के व्यापार की विवक्षा नहीं की जाती है। तब लुनाति-क्रिया का अर्थ केवल द्विधाभवन है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं इस आधार पर ऐसा कहा जाता है। अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले धातु वस्तुतः भिन्न-भिन्न होते हैं। सारूप्य के कारण वे एक-से जान पड़ते हैं। अस्तु, द्विधाभवन में केदार का कर्तृत्व है उसमें कर्म-कार्य

११. हेलाराज, वाक्यपदीय साधनसमुद्देश पृ० २११, महाभाष्यप्रदीपोद्योत 1।3।67.
१२. वाक्यपदीय, साधनसमुद्देश ५९, ६०.

का अतिदेश किया जाता है। फलतः "लूयते केदारः स्वयमेव" प्रयोग उपपन्न होता है। जहां पर देवदत्त हाथ में हंसुवा (दात्र) लिए दिखाई देता है वहां भी सौकार्य की विवक्षा से उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है। सूर्य की किरणों से सूखे हुए जर्जर धान के डंठल स्वयं विशीर्ण हो जाते हैं--उन्हें काटने में कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती। यह दूसरी अवस्था है। पहली अवस्था में केदार के द्विधाभवन की बुद्धि होती है, केदार में काटे जाने की योग्यता देख कर ही व्यक्ति उसमें प्रवृत्त होता है। द्वितीय अवस्थां में यह भाव झलकता है कि धान अन्य द्वारा नहीं, स्वयं अपने आप ही कट रहा है। इस अवस्था में भी स्वयं पद कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। "लूयते केदारः" इतना पर्याप्त है। क्योंकि यदि स्वयं का अर्थ अपने द्वारा है तो अपनी अपेक्षा से कर्मत्व है ही। अथवा "स्वयम्" शब्द से अपना करणत्व प्रतिपादन किया जाता है न कि कर्तृत्व। प्राचीन वृत्तिकार स्वयं पद से अन्य कर्त्ता का परिहार समझते थे। इसके बाद तीसरी अवस्था आती है। द्विधाभवन अर्थ वाली लुनाति-क्रिया में देवदत्त-प्रयोजक-व्यापार में णिच् उत्पन्न होता है और "लावयति केदारं देवदत्तः" यह वाक्य सामने आता है। इस वाक्य का वही अर्थ है जो "लुनाति केदारं देवदत्तः" इस वाक्य का है। "लुनाति केदारम्" इस अवस्था की अपेक्षा तीसरी अवस्था में णिच् विशेष है। णिजर्थव्यापार, प्रकृत्यर्थ और फलसमानाधिकरण व्यापार के त्याग में चतुर्थी अवस्था होती है। स्वयं द्विधाभवन में प्रवृत्त केदार को क्षेम के लिए काटने वाला (लविता) प्रवृत्त करता है। यह चतुर्थी कक्षा है। इसके बाद सौकार्यातिशय की दृष्टि से जब देवदत्त के व्यापार की भी विवक्षा नहीं होती है, द्विधाभवन कार्य लावयति-क्रिया में समझा जाता है। "लूयते केदारः स्वयमेव" का जो अर्थ है वही अर्थ "लावयते केदारः स्वयमेव" का है। यही पंचमी अवस्था है। इसमें प्रयोक्तृ व्यापार की अविवक्षा होती है। प्रयोज्य प्रयोजकभाव की निवृत्ति होने पर भी णिच् की निवृत्ति नहीं होती। उपाय के निवृत्त होने पर भी उपेय निवृत्त नहीं होता। सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति के लिए प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है और अर्थ का आदान या त्याग भी उसी दृष्टि से किया जाता है। लौकिक व्यवहार में सौकार्य की अपेक्षा से प्रायः "लावयते केदारः" इतना ही कहते हैं। यह पक्ष व्याकरण संप्रदाय में "निवृत्तप्रेषण पक्ष" के नाम से प्रसिद्ध है। इससे कुछ भिन्न एक दूसरा पक्ष है जिसे "अध्यारोपितप्रेषणपक्ष" कहा जाता है।

अध्यारोपित प्रेषण पक्ष के अनुसार प्रक्रिया यों है—

(१) लुनाति केदारं देवदत्तः,

(२) लावयति केदारो देवदत्तेन,

(३) लावयते केदारः स्वयमेव।

यहां दूसरे वाक्य में केदार के व्यापार में णिच् हुआ है। काटते हुए देवदत्त का प्रयोक्ता केदार हो रहा है सौकार्यातिशय से। प्रयोज्यप्रयोजक की अविवक्षा से तीसरा वाक्य उपपन्न होता है।

निवृत्तप्रेषणपक्ष और अध्यारोपितप्रेषणपक्ष में व्याकरण की दृष्टि से यह

अन्तर है कि पहले पक्ष के अनुसार 'णेरणौ यत्कर्म' १।३।६७ इस सूत्र के बिना भी "लावयते केदारः स्वयमेव" में आत्मनेपद सिद्ध हो सकता है कर्मवद्भाव के द्वारा। दूसरा पक्ष उपर्युक्त सूत्र की सत्ता रहते ही संभव है। दूसरी प्रक्रिया में कर्मवद्भाव की प्राप्ति नहीं है। कुछ लोग "आरुह्यते हस्ती स्वयमेव" में कर्मवद्-भाव दिखाते हैं। कैयट के अनुसार यह उपयुक्त नहीं है। क्योंकि क्रिया का तात्स्थ्य विशेषदर्शन से अथवा शब्दार्थ के आधार पर निश्चित होता है। ये दोनों ही कारण आरोहण क्रिया की कर्तृस्थता प्रतिपादन करते हैं, उसकी कर्मस्थता नहीं व्यक्त करते हैं। क्योंकि हस्तिनम् आरोहति, वृक्षम् आरोहति, पर्वतम् आरोहति जैसे वाक्यों में कर्म के भेद होते हुये भी आरोहण में कोई रूपभेद नहीं जान पड़ता है। इन प्रयोगों में कर्म में किसी प्रकार की विशेषता क्रियाकृत नहीं दिखाई देती है। धातु के द्वारा यहां कर्तृगत ही क्रिया प्रतिपादित है, कर्मगत नहीं। भाष्यकार ने भी रुह् को गति-विशेष अर्थ वाला मान कर इसके कर्तृस्थक्रियात्व को ही परिपुष्ट किया है।[13]

"स्मरयति एनं वनगुल्मः स्वयमेव" इस वाक्य में आत्मनेपद स्मरणार्थक में निषेध के कारण नहीं होता है। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः तान् आरोहन्ति हस्ती इसमें भी आत्मनेपद वृत्तिकार के अनुसार नहीं होना चाहिये। परन्तु भागवृतिकार यहां आत्मनेपद का प्रयोग चाहते हैं। माघ ने भी ऐसे स्थलों पर आत्मनेपद का प्रयोग किया है :

> **वृत्तिकृता नेष्यते। भागवृत्तिकारेण त्विष्यते। तथा माघः प्रयुँक्ते-"करेणुरा-रोहयते निषादिनम्"-इति।**[14]

कहीं-कहीं पचति जैसी क्रियाओं से भी संविधान अर्थ की प्रतीति होती है। यद्यपि पच् का प्रधान अर्थ तण्डुल की विक्लित्ति है परन्तु महाभाष्यकार ने 'हेतुमति च' ३।१।२६ के भाष्य में प्रेषण और अध्येषण को भी पच् का अर्थ माना है। संविधान—अर्थ सामग्री संघटन रूप अर्थ के व्यक्त करने पर भी पचति के अर्थ में णिच् नहीं होता। प्रयोज्यप्रेषण की विवक्षा में णिच् होता है और पाचयति प्रयोग उपपन्न होता है। अस्तु, पचति से देवदत्त के अधिश्रयण, उदकासेचन (चावल को जल से धोना) आदि व्यापार व्यक्त होते हैं, पचते से सभी भोजन सम्भार-व्यापार व्यक्त होता है। पाचयति से प्रयोज्यत्व प्रकट होता है। संविधान ही प्रैष नहीं है। अपितु संविधान-पूर्वक प्रेरण को प्रैष कहते हैं, जिसे करते हुये व्यक्ति प्रयोजक कहा जाता है। संविधान के करते हुये भी जब तक वह प्रेरणा का कार्य नहीं करता, उसे प्रयोजक नहीं कहा जाता है।

कर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल से संविधान-क्रिया का निर्देश किया जाता है। जैसे "नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्" वाक्य में नक्षत्र-दर्शन कालविशेष का उपलक्षण है

---

१३. महाभाष्यप्रदीप १।३।६७
१४. पदमंजरी १।३।६७

वैसे ही कर्तृ अभिप्राय क्रियाफल संविधान का उपलक्षण है। बिना किसी क्रिया के अनुष्ठान के कोई फल नहीं होता। याजक को स्वर्ग-फल किसी क्रिया द्वारा ही संभव है। अतः कार्यभूत फल से कारणभूत क्रिया लक्षित होती है और ऐसी क्रिया से आत्मनेपद का विधान किया जाता है।

महाभाष्यकार ने उदुम्भाञ्चकार में आत्मनेपद की प्राप्ति का प्रश्न उठाया है। जिस तरह से याति आदि क्रियाओं में संविधान के अभाव में आत्मनेपद नहीं होता है वैसे ही उम्भ के साथ भी संविधान के अभाव में आत्मनेपद नहीं होना चाहिये। उम्भ के संविधान बोधक न होने के कारण उसके साथ की करोति-क्रिया भी संविधान के अर्थ में गृहीत न होगी। फिर भी महाभाष्यकार के संदेह से ऐसा मानना पड़ता है कि शब्दशक्ति के स्वभाव के बल उम्भ आदि भी कभी-कभी संविधान-अर्थ में व्यवहृत होते हैं। उम्भ के संविधान से सहयोग होने के कारण उसके साथ की करोति-क्रिया भी संविधान-अर्थ में मानी जायगी। अतः आत्मनेपद की प्राप्ति संभव है। इसका परिहार 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य, १।३।६३ सूत्र में पूर्ववत्सनः" १।३।६२ से पूर्ववद् ग्रहण की अनुवृत्ति कर आम् प्रत्ययवत् सूत्र को विध्यर्थक और नियमार्थक बना कर किया जाता है। यहां तात्पर्य यह है कि स्वरितजित् से व्यतिरिक्त धातुओं का संविधान से सर्वथा अयोग ही नहीं होता, कभी-कभी योग भी होता है। फिर भी शब्दशक्ति के नियत होने के कारण वे संविधान जन्य आत्मनेपद लाने में असफल होती हैं। इसी तरह णिच् योग्य अर्थ के अभिधान में समर्थ सभी धातुओं से संविधान की प्रतीति नहीं होती। शब्दों की अर्थ-प्रत्यायन की शक्ति स्वाभाविक होती है, युक्तिगम्य नहीं। एक ही क्रियाशब्द से जैसे "पचतः" से दो साधन की अभिव्यक्ति हो सकती है परन्तु दो लिंग की अभिव्यक्ति नहीं होती। आख्यात से लिंग की पुंस्त्व आदि की प्रतीति नहीं होती। आख्यात से संख्यायुक्त द्रव्यात्मक साधन की प्रतीति होती है। "देवदत्तः पचति" में इसी आधार पर द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य माना जाता है और इसी आधार पर द्रव्यवादी आचार्य आख्यातार्थ को भी द्रव्य ही मानते हैं। सर्वथा शब्दशक्ति कहीं-कहीं नियंत्रित हो जाती है। फलतः संविधान-संबंध होने पर भी कुछ धातुओं में आत्मनेपद नहीं हो पाता है।[१५]

संविधानोपलक्षण क्रियाफल क्या है। इस सम्बन्ध में भी भर्तृहरि ने महाभाष्य के आधार पर विचार किया है। जिस अर्थ की सिद्धि को मन में रख कर कोई क्रिया आरंभ की जाती है उस अर्थ की सिद्धि ही उस क्रिया का प्रधान फल है। संविधानोपलक्षण क्रिया-फल से तात्पर्य इसी प्रधान फल से है। यजन-क्रिया का फल स्वर्ग है। स्वर्ग की कामना से ही याजक यज्ञ-क्रिया आरंभ करता है। उस यज्ञ में काम करने वाले पुरोहित, भृत्य आदि स्वर्ग की दृष्टि से क्रिया में प्रवृत्त नहीं हुये हैं। उनके लक्ष्य दक्षिणा अथवा वेतन हैं। इसलिये दक्षिणा-द्रव्य अथवा वेतन लाभ (फल)

---

१५. वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश १४-१७

होते हुए भी प्रधानफल नहीं है। महाभाष्यकार ने प्रधानफल के निर्णय के लिये कहा है कि जिस क्रिया के बिना जो फल सिद्ध न हो सकता हो उस क्रिया का वही फल प्रधान फल है। यज्ञ-फल यज्ञ-क्रिया से ही संभव है। अतः वही उस क्रिया का मुख्य फल है। दक्षिणा और वेतन तो यज्ञ-क्रिया के बिना भी अन्य तरह से उपलब्ध हो सकते हैं। अतः वे यज्ञ-क्रिया के प्रधान फल नहीं हो सकते :

नचान्तरेण यजिं यजिफलं वपिं वा वपिफलं लभन्ते (लभते)। याजकाः पुनरन्तरेणापि यजिं गा लभन्ते भृतकाश्च पादिकमिति।[१६]

यह अभिप्राय कर्तृ-अभिप्राय-क्रियाफल से निकलता है। फलतः संविधाता की दृष्टि से आत्मनेपद (यजते) और दक्षिणा-लुब्ध याजकों की दृष्टि से परस्मैपद (यजन्ति) का प्रयोग उपपन्न होता है।

संविधान में आत्मनेपद मानने पर भी जहां स्वामी और भृत्य दोनों मिल कर एक ही व्यापार कर रहे हैं वहां संविधान के आधार पर आत्मनेपद आदि का निर्णय कैसे संभव है? क्योंकि स्वामीसाध्य व्यापार सामग्री संघटन (संविधान) रूप होगा और भृत्य साध्य व्यापार प्रधान क्रिया रूप होगा इसलिये एक धातु से भिन्न व्यापार का उद्‌बोध न हो सकेगा। साथ ही स्वामी (संविधाता) की दृष्टि से आत्मनेपद किया जाय अथवा भृत्य की दृष्टि से परस्मैपद यह संशय बना रहेगा। यह मान भी लिया जाय कि एक धातु के कई अर्थ संभव हैं और यह भी मान लिया जाय कि संविधान के अर्थ में पच् से आत्मनेपद किया जाय और विक्लित्ति आदि संस्कार अर्थ में उससे परस्मैपद किया जाय फिर भी एक ही प्रयोग में विरुद्ध दो लकारों की उत्पत्ति ठीक से न हो सकेगी, भर्तृहरि ने इसका समाधान अध्यारोप के द्वारा किया है। स्वामीगत धर्म का भृत्य में आरोप किया जाता है। साहचर्य के सहारे ऐसा संभव है। आरोप से दास स्वामी के तुल्य हो जाता है। फलतः दो स्वामी के कर्तृत्व होने पर संविधान के अर्थ में पच् से आत्मनेपद होगा। "स्वामिदासौ पचेते"।

इस तरह का आरोप, भर्तृहरि के अनुसार, अन्यत्र भी देखा जाता है। जैसे, प्लक्ष शब्द के साहचर्य से न्यग्रोध में प्लक्षता मान ली जाती है। तभी एक दूसरे की अपेक्षा में द्वन्द्व में उनमें द्विवचन का व्यवहार (प्लक्षन्यग्रोधौ) होता है। सानिध्य के कारण अन्य में अन्य का आरोप लोक और वेद दोनों में देखा जाता है। "पुरोडाशैः प्रचरन्ति" इसमें यद्यपि शब्दतः पुरोडाश बहुत्व अर्थ में व्यवहृत है परन्तु एक पुरोडाश के प्रसंग में भी उपर्युक्त वाक्य कहा जाता है और सहचरित पुरोडाश-भागों में बहुत्व के आरोप से ऐसा संभव हो पाता है। इसी तरह लोक में "छत्रिणो यान्ति" जैसे प्रयोग संप्रति छत्रिसंयोग न होने पर भी पहले के देखे छत्रसंबंध के आधार पर ठीक मान लिये जाते हैं।

कुछ लोगों के अनुसार क्रियामात्र की विवक्षा में यहां परस्मैपद-प्रयोग भी

---

१६. महाभाष्य १।३।७२

उचित है "स्वामिदासौ पचतः" ।[१७]

महाभाष्यकार ने एक स्थान पर कहा है कि एकान्त में निष्क्रिय रूप में चुपचाप बैठे व्यक्ति के लिये कभी-कभी कहा जाता है—

"पंचभिः हलैः कृषति" (पांच हलों से जोतवा रहा है, शब्दतः, पांच हलों से जोत रहा है) ।

इस वाक्य में कृषति शब्द उपयुक्त नहीं है । चुपचाप एकान्त में बैठा व्यक्ति एक साथ पांच हल नहीं चला सकता । अतः यहां अभिप्रायः है कि उसके पांच हल चलते हैं, वह पांच हलों से खेती करवाता है । और यदि यह अभिप्राय है तो कृषति के स्थान पर "कर्षयति" कहना चाहिए और यहां संविधान-अर्थ होने के कारण आत्मनेपद भी होना चाहिए । जहां तक णिच् का (कर्षयति) का प्रश्न है, महाभाष्यकार ने यह समाधान किया है कि कृष केवल जोतना या विलेखन ही नहीं है, इसका अर्थ जोतवाना, विलेखन करवाना (प्रतिविधान) भी है । धातु के अनेक अर्थ होने के कारण कृष का अर्थ प्रयोजक व्यापार भी हो सकता है । उपपद के साहचर्य से धातु से ही प्रयोजक व्यापार के व्यक्त हो जाने के कारण णिच् नहीं हुआ है । जहां तक आत्मनेपद का प्रश्न है वह भी, भर्तृहरि के अनुसार, जटिल नहीं है । **विभाषोपपदेन प्रतीयमाने,** १।३।७७—इस सूत्र में प्राप्तविभाषा पक्ष मानने पर कृषति में आत्मनेपद का अभाव संभव है :

अत्र तूपपदेनायमर्थभेदः प्रतीयते ।
प्राप्ते विभाषा क्रियते तस्मान्नास्त्यात्मनेपदम् ।।[१८]

पाणिनि ने जितना आत्मनेपद पर विचार किया है उतना परस्मैपद पर नहीं । उनका शेष में परस्मैपद का विधान (**शेषात् कर्तरि परस्मैपदम् १।३।७८**) इतना व्यापक है कि विचार का अवकाश भी नहीं रह जाता । अतः भर्तृहरि ने भी आत्मनेपद सम्बन्धी मान्यताओं का जैसे विश्लेषण किया है वैसे परस्मैपद सम्बन्धी मान्यताओं का नहीं किया है ।

आत्मनेपद और परस्मैपद के लिये कभी आत्मनेभाष और परस्मैभाष शब्द भी प्रचलित थे । कात्यायन ने इन दोनों शब्दों का उल्लेख किया है—**आत्मनेभाषपरस्मैभाषयोरुपसंख्यानम्** ।[१९] पाणिनि को भी ये शब्द ज्ञात थे ऐसा उनके 'वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः' ६।३।७ सूत्र से जान पड़ता है । परन्तु कैयट ने टिप्पणी दी है कि आत्मनेभाष और परस्मैभाष शब्द किसी व्याकरण में पारिभाषिक रूप में नहीं पढ़े गये हैं परन्तु इन शब्दों का व्यवहार होता आया है । आत्मनेपदी धातुओं को वैयाकरण आत्मनेभाष शब्द से और परस्मैपदी धातुओं को परस्मैभाष शब्द से व्यवहृत

---

१७. वाक्यपदीय ३, उपग्रहसमुद्देश १९-२३.
१८. वही, उपग्रह समुद्देश २७.
१९. वार्तिक, ६।३।७.

करते हैं।[२०] कातंत्रपरिशिष्ट ६।१०७ में भी उपर्युक्त बात की पुष्टि की गई है :—

**परस्मैपदे भाषा उक्तिरस्य इति परस्मैभाषः। एवामात्मनेभाषः।
पदशब्दलोपो निपातनात्। धातुविशेषाणाभिमौ व्यपदेशौ।[२१]**

सुषेण ने पाणिनि और सर्ववर्मा में इस संबंध में कुछ भेद दर्शाते हुए निम्नलिखित कारिकाएँ लिखी हैं :

**परस्मैपद्यते यस्मात तत् परस्मैपदं स्मृतम्।
आत्मनेपद्यते यस्मात् तदेवात्रात्मनेपदम्॥
इत्थमन्वर्थसंज्ञाया विधानेनैव लभ्यते।
मतं हि पाणिनेरेव सम्मतं सर्ववर्मणः॥
नैवमन्वर्थसंज्ञायाः प्रायो वृत्तिरिहेष्यते।
अतो न पाणिनेः सूत्रं सम्मतं सर्ववर्मणः॥[२२]**

अस्तु, उपग्रह शब्द आत्मनेपद और परस्मैपद के अर्थ में रूढ़ सा हो गया था। अष्टाध्यायी में उपग्रह शब्द का व्यवहार न होने के कारण उसका व्यवहार ही एक तरह से बन्द हो गया परन्तु भर्तृहरि ने आख्यातार्थ के विवेचन में उपग्रह की मीमांसा करना उचित समझा।

पुरुष विचार

उपग्रह की तरह पुरुष भी पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों का पारिभाषिक शब्द है :

यः कर्तृकर्मविशेषणभूतः सः पुरुषः इति पूर्वाचार्याः प्राहुः।[१]

पुरुष शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग निरुक्त में मिलता है :

तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिः नाम विभक्तिभिः युज्यन्ते प्रथम पुरुषैश्चाख्यातस्य। अथ प्रत्यक्षकृता मध्यपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुष योगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना।[२]

काशकृत्स्न सूत्र में भी पारिभाषिक पुरुष शब्द का व्यवहार हुआ था। जैसे—

धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति च तदाख्यातम्।[३]

---

२०. महाभाष्यप्रदीप ६।३।७

२१. टेकनिकल टर्म्स एण्ड टेकनिक आव संस्कृत ग्रामर में उद्धृत, पृष्ठ १०३.

२२. कातंत्र व्याकरण ३।१।७६.

१. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश १

२. निरुक्त ७।२

३. इसे काशकृत्स्न के सूत्र होने में वृषभ प्रमाण हैं, द्रष्टव्य वाक्यपदीय टीका १।३६

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में पुरुष शब्द का व्यवहार पारिभाषिक अर्थ में नहीं किया है। परन्तु कात्यायन और महाभाष्यकार ने पारिभाषिक पुरुष शब्द का व्यवहार किया है, जैसे—

> **"परस्मैपदसंज्ञा पुरुषसंज्ञा"**—वार्तिक, १।४।१
> **न निष्ठा परस्यानुप्रयोगेण पुरुषोपग्रहौ विशेषितौ स्याताम्"**—महाभाष्य ३।१।४०

पाणिनि ने पारिभाषिक पुरुष शब्द के स्थान पर प्रथम, मध्यम और उत्तम शब्द का प्रयोग किया है। ये शब्द भी पारिभाषिक हैं, और वस्तुतः ये भी पूर्वाचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं :

प्रथममध्यमेत्यादि महासंज्ञाकरणं तु प्राचामनुरोधेन।[४]

आख्यातगम्य पुरुषशब्द से उसके अर्थ प्रत्यक्त्व और पराक्त्व गृहीत होते हैं। प्रत्यक् स्वगंत को कहते हैं और पराग्भाव संबोध्यगत को कहते हैं। त्वं पचसि, अहं पचामि त्वं-पाठ्यसे अहं पाठ्ये जैसे वाक्यों में मध्यम और उत्तम पुरुष का प्रत्यक्त्व और पराक्त्वरूप कर्तृकर्म विशेषण के रूप में, शब्द शक्ति के बल से, अवगत होता है। इसलिए कर्त्ता आदि साधनों का विशेषण पुरुष माना जाता है। कर्तृकर्म के विशेषण होने के कारण ही पुरुष भाव का विषय नहीं हो पाता और इसीलिए भाव में मध्यम और उत्तम पुरुष के प्रयोग नहीं होते। केवल शेष के कारण प्रथम पुरुष का ही व्यवहार होता है। स्वगतत्व और परगतत्व शब्दान्तर के प्रयोग से जाने जाते हैं, जैसे, "आस्यते मया," "शय्यते त्वया" आदि में।

वाक्यपदीयकार ने "पुरुष" का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके मत में पुरुष-व्यवस्था सत्-असत् चैतन्याश्रित है। उनके अनुसार प्रत्यङ् पद का भाव अन्तर्यामी जीवात्मा है। वह प्रतिदेह में अवस्थित है। उसका भाव (अस्तित्व) पुरुष से बाच्य है। इसलिए प्रयोक्ता की अहकारास्पद चेतनता प्रत्यक्त्व है। आख्यात से जब क्रिया का अहंकार समानाश्रय रूप (मैं-अहं की प्रतीति) अभिव्यक्त होता है, वह उत्तम पुरुष का विषय होता है। इसलिये पुरुष अहंकाराश्रय कर्त्ता का और तिङन्त से वाच्य कर्म का भी उपाधिभूत है। पचे, पचामि जैसे क्रियाशब्दों से कर्त्ता का उपाधिभूत उत्तम पुरुष अवगत होता है। कर्म-उपाधिभूत आत्मनेपद से ही अभिव्यक्त होता है। जैसे पच्ये से। कर्म में आत्मनेपद का विधान होता है। मध्यम पुरुष परत्व है। वह कर्तृकर्मविशेषणभूत है, प्रश्न आदि विषय के उपयुक्त है। पचसि, पचसे जैसे शब्दों में वह कर्तृउपाधि है और पचसे जैसे आत्मनेपद से कार्मोपाधिरूप में व्यक्त होता है। इस तरह उत्तम और मध्यम पुरुष शब्द विशेष से लक्षित होते हैं और अपने-अपने अर्थ को प्रकट करते हैं, अर्थात् चैतन्ययुक्त कर्त्ता

---

४. महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।४।१०१

ग्रौर कर्म का बोध कराते हैं।

यदि चैतन्य के ग्राधार पर मध्यम ग्रौर उत्तम पुरुष की व्यवस्था की जाएगी तो ग्रचेतन पदार्थों के साथ मध्यम ग्रौर उत्तम पुरुष का योग कैसे संभव होगा, "श्रृणोत ग्रावाण:" जैसे प्रयोग कैसे उपपन्न माने जायेंगे। इस प्रश्न के उत्तर में भर्तृ-हरि की मान्यता है कि ग्रचेतन पदार्थों के साथ मध्यम ग्रौर उत्तम पुरुष का प्रयोग ग्रध्यारोपित चैतन्य के ग्राधार पर हो जाएगा। भर्तृहरि के ग्रनुसार मध्यम ग्रौर उत्तम पुरुष से सत् ग्रथवा ग्रसत् चैतन्य की ग्रभिव्यक्ति होती है। ग्रसत् चैतन्य का ग्रभिप्राय, कुछ लोगों के ग्रनुसार, ग्रनभिव्यक्त चैतन्य से है। हेलाराज के ग्रनुसार व्याकरणदर्शन शब्द से ग्रवगम्य अर्थ का ही ग्रन्वाख्यान करता है। शाब्द चैतन्य सर्वत्र है। किसी पदान्तर के सम्बन्ध से यदि चैतन्य की ग्रभिव्यक्ति न हो रही हो तो वहां ग्रध्यारोपित चैतन्य की कल्पना कर ली जानी चाहिए। फलतः मध्यम ग्रौर उत्तम पुरुष चैतन्य के प्रतीक हैं।

परन्तु भर्तृहरि के मत में प्रथम पुरुष का सम्बन्ध चैतन्य से नहीं है। ग्रध्या-रोपित चैतन्य भी उनका विषय नहीं है। प्रथम पुरुष का विषय ग्रचेतन है। प्रथम पुरुष का शेष विधान (शेषे प्रथमः १।४।१०८) होने के कारण, हेलाराज के ग्रनुसार, उसके हिस्से ग्रचेतन ही पड़ा है। इसलिए पतति कूलं (तट गिरता है), शुष्यन्ति व्रीहयः (धान सूखते हैं) जैसे ग्रचेतन पदार्थ ही प्रथम पुरुष के विषय हैं।

सदसद्वापि चैतन्यमेताभ्यामवगम्यते।
चैतन्यभागे प्रथमः पुरुषो न तु वर्तते।।[५]

हेलाराज के अनुसार "चैतन्यभाग" शब्द में भाग ग्रहण से यह जान पड़ता है कि समानाधिकरण वाले (तुल्यकारक वाले) युष्मद् ग्रस्मद् से ग्रतिरिक्त भी चेतन प्रथम पुरुष का विषय हो सकता है जैसे, भवान् पचति में। परन्तु यहां चैतन्य पदान्तर गम्य है। इसलिए यहां प्रथम पुरुष चैतन्यांश के संस्पर्श से साधनसाध्य भाव मात्र जनाता है। बुध्यते, जानाति जैसी क्रियाग्रों में प्रथम पुरुष का चैतन्य से संबन्ध स्पष्ट जान पड़ता है, जानना ग्रौर समझना कर्त्ता में चेतनता की सत्ता से ही संभव है। परन्तु भर्तृहरि के ग्रनुसार ऐसे स्थलों में भी चैतन्य का व्यापार व्यक्त नहीं होता। ऐसी क्रियाग्रों में धात्वर्थ ही चैतन्य लक्षण वाला है। वह कर्त्ता ग्रौर कर्म का ग्रवच्छेदक है, इसलिए उसके कारण चैतन्य ग्रवगत होता है। प्रथम पुरुष के प्रयोग के कारण यहां चैतन्य नहीं झलकता। क्योंकि ग्रज्ञानार्थ धातुग्रों के साथ प्रथम पुरुष के प्रयोग होने से सर्वदा निश्चित रूप में चैतन्य की प्रतीति नहीं होती। जैसे, "काष्ठानि पचन्ति" इस वाक्य में प्रथम पुरुष से किसी प्रकार का चैतन्य नहीं झल-कता। जिस तरह से युष्मद् ग्रौर ग्रस्मद् ग्रर्थ के लिए मध्यम ग्रौर उत्तम के विधान से चैतन्य-उपाधि वाले कर्त्ता-कर्म का बोध होता है, वैसा प्रथम पुरुष से नहीं होता।

---

५. वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश २.

उसका विधान "शेष" में होने के कारण उसमें चैतन्य-उपाधि-नियम का अभाव रहता है। युष्मद् अर्थ में विहित मध्यम पुरुष सदा निश्चित रूप में चैतन्य का द्योतक होता है, क्योंकि युष्मद् का चेतन के लिए ही प्रयोग होता है।

इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार का मत कुछ भिन्न जान पड़ता है। उन्होंने प्रवृत्ति के आधार पर कूल में भी चेतनता मानी है। कूल में दरारें पड़ती हैं। उसके लोष्ठ विशीर्ण होते हैं और वह एक देश से अन्य देश (स्थान) पर गिर कर चला जाता है। ये व्यापार, पतंजलि के अनुसार, कूल में प्रवृत्तिरूप इच्छा के द्योतक हैं। उन्होंने वार्तिककार के सर्व-चैतन्य मत का (**सर्वस्य वा चेतनावत्वात्**—वार्तिक ३।१।७) समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नलिखित वाक्य उदाहरण के रूप में लिखे हैं :--

कंसकाः सर्पन्ति,
शिरीषोऽस्य स्वपिति,
सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति,
अयस्कान्तमयः संक्रामति,
ऋषिः (वेदः) पठति।[६]

इन सब उदाहरणों में अचेतन को चेतन के रूप में व्यक्त किया गया है। और सबके साथ प्रथम पुरुष का योग है। कैयट ने इस प्रसंग में यह विचार प्रकट किया है कि आत्मा-अद्वैतदर्शन के अनुसार सर्वत्र चैतन्य है। वेद सभी भागों में चैतन्य का प्रतिपादन करते हैं। पदार्थों की उपलब्धि विचित्र होती है। इसलिए कहीं चैतन्य अवगत होता है और कहीं नहीं जान पड़ता है।[६] भर्तृहरि प्रथम पुरुष के सम्बन्ध में आरोपित चैतन्य मानने के पक्ष में भी नहीं हैं। परन्तु पतंजलि ने अचेतन में चेतन के उपचार का उल्लेख किया है :—

अचेतनेष्वपि चेतनावदुपचारो दृश्यते। तद् यथा स्रस्तान्यस्या बन्धनानि, स्रस्यन्ते चास्या बन्धनानीति।[७]

इन उदाहरणों में भी प्रथम पुरुष है। लोक में भी प्रथम पुरुष का चैतन्य के रूप में अभिव्यक्ति देखी जाती है।

अचेतन की अपेक्षा तटस्थ के रूप में प्रथम पुरुष की अभिव्यक्ति कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

कुछ लोग उत्तम पुरुष को मध्यम और प्रथम पुरुष से विशेष मानते हैं। क्योंकि उत्तमपुरुष, उनके मत में सभी पुरुष का विश्रान्ति धाम है। शैवागम के अनुसार इदं से बोध्य सभी वस्तु का अहम् में पर्यवसान होता है। देखा भी जाता है कि सः पचति, त्वं पचसि, अहं पचामि इन सब की विवक्षा में वयमेव पचामः प्रयोग उपलब्ध

---

६. महाभाष्यप्रदीप ३।१।७
७. महाभारत ४।१ २७

होता है। अर्थात् सभी पुरुष का उत्तम पुरुष में पर्यवसान हो जाता है। परन्तु त्वं, उनके मत में, निःशेष रूप में सभी पुरुषों का आश्रय है। उत्तम, मध्यम, प्रथम पुरुष कल्पित है परन्तु चिद्रूप का आश्रय त्वं अकल्पित है :

> **व्याकरणप्रक्रियया उत्तमपुरुषः अस्मदर्थे यः सः युष्मच्छेषाभ्यां मध्यमप्रथम-पुरुषाभ्यां विशेषितो संजातविशेषोऽस्ति । तस्य च तटस्थपरामृश्यात् प्रथमपुरुषाद् युष्मदर्थोन्मुखाच्च मध्यमपुरुषादयं विशेषः यदशेषपुरुषाश्रयत्वं तद् विश्रान्तिधामत्वम् । सर्वस्येदन्ता विमृश्यअहन्तायामेव विश्रान्तेः । स पचति, त्वं पचसि, अहं पचामीति विवक्षायां वयमेव पचाम इत्यादौ प्रयोगे अयमेवाशय इत्यास्ताम् । त्वं तु विनिःशेषाणां प्रथममध्यमोत्तम पुरुषाणां कल्पितानां अकल्पित चिद्रूपाश्रयः । यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—ग्राह्यग्राहकताभिन्नावर्थौ भातः प्रमातरि ।[८]**

कुछ लोगों के अनुसार मध्यम पुरुष में संबोधन का अर्थ प्रतीत होता है, विशेषकर जहां प्रैष (प्रेरणा का भाव) विवक्षित रहता है। जैसे गच्छ भुंक्ष्व आदि में। जो लोग संबोधन को केवल आभिमुख्यकरण रूप में समझते हैं उनके मत में प्रैष के अभाव में भी मध्यम पुरुष में संबोधन का भाव रहता है। "त्वं पचसि" में, इस मत के अनुसार, संबोधन है। परन्तु कुछ लोग, जैसा कि भर्तृहरि ने उल्लेख किया है, इस मत को प्रश्रय नहीं देते। "त्वं पचसि" में संबोधन की प्रतीति नहीं होती। उनके अनुसार सिद्ध के अभिमुखीकरण को संबोधन कहते हैं। साध्य का, विधीयमान का संबोधन नहीं होता। क्योंकि जिसका स्वरूप अभी नियत नहीं है, जो अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं हुआ है वह अभिमुखीभाव के योग्य नहीं माना जाता। "इन्द्रशत्रु-र्वर्धस्व", "राजा भव" जैसे वाक्यों में इन्द्रशत्रुत्व और राजत्व विधीयमान हैं, इसलिये प्रैष के होते हुए भी इनमें संबोधन विभक्ति नहीं है।[९] युष्मद् के साथ प्रथमा संबोधन विभक्ति मानने के पक्ष में कुछ स्वर सम्बन्धी विशेषताएं हैं। प्रथमान्त युष्मद् का आदि उदात्त होना देखा जाता है जब कि वह वाक्य के आदि में रहता है अर्थात् किसी पद से परे जब नहीं होता है। ऐसा उसे संबोधन मान कर ही संभव है। जैसे,

> **त्व ने इन्द्र वाजयुः (ऋग्वेद, ७।३१।३)**
> **त्वमेग्ने द्युभिस्त्वमोशुशुक्षणि (ऋग्वेद २।१।१)**

परन्तु किसी पद के परे रहने पर उसे आमंत्रित (संबोधन) मान कर अनुदात्त होता है। जैसे, "देवीरापः शुद्धा यूयम्"।

भट्टोजि दीक्षित के अनुसार आदि उदात्त और निघात वाली उक्ति सर्वत्र ठीक नहीं देखी जाती। अनेक ऐसे मंत्र हैं जिनमें युष्मद् के आदि में होने पर भी वह अन्तोदात्त है और पद के उत्तर में होने पर भी अनुदात्तन हीं है :—

---

८. शिवस्तोत्रावली, क्षेमराजकृत विवृति, भाग १, पृष्ठ १४.

९. वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश ४,५.

दृश्यते हि पादादावपि अन्तोदात्तत्वं पदात् परत्वेऽप्यनिघातश्च । तद्यथा युवं ह गर्भं जगतीषु धत्थः । यूयं यात स्वस्तिभिः । ह ये देवा यूयमिदापयः स्थः इति ।[10]

भट्टोजि दीक्षित संबोधन को प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत मानते हैं (**संबोधनस्य प्रातिपदिकार्थ एवान्तर्भावात्**) । उनके मत में अलिंग और सम्बोधन—एक विषय युष्मद् का अर्थ है और सलिंग तथा सम्बोध्य और असंबोध्यसाधारण भवत् का अर्थ है । फलतः "भवान् करोति" मध्यम पुरुष का विषय नहीं हो पाता है ।

अलिंगः सम्बोधनैकविषयश्च युष्मदर्थः । सलिंगः सम्बोध्यासम्बोध्यसाधारणश्च भवदर्थः—शब्द कौस्तुभ—१।४।१०५

अत्वं त्वं भवति त्वद्भवति—इस वाक्य में मध्यम प्रकृति विकृति की अभेद-विवक्षा में च्वि प्रत्यय हुआ है । यहां प्रकृति के आश्रय से प्रथम पुरुष और विकृति के आश्रय से मध्यम की प्राप्ति है । परन्तु मध्यम विकृति कर्ता नहीं है । प्रकृति ही विकारारूपापत्ति में कर्ता है । अतः प्रथम पुरुष ही होता है । गौणमुख्यन्याय के आधार पर ऐसा संभव है । "संघी भवन्ति ब्राह्मणाः" इस वाक्य में बहुवचन इस बात का प्रमाण है कि च्व्यन्त में प्रकृति का ही कर्तृत्व माना जाता है :

यदेग्ने स्यामहं त्वं त्वं वो घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ।।[11]

पुरुष व्यत्यय

महाभाष्यकार ने पुरुष व्यत्यय के उदाहरण में "अधा स वीरैः दशभिर्वियूयाः" कहा है । यहां वियूयात् के स्थान पर वियूयाः पढ़ा गया है । पुरुष व्यत्यय का एक उदाहरण मम्मट ने यों दिया है—

रे रे चञ्चल लोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिरप्रेमाणं महिमानमेणनयना-मालोक्य किं नृत्यसि । किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमामेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारांनिधौ ।।[12]

इस श्लोक में मन्यसे के बदले मन्ये और विहरिष्ये के स्थान पर विहरिष्यसे कहा गया है अर्थात् मध्यम के स्थान पर उत्तम पुरुष का और उत्तम के स्थान पर मध्यम पुरुष का व्यवहार कवि ने किया है और प्रहास के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए

---

१०. शब्दकौस्तुभ, १।४।१०५.

११. ऋग्वेद ८।४४।२३ । इस मंत्र में अहं त्वं स्याम्, त्वं वा अहं स्याः इस रूप में प्रकृत्याश्रय ही पुरुष है ।

१२. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १६१ त्रिवेन्द्र म संस्करण.

किया है। परिहास की अभिव्यक्ति के लिये पुरुष व्यत्यय पाणिनि द्वारा समर्पित है।[१३] और भर्तृहरि ने भी पुरुष व्यत्यय का समर्थन किया है—

गुणप्रधानताभेदः पुरुषादिविपर्ययः ।
निर्दिष्टस्यान्यथा शास्त्रे नित्यत्वान्न विरुध्यते ।।[१४]

संख्या विचार

संख्या आख्यातार्थ का भी अर्थ है और साधन का भी अर्थ है। संख्या शब्द से एकत्व, द्वित्व, बहुत्व आदि का ग्रहण होता है। जिसके द्वारा संख्यान अथवा गणना संभव है। वह संख्या है (**संख्यायतेऽनया संख्येति**—महाभाष्य १।१।२२) वचन संख्या है। वचन और संख्या पूर्वाचार्यों के पारिभाषक शब्द हैं। एकवचन और बहुवचन शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम शतपथ ब्राह्मण में मिलता है :

एक वचनेन बहुवचनं व्ययायाम ।[१]

द्विवचन शब्द का उल्लेख निरुक्त में है—**अपि वा भेदश्च पशोश्च सात्वं द्विवचनं स्यात् ।**[२]

पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के आधार पर संख्या के अर्थ में एकवचन और बहुवचन का व्यवहार किया है। ऐसे संख्या के भी पारिभाषिक रूप का 'बहुगणवतुडति संख्या' १।१।२३ के रूप में उल्लेख किया है।

वाक्यपदीय में संख्या समुद्देश में संख्या के साधन वाले रूप का ही अधिक विवेचन है। परन्तु भर्तृहरि के अनुसार संख्या आख्यातार्थ भी है यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। यद्यपि क्रिया साध्यस्वभाव वाली होने के कारण निवृत्तभेद मानी जाती है, उसमें कोई भेद नहीं होता फिर भी साधन के आधारभूत द्रव्य के एकत्व, द्वित्व आदि के आधार पर क्रिया में भी एकत्व द्वित्व आदि मान लिए जाते हैं। साधन भेद से कर्त्ता-कर्म के अभिधायक लकार में द्विवचन और बहुवचन होते हैं। फलतः पचतः, पचन्ति, पच्यते, पच्यन्ते जैसे विशिष्ट क्रियारूप सिद्ध होते हैं। इन पदों से दो या दो से अधिक साधनों द्वारा क्रिया के साध्यत्व की प्रतीति होती है। साधन के आधारभूत द्रव्यगत संख्या से क्रिया का योग तो होता है परन्तु द्रव्यगत लिंग के साथ क्रिया का योग नहीं होता। क्योंकि आख्यात से लिंग-विशेष की प्रतीति नहीं होती। शब्दों का अपने अर्थ का प्रत्यायन अथवा उनके अर्थ की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होती है, युक्तिगम्य नहीं होती है।

---

१३. प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च १।४।१०६.

१४. वाक्यपदीय ३, पुरुष समुद्देश ७.

१. शतपथ ब्राह्मण १३।५।१।१८.

२. निरुक्त ६।१६।३.

एकत्वेऽपि क्रियाख्याते साधनाश्रयसंख्यया ।
भिद्यते न तु लिङ्गाख्यो भेदस्तत्र तदाश्रितः ।।[3]

पुण्यराज ने भी आख्यातवाच्य क्रिया में सम्बन्धभेद से भेद की प्रतीति का समर्थन किया है :

यथाख्यातेषु धातूपात्तायाः क्रियायाः प्रत्ययवाच्य-कर्तृभेदे सति सम्बन्धात् क्रियाया अपि भेदः प्रतीयते पचतः पचन्तीति ।[4]

इसी बात को हरदत्त ने भी यों व्यक्त किया है :

कर्तृभेदेपि नावश्यं धात्वर्थो भिद्यते यतः ।
एकामेव क्रियाव्यक्तिं बहुषूत्पादयत्स्वपि ।।
दृष्टमेते पचन्तीति कर्मभेदोपि तादृशः ।
पश्यैकस्यां क्रियाव्यक्तौ पच्यन्ते तण्डुला इति ।।
न कालभेदे शब्दैक्यमास्यासिष्यत आस्यते ।
पाकौ पाका इति त्वत्र शब्दैक्यादेकशेषता ।।[5]

इसके स्वारस्य से, साधनगत संख्या का क्रिया में आरोप होने के कारण तिङर्थ संख्या का प्रकृत्यर्थ में अन्वय होता है। इसका एक फल यह होता है कि भाव में एकवचन ही होता है, द्विवचन और बहुवचन नहीं होते। जैसे 'आस्यते भवता, आस्यते भवद्भ्याम्, आस्यते भवद्भिः । अवश्य ही पाकौ पाकाः जैसे स्थलों में, जहां घञ् से साधन का अभिधान नहीं होता, भाव में द्विवचन और बहुवचन देखे जाते हैं, एकपदवाच्यसाधनसंख्याश्रय पक्ष में ऐसे स्थलों में भी द्विवचन और बहुवचन नहीं होने चाहिए। इसका उत्तर यह है कि पाकौ पाका आदि में आश्रय भेद से द्विवचन और बहुवचन होते हैं। गुड़, तिल, ओदन आदि आश्रयभेद से आश्रित भी पाक भिन्न-भिन्न मान लिया जाता है। घञ् आदि से सत्वरूप अर्थ का अभिधान होता है। इस लिए द्रव्यधर्मसंख्याभेद के आश्रय से वचनभेद होना अस्वाभाविक नहीं है।

जहाँ पर प्रकारान्तर से तिङन्त वाच्य भाव में संख्या की प्रतीति होती है वहां भाव में भी बहुवचन देखा जाता है, जैसे, उष्ट्रासिका आस्यन्ते, हतशायिकाः शय्यन्ते। यहां पर उष्ट्र आश्रय हैं। उनके भेद से उनके अनेक प्रकार के आसन भी भिन्न-भिन्न हैं। उसके सामानाधिकरण्य से आख्यात वाच्य भाव भी भिन्न भिन्न जान पड़ता है। भाव भेद से आस्यन्ते में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। इव शब्द के प्रयोग के बिना भी इस वाक्य में इव के अर्थ की प्रतीति होती है। इसलिये "उष्ट्रासिका आस्यन्ते" इस वाक्य से "जिस तरह ऊटों के अनेक प्रकार के आसन होते हैं वैसे ही देवदत्त आदि के द्वारा किए जा रहे हैं" इस अर्थ की प्रतीति होती है। इसी तरह "हतशायिकाः शय्यन्ते" इस वाक्य में हत व्यक्तियों की शयन-क्रिया उत्तान, अवतान, विकीर्णकेश,

---

३. वाक्यपदीय ३, उपग्रह समुद्देश १६.
४. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।८५ टीका.
५. पदमंजरी ३।१।६७.

इधर उधर सरके हुए वस्त्र आदि में रूप भिन्न भिन्न है । इस कारण आख्यात वाच्य भाव में भी स्वरूपगतभेद अवभासित होता है, फलतः बहुवचन प्रयुक्त है। आहतों की शयन क्रिया की तरह देवदत्त आदि के द्वारा भी अनेक प्रकार की शयन-क्रिया की जाती है यह अभिप्राय है । "भवद्भिः आस्यते" इस वाक्य में आश्रय भेद से आश्रित भेद तो संभव है परन्तु पूर्व वाक्य में उष्ट्र और देवदत्त के आसन में साम्य दिखाना जैसा प्रयोजन था उस तरह का कोई प्रयोजन इस वाक्य में नहीं है । प्रयोजन के अभाव के कारण भावभेद भी नहीं माना जाता है । अतः इस वाक्य में एक वचन ही क्रिया में प्रयुक्त है। इसी आधार पर" ताम्रः पलाशेषु बभूव रागः" इस वाक्य में भी पलाशरूप आश्रय के भिन्न भिन्न होते हुए भी राग शब्द में एक वचन का ही प्रयोग कवि ने किया है । वस्तुतः सर्वत्र आश्रय के भेद से आश्रित में भेद की प्रतीति नहीं होती । घटान् पचति जैसे वाक्यों में अभिन्न पाक का ही बोध होता है ।

कुछ लोग "उष्ट्रासिका आस्यन्ते" इस वाक्य में कर्म में लकार मानते हैं । क्योंकि उष्ट्रासिका लक्षण भाव कर्म है । जैसे गोदोहः सुप्यते में कर्म है । जिस तरह गोदोह (गाय के दुहने का काल) का स्वाप में अन्वय होता है उसी तरह उष्ट्रासिका और हतशायिका का क्रमशः आसन और शयन में परिच्छेदक के रूप में अन्वय होता है । केवल अन्तर यह है कि गोदोह में परिच्छेदकत्व काल-उपाधिक है जबकि आसिका आदि में सादृश्य रूप में हैं । इस मत के अनुसार आसिका और शायिका शब्द उपर्युक्त वाक्यों में प्रथमान्त बहुवचन हैं । पूर्व मत के अनुसार वे द्वितीयान्त बहुवचन हैं । क्योंकि क्रिया-विशेषण के रूप में उनमें कर्मत्व है । यह कथन यहां उपयुक्त न होगा कि क्रिया-विशेषण होने के कारण उन शब्दों में नपुंसक लिंग और एक वचन होना चाहिये क्योंकि 'स्त्रियां क्तिन्' ३।३।९४ सूत्र के अनुसार यहां स्त्रीत्व का अवधारण है । अतः सामान्ये नपुंसकम् (वार्तिक) की प्राप्ति यहां न होगी । और बहुत्व के बोध के कारण, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, एक वचन की प्राप्ति नहीं है ।

भट्टोजि दीक्षित ने भाव में एक वचन की उपपत्ति एक दूसरे प्रकार से की है। उनके मत में सूत्रकार ने तिङ् और तिङ्निष्ठ संख्या का भी संकेत कर्तृकर्मणी शब्द से किया है । कर्ता और कर्म का द्वित्व और बहुत्व द्विवचन और बहुवचन कहे जाते हैं । भाव में लकार असत्वावस्थापन्न धात्वर्थभूत क्रिया का ही अभिधान करता है अथवा द्योतन करता है । इसलिये वहां प्रथम पुरुष—एकवचन ही होता है। मध्यम और उत्तम पुरुष नहीं होते । क्योंकि युष्मदस्मद् का उसके साथ सामानाधिकरण्य नहीं है । द्वित्व और बहुत्व की प्रतीति न होने से द्विवचन और बहुवचन भी नहीं होते । एकवचन औत्सर्गिक होता है ।[६]

परन्तु महाभाष्यकार ने भाव में भी ल-विधान में बहुवचन दिखाया है जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है । इससे आख्यात वाच्य भाव असत्वावस्थापन्न होता है इस सिद्धान्त में बाधा न पड़ेगी क्योंकि असत्व-अवस्था का अभिप्राय लिंग और कारक

---

६. शब्दकौस्तुभ ३।१।६७

के प्रयोग से है। अतएव पचति भवति, पच्यते भवति, पश्य मृगो धावति इत्यादि वाक्यों में वाक्यार्थभूत क्रिया का क्रियान्तर के साथ कर्ता के रूप में अथवा कर्म के रूप में अन्वित होने में कोई क्षति नहीं मानी जाती है। तिङभिहितभाव का कृदभिहितभाव (घञादि वाच्य) से वैषम्य में बाधा न पड़ेगी। क्योंकि कृद् अभिहितभाव सलिंग होता है और सकल कारकान्वित होता है जबकि तिङ् अभिहितभाव अलिंग होता है और सभी कारकों से सम्बन्ध नहीं रखता। इनके भेद दिखाते हुए महाभाष्यकार ने कहा है कि तिङ् अभिहित भाव का कर्ता के साथ योग होता है किन्तु कृदभिहित का कर्ता के साथ योग नहीं होता। (**तिङभिहितो भावः कर्त्रा संप्रयुज्यते, कृदभिहितः पुनर्न संप्रयुज्यते— महाभाष्य ३।१।६७**)। यद्यपि कृद् अभिहित भाव का भी कर्ता के साथ योग देखा जाता है, जैसे ब्राह्मणानां प्रादुर्भावः, फिर भी एकपदवाच्य कर्ता के साथ उसका योग नहीं देखा जाता। पचति शब्द कहने से जिस तरह कर्ता की अभिव्यक्ति होती है ठीक उसी तरह पाकः शब्द कहने से नहीं होती। उससे केवल शुद्ध भाव का प्रत्यायन होता है। दूसरे शब्दों में, तिङन्तवाच्य भाव सदा कर्तृ-आकांक्ष होता है जबकि कृत् वाच्य सदा वैसा नहीं होता। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि घञादि के द्वारा भाव के सिद्ध रूप का अभिधान होता है इसलिये उस रूप से कर्ता का योग नहीं होता। धातु रूप के द्वारा भाव के साध्यरूप की अभिव्यक्ति होती है इसलिए साध्यरूप में कर्ता के साथ उसका योग होता है। अथवा "पाचक :" जैसे शब्दों में भाव का कर्ता के साथ योग उपलक्षण (गौण) के रूप में होता है जबकि तिङ् के क्षेत्र में पचति जैसे शब्दों में साध्य होने के कारण कर्ता के साथ प्रधान रूप में योग होता है।

सर्वथा क्रिया में संख्या का अन्वय मानना उचित है। महाभाष्यकार के कई वाक्य क्रिया में संख्या की संभावना के पोषक हैं। जैसे, **भवतिः पुनर्वर्तमानकालं चैकत्वं च।**[7] इस वाक्य का एकत्व शब्द स्पष्ट रूप में क्रिया का संख्या के साथ संबंध जोड़ रहा है। इसी तरह, **करोतिः पचादीनां सर्वान् कालान् सर्वान् पुरुषान् सर्वाणि वचनानि अनुवर्तते**[8] —इस वाक्य का सर्वाणि वचनानि शब्द क्रिया में संख्या के समर्थन कर रहे हैं। संख्या का नाम वचन है।

'तद्धितश्चासर्व विभक्तौ' १।१।३८ सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार ने यह लिखा है कि कुछ अव्यय विभक्त्यर्थ प्रधान होते हैं। कुछ क्रिया प्रधान होते हैं। उच्चैः नीचैः ये विभक्त्यर्थ प्रधान हैं। हिरुक्, पृथक् ये क्रियाप्रधान हैं। इनके साथ लिंग और संख्या का योग नहीं होता। परन्तु यहां भाष्यकार का क्रिया के साथ संख्या के अयोग दिखाने का अभिप्राय यह है कि अव्यय वाच्य इनके साथ संख्या का योग नहीं होता।

अतः संख्या का आख्यातार्थत्व उपपन्न होता है।

---

७. महाभाष्य १।३।१
८. वही १।३।१

संख्या द्रव्याश्रित

भर्तृहरि के अनुसार सभी सत्वभावापन्न पदार्थ संख्यावान् कहे जाते हैं। लोक में संख्या का आधार भेदाभेद-विभाग है। संख्या भेद के आधार पर खड़ी है। उसे भेद अपोद्धार लक्षण वाली कहा जा सकता है। क्योंकि एक से परार्ध तक जितनी संख्याएँ हैं वे सब भेद के आधार पर ही अस्तित्व पाती है, "यह वह" (इदं तत्) जैसे सर्वनाम से प्रत्यवमर्श योग्य वस्तुगत भेद होता है। फलतः सभी द्रव्यात्मा (वस्तु) में भेद होता है और उसका व्यवहार एक, दो, बहुत आदि संख्याओं से युक्त रहता है। सुविधा की दृष्टि से एकत्व संख्या का व्यवहार अभेदाश्रय के रूप में होता है और दो, तीन आदि संख्याओं का व्यवहार भेद का प्रतिपादक है। इस तरह सत्वभूत (द्रव्यात्मक) अर्थ का एक अथवा अनेक रूप में भेद संख्याश्रित है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार संख्या एक गुण है और द्रव्याश्रित है। कुछ लोग मानते हैं कि पदार्थ असहाय अवस्था में एक और ससहाय अवस्था में दो बहुत आदि संख्याओं से व्यक्त किया जाता है। सहाय या विरह वस्तु के धर्म नहीं हैं। इसलिये द्रव्य से अतिरिक्तसंख्या लक्षण कोई गुण नहीं है। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं जान पड़ती। क्योंकि ससहाय ज्ञान और दो तीन आदि का ज्ञान समान नहीं है, वह भिन्न भिन्न रूप में जान पड़ता है। अतः ज्ञान-भेद के कारण उनकी एकता नहीं सिद्ध की जा सकती है। साथ ही, ससहाय अवस्था में भी एकत्व का भान होता है, अतः सहायता-रहित होना ही एकत्व नहीं है। कुछ लोग संख्या को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते हैं। संख्या और द्रव्य का भेद तिरोहित रहता है, द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप में संख्या की उपलब्धि नहीं होती, इसलिये संख्या को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानना चाहिये। व्याकरण दर्शन, जैसा कि हेलाराज ने कहा है, वैशेषिकों की तरह पदार्थ विचार में रस नहीं लेता (**अस्माकं तु शब्दप्रमाणकानां पदार्थविचारानादरात् यथायथं पदार्थकल्पना तीर्थिकैः कृताः**)।[९] इसलिये भर्तृहरि का कहना है कि संख्या द्रव्य से अभिन्न हो अथवा व्यतिरिक्त हो, व्यवहार में एक, दो, बहुत आदि शब्दों से भेद की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का कोई न कोई हेतु भूत धर्म होना चाहिये। उसी भेदक धर्म को संख्या नाम से व्यक्त किया जाता है :—

स धर्मो व्यतिरिक्तो वा तेषामात्मैव वा तथा।
भेदहेतुत्वमाश्रित्य सङ्ख्येति व्यपदिश्यते ॥[१०]

संख्या मूर्त और अमूर्त सब का भेदक है (संख्या सर्वस्य भेदिका)।[११] जैसे-दो घट। अनेक आत्मा। दो क्रिया। एक बीता (वितस्ति)। दो हाथ। चार प्रस्थ। पांच पल। संख्या संख्या का भी भेदक है, जैसे, दो बीस, पांच पचास। द्रव्यगत संख्या का रूप, रस आदि में आरोप कर चौबीस गुण कहे जाते हैं। इसी तरह अभाव यद्यपि

---

९. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, संख्यासमुद्देश १
१०. वाक्यपदीय ३, संख्यासमुद्देश २
११. वही, काल समुद्देश २

निरुपाय है फिर भी औपाधिकभेद से चार अभाव कहे जाते हैं। संख्या शब्द पदार्थों के वैलक्षण्य का प्रतिपादक है। एक घट में भी दो तीन आदि के निरास (अलग करना) के रूप में भेद की प्रतीति होती है (**यच्चेषीकान्तं यच्चापरिमाणं तस्य सर्वस्य संख्या भेदमात्रं ब्रवीति-महाभाष्य ५।१।१९**)। महाभाष्यकार का इषीकान्त शब्द परिमाण का उपलक्षण है। जो महत् परिमाण वाले हैं वे भी संख्या से गिने या व्यक्त किये जा सकते हैं जैसे सात पर्वत (सप्त कुलाचलाः)। जो अल्प परिमाण या अपचितपरिमाण वाले हैं वे भी संख्या से भेद्य हैं जैसे तीन परिमाणु (त्रयः परिमाणवः)। अतः सर्वत्र संख्या भेदक के रूप में ग्राह्य है।

गुण द्रव्याश्रित है। स्वतंत्र नहीं है। फिर भी "पटस्य रूपम्" जैसे वाक्यों में वह द्रव्यधर्म से स्वतंत्र रूप में व्यवहृत होता है वैसे ही 'पटस्येदमेकं चित्रं रूपम्' जैसे वाक्यों में शब्द शक्ति के आधार पर संख्या का स्वतंत्र रूप में प्रतिपादन होता है। जहां पर ऐसा संभव नहीं है वहां अध्यारोप से काम चल सकता है। वस्तुतः, भर्तृहरि के अनुसार, अध्यारोप के लिए वस्तु की सत्ता अथवा असत्ता प्रयोजक नहीं होती। अत्यन्त अविद्यमान अर्थ में भी काल्पनिक आरोप देखा जाता है, जैसे समुद्रः कुण्डिका (कुण्डिका में समुद्र का आरोप)। व्याकरण-दर्शन सामान्य में भी सामान्य, विशेष में विशेष, लिंग में लिंग और संख्या में संख्या मानता है।[१२] इसी आधार पर शतं, शते, शतानि आदि व्यवहार होते हैं।

संख्या का स्वरूपगत विवेचन

सभी भावों की सहज संख्या एकत्व है। एकत्व द्वित्व आदि का मूल रूप है। क्योंकि भेद अभेद पूर्वक होता है। द्वित्व आदि भेद मूलक हैं, एकत्व अभेदाश्रित है। बिना एकत्व के द्वित्व बहुत्व आदि का परिज्ञान संभव नहीं हैं।[१३] द्वित्व ज्ञान की प्रक्रिया में मतभेद है। कुछ लोग मानते हैं कि बुद्धि सहित एकत्व और एकत्व (दो एकत्व) द्वित्व के ज्ञान में निमित्त हैं। अथवा बुद्धि निरपेक्ष दो एकत्व से द्वित्व का परिज्ञान होता है। कणाद दर्शन द्वित्व के ज्ञान में तीन कारणों का उपन्यास करता है। दो द्रव्यों में सर्व प्रथम उनके सामान्य का ज्ञान होता है, तब उनके गुण का ज्ञान होता है, इसके बाद उससे विशिष्ट दो द्रव्यों का ज्ञान होता है। कणाद-दर्शन की इस मान्यता का मूल आधार वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार बिना विशेषण के ज्ञान किये विशेष्य-बुद्धि नहीं होती है (**नागृहीतविशेषणा हि विशेष्य-बुद्धिः**)।

द्वित्व के स्वरूप में भी मतभेद है। कुछ आचार्य मानते हैं कि द्वित्व एकत्व का समुदाय मात्र है। वह दो एकत्व से विलक्षण नहीं है। एकत्व के समुदाय को द्वित्व इस एक नये शब्द से उसी तरह कहा जाता है जिस तरह वृक्ष के समुदाय को वन जैसे एक नये शब्द से व्यक्त किया जाता है। इस मत में समुदाय --अर्थ का प्राधान्य

---

१२. वही, संख्यासमुद्देश ११

१३. वाक्यपदीय ३, संख्या समुद्देश १५

है। कुछ लोगों के अनुसार दो एकत्व निरपेक्ष रूप में तो एकत्व हैं परन्तु परस्पर सापेक्ष होकर वे ही द्वित्व कहे जाते है। इस मत में अवयवप्राधान्य की विवक्षा है। इन दोनों मतों के अनुसार द्वित्व एकत्व से अव्यतिरिक्त है। परन्तु ये मत समीचीन नहीं हैं। पाणिनि ने द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१।४।२२) सूत्र के द्वारा द्वित्व में द्विवचन का विधान किया है। अब अव्यतिरिक्त पक्ष में द्वित्व के एकत्व से अव्यतिरिक्त होने से द्विवचन दो एकत्व में होगा। फलतः 'द्व्येकयोः' शब्द से तीन एकत्व (दो+एक) का ग्रहण होने लगेगा और बहुवचन की प्राप्ति होने लगेगी। अतः दो एकत्व से जनित द्वित्व को उनसे व्यतिरिक्त मानना उचित है।[१४] तीन से लेकर दस तक की संख्याओं के बारे में इसी तरह के विचार व्यक्त किये जाते हैं।

बीस (विंशति) और बीस के आगे की संख्याओं के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने महाभाष्य के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन संख्याओं के सम्बन्ध में मूल विचार दो हैं। एक तो इनके व्युत्पन्न अथवा अव्युत्पन्न होने के विषय में है। और दूसरा इनके संख्येय रूप से सम्बन्ध रखता है। व्युत्पन्न पक्ष में विंशति शब्द दशद्वयार्थाभिधायी द्वि शब्द से शतिच् प्रत्यय निपातन कर सिद्ध किया जाता है। वस्तुतः सम्पूर्ण शब्द ही निपातन के द्वारा सिद्ध किया जाता है। केवल साधुत्व के लिये विंशति शब्द के प्रकृति-प्रत्यय का अन्वाख्यान किया जाता है। शतिच् प्रत्यय स्वार्थ में होता है। स्वार्थ का अभिप्राय अन्ततः प्रकृति के अर्थ से है।[१५] लोक में विंशति आदि शब्द संख्या और संख्येय दोनों अर्थ में व्यवहृत होते है। जैसे, बीस गाय के लिये संस्कृत में "गवां विंशतिः" और "विंशतिर्गावः" दोनों रूप में कहा जाता है। अब यदि दो दस के अर्थ में (स्वार्थ में) विंशति शब्द का निपातन किया जायगा तो "विंशतिगवं" यह समस्त रूप संभव न हो सकेगा। इसी तरह त्रिंशत् शब्द के भी उपर्युक्त विधि से निपातन करने पर "त्रिंशतपूली" जैसे शब्द में द्विगु समास न हो सकेगा। क्योंकि इन शब्दों में द्विगु समास के लिये आवश्यक सामानाधिकरण्य न मिल सकेगा। विंशति शब्द से दो दस का अभिधान होगा न कि दस सम्बन्धी द्रव्य का अभिधान होगा।

---

१४. कैयट ने इस पर टिप्पणी दी है कि द्व्येक शब्द द्वित्व और एकत्व के अर्थ में है और इसीलिये द्विवचन के रूप में व्यवहृत है—द्व्येकयोरित्यत्र संख्यापदेन द्विशब्देन साहचर्यादेकशब्दस्यास्ति संख्यावाचिनो ग्रहणम्। द्वित्वैकत्वयोश्च द्व्येकशब्दौ वर्तेते इति द्विवचनेन निर्देशः। अन्यथा बहुवचनं स्यात्। प्रसिद्ध्या च संख्येयार्थत्वमेकादीनामष्टादशान्तानामुच्यते।

—महाभाष्यप्रदीप १।४।२१

एक शब्द जब संख्यावाची होता है, वह गुणवचन होता है। जब वह असहायवाची होता है, गुणवचन नहीं होता।(महाभाष्यप्रदीप ६।३।६२)। नागेश इस मत से सहमत नहीं है। उनके मत में संख्या शब्द गुण-वचन नहीं होते (संख्याशब्दानां गुणवचनत्वाभावात्—वही)। परन्तु पाणिनि ने उपर्युक्त सूत्र में एक शब्द का संख्या के अर्थ में ही व्यवहार किया है। न्यासकार का भी यही मत है (अत्र एक शब्दः संख्यायामेवप्रयुक्तः, न संख्येये द्रव्ये—न्यास।६।३।६२)।

१५. स्वार्थ इति। प्रत्ययस्य स्वात्मीया प्रकृतिस्तस्या अर्थ इत्यर्थः। अथवा यः प्रकृतेरर्थः स एव प्रत्ययानां स्वार्थः पितृधनमिव पुत्रस्य। तत्रैवार्थे प्रत्यासत्त्या अनिर्दिष्टार्थ प्रत्ययस्योत्पत्तेर्न्याय्यत्वात्।

महाभाष्यप्रदीप ५।१।५९

फलतः बीस गाय के अर्थ में सदा गवां विंशतिः यह षष्ठी विभक्ति वाला रूप ही होगा क्योंकि गायों के दो दस (गवां द्वौ दशतौ) के रूप में अर्थ की उपस्थिति होने से व्यतिरेक उपस्थित हो जाने के कारण षष्ठी विभक्ति ही गो शब्द में होगी। षष्ठ्यन्त गो शब्द के साथ विंशतिः शब्द का समानाधिकरण न होने से द्विगु समास संभव न हो सकेगा। साथ ही इस शब्द में एक वचन का प्रयोग भी उपपन्न न हो सकेगा। वस्तुतः केवल समास या केवल वचन की अनुपपत्ति न होकर समास-वचन की उपपत्ति न हो सकेगी। गवां विंशतिः से गोविंशतिः ऐसा समास होता है। यद्यपि 'पूरणगुणसुहितार्थ' २।२।११ सूत्र के अनुसार गुण के साथ षष्ठी समास नहीं होता फिर भी यह निषेध अनित्य माना जाता है और संख्या शब्द के साथ समास देखा जाता है। स्वयं पाणिनि ने "शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्" (५।२।११९) में संख्या शब्द के साथ समास किया है। गुणनिषेध-अनित्य द्योतक वाक्य कात्यायन और पतंजलि के भी कई हैं जैसे "क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानम्" (वार्तिक ५।१।७४), "खारीशतमपि न ददाति" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक) आदि। अथवा गुण के साथ निषेध वाला नियम तत्स्थ गुणों के साथ लागू होता है जैसे "काकस्य कार्ष्ण्यम्" में। गुणात्मा रूप में अवस्थित के साथ वह नियम नहीं लगता। फलतः गोविंशतिः यह समस्त पद बनता है। परन्तु व्युत्पन्न पक्ष में सामानाधिकरण्य के अभाव में समस्त पद न बन सकेगा। साथ ही दो दस का भाव होने से द्विवचन की भी प्राप्ति होने लगेगी। स्वार्थिक प्रत्यय लिंग का व्यतिक्रमण कर सकते हैं परन्तु संख्या का व्यतिक्रमण नहीं करते। लिंग का तो प्रतिवस्तु के साथ—इयं व्यक्तिः, अयम् पदार्थः, इदं वस्तु—इस रूप में तीनों लिंगों का व्यवहार देखा जाता है इसलिये लिंग भेद होने पर उतना विरोध संभव नहीं है, परन्तु संख्या के क्षेत्र में संख्यान्तरयुक्त का संख्यान्तर से विरोध है। यदि परिमाणी अर्थ में स्वार्थ में प्रत्यय का विधान हो तो इस दोष से बचा जा सकता है। परिमाणी दो तरह का होता है, द्रव्य का संघात अथवा भिन्न-भिन्न द्रव्य। गो संघ के एक होने से विंशतिः शब्द में एकवचन साधु मान लिया जायगा। द्रव्य को परिमाणी के रूप में लेने पर विंशतिगवं, त्रिंशत्पुली आदि में समानाधिकरण समास की भी सिद्धि हो सकती है। परन्तु दूसरी कठिनाइयां आ खड़ी होंगी। जब संघ के परिमाणी अर्थ में विंशति शब्द का निपातन होगा केवल विंशति शब्द से भी संघ का ग्रहण होने लगेगा पर ऐसा इष्ट नहीं है और न लोक में ऐसा देखा ही जाता है। भिन्न द्रव्य परिमाणी में प्रत्यय की उत्पत्ति मानने पर विंशति शब्द से द्रव्य का अभिधान होगा, फलतः व्यतिरेक न होने के कारण गवां (गवां विंशतिः) में षष्ठी विभक्ति न हो सकेगी। और द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य होने से बहुवचन की भी प्राप्ति होने लगेगी।

वार्तिककार ने उपर्युक्त दोषों से बचने के लिये विंशति आदि शब्दों को अव्युत्पन्न मान लिया है। जिस तरह सहस्र, अयुत, अर्बुद आदि शब्द अव्युत्पन्न हैं उसी तरह विंशति आदि शब्द भी अव्युत्पन्न हैं। इनकी प्रातिपदिक संज्ञा अर्थवत्० १।२।४५ सूत्र से हो जायगी। अर्थवत् सूत्र के द्वारा अव्युत्पन्न शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती

है यह बात पहले कही जा चुकी है। जिस तरह अक्ष आदि शब्द अनेकार्थ होते हैं उसी तरह विंशति आदि शब्द भी संख्या और संख्येय के अर्थ में स्वभावतः व्यवहृत होते हैं। वे रूढ़ि शब्द हैं और रूढ़ि शब्द होने के कारण उनके लिंग और उनकी संख्या नियत होती है। जैसे, आपः, दाराः आदि रूढ़ि शब्दों में नियत लिंग—संख्या देखे जाते हैं।

परन्तु महाभाष्यकार ने व्युत्पत्ति—पक्ष का समर्थन किया है। विंशति आदि शब्द पूर्ण रूप में रूढ़ि शब्द नहीं हैं। अक्ष जैसे शब्द अनेक अर्थ जब करते हैं, उनमें कोई अन्वय नहीं होता, वे भिन्न-भिन्न जातियों में रूढ़ होते हैं, वे यौगिक शब्द नहीं हैं। विंशति, सहस्र आदि शब्द जब गुणी के अर्थ में व्यवहृत होते हैं यौगिक शब्द ही माने जाते हैं। ये शब्द संख्या से निरपेक्ष संख्येय विशेष की अभिव्यक्ति नहीं करते। इसलिए इन्हें रूढ़ि शब्द नहीं कहा जा सकता।

विंशति आदि शब्दों में समास और वचन की अनुपपत्ति भी न हो सकेगी। संघ का अर्थ समुदाय भी है। संघ, समूह, समुदाय ये एकार्थक हैं। संघ केवल प्राणियों के समुदाय को ही नहीं कहते, अप्राणियों के भी समूह को कहते हैं। इसी से बीस वृक्ष के लिए वृक्षाणां विंशतिः भी प्रयुक्त होता है। ये विंशति आदि शब्द समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त होकर भाववचन माने जाते है, भाववचन होने से गुण वचन हैं, गुणवचन होने से दूसरे गुणवचन शब्दों के सदृश हो जाते हैं। अन्य गुणवचन शब्दों में देखा जाता है कि कभी गुण गुणी का विशेषक होता है जैसे "पटः शुक्लः"। कभी गुणी गुण का विशेषक होता है जैसे "पटस्य शुक्लः"। अस्तु, पटः शुक्लः में जिस तरह गुण गुणी के अव्यतिरेक की विवक्षा से अथवा मतुप्-लोप से सामानाधिकरण्य है उसी तरह विंशति आदि का भी द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य संभव है। फलतः समास होने में कोई आपत्ति नहीं है।

परिमाणी वाले पक्ष में भी दोष का परिहार संभव है। परिमाण संख्या के विशेषण रूप में यहां गृहीत होता है। क्योंकि शब्द किसी शब्द का परिमाण नहीं होता। परिमाण शब्द भी यहां प्रसिद्ध (रूढ़) परिमाण अर्थ में नहीं है अपितु क्रिया शब्द है (परिमीयते येन तत्परिमाणम्)। परिच्छेदक होने के कारण संख्या भी परिमाण है। परिमाणी पक्ष में संघ शब्द से संख्येय संघ और संख्यानसंघ दोनों का ग्रहण होगा। अर्थात् एक द्रव्यसंघ होगा और दूसरा दो दस वर्ग वाला संघ होगा। निपातन के बल से परिमाणी दशत संघ में प्रत्यय होगा। । इसका फल यह होगा कि दशत संघ का विंशति शब्द से अभिधान होगा और बीस गाय के परिमाण वाले गोसंघ की विवक्षा में "विंशको गोसंघः" प्रयोग हो सकेगा, 'विंशतिः गोसंघः" न हो सकेगा और गवां विंशतिः के लिए समस्तपद गोविंशतिः उपपन्न हो सकेगा। पहले विंशतिः परिमाणं यस्य संघस्य इस विग्रह के साथ किसी अन्य संघान्तर परिमाणी के अभाव में "विंशकः संघः" इस शब्द की सिद्धि के लिये स्वार्थ में डवुन् प्रत्यय करने की आवश्यकता आ पड़ी थी। संघ शब्द से संख्यान और संख्येय दोनों संघ के ग्रहण करने के कारण दशतसंघ के लिये प्रसिद्ध विंशति शब्द परिमाणी गवादिद्वयसंघ के लिये भी व्यवहृत होगा। यद्यपि विंशति शब्द कभी गोसंघ का अर्थ नहीं करता परन्तु परार्था-

मिधान वृत्ति यहां विवक्षित है और इसलिये वह प्रत्यय उत्पादन करने में समर्थ हो सकेगा। यहां यह बात ध्यान देने की है कि द्रव्यों का द्रव्यसंघ से और दशतों का दशतसंघ से कोई तात्त्विक भेद नहीं है। उनमें भेद बुद्धि-परिकल्पित है। शब्द बुद्धि-व्यवस्थापित अर्थ वाले होते हैं। बुद्धि को ही वे अर्थाकार के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। बाह्य अर्थ के अभिधान से उनका साक्षात् प्रयोजन नहीं होता। इसलिये वास्तविक भेद न होने पर भी भेद की प्रतीति वे कराते हैं। गुणी (गाय आदि) का भेद के रूप में व्यवहार करने पर षष्ठी विभक्ति (गवां विंशतिः) भी सिद्ध हो जायगी। यद्यपि विंशति शब्द से दसों का संघ (दाशतः संघः) वाच्य है इसलिये उसका गुणी गाय आदि नहीं होते, दो दस ही उसके गुणी (संख्येय) हैं फिर भी गाय और दससंघ में किसी तात्त्विक भेद के न होने के कारण गाय भी विंशति शब्द के गुणी हैं। केवल अन्तर यह है कि दस संघ से विंशति के सम्बन्ध में कोई व्यभिचार नहीं है इसलिये कभी दशत से विंशति की विशेष्यता नहीं व्यक्त की जाती, कोई "दशतो विंशतिः" नहीं कहता। कभी भी "कृष्णस्य कार्ष्ण्यम्', "शुक्लस्य शौकल्यम्" प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, इनमें व्यभिचार सम्भव नहीं है। परन्तु अश्व आदि की व्यावृत्ति के लिये विंशति शब्द का गो शब्द के द्वारा विशेष रूप व्यक्त किया जाता है। और कहा जाता है "गवां विंशतिः"। अन्यथा अश्व आदि भी बीस संख्या से गृहीत हो सकते हैं। गायों का विंशति से सम्बन्ध "भावानयने द्रव्यानयनम्" न्याय के आधार पर हो जाता है।

वचनवाला दोष भी दोनों पक्षों में वस्तुतः दोष नहीं है। समुदाय अभिधान के पक्ष में समुदाय के एक होने से एक वचन सिद्ध ही है। गुणी-अभिधान पक्ष में भी दोष नहीं है। यह ठीक है कि गुणवचन शब्द द्रव्य के लिंग और उसकी संख्या का अनुवर्तन करते हैं। परन्तु सर्वत्र यह नियम नहीं देखा जाता। लोक में कहा जाता है—"गावो धनम्, पुत्रा अपत्यम्, इन्द्राग्नी देवता, वेदाः प्रमाणम्" आदि। इन वाक्यों में गुण और गुणी में लिंग और संख्या का साम्य नहीं है फिर भी ये प्रयोग शुद्ध हैं। गावः में बहुवचन है और धनम् में एक वचन है। धन गुण है और गाय गुणी है क्योंकि धन साकांक्ष है, भेदक है और क्रिया-पारतंत्र्य है। जिस तरह शुक्ल शब्द कहने से द्रव्य की आकांक्षा होती है उसी तरह धन शब्द कहने से कौन से धन की जिज्ञासा में गाय आदि की आकांक्षा होती है। जिस तरह "शुक्ल वस्त्र" में शुक्ल शब्द द्रव्य का भेदक है उसी तरह "गावो धनम्" में धन शब्द गाय का भेदक है अर्थात् दूसरे-दूसरे प्रकार के धन से गाय-धन अधिक प्रीतिकर है इस रूप में भेदक है। जिस तरह 'शुक्लमानय' इसमें द्रव्य ले आने में ही शुक्ल के लाने की संभावना है अतः क्रिया में द्रव्यपरतंत्रता के कारण शुक्ल गुण है उसी तरह "धनमानय" जैसे वाक्य में गाय आदि द्रव्य की आनयन क्रिया में पारतंत्र्य के कारण धन गुण है। अतः जिस तरह "गावो धनम्" आदि में गुण-गुणी में भिन्न-भिन्न वचन हैं—एकवचन और बहुवचन साथ-साथ हैं वैसे ही विंशतिर्गावः, विंशतिर्बलीवर्दाः विंशतिर्गोकुलानि आदि में भी विभिन्न वचन और लिंग साथ-साथ सम्भव हैं। विंशति शब्द नित्य एकवचन और स्त्रीलिंग है। इस एक वचन की पीठिका में भी एक-दर्शन है। जहां कहीं ऐसा होता है वहां कुछ न कुछ रहस्य

होना चाहिये। महाभाष्यकार ने कहा है कि एक गोपिण्ड धन नहीं है अपितु गायों का समुदाय धन है और प्रीति-हेतु होने के कारण धन गुण एक है। उसी एकत्व की प्राधान्य-विवक्षा से धनम् शब्द में एक वचन होता है। इसी तरह पुत्रा अपत्यम् में अपत्य शब्द से अपतन एक गुण-प्रधान रूप से विवक्षित है और उसी आधार पर इसमें एकवचन है। लिंग के लोकाश्रय होने के कारण अपत्य शब्द का व्यवहार नपुंसकलिंग में होता है। वस्तुतः इसमें भी एकत्व की तरह ही रहस्य है। इसी तरह इन्द्राग्नी देवता में देवत्व (ऐश्वर्य) एक गुण ही प्रधानतः विवक्षित है इसलिये देवता में द्विवचन न होकर एकवचन है। विंशति आदि में भी विंशति संख्या समुदित द्रव्यसमूह में समवाय रूप में रहने के कारण एक है। इस एकत्व गुण के कारण विंशति शब्द का प्रयोग एकवचन में होता है। वह शुक्लत्व की तरह प्रत्येक में परिसमाप्त नहीं है। अतः सदा द्रव्यगत लिंग-संख्या का अनुवर्तन नहीं करता। पंच सप्त आदि नित्य संख्येय वचन हैं इसलिये वे संख्येय लिंग-बचन का अनुगमन करते हैं। उनमें उपर्युक्त आधार पर एकवचन नहीं होता।[१६] अतः व्युत्पत्ति पक्ष में भी दोष नहीं है। पर वैयाकरणों का झुकाव विंशति आदि शब्द को अव्युत्पन्न मानने की ओर ही अधिक रहा है। जैसाकि काशिकाकार ने कहा है :—

विंशत्यादयो गुणशब्दास्ते यथाकथंचिद् व्युत्पाद्याः।
नात्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यम्।···या चैषां विषयभेदेन गुणमात्रे
गुणिनि च वृत्तिः स्वलिंगसंख्यानुविधानं च, एतदपि सर्वं स्वाभाविकमेव।[१७]

विंशति की तरह ही एकविंशति आदि संख्याओं को समझना चाहिये। उनमें भी अवयवार्थ कुछ नहीं है। एक संख्या और बीस संख्या के योग से एक्कीस (एक-विंशति) संख्या बनी है। यह एक तरह का काल्पनिक रूप है, यथार्थ नहीं। नव और बारह, दस और ग्यारह के द्वारा भी एक विंशति का विवरण किया जा सकता है परन्तु ये सब विभाग, भर्तृहरि के अनुसार, काल्पनिक हैं। एकविंशति आदि संख्याओं में कोई अवयव नहीं है। वे अन्य ही संख्या हैं। नरसिंह की तरह उनमें अन्य ही बुद्धि होती है। केवल समझने के लिये नर और सिंह के रूप में जैसे अपोद्धार किया जाता है वैसे केवल अन्वाख्यान के लिए एकश्च विंशतिश्च जैसे वाक्य एक विंशति के लिये कहे जाते हैं :

एकविंशति संख्यायां संख्यान्तरसरूपयोः।
एकस्यां बुद्ध्यनावृत्या भागयोरिव कल्पना॥[१८]

यह मान्यता कुछ व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण है। एकविंशति जैसी संख्याओं को दो संख्याओं का योग मान लेने पर और उन्हें निरस्तावयव न मानने पर व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयां पड़ेंगी। दस आदि की तरह उन्हें अखण्ड

१६. महाभाष्य, तथा महाभाष्यप्रदीप ५।१।५९
१७. काशिका ५।१।५९
१८. वाक्यपदीय ३, संख्या समुद्देश २०

और एकबुद्धिग्राह्य मानकर ही संख्या से विहित कार्य उनसे किये जाते हैं। उदाहरण के लिये एकविंशं शतम्, एकविंशतितमम्, एकविंशतिकृत्व आदि में क्रमशः ड, तमट और कृत्वसुच् प्रत्यय हुए हैं। एकविंशति आदि संख्याओं को समूह मानने पर ये प्रत्यय उनसे नहीं हो सकते। जैसे स्वांगसमुदाय को स्वांग नहीं माना जाता और न उनमें स्वांग-कार्य ही होते हैं। फलतः "कल्याणपाणिपादा" में स्वांग मानकर ङीष् नहीं होता है उसी तरह संख्या-समुदाय में संख्या कार्य नहीं किये जा सकते। इसलिये एकविंशति आदि को संख्या-समुदाय न मानकर उन्हें स्वतंत्र संख्या ही मानना उचित है।[१९]

द्विदशाः, त्रिदशाः जैसे शब्दों में द्वि, त्रि शब्द दस की आवृत्ति द्योतक हैं। द्विदश शब्द का विग्रह "द्वौ दश" इस रूप में नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने में विरोध जान पड़ता है। दस संख्या के एक होने से उसमें द्वित्व संभव नहीं है। संख्येय दस में भी द्वित्व संभव नहीं है। अतः द्विशब्द से दस की आवृत्ति द्योतक द्वित्व संख्या अभिप्रेत है। द्वि का अर्थ दो बार है। अवश्य ही द्विः (सुजन्त रूप) विग्रह वाक्य में ही देख पड़ता है, समास में शब्द-शक्ति के बल से सुजर्थ का अवबोध हो जाता है इसलिये समास में सुच् प्रत्यय का दर्शन नहीं होता। अथवा समास में सुच्-प्रत्यय के बिना भी द्वि-शब्द अभ्यावृत्ति संख्या बोधक (बार-बार का अर्थ बोधक) मान लिया जाता है और उसके साथ समास हो जाता है।

संख्या शब्द से संख्या विशेष का अभिधान नहीं होता। एकत्व आदि संख्यात्व जाति से युक्त की संज्ञा संख्या है। इसलिये संख्या में अवयवावयविभाव नहीं होता। संख्या शब्द से प्रतिपाद्य सामान्य-विशेष अवयवी नहीं हो सकता, सामान्यविशेष में अवयवावयविभाव नहीं होता। फलतः "बहवोऽवयवा अस्याः संख्यायाः" इसमें बहु-शब्द से अवयव अर्थ में तयप् प्रत्यय नहीं होता। "बहुतयं चित्र रूपम्" यह वाक्य चित्र रूप के अवयवित्व की विवक्षा में तो संभव है क्योंकि चित्ररूप अवयवी है और नील-पीत आदि उसके अवयव हो सकते हैं। किन्तु "बहुतयं रूपम्" यह प्रयोग शुक्लादि-विशेष-विषय रूप सामान्य की विवक्षा में उपपन्न नहीं माना जायगा। रूप सामान्य और शुक्लादि विशेष रूप में अवयवावयविभाव नहीं है। अवयवी अवयव से कार्य भेद से, रूप भेद से और आख्या भेद से भिन्न होता है। वन अवयवी है। वृक्ष अवयव है। वृक्ष के कार्य से सामूहिक (समुदित) वन कार्य भिन्न है। इसी आधार पर रूपभेद भी है। आख्या भी भिन्न है, एक की संज्ञा वृक्ष है दूसरे का नाम वन है। संख्या के क्षेत्र में ये भेद दृष्टिगोचर नहीं हैं। संख्या परिच्छेदक अथवा भेदक है। इसके अतिरिक्त कोई कार्य नहीं है। एकत्व आदि से रहित उसका कोई अन्य रूप भी नहीं है। अवयवावयवि के रूप में संख्या में कोई आख्या-भेद भी नहीं है। इसलिये संख्या वह संज्ञा है जो विशेषविषयसामान्यगोचर है।

---

१९. वही, २१

एकवचन, द्विवचन और बहुवचन

यद्यपि ये शब्द अन्वर्थक हैं फिर भी पारिभाषिक रूप में व्यवहृत होते हैं। पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवहृत संज्ञाओं की पाणिनि ने प्राय: परिभाषा नहीं दी हैं, परन्तु उन्होंने एकवचन आदि की परिभाषा दी है। महाभाष्यकार ने इन्हें शब्द-संज्ञा कहा है— **एकवचनं द्विवचनं बहुवचनमिति शब्द संज्ञा एता:** ।[२०] द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ सूत्र के द्वारा एकत्व के अर्थ में एकवचन और द्वित्व के अर्थ में द्विवचन का प्रयोग होता है। एक शब्द का कई अर्थों में प्रयोग होता है। एक, दो, बहुत आदि शब्दों के साथ वह संख्या के अर्थ में व्यवहृत होता है। एकाग्नय: जैसे वाक्यों में वह असहायवाची है। "सधमादो द्युम्न एकास्ता:" जैसे वाक्यों में वह अन्य अर्थ वाला है। जब वह संख्यावाची होता है तभी उससे एकवचन होता है। पाणिनि ने उपर्युक्त सूत्र में संख्या के अर्थ में ही एक शब्द का व्यवहार किया है। यदि एक से संख्येय अर्थ विवक्षित होता, द्व्येकयो: में द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग उचित होता, क्योंकि दो और एक मिल कर तीन का अर्थ व्यक्त करते। संख्येय के लिये एक आदि शब्दों का व्यवहार लोक-प्रसिद्धि के आधार पर किया जाता है **(प्रसिद्ध्या च संख्येयार्थत्वमेकादीनाम् अष्टादशान्तानाम् उच्यते)** ।[२१] जहां एक शब्द अन्यार्थक होता है वहां उसकी गणना संख्या में नहीं होती। अत: उससे बहुवचन भी होता है। जैसे, "एके मन्यन्ते।" अस्तु, एकवचन में एक के संख्यार्थक होने के कारण एकवचन वस्तु की एक इकाई का द्योतक है और वस्तु में भेद-अभेद पूर्वक होने के कारण अभेद सूचक एकत्व ही वस्तु का स्वाभाविक रूप है। फलत: संस्कृत के वैयाकरण एकवचन को औत्सर्गिक मानते हैं।

द्विवचन कभी-कभी अपनी स्वाभाविक सीमा के परे भी चला जाता है। संस्कृत में शरीर के वे अवयव प्राय: द्विवचन द्वारा प्रकट किये जाते हैं जो जोड़े हैं, जैसे—आंख, कान आदि। परन्तु "अक्षीणि मे दर्शनीयानि", "पादा : मे सुकुमारा:" जैसे बहुवचनान्त प्रयोग भी लोक में देखे जाते हैं।

बहुत्व के अर्थ में बहुवचन का विधान पाणिनि ने "बहुषु बहुवचनम्" १।४।२१ के द्वारा किया है। बहुत्व तीन से लेकर परार्ध तक की संख्याओं में व्याप्त धर्म है। संस्कृत में दारा शब्द बहुवचनान्त है। एक दारा के लिये भी दारा: पद का प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग इसकी उपपत्ति बताते हुए कहते हैं कि अवयवगत बहुत्व का अवयवी में यहां आरोप किया गया है। अत: यहां बहुवचन आरोपजन्य है। **(अवयवबहुत्वस्यावयविनि आरोपाद् भविष्यति)**[२२]। एक वृक्ष में मूल, शाखा आदि अवयव के आरोप से बहुवचन नहीं होता क्योंकि कोश अथवा वृद्ध-व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। दारा शब्द में, प्रति अवयव में प्रेम के कारण, दारत्व का आरोप

---

२०. महाभाष्य १।४।२१

२१. महाभाष्यप्रदीप १।४।२१

२२. शब्दकौस्तुभ १।४।२१

सम्भव है । जहां कोश आदि बाधा नहीं देते, एकत्व या बहुत्व के प्रयोग वक्ता की इच्छा पर है । जैसे, "आचार्याः आगताः" भी कहते हैं और "आचार्यः आगतः" भी कहा जाता है। कुछ लोगों के अनुसार दारा शब्द में बहुवचन साधुत्व के लिये है । परन्तु बहुवचन विधान सूचक कोई उल्लेख नहीं है, उसका अनुशासन नहीं हो पाया है। आचार्य धर्मकीर्ति के अनुसार दाराः सिकताः आदि शब्दों में बहुवचन वक्ता के इच्छा-स्वातंत्र्य के कारण है, वस्तु के आधार पर नहीं :

"तस्मादयं नियमो निर्वस्तुकः क्रियमाणः शब्दप्रयोगे इच्छास्वातंत्र्यं ख्यापयति ।

—प्रमाणवार्तिक, पृष्ठ १६०

महाभाष्यकार ने सिकता शब्द का प्रयोग एकवचन में किया है । जैसे, **एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था, तत्समुदायश्च खारीशतमपि असमर्थम्**" । इस पर कैयट ने टिप्पणी दी है कि "**एका सिकतेति भाष्यप्रयोगादेव सिकता शब्दस्यैकवचनान्तमपि**" ।[२३]

एकवचन आदि प्रत्ययनियम और अर्थनियम दोनों रूप में गृहीत होते हैं अर्थात् एक अर्थ में ही एकवचन अथवा एक में एक वचन ही होता है । इन दोनों रूपों में इनकी व्याख्या की जाती है। "बहुः सूपः" जैसे वाक्यों में बहु शब्द वैपुल्यवाची है। बहु शब्द भिन्न वस्तुओं के आधाराश्रय के रूप में ही संख्यावाचक होता है ।

संख्या विभक्ति से वाच्य अथवा द्योत्य

त्रिक प्रातिपदिकार्थ पक्ष में कर्म आदि की तरह एकत्व आदि संख्या विभक्त्यर्थ मानी जाती है । पञ्च प्रातिपदिकार्थपक्ष में विभक्तियां संख्या के द्योतक हैं। कुछ लोग मानते हैं कि संख्या का अभिधान प्रत्यय के द्वारा होता है और कर्म आदि का अभिधान प्रातिपदिक के द्वारा होता है । इस मत का आधार अन्वय-व्यतिरेक पद्धति है । वृक्षौ, वृक्षान् जैसे शब्दों में प्रत्यय के भेद से संख्या में भेद देखा जाता है परन्तु साधन में भेद नहीं देखा जाता । इसके विपरीत, कुछ लोग मानते हैं कि कर्म आदि का अभिधान प्रत्यय द्वारा होता है और संख्या प्रातिपदिक के द्वारा अभिव्यक्त होती है । क्योंकि अग्निचित् जैसे शब्दों में प्रत्यय के बिना भी एकत्व का परिज्ञान होता है परन्तु विभक्ति के बिना कर्म आदि का ज्ञान नहीं होता । कुछ लोगों के अनुसार प्रातिपदिक से ही संख्या और कर्मादि दोनों का अभिधान होता है । "चर्म पश्य" जैसे वाक्यों में विभक्ति के बिना भी दोनों का परिज्ञान देखा जाता है । वस्तुतः ये सब पक्ष भेद पुरुष-विकल्पाधीन है । और व्याकरणदर्शन में प्रसंगानुसार सभी पक्ष यथावसर ग्राह्य हैं। महाभाष्यकार ने "अनभिहिते" (२।३।१) इस सूत्र की स्थापना संख्या विभक्त्यर्थ-दर्शन के आधार पर की है (**तदेवं संख्याविभक्त्यर्थ इति दर्शनाश्रयेण सूत्रं स्थापितम् —महाभाष्यप्रदीप २।३।१**) । इसी तरह पाणिनि सूत्र ४।१।५० के भाष्य में विभक्तियों के कर्मादि के द्योतक होने का संकेत है और नागेश के अनुसार यही सिद्धान्त

---

२३. महाभाष्य और महाभाष्यप्रदीप, हयवरट् सूत्र पर, पृ० १४०, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण ।

पक्ष है—

(अस्माद् भाष्याद् द्योतकत्व पक्ष एव सिद्धान्त इति ज्ञायते—

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ४।१।५०)।

संख्या प्रत्ययार्थ और प्रकृत्यर्थ दोनों का परिच्छेदक है। "पंचको गोसंघः" में संख्या प्रत्ययार्थ का परिच्छेदक है। "पंच गावः अस्य गो संघस्य" इस रूप में प्रकृत्यर्थ का अवच्छेदक है।

वृत्ति में संख्या

वृत्ति में संख्याभेद की निवृत्ति हो जाती है। विग्रह वाक्य में संख्या-विशेष की प्रतीति होती है जैसे राज्ञः पुरुषः में राज्ञः शब्द से एकत्व का ज्ञान होता है परन्तु राजपुरुषः शब्द में उपसर्जन शब्द से किसी संख्या-विशेष का बोध नहीं होता। किसी संख्याशब्द के न होने से वृत्ति में संख्याविशेष का स्थान नहीं है इसका अनुमान कर लिया जाता है।

वृत्ति में अभेदैकत्वसंख्या

अथवा वृत्ति में अभेदैकत्वसंख्या होती है। भर्तृहरि ने **अभेदैकत्वसंख्या को दो रूपों** में व्यक्त किया है। विशेष संख्याओं का अविभाग रूप में अवस्थिति का नाम अभेदैकत्व संख्या है। इस दर्शन के अनुसार वृत्ति में उपसर्जन पदार्थों में भी संख्यायोग होना चाहिये। अव्यय की तरह सर्वथा संख्यारहित उपसर्जन पदार्थ की सत्ता उपयुक्त नहीं है। इसलिये वृत्ति में भी संख्या का एक सामान्य रूप रहता है जो सभी संख्या-विशेषों का संसर्ग रूप-सा है। उसमें संख्याओं का विभाग दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण में भर्तृहरि ने मधु का उदाहरण दिया है। मधु में सभी प्रकार की औषधियों के रस अविभाग रूप में सन्निविष्ट रहते हैं। मधु में औषधि-रसों की अलग-अलग पहचान दुष्कर है फिर भी वे वहां हैं। कार्य में रस, कारण गुण—रस से ही संभव है। इसी तरह यद्यपि वृत्ति में उपसर्जन पदार्थ में संख्या विशेष की प्रतिपत्ति नहीं होती, फिर भी उसमें सभी संख्याएं अविभक्त रूप में हैं। इसी को अभेदैकत्व संख्या शब्द से व्यक्त किया जाता है।[२४]

अथवा अभेदैकत्वसंख्या से अभिप्राय उस संख्या सामान्य से है जिसमें विशेष परित्यक्त है (**परित्यक्तविशेषं संख्यासामान्यं अभेदैकत्वसंख्या**)। अभेदैकत्व स्वभाव वाली संख्या में व्यक्तिभेद सर्वथा तिरोहित रहता है और संख्या केवल जाति रूप में अवस्थित रहती है। संख्या का जातिरूप भेदापोहलक्षण है अर्थात् भेदों का व्यावर्तन अथवा हटाना ही संख्या का जातिरूप है। एकत्व द्वित्व का व्यावर्तन करता है, द्वित्व त्रित्व को हटाता है। इसी तरह अभेदैकत्व के अन्य सभी संख्याओं के व्यावर्तक होने के कारण उसमें भेदापोह लक्षण संख्यात्व है। पहले मत

---

२४. वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ९९, १००.

से इस मत में यह भेद है कि पहले के अनुसार अभेदैकत्व समस्त भेद का संसर्ग मात्र था फलतः समस्त भेदात्मक था। दूसरे मत के अनुसार अभेदैकत्व समस्त भेद में अनुगत सामान्य रूप और अन्य व्यावर्तक स्वभाव वाला है। समास में द्वित्व और बहुत्व संख्या का ज्ञान नहीं होता। केवल अभेदैकत्व का परिज्ञान होता है। अतः संख्या-विशेष का परित्याग कर संख्या के सामान्य रूप को अभेदैकत्व संख्या मानना चाहिये। जिस तरह से अंधेरे में किसी वस्तु के केवल आकार का ही बोध हो पाता है उसके विशेष गुण शुक्ल, नील, पीत आदि का आभास नहीं होता उसी तरह राज-पुरुष आदि वृत्तिस्थलों में आकार या रूप की तरह केवल संख्यावान् राज के अर्थ का ग्रहण होता है पर विशेष रंग की तरह विशेष संख्या का ग्रहण नहीं होता। अतः वृत्ति में अभेदैकत्व संख्या की सत्ता स्वीकार करनी चाहिये।

कभी-कभी वृत्ति में भी संख्या का बोध होता है। परन्तु इससे अभेदैकत्व-संख्या पक्ष की हानि नहीं होती। द्विपुत्रः, पंचपुत्रः जैसे शब्दों में समास में भी संख्या-विशेष की अभिव्यक्ति अवश्य होती है परन्तु यहां प्रातिपदिकार्थ ही संख्या विशेष है। इस विग्रह वाक्य से जिस द्वित्व संख्या की प्रतीति होती थी, समास होने पर वह तिरोहित हो जाती है और अभेदैकत्व संख्या का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु द्विशब्द का प्रातिपदिकार्थ जो द्वित्व है वह वृत्ति होने पर भी तिरोहित नहीं होता। जहत् स्वार्थावृत्ति पक्ष में भी उपसर्जन का अर्थ होता है। भाव प्रत्यय के बिना भी वृत्तिविषय में द्वि और बहु शब्द द्वित्व और बहुत्व के अर्थ में देखे जाते हैं जैसे द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ के द्व्येकयोः शब्द में।

अन्यत्र भी वृत्ति में संख्याविशेष की झलक मिलती है। जैसे 'तावकीन' में एकत्व की। परन्तु यहां भी एकत्व की प्रतीति आदेश के प्रयोग से है।

मासजातः, शौर्पिक जैसे स्थलों में एकत्व का भान यहां प्रातिपदिक के ही विशेष अर्थ के अभिधायक होने के कारण है। विशिष्ट काल का अवबोध ही यहां मुख्य है। परिमेय—विशेष के अवधारण के लिये ही परिमाण-शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

कुण्डशः ददाति, प्रस्थशः ददाति, वनशः प्रविशति जैसे वाक्यों में एकत्व का अवधारण प्रकरण के बल पर होता है।

विग्रह वाक्य में स्तोकाभ्यां मुक्तः 'स्तोकेभ्यः मुक्तः ऐसा भी कहा जाता है किन्तु समास में सदा "स्तोकान् मुक्तः" ही होता है। यह अलुक् समास है और समस्त पद होने के कारण इसमें एक ही उदात्त है। स्तोकाभ्यां मुक्तः में समास अन-भिधान के कारण नहीं होता। लोक में समस्त शब्द के रूप में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता। स्तोकान् मुक्तः में अलुक् का एकवद्भाव माना जाता है। फलतः वृत्ति में अभेदैकत्वसंख्या का व्याघात यहां भी नहीं है। गोषुचरः, वर्षासुजः जैसे आपाततः बहुवचनान्त समास में भी अभेदैकत्वसंख्या है क्योंकि इनमें व्यक्ति बहुत्व के अर्थमें बहुवचन नहीं है अपितु जाति बोध के कारण एक के अर्थ में है। इसलिये एक व्यक्ति के लिये भी गोषुचर (कैयट के अनुसार कुक्कुट, हेलाराज के अनुसार इन्द्रगोप) शब्द का

प्रयोग होता है। इसी तरह वर्षाभुजः में वर्षा शब्द बहुबचनान्त ही ऋतु-विशेष का वाचक है। इसलिये वृत्तिगत अभेदैकत्वसंख्या की प्रतीति यहां भी है। फलतः वृत्ति में अभेदैकत्वसंख्या, भर्तृहरि के अनुसार, माननी चाहिए। पर यह अभेदैकत्व पारिभाषिक रूप में ही है। व्यवहारतः वृत्ति से संख्याविशेष का भान नहीं होता। यदि कुछ स्थलों पर किसी विशेष कारण से वृत्ति में संख्या का अवबोध हो भी तो भी सामान्य लक्षण के रूप में यही कहना उचित है कि वृत्ति में संख्याभेद का अवगमन नहीं होता—

भेदः संख्याविशेषो वा व्याख्यातो वृत्तिवाक्ययोः।
सर्वत्रैव विशेषस्तु नावश्यं तादृशो भवेत्॥

—वाक्यपदीय, वृत्ति समुद्देश १३२.

जाति में संख्या

व्याकरण-दर्शन जाति में भी संख्या मानता है। क्योंकि संख्या इस दर्शन में भेदक के रूप में भी गृहीत है। गुण पद से सदा वैशेषिक-प्रसिद्ध ही गुण नहीं लिया जाता, गुण-भेदक भी होता है:

ननु च जातेः संख्या न विद्यते, तस्या द्रव्यधर्मत्वात्। यद्यपि वैशेषिकसिद्धान्त-प्रसिद्धा गुणपदार्थसंगृहीता या संख्या सा न विद्यते तथापि भेदका गुणा इत्यस्माद् दर्शने भेदमात्रा या संख्या सा विद्यत एव—

—न्यास १।२।५८

७

कारक (साधन) विचार

स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे ।
क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः ।।[1]

क्रिया की निष्पत्ति में लगी हुई द्रव्य-शक्ति को साधन कहते हैं । इसे कारक भी कहते हैं । साधन शब्द की व्युत्पत्ति "साध्यते अनेन क्रिया" के रूप में की जाती है । महाभाष्यकार ने साधन को गुण माना है । शक्ति स्वयं आधार के परतंत्र है, साथ ही अन्य आश्रयों से अपने आश्रय का भेदक है । भेदक होने के कारण "भेदकाः गुणाः" इस दर्शन के आधार पर उसे गुण कहते हैं । महाभाष्यकार ने **'यदि तावद् गुणसमुदायः साधनं, साधनमपि अनुमानगम्यम्' (महाभाष्य ३। २।११५)**—यह वाक्य व्यवहृत किया है । गुणसमुदाय से अभिप्राय शक्ति-समुदाय से है । गुणसमुदाय शब्द में समुदाय शब्द करण आदि सभी शक्तियों का प्रतीक है । करण आदि शक्तियां क्रिया की सिद्धि में अविशेषरूप से निमित्त हैं अतः वे सभी साधन हैं । इसीलिये ''सर्वाः शक्तयः साधनम्''[2] यह उक्ति प्रसिद्ध है । कभी-कभी द्रव्य के लिये भी साधन शब्द का व्यवहार मिलता है जैसे, "साधनं वै द्रव्यम्" । ऐसे स्थलों में शक्ति और शक्तिमान् के अभेद की विवक्षा से साधन शब्द से द्रव्य का अभिधान होता है **(शक्तिशक्तिमतोरभेदविवक्षया साधनशब्देन शक्तिमन्ति द्रव्याण्युच्यन्ते)** ।[3]

साधन के शक्ति रूप में होने के कारण क्रिया की तरह वह भी अनुमेय है । शक्तियाँ सदा अनुमेय ही होती हैं । शक्तिमान् को शक्ति से अतिरिक्त मानने पर साधन का प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व द्रव्य के आधार पर होता है । लोक में द्रव्य के प्रत्यक्ष होने पर क्रिया का भी प्रत्यक्ष समझा जाता है, और द्रव्य के परोक्ष होने पर क्रिया का भी परोक्ष माना जाता है वैसे ही साधन का भी समझना चाहिये ।

भर्तृहरि ने साधन पर विचार द्रव्यव्यतिरिक्तशक्तिदर्शन और द्रव्य अव्यतिरिक्तशक्तिदर्शन इन दोनों पक्षों की मान्यताओं के आधार पर किया है ।

---

१. वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश १
२. कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३। २। ११५; पृ० २५३
३. वही, पृष्ठ २५२

द्रव्यव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

भर्तृहरि के अनुसार विश्व शक्तियों का समूह है। विश्व की प्रत्येक वस्तु एक तरह का शक्ति-पुंज है। घट जैसे भाव (पदार्थ) जल ले आना, जल रखना आदि जैसे कार्यों के साधक शक्तियों के समूह हैं। ये शक्तियां, हेलाराज के अनुसार, कई प्रकार की होती हैं। कुछ अपने हेतुओं से ही स्वाभाविक रूप में उद्बुद्ध होती हैं जैसे दीप में प्रकाश की शक्ति। कुछ शक्तियां अपने आश्रय के अन्तःस्थित होती हैं जैसे, बाधा आदि शक्तियाँ। विष की मारण शक्ति और बीज की अंकुर-जनन-शक्ति भी शक्ति-विशेष ही हैं। योगियों की शक्ति भी एक विशेष शक्ति है। यह उपर्युक्त भाव हेलाराज ने भर्तृहरि के "शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वास्यानेकधर्मणः" वाक्य का व्यक्त किया है। परन्तु इसका भाव भर्तृहरि के शक्ति-दर्शन के अनुरूप भी हो सकता है। भर्तृहरि शक्ति-पदार्थ के समर्थक हैं। विश्व की मूल सत्ता शक्त्यात्मक है। विश्व की सभी वस्तुएँ उसी मूल शक्ति की मात्राएँ हैं, उसके अवयव हैं। इसलिये विश्व को शक्तिमात्राओं का समूह कहना उनके दर्शन के अनुकूल है। उस शक्ति की सर्वत्र सदा सत्ता है। फिर भी वहीं किसी शक्ति-विशेष की विवक्षा होती है और इस तरह वस्तु-वैचित्र्य बना रहता है। घट देखो, घट द्वारा जल लाओ, घट में जल रखो आदि वाक्यों में कर्म, करण आदि शक्तियाँ विवक्षा-वश उद्भूत होती हैं। इसलिये कारक-सांकर्य भी नहीं होने पाता है। शक्ति को साधन मानने पर ही इस वैचित्र्य की मीमांसा ठीक-ठीक हो पाती है। द्रव्य को साधन मानने पर कर्म, करण आदि की व्यवस्था समुचित रूप में नहीं की जा सकती क्योंकि द्रव्य एकस्वभाव वाला है।

शक्ति को साधन मानने में कुछ कठिनाइयाँ है। जहाँ पर शक्तियाँ हैं वहाँ विवक्षा भले हो जहाँ उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है वहाँ किस तरह व्यवस्था की जायगी। जैसे शक्तिम् आदधाति, शक्त्या साधयति जैसे वाक्यों में शक्ति शब्द के रहने से किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। एक शक्ति का किसी अन्य शक्ति के साथ योग अनिवार्य मानने पर अनवस्था दोष आ जायगा। इसके अतिरिक्त अभावात्मक वाक्यों में कैसे शक्ति की मीमांसा होगी। धनाभावो न युक्तः जैसे वाक्यों में अभाव में कैसे किसी शक्ति का स्थान होगा, अभाव तो निरूपाख्य है। इस तरह की आशंकाओं के समाधान में भर्तृहरि ने कहा है कि साधन-व्यवहार बुद्धि-अवस्था-निबन्धन है, बौद्धिक है। बौद्धिक सत्ता के लिये किसी वस्तु की ग्राह्य सत्ता अथवा असत्ता प्रयोजक नहीं। सत् अथवा असत् वस्तु के भेद बुद्धि द्वारा बाह्य हैं। बाह्य-जगत् में वस्तु की यथार्थ सत्ता होते हुए भी जब तक बुद्धि द्वारा उसका निरूपण नहीं होता, उसके लिये किसी शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता। अभाव का भी बुद्धि द्वारा आकलन होता है तभी वह शब्द द्वारा अभिहित होता है। इसी तरह स्थाली पचति, स्थाल्या पचति और स्थाल्यां पचति इन वाक्यों में एक ही स्थाली कर्ता, करण और अधिकरण कैसे हो सकेगी क्योंकि उसमें भेद करना कठिन है। इस का समाधान भी स्थाली में भी साधकतमत्व की विवक्षा में करण, वास्तविक आधार की

विवक्षा में अधिकरण आदि मान कर हो जाता है। महाभाष्यकार ने बौद्धिक आधार लेकर पाणिनि के अपादानविधायक कई सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है। कंसं घातयति, बलिं बन्धयति जैसे वाक्यों में वर्तमान का निर्देश भी नटों और कृषकों द्वारा अतीत की घटना को बुद्धि अवस्थित रूप में प्रत्यक्ष सा दिखाने के रूप में उपयुक्त माना गया है। इसलिये साधन-व्यवहार का बौद्धिक धरातल मान लेने पर शक्ति का नानात्व भी बौद्धिक रूप में सिद्ध हो जाता है। बाह्य वस्तु में जिस बौद्धिक-वस्तु का समारोप होता है उसके लिये भर्तृहरि ने "बुद्धिप्रवृत्तिरूप" शब्द का व्यवहार किया है। वक्ता बुद्धिप्रवृत्तिरूप का—बुद्धि में आभासमान विषय का बाह्य अर्थ में आरोप कर शक्ति के भेदों की कल्पना करता है। आरोप का आधार दृश्य और कल्पित में अभेद का अध्यवसाय है। हेलाराज के अनुसार बाह्य-अर्थ में भी शब्द प्रमाण है। बुद्धि-प्रतिभास अपने आप में अवस्थित नहीं होता, क्रियाभेद के आधार पर विवक्षाजन्य शक्ति भेद की कल्पना कर वस्तु को ही अनेक शक्तिमयी मान लिया जाता है। इस सम्बन्ध में हेलाराज ने बौद्धों और वैयाकरणों के मतभेद का उल्लेख किया है। बौद्ध दर्शन के अनुसार विकल्प-प्रतिबिम्ब भेद-अध्यवसाय से शून्य होता है इसलिये बाह्य प्रवृत्ति होती है किन्तु शब्द की प्रवृत्ति अपोह रूप में अन्य व्यावर्तनरूप में—बाह्य होती है, अपोह के अतिरिक्त शब्द की बाह्य प्रवृत्ति मानने पर व्यभिचार दोष आ जायगा—शब्द का यथार्थ संकेत जानना दुष्कर होगा। अतः प्रामाण्य वक्ता के अभिप्राय में है। व्याकरण-दर्शन के अनुसार बाह्य अर्थ में प्रामाण्य अध्यवसाय के बल पर होता है :

> **सौगतानां तु विकल्पप्रतिबिम्बस्य भेदानध्यवसायात् बहिष्प्रवृत्तिः। प्रामाण्यं तु वक्त्रभिप्राय एव शब्दानां न बाह्ये व्यभिचारशंकनादन्यव्यावृत्तिमात्रनिष्ठता तु बहिः। वैयाकरणानां तु व्यावृत्तवस्तुविषयता तथाध्यवसायात् तत्रैव च प्रामाण्यं इति निदर्शनभेदः**[४]।

शक्ति में नानात्व मानने पर भी उपाधियां नियत हैं फलतः परस्पर सांकर्य नहीं होने पाता है और साधन में भेद परिलक्षित होता है।

एक दर्शन के अनुसार सभी भाव निरीह हैं, चेष्टा रहित हैं। फिर भी उनमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि की कल्पना होती ही है। स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य लक्षण कर्तृकरण आदि कारक हैं। क्रिया क्रमलक्षण वाली है। ये सब क्रिया कारक भाव आदि मिथ्याअभ्यास-वासना से सर्वथा निश्चेष्ट पदार्थ में भी बौद्धिक-कल्पना द्वारा माने जाते हैं। क्योंकि शब्द व्यवहार विकल्प के आश्रित होता है। हेलाराज के अनुसार यह मत अद्वैतवाद के अनुसार है और महाभाष्यकार ने अद्वैतवाद का अनुगमन किया है (?) :

> **दर्शितमित्यद्वैतनयाबलम्बिभिः भाष्यकारप्रभृतिभिः कूलं पिपतिषतीत्यादिप्रयोगसिद्ध्यर्थमाख्यातमित्यर्थः।**[५]

---

४. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश ६.

५. वाक्यपदीय ३, साधन समुद्देश ४३, तथा हेलाराज की इस पर टीका .

परन्तु "कूलं पिपतिषति" के प्रसंग में भाष्यकार ने सभी भावों को चेतन माना है, निश्चेष्ट नहीं माना है। हां, अद्वैतवाद की गंध वहां अवश्य है।

द्रव्य से व्यतिरिक्त शक्तिरूपसाधन की सिद्धि का आधार अन्वयव्यतिरेक भी है। वृक्षे, वृक्षाय जैसे शब्दों में विभक्त्यर्थ का (साधन का) व्यतिरेक स्पष्ट है। प्रकृति तो "वृक्ष" एक ही है परन्तु प्रत्ययार्थ भिन्न-भिन्न है। इसलिये प्रत्ययार्थ की सत्ता मानने पर साधन की सिद्धि हो ही जाती है।

महाभाष्यकार ने भी कहा है—"किसे साधन मानना उचित है—द्रव्य को या गुण को। गुण को साधन मानना उपयुक्त है। देखा जाता जाता है कि कोई किसी से पूछता है "देवदत कहां है"। वह उत्तर देता है—"देवदत्त वृक्ष पर है"। किस वृक्ष पर? जो सामने है (यः तिष्ठति)। इस वार्तालाप में वृक्ष पहले अधिकरण के रूप में और बाद में कर्ता (तिष्ठति क्रिया) के रूप में व्यक्त हुआ है। द्रव्य के साधन मानने पर जो कर्म होगा। वह कर्म ही होगा, जो करण होगा वह करण ही होगा, जो अधिकरण होगा वह अधिकरण ही रहेगा।' (महाभाष्य २। ३। १)। गुण को (शक्ति को) साधन मानने पर अनेक अर्थ क्रिया के कारण अनेक व्यपदेश संभव है। फलतः शक्ति नानात्व भी सिद्ध होता है :

> **"यदि द्रव्यं साधनं स्यात् तदा तस्यैकरूपत्वात्**
> **न्निबन्धनाबाधितप्रत्यभिज्ञाविषयत्चात् नानार्थ—**
> **क्रियाकारणनिबन्धनो व्यापदेशभेदो न स्यात्। दृश्यते चासाविति**
> **नानाशक्तिसद्भावावगमः सिद्धः।**
>
> —महाभाष्यप्रदीप २।३।१

द्रव्य-अव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

कुछ लोग शक्ति को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते हैं। हेलाराज के अनुसार यह मत संसर्गवादी वैशेषिकों का है। संसर्गवादियों के अनुसार शक्ति और शक्तिमान् सभी भाव हैं। और भावों का स्वरूप स्वकार्य के उत्पन्न करने में शक्ति है। अतः भाव ही शक्ति है। भावों का साधनत्व अपादान आदि शब्दों द्वारा व्यक्त न होकर प्रत्ययों द्वारा व्यक्त होता है। "घटं पश्यति" इस वाक्य में घट दर्शनक्रिया का विषय है, वही कर्म है, उसका द्रव्यत्व रूप अपनी शक्तियों से समबेत होकर साधन होता है और कर्म कारक के रूप में व्यवहृत होता है। इसी तरह "रूपं पश्यति" इस वाक्य में दर्शन क्रिया में रूपत्व साधन है। एक ही वस्तु शक्ति और शक्तिमान् दोनों कैसे है इसके समाधान में संसर्गवादी कहते हैं कि एक ही वस्तु उपकारक अवस्था में शक्ति और उपकार्य अवस्था में शक्तिमान् हो सकती है। शक्ति अवस्था में किसी अन्य शक्ति से योग न होने के कारण अनवस्था दोष भी न होगा और अभाव के सातवें पदार्थ के रूप में स्वीकार करने के कारण उसमें भी शक्ति संभव हो सकेगी। शक्ति के उपकारक धर्म का नाम साधन है। क्रिया साध्य स्वभाववाली होती है। फलतः सिद्ध स्वभाव वाले भाव (कारक) साध्यस्वभाववाली क्रिया की सिद्धि में सहायक होने के कारण उसका उपकारक मान

लिये जाते हैं। इसलिये सिद्धभाव (कारक)ही साधन हैं। अपने आश्रय से शक्ति कैसे व्यंजित होती है इसका निदर्शन भर्तृहरि ने रस के दृष्टान्त से किया है। रस आदि का रसनादि क्रिया साधन है और वे सदा नियत ग्रहण वाले हैं अर्थात् अपने जाति बल के आधार पर ग्राह्य हैं। द्रव्य का ग्रहण कभी द्रव्य रूप में होता है, कभी गुण-रूप में और कभी क्रिया रूप में, इस तरह उसका ग्रहण नियत नहीं है। परन्तु रस का आधार ही उसके स्वरूप ग्रहण में हेतु है और वह नियत है। रसत्व से रस का, रस से उसके आश्रय का आक्षेप हो जाया करता है। इस तरह भाव परस्पर शक्ति-मान् होते हैं। परस्पर संसर्ग ही शक्ति है। शक्ति नाम की कोई नियत अन्य वस्तु नहीं है। परस्पर संसर्ग कभी संयोग में होता है। जैसे, मन और इन्द्रिय के अर्थ के साथ सन्निकर्ष किसी वस्तु की उपलब्धि(ज्ञान) में साधन होता है। सुख की अनुभूति में आत्मा का अन्तः करण से संयोग साधन है। इस तरह जो जिसका जिस रूप में अनु-ग्रह करता है वह उसका उसी रूप में साधन है।[६] अस्तु, सभी भावों की अतीन्द्रिय-शक्तियां हैं। भाव सहकारी के रूप में स्वरूप से ही कार्यजनक है, भावों की आत्मा ही शक्ति है। विशेष सहकारी के संपर्क से विशेष कार्य जनकता-शक्ति भाव में स्वाभा-विक है। अतः भाव से व्यतिरिक्त किसी अदृष्ट शक्ति की कल्पना आवश्यक नहीं है।

सभी द्रव्य में सहज रूप में शक्ति विराजमान है। समय पर उसकी अभि-व्यक्ति होती है। कुड्य में आवरण की शक्ति और शस्त्र में छेदन की शक्ति सदा निहित है परन्तु क्रियाकाल में, अपने कार्य-निष्पादन के समय में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। द्रव्य में क्रिया-काल के पूर्व-काल में भी शक्ति है और क्रिया-काल के उत्तर काल में भी है। इस विषय में आचार्यों में विकल्प है। कुछ लोग शक्ति और भाव (द्रव्य) की साथ-साथ सत्ता मानते हैं। कुछ लोग शक्ति के पूर्व में भाव मानते हैं और कुछ लोग शक्ति के उत्तरकाल में भाव मानते हैं।

व्यतिरिक्त और अव्यतिरिक्त पक्षों में चाहे सत्य जो हो व्याकरण-दर्शन व्यतिरिक्त पक्ष को प्रश्रय देता है। वह शब्दप्रमाणवादी है। शब्द से जो अभिव्यक्त होता है वही उसके लिए प्रमाण है। शब्द पदार्थों का साधनरूप व्यतिरिक्त रूप में ही व्यक्त करता है। लोक में भी शक्ति व्यतिरिक्त रूप में ही समझी जाती है। अव्यति-रिक्त मानने पर सतत क्रिया-निष्पत्ति होने की संभावना होने लगेगी।

एवं च वैयाकरणनयानुसारिभिः अस्माभिः तत्सामर्थ्यं व्यतिरिक्तमेवोच्यते। ....लोकश्च शब्दक्रिया निमित्तायाः शक्तेः व्यतिरेकमेवानुगच्छति। अव्यतिरेके हि सततं क्रियानिष्पत्तिप्रसंगः।[७]

शक्ति एक अथवा अनेक

शक्ति साधन है। वह शक्ति एक है अथवा अनेक इस विषय में भी दार्शनिक-

---

६. वाक्यपदीय ३, साधन समुद्देश ९—१४
७. हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ३८

प्रवाद हैं। कुछ लोगों के अनुसार साधन शक्तियां छः (षट्) हैं, नित्य हैं, भेदाभेद-समन्वित हैं। जिस तरह अर्थ में जाति की सत्ता रहती है उसी तरह वे भी उसमें क्रिया की सिद्धि के लिए रहती हैं। यद्यपि द्रव्यभेद से भिन्न-भिन्न अनेक शक्तियां हो सकती हैं फिर भी उन सबका समावेश छः शक्तियों में हो जाता है। इसलिए मूल शक्तियां छः ही हैं। वे ही छः शक्तियां, छः साधन अथवा छः कारक नाम से विख्यात हैं।

कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि शक्ति मूल रूप में एक ही है। निमित्तभेद से एक ही साधन-शक्ति कई रूप में (छः रूप में) व्यक्त होती है और वही निमित्त भेद साधन-भेद का हेतु है। इस मत के अनुसार मूल रूप में वह शक्ति कर्तृत्व शक्ति है। कर्तृत्व शक्ति ही अवान्तर व्यापार की विवक्षा से करण, सम्प्रदान आदि नाम प्राप्त करती है और छः प्रकार की कही जाती है।[८] क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारक सहायक हैं। अतः कर्तृत्व किसी-न-किसी रूप में सभी कारकों में है। पुत्र के जन्म में माता-पिता दोनों का कर्तृत्व है। विवक्षावश पिता में कर्तृत्व और माता में अधिकरणत्व, कभी माता में कर्तृत्व और पिता में अपादानत्व मान लिया जाता है। साध्य के रूप में क्रिया सभी कारकों के लिए साधारण है। अतः उस क्रिया के प्रति सभी कारकों में कर्तृत्व है। प्रधान क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारण अपने-अपने व्यापार में स्वतन्त्र हैं, कर्त्ता के सान्निध्य में भी दूसरे कारकों का व्यापार बन्द नहीं होता। अतः कर्त्ता के सान्निध्य में, पारतंत्र्य अवस्था में भी उनमें कारकत्व बना रहता है। जहाँ स्वतः स्वातंत्र्य है वहीं कर्तृ संज्ञा होती है और जहां पारतंत्र्यसहित स्वातंत्र्य है वहां कर्तृ संज्ञा न होकर करण आदि का विधान होता है। कर्ता की प्रधानता इसलिए मानी जाती है कि करण आदि की प्रवृत्ति-निवृत्ति उसी के अधीन होती है, दूसरों से पहले उसीको शक्तिलाभ होता है, उसका कोई प्रतिनिधि नहीं होता। आस्ते, शेते जैसे स्थलों में जहां करण आदि का अभाव है, केवल वही दिखाई देता है और बिना कर्ता के करण आदि के दर्शन नहीं होते। इसलिए कर्तृत्व-शक्ति ही, इस मत के अनुसार, प्रधान शक्ति है।

क्रिया साधन रूप में

महाभाष्यकार ने क्रिया को भी साधन के रूप में व्यक्त किया है। उनके अनुसार क्रिया भी कृत्रिम कर्म है। क्रिया किस तरह क्रिया से ईप्सिततम हो सकती है इसके लिए उन्होंने संदर्शन आदि क्रियाओं का उल्लेख किया है। बुद्धिशाली मनुष्य पहले किसी वस्तु को बुद्धि से देखता है। देखने पर उसे पाने की इच्छा उसके मन में जगती है। इच्छा (प्रार्थना) होने पर वह उसके लिए अध्यवसाय करता है। अध्यवसाय से आरंभ, आरंभ से निवृत्ति और निवृत्ति से फल की प्राप्ति होती है। इसमें संदर्शन क्रिया का साध्य प्रार्थना-क्रिया है और प्रार्थना-क्रिया का साधन संदर्शन क्रिया है। इसी तरह प्रार्थना-क्रिया अध्यवसाय-क्रिया का साधन है। इस तरह पहले जो क्रिया साध्य है वही आगे वाली

---

८. वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ३५-३७

क्रिया का साधन बन गई है। भर्तृहरि के अनुसार संदर्शन क्रिया का साधन चैतन्य है (**संदर्शने तु चैतन्यं विशिष्टं साधनं विदुः**)।[९] कैयट के अनुसार "कारके" १।४।२३ इस सूत्र में कारक पद से क्रिया विवक्षित है (**क्रियाऽत्र सूत्रे कारकशब्देनोच्यते। सा हि कर्त्रादीनि विशिष्टव्यपदेश युक्तानिकरोति-महाभाष्यप्रदीप १।४।२३**)। पाणिनि-सूत्र ५।१।११८ के भाष्य में भी पतञ्जलि ने "कः पुनः धातुकृतोऽर्थः। साधनम्।" कहा है। कैयट के अनुसार यहां धातु शब्द का अभिप्राय धात्वर्थ क्रिया है। वही साधन है। हेलाराज के अनुसार "क्रिया साधन है" यह मत वार्तिककार का है (**शक्तिव्यतिरेका क्रियोपकारार्थमाश्रिता साधनमिति सामान्येनोच्यत इति वार्तिककारमतम्**)।[१०]

अपूर्व, कालशक्ति प्रकृति आदि साधन के रूप में

भर्तृहरि ने साधन-दर्शन के प्रसंग में विभिन्न तंत्रों के मतों का भी उल्लेख किया है जैसा कि उनकी पद्धति है। कुछ दार्शनिक (मीमांसक) "अपूर्व" को ही साधन मानते हैं। (मीमांसक यागजन्य अदृष्ट शक्ति-विशेष को अपूर्व मानते हैं)। कुछ विचारक ब्रह्म की काल-शक्ति को ही साधन मानते हैं। काल-द्रव्यवादी केवल काल को साधन मानते हैं। सांख्यदर्शन राजसी क्रिया अथवा प्रकृति को ही साधन मानता है। विज्ञानवादी बुद्धि प्रकल्पितरूप को और संसर्गवादी संसर्गरूप को साधन मानते हैं, इनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। व्याकरण-दर्शन लोकप्रसिद्ध पदार्थ-सामर्थ्य को साधन मानता है। हेलाराज ने इन सब मतों का संग्रह निम्नलिखित पंक्तियों में कर दिया है जो महत्त्वपूर्ण है :

> **तदेवं पदार्थसामर्थ्यं वैयाकरणमतेन साधनम्। अथवा बुद्धि प्रकल्पनारूपं विज्ञानवादाभिप्रायेण, संसर्गरूपं वा पदार्थान्तरभूतं संसर्गवादानुसारेण, अदृष्टलक्षणम् अपूर्वशब्दवाच्यं वा मीमांसकदृष्ट्या ब्रह्मसम्बन्धिनी वा कालशक्तिः अद्वैतदर्शनेन, क्रिया राजसी प्रकृतिरूपा वा साँख्यदर्शनानुसारेण, नित्यमेकं द्रव्यलक्षणं वा कालरूपं द्रव्यकालवादिनां मतेन विज्ञेयम्।"**[११]

अतः शक्ति शब्द से वाच्य साधन का व्याकरणदर्शन में स्थान है। उसीका कारक सामान्य रूप है। कारक के सात भेद माने जाते हैं। छः कर्ता, कर्म आदि के रूप में और एक शेष में। कुल मिला कर सात होते हैं—

सामान्यं कारकं तस्य सप्ताद्या भेदयोनयः
षट् कर्माख्यादिभेदेन शेषभेदस्तु सप्तमी ॥

[वाक्यपदीय ३, साधन ४४]

---

९. महाभाष्य १।४।३२ तथा वाक्यपदीय, साधन समुद्देश १६-१७

१०. हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुद्देश १७

११. हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ४२

कर्ता कारक

पाणिनि ने स्वतन्त्र को कर्ता माना है। जिसका स्व (आत्मा) तंत्र (प्रधान) हो वह स्वतन्त्र है। यद्यपि क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारकों का हाथ रहता है क्रिया के द्वारा जिसका व्यापार प्रमुख रूप में व्यक्त होता है, उसे स्वतन्त्र कहा जाता है। जिसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वेच्छाधीन हो वह भी स्वतन्त्र है। कुछ-न-कुछ स्वतान्त्र्य सभी कारकों में होता है, सभी कारक अपने-अपने व्यापार में स्वतन्त्र होते हैं फिर भी कर्ता को ही स्वतन्त्र माना जाता है। भर्तृहरि ने कर्ता में स्वातन्त्र्य के कई हेतु दिखाए हैं। कर्ता स्वतन्त्र इसलिए माना जाता है कि वह दूसरे कारकों की अपेक्षा पूर्व-शक्ति लाभ करता है। करण आदि में स्वातन्त्र्य कर्ता के द्वारा आता है। कर्ता अन्य कारकों के उपकारक होने के कारण उन्हें अपने से नीचे करने में समर्थ होता है। कर्ता की अधीनता में दूसरे कारक क्रियाशील होते हैं। जब कर्ता विरत हो जाता है वे भी निवृत्त हो जाते हैं। कर्ता अन्य कारकों को निवृत्त करता है पर अन्य कारक उसे नहीं निवृत्त करते, वह स्वयं निवृत्त होता है। दूसरे कारकों के प्रतिनिधि होते हैं, आवश्यकता पड़ने पर उनकेस थान पर दूसरों का उपादान किया जा सकता है। कर्त्ता का प्रतिनिधि नहीं होता। कर्ता अधिकारी होता है, अधिकारी वह होता है जो अर्थी हो, समर्थ हो, और शास्त्र से अपर्युदस्त हो। जहां दूसरे कारक नहीं हैं वहां भी कर्ता रह सकता है। अस्ति क्रिया के साथ कोई अन्य कारक नहीं है, यहां प्रविवेक है, किन्तु यहां कर्ता है। यद्यपि अस्ति क्रिया के साथ अधिकरण कारक आदि संभव हैं किन्तु उनकी स्थिति नान्तरीयक रूप में है। शब्द व्यापार से उनका उन्मीलन नहीं होता है। कर्ता दूर से भी उपकारी होता है, दूसरे कारकों में यह शक्ति नहीं है। बिना कर्त्ता के क्रिया नहीं होती, अतः कारकों के मिलित रूप से भी कर्ता की विशेषता सिद्ध होती है। इन सब कारणों से कर्ता में स्वातंत्र्य माना जाता है।

उपर्युक्त कर्तृधर्म शाब्दिक हैं। शब्द से जहां इनकी अभिव्यक्ति हो, वहां कर्तृत्व रहता है। इसलिए चेतन, अचेतन सब में शब्दोपात्त रूप से कर्तृत्व संभव है। हेलाराज ने इस प्रसंग में किसी अन्य व्याकरण के दो सूत्र उद्धृत किए हैं :

अर्थीकर्ता तथा युक्तश्च

(हेलाराज, वाक्यपदीय ३, साधन समुद्देश, १०३)

ये दोनों सूत्र पाणिनि के स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४ और तत्प्रयोजको हेतुश्च १।४।५५ के क्रमशः अनुकरण है। किन्तु हेलाराज ने इनका प्रणयन चेतन और अचेतन की दृष्टि से माना है।

कर्तृत्व के शाब्द स्वरूप मानने पर ही एक कारक में विवक्षावशात् कभी कर्तृत्व, कभी कर्मत्व और कभी करणत्व संभव है। प्रयोज्य कर्ता में भी स्वातंत्र्य है। यदि कोई क्रिया में प्रवृत्ति नहीं है, उसे यदि क्रिया में प्रवृत्त किया जाता है, उसके सामर्थ्य को देख कर ही किया जाता है। अशक्त व्यक्ति किसी द्वारा किसी व्यापार में नियुक्त नहीं किया जाता। इसलिए क्रिया की सिद्धि में संभावित शक्ति के रूप में

प्रयोज्य में भी कर्तृत्व रहता है। वह आत्मसाध्य क्रिया में अन्य कारकों का प्रयोजक होता है। दूसरे द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उसके स्वातंत्र्य में बाधा नहीं पड़ती। विषयभेद में प्रयुक्त दशा में उसमें पारतंत्र्य और स्व व्यापार में स्वातंत्र्य है। अपने व्यापार में अनन्यप्रयोज्य के रूप में वह अन्य कर्ता की तरह ही स्वतन्त्र माना जाता है।

कर्ता ही प्रयोजक के रूप में हेतु भी कहा जाता है। प्रेक्षण, अध्येषण और प्रयोज्यक्रिया के अनुकूल चेष्टा करता हुआ कर्ता ही व्याकरणशास्त्र में हेतु नाम से व्यक्त किया जाता है। स्वातंत्र्य को न छोड़ते हुए प्रयोजक व्यापार में प्रयोज्य रूप में कभी पराधीनता का भी अनुभव करता है।

प्रयोजक दो तरह का होता है—मुख्य और अमुख्य (गुणभूत)। 'देवदत्तः कटं कारयति' वाक्य में प्रयोजक मुख्य है। 'भिक्षा वासयति' इस वाक्य में भिक्षा के वास हेतु होने के कारण प्रयोजकत्व उपचरित माना जाता है।

न्यासकार ने कर्त्ता का सान्निध्य शास्त्र में तीन प्रकार से दिखाया है। निर्देश के द्वारा, प्रकरण के द्वारा और सामर्थ्य के द्वारा।

कर्म

क्रिया के माध्यम से कर्त्ता का ईप्सिततम कर्म माना जाता है। जहां पर कर्म के लिए क्रिया होती है, निष्पत्ति, संस्कार अथवा प्रतिपत्ति होती है, वहां कर्म ईप्सित होता है। अन्यत्र क्रिया ही प्रतीयमान संदर्शन आदि क्रिया की अपेक्षा ईप्सित होती है। ईसित के साथ अनीप्सित भी कर्म होता है। अनीप्सित शब्द से जो ईप्सित से अन्य है उन सबका ग्रहण होता है। अकथित भी कर्म है। कुछ कर्म विशेष नियम द्वारा निबद्ध हैं।

भर्तृहरि ने ईप्सित कर्म के तीन भेद दिए हैं, निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। तथा अन्य प्रकार के कर्मों को चार प्रकार का दिखाया है—औदासीन्य रूप से प्राप्य, अनीप्सित, संज्ञान्तर से अनाख्यात और अन्यपूर्वक। इस तरह कर्म सात प्रकार के होते हैं।

ईप्सित के तीन भेदों में से दो के, निर्वर्त्य और विकार्य के उल्लेख कात्यायन ने किए हैं। जिसकी प्रकृति, चाहे वह सत् हो अथवा असत्, अभेद रूप से आश्रित नहीं होती है वह निर्वर्त्य कर्म माना जाता है।

अथवा जो असत् से उत्पन्न होता है, अथवा सत् होते हुए भी जन्म द्वारा व्यक्त होता है वह निर्वर्त्य कर्म है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। सत्कार्यवाद के अनुसार सत् से सत् की उत्पत्ति होती है। दोनों रूप में, जन्म के द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह निर्वर्त्य है :—

> **यस्योपादान कारणं नास्ति तत् निर्वर्त्यम्। यथा संयोगं करोतीति। सदप्युपादान कारणं न विवक्ष्यते तत् निर्वर्त्यम्।**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३।२।१

यदि प्रकृति, सत् अथवा असत्, परिणामी रूप में विवक्षित रहती है, विकार्य कर्म होता है। विट्ठल ने निर्वर्त्य का सम्बन्ध असत् से और विकार्य का सम्बन्ध सत् से जोड़ा है :

तत्र निर्वर्त्यं यदसदेव जायते। यथा घटं करोतीति। विकार्यं लब्धसत्ताकमेवावस्थान्तरमापद्यते।

—प्रक्रियाकौमुदी, भाग १, पृ० ३८३

विकार्य कर्म दो प्रकार का माना जाता है। प्रकृति के उच्छेद से संभूत और गुणान्तर उत्पत्ति से संभूत। प्रकृति के उच्छेद से अभिप्राय अपनी प्रकृति के नाश से, सर्वात्मना विनाश से है। जैसे काष्ठं भस्म करोति। हेलाराज के अनुसार यह वाक्य निर्वर्त्य का भी उदाहरण है यदि प्रकृति की अविवक्षा हो। प्रकृति की विवक्षा में यह विकार्य का उदाहरण है :

काष्ठानि भस्म करोति। पूर्ववत् प्रकृति-विकारयोः क्रियासम्बन्धो योज्यः पूर्वेण तु लक्षणेन निर्वर्त्यमेतत् कर्म प्रकृतेरविवक्षायाम्। विवक्षायाम् तु विकार्यम्।

—हेलाराज, साधन समुद्देश ५०

'काष्ठानि दहति' इस वाक्य में विकार्य सामर्थ्य गम्य है। जब प्रकृति अपने स्वरूप को न छोड़ती हुई किसी गुणान्तर के सन्निधान से विकृत जान पड़ती है, उससे उपलक्षित भी विकार्य कर्म होता है। जैसे सुवर्णं कुण्डलं करोति। यद्यपि सांख्यमत के अनुसार इस वाक्य में भी विकार्य अपूर्व है किन्तु प्रत्यभिज्ञान के बल पर। लोक में उन्हें एक मानकर केवल गुणान्तर का भेद माना जाता है। अतः गुणान्तर के आधान से जहां दूसरा व्यपदेश हो, वह भी विकार्य कर्म है।

निर्वर्त्य और विकार्य सम्बन्धी विशेष जहां प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं लक्षित होते हैं, वह प्राप्य कर्म कहलाता है। जैसे आदित्यं पश्यति। इस वाक्य से आदित्य में दर्शन क्रिया द्वारा कोई विशेष या विकार प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जान पड़ता है।

कुछ लोगों के अनुसार प्राप्य कर्म नहीं है। क्योंकि क्रियाकृत विशेष सर्वत्र उपलब्ध होता है। कहीं वह दृश्य होता है और कहीं सूक्ष्मता के कारण अदृश्य होता है। इसके विपरीत, कैयट की मान्यता है कि प्राप्यत्व सभी कर्म में है। सभी कर्म क्रिया से प्राप्यमाण होते हैं। केवल अवान्तर की विवक्षा से कर्म तीन प्रकार के कहे जाते हैं :

तत्र प्राप्यत्वं सर्वस्य कर्मणोऽस्ति क्रियया प्राप्यमाणत्वात्। अवान्तरविवक्षायां तु त्रैविध्यमुच्यते।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ३।२।१

प्राप्यमाण कर्म की क्रियासिद्धि में निम्नलिखित साधनभाव माने जाते हैं :

आभासोपगमो व्यक्तिः सोढत्वमिति कर्मणः।
विशेषाः प्राप्यमाणस्य क्रियासिद्धौ व्यवस्थिताः ॥—वाक्यपदीय ३, साधन, ५२

आभास का उपगम, योग्यदेश में प्रकाश की उपलब्धि प्राप्य कर्म के दर्शन में साधन होती है। अथवा प्रदीप आदि के द्वारा व्यक्ति (अभिव्यक्ति) उसका अंग बनती है। अथवा सोढत्व बोधक्षमता आदि प्राप्य कर्म के साधन होते हैं। ये सब दर्शन क्रिया के हेतु हैं। आदित्यं पश्यति इस वाक्य से आदित्य आभास प्राप्त होता है क्योंकि देखा जाता है, अभिव्यक्ति भी प्राप्त करता है क्योंकि प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, दर्शन क्रिया की सहनशक्ति भी प्राप्त करता है क्योंकि सहता है।

निर्वर्त्य में विकार्य और प्राप्य के धर्म और स्वधर्म होते हैं, विकार्य में प्राप्यधर्म और स्वधर्म होता है, प्राप्य में केवल स्वधर्म होता है (श्रृंगारप्रकाश, पृ० १४७)।

शेष श्रीकृष्ण ने ईप्सित, अनीप्सित और औदासीन्य रूप से प्राप्य इन तीनों के निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य रूप से तीन-तीन भेद किए हैं। इस तरह से नव भेद होते हैं। इनमें अकथित और अन्यपूर्वक ये दो भेद मिलाकर कुल ग्यारह भेद हो जाते हैं :

एवञ्चेप्सितादीनां त्रयाणां निर्वर्त्यादिभेदात् त्रित्वे नवविधत्वम्। अकथितान्यपूर्वकभेदाभ्यां सहैकादशत्वं प्रतिभाति।

—पदचन्द्रिका विवरण, पृ० १६१ हस्तलेख।

अभिनवगुप्त ने विकार्य आदि को क्रमशः कार्यपरिणाम, धर्मपरिणाम और वृत्तिपरिणाम कहा है :

पूर्वं रूपं हि तिरोदधत् कश्चित् परिणामः काष्ठभस्मवत् स कार्यपरिणाम उच्यते। यस्तु अतिरोदधत् स धर्मपरिणामः यः सिद्धाकारतया भाति सुवर्णस्येव कुण्डलता। यस्तु अतिरोदधत् साध्याकारत्वेन गच्छति बुध्यते इति यथा स वृत्तिपरिणामः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १, पृ० १४५

कर्म के इस विवेचन में सत् असत् और परिणाम की चर्चा आ जाने से उन दिनों दर्शन के क्षेत्र में इसकी पर्याप्त चर्चा थी और भर्तृहरि की मान्यता के विरोध में कुछ लोगों ने कई तर्क उपस्थित किए थे। एक आक्षेप नीचे लिखी कारिकाओं में है :

निर्वर्त्यं कारकं नैव क्रिया तस्य हि साधिका।
विकार्यमपि भावेन विरोधान्नैव कारकम्॥
प्राप्यत्वात् पूर्विकावस्था न सा कर्मबुधैर्मता।
प्राप्यावस्था क्रियासाध्या साध्यत्वात् साधनं नहि।[1]

—पुरुषोत्तमदेव द्वारा कारक चक्र में उद्धृत, पृ० १०६

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त कर्म भेद कारक कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। निर्वर्त्य असत् से उत्पन्न है, वह स्वयं क्रियाकृत। क्रिया के पूर्व उसकी सत्ता नहीं थी। विकार्य और प्राप्य क्रिया के साध्य हैं, अतः वे साधन (कारक) नहीं हो सकते। पुरुषोत्तम देव के अनुसार इस आक्षेप का उत्तर है कि निर्वर्त्य आदि में स्वगत भी व्यापार होता है। उस व्यापार के आधार पर कर्म को कारक माना जाता है (कारक चक्र पृ० १०६)।

विकार्य में धातु से उपात्त फलाश्रयता के न होने का प्रश्न भी उठाया गया था। भट्टोजि दीक्षित ने इसका समाधान प्रकृति और विकृति में अभेद विवक्षा के आधार पर फल की आश्रयता मानकर किया है। अथवा 'काष्ठानि विकुर्वन् भस्म उत्पादयति' इस रूप में अर्थ कर आश्रयता सिद्ध होती है (शब्द कौस्तुभ, १।४।४९)।

ईप्सित कर्म का उदाहरण पयः पिबति। अनीप्सित का विषं भक्षयति। औदासीन्य अथवा तटस्थता से प्राप्य का उदाहरण, हेलाराज के अनुसार, ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलं स्पृशति' होना चाहिए(**औदासीन्येन ताटस्थ्येन यत् प्राप्यम्, यथा ग्रामं गन्तुः वृक्षमूलादि—हेलाराज, साधन समुद्देश ४६**) किन्तु महाभाष्य, काशिका आदि के आधार पर यह उदाहरण अनीप्सित का होना चाहिए। वस्तुतः इसका उदाहरण है 'पन्थानं गच्छति नदीं तरति। यह आस्थित कर्म है इसका ईप्सित अनीप्सित से भेद इस रूप में किया है कि आस्थित में क्रिया के दो रूप होते हैं। संज्ञान्तर से अनाख्यात कर्म से अभिप्राय अकथित से है। अकथित संस्कृत-व्याकरण में परिगणित है। अन्यपूर्वक का उदाहरण 'अक्षान् दीव्यति' है।

करण

साधकतम का नाम करण है। जिस व्यापार के अनन्तर क्रिया की निष्पत्ति विवक्षित होती है वह करण माना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार करण अनिर्देश्य है, उसका कोई नियत रूप नहीं है। अधिकरण भी विशेष अर्थ की दृष्टि से करण रूप में विवक्षित हो सकता है। क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक होने के कारण पाणिनि ने इसे साधकतम माना था। प्रकृष्ट उपकारकता अन्य कारकों की दृष्टि से है। कर्ता क्रिया की सिद्धि के लिए करण का आश्रय लेता है फिर भी स्वातंत्र्य के कारण वह प्रधान होता है। परायत्तवृत्ति के कारण करण अप्रधान होता है। बिना कर्ता के करण व्यापार-शील नहीं होता। कर्त्ता निरपेक्ष है। करण सापेक्ष है। इसके अतिरिक्त धातु से कर्त्ता का व्यापार उक्त होता है, करण क्रिया धातु से अभिहित नहीं होती। 'साधु असिः छिनत्ति' जैसे प्रयोग विवक्षा के आधार पर होते हैं। वक्ता विवक्षा में स्वतंत्र है:

> **"न हि शब्दाः दाण्डपाण्डिका इव वक्तारमस्वतंत्रयन्ति। किं तर्हि। सत्यां शक्तौ वक्तुः विवक्षामनुविधीयते।"**

चन्द्रकीर्ति, प्रसन्नपदा माध्यमिकवृत्ति, पृ० २४

मण्डन मिश्र ने भी विशेष स्थल पर अभिधान के आधार पर करण की प्रधानता स्वीकार की है:

> **करणं नाम सर्वत्र कर्तृव्यापारगोचरः।**
> **तिरोदधाति कर्तारं प्रधान्नं तन्निबन्धनम्॥**[1]

जो निमित्त व्यापाराश्रित नहीं होता और द्रव्य गुण क्रिया विषयक होता है

१. भावनाविवक, पृ० ७६,।

उसे हेतु कहा जाता है।

संप्रदान

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्, १।४।३२

करणरूप कर्म के द्वारा जिससे अभिसम्बन्ध चाहा जाता है वह सम्प्रदान है। यह तीन प्रकार का माना जाता है:
प्रेरक, अनुमन्तृक, अनिराकर्तृक। प्रेरक, जैसे ब्राह्मणाय गां ददाति। इस वाक्य का अर्थ यह है कि ब्राह्मण यजमान को गाय दान देने के लिए प्रेरित करता है। और तब यजमान उसे गाय देता है। अनुमन्तृक जैसे उपाध्यायाय गां ददाति। उपाध्याय गाय के लिए उसे प्रेरित तो नहीं करता किन्तु गाय के मिलने पर उसे साधुवाद देता है, देने वाले के व्यापार का अनुमोदन करता है। अनिराकर्तृक, जैसे आदित्याय पुष्पं ददाति। आदित्य न तो फूल के लिए प्रार्थना करता है और न अनुमोदन करता है।

भोज ने सम्प्रदान के तीन भेद को दूसरे रूप से भी दिखाया है :—

ददाति कर्माप्य, कर्ममात्राप्य और क्रियाप्य।

—शृंगार प्रकाश, पृ० १५१

अपादान

कायसंसर्ग अथवा बौद्धिकसंसर्ग पूर्वक अपाय की विवक्षा होने पर अवधिभूत ध्रुव अपादान कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है—निर्दिष्ट विषय, उपात्तविषय और अपेक्षितक्रिय। जहां धातु के द्वारा अपायलक्षण विषय निर्दिष्ट रहता है उसे निर्दिष्टविषय कहते हैं जैसे, ग्रामात् आगच्छति। यहाँ क्रिया के द्वारा अपाय ग्राम शब्द निर्दिष्ट है। उपात्त विषय वहाँ माना जाता है जहाँ क्रिया अन्य क्रिया के अर्थ के अंग रूप में स्वार्थ को व्यक्त करती है जैसे 'बलाहकात् विद्योतते; यहाँ द्योतन क्रिया का अर्थ निःसरण है। हेलाराज ने गुणभाव और प्रधानभाव दोनों रूप में यहाँ क्रियार्थ को लिया है। उनके अनुसार वलाहकात् विद्योतते को दो रूप में कहा जा सकता है—**वलाहकात्, निःसृत्य ज्योतिः विद्योतते। अथवा, बलाहकात् विद्योतमानं निःसरति।** जहां क्रियापद की प्रतीति होती है किन्तु प्रयोग नहीं हुआ रहता वह अपेक्षितक्रिय है।

जैसे, **साङ्काशकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः।**

अश्वात् त्रस्तात् पतितः—इस वाक्य में वार्तिककार ने ध्रौव्य अविवक्षित माना है। ध्रुव एकरूपता का नाम है। अपायविषयक ध्रौव्य आश्रित होता है, निरपेक्ष (अनवच्छिन्न) नहीं। इसलिए अपाय में जो अनाविष्ट है वह अपाय में ध्रुव होता है। दौड़ते हुए घोड़े से गिरने में देवदत्त कर्तृक पतन में त्रस्त अश्व ध्रुव है क्योंकि वह अपाय से अनाविष्ट है। किन्तु देवदत्त अध्रुव है। उसमें अपाय का आवेश है। अथवा त्रस्त अश्व का ध्रौव्य अविवक्षित है। क्योंकि कारक का पहले क्रिया में अन्वय होता है। वह श्रुतिप्रापित कहलाता है। बाद में विशेषण से वाक्यीय सम्बन्ध होता है। अतः 'अश्वात् पतितः' इस सम्बन्ध में अश्व का अध्रुवत्व नहीं है। बाद में त्रस्त के

साथ सम्बन्ध होने पर भी अध्रौव्य से अन्तरंग संज्ञा का निवर्तन नहीं होता। विशेषण के अपादान न होने पर भी सामयिकी विभक्ति होती है। वह विशेष्य के अनुरोध पर होती है न कि अनियम से। अथवा त्रस्त शब्द भी अपादान है। क्योंकि वह त्रास की अपेक्षा में तो अध्रौव्य है किन्तु पतन की अपेक्षा में उसमें ध्रौव्य है—(कैयट, महाभाष्य-प्रदीप १।४।२५)।

भोज ने अपादान के तीन भेदों को पाणिनि के सूत्रों में दिखाया है। उनके अनुसार ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४ निर्दिष्ट विषय है। भीत्रार्थानां भय हेतुः १।४।२५, पराजेरसोढः १।४।२६ आदि उपात्तविषय है। पञ्चमीविभक्तेः २।३।४२ आदि अपेक्षित-क्रिय हैं। (शृंगार प्रकाश, पृ० १५३)।

'उपाध्यायात् अधीते' इस वाक्य के विश्लेषण में महाभाष्यकार ने सन्ततत्व और ज्योतिर्वद् ज्ञान का उल्लेख किया है। जैसे फल वृक्ष से च्युत होकर पुनः वृक्ष पर नहीं होता, इसी तरह शब्द भी उपाध्याय के मुख से निःसृत होकर पुन वहां नहीं होता। वे ही शब्द पुनः जान पड़ते हैं सन्ततत्व के कारण। शब्दों का पुनःपुनः उत्पादन संततत्व है। कैयट के अनुसार उपाध्याय के द्वारा व्यक्त की जाती हुई ध्वनियां भिन्न-भिन्न होती हैं किन्तु सादृश्य के कारण वे ही जान पड़ती हैं। वे ध्वनियाँ सुनने वाले के श्रोत्रदेश में पहुँच कर व्यक्तिस्फोट के रूप में अथवा जातिस्फोट के रूप में शब्द की अभिव्यक्ति करती हैं। अथवा ज्वालामयी ज्योति लगातार प्रवाहित होती हुई सादृश्य के कारण वही समझी जाती है यद्यपि वह भिन्न-भिन्न है। उसका अनवरत प्रवाह सन्तत कहा जाता है। उसी तरह उपाध्याय के ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं। वे विभिन्न शब्द के रूप में ढलकर सन्तत जान पड़ते हैं। महाभाष्यकार का अभिप्राय ज्ञान-शब्दत्वापत्तिवाद से है—(महाभाष्य-प्रदीप १।४।२९)।

पाणिनि ने 'जनि कर्तुः प्रकृतिः' १।४।३० को भी अपादान माना था। पतंजलि ने इसका प्रत्याख्यान किया है। 'गोमयात् वृश्चिको जायते' जैसे वाक्यों में अपक्रमण रूप में, अपाय रूप में अपादान है। कैयट के अनुसार पतंजलि का मत लोक-आधार पर है। लोक की मान्यता में जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह उससे निकलती है। दर्शन के क्षेत्र में भिन्न विचार हैं। वैशेषिक दर्शन में परमाणु समवेत कार्य कारण से अपृथक् देश में उत्पन्न होता है। इसलिए कार्य का अपक्रमण नहीं होता। सांख्यदर्शन के अनुसार भी अपक्रमण नहीं है। जन्म और नाश आविर्भाव और तिरोभाव के रूप में परिणामविशेष हैं। क्षणिक दर्शन, द्रव्यान्तर आरम्भ दर्शन अथवा परिणामदर्शन के आधार पर पतंजलि ने उपर्युक्त वाक्य में सन्ततत्व माना है। जो सत् है उसका जन्ययोग संभव नहीं है, जो असत् है, उसका कर्तृत्व असंभव है। कोई तीसरा पक्ष भी नहीं है ऐसी दशा में अंकुरः जायते जैसे प्रयोग कैसे उपपन्न होते हैं। इसका समाधान बौद्धिक स्वरूप मानकर किया जाता है। अर्थ बुद्धि व्यवस्थापित है। उसका क्रिया में कारकत्व उपपन्न हो जाता है—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।४।३०। 'ग्रामात् नागच्छति' जैसे निषेध वाक्यों में अपादान संज्ञा प्राप्ति पूर्वक प्रतिषेधदर्शन के आधार पर की जाती है। इन्दु का भी यही मत है :

तथाह इन्दुमिश्रः, अथ कटं न करोति, परशुना न छिनत्ति, ब्राह्मणाय गां न ददाति, ग्रामात् नागच्छति, राज्ञः नायं पुरुषः, गृहे नास्तीत्यादौ द्वितीयादिभिः न भवितव्यम् । नञा निषेधात् । उच्यते, प्राप्तिपूर्वका हि प्रतिषेधाः भवन्ति ।[1]

—कारकचक्र, पृ० ११७ में उद्धृत ।[1]

अधिकरण

पाणिनि के अनुसार आधार अधिकरण है । कारक क्रिया-सापेक्ष है। अतः क्रिया के आधार का नाम अधिकरण है । क्रिया प्रायः कर्त्ता में अथवा कर्म में अवस्थित रहती है इसलिए अधिकरण को भी कर्मस्थक्रियाविषयक अथवा कर्तृस्थक्रियाविषयक ही माना जाय तो स्थाली आदि में अधिकरण की उपपत्ति ठीक से नहीं हो पाती है। इसलिए कर्त्ता और कर्म से व्यवहित क्रिया के आधार को भी अधिकरण माना जाता है। अधिकरण तीन प्रकार का होता है, औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक । आधार और आधेय का जहां उपश्लेष होता है उसे औपश्लेषिक अधिकरण माना जाता है । जैसे कटे आस्ते । वैषयिक का उदाहरण गुरौ वसति । जिस तरह चक्षु आदि का रूप आदि विषय माने जाते हैं वैसे ही शिष्य का गुरु में अनन्य भाव रहता है । उस अनन्यभाव का विषय गुरु है । बिना संयोग के भी एक दूसरे पर निर्भरता देखी जाती है, जैसे राज्ञः पुरुषः में । अतः गुरु भाव का आश्रय हो सकता है । अथवा यहां बौद्धिक उपश्लेष है । तिलेषु तैलं में अभिव्यापक आधार है । तिल और तैल का संयोग तो संभव है किन्तु देशविभाग न होने से संश्लेष नहीं माना जा सकता । अतः अभिव्यापक माना जाता है । रामचन्द्र ने चार प्रकार के आधार माने हैं—

औपश्लेषिकः सामीपिकः विषयो व्याप्त इति ।

—प्रक्रिया कौमुदी, पृ० ४५५

भर्तृहरि दर्शन में संपूर्ण विश्व मूर्तविवर्त और क्रियाविवर्त के रूप में अवस्थित है । मूर्तविवर्त का आधार आकाश है । क्रियाविवर्त का आधार काल है:

कालात् क्रिया विभज्यन्ते आकाशात् सर्वमूर्तयः ।
एतावांश्चैव भेदोऽयमभेदोपनिबन्धनः ।

—वाक्यपदीय, साधन, १५३

सम्बन्ध

सम्बन्ध कारक से भिन्न किन्तु कारक के शेष रूप में स्वीकृत है । जैसे अन्य साधनों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध होता है वैसा सम्बन्ध कारक का नहीं होता। इसलिए इसे

---

१. सार्थात् हीयते में अपादान के प्रसंग में इन्दु के एक मत का उल्लेख भट्टोजि दीक्षित ने भी किया है--जहातेः कर्तृस्थक्रियत्वात् कर्मण्येवायं लकार इति इन्दुनोक्तत्वात्—शब्द-कौस्तुभ १।४।२४, पृ० ११७

शेष रूप में माना जाता है। कारकों की अविवक्षा का नाम शेष है। कर्म, करण आदि षट् कारकों से अन्य सम्बन्ध शेष है।

राज्ञः पुरुषः जैसे सम्बन्ध विशेष में, स्वस्वामिभाव में ददाति क्रिया का अर्थ देना है। राजा पुरुष को देता है। पूर्व अवस्था की दान क्रिया शेष अवस्था में भी अव्यक्त रूप से काम करती है। ऐसे स्थलों में क्रिया-कारक सम्बन्ध कारणभूत होता है, शेष सम्बन्ध फलभूत होता है। इसलिए शेष में भी क्रियाकारक सम्बन्ध अश्रूयमाण क्रिया के आधार पर हो जाता है। कहीं-कहीं क्रिया श्रूयमाण भी रहती है जैसे नटस्य शृणोति। यहाँ श्रवण केवल नटों का विवक्षित है। किसी निमित्त न होने से करण आदि कारक की यहाँ प्रवृत्ति नहीं है। अतः शेष कारक है। क्रिया के श्रुत और अश्रुत रूप के आधार पर संग्रहकार ने संबंध दो प्रकार के माने थे—तिरोभूत क्रियापद और सन्निहित क्रियापद। तिरोभूतक्रियापद का उदाहरण राज्ञः पुरुषः है। सन्निहित क्रियापद का उदाहरण मातुः स्मरति है। मातुः स्मरति पर कुछ विवाद था। इसका उल्लेख कर्मप्रवचनीय के प्रसंग में भी किया जा चुका है। कैयट ने सारांश इस रूप में दिया है:

मातुः स्मरणयोः अवस्थानादि क्रियानिमित्तः सम्बन्ध इति केचिदाहुः। अन्ये तु स्मरणस्य क्रियारूपत्वात् क्रियान्तरमन्तरेणैव द्रव्येण सम्बन्धोपपत्तिमाहुः। यथा द्वयोः काष्ठयोः जतुकृतः संश्लेषः, जतुनस्तु काष्ठेन स्वतः एव, न जत्वन्तर कृतः।

—महाभाष्य प्रदीप २।३।५२[1]

क्रिया के श्रवण अथवा अश्रवण के रूप में भी, कर्म आदि की अविवक्षा में शेष सम्बन्ध उपपन्न होता है। सम्बन्ध सम्बन्धी के भेद से अनेक प्रकार का होता है, स्वस्वामिसम्बन्ध, जन्यजनकसम्बन्ध, अवयवावयविसम्बन्ध, स्थान्यादेशसम्बन्ध, आगमागमिसम्बन्ध, क्रियाकारकसम्बन्ध आदि। सम्बन्ध की इयत्ता नहीं है। एकं शतं षष्ठ्यर्थाः कहा जाता है। परमार्थ रूप में सम्बन्ध एक है:

यद्यपि भिन्नोभयाश्रितैकः सम्बन्ध इति कज्जटीय (कैयटीय) सम्बन्धलक्षणात् संयोगसमवायौ एव सम्बन्धौ तथापि विशेषणविशेष्यादीनामुपचरितः स्वीकृतः भाष्ये। अतः सोऽपि स्वीकर्तव्य एवास्माभिः। सर्वत्र सम्बन्धिभेद एव सम्बन्धस्यभेदको द्रष्टव्यः। परमार्थस्तु सम्बन्ध एक एव।

—पुरुषोत्तमदेव, कारक चक्र, पृ० ११३

सम्बन्ध द्विष्ठ होता है। पाणिनि ने शेष में षष्ठी का विधान किया है (शेषे षष्ठी २।३।५०)। इस पर विवाद था कि षष्ठी विभक्ति राजा के पुरुष अर्थ में राजन् शब्द से होती है, पुरुष शब्द से भी होनी चाहिए। सम्बन्ध दोनों में है, वह द्विष्ठ है। किसी प्राचीन व्याकरण में 'गुणे षष्ठी' सूत्र था। इस नियम के अनुसार आपत्ति नहीं है (**व्याकरणान्तरे तु गुणे षष्ठी—इति वचनात् नास्ति दोषः—महाभाष्यप्रदीप** २।३।५०)। पाणिनि संप्रदाय में इस आपत्ति का परिहार अर्थप्राधान्य

---

१. द्रष्टव्य हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।१६६

मानकर किया जाता है (**न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्, अर्थकृतेन नाम शब्देन भवितव्यम्**—**महाभाष्य २।३।५०**)। लोक में परोपकारी रूप में राजा विवक्षित है। वह परार्थ है। पुरुष उपकार्य है। वह स्वनिष्ठ है। प्रधान है। षष्ठी एक से होती है और गुणभूत से होती है—

न हि शब्दस्य भावाभावाभ्यामर्थस्य भावाभावौ क्रियते। किं तर्हि। अर्थस्य प्रतिपादयिषया विषयीकरणाकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ भावाभावावित्यर्थः। तत्र परोपकारित्वेन राज्ञो विवक्षितत्वात् षष्ठी भवति। पुरुषस्य तूपकार्यतया स्वनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वात् प्रथमा।

—महाभाष्यप्रदीप २।३।५०

विशेषण-विशेष्यभाव के स्वेच्छा पर निर्भर होने से पुरुष के राजा की विवक्षा में पुरुषस्य राजा प्रयोग होता है। इसलिए इस सम्बन्ध में भर्तृहरि की यह कारिका प्रसिद्ध है—

द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद्गुणेषु व्यतिरिच्यते।
तत्राभिधीयमानः सन् प्रधानेऽप्युपभुज्यते॥

—वाक्यपदीय ३, साधन १५७

सम्बोधन

अभिमुखीकरण को सम्बोधन कहा जाता है। सिद्ध पदार्थ का क्रिया के प्रति विनियोग के लिए संबोधन का आश्रय लिया जाता है। व्याकरणागम परंपरा में इसे वाक्यार्थ नहीं माना जाता। संबोधन के लिए प्रयुक्त विभक्ति आमंत्रित विभक्ति भी कही जाती है—

योऽर्थः स्वेन धर्मेण प्रसिद्धो धर्मान्तर-सम्बन्धं प्रत्यभिमुखी क्रियते तत्रामन्त्रित—विभक्तिः। यथा देवदत्तं क्रियान्तरसम्बन्धं प्रत्यभिमुखी करोति, देवदत्त अधीष्व भुङ्क्ष्वेति।

—महाभाष्यदीपिका, पृ० १०

पाणिनि ने प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्ति का व्यवहार किया है। इनके अर्थ विभक्त्यर्थ कहलाते हैं। पाणिनि ने सूत्र रूप में इन सबके अर्थ बतला दिए हैं। जैसे, प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६ आदि। विभक्त्यर्थ प्रातिपदिकार्थ से भिन्न माना जाता है। पाणिनि ने 'अव्ययं विभक्तिः' २।१।६ सूत्र में विभक्ति शब्द का प्रयोग किया है इससे अनुमान किया जाता है कि उन्हें विभक्त्यर्थ द्रव्य से अतिरिक्त रूप में अभिप्रेत है। भोज ने स्वार्थ, द्रव्य और लिंग को प्रातिपदिकार्थ और संख्या, कारक तथा शेष को विभक्त्यर्थ माना है (शृंगारप्रकाश, पृ० १८३, १९०)। विभक्त्यर्थ पर विचार नव्य नैयायिकों ने अधिक किया है। कौण्डभट्ट, नागेश आदि ने सुबर्थ विचार न्याय और व्याकरण परम्परा के मिश्रित रूप में किया है।

लिङ्ग-विचार

लिङ्ग के विषय में श्लोकवार्तिककार और कात्यायन के वक्तव्य महत्त्वपूर्ण हैं। शायद ही विश्व के किसी वाङ्मय में लिंग पर इतने प्राचीन काल में इतने सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किये गये हों।

स्त्रियाम् ४।१।३ सूत्र पर निम्नलिखित श्लोकवार्तिक हैं—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥
लिंगात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रूकुंसे टाप् प्रसज्यते।
नत्वं खरकुटीःपश्य खट्वावृक्षौ न सिध्यतः॥
नापुंसकं भवेत्तस्मिन् तदभावे नपुंसकम्॥
असत्तु मृगतृष्णावत् गन्धर्वनगरं यथा॥
आदित्यगतिवत्सन्न वस्त्रान्तर्हितवच्च तत्।
तयोस्तुतत्कृतं दृष्ट्वा यथाकाशेन ज्योतिषः॥
अन्योन्यसंश्रयं त्वेतत् प्रत्यक्षेण विरुध्यते।
तटे च सर्वलिंगानि दृष्ट्वा कोऽध्यवसास्यति॥
संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।
संस्त्यानेस्त्यायतेर्ड्ट् स्त्री सूतेः सम्प्रसवे पुमान्॥
तस्योक्तौ लोकतो नाम गुणो वा लुपि युक्तवत्।

आरम्भ में भाषा में लिंग-विकास लौकिक लिंग के आधार पर हुआ होगा। यौन चिन्ह स्त्री-पुरुष के भेदक हैं। कुछ शारीरिक विशेषताओं के कारण किसी व्यक्ति को स्त्री और किसी व्यक्ति को पुरुष कहते हैं। ये विशेषताएँ भाषा में लिंग भेद के कारण मानी जा सकती हैं। स्तन, केश आदि स्त्रीत्व के प्रतीक हैं।[1] रोम आदि पुंस्त्व के प्रतीक हैं। इन दोनों के सादृश्य का अभाव नपुंसकत्व का लक्षण माना जा सकता है। श्लोकवार्तिक में 'उभयोरन्तरं' शब्द साभिप्राय है। इसके कारण अव्यय और

१. कुछ लोग, जिनमें नागेश भी हैं, केश का अर्थ भग करते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इस अर्थ में वह प्रयुक्त भी है, जैसे— अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः। केशशूलाश्च कामिन्यः

तिङन्तपदों में लिंगयोग संभव नहीं है। क्योंकि लिंग सत्वधर्म है। अव्यय और आख्यातार्थ असत्वभूत हैं। 'तदभावे' शब्द भी सार्थक है। इसके कारण मयूरी, कुक्कुट आदि के समुदाय में नपुंसक लिंग नहीं हो सकता। समुदाय समुदायी के सदृश होता है मान कर ऐसे स्थलों में नपुंसक लिंग की प्राप्ति हो जाती।

किन्तु स्त्री और पुरुष के विशेष शारीरिक चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था का भाषा में सर्वथा निर्वाह कठिन है। भ्रूकुंस (स्त्री वेषधारी नट) में स्तन आदि देखे जाते हैं। इस आधार पर उसमें स्त्रीत्व मानकर स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय टाप् आदि होने चाहिये। यद्यपि भ्रूकुंस के साथ स्त्रीत्व चिह्नों का नित्य सम्बन्ध नहीं है फिर भी दर्शक को तो वे सदा भासित होते ही हैं। अतः इस प्रतिभास के आधार पर उसमें स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय होना चाहिये। इसी तरह खरकुटी (नापित गृह) में लोम सम्बन्ध के कारण पुंस्त्व द्योतक प्रत्यय होने चाहिये।

इसके अतिरिक्त लौकिक स्त्री-पुरुषगत विशेष चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था मानने पर अचेतन पदार्थों में लिंग-व्यवहार का कोई रास्ता नहीं रह जाता है। खट्वा में स्त्रीगत कौन-सी विशेषता है कि इसमें स्त्रीत्व माना जाय। उपर्युक्त लौकिक आधार पर तो अचेतन पदार्थों में स्त्रीत्व-पुँस्त्व की अनभिव्यक्ति के कारण नपुंसकत्व मानना ही उचित होगा। कुछ लोग मानते हैं कि असत् वस्तु में भी कभी-कभी प्रतीतिभावना होती है। मृगतृष्णा में जल नहीं है, फिर भी जल का आभास होता है। इसी तरह खट्वा आदि में लिंग नहीं है फिर भी लिंग का आभास होता है। तारका, पुष्य, नक्षत्र जैसे विभिन्न लिंगी शब्द एक ही वस्तु के लिये प्रयुक्त होते हैं। उनमें बाह्य लिंग नहीं है, किन्तु जिस तरह मृगमरीचिका में जल की सत्ता न रहते हुए भी जल का अध्यास हो जाता है उसी तरह अचेतन पदार्थों में लिंग-चिह्न न रहते हुए भी चेतनगत लिंग का अध्यास हो जाता है। अवश्य ही मृगमरीचिका में सादृश्य के आधार पर जल का आरोप होता है। खट्वा वृक्ष आदि में स्त्री-पुरुष गत लिंग का कोई सादृश्य नहीं है। अतः किस आधार पर आरोप संभव है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि विषय सादृश्य की उपेक्षा करके भी अनादि मिथ्याभ्यास-वासनावश भ्रांतियां देखी जाती हैं। गन्धर्वनगर की सत्ता नहीं है फिर भी उसकी चर्चा होती है। वह दूर से दिखाई देता है, पास पहुँचने पर नहीं दीखता। शब्द में यथार्थ अथवा मिथ्या ज्ञान की अभिव्यक्ति की क्षमता समान है।

अथवा खट्वा, वृक्ष आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंग है किन्तु उसका ज्ञान उसी तरह नहीं होता जिस तरह सूर्य की गति की सत्ता होने पर भी सूर्य की गति का भान नहीं होता। अथवा जिस तरह से वस्त्र से ढकी वस्तु का ज्ञान नहीं होता उसी

प्राप्ते कलियुगे नृणाम्॥ अट्टमन्नमिति प्रोक्तं शूलो विक्रयमुच्यते। शिवस्तु वेदो विज्ञेयः केशो भग इति स्मृतः॥ (पुराण वाक्य)—डा० भगवानदास द्वारा 'साइन्स आफ इमोशन्स' पृ० ४३७ पर उद्धृत।

तरह खट्वा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंग का प्रत्यक्ष नहीं होता। पतंजलि ने यहाँ प्रश्न उठाया है कि वस्त्र के हटा देने पर वस्त्र से आवृत वस्तु का भान होता है किन्तु खट्वा आदि में इस तरह का कोई ज्ञान नहीं होता। बढ़ई हाथ में वसूला और रूखानी लेकर खट्वा के खण्ड-खण्ड भी कर डालें तो भी उसमें कोई लिंग नहीं मिलेगा। इसके उत्तर में स्वयं पतंजलि का निवेदन है कि वस्तु की सत्ता होते हुए भी उसकी अनुपलब्धि संभव है। प्रायः छः कारणों से वस्तुविशेष की सत्ता रहते हुए भी उसकी उपलब्धि नहीं होती।

(१) अति सन्निकर्ष से, जैसे, अपनी आंखों का अंजन अपनी आंखों से नहीं दीखता।

(२) अति विप्रकर्ष से, जैसे, बहुत ऊंचाई पर उड़ते हुए पक्षी आदि नहीं दिखाई देते।

(३) मूर्त्यन्तर व्यवधान से, जैसे, बीच में दिवाल आदि के कारण पार की वस्तु नहीं दीखती।

(४) तमसावृत से, जैसे, अन्धकार के कारण गड्ढे आदि का भान नहीं होता।

(५) इन्द्रिय दौर्बल्य से—आंख की शक्ति क्षीण होने पर उपस्थित वस्तु भी नहीं दिखाई देती।

(६) अति प्रमाद से—किसी विषयान्तर में आसक्त चित्त वाले व्यक्ति को सामने स्थित का भान नहीं होता।[२]

अति समीप, अति दूर आदि अनुपलब्धि के कारण माने जा सकते हैं, किन्तु अनुपलब्धि के कारण प्रमाणसिद्ध वस्तु के ही होते हैं। किन्तु खट्वा आदि में लिंग प्रमाणसिद्ध सत्यभूत वस्तुधर्म नहीं है। इसके अतिरिक्त इस पक्ष में प्रत्यक्ष विरोध भी होता है। क्योंकि दृश्य स्वभाव वस्तु का कभी भी प्रत्यक्ष से ग्रहण न होना फिर भी उसकी सत्ता स्वीकार करना अवश्य ही प्रत्यक्ष विरोध है।

कुछ लोग अनुमान के आधार पर खट्वा, वृक्ष आदि में लिंग की सत्ता मानते है। जैसे प्रकाश देखकर आकाश में मेघ से आच्छादित ज्योति की सत्ता का अनुमान किया जाता है उसी तरह खट्वा वृक्ष आदि में स्त्रीत्व पुंस्त्व बोधक प्रत्यय देखकर उनमें स्त्रीत्व पुंस्त्व की कल्पना कर ली जाती है। परन्तु इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष है। लिंग ज्ञान के बाद शब्द प्रयोग और शब्द प्रयोग के बाद लिंग का अवगम यह अन्योन्याश्रय है। ज्योति और प्रकाश में प्रत्यक्षतः कार्यकारण ज्ञान के आधार पर कार्य से कारण का अनुमान संभव है, खट्वा आदि में तो कभी भी प्रत्यक्षतः लिंग ज्ञान न होने से कार्यकारण भाव संभव नहीं है, फलतः अनुमान भी संभव नहीं है। पुनः तटः, तटी, तटम् जैसे एक ही वस्तु में सब लिंग विरोध के कारण नहीं हो सकते। यदि तट में स्त्री-पुंस्त्व हो तो नपुंसकत्व नहीं हो सकता। वह उनके अभाव में ही होता है।

---

२. तुलना कीजिए सांख्यकारिका—७

लौकिक लिंगव्यंजक चिह्नों के आधार पर 'दारा', 'कलत्र' जैसे शब्दों को पुल्लिग और नपुंसकलिंग में नहीं रखा जा सकता।

अतः वैयाकरण लौकिक स्त्री-पुरुषगत लिंग बोधक व्यंजनों के आधार पर शास्त्रीय लिंग की व्यवस्था नहीं स्वीकार करते, यद्यपि कुछ दूर तक उसे अपरिहार्य मानते हैं। फलतः लिंग की उनकी अपनी शास्त्रीय परिभाषा है और वह है :

संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्रट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान्॥

एक तरह से इस कारिका में स्त्री और पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। संस्त्यान के अर्थ में स्त्यै धातु से ड्रट् प्रत्यय से स्त्री शब्द निष्पन्न होता है। प्रसव अर्थ में षूङ् धातु के सकार के स्थान में पकार कर पुमान् शब्द बनता है। प्रसूति अर्थ में पा धातु से डुमसुन् प्रत्यय द्वारा पुमान् शब्द की निष्पत्ति भी प्रसिद्ध है। कुछ आचार्य पूञ् से पुमान् की सिद्धि बतलाते है। भट्टोजि दीक्षित इस मत के विरुद्ध हैं (**"सूङो डुमसुन्निति माधवः। यच्च उज्ज्वलदत्तेन पातेर्डमसुन्नित्युक्तम्, यच्च पुंसोऽसुङ् (७।१।८९) इति सूत्रे न्यासरक्षिताभ्यां 'पुनातेर्मकसुन् ह्रस्वश्च' इति सूत्रं पठितं तदुभयमपि भाष्याननुगुणम्"**—शब्दकौस्तुभ १।२।६४) परन्तु भाष्यकार ने और उनके अनुयायी भर्तृहरि आदि ने इस कारिका के आधार पर एक दार्शनिक बाद खड़ा कर दिया है। महाभाष्यकार के अनुसार लौकिक स्त्री का सम्बन्ध स्त्यायति से है और शास्त्रीय स्त्री का सम्बन्ध भी उसी से है। लौकिक पुरुष का सम्बन्ध सूते से है और शास्त्रीय पुरुष का भी उसी से सम्बन्ध है। परन्तु लोक में स्त्री अधिकरण है उसमें गर्भ का संस्त्यान होता है। और पुरुष कर्ता है वह उत्पन्न करता है। जबकि शास्त्रीय अर्थ में दोनों भावसाधन हैं—संस्त्यान स्त्री है और प्रवृत्ति पुरुष है। गुणों का संस्त्यान स्त्री है। गुणों की प्रवृत्ति पुमान् है। गुण से अभिप्राय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से है। कैयट ने भर्तृहरि के आधार पर भाष्यकार के मन्तव्य की व्याख्या सांख्य-दर्शन के सहारे की है। उनके अनुसार गुण से अभिप्राय सत्त्व, रजस् और तमोगुण से है। संस्त्यान का अर्थ तिरोभाव है। प्रवृत्ति का अर्थ आविर्भाव है। गुणों का तिरोभाव स्त्री है। गुणों का आविर्भाव पुरुष है। गुणों की साम्यावस्था नपुंसक है। गुणों की ये अवस्थाएं केवल शब्द गोचर हैं। सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। गुण सदा सक्रिय रहते हैं। उनके संयोग से और उनमें किसी एक की कमी या आधिक्य के आधार पर विचित्र विश्व की सृष्टि होती है। चेतन और अचेतन सब पदार्थों में गुणों की सत्ता है। अतः गुणों के आधार पर सर्वत्र लिंग व्यवहार सम्भव है। गुणों की प्रवृत्ति अथवा उपचय पुंस्त्व का प्रतीक है। गुणों का संस्त्यान अथवा अपचय स्त्रीत्व का प्रतीक है। गुणों की स्थिति अथवा साम्यावस्था नपुंसकत्व का द्योतक है। उपचय और अपचय सापेक्ष है। प्रकाश, प्रसव, आविर्भाव सत्त्व के धर्म है। प्रवृत्ति, क्रिया रजस के धर्म हैं। आवरण, तिरोभाव, स्थिति तमस के धर्म है। ये ही धर्म लिंग हैं। रजोधर्म लक्षण प्रवृत्ति-क्रिया का विशेष अथवा आधिक्य पुंस्त्व है पर इनमें प्रकाशनियम रूप सत्त्व का धर्म और आवरण रूप तम का धर्म भी अनुगत रहता है। दूसरे शब्दों

में, सत्त्व और तमधर्मानुगत रजोगुण का आविर्भाव पुंस्त्व है। तिरोभाव स्त्रीत्व है। प्रवृत्ति का सामान्य रूप नपुंसकत्व है। कोई कोई आचार्य सत्त्व के आधिक्य में पुंस्त्व, रजस् के आधिक्य में स्त्रीत्व और तमोगुण के आधिक्य में नपुंसकत्व मानते हैं।[3] रूप, रस आदि के समुदाय से युक्त पदार्थ में तीनों गुणों का योग तो ठीक है किन्तु केवल रूप, केवल रस, केवल शब्द में गुणत्रय किस तरह हैं? इसके उत्तर में भर्तृहरि की मान्यता है कि रूप भी अवस्था विशेष के क्रम रूप में परिणमित होता है। वह भी सत्त्वादि गुणात्मक है। क्षण-क्षण नव-नव अवस्था ग्रहण के कारण रूप में भी किसी अवस्था का आविर्भाव, किसी का अपचय होता है। परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उनका आकलन स्थूल दृष्टि से नहीं हो पाता है। फल आदि में रूपों के परिवर्तन देखे भी जाते हैं। महाभाष्यकार ने स्वयं माना है कि कोई वस्तु अपने आप में क्षण भर स्थित नहीं है। या तो वह बढ़ती है या घटती है, स्थिर नहीं रहती।[4] अतः गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव के आधार पर लिंग व्यवस्था संभव है। हेलाराज ने संग्रहकार का एक वक्तव्य उद्धृत किया है। उससे भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है :—

तथाहि संग्रहकारः पठति—संस्त्यानं संहननं तमोनिवृत्तिरशक्तिरुपरतिः प्रवृत्तिः प्रतिबन्धस्तिरोभावः स्त्रीत्वं, प्रसवो विष्वग्भावो वृद्धिशक्तिर्वृत्तिलाभोऽभ्युद्रेकः प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम्, अविवक्षातः साम्यं स्थितिरौत्सुक्यनिवृत्तिरपरार्थत्वमङ्गाङ्गिभावनिवृत्तिः कैवल्यमिति नपुंसकत्वमिति।—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष गुणातीत है, इसलिए गुणदर्शन के आधार पर पुरुष शब्द में लिंग योग कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित भोग्यभाव-शबलित चैतन्य का ही व्यवहार में बोध होता है। अतः प्रतिबिम्बित रूप में सत्त्व धर्म की स्वच्छता आदि से उसका योग सम्भव है। फलतः उसमें पुंस्त्व आदि की अभिव्यक्ति भी सम्भव है। पुरुषः, चितिः, चैतन्यं—इन तीनों रूपों में तीनों लिंगों का अध्यारोप सम्भव है।[5]

सर्वत्र सभी शब्दों में तीनों लिंगों की सत्ता होते हुए भी किसी विशेष शब्द से किसी विशेष लिंग की अभिव्यक्ति शिष्ट समाचारवश है। इसे लोकव्यवहारानुवादिनी विवक्षा कह सकते हैं जो लौकिक स्वेच्छारूपा विवक्षा से भिन्न है। गुणों के आधार पर लिंग व्यवस्था मानने में स्थिति का प्रश्न कुछ जटिल हो जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि गुणों की स्थिति का सम्बन्ध नपुंसक लिंग से है। किन्तु गुणों की स्थिति कब सम्भव है? गुण सदा परिणमित होते रहते हैं। क्षणभर के लिये भी वे स्थिर नहीं रह सकते। पुनः गुणों की साम्यावस्था केवल मूल प्रकृति में ही सम्भव है। विश्व की किसी भी वस्तु में गुणों का साम्य, सांख्यदर्शन के अनुसार, असम्भव

---

३. संगीतरत्नाकर कल्लिनाथ की टीका पृष्ठ २६३ (आनन्दाश्रम)
४. महाभाष्य ४।१।३ और १।२।६४
५. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३२३—३२५

है। अतः कोई भी वस्तु नपुंसकलिंग के द्वारा कैसे अभिव्यक्त की जा सकती है? इस समस्या का समाधान भर्तृहरि ने कई ढंग से करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार प्रवृत्ति की एकरूपता स्थिति है। प्रत्येक पदार्थ की दो अवस्थाएं हैं। या तो वह बढ़ता है अथवा घटता है। उसके बढ़ने की क्रिया अथवा उपचय प्रवाह में एक प्रवृत्ति है जिसे हम वृद्ध्याख्याप्रवृत्ति कह सकते हैं। इसी तरह उसके अपचय प्रवाह में भी एक प्रवृत्ति है जिसे अपायलक्षणा प्रवृत्ति कह सकते हैं। इन दोनों की प्रवृत्ति में अभेद है और इस अभेद के आधार पर प्रवृति की एकरूपता को स्थिति कहते हैं। अथवा प्रवृत्ति का साम्य स्थिति है। उपचय और अपचय इन दोनों प्रवाहों में भेद मानकर भी उनमें प्रवृत्तिरूप साम्य है। बढ़ने और घटने की क्रिया में प्रवृत्ति समान है और यही साम्य स्थिति है। अथवा आविर्भाव और तिरोभाव के बीच किसी प्रवृत्ति की कल्पना करनी पड़ती है जिसके कारण किसी वस्तु की किसी कला का तिरोभाव होते-होते किसी दूसरी कला का आविर्भाव होने लगता है और उस हेतुभूत प्रवृत्ति को स्थिति मान सकते हैं। अथवा गुणों का सामान्य रूप स्थिति है। जिस कारण से ये गुण हैं, ऐसी बुद्धि होती है वही गुण सामान्य है। सत्त्व आदि गुण विचित्र विश्व में बदलते हुए अपनी जाति को नहीं छोड़ते हैं। गुणरूपता ही उनकी जाति है। सामान्य में सभी विशेषताओं के आविर्भाव होने के कारण आविर्भाव और तिरोभाव भी उसके भीतर आ जाते हैं। इसलिये गुण सामान्य ही स्थिति है। इस दृष्टि से स्त्रीत्वादिलिंगभेद का स्थिति नपुंसक लिंग हुआ। जिस तरह से इदं तत् सर्वनाम वस्तु भाव का स्पर्श कर सकता है उसी तरह नपुंसक लिंग भी विशेष की अविवक्षा में सर्वलिंग का परामर्श करता है और अव्यक्त लिंग के स्थान में व्यवहृत भी होता है। इस दृष्टि से स्थिति संस्त्यान और प्रसव इन दोनों अवस्थाओं में व्याप्त है और इस तरह सर्वनाम की तरह नपुंसक लिंग व्यापक महत्त्व पा लेता है (वाक्यपदीय ३, लिंग-समुद्देश १७, १८)। कैयट के अनुसार आविर्भाव और तिरोभाव के बीच की अवस्था स्थिति है। (**आविर्भावतिरोभावान्तरालावस्था स्थितिरुच्यते—प्रदीप, महाभाष्य** ४।१।३)।

कुछ लोग प्रवृत्ति (गुणों के नित्य परिणाम) को लिंग का सामान्य लक्षण मानते हैं। वह प्रवृत्ति ही आविर्भाव, तिरोभाव और स्थितिरूप में अलग जान पड़ती है। इन तीनों प्रवृत्तियों से सभी पदार्थ प्रवृत्ति वाले हैं। प्रवृत्तियुक्त पदार्थ ही शब्द के अभिधेय है। आकार युक्त पदार्थ ही शब्द द्वारा संकेतित होते हैं। शुद्ध वस्तुतत्त्व शब्द के अभिधान का विषय नहीं होता। शशविषाण आदि अत्यन्त असत् पदार्थ में लिंग-योग उनकी बौद्धिक सत्ता के आधार पर हो जाता है। अपरिणामी पुरुष में भोक्तृत्वधर्म के आरोप से लिंग योग संभव है। स्त्रीत्व, स्त्रीता जैसे संस्त्यान आदि में भी प्रवृत्तिलक्षणलिंगयोग है। सांख्यदर्शन के आधार पर लिंग का उपर्युक्त विवेचन चिन्त्य है। गुण शब्द से भाष्यकार का अभिप्राय सांख्य दर्शन के गुणों से नहीं जान पड़ता। भाष्यकार ने संस्त्यान और प्रवृत्ति का विवेचन यों किया है—"किस का संस्त्यान स्त्री है और किसकी प्रवृत्ति पुमान् है? गुणों की। किनकी? शब्द, स्पर्श, रूप, रस और

गन्ध की। सभी मूर्तियां ऐसी होती हैं, उनमें संस्त्यान और प्रसवगुण होते हैं और वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध वाली होती हैं। जहां अल्प गुण होते हैं उनमें शब्द, स्पर्श, और रूप होते हैं। रस और गन्ध सर्वत्र नहीं होते। प्रवृत्ति भी नित्य है। कोई भी इस संसार में क्षण भर भी अपने आप में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बढ़ता है जितना कि उसे बढ़ना चाहिये अथवा विनाश की ओर अग्रसर होता है। ये दोनों (संस्त्यान और प्रवृत्ति) सर्वत्र हैं। यदि सर्वत्र हैं तो (लिंग की) व्यवस्था कैसे सम्भव है? विवक्षा से। संस्त्यान की विवक्षा में स्त्री। प्रसव की विवक्षा में पुमान्। दोनों की अविवक्षा में नपुंसक"—महाभाष्य ४।१।३

गुणों के संस्त्यान या गुणों की प्रवृत्ति में गुण शब्द सांख्यप्रसिद्ध गुण के अर्थ में महाभाष्यकार द्वारा प्रयुक्त नहीं जान पड़ता। सांख्य दर्शन में प्रसिद्ध गुण के अर्थ में गुण शब्द का व्यवहार महाभाष्य में कहीं नहीं है। दार्शनिक विचार रूप में जब कभी गुण शब्द का व्यवहार महाभाष्य में हुआ है सदा शब्द, स्पर्श रूप आदि अर्थों में ही हुआ है, सत्त्व, रज या तमोगुण के अर्थ में नहीं। 'तस्य भावस्त्वतलौ' ५।१।११९ सूत्र के भाष्य का कुछ अंश निम्नलिखित है—

किं पुनर्द्रव्यं के गुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणाः। ततोऽन्यद् द्रव्यम्। गुण शब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव समेष्ववयवेषु वर्तते। तद्यथा द्विगुणा रज्जुः त्रिगुणा रज्जुरिति। अस्ति द्रव्यपदार्थकः। तद् यथा गुणवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन् गावः सस्यानि च वर्तन्ते। अस्त्यप्राधान्ये वर्तते। तद् यथा यो यत्राप्रधानं भवति स आह गुणभूता वयमत्रेति। अस्त्याचारे वर्तते। तद्यथा गुणवानयं ब्राह्मण इत्युच्यते यः सम्यगाचारं करोति। अस्ति संस्कारे वर्तते। तद् यथा संस्कृतमन्नं गुणवदित्युच्यते।

गुण शब्द के जितने अर्थ यहाँ पतंजलि ने दिये हैं उनमें सत्त्व, रजस् आदि अर्थों का उल्लेख नहीं है। सत्त्व, रजस् और तमस् शब्दों का भी गुण के अर्थ में महाभाष्य में प्रयोग नहीं है। सत्त्व शब्द का प्रयोग महाभाष्य में केवल दो बार है और वह द्रव्य और क्रियापदार्थ के अर्थ में प्रयुक्त है[६] (कैयट का तर्क है कि सत्त्व रजस् और तमस् ये गुण हैं, शब्द आदि पाँच गुण उन्हीं के परिणाम होने से तदात्मक हैं: **सत्त्वरजस्तमांसि गुणास्तत्परिणामरूपाश्च तदात्मका एव शब्दादयः पंचगुणाः** — (**महाभाष्य प्रदीप** ४।१।३)। किन्तु यह तर्क लचर है। इस आधार पर तो किसी भी वस्तु को गुण कहा जा सकता है क्योंकि, सांख्य के अनुसार, प्रत्येक वस्तु गुणों का परिणाम है। हेलाराज ने शब्द आदि का सम्बन्ध सत्त्व आदि से दूसरे रूप में किया है। उनके अनुसार सूक्ष्मतम गुण व्यवहारयोग्य नहीं हो पाते इसलिये उनके परिणामभूत शब्द, स्पर्श आदि का ग्रहण लिंग की व्याख्या में किया गया है (**सूक्ष्मतमा गुणा व्यवहारं न साक्षादवतरन्तीति तत् परिणाम रूपाणां रूपादीनामाविर्भावाद्यवस्थारूपं लिङ्गमाख्यातं भाष्ये—**

६. अयं सत्त्व शब्दः अस्त्येव द्रव्य पदार्थकः। तद् यथा सत्त्वमयं ब्राह्मणः। सत्त्वमियं ब्राह्मणी। अस्ति क्रियापदार्थकः सद्भावः सत्त्वमिति।

—महाभाष्य १।४।५७

हेलाराज, वाक्यपीय ३, लिंगसमुद्देश २४)। परन्तु यह तर्क भी आपातरमणीय है। गुणों की जो आविर्भाव आदि अवस्था है वह भी विवक्षाधीन है, कल्पित है। व्यवहार-योग्य नहीं है। पुनः विचार के क्षेत्र में रूप आदि भी सत्त्व आदि की तरह सूक्ष्म ही माने जायेंगे। वस्तुतः यदि शब्द आदि से पतंजलि का अभिप्राय सत्त्व आदि गुणों से होता है तो वे सत्त्व आदि शब्दों से ही उल्लेख करते है। उनकी शैली अस्पष्ट और दूरारूढ़ कल्पनामयी नहीं है। अतः भाष्यकार के शब्द, स्पर्श आदि गुण सांख्य के गुण न होकर वैशेषिकादि दर्शन में गृहीत गुण हैं।

संस्त्यान शब्द का अर्थ कैयट आदि ने तिरोधान अथवा अपचय किया है। यह अर्थ भी चिन्त्य है। कोश या व्यवहार में संस्त्यान शब्द का यह अर्थ नहीं मिलता। पाणिनिधातुपाठ में स्त्यै धातु के दो अर्थ दिए हैं—शब्द और संघात (**स्त्यै शब्द-संघातयोः—पाणिनि-धातुपाठ** १।६१५)। यास्क ने स्त्यै का अर्थ लजाना भी दिया है (**स्त्यायतेरपत्रपकर्मणः—निरुक्त** ३।२६)। स्वयं महाभाष्यकार ने स्त्यै धातु का प्रयोग संघात अर्थ में किया है (**स्त्यायतेऽस्यां गर्भ इति स्त्री--महाभाष्य** ४।१।३)।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। पतंजलि ने प्रवृत्ति शब्द का व्यवहार अनवरत गतिशील अथवा क्रियाशील के अर्थ में किया है और प्रवृत्ति को नित्य माना है (**प्रवृत्तिःखल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यवतिष्ठते—महाभाष्य** ४।१।३)। किन्तु कैयट आदि ने प्रवृत्ति का अर्थ आविर्भाव माना है। भर्तृहरि प्रवृत्ति को लिंग का सामान्य लक्षण मानते हैं और आविर्भाव, तिरोभाव तथा स्थिति के आधार पर प्रवृत्ति के तीन भेद मानते हैं। भाष्यकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल पुलिङ्ग से जोड़ते हैं जबकि भर्तृहरि उसका सम्बन्ध तीनों लिंगों से जोड़ते हैं[७]। यही भेद है। एक भेद और है। पतंजलि ने स्थिति की चर्चा नहीं की है जबकि भर्तृहरि ने स्थिति पर विचार किया है।

कैयट ने भर्तृहरि के आधार पर प्रवृत्ति के एक भेद तिरोधान का सम्बन्ध संस्त्यान से जोड़ दिया है और गुणों के तिरोधान अथवा अपचय से स्त्रीत्व की, आविर्भाव अथवा उपचय से पुंस्त्व की तथा स्थिति अथवा अन्तरालावस्था से नपुंसक की अभिव्यक्ति मानी है किन्तु कैयट ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि गुणों के उपचय या अपचय मापने का स्थिर बिन्दु क्या है? उपचय और अपचय निरपेक्ष नहीं हो सकते। पुनः तीनों गुणों का एक साथ आविर्भाव या तिरोभाव कैसे सम्भव है? गुणों की साम्यावस्था भी व्यक्त प्रकृति में असम्भव है।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि पतंजलि और श्लोकवार्तिककार के पूर्व भी शब्द आदि गुणों का स्त्री से सम्बन्ध विचार के क्षेत्र में आ चुका था जैसा कि यास्क के निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है—**स्त्रिय एव एताः शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यः—निरुक्त** १४।२०। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि

---

७. प्रवृत्तिरिति सामान्यं लक्षणं तस्य कथ्यते।
आविर्भावस्तिरोभावः स्थितिश्चेत्यथ भिद्यते॥—वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश ३२१।

शब्द आदि गुणों के संस्त्यान का अभिप्राय इन गुणों के अधिष्ठान, एकत्र संग्रह से है न कि उनके तिरोधान अथवा अपचय से।

अतः संस्त्यान का अर्थ संघात और प्रवृत्ति का अर्थ गतिशीलता समझना उपयुक्त जान पड़ता है। इस दृष्टि से शब्द आदि गुणों के संघात से स्त्रीत्व की, उनकी प्रसवधर्मिता से पुंस्त्व की और दोनों की अविवक्षा में नपुंसकत्व की व्यंजना माननी चाहिए।

प्राचीन काल में ही सांख्य के गुणदर्शन वाली लिंग व्याख्या सबको मान्य नहीं थी। अतः भर्तृहरि ने दूसरी व्याख्याएं भी प्रस्तुत की हैं। कुछ लोगों ने वैशेषिक दर्शन के आधार पर संस्त्यान का अर्थ नाश और प्रसव का अर्थ उत्पत्ति माना था। भावों का अनौपाधिक स्वरूप ही, उनके अनुसार स्थिति है। इस वाद के अनुसार पुरुषः चितिः आदि नित्य पदार्थों में उत्पत्ति-विनाश शरीर आदि उपाधिसंसर्ग के सहारे कल्पित हैं :

उत्पत्तिः प्रसवोऽन्येषां नाशः संस्त्यानमित्यपि।
आत्मरूपं तु भावानां स्थितिरित्यपदिश्यते॥

—वाक्यपदीय ३, लिंग समुद्देश २७

स्वयं वैशेषिकों ने लिंग को जातिरूप माना है। स्तनादि व्यंजनविशेष से अभिव्यक्त स्त्रीत्व, पुंस्त्व और नपुंसकत्व के रूप में लिंगजाति की सत्ता है। सर्वत्र अभिन्नप्रत्यय जाति के सद्भाव में प्रमाण है। स्त्रीत्व आदि गोत्व आदि के सदृश ही हैं। खट्वा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंगजाति है जिसके कारण खट्वा आदि में स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय करने की इच्छा होती है। अर्थ शब्द पुलिङ्ग है। व्यक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। वस्तु शब्द नपुंसकलिंग है। इन तीनों विभिन्न लिंग वाले शब्दों में से प्रत्येक से संसार की किसी भी वस्तु का निर्देश किया जा सकता है। अयं अर्थः, इयं व्यक्तिः, इदं वस्तु इस रूप में। अब यदि प्रत्येक वस्तु में तीनों लिंगों की सत्ता नहीं होती तो वे उपर्युक्त तीनों लिंगों वाले शब्दों से गृहीत न होते। एक ही में उनके परस्पर विरोध को दूर करने के लिए जातिपक्ष का आश्रय लेना पड़ता है। जाति सर्वगत होती है। बहुत जातियां भी एक में समवाय सम्बन्ध से रह सकती है। हस्तिनी और बड़वा दोनों में स्त्रीत्व बुद्धि होती है। स्त्रीत्व और गोत्व साथ-साथ रह सकते हैं। स्त्रीत्व और स्तनादि व्यंजन में गोत्व की तरह सामान्यविशेष भाव है। वैयाकरण शब्दार्थ को अर्थ मानते हैं। इसलिए द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य आदि में भी लिंगजाति का योग सम्भव है। इसी दृष्टि से भाव शब्द से पुंस्त्वोपाधिक सत्ता का बोध होता है। सत्ता शब्द से स्त्रीत्वोपाधिक सत्ता का परिज्ञान होता है और सामान्य शब्द से नपुंसकोपाधिक सत्ता लक्षित होती है। तटः, तटी, तटम् आदि में भी इसी तरह लिंगजाति की सत्ता है। लिंग में भी दूसरा लिंग योग, इस दृष्टि से, सम्भव है। शब्द जब कभी वस्तुरूप में अपने आपको व्यक्त करेंगे, उसके लिंगोपाधिसहित ही व्यक्त करेंगे। इसीलिए स्त्री से स्त्रीत्व, स्त्रीता और स्त्रीभाव तीनों लिंग सम्भव हैं। कात्यायन का 'भावस्य च भाव युक्तत्वात्' (वार्तिक ४।१।३-७) भी इस मत का पोषक है। स्त्री शब्द से अभिहित

स्त्रीत्वविशिष्ट द्रव्य में भाव प्रत्यय के द्वारा नपुंसकलिंग आदि की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है[८]। किन्तु कैयट लिंगसामान्य के पक्षपाती नहीं हैं (**लिंगादिसामान्य-सद्भावे प्रमाणाभावात्—कैयट १।१।३२**)।

कुछ आचार्य मानते हैं कि लिंग स्वभावतः शब्दाभिधेय है। बाह्य लिंग की सत्ता नहीं है। शब्द के द्वारा असत् लिंग की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए एक ही वस्तु को अर्थ, व्यक्ति अथवा वस्तु रूप में विभिन्न लिंगों से व्यक्त करते हैं। इस पक्ष को भर्तृहरि ने शब्दोपजनितोऽर्थात्मा कहा है।

कुछ लोग लिंग को केवल शब्दसंस्कार के रूप में मानते हैं। लिंग शब्द का धर्म न होकर शब्द का संस्कारक है। उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर शब्द के धर्म हैं परन्तु लिंग शब्द का संस्कारक मात्र है। क्योंकि शब्द के अन्वाख्यान के लिए उसका ग्रहण प्रक्रिया वाक्य में नान्तरीयक रूप में होता है। पाणिनि के पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६।५।४२ सूत्र पर वार्तिककार ने एक वार्तिक पुंवत् भाव के पक्ष में लिखा—कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु पुंवद्वचनम्। कुक्कुटी आदि का अण्ड आदि के साथ वृत्ति में पुंवद्भाव हो जाना चाहिये जैसे कुक्कुट्या अण्डं कुक्कुटाण्डम्। मृग्याः पदं मृगपदम्। काक्याः शावः काकशावः। पुनः वार्तिककार ने इसका प्रत्याख्यान किया—न वास्त्रीपूर्वपदं विवक्षितत्वात्। कुक्कुटाण्डम् जैसे पदों में पूर्व पद में स्त्रीत्व विवक्षित नहीं है। अण्ड आदि के विशेषण के रूप में जो कुक्कुट आदि पद हैं उनमें जातिमात्र की विवक्षा है इसलिए स्त्रीत्व अविवक्षित है। पुंवद्भाव करने पर भी पूर्वपद से वाच्य जब स्त्रीत्व की विवक्षा नहीं है तो पुंवद्भाव करना भी निष्प्रयोजन है। मृग्याः क्षीरं मृगक्षीरं जैसे स्थलों में भी पूर्वपद में स्त्रीत्व अविवक्षित है। सत् वस्तु की भी अविवक्षा देखी जाती है और असत् वस्तु की भी विवक्षा की जाती है जैसे अनुदरा कन्या, विन्ध्यो वर्द्धितकम् में क्रमशः सत् की अविवक्षा और असत् की विवक्षा है। कुछ लोग प्रक्रिया वाक्य में

---

८. प्रक्रियाप्रसाद के लेखक ने इस मत का समर्थन किया है और पाणिनीयमतदर्पणकार की भी इस पक्ष में अभिमति व्यक्त की है—

यद्वशेन इयं स्त्रीति लोके संप्रत्ययः स धर्मःस्त्रीत्वम्। स च गोत्वादिवत् सामान्यविशेषः। तथा च पाणिनीयमतदर्पण उक्तम्—

इयमयमिदमिति येषु व्यपदेशो दृश्यते लोके।
स्त्रीपुंनपुंसकानि प्रोच्यन्ते तानि लोकेन॥
गोत्वादि स्वाश्रयैर्यद्वत् सामान्यमुपलक्ष्यते।
व्यंजकैरनुवृत्तत्वात् स्त्रीत्वपुंस्त्वादिकं तथा॥
भावानां शक्तीनां लोके प्रतिनियतविषयत्वात्।
किंचित् केनचिदेवाश्रयेण सामान्यमुन्मिषति॥
ततो व्यंजकवैचित्र्याद् नात्र स्त्रीत्वमेव हि।
व्यज्यते न तु पुंस्त्वादिः सोऽर्थः स्त्रीत्यभिधीयते॥
पुमान् नपुंसकं चैव द्वित्रिलिंगं तथैव च।
यथा गौरी गिरिर्गेहमर्धर्चस्तटमत्र दिक्॥

—बोपदेव, पाणिनीयमतदर्पण, प्रक्रियाप्रसाद में उद्धृत पृ० ३१८-१९ भाग १

भी कुक्कुटस्य अण्डं, मृगस्य क्षीरं इस रूप में पुंलिंगरूप में ही निर्देश करते हैं क्योंकि सत्त्वभूत अर्थ का लिंग नान्तरीयक है। इसी तरह इदं वस्तु, इयं व्यक्तिः, अयमर्थः इस रूप में सभी पदार्थों का निर्देश उनके बाह्य लिंग से निरपेक्ष रूप में हो जाता है। अतः लिंग केवल शब्द अन्वाख्यान के लिए है। शब्दान्वाख्यान का निमित्त प्रायः कल्पित होता है। यदि शब्द-अन्वाख्यान का निमित्त वास्तविक ले लिया जाय तो राहोः शिरः, स्वस्य स्वभावः जैसे स्थलों में व्यतिरेक विभक्ति कैसे हो जाती है? टाबृचि ४।१।६ सूत्र में वृत्तिकार ने ऋक् को अभिधेय के रूप में निर्देश किया है जो शब्दान्वाख्यान के कल्पितरूप के आधार पर ही उपयुक्त है। शब्दोपजनित अर्थात्मा और शब्द-संस्कार इन दोनों पक्षों में भेद यह है कि शब्दोपजनित पक्ष में अन्यत्र दृष्ट लिंग का अन्यत्र अध्यास किया जाता है जबकि शब्द-संस्कारपक्ष में लिंग शब्द के साधुत्व का निमित्तमात्र होता है।

भोज ने शब्दसंस्कार के हेतु रूप में लिंग के छः भेद माने हैं—शुद्ध, मिश्र, संकीर्ण, उपसर्जन, आविष्ट और अव्यक्त। जिसमें एक संस्कार अपेक्षित हो वह शुद्ध है जैसे—खट्वा, वृक्षः, कुण्डम्, स्त्री, पुमान्, नपुंसकम्। जिसमें दो संस्कार हों वह मिश्र है जैसे—मरीचिः, ऊर्मिः, अर्चिः, छर्दिः, कषायः। जिसमें तीन संस्कार होते हैं वह संकीर्ण होते हैं जैसे तटी, तट; तटम्; शृंखला, शृंखलः, शृंखलम्। विशेष्यगत लिंग से प्रभावित विशेषणस्वरूप उपसर्जन है जैसे, शुक्ला, शुक्लः, शुक्लम्। विशेषण होने पर भी नियतशब्दसंस्कारार्ह आविष्ट है जैसे, प्रकृतिः, विषयः, प्रधानम्, भार्या, दाराः, कलत्रम्। जिसमें लिंग निमित्त शब्दसंस्कार न हो वह अव्यक्त है जैसे पंच, षट्, कति, उच्चैः। (शृंगारप्रकाश पृष्ठ १८३, १८४)। ये सभी मत उपर्युक्त श्लोकवार्तिकों में ध्वनित हैं और इन्हें भी भर्तृहरि ने लिंग के सात विकल्प माने हैं :

स्तनकेशादिसम्बन्धो विशिष्टा वा स्तनादयः।
तदुपव्यंजना जातिः गुणावस्था गुणास्तथा॥
शब्दोपजनितोऽर्थात्मा शब्दसंस्कार इत्यपि।
लिंगानां लिंगतत्त्वज्ञैर्विकल्पाः सप्त दर्शिताः॥

—वाक्यपदीय ३, लिंग समुद्देश १-२

उपर्युक्त मतों में गुणवाद के आधार पर लिंग का विवेचन बाद के वैयाकरणों ने अधिकतर अपनाया है। हेलाराज ने इसे ही सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है :

सिद्धान्तस्तु यथाभाष्यं गुणावस्थारूपं लिंगमित्यस्माभिर्वीतिकोन्मेषे यथागमं व्याख्यातं तत एवावधार्यम्। गुणधर्मरूपे हि लिंगे धर्मशून्यस्य सर्वथैवाव्यवहार्यत्वादवस्तुष्वपि वस्तुत्वाभिमानाल्लौकिकानां लोकसम्प्रत्ययसमारूढस्यैवशब्दार्थत्वादात्मादीनां रूपादीनां तमश्छायाप्रभृतीनां च सर्वेषां लिंगयोग उपपन्नः। अभावशशविषाणादीनामपि वस्तुभूतोत्तरपदाश्रयं लिंगं, न चान्यथा भावोपाश्रयत्वादभावो व्यवह्रियत इति व्यापकमिदं संस्त्यानप्रसवौ स्थितिश्चेति लिंगत्रयं सिद्धान्तितमवगन्तव्यम्।

—वाक्यपदीय ३, लिंग समुद्देश ३१।

लिंग के सम्बन्ध में वैयाकरणों के उपचयापचयवाद पर आक्षेप करते हुए पक्षधर मिश्र ने लिखा है—पुलिंग आदि शब्द से उपचय अपचय आदि की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि उपचय अपचय आदि का स्वरूप निर्धारित नहीं है। वृक्ष शब्द से वृक्षगत किसी प्रकार के उपचय का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह गंगा शब्द से गंगागत किसी तरह के अपचय का आभास नहीं होता। यदि ऐसा माना जायगा तो वृक्ष या गंगा की अवधि का ज्ञान आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त, यदि पुंस्त्व का सम्बन्ध उपचय से, स्त्रीत्व का अपचय से और नपुंसकत्व का सम्बन्ध दोनों से माना जायगा तो नपुंसक शब्द की स्थिति पहेली बन जायगी। क्योंकि एक ही वस्तु में उपचय-अपचय जैसे दो विरोधी धर्म कैसे झलकेंगे। साथ ही, पृथिवी, सुमेरु, कुल जैसे निश्चित लिंग वाले शब्द सदा एक सा अर्थ व्यक्त करते हैं, विशेष (उपचयादि सहित) नहीं। (प्रशस्तपादभाष्य-सेतुटीका, पृ० ८४, ८५)। वैयाकरण इस आक्षेप का समाधान उपचय-अपचय को विवक्षाधीन मानकर देते हैं। उपचय-अपचय दोनों से रहित दशा का सम्बन्ध नपुंसक से मानने पर पक्षधर मिश्र का नपुंसक शब्द के विषय में उपर्युक्त आरोप निराधार हो जाता है (**उपचयापचयरहिता यावस्था तदात्मिका स्थितिः नपुंसकत्वम्** —न्यास, ४।१।३, पृष्ठ ८०६)। भर्तृहरि के अनुसार ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिससे लिंग का योग न हो सके। जो गुणातीत पदार्थ हैं उनमें भी लिंग व्यवहार होता है जैसे आत्मा (पुल्लिग), चितिः (स्त्रीलिंग), चैतन्यम् (नपुसंकलिंग)। भर्तृहरि ने संभवतः पंचशिख आचार्य के आधार पर चितिः जैसे शब्दों में लिंगयोग के लिए प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया है। चिति शक्ति बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है। बुद्धिसंक्रान्त होने से चिति में बुद्धिगत (भोग्यगत) धर्म आभासित होते हैं। ये ही धर्म शब्दगोचर हैं। संक्रान्त दशा में भोक्तृशक्ति और भोग्य शक्ति में भेद जान पड़ता है। चितिशक्ति स्वयं अपरिणामिनी है किन्तु संक्रान्त दशा में अचेतन में भी चैतन्य की छाया ला देती है :

यश्चाप्रवृत्तिधर्मार्थश्चितिरूपेण गृह्यते।
अनुयातीव सोऽन्येषां प्रवृत्तीर्विष्वगाश्रयाः॥
तेनास्य चितिरूपं च चितिकालश्च भिद्यते।
तस्य स्वरूपभेदस्तु न कश्चिदपि विद्यते॥
अचेतनेषु संक्रान्तं चैतन्यमिव दृश्यते।
प्रतिबिम्बकधर्मेण यत्तच्छब्दनिबन्धनम्॥

—वाक्यपदीय ३ वृत्तिसमुद्देश ३२३, ३२५

गोत्व आदि सामान्य (जाति) भी प्रवृत्तिधर्म के चपेट में आ जाता है। क्योंकि वह व्यक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं है :

सामान्यमपि गोत्वादिकं व्यक्तेरव्यतिरिक्तत्वात् प्रवृत्तिधर्म :—

—कैयट, महाभाष्य प्रदीप ४।१।३

नागेश के अनुसार यहां व्यक्ति को जाति से अव्यतिरिक्त मानना व्यक्ति-अनुगत ब्रह्म की सत्ता वाले वाद के आधार पर है। नागेश के अनुसार सामान्य भी प्रकृति का

परिणामविशेष ही है, केवल चिरस्थायिता के आधार पर उसे नित्य माना जाता है :--

तद् व्यक्त्यनुगता ब्रह्मसत्तैव गोत्वादिजातिरिति पक्षे इदम्। जातिव्यक्त्योस्तादात्म्यबोधकसमवायस्यैव सम्बन्धत्वात् तद्धर्मारोपस्तत्रेत्यर्थः। वस्तुतः तदपि प्रकृतेः परिणामविशेष एव। चिरस्थायितामात्रेण तु परेषां नित्यत्वव्यवहारः।

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत, ४।१।३

जिन वस्तुओं की सत्ता नहीं है, जैसे शशविषाण, उनमें लिंग योग, कैयट के मत से उत्तरपदार्थ की सत्ता होने के आधार पर, अथवा नागेश के मत में बौद्ध सत्ता मानकर संभव है—

शशविषाणादावपि उत्तरपदार्थ सद्भावात्। तद्द्वारको लिंगयोगः

—कैयट, प्रदीप ४।१।३

कुछ लोगों के अनुसार ऐसे स्थलों में जिस आधार पर प्रातिपदिकत्व होता है उसी आधार पर लिंग योग भी होता है। अर्थात् यद्यपि शशविषाण की सत्ता नहीं है किन्तु शश की सत्ता है, विषाण की सत्ता है, इसलिए शशविषाण की भी एक काल्पनिक सत्ता है और इस आधार पर उसमें लिंग संभव है। वस्तुतः, जैसा कि भर्तृहरि आदि मानते हैं, शब्द में असत् पदार्थ को भी द्योतित करने की क्षमता है--

केचित् तु यथा बुद्धिविषयार्थत्ववेन प्रातिपदिकत्वं तथा लिंगयोगोऽपीत्याहुः

—नागेश, महाभाष्य प्रदीपोद्योत ४।१।३

हरदत्त ने भी प्रवृत्ति की व्यापकता के आधार पर सर्वत्र लिंगयोग का समर्थन किया है—

सामान्यमपि गोत्वादि व्यक्तेरव्यतिरेकतः।
प्रवृत्तिधर्मं तद्द्वारा शशशृंगादिवाक्षु तु।
तस्मादुक्तपदार्थस्य सम्भवाल्लिङ्ग योगिता।
प्रवृत्तेरपि विद्यन्ते तिस्रो ह्येताः प्रवृत्तयः।
पुंनपुंसकतास्त्रीत्वं तेन स्यादन्यलिंगता॥

—पदमंजरी ४।१।३ पृष्ठ १५

इस तरह उपचय-अपचय के आधार पर लिंग-दर्शन सर्वपदार्थ व्यापी है। इस वाद की कुछ विप्रतिपत्तियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस सिद्धान्त के मानने पर प्रत्येक शब्द में तीनों लिंग देखे जाने चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस आक्षेप का समाधान हरदत्त ने किया है। उनके अनुसार यह नियम नहीं है कि शब्द किसी वस्तु के सभी आकार (पूर्ण स्वरूप अथवा पहलुओं) को सदा व्यक्त करे। किन्तु नियम यह है कि शब्द जिस आकार को व्यक्त करना चाहता है उस आकार की अभिव्यक्ति हो। जैसे तक्षा, युवा, कृष्ण, कामुक आदि शब्द एकार्थक होने पर भी व्यवस्थित आकार वाले हैं। भाव यह है कि बढ़ई तक्षण, छेदन आदि अनेक क्रियाएँ करता है किन्तु तक्षण क्रिया के आधार पर उसे तक्षा कहते हैं। पदार्थों की अभिव्यक्ति

में किसी पदार्थ का कोई स्वरूप प्रवर्तक हो जाता है। यही बात लिंग के सम्बन्ध में भी है—

नह्यस्ति नियमो यः शब्दः यत्रार्थे पर्यवस्यति तत्र विद्यमानः सर्व एव आकारस्तेन शब्देनाभिधातव्य इति । किन्तु य आकारोऽभिधीयते तेन सता भवितव्यमित्येतावत् । तद् यथा तक्षा युवा कृष्णः कामुक इति तक्षादिशब्दानामेकार्थपर्यवसितानामपि व्यवस्थित एवाकारो वाच्यः । तथा लिंगेस्वपि द्रष्टव्यम् ।

—पदमंजरी ४।१।३ पृ० १५

प्रत्येक शब्द से सर्वलिंग प्राप्ति का परिहार विवक्षा के आधार पर भी किया जाता है जिसका उल्लेख पतंजलि आदि ने किया है। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु में तीनों लिंग की सत्ता है किन्तु उनकी अभिव्यक्ति विवक्षाधीन है। उपचय की विवक्षा में पुंस्त्व, अपचय की विवक्षा में स्त्रीत्व आदि की अभिव्यक्ति होती है। न्यासकार इस से सहमत नहीं हैं। विवक्षा के आधार पर लिंग-व्यवस्था मानने पर निम्नलिखित वाक्यों में लिंग द्वारा अभिव्यक्त अर्थ की संगति नहीं बैठेगी—

उपचीयते कुमारी (कन्या में उभार आ रहा है)
अपचीयते वृक्षः (वृक्ष सूख रहा है)
उपचीयते कुण्डम् (कुण्ड खाली हो रहा है)

न्यासकार के अनुसार उपचय के साथ भी कुमारी स्त्री ही है। ह्रास की दशा में भी वृक्ष पुंस्त्व विशिष्ट ही है। इसलिए उपचय का सम्बन्ध केवल पुरुषत्व से और अपचय का स्त्रीभाव से दिखाना असंगत है—

अयुक्तमेतत् । तथा ह्युपचीयते कुमारीत्यपि कुमारी स्त्री भवति । न पुमान् । अपचीयते वृक्ष इति संस्त्यानविवक्षायामपि वृक्षः पुमानेव भवति । न स्त्री ।

—काशिकाविवरणपंजिका ४।१।३ पृ० ८०६

न्यासकार के इस आक्षेप के समाधान की चेष्टा हरदत्त ने की है। उनके अनुसार उपचीयते कुमारी जैसे स्थलों में भी कुमारी शब्द किसी धर्म के ह्रास का ही द्योतक है, वृद्धि की प्रतीति किसी अन्य शब्द के साहचर्य से होती है—

उपचीयते कुमारीत्यत्रापि कुमारी शब्दः स्वमहिम्ना कस्यचिद्धर्मस्यापचयमेवाह शब्दान्तरप्रयोगात्तु धर्मान्तरस्योपचयः प्रतीयते । एवं क्षीयते वृक्ष इत्यत्रापचयः । तदेवं सर्वमनाकुलमिदं दर्शनम् ॥

—पदमंजरी ४।१।३ पृ० १५-१६

भर्तृहरि ने एक दूसरे तरह का भी समाधान प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार विवक्षा शिष्टाधीन है। भावतत्वविद् शिष्ट जन ही लिंग-व्यवस्था में प्रमाण हैं। शिष्टों ने जिस शब्द को जिस लिंग में देखा है, वह शब्द उसी लिंग में साधु है।

भावतत्वविदः शिष्टाः शब्दार्थेषु व्यवस्थिताः ।
यद् यद् धर्मेऽङ्गतामेति लिंगं तत्तत् प्रचक्षते ॥

—वाक्यपदीय ३ लिंगसमुद्देश २१

भर्तृहरि के इस मंतव्य के कैयट और हेलाराज ने अलग-अलग परस्पर

विरोधी निष्कर्ष निकाले हैं। कैयट के अनुसार विवक्षा लोकव्यवहारानुवादिनी माननी चाहिये, प्रायोक्त्री नहीं। हेलाराज के अनुसार विवक्षा से अभिप्राय प्रायोक्त्री से है, स्वेच्छामयी लौकिकी नहीं—

लोकव्यवहारानुवादिनी विवक्षा आश्रीयते न तु प्रायोक्त्री।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप ४। १। ३

तथा च प्रायोक्त्री विवक्षात्र न लौकिकी स्वेच्छाचाररूपेत्युक्तं भवति।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २१.

दोनों ही आचार्य अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। कैयट ने प्राचीन आचार्यों की परम्परा के अनुकूल लिंग-व्यवस्था के विषय में लोक को ही प्रमाण माना है (**लिंगव्यवस्थायां लोकः प्रमाणमित्यर्थः, कैयट, प्रदीप** ४। १। ३)। अतः उनकी दृष्टि में शिष्ट भी लिंग के विषय में लोक का ही अनुगमन करते हैं। हेलाराज का अभिप्राय यह है कि लिंग व्यवस्था स्वेच्छा-व्यवहार पर आश्रित नहीं है। अपितु परम्परा से शिष्टों के व्यवहार के आधार पर उसका निर्णय किया जाता है। कैयट की मान्यता है कि लिंग के स्वरूप का ज्ञान लोक से ही संभव है, अन्यत्र उसका ज्ञान संभव नहीं है (**अनेन लिङ्गस्वरूपमपि लोकादेव ज्ञायत इत्युक्तं भवति—कैयट, प्रदीप** ४।१।३)। हेलाराज के अनुसार लोक में भी लिंग-व्यवस्था शिष्ट जनों के व्यवहार पर ही अवलम्बित है। लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य जैसे वाक्यों में हेलाराज के अनुसार, लोक शब्द का अर्थ शिष्ट है (इह लोक शब्देन शिष्टा विवक्षिताः—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, लिंग समुद्देश २१)। नागेश का झुकाव भी लोक की अपेक्षा शिष्ट की ओर है। उनके अनुसार जिस शब्द का जिस लिंग के साथ साधुत्व और धर्मबुद्धि से शिष्टों ने व्यवहार किया है उस शब्द का वही लिंग है :

एवञ्च येषां शब्दानां यल्लिंगमुपादाय शिष्टाः साधुत्वावगमनपूर्वकं धर्मजनकत्व-बुद्ध्या प्रयोगं कुर्वन्ति तेषां तदेव लिंगमिति नियमः सिद्ध इति भावः।

—नागेश, महाभाष्य प्रदीपोद्योत, ४।१।३

लिंग के विषय में वार्तिककार के कुछ महत्त्वपूर्ण वक्तव्य हैं। उनमें एक है—लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वालिंगलस्य। यद्यपि यह वार्तिक वर्तमान वार्तिक पाठ में नहीं मिलता फिर भी यह कात्यायन का वचन है। महाभाष्यकार ने स्वयं कहा है—**पठिष्यतिह्याचार्यः 'लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य' इति। पुनः पठिष्यति—एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टिं लिंगान्यत्वम् अवयवान्यत्वाच्चेति** (**महाभाष्य** ४।१।३)। इनमें '**एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिंगान्यत्वम्**' और '**अवयवान्यत्वाच्च**' ये दो वार्तिक ४।१।९२ सूत्र पर पठित हैं। इन वार्तिकों का और लिंगमशिष्यं इस वार्तिक का कर्ता एक ही है जो भाष्यकार के पठिष्यति और पुनः पठिष्यति शब्द से स्पष्ट है। अतः इस वार्तिक की सत्ता किसी सूत्र पर अवश्य रही होगी। अस्तु, वार्तिककार के लिंग के विषय में जितने मौलिक विचार हैं उनमें लिंग अशिष्यं वाला वक्तव्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। वार्तिककार ने यह अनुभव किया होगा कि किसी शास्त्रीय नियम से लिंग-व्यवस्था

का निर्वाह कठिन है। शास्त्रीय नियम एक बार बनाए जा सकते हैं किन्तु भाषा के विकास में लिंग व्यत्यय बराबर देखे जाते हैं। पुनः व्याकरण लोक का अनुयायी है। अतः लिंग व्यवस्था में भी लोक ही प्रमाण है। शास्त्रीय उपदेश के बिना भी लोक-व्यवहार से लिंग परिचय सुलभ है। लोक में लिंग-व्यवहार स्तन आदि चिह्नों पर निर्भर नहीं है। लिंग के स्वरूप पर भी लोक ही प्रमाण है। अतः वार्तिककार के मत से लिंग अशिष्य है। भाष्यकार ने भी अनेक बार कात्यायन के इस मत को दुहराया है और इसी आधार पर पाणिनि के सनपुंसकम् २।४।१७ सूत्र का प्रत्याख्यान किया है (**इदं तर्हि प्रयोजनं स नपुंसकमिति वक्ष्यामीति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य-महाभाष्य २।१।१२**)। भाष्यकार ने वार्तिककार के भी कई वार्तिकों का प्रत्याख्यान उपर्युक्त वार्तिक के आधार पर किया है जैसे सर्वलिंगताच २।१।३६ वा० ५ का प्रत्याख्यान लिंग अशिष्य के सिद्धान्त पर किया है। आचार्य पाणिनि भी अशिष्य सिद्धान्त के ही समर्थक हैं। उन्होंने स्वयं पूर्वाचार्यों के सूत्र लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने १।२।५१ विशेषणानां चाजातेः १।२।५२ आदि का तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् १।२।५३ के द्वारा प्रत्याख्यान किया है। उनका लिंगप्रकरण परम्परा पालनमात्र है(**एवं च लिंगप्रकरणं जात्याख्यायामित्यादि संख्याप्रकरणं च पूर्वाचार्यानुरोधेन कृतम् इति ध्वनितं सूत्रकृता-नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।५३**)। श्लोकवार्तिककार का तस्योक्तौ लोकतो नाम (४।१।३) वक्तव्य भी लोक पक्ष का ही समर्थक है। इसलिए जो लोग संस्त्यान आदि लक्षणों को अलौकिक कहते हैं वे भ्रम में हैं—

> **यद्यपि अविचारितरमणीयं लिंगमाश्रित्य वक्तारः शब्दानुच्चारयन्ति, श्रोतारश्च प्रतिपद्यन्ते, तथापि वस्तुतत्त्वनिर्णयो भाष्यकारेण कृत इति यदन्यैरभ्यध्यायि संस्त्यानादिलक्षणमलौकिकं लिंगम् इति तदपाकृतं भवति।**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप ४।१।३

हेलाराज ने वार्तिककार को भी गुणवादी माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ वार्तिकोन्मेष में इसका विवरण दिया है पर यह ग्रन्थ अब तक उपलब्ध न हो सका है। अतः हेलाराज के कथन की ठीक समीक्षा सम्भव नहीं है परन्तु प्रकीर्णकप्रकाश में इस पक्ष में उनके तर्क लचर हैं। उनके अनुसार लिंगमशिष्यं वाला मत प्रत्याख्यात है और इसलिए गुणावस्था वाला मत ही वार्तिककार का होगा—

> **तदित्थमनेनैकार्थे शब्दान्यत्वादिना लिंगमशिष्यमिति च प्रत्याख्यानेन शब्दशक्तिभेदोपवर्णनतात्पर्यरूपेण गुणावस्था सर्वत्र सम्भविनी लिंगमिति सूचितं भवति। वाक्यकारस्यापीदमेव दर्शनमिति वार्तिकोन्मेषे कथितमस्माभिः।**
>
> —वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २६ टीका

किन्तु हेलाराज ने स्पष्ट नहीं किया है कि लिंगमशिष्य वाला मत कहां किस रूप में प्रत्याख्यात है। महाभाष्य में इसका प्रत्याख्यान नहीं मिलता।

लिंग के विषय में वार्तिककार का वार्तिक 'एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिंगान्यत्वम्' ४।१।९२-६ भी महत्त्वपूर्ण है। लोक में एक ही वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न शब्द प्रयुक्त होते हैं। यह शब्द-भिन्नता लिंग-भिन्नता का एक आधार मानी जा सकती है। एक वस्तु के लिये पुष्य, तारका तथा नक्षत्र शब्द का व्यवहार होता है।

पुष्य शब्द पुल्लिंग, तारका स्त्रीलिंग और नक्षत्र नपुंसक लिंग है। मठ, कुटी, गेह आदि भी एक ही वस्तु के लिये विभिन्न लिंगी शब्द हैं। कैयट इस वार्तिक की व्याख्या यों करते हैं—प्रत्येक पदार्थ सर्वलिंग वाला है। उसका जब किसी शब्द से ज्ञान कराया जाता है किसी विशेष लिंग के साथ ही उसका भान होता है।

अवयवान्यत्वाच्च ४।१।९२-७ वार्तिक भी लिंगभेद का निर्देशक है। केवल शब्द के भेद से ही लिंगभेद नहीं होता, अवयव के उपजन आदि से भी लिंगभेद देखा जाता है। कुटी और कुटीर, शमी और शमीर, शुण्डा और शुण्डार जैसे शब्दों में स्वार्थिक प्रत्यय के होने पर भी अवयव में भेद हो जाने के कारण लिंगभेद एक ही शब्द में देखा जाता है।

अर्थभेद से भी एक ही शब्द में लिंगभेद अवगत होता है। जिस तरह स्वरभेद से एक ही शब्द विषयान्तर में साधु माना जाता है वैसे ही लिंगभेद से भी एक ही शब्द विभिन्न अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। अक्ष शब्द देवनाक्ष और शकटाक्ष दोनों का बोधक है किन्तु जब अन्तोदात्त होता है तब देवनाक्ष का बोधक होता है, आदि उदात्त की अवस्था में शकटाक्ष का प्रत्यायक होता है। अर्ध शब्द समप्रविभाग अर्थ में नपुंसकलिंग है, एकदेशमात्र के अर्थ में पुलिंग है। सार शब्द न्याय से युक्त अर्थ में नपुंसक है (नैतत्सारम्), उत्कर्ष अर्थ में पुलिंग है (चन्दसारः)।

कुछ लोग मानते हैं कि एकार्थ शब्द के भेद से लिंगभेद में भी कोई न कोई विशेष बात रहती है। कुटी और कुटीर में केवल लिंगभेद ही नहीं है, कुछ अर्थभेद भी है। कुटीर छोटी कुटी को कहते हैं। अरण्य और अरण्यानी में भी यही भेद है। इसलिये अरण्यानी में स्त्रीत्व अरण्य के एक विशेष अर्थ, एक विशेष गुण का बोधक हो जाता है। इस तरह सर्वत्र ही कुछ न कुछ गुणवैशिष्ट्य के कारण एकार्थक शब्दों में लिंगभेद की व्यवस्था करनी चाहिये। शब्द की नियतलिंगता भी किसी विशेष कारण से ही लोक में देखी जाती है। तक्षक (बढ़ई) तक्षण, छेदन आदि अनेक क्रियायें करता है। उनमें से एक तक्षण क्रिया के आधार पर उसे तक्षक कहते हैं। कुम्भकार कुम्भ के अतिरिक्त शराव आदि भी बनाता है किन्तु कुम्भ-क्रिया के कारण उसे कुम्भकार कहते हैं। इसी तरह शब्द भी स्वभावतः अथवा अभिधानवैचित्र्य के कारण किसी विशेष लिंग से अभिहित किये जाते हैं। इस अभिधानवैचित्र्य को भर्तृहरि ने उपादान कहा है और उसके आधार पर भी लिंग के निम्नलिखित सात भेद किये हैं :

१—कुछ शब्द केवल पुलिंग हैं जैसे वृक्ष आदि।

२—कुछ शब्द केवल स्त्रीलिंग हैं जैसे खट्वा आदि।

३—कुछ शब्द नपुंसकलिंग में ही नियत हैं जैसे दधि आदि।

४—कुछ शब्द पुलिंग और नपुंसक लिंग वाले हैं जैसे, शंखः, शंखम्, पद्मः, पद्मम्।

५—कतिपय शब्द स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में नियत है जैसे, भागधेयी, भागधेयम्।

६—कुछ शब्द स्त्रीलिंग और पुलिंग में साधारण हैं जैसे, वत्सा, वत्सः आदि।

७—अनेक शब्द तीनों लिंगों में व्यवहृत होते हैं,जैसे, तटः, तटी, तटम् आदि।

उपादानविकल्पाश्च लिंगानां सप्त वर्णिताः।
विकल्पसन्नियोगाभ्यां ये शब्देषु व्यवस्थिताः॥

—वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश ३

सब लिंग सब वस्तु में हैं। किसी शब्द से संकेतित वस्तु किसी विशेषलिंग का व्यंजक है और इस तरह नियत लिंग की व्यवस्था संस्कृत के वैयाकरणों ने की है : **तत्र सर्वेषां लिंगानां सर्वत्र भावात् केनचिच्छब्देन प्रत्याय्यमानं वस्तु कस्यचिल्लिंगस्य व्यंजकमिति दारादिषु नियतलिंगता सिद्धा।—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १।२।५३**

काशिकाकार ने लिंग की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार लिंग एक तरह से सामान्यविशेष है। सामान्यविशेष शब्द का ठीक अर्थ आज ज्ञात नहीं है। काशिकाकार ने केवल इतना कहा है कि स्त्रीत्व आदि सामान्यविशेष हैं, गोत्व आदि की तरह बहुप्रकार व्यक्ति हैं :

केयं स्त्री नाम। सामान्यविशेषाः स्त्रीत्वादयो गोत्वादय इव बहुप्रकाराः व्यक्तयः। क्वचिदाश्रयविशेषाभावाद् उपदेशव्यङ्ग्या एव भवन्ति, यथा ब्राह्मणत्वादयः।

—काशिकावृत्ति ४।१।३

जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार सामान्यविशेष का अर्थ है जो समान्य भी हो और विशेष भी हो। तुल्यजातीय पदार्थों में साधारण होने के कारण सामान्य है। परस्पर तथा विजातीय से भी भेदक होने के कारण विशेष है। यदि इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाय तो गोत्व इसके समीप है। गोत्व सामान्य भी है। क्योंकि विभिन्न गोव्यक्ति में अनुगताकारबुद्धि के आधार पर अभिन्न व्यवहार का हेतु होता है। गोत्व विशेष भी है। क्योंकि अश्वत्व आदि से विशेष की अभिव्यक्ति करता है। इसी तरह से स्त्रीत्व आदि भी सामान्यविशेष हैं। वे तुल्यजातीय सब में रहते हैं और विजातीय से व्यावर्तक हैं। हरदत्त ने सामान्यविशेष शब्द के दो अभिप्रायः दिये हैं। एक तो यह अर्थ संभव है कि कुछ सामान्य हों और कुछ विशेष। दूसरा यह कि सत्ता के अतिरिक्त अन्य जितने अर्थों में सामान्य शब्द का व्यवहार किया जाता है उन सब के लिये सामान्यविशेष शब्द रूढ़ है :

सामान्यविशेषा इति। कानिचित् सामान्यानीत्यर्थः। यद्वा सत्ताव्यतिरिक्तेषु सामान्यविशेष शब्दो रूढ़ः, तिस्रोऽवान्तरजातय इत्यर्थः।

—पदमञ्जरी ४।१।३ पृष्ठ १६

और इस तरह से वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका से इसका सम्बन्ध जोड़ दिया है—

तिस्रो जातय एवैताः केषाचित् समवस्थिताः।
अविरुद्धा विरुद्धाभिः गोमहिष्यादिजातिभिः॥

—वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश ४

इस सामान्यविशेष के आश्रय के वैचित्र्य से लिंग में भी वैचित्र्य आ जाता है।

कोई सामान्यविशेष किसी व्यंजक के आश्रय से अभिव्यक्त होता है। सब सब से अभिव्यक्त नहीं होते। क्योंकि पदार्थों की शक्ति नियतविषय वाली होती है। इसलिये जिस अर्थ (वस्तु) से स्त्रीत्व व्यक्त होता है, पुंस्त्व अथवा नपुंसकत्व व्यक्त नहीं होता, वह स्त्री है। इस तरह से जिससे पुंस्त्व की अभिव्यक्ति हो वह पुरुष और नपुंसकत्व की अभिव्यक्ति हो वह नपुंसक है। चेतन पदार्थों में उनके व्यंजक यौन चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था हो जायगी। अचेतन पदार्थों में लिंग-व्यवस्था उपदेश के आधार पर उपदेश व्यंग्य के रूप में मान ली जायगी। इसी तरह आशा, आकाश जैसे निराश्रय शब्दों में भी लिंग उपदेशव्यंग्य है। जैसे ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि उपदेश व्यंग्य हैं, प्रत्यक्ष नहीं हैं, उसी तरह स्त्रीत्व आदि भी विशेष स्थानों में उपदेश व्यंग्य हैं।[1] कोई शब्द एक ही लिंग में शक्त है, कोई दो में और कोई तीन में। दो या तीन के व्यंजकत्व के आधार पर द्विलिंग या त्रिलिंग शब्दों की व्यवस्था संम्भव है।

भट्टोजि दीक्षित ने लौकिक लिंग और पारिभाषिक लिंग को जोड़कर लौकिकलिंगविशिष्ट शास्त्रीयलिंग की भी कल्पना की है—

> **कुमारब्राह्मणादिशब्दास्तु लौकिकपुंस्त्वविशिष्टे शास्त्रीयेपुंस्त्वे शक्ताः लौकिकस्त्रीत्वविशिष्टे च शास्त्रीयस्त्रीत्वे। कथमन्यथा कुमारी कुमारः इत्यादयः प्रयोगा व्यवतिष्ठेरन्।**
>
> **—शब्दकौस्तुभ १।२।६४, पृ० ४५**

लिंग शब्दनिष्ठ है अथवा अर्थनिष्ठ है? इस प्रश्न पर वैयाकरणों में मतभेद रहा है। दोनों तरह के विचार मिलते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि लिंग शब्दनिष्ठ है, पुलिंगः शब्दः जैसे वक्तव्य शब्दनिष्ठ लिंग के पोषक हैं। स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३ में पाणिनि ने शब्द को ही नपुंसक कहा है। इसके विरुद्ध कुछ आचार्य लिंग को अर्थनिष्ठ मानते हैं।

उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ७।३।४६ सूत्र में पाणिनि ने अर्थधर्म स्त्रीत्व का शब्द में आरोप माना है—**स्त्रीलिंगनिर्देशस्तु तस्य समुदायस्यार्थधर्मेण स्त्रीत्वेन वेदितव्यः, न्यास ७।३।४६, पृ० ७६८**। कैयट के अनुसार भी इस सूत्र में पाणिनि ने अर्थगत स्त्रीत्व का शब्द में आरोप किया है—**अर्थगतं स्त्रीत्वं शब्दे समारोप्य निर्देशः कृतः। कैयट, प्रदीप ७।३।४६।**

महाभाष्कार ने कहा है—**न हि नपुंसकं नाम शब्दोऽस्ति (महाभाष्य ७।१।२३)**। कैयट ने **अर्थधर्मत्वाल्लिंगस्य** (७।१।२३) कह कर अर्थनिष्ठ-पक्ष का समर्थन किया है। नागेश ने भी, **अर्थधर्मस्य स्त्रीत्वस्य शब्दे आरोपः**' कह कर तथा '**शब्दनिष्ठमेव लिंग-**

---

१. इसे वोपदेव ने पाणिनीयमतदर्पण में यों श्लोकबद्ध किया है—

अत्यन्तमाश्रयाणां सादृश्यात् व्यञ्जकाभावात्
उपदेशैकव्यङ्ग्यं क्वचिद् यथा ब्राह्मणत्वादि।
आश्रयस्यातीन्द्रियत्वात्तथा स्त्रीत्वादिकं क्वचित्
उपदेशव्यङ्ग्यमेव स्यात् दिगात्मा गगनं यथा॥

—प्रक्रियाप्रसाद में उद्धृत प्रथम भाग पृ० ३१९

मिति नव्योक्तं परास्तम् (महाभाष्य प्रदीपोद्योत ४।१।३) कहकर स्पष्टरूप से लिंग की अर्थनिष्ठता का समर्थन किया है।

नागेश का यहाँ नव्य से संकेत कौण्डभट्ट की ओर है। कौण्डभट्ट ने शब्दनिष्ठ-पक्ष का समर्थन किया था। उनके अनुसार भाष्यकार के मत में भी लिंग शब्दनिष्ठ है। क्योंकि वे पुल्लिगः शब्दः जैसे व्यवहार करते हैं। पुल्लिगः का अर्थ पुल्लिगवाचक करना भी उपयुक्त नहीं है। अन्यथा घटः शब्दे जैसे प्रयोग हो सकते हैं। उपचार अथवा आरोप के आधार पर पुल्लिग शब्द जैसे प्रयोग को सिद्ध करने में निमित्त आदि की कल्पना करनी होगी। लिंग को अर्थनिष्ठ मानने में तटः, तटी, तटम्, 'आत्मा ब्रह्म' जैसे प्रयोगों की उपपत्ति नहीं बैठ पाती है। छागी का भी यज्ञ में प्रयोग होने लगेगा—

> **वस्तुतस्तु भाष्यमते लिंगंशब्दनिष्ठमेव। पुल्लिगः शब्द इति व्यवहारात् पुल्लिग-वाचकत्वात्तथेति चेत्तर्हि घटः शब्दे इत्यपि स्यात् आरोपे निमित्तानुसरणमि-त्यादेरतिगौरवात्। अर्थनिष्ठत्वे तटस्तटी तटमित्यादेरात्मा ब्रह्मेत्यादेरनुप-पत्तेरुक्तत्वाच्च। छाग्या यागप्रसंगाच्च।**
>
> —**कौण्डभट्ट, वैयाकरणभूषण, पृ० १२३**

नागेश ने मंजूषा में कौण्डभट्ट के उपर्युक्त मत की समीक्षा विस्तार से की है और अर्थनिष्ठपक्ष का समर्थन किया है—

> **एतदवस्थात्रयस्य पदार्थमात्रे सत्त्वाद् इदं केवलान्वयि। इयं व्यक्ति. इदं वस्तु, अयं पदार्थ इत्यादिव्यवहाराणां सर्वत्राप्रतिबद्धप्रसरत्त्वात्। अर्थनिष्ठं च तत्। तथा च भाष्यम्—एकार्थे शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिंगान्यत्वम्, अवयवान्यत्वाच्चेति। पुष्यः तारका नक्षत्रमिति शब्दनानात्वदर्शनात् स्तनकेशाद्यतिरिक्तमेव लिंगम् अर्थनिष्ठम्। कुटी कुटीर इत्यादौ रेफस्यावयवस्योपजने लिंगभेददर्शनाच्चेत्यर्थ इति कैयटः। अत एवोपक्रमभाष्ये रूपरसस्पर्शशब्दानां स्त्यानप्रसवौ लिंग-मित्युक्तम्। न हि रूपादयः शब्दगताः। पुल्लिगः शब्द इति तु वाच्यवाचकयोर-भेदोपचाराद् बोध्यम्। अर्श आद्यजन्तं वा तत्। आत्मनि सर्वस्याध्यस्तत्वेन परम्परया तत्रापि स्त्यानादिसत्त्वाद् आत्मा ब्रह्मेति व्यवहारोपपत्तिः।… पशुना यजेतेत्यादौ पुंस्त्वस्य विवक्षितत्वात् न स्त्रिया याग इति मीमांसकाः।"**
>
> —नागेश, मंजूषा पृ० ११४२-४५

किन्तु भाषा की दृष्टि से हेलाराज का शब्दार्थ से लिंग योग अधिक उपयुक्त जान पड़ता है (**वैयाकरणैः हि न वस्तुधर्मो लिंगमिष्यते, अपितु शब्दार्थस्य लिंगयोगः, हेलाराज, वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३२८**)।

जयादित्य के अनुसार लिंग शब्दाश्रित होने पर भी अर्थभेद के आधार पर निर्भर देखा जाता है—

शब्दरूपाश्रया चेयं द्विलिंगता क्वचिदर्थभेदेनापि व्यवतिष्ठते—काशिका २।४।३१। उनके अनुसार पद्म और शंख शब्द निधि के अर्थ में पुल्लिग हैं, जलज के अर्थ में उभयलिंग हैं। भूत शब्द पिशाच के अर्थ में उभयलिंग है किन्तु क्रिया शब्द के रूप

में इसका लिंग अभिधेय के अनुसार होता है जैसे भूतं काण्डम्, भूता शाला, भूतः घटः। सैन्धवशब्द लवण के अर्थ में उभयलिंग है, यौगिक शब्द के रूप में इसका लिंग अभिधेय के आधार पर होता है जैसे सैन्धवः, मत्स्यः, सैन्धवं जलम्, सैन्धवी शफरी। सार शब्द उत्कर्ष के अर्थ में पुल्लिग है, चन्दनसारः। किन्तु अनुपयुक्त अर्थ में नपुंसक लिंग है, नैतत्सारम्।

सारशब्दः उत्कर्षे पुल्लिगः न्यायादनपेते नपुंसकम् नैतत् सारमिति—

काशिका २।४।३१।[1]

अभयनन्दी ने शब्दनिष्ठपक्ष का समर्थन किया है—

शब्दजनितप्रत्ययवर्गाः स्त्रीत्वादय इहाभिप्रेताः, न वस्तुवर्गाः। अव्याप्तेः। शब्दो हि श्रोत्रपथं गतः लिंगसंख्यावन्तं स्वप्रत्ययं जनयति। स प्रत्ययःखट्वादिषु रसादिषु अभावादिषु च शब्देषु संभवति।—जैनेन्द्रमहावृत्ति ३।१।३, पृ० १५०

ज्ञानपीठ संस्करण

पाणिनि के स्त्रियाम ४।१।३ सूत्र पर विचार करते हुए कात्यायन ने लिंग के प्रत्ययार्थपक्ष, प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष और समानाधिकरणपक्ष पर भी विचार किया है। जिस तरह शुक्ल आदि गुणशब्द गुण और गुणी दोनों के लिए व्यवहृत होते हैं, जैसे शुक्लः पटः पटस्य शुक्लः उसी तरह स्त्रीशब्द भी गुण और गुण के आश्रय दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। जब स्त्री शब्द से गुणमात्र स्त्रीत्व व्यक्त किया जाता है, द्रव्यवाची प्रातिपदिक से स्त्रीत्व वाच्य अर्थ में टाप् आदि प्रत्यय होते हैं। इस रूप में यह प्रत्ययार्थ पक्ष है। जब स्त्रीत्वयुक्त द्रव्य स्त्री शब्द से कहा जाता है, स्त्रीत्वयुक्त द्रव्यवाची अंगीकृतस्त्रीत्व वाले प्रातिपदिक से टाप् आदि प्रत्यय होते हैं—यह प्रकृत्यर्थविशेषण पक्ष है। स्त्रीत्व युक्त द्रव्य स्त्री शब्द से व्यक्त किया जाता है, स्त्रीत्व उपलक्षितद्रव्यवाची प्रातिपदिक से टाप् आदि होते हैं—यह स्त्रीसमानाधिकरणपक्ष है। अन्वयव्यतिरेक के आधार पर भी प्रत्ययार्थ पक्ष की कल्पना की जाती है। दृषद्, वाक् आदि शब्दों में प्रत्यय के प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना भी स्त्री अर्थ की अभिव्यक्ति होती है इस आधार पर भी प्रकृत्यर्थपक्ष की संभावना की जाती है।

स्त्री समानाधिकरण पक्ष को लक्ष्य कर वार्तिककार ने लिखा—

स्त्रीसमानाधिकरणादिति चेद् भूतादिष्वतिप्रसंगः।—४।१।३-३

षट् संज्ञकेभ्यश्च प्रतिषेधः।—४।१।३-४

इसका अभिप्राय यह है कि जिस तरह से 'कुमारःस्त्री' में स्त्री शब्द से प्रत्यायित अर्थ में कुमार शब्द वृत है और इस दृष्टि से स्त्रीप्रत्यय का विधान इस पक्ष में होता है उसी तरह भूतमियं ब्राह्मणी आदि में ब्राह्मणी शब्द से उपलक्षित स्त्रीत्व अर्थ में वर्तमान भूत आदि शब्द से टाप् प्रत्यय होने लगेगा। इसी तरह पञ्च षट् सप्त नव दश ब्राह्मण्यः में पंच आदिशब्द से स्त्रीप्रत्यय के प्रसंग में न षट्स्वस्रादिभ्यः (५।१।१०)

---

१. वर्धमान ने इसकी समीक्षा की है—यत्तु जयादित्येनोक्तं, उत्कर्षे सारशब्दः पुल्लिग एवेति तन्न समीचीनम्—गणरत्नमहोदधि, पृ० ६१

से प्रतिषेध कहना पड़ेगा। प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष में ये दोष नहीं हो सकते। क्योंकि भूतमियं ब्राह्मणी में स्त्रीत्व विवक्षित नहीं है, अपितु पौतन्य विवक्षित है। स्त्रीत्व के विवक्षित होने पर प्रत्यय होता ही है जैसे—'भूता ब्राह्मणी'। यहाँ सत्यवादिनी अर्थ है अथवा चलवसी (अतीता) अर्थ है पौतन्य नहीं। पंच षट् आदि से भी भेद बोधक गणनात्मक संख्या विवक्षित है, स्त्रीत्व नहीं। इसलिए स्त्रीप्रत्यय की अप्राप्ति से प्रतिषेध प्रत्याख्यात है। इस रूप में प्रकृत्यर्थविशेषण पक्ष निर्दोष है। इसको सूचित करने के लिए वार्तिककार ने कहा :

सिद्धं तु स्त्रियाः प्रातिपदिकविशेषणत्वात् स्वार्थे टाबादयः (४।१।३-५)

प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष की भी मीमांसा वार्तिककार ने की है—

स्त्रियामिति स्त्र्यर्थाभिधाने चेट्टाबादयो द्विवचनबहुवचनानेकप्रत्ययानुपपत्तिः (४।१।३-१)

स्त्र्यर्थस्य च प्रातिपदिकार्थत्वात् स्त्रियामिति लिंगानुपपत्तिः (४।१।३-२)

वार्तिककार का अभिप्राय यह है कि प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष में प्रकृत्यर्थोपसर्जन स्त्रीत्व का प्रत्यय से ही अभिधान हो जायगा। स्त्रीत्व प्रधान हो जायगा। स्त्रीत्व के एक होने से कुमारी शब्द से एक वचन तो होगा परन्तु द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे। यद्यपि शब्द रूप आदि गुणों के अवस्थाविशेष लिंग है। अवस्था अवस्यातृ से अभिन्न है। घट में शब्द, रूप आदि अनेक का सन्निवेश है फिर भी शब्द आदि के बहुत्व होने पर भी सन्निवेश के अभेद की बिवक्षा होने पर घटः एक वचन में प्रयुक्त होता है। इसी तरह से अवस्थाविशेष लिंग भी संस्त्यान आदि के रूप में एक है। संस्त्यान की विवक्षा में एक-वचन ही होगा, द्विवचन और बहुवचन नहीं। स्त्रीत्व के एक होने से अनेक प्रत्यय भी प्राप्त न हो सकेंगे। गार्ग्यायणी, कारीषगन्ध्या आदि में दो-दो स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय हैं। गार्ग्यायणी में ष्फ और ङीष् दो स्त्री प्रत्यय हैं। अब ष्फ से स्त्रीत्व के उक्त हो जाने पर ङीष् अनुपयुक्त हो जायगा। इसी तरह संस्त्यानवाची ड्रट् प्रत्ययान्त स्त्री शब्द से ङीष् नहीं होगा क्योंकि स्त्रीत्व स्त्री से ही उक्त हो जाता है।

वार्तिककार ने इन आक्षेपों का स्वयं समाधान भी किया है—

गुणवचनस्य वाश्रयतो लिंगवचनभावात् (४।१।३-६)

भावस्य च भावयुक्तत्वात् (४।१।३-७)

तात्पर्य यह है कि गुणवचन शब्दों से आश्रय के आधार पर लिंग और वचन होते हैं। कुमारी शब्द से द्रव्य का ही अभिधान होता है इसीलिए द्रव्यगत संख्या के आधार पर द्विवचन और बहुवचन हो जायेंगे। यद्यपि प्रक्रियादशा में स्त्रीत्व को प्रत्ययार्थ मानते हैं फिर भी शब्दशक्ति के स्वभाव से गुणप्रधानभाव में विपर्यय भी देखा जाता है। इसलिए स्त्रीत्व अप्रधान हो जाता है, और द्रव्य प्रधान। सर्वत्र प्रत्ययार्थ प्रधान नहीं होता। शब्दशक्ति के आधार पर अप्रधान भी प्रधान होता रहता है। अतः आश्रय की प्रधानता मानकर वचन-व्यवस्था संम्भव है। अथवा गुण और गुणी में अभेद की विवक्षा में कुमारी शब्द से द्रव्य का ही अभिधान होता है। अथवा संस्त्यान आदि धर्म द्रव्य से अव्यतिरिक्त रूप में ही प्रतिभासित होते हैं। स्वभावतः प्रत्यय

के द्वारा द्रव्य से व्यतिरिक्त स्त्रीत्व का बोध नहीं होता। इस तरह सामानाधिकरण्यता पक्ष के तीन प्रकार यहां प्रदर्शित हैं—

१. स्त्रीत्व का अप्राधान्य द्रव्य का प्राधान्य।

२. अभेदोपचार।

३. द्रव्य से अनतिरिक्त स्त्रीत्व का प्रत्यायन।

गार्ग्यायिणी आदि में दोनों स्त्रीप्रत्ययों से स्त्रीत्व की अभिव्यक्ति मान ली जायगी। पाणिनि ने ष्फ में षित्व ङीषर्थ ही किया है। अनेक से भी एक की अभिव्यक्ति होती है, जैसे घने अंधकार में अनेक दीप से एक घट की अभिव्यक्ति। अवश्य ही दीपक वाले दृष्टान्त के साथ साम्य लाने के लिए इस पक्ष में प्रत्यय को द्योतक मानना पड़ेगा। वार्तिककार ने दूसरे ढंग से समाधान किया है जो सूक्ष्म है और दार्शनिक महत्त्व रखता है। उनके अनुसार स्त्रीत्व का स्त्रीत्व के साथ योग स्वाभाविक है। (**भावस्य च भावयुक्तत्वात्**। ४।१।३-७) भाव का भाव से, वस्तु का वस्तु से, क्रिया का क्रिया से योग स्वाभाविक है। स्त्रीत्व भी द्रव्य रूप है। अतः अपर स्त्रीत्व के साथ उसका योग अविरुद्ध है।

कुछ लोग मानते हैं कि प्रातिपदिक से द्रव्यरूप का अभिधान होता है और प्रत्यय से धर्मरूप का। जैसे कर्म आदि विभक्ति शक्तिरूप का प्रत्यायक है और प्रातिपदिक वस्तुभूत का। और इस तरह अभिधानभेद से स्त्रीत्व का स्त्रीत्व से योग कहा जाता है। काशिकाकार ने स्त्रीत्व को प्रत्ययार्थ और प्रकृत्यर्थविशेषण दोनों रूप में स्वीकार किया है : **स्त्रीत्वं च प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थविशेषणं चेत्युभयत्रापि प्रयुज्यते।**

—काशिकावृत्ति ४।१।३

भाष्यकार ने लिंग को सत्त्व (द्रव्य) का गुण माना है **स्त्रीपुंनपुंसकानि सत्त्वगुणाः—महाभाष्य** १।१।३८, १।२।६४)। यह एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है। कैयट, नागेश आदि इस वक्तव्य पर मौन हैं। संभवतः उनके सांख्य आधारित गुण-लिंग दर्शन की पुष्टि इस उक्ति से नहीं होती। भाष्यकार के अनुसार गुणवचन शब्द अपने आधार के अनुसार लिंग और वचन ग्रहण करते हैं। फलतः शुक्लं वस्त्रं, शुक्ला शाटी, शुक्लः कम्बलः आदि प्रयोग उपपन्न होते हैं। इसी तरह स्त्रीत्व आदि भी अपने आश्रित द्रव्य के लिंग को ग्रहण कर सकते हैं। इस आधार पर लिंग में भी लिंगयोग संभव है। स्त्रीत्व तीनों लिंगों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जैसे स्त्रीभावः (पुल्लिंग) स्त्रीता (स्त्रीलिंग) और स्त्रीत्वं (नपुंसकलिंग)।

एक ही वस्तु के लिये विभिन्न लिंगों के व्यवहार पर वार्तिककार के मत का उल्लेख ऊपर हो चुका है। पंतजलि ने एक दूसरा मौलिक सुझाव दिया है। पाणिनि के पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८ सूत्र के विवेचन के प्रसंग में भाष्यकार ने कहा है कि पुरुष के लिंग के लिये स्त्रीलिंग का और स्त्री के लिये पुल्लिग का प्रयोग संभव है। और इसका कारण यह है कि पुरुष में स्त्रीत्व के कुछ लक्षण मिल सकते हैं। और स्त्री में भी पुरुष के कुछ लक्षण मिल सकते हैं। लक्षण न भी मिलें तब भी एक के धर्म का दूसरे पर आरोप या अध्यास अथवा परस्पर तादात्म्य संभव है। तात्स्थ्य,

ताद्धर्म्य, सामीप्य और साहचर्य के आधार पर जिसमें जो धर्म नहीं है उसमें भी उस धर्म का आरोप देखा जाता है। इस दृष्टि से दाराः (पुंल्लिग), स्त्री (स्त्रीलिंग) और कलत्रम् (नपुंसकलिंग) शब्द स्त्री के क्रमशः पुंस्त्व, स्त्रीत्व और नपुंसकत्व स्वरूप के द्योतक हैं। दारा शब्द विनाशक पुरुष अर्थ को व्यक्त करता है जो पुरुष के लक्षण से मेल खाता है। (दारयन्तीति दाराः। अथवा दीर्यते तैर्दाराः, महाभाष्य भाग २ पृ० १४७ किलहार्न संस्करण)। कलत्र शब्द स्त्री के अनिर्ज्ञात अथवा रहस्य स्वरूप का द्योतक है और इसलिये नपुंसकलिंग से व्यक्त किया जाता है। वे वस्तुएं जिनके गुण पूर्णतया ज्ञात न हों अथवा संदिग्ध हों, नपुंसकलिंग द्वारा व्यक्त की जाती हैं। (**अनिर्ज्ञातेऽर्थे गुणसंदहे च नपुंसकलिंगं प्रयुज्यते—महाभाष्य १।२।६७ भाग १ पृष्ठ** २५०) तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलू हैं, लिंग उनके विभिन्न स्वरूपों के प्रत्यायक हैं। इस बात को हेलाराज ने यों स्पष्ट किया है—

> **शब्देभ्यो वस्त्वर्था एकस्वभावा अपि विस्तारं भजन्ते, तेभ्यो नानारूपाणां प्रकाशनात्। तथा च दारशब्दःस्त्रियं पुंस्त्वविशेषणामाचष्टे, भार्याशब्दः स्त्रित्वविशिष्टाम्।**
>
> —वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश १६७।

जातिपदार्थदर्शन और द्रव्यपदार्थदर्शन के आधार पर भी लिंग पर विचार किया जाता है। जातिपदार्थपक्ष में शब्द से आकृति का अभिधान होता है। आकृति सदा आविष्टलिंगा होती है। जाति के आविष्टलिंग मानने का तात्पर्य यह है कि जाति नियतलिंगवाली होती है। जाति की आविष्टलिंगता शब्दविशेष सापेक्ष है। सर्वत्र तीनों लिंगों की सत्ता होने पर भी किसी विशेष शब्द से किसी विशेष लिंग की अभिव्यक्ति होती है। पाणिनि ने जाति पदार्थ को सामने रखते हुए 'ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री' १।२।७३ सूत्र का निर्माण किया था। लोक में 'गावः इमाः', 'अजा इमाः' जैसे प्रयोग देखे जाते थे। ऐसे प्रयोगों की साधुता के लिए पाणिनि ने उपर्युक्त सूत्र लिखा था। 'गावः इमाः' इस वाक्य में गौ शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया गया है। यद्यपि संस्कृत में गौ शब्द पुंल्लिग है किन्तु प्राचीनकाल से हीं इसका प्रयोग स्त्रीलिंग में भी होता आया है। अति प्राचीन काल में स्त्रीगवी और पुंगव जैसे शब्द गौ शब्द के असंदिग्ध अर्थ जताने के लिए चल पड़े थे। केवल गौ शब्द से भ्रम की सम्भावना रहती थी। इसलिए गौ शब्द से यदि गाय अर्थ अपेक्षित रहता था तो उसमें स्त्री शब्द जोड़-कर स्त्रीगवी शब्द का व्यवहार किया जाता था जैसे आज अंगरेजी में बकरी के लिए शी-गोट शब्द का व्यवहार किया जाता है। अथवा अयम् या इयम् सर्वनाम शब्द के साथ जोड़कर बैल या गाय का बोध कराया जाता था जैसे गौः अयं यः शकटं वहति, गौः इयं या समां समां विजायते (महाभाष्य ५।३।५५)।

किन्तु कालान्तर में गौ शब्द गाय के लिए अधिक प्रयुक्त होने लगा। जैसा कि गावः इमाः (महाभाष्य १।२।७३) के प्रयोग से जान पड़ता है। नागेश ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गौ शब्द का स्त्रीलिंग में व्यवहार भाष्यप्रयोग के आधार पर और लोक व्यवहार के आधार पर समझना चाहिए—

भाष्यात् लोकाच्च गोशब्द व्यवहारः प्रायेण स्त्रीगवीष्वेवेति द्रष्टव्यम्

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।७३

गावः इमाः इस वाक्य का अभिप्राय है गाय-बैलों का झुण्ड । यद्यपि उस झुण्ड में बैल भी रहते थे किन्तु उन दिनों उस पूरे झुण्ड को गावः इमाः गायों का झुण्ड कहा जाता था । पाणिनि का तात्पर्य यह है कि ऐसे ग्राम्य पशुसंघ में स्त्रीशेष होता है और पुंस्त्व की अविवक्षा होती है । इसलिये गावः इमाः वाक्य से गाय-बैल दोनों के झुण्ड अभिप्रेत हैं किन्तु 'गावः' में केवल स्त्रीत्व निर्देश है । इसी तरह अजा और अज दोनों के झुण्ड में होने पर भी 'अजाः इमाः' ये अजा हैं ऐसा ही प्रयोग होता था । किन्तु जंगली पशुओं के झुण्ड के लिए या बछड़ों के झुण्ड के लिए स्त्रीशेष का नियम लोक में प्रचलित नहीं था । जंगली सूअर और सूअरि दोनों के लिए 'सूकरा इमे' कहा जाता था । इसी तरह जिस झुण्ड में बाछा और बछिया दोनों होते थे उनके लिये 'वत्सा इमे' इस वाक्य का प्रयोग होता था । तात्पर्य यह है कि प्रयोग के नियत होने पर जाति कभी आश्रयलिङ्ग द्वारा स्त्रीत्व से और कभी पुंस्त्व से व्यक्त होती है—

अनेन प्रकरणेन प्रयोगस्य नित्यत्वात् जातिः क्वचिदाश्रयगतलिङ्गेन स्त्रीत्वेन व्यपदिश्यते क्वचित् पुंस्त्वेनेत्युक्तं भवति ।

—कैयट—प्रदीपोद्योत १।२।७३

महाभाष्यकार ने पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र का प्रत्याख्यान किया है । उनका कथन है कि जब 'गावः इमाः चरन्ति' कहा जाता है तब प्रायः गायों के चरने का ही निर्देश किया जाता है । बैल रहते ही कहाँ हैं । उन्हें बधिया बनाकर उनसे भार ढोने का काम लिया जाता है अथवा उन्हें बेच देते हैं । केवल गायें ही बच रहती हैं—

गावः उत्कलितपुंस्का वाहाय च विक्रयाय च स्त्रिय एवावशिष्यन्ते ।

—महाभाष्य १।२।७३

यद्यपि गायों के साथ एक दो वृषभ (बैल) भी संभव हैं फिर भी आधिक्य के आधार पर स्त्रीत्वमय निर्देश वैसे ही संभव है जैसे किसी गाँव में अधिक पहलवानों के होने के कारण उसे मल्लग्राम कहा जाता है । जाति-पदार्थ दर्शन के मानने पर सूत्र के प्रत्याख्यान करने पर, गावः इमाः जैसे स्थलों में लिङ्गनियम शब्दशक्तिभेद के आश्रय पर व्यवस्थित माना जाता है । जाति सदा आश्रयगत लिङ्ग से संपृक्त रहती है । वृक्षः, पादपः, तरुः इनमें आविष्ट वृक्षत्व जाति सदा पुंस्त्व विशिष्ट ही होती है, कभी भी स्त्रीत्व अथवा नपुंसकत्व विशिष्ट नहीं । इसी तरह शिंशपागत जाति स्त्रीत्व विशिष्ट ही होती है । पनसम् में नपुंसकत्व विशिष्ट ही होती है । इषु, अशनि अथवा पद्म, शंख जैसे शब्द द्विलिङ्गी हैं, तट आदि त्रिलिङ्गी हैं । इन सबमें लिङ्ग नियत है, कभी भी उसमें परिवर्तन नहीं होता । इसी आधार पर जाति को आविष्ट-लिङ्ग रूप में स्वीकार किया जाता है । किन्तु लोक में स्तन, केश आदि लिङ्ग व्यंजक धर्मों के होते हुए भी आविष्टलिङ्ग वाला नियम सर्वत्र सफल नहीं होता । दाराः (पुंल्लिग), कलत्रम् (नपुंसकलिङ्ग) में लिङ्गभेद है यद्यपि व्यंजन समान हैं । इसके परिहार के लिए भर्तृहरि ने प्रवृत्ति को ही लिङ्ग का सामान्य लक्षण माना है ।

(वाक्यप्रदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३२१)

द्रव्यपदार्थवाद की दृष्टि से विचार करने पर भी आविष्टलिङ्गता का नियम ज्यों का त्यों रहता है। अवश्य ही जाति आविष्टलिङ्गवाली होती है जबकि द्रव्य अनियतलिङ्ग वाला होता है। फिर भी दोनों पक्षों में इस रूप में साम्य है कि जाति की आविष्टलिङ्गता नियतजातिशब्दों द्वारा लिङ्गग्रहण असांकर्यरूप में होता है। केवल एकलिङ्ग का परिग्रह आविष्टलिङ्गता नहीं है। व्याकरण में लिङ्ग का ग्रहण वस्तुधर्म के रूप में न होकर शब्दार्थ के लिङ्ग के रूप में होता है। द्रव्यपदार्थपक्ष में गुणावस्था लिङ्ग है। उपादानविकल्प के रूप में लिङ्ग के जो सात भेद पहले कहे जा चुके हैं वे ही, इस पक्ष में आविष्टलिङ्गता है—

लिङ्गं प्रति न भेदोऽस्ति द्रव्यपक्षेऽपि कश्चन।
तस्मात् सप्तविकल्पा ये सैवात्राविष्टलिङ्गता ॥

—वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३२८

जातिपदार्थपक्ष में शब्द का, प्रधान रूप में, वाच्य जाति है। द्रव्य उसके उपकारक होने के कारण गुणभूत रूप में अवगत माना जाता है। द्रव्यपदार्थपक्ष में शब्द का अभिधेय द्रव्य है, आकृति उसके अवच्छेदक होने के कारण गुणभूत होती है। जो शब्द जातिविशिष्ट द्रव्य के अभिधायक हैं उनमें लिङ्गयोग आश्रय के आधार पर होता है। जो शब्द केवल जातिबोधक हैं उनमें लिङ्गयोग अभेदोपचार के आधार पर, सः अयम् इस नियम के आधार पर, हो जाता है। जाति निराश्रित नहीं रह सकती। अतः साहचर्य के कारण आश्रयगतलिङ्ग से वह संपृक्त हो जाती है। कुछ लोग केवल जाति अभिधायक शब्द को अन्य और केवल द्रव्य अभिधायक शब्द को अन्य मानते हैं। जातिपदार्थपक्ष में केवल शुद्ध जाति शब्द से वाच्य है, द्रव्यपदार्थदर्शनपक्ष में केवल शुद्ध द्रव्य शब्द से वाच्य है। दोनों पक्षों में अनभिधीयमान द्रव्य अथवा जाति में लिङ्गयोग आधार भेद की कल्पना से अथवा स्वगतलिङ्ग कल्पना से सिद्ध किया जाता है। हेलाराज के अनुसार पाणिनि का यही मत है—

केवलजात्यभिधायी शब्दोऽन्य एव। अन्यश्च केवलद्रव्याभिधायी। उभयत्रापि चानभिधीयमाना जातिः द्रव्यं वा यथायोगमाधारभेदप्रकल्पनेन स्वगत-लिङ्गसंख्यादिधर्मप्रकल्पनेन चोपकरोतीति भगवतः पाणिनेराचार्यस्यायं पक्षः।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, वृत्ति समुद्देश ३५७

लिङ्ग के आधार पर शब्दों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है। आविष्टलिङ्ग और अनाविष्टलिंग। जाति, द्रव्य और परिमाणबोधक शब्द आविष्टलिंग हैं। जाति शब्द जिस लिंग के आश्रय से व्यक्त होते हैं, कभी उसे नहीं छोड़ते—

आविष्टलिङ्गा जातिः यल्लिङ्गमुपादाय, प्रवर्तते, उत्पत्तिप्रभृत्याविनाशान्न तल्लिङ्गं जहाति।

—महाभाष्य १।२।५२

आकृतिव्यंग्य और उपदेशव्यंग्य के रूप में जाति दो तरह की हैं। इनमें आकृति

व्यंग्य ग्राविष्टलिङ्ग शब्द—गौः, मृगः, पक्षी, सर्पः, सिंहः, वृक्षः, कुमारी, कुण्डम्, स्त्री, पुमान्, नपुंकसम् ग्रादि हैं।

उपदेशव्यंग्यजाति वाले ग्राविष्टलिङ्ग शब्द—ब्राह्मणः, गार्ग्यः, कठः, क्षत्रियः, वैश्यः, शूद्रः, सूतः, पारशवः ग्रादि हैं। द्रव्य भी सापेक्ष ग्रौर निरपेक्ष रूप से दो तरह का है। इनमें सापेक्ष द्रव्य ग्राविष्टलिङ्ग शब्द—गुरुः, पिता, पुत्रः, भ्राता, जामाता, मित्रम्, माता, स्वसा, दुहिता, भार्या ग्रादि हैं। ग्रनपेक्ष द्रव्य ग्राविष्टलिङ्ग शब्द—चैत्रः, मैत्रः, इन्द्रः, चन्द्रः, सूर्यः, कालः, ग्राकाशः, प्राची, प्रतीची, शची, लक्ष्मी ग्रादि हैं। नियत ग्रौर ग्रनियत भेद से परिमाण भी दो तरह का होता है। इनमें नियत परिमाण ग्राविष्टलिङ्ग शब्द--द्रोणः, खारी, पलम्, भारः, क्रोशः, योजनम्, ग्रक्षौहिणी, ग्रादि हैं। ग्रनियत परिमाण ग्राविष्टलिंग शब्द—संघः, पूगः, सार्थः, समाजः, वर्गः, श्रेणिः, कुटुम्बम्, परिषद्, पंक्तिः, यूथम्, वनम्, सेना ग्रादि हैं।

गुणवाचक, संख्यावाचक, वचन ग्रौर सर्वनाम—ये सब ग्रनाविष्टलिंग हैं। इनमें श्वेतः, स्वादुः, शीघ्रः, मन्दः, दीर्घः, ह्रस्वः, युवा, वृद्धः जैसे शब्द ग्रनुरंजक ग्रनाविष्टलिंग हैं। दक्षः, जिह्मः, जडः, प्राज्ञः, खलः, साधुः, शूरः, भीरुः, लघुः, गुरुः जैसे शब्द ग्रनुरंजक ग्रनाविष्टलिंग हैं। संख्या दो रूप में गृहीत होती है। लिंगवती ग्रौर ग्रलिंगा। इनमें लिंगवती—एकः, एका, एकम्, द्वौ, द्वे, द्वे, ग्रादि हैं। पञ्च, षड्, ग्रष्टौ ग्रादि ग्रलिंगा हैं। सर्वनाम के भीतर सर्वादिगण ग्रौर ग्रसर्वादि दोनों लिए जाते हैं।

—भोज, शृंगार प्रकाश, पृ० ७

सर्वनामों में युष्मद् (त्वम्), ग्रस्मद् (ग्रहम्) के लिंग के विषय में संस्कृत वैयाकरणों में कुछ विवाद था। इसका उल्लेख कैयट ने किया है। वार्तिककार ग्रौर महाभाष्यकार ने युष्मद् ग्रौर ग्रस्मद् शब्द को ग्रलिंग माना है। ग्रलिंगे युष्मदस्मदी—महाभाष्य ७।१।३३। ग्रभिधेय के ग्रलिंग होने से ये शब्द ग्रलिंग माने जाते हैं। शब्दशक्ति-स्वभाव के ग्राधार पर ऐसा माना जाता है। इन शब्दों से लिंग रहित रूप में ही ग्रर्थ का भान होता है। शब्द-शक्ति के सहारे ही शब्द ग्रपने ग्रर्थ का प्रत्यायक है। शब्द के सामर्थ्य का ग्रवधारण लौकिक प्रयोग से होता है। लोक में युष्मद् ग्रस्मद् शब्द से लिंग का ग्रवगमन नहीं होता। कुछ लोग मानते हैं कि युष्मद् ग्रस्मद् शब्द का ग्रभिधेय ग्रर्थ रूप शब्द है वस्तु रूप नहीं। ब्राह्मण ग्रादि शब्दों से उसी का लिंगयुक्त रूप में प्रतिपादन होता है। यह नियम नहीं है कि सत्त्वभूत ग्रर्थ ग्रवश्य लिंग युक्त होता है। क्योंकि पञ्च, सप्त ग्रादि कहने से लिंग का भान नहीं होता। इसीलिए कुछ वृत्तिकारों ने षट्संज्ञक से स्त्रीप्रत्ययप्रतिषेध का प्रत्याख्यान किया है। ग्रन्य ग्राचार्य मानते हैं कि युष्मद् ग्रस्मद् शब्द से भी लिंग सर्वनाम नपुंसक योग होता है। इसी ग्राधार पर शि शी लुङ् नुम् का तथा युष्मद् ग्रस्मद् विभक्त्यादेश का विप्रतिषेध कहा गया है। कुछ ग्रन्य ग्राचार्य विप्रतिषेध का समाधान दर्शनभेद के ग्राधार पर मानकर युष्मद् ग्रस्मद् में लिंग योग मानते हैं। उनके मत में सत्त्वभूत ग्रर्थ का लिंगयोग ग्रवश्य होता है। कैयट, भाष्यप्रदीप—७।१।३३। नागेश ने लिंग वाले पक्ष का समर्थन किया है ग्रौर इसके विरोध में कहे गये भाष्यकार के वाक्यों को एकदेशीय माना है: **ग्रत्र**

लिंगवत्त्वपक्ष एव युक्तः सूत्रवार्तिकोभयसंमतत्वात् ।

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत ७।१।३३

अव्यय में लिंगयोग के विषय में भी मतभेद है। जो अव्यय असत्त्वभूत अर्थ के अभिधायक हैं उनसे लिंगयोग नहीं होता। जो सत्त्वभूत अर्थ के प्रतिपादक हैं उनसे भी शब्दशक्तिस्वभाव के आधार पर लिंगयोग नहीं होता। कुछ लोग मानते हैं कि अव्ययों का लिंगविशेष से तो योग नहीं होता, किन्तु लिंगसामान्य से योग होता है। कैयट इस पक्ष के समर्थक नहीं जान पड़ते। उनके मत में लिंगसामान्य की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है—

केचित्तु लिंगादिविशेषेणायोगात्, तत्सामान्येन तु योगमव्ययानामाहुः। तद-युक्तम्। लिंगादिसामान्यसद्भावे प्रमाणाभावात्—

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप १। १। ३८

लिंगसामान्यदर्शन न्यासकार का है : **लिंगसंख्याकारकविशेषस्यानुपदानात् सामान्यरूपोपादानाच्च**—न्यास १। १। ३७, पृ० ८२। उनके मत में, 'तत्र शालायाम्' वाक्य में तत्र शब्द अव्यय है फिर भी इससे स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय होता है और अव्यय के कारण टाप् प्रत्यय का लोप हो जाता है। यद्यपि 'तत्र शालायाम्' में वाक्यार्थ में स्त्रीत्व है फिर भी वाक्यार्थ के द्वारा तत्र में भी स्त्रीत्व है (न्यास २। ४। ८१)।

क्रियाविशेषण नपुंसकलिंग माने जाते हैं। क्रिया-विशेषणानां च क्लीबतेष्यते। मृदु पचति। शोभनं पचति—काशिका २। ४। १८। न्यासकार के अनुसार क्रिया स्वयं द्रव्य नहीं होती, अतः उसके विशेषण भी द्रव्य नहीं माने जाते। द्रव्य न होने से उनमें लिंगयोग भी नहीं होता—

क्रियायाः साध्यत्वात् कर्मत्वम्। तद् विशेषणमपि कर्म भवति। तच्चासत्त्वं भवति। क्रियैव हि तावद् द्रव्यं न भवति। कुतः पुनस्तद्विशेषणं द्रव्यं भविष्यति।

—न्यास २। ३। ३३

यद्यपि संस्कृत के वैयाकरणों ने यह अनुभव कर लिया था कि लिंग के नियम व्याकरण द्वारा सर्वथा नियंत्रित नहीं किए जा सकते और इसलिए यह घोषणा की थी कि इस सम्बन्ध में शास्त्रोपदेश अनिवार्य नहीं हैं। (**शास्त्रोपदेशेन विनापि सिद्धिः लिंगस्य लोकव्यवहारगम्या**—कैयट, भाष्यप्रदीप ५। ३। ६६।) फिर भी पाणिनि आदि ने लिंग के विषय में अनेक नियमों के उल्लेख किये हैं। विशेष नियम लिंगानु-शासनों में वर्णित हैं। यहां कुछ प्रत्ययों आदि के सम्बन्ध में संकेत दिए जा रहे हैं।

एक ही वस्तु शब्दभेद से—प्रत्ययभेद से अर्थवैचित्र्य उत्पन्न करती है। जैसे—कार्श्यं, क्रशिमा, कृशता। इन शब्दों में प्रकृति समान है किन्तु प्रत्ययभेद से लिंग भेद है और उपर्युक्त गुणदर्शन के आधार पर—गुणों की स्थिति, प्रसव और संस्त्यान भेद से अर्थभेद की कल्पना की जा सकती है।

जलम् और आपः

दाराः और भार्या

जैसे शब्दों में शक्तिभेद के आधार पर लिंग-भेद है। द्वैधम् शब्द अलिंग है किन्तु अतिद्वैधानि शब्द लिंगयुक्त है।

संस्कृत में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके प्रातिपदिक रूप से भी लिंग का भान होता है जैसे—समित् (स्त्रीलिंग), दृषद् (स्त्रीलिंग)। कुछ शब्दों में लिंगभान प्रत्यय के आधार पर होता है जैसे गौरी, किशोरी। पाणिनि ने स्त्रीत्व के भान के लिए अनेक प्रत्ययों का विधान किया है। और कई शब्दों के एक से अधिक रूपों का निर्देश किया है जैसे—

चन्द्रमुखी	—	चन्द्रमुखा
अतिकेशी	—	अतिकेशा
स्निग्धकण्ठी	—	स्निग्धकण्ठा
बिम्बोष्ठी	—	बिम्बोष्ठा
तिलोदरी	—	तिलोदरा।

किन्तु सुभगा, पृथुजघना जैसे शब्दों में दो रूप नहीं चलते थे। कहीं-कहीं दो रूपों में अर्थभेद होते थे, जैसे निम्न जोड़ों में—

कुण्डी	—	कुण्डा
गोणी	—	गोणा
स्थली	—	स्थला
भाजी	—	भाजा
काली	—	काला
नीली	—	नीला
कुशी	—	कुशा
कामुकी	—	कामुका
पाणिगृहीती	—	पाणिगृहीता।

किन्तु व्यवहार में ये भेद तिरोहित होने लगे थे। जैसे—

कुवलयदलनीलाकोकिलाबालचूते।

—वामन, काव्यालंकार १२। ४६

यहाँ नीली के स्थान पर कवि ने नीला का प्रयोग किया है। संस्कृत में कुछ शब्दों से प्रत्यय के कारण अर्थभेद न होते हुए भी लिंगभेद होता है। जिन शब्दों में तद्धित प्रत्ययों के कारण मूल लिंग बना रहता है वे तल्लिंगी हैं। जैसे—मन एवं मानसम्। मन और मानस शब्द दोनों नपुंसक लिंग हैं। बन्धुरेव बान्धवः। बन्धु और बान्धव शब्द दोनों पुल्लिंग हैं। इसी तरह यवः, यावकः। जिन शब्दों में प्रत्यय के कारण लिंगभेद दिखाई देता है वे अन्य लिंगी हैं जैसे उपाय एव औपयिकम्। यहां उपाय पुंलिग और औपयिक शब्द नपुंसकलिंग है। देव एव देवता। देव शब्द पुंल्लिग और देवता शब्द स्त्रीलिंग है। इसी तरह देवता एव दैवतम्।

स्वार्थिक प्रत्यय स्वभावतः प्रकृतिगत लिंग का अनुवर्तन करते हैं। किन्तु कभी-कभी इस नियम में व्यतिक्रम भी देखा जाता है। जैसे कुटी (स्त्रीलिंग) कुटीरः

(पुंल्लिग), इसी तरह शमी—शमीरः; शुण्डा, शुण्डारः।

अनेक शब्दों में विवक्षा-अविवक्षा के सहारे लिंग विचार किया जाता है। ईहा, लज्जा जैसे शब्दों में लिंग विवक्षित है। आतंक जैसे शब्द में अविवक्षित है। बाधा, बाधः, ऊहा, ऊहः, व्रीडा, व्रीडः, जैसे शब्दों में विवक्षा और अविवक्षा दोनों होते हैं।

पाणिनि ने द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परवत् लिंग का विधान किया है। भर्तृहरि ने भाष्यकार के आधार पर द्वन्द्व समास में लिंगयोग स्वाभाविक और वाचनिक दोनों रूप में दिखाया है। च के अर्थ में द्वन्द्व समास होता है। च का अर्थ समुच्चय भी है। समुच्चय के साथ दो तरह के विचार हैं। एक पक्ष समुच्चित को प्रधान मानता है। दूसरा पक्ष समुच्चय को प्रधान मानता है। समुच्चितप्रधान पक्ष में लिंग योग स्वभावतः होता है। समुच्चयप्रधानपक्ष में लिंगयोग वाचनिक माना जाता है। कुछ लोगों के अनुसार समुच्चितप्राधान्यपक्ष में भी लिंगयोग स्वाभाविक न होकर वाचनिक होता है क्योंकि समुच्चय निमित्त है, समुच्चित नैमित्तिक है। निमित्त से नैमित्तिक का स्वरूप आच्छादित रहता है। इसलिए समुच्चित में स्वधर्म की प्रतिपत्ति न होने से शास्त्र द्वारा लिंग का अतिदेश किया जाता है। किन्तु भर्तृहरि के अनुसार यह मत उपयुक्त नहीं है। उनके अनुसार समुच्चय का समुच्चित के निमित्त के रूप में ग्रहण भ्रान्तिमूलक है (वाक्यपदीप ३, वृत्तिसमुद्देश २०१)।

बहुव्रीहि समास में लिंग के विषय में विप्रतिपत्ति वार्तिककार ने उठाई थी। बहुव्रीहि समास में पदार्थाभिधानपक्ष और विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष के रूप में विवाद प्रचलित थे। दोनों पक्षों का उल्लेख कात्यायन ने किया है। इनमें विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष में बहुव्रीहि समास में लिंग योग की उपपत्ति नहीं हो पाती है। क्योंकि लिंगयोग सत्त्वभूत द्रव्य से होता है। विभक्त्यर्थ अद्रव्य है। उसमें लिंगातिदेश संभव नहीं है।

विभक्त्यर्थाभिधानेऽद्रव्यस्य लिंगसंख्योपचारानुपपत्ति.

पा० सूत्र २।२।२४ पर वार्तिक[1]

भाष्यकार ने इसका समाधान किया है कि जैसे गुणवचन शब्दों में आश्रयगतधर्म के आधार पर लिंगयोग होता है उसी तरह बहुव्रीहि समास में भी हो जाया करेगा। व्याकरणदर्शन में पदावधिक अन्वाख्यान और वाक्यावधिक अन्वाख्यान दोनों गृहीत हैं। पदावधिक-अन्वाख्यान पक्ष में सामान्यमात्र को सामने रखकर पदसंस्कार किया जाता है अतः बहुव्रीहि समास में भी सामान्य में नपुंसकलिंग और एक वचन नियम के अनुसार नपुंसकलिंग और एकवचन की ही प्राप्ति होनी चाहिए किन्तु विशेषणानां चाजातेः १।२।५२ सूत्र के अनुसार गुण वचनों के आश्रय के आधार पर लिंग और वचन प्रतिपादन किया जाता है। अर्थात् पदसंस्कार पक्ष में लिंगविधान

---

१. महाभाप्यकार ने अपर आह के रूप में इस वार्तिक का एक दूसरा पाठ भी दिया है—अपर आह—विभक्त्यर्थाभिधाने द्रव्यस्यलिंगसंख्योपचारानुपपत्तिः—महाभाष्य २।२।२४ उपर्युक्त वार्तिक में और इस वार्तिक में यह अन्तर है कि उसमें 'अद्रव्यस्य' पाठ है, इसमें, 'द्रव्यस्य' ऐसा अकार प्रश्लेषरहित पाठ है।

शास्त्रीय है। वाक्यसंस्कार पक्ष में बहुव्रीहि समास में लिंगविधान न्यायसिद्ध है। क्योंकि इस पक्ष में पद के संस्कार आश्रयविशेष के आश्रय से ही होते हैं। अर्थात् वाक्यसंस्कार पक्ष में लिंगविधान वाचनिक न होकर स्वाभाविक है। चित्रगु: शब्द में बहुव्रीहि समास है। यद्यपि चित्रगु शब्द से सम्बन्ध का अभिधान होता है फिर भी अभेदोपचार से सम्बन्धी का ग्रहण हो जाता है। यद्यपि सम्बन्ध द्विष्ठ होता है फिर भी प्रधानता के आधार पर स्वामी की अभिधेयता मान ली जाती है और उसी के आश्रय से लिंगयोग होता है, गाय के आश्रय से नहीं। जिस तरह शुक्ल शब्द कहीं गुण का बोधक होता है और कभी गुणी का, उसी तरह चित्रगु शब्द भी कभी सम्बन्ध का बोधक होने लगेगा और कभी सम्बन्धी का। उसे केवल सम्बन्धी का ही वाचक होना चाहिए। इसके उत्तर में भाष्यकार की मान्यता है कि कृत्स्न पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है। पाणिनि ने अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४ सूत्र में अर्थ ग्रहण के द्वारा यह संकेत किया है कि कृत्स्नपदार्थ का अभिधान हो—

यदर्थग्रहणं करोति तस्यैतत् प्रयोजनं कृत्स्न: पदार्थो यथाभिधीयते सद्रव्य: सलिंग: ससंख्यश्चेति।

महाभाष्य २।२।२४

बहुव्रीहि समास में यदि कृत्स्न पदार्थ का—सबका अभिधान मान लिया जायगा तो लिंग के भी अभिधान हो जाने के कारण लिंग विधिवाले नियम नहीं हो पायेंगे। इसका परिहार भाष्यकार ने वार्तिककार के आधार पर दिया है कि समास द्वारा लिंग के अभिहित होने पर भी स्त्रीत्व द्योतक टाप् आदि प्रत्यय होने में कोई बाधा नहीं है।

नञ् समास में भी लिंग योग स्वाभाविक माना जाता है। नञ् समास में तीन तरह के विकल्प भाष्य में वर्णित हैं। अन्यपदार्थप्रधान पूर्वपदार्थप्रधान और उत्तर-पदार्थ प्रधान। अन्य पदार्थपक्ष में नञ् समास में, लिंग का प्रश्न सामने आता है। अवर्षा कहने से हेमन्त का बोध होता है। अब यदि अन्यपदार्थ प्रधान माना जाय तो हेमन्त शब्द में जो लिंग है उसे ही अवर्षा शब्द में भी होना चाहिए। पूर्वपदार्थपक्ष में भी नञ् के अर्थ के प्रधान होने के कारण लिंगयोग की प्राप्ति नहीं हो पाएगी। इसका परिहार इस रूप में किया जाता है कि विग्रह वाक्य में नञ् असत्त्वभूत अर्थ को व्यक्त करता है किन्तु समास में सत्त्वरूप अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। और ऐसा स्वभावत: होता है। महाभाष्य में स्वाभाविकदर्शन के अतिरिक्त आश्रयदर्शन के अनुसार भी नञ् समास में लिंगयोग की कल्पना मिलती है शुक्लं वस्त्रं, शुक्ला शाटी, आदि के सदृश नञ् समास में भी जिस द्रव्य के आश्रित समास होगा, उसमें जो लिंग होगा, समास में भी वही लिंग माना जायगा। इस पक्ष में अवर्षा हेमन्त:, अनर्थ: स्त्री, अतेज: सिकता जैसे प्रयोगों में लिंगयोग की उपपत्ति ठीक नहीं हो पाती है। इसलिए भाष्य में नञ् समास में उत्तरपदार्थपक्ष का आश्रय लिया गया है। हेलाराज ने स्वाभाविक दर्शन के आधार पर पूर्वप्रधानपक्ष को भी निर्दोष माना है—

यद्येवं शब्दशक्तिप्रतिनियमादप्रयोगेऽपि विशेषस्य विशिष्टे लिङ्गसंख्ये सिध्यत एवेति पूर्वपदार्थप्रधानपक्षोऽपि न त्याज्य:।

हेलाराज, वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३१५

उत्तरपदार्थ प्रधानपक्ष में भी अमित्रः जैसे शब्द में लिंगयोग जटिल हो जाता है। किन्तु हरदत्त ने अमित्र शब्द को न-मित्र अमित्र रूप में न लेकर अभिधातु से त्रच् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न शब्द माना है—

अमेर्द्विषतीति त्रच् प्रत्ययः। न पुनरयं नञ् समासः। परवल्लिंगप्रसंगात्। लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य। स्वरे दोषः चित् स्वरो हीष्यते बह्वृचास्तु मध्योदात्तममित्रशब्दमधीयते।

—पदमंजरी ३।२।१३१, पृ० ६५०

लिंग की दृष्टि से समस्त पदों में सहजीकरण के नियम सुदूर प्राचीनकाल में संस्कृत भाषा में दिखाई देने लगते हैं। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण महाभाष्यकार का निम्नलिखित प्रयोग है—

द्रुतमध्यमविलम्बितासु वृत्तिषु।

—महाभाष्य १।४।१०९—पृ० ३५४, कीलहार्न संस्करण

इस पर कैयट ने यों टिप्पणी दी है: **द्रुता च मध्यमा च विलम्बिता चेति द्वन्द्वे कृते भाष्यकारवचनप्रामाण्यात् ह्रस्वः।**

—कैयट, भाष्यप्रदीप १।४।१०९

स्पष्ट है कि प्रयत्नलाघव के आधार पर समस्त पदों में आन्तरिक लिंग तिरोहित होने लगे थे। कालिदास के 'दृढभक्तिः' (रघुवंश १२।१९) जैसे प्रयोग भी इसी दिशा के संकेतक हैं।

९

वाक्य विचार

संस्कृत व्याकरण में वाक्य शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में देखा जाता है :

१. विग्रह वाक्य के लिए। जैसे राजपुरुषः के लिए राज्ञः पुरुषः। राज्ञः पुरुषः वाक्य है।

२. लौकिक वाक्य के लिए। जैसे 'देवदत्तः ओदनं पचति'।

३. पारिभाषिक अर्थ में। निघात आदि की व्यवस्था के लिए शास्त्रीय वाक्य-लक्षण वाक्य शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

इस अध्याय में केवल लौकिक और पारिभाषिक वाक्य लक्षण पर विचार किया जा रहा है।

पारिभाषिक वाक्य का लक्षण सर्वप्रथम संभवतः कात्यायन ने किया। क्योंकि पतंजलि ने इनके वाक्य लक्षण को अपूर्व कहा है—

इदमद्यापूर्वं क्रियते वाक्यसंज्ञासमानवाक्याधिकारश्च।

—महाभाष्य २।१।१, पृ० ३३८ निर्णय सागर संस्करण

अपूर्व शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि इसके पूर्व वाक्य का लक्षण उस रूप में नहीं ज्ञात था जैसा कि कात्यायन ने बतलाया। कात्यायन का एक नाम वाक्यकार भी है। बहुत संभव है कात्यायन का यह नाम उनके वाक्यलक्षण निर्माण के कारण पड़ा हो। अवश्य ही व्याकरण संप्रदाय में वार्तिक और वाक्य पर्याय माने जाते हैं और वार्तिककार के अर्थ में वाक्यकार का प्रयोग बराबर मिलता है।[1]

प्राचीन विचार क्षेत्र में जैमिनि का वाक्य-लक्षण भी प्रसिद्ध था। जैमिनि के वाक्य-लक्षण और कात्यायन के वाक्य-लक्षण में पूर्वापर का विचार कठिन है। भाष्यकार के अपूर्व शब्द से जान पड़ता है कि कात्यायन ने ही सर्वप्रथम, शास्त्रीय दृष्टि से, वाक्य पर विचार प्रस्तुत किया। लौकिक वाक्य के स्वरूप पर कात्यायन के पूर्ववर्ती व्याडि ने अपने संग्रह में विचार किया था और पाणिनि की दृष्टि भी उस पर गई थी।

---

१. वाक्यं विवरणं वार्तिकं च। यत् करणात् कात्यायनो वार्तिककार उच्यते।—शंकर, हर्षचरित टीका, पृ० १३३ बम्बई संस्करण

जैमिनि और कात्यायन दोनों के वाक्यलक्षण के विषय में दो तरह के विवाद प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। मीमांसा सूत्र के प्राचीनतर टीकाकार जैमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण मानते थे। कुमारिल और उनके अनुयायियों ने उसे शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। व्याकरण संप्रदाय में भर्तृहरि,[1] कैयट[2], भोज,[3] विट्ठल[4] आदि ने कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। नागेश ने उसे लौकिक वाक्यलक्षण माना है अथवा उसे लोक-शास्त्र-साधारण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[5]

कात्यायन के वाक्यलक्षण का रूप निम्नलिखित है—

आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। एकतिङ्।

—वार्तिक, महाभाष्य २।१।१

महाभाष्य में इसके विश्लेषण में कहा गया है कि साव्यय, सकारक, सकारक-विशेषण और सक्रियाविशेषण आख्यात वाक्य है। एकतिङ् वाक्य है। जैसे—

साव्यय—उच्चैः पठति।

सकारक—ओदनं पचति।

सकारकविशेषण—मृदु विशदम् ओदनं पचति।

सक्रियाविशेषण—सुष्ठु पचति।

एकतिङ्—ब्रूहि, ब्रूहि।

कात्यायन के इस शास्त्रीय वाक्यलक्षण पर इस ग्रंथ में क्रिया-विचार के अवसर पर भी प्रसंगतः चर्चा की गई है।

इस वाक्यलक्षण के अव्यय, कारक और विशेषण में से प्रत्येक अलग-अलग और समुदित रूप में भी गृहीत होते हैं। अव्यय यद्यपि कारक और विशेषण भी हो सकता है फिर भी स्पष्टतार्थ उसका पृथक् उल्लेख किया गया है। सविशेषण शब्द में प्रत्यासत्ति के आधार पर जो कारक का विशेषण होता है उसी का ग्रहण किया जाता है न

---

१. निघातादिव्यवस्थार्थं शास्त्रे यत् परिभाषितम्। वाक्यपदीय २।३

२. नानाकारकात् निघातादिनिवृत्तये, क्वचित् प्रवृत्तये च समानवाक्ये निघातयुष्मदादेशा वक्ष्यन्ते। तत्र लौकिकवाक्यग्रहणनिषेधार्थं वाक्यं परिभाष्यते।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१

३. वार्तिककारस्तु…अन्यदेव लौकिकात् पारिभाषिकं वाक्यलक्षणमारभते। न च तेन लौकिको व्यवहारः सिध्यतीति उपेक्ष्यते।

—भोज, शृंगारप्रकाश, पृ० ११६ मैसूर संस्करण

४. वाक्यसंज्ञा पारिभाषिकी महाभाष्ये उक्ता।

—विट्ठल, प्रक्रियाप्रसाद, भाग प्रथम, पृ० ७१

५. परे तु आख्यातं सविशेषणं वाक्यमिति लक्षणं लौकिकमेव पचतिभवतीत्येतत् साधारणम्। यत्तु कैयटेनास्य पारिभाषिकत्वमुक्तं तत् प्रमादात्।

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१

तस्माद् आद्यलक्षणं वाक्यस्य टेरित्येतत् शास्त्रलोकसाधारणम्।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१ पृ० ४५ गुरु प्रसाद संस्करण

कि क्रिया के विशेषण का। 'आख्यातम्' इस शब्द में, लक्षणविधानसामर्थ्य के आधार पर, एकवचन विवक्षित है। आख्यात से क्रियाप्रधानता लक्षित है। फलतः 'देवदत्तेन शयितव्यम्' जैसे अतिङन्त स्थलों में भी वाक्यत्व माना जाता है। आख्यात में एकत्व विवक्षा के कारण 'पचति भवति' में साध्यसाधन होने पर भी दो आख्यात के कारण और समानवाक्यता के अभाव के कारण निघात नहीं हो पाता है। एकतिङ् में एक शब्द, कैयट के अनुसार, संख्यावाची न होकर समानवचन है और इसमें बहुव्रीहि समास है।

वार्तिककार के उक्त शास्त्रीय वाक्यलक्षण में दो विप्रतिपत्तियां उठाई गई थीं और उनका परिहार किया गया था। उक्तलक्षण के अनुसार 'व्रजानि देवदत्त' इस वाक्य में देवदत्त शब्द से पाणिनि सूत्र ८।१।१९ के अनुसार निघात प्राप्त नहीं हो सकेगा। क्योंकि देवदत्त पद यहां न तो अव्यय है, न कारक है और न उसका विशेषण है। इसका परिहार यों किया जाता है कि उक्त लक्षण में साव्ययं, सकारकं आदि का सामान्य रूप में अभिधान किया गया है। फलतः वार्तिककार की वाक्यपरिभाषा के अनुसार भी निघात हो जायेगा। क्योंकि उक्त परिभाषा के आधार पर सक्रिया-विशेषण भी आख्यात वाक्य कहलायगा। 'व्रजानि देवदत्त' इस वाक्य की व्रजति क्रिया 'व्रजति देवदत्तः' इस वाक्य की व्रजति क्रिया से भिन्न है। क्योंकि एक का संबंध संबोध्य देवदत्त से है और दूसरे का असंबोध्य देवदत्त से है। क्रिया का विशेषण कभी सामानाधिकरण्य रूप में होता है जैसे 'शोभनं करोति'। यहां करोति क्रिया का अर्थ शोभन के अर्थ से संपृक्त रूप में ही उपस्थित होता है। क्रिया का विशेषण कभी वैयधिकरण्य रूप में होता है। जैसे 'व्रजानि देवदत्त'। इस वाक्य में गमनक्रिया और देवदत्त का सामानाधिकरण्य नहीं है। जाने वाला अन्य व्यक्ति है और देवदत्त अन्य है। किन्तु देवदत्त को सम्बोधन कर गमन होने के कारण यहां व्रजति क्रिया विशिष्ट हो जाती है और उसे क्रियाविशेषण मानकर निघात हो जाता है।

दूसरी आपत्ति इस वाक्य में है—

'पूर्वं स्नाति, पचति ततो व्रजति।'

इस वाक्य में ततः के बाद व्रजति क्रिया के होने से, वाक्यभेद के कारण निघात नहीं हो सकेगा। किन्तु होना चाहिए। इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिस तरह अनेक क्त्वान्त शब्द तिङन्त के विशेषक होते हैं वैसे ही तिङन्त भी तिङन्त का विशेषक होता है। 'स्नात्वा भुक्त्वा, पीत्वा, व्रजति' इस वाक्य में स्नान, भोजन और पान से गमन क्रिया ही विशिष्ट मानी जाती है। उसी तरह उपर्युक्त वाक्य में स्नान क्रिया आदि से व्रजति क्रिया ही विशिष्ट रूप में सामने आती है। उपर्युक्त वाक्य में व्रजति क्रिया प्रधान है और दूसरी क्रियाएं इसके विशेषण रूप में हैं। इसलिए सविशेषण क्रिया एक मानकर वाक्य भेद न होने से निघात सिद्ध हो जायगा।

भर्तृहरि ने कात्यायन और जैमिनि के वाक्यलक्षणों में असमानता का संकेत किया है। जैमिनि ने यजुस् के अवसाननिश्चय करने के लिए वाक्य की परिभाषा बताई थी जो यों है—

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात् —मीमांसा सूत्र २।१।४६

इसका तात्पर्य है कि पदसमूह वाक्य है यदि वह एकार्थक हो और विभक्त दशा में साकांक्ष हो। विभाग में साकांक्षता और अविभाग में एकार्थता के रूप में वाक्य को स्वीकार करने के कारण निम्नलिखित वाक्य एक वाक्य के रूप में मीमांसा दर्शन में गृहीत होता है—

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे, अश्विनोः बाहूभ्याम्, पूष्णो हस्ताभ्याम्, अग्नये जुष्टं निर्वपामि।

इसमें अग्नये जुष्टं आदि पद को पृथक् करने पर देवस्य त्वा आदि पदसमूह साकांक्ष है। सबको एक साथ लेने पर संपूर्ण पदसमूह का एक ही निर्वाप अर्थ है। अतः उपर्युक्त समूह एक वाक्य है।

मीमांसा के इस वाक्यलक्षण को व्याकरण दर्शन में स्वीकार करने पर सब तरह से काम नहीं चल पाता है। उदाहरण के लिए, जैसा कि पुण्यराज ने उल्लेख किया है, 'अयं दण्डो हरानेन', 'आदेनं पच तव भविष्यति' जैसे स्थलों में, जैमिनि के वाक्यलक्षण के अनुसार निघात हो जायगा क्योंकि प्रयोजन में ऐक्य है। किन्तु व्याकरण की दृष्टि से इन स्थलों में निघात नहीं होता। कात्यायन के वाक्यलक्षण के अनुसार भी इनमें निघात नहीं होता। अतः जैमिनि के वाक्यलक्षण की अपेक्षा कात्यायन का वाक्यलक्षण इस सीमित दृष्टि से बढ़कर है।[1] कैयट ने जैमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण माना है और कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय मानकर उनमें भेद किया है—

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यादिति लौकिकं वाक्यलक्षणम्। इह तु वाक्यं पारिभाषितम् आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यमिति।

—महाभाष्यप्रदीप ८।१।१८

लौकिक वाक्य लक्षण

लोक व्यवहार में अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति वाक्य से होती है। इस तत्त्व का उन्मीलन प्राचीन काल में हो चुका था। फलतः वाक्य के स्वरूप पर भी ऊहापोह सुदूर भूत में ही आरंभ हो गये थे। भर्तृहरि ने अपने समय तक प्रसिद्ध प्रायः उन सभी वाक्यवादों का निर्देश निम्नलिखित कारिकाओं में किया है—

आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥
पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥

वाक्यपदीय २।१,२

पुण्यराज के अनुसार इन कारिकाओं में निम्नलिखित आठ वाक्य विकल्पों का

---

१. तस्मात् वार्तिककारीयमेव वाक्यलक्षणं ज्यायः—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३

उल्लेख किया गया है—

१. आख्यात शब्द
२. संघात
३. जाति (संघातवर्तिनी)
४. एक अनवयव शब्द
५. क्रम
६. बुद्ध्यनुसंहृति
७. आद्य पद
८. पृथक् साकांक्ष सर्वपद

पुण्यराज के अनुसार संघातवर्तिनीजाति, एक अनवयव शब्द और बुद्ध्यनुसंहृति ये तीन वाक्य विकल्प अखण्डपक्ष में हैं।

आख्यातशब्द, क्रम, संघात, आद्यपद, और पृथक् साकांक्ष सर्वपद—ये पांच वाक्य विकल्प खण्डपक्ष में हैं।

इनमें भी संघात और क्रम ये दो वाक्य विकल्प अभिहितान्वयवाद के अनुसार हैं। और आख्यातशब्द, आद्यपद और पृथक् साकांक्ष सर्वपद अन्विताविधानवाद के आधार पर हैं।

यद्यपि इन आठ वाक्य विकल्पों में कुछ का सम्बन्ध पुण्यराज ने मीमांसा दर्शन से दिखलाया है किन्तु प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, शालिकनाथ, सुचरितमिश्र, पार्थसारथि आदि ने इन आठ वाक्य विकल्पों को वैयाकरण मत के रूप में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उल्लेख किया है और इन सबका खण्डन किया है। वस्तुतः ये वाक्य के आठ विकल्प एकत्र वाक्यपदीय में ही पाये जाते हैं। अतः वाक्यपदीयकार के बाद के लेखकों ने बिना विशेष विचार के इन आठों वाक्यलक्षणों का सम्बन्ध व्याकरणदर्शन से जोड़ दिया है।

ऐसा जान पड़ता है इनमें से कुछ वाक्य विकल्पों का सम्बन्ध किसी प्राचीन मीमांसा दर्शन से अवश्य था। उपर्युक्त कारिका के न्यायवादिनाम् (न्यायदर्शिनाम्) शब्द से भी यही ध्वनित होता है। प्राचीन तंत्रों में न्याय शब्द मीमांसा दर्शन के लिए व्यवहृत किया जाता था। इतना निश्चित है कि इन आठ विकल्पों का मूल केवल व्याकरणदर्शन नहीं है और न महाभाष्य आदि आकर ग्रन्थों में इन सबका स्रोत दिखाई देता है।

उपर्युक्त वाक्य विकल्पों के अतिरिक्त वाक्य के अखण्ड और सखण्ड पर भी विचार प्रातिशाख्यों के युग में आरंभ हो गया था। वेद के संहिता रूप को मूल मानने वाले अखण्डवादी थे, पद पाठ को अधिक महत्त्व देने वाले सखण्डवादी थे।

ऋक् प्रातिशाख्य में संहिता को पद-प्रकृति कहा गया है। पद-प्रकृति शब्द के दो तरह से विग्रह संभव हैं—पदानां प्रकृतिः पदप्रकृतिः (तत्पुरुष समास) अथवा पदानि प्रकृतिः यस्याःसा पदप्रकृतिः (बहुब्रीहि समास)। पहले पक्ष के अनुसार पदों का मूल (प्रकृति) संहिता है अर्थात् संहिता पहले है। पदों की सत्ता बाद में। दूसरे

शब्दों में, संहिता नित्य है, अपौरुषेयी है, पद अनित्य हैं, पौरुषेय हैं । दूसरे पक्ष के अनुसार संहिता का मूल (प्रकृति) पद हैं। पदों की सत्ता पहले और संहिता की सत्ता बाद में है । पद नित्य हैं, अपौरुषेय हैं । संहिता अनित्य है, पोरुषेयी है ।

इनके अतिरिक्त भर्तृहरि ने इस सम्बन्ध में दो अन्य मतों का भी उल्लेख किया है । किसी के अनुसार पद और संहिता दोनों ही नित्य हैं । पद समाम्नाय प्रतिपादक रूप में नित्य हैं और संहिता समाम्नाय प्रतिपाद्य रूप में नित्य है । पुनः कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि आम्नाय नित्य है और वह एक है । उस एक ही आम्नाय की दो शक्तियां हैं—विभाग शक्ति और अविभाग शक्ति । विभागशक्ति (पद) प्रतिपादक है और अविभाग शक्ति (संहिता) प्रतिपाद्य है—

केषांचित्तु नित्यावुभावप्येतौ समाम्नायौ । पदसमाम्नायस्तु प्रतिपादकत्वेन नित्यः, इतरस्तु प्रतिपाद्यत्वेन नित्यः । केषांचिन्नित्यस्यैकस्याम्नायस्य द्वे एते विभागाविभागशक्ती प्रतिपादकप्रतिपत्तव्यरूपेण वर्तेते ।

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।५८ लाहौर सं०

महाभाष्यकार ने एक स्थल पर कहा है कि पदकारों को लक्षण के अनुसार पद करना चाहिए । लक्षणों को पदकारों का अनुवर्तन नहीं करना चाहिए ।[1] इसका तात्पर्य है कि लक्ष्य नित्य है । शास्त्र केवल उसका अनुविधान करता है । शास्त्र स्वयं अनुविधेय नहीं है । इस दृष्टि से भाष्यकार को भी अखण्ड पक्ष ही अभिप्रेत जान पड़ता है ।[2]

आख्यात शब्दवाद

वाक्य के उपर्युक्त आठ विकल्पों में पहला आख्यात शब्द है । आख्यात शब्द ही वाक्य है । आख्यात शब्द से क्रिया शब्द अभिप्रेत है । वाक्य में क्रियापद की प्रमुखता के आधार पर क्रियापद को ही वाक्य कहा गया है । भर्तृहरि के अनुसार अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए वाक्य का आश्रय लिया जाता है । वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों का स्पष्ट भान वाक्य के प्रयोग से होता है और वाक्य से स्पष्ट प्रतीति तभी होती है जब उसमें क्रिया पद हो । क्रिया पद श्रूयमाण भी हो सकता है और अनुमेय भी । दोनों रूप में वाक्यार्थ के स्पष्ट आभास के लिए क्रिया की सत्ता अनिवार्य है ।[3]

भर्तृहरि के अनुसार एकत्व और नित्यत्व के पक्षपाती आचार्य विशिष्ट क्रिया को ही वाक्य का प्रतिपाद्य मानते हैं । एक शब्द है, वह क्रिया है । एक ही अर्थ है,

---

१. न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः । पदकारैः नाम लक्षणमनुवर्त्यम्—

—महाभाष्य ३।१।१०९, भाग २ पृ० ९५ कीलहार्न सं०

२. यतश्च पदान्यसत्यानि तस्य प्रतिभासन्ते ततः एवमभिहितमिति भाष्यकारस्याप्यखण्डपक्षोऽभिप्रेत इति दर्शितम्—

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।५९

३. तस्मात् श्रूयमाणक्रियापदम् अनुमीयमानक्रियापदं वा वाक्यमेव सर्वव्यवहारेषूपपद्यत इति ।

—वाक्यपदीय २।४३० हरिवृत्ति, हस्तलेख

वह क्रिया है। अपोद्धार पद्धति से, व्यवहार के लिए, एक का ही अनेक में विभाग किया जाता है। क्रियापद काल, कारक, पुरुष, उपग्रह आदि से यथावसर अनुगत रहता है और उसका अर्थ एक होता है, उसमें विशेषणविशेष्यभाव परिकल्पित होते हैं—

एकत्वनित्यत्ववादिनस्तु मन्यन्ते विशिष्टा हि क्रिया यथासंभवं कालसाधन-द्रव्यपुरुषोपग्रहादिभिः अनुगता वाक्येनाभिधीयते। स चैकः शब्दो व्यवहाराय प्रविभक्तोद्देशः सर्वविशेषणविशिष्टः परिकल्पितविशेषणविशेष्यभेदे एक-स्मिन्नर्थे वर्तते। तस्य शक्तिरपोद्धृत्य व्यावहारिको विभागोऽनुगम्यते।

—वाक्यपदीय, २।४४७-४८, हरिवृत्ति, हस्तलेख

कुछ क्रियाएँ नियत साधन वाली होती हैं। उनके प्रयोग से उनके अनुकूल कर्ता कर्म आदि का भान आप से आप हो जाता है। जैसे—"वर्षति" क्रिया है। वर्षति क्रिया के प्रयोग से "देवः जलं वर्षति" इस रूप में कर्ता और कर्म का अध्याहार स्वतः हो जाता है। यहां केवल आख्यात पद वाक्य का काम कर रहा है। आख्यातपद—वाक्यवाद का यह भी एक पक्ष है।

जिस तरह से एक क्रियापद संपूर्ण वाक्य है उसी तरह से कुछ विशेष पद भी अकेले वाक्य माने जाते हैं किन्तु ऐसे स्थलों में क्रिया चरित (गर्भीभूत, छिपी) मानी जाती है।[1]

क्रिया के अनुषंग के बिना पदार्थ के भी अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता। व्यवहार में क्रियापद के उपसंहार से ही यथार्थ का बोध होता है।[2]

यद्यपि जैसे नाम पद साकांक्ष होते हैं वैसे क्रिया पद भी साकांक्ष होते हैं। बिना कारक के क्रिया की आकांक्षा नहीं मिटती। फिर भी क्रिया साध्य के रूप में प्रधान मानी जाती है। वाक्य से उपसंगृहीत अर्थ के लिए पहले क्रिया का विभाग किया जाता है, पश्चात् कारकों का किया जाता है। इसलिए क्रिया प्रधान और कारक अंगभूत माने जाते हैं।[3]

आख्यात शब्द के मुख्य होने से वह वाक्य है। साथ ही वह विशिष्ट शब्द है, वह अन्य कारक पदों से भिन्न होता हुआ भी उनकी शक्तियों से युक्त है। वह उन पदों के अर्थों का स्वतः आक्षेप कर सकता है। फलतः संपूर्ण वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति

---

१. वाक्यं तदपि मन्यते यत्पदं चरितक्रियम्।
अन्तरेण क्रियाशब्दं वाक्यादेव हि दर्शनात्॥

वाक्यपदीय २।३२६

इस श्लोक का द्वितीय चरण प्रकाशित वाक्यपदीय में नहीं है किन्तु हस्तलेख में मिलता है और कुछ असमंजस है।

२. क्रियापदोपसंहारे तु सत्यासत्यभावेन प्रतिपत्तृणां व्यवहारोऽवतिष्ठते।

—वाक्यपदीय २।४३१ हरिवृत्ति हस्तलेख

३. विभागेन सर्वेषां साकांक्षत्वमुपलभ्यते। साध्यस्त्वर्थात्मा स्वफलप्रयुक्तः प्रधानात् सर्वस्य वाक्योपसंग्रहस्यार्थस्य पूर्वं प्रविभज्यते। तेन तु प्रविभक्ते साधनप्रलब्धःवादात्मलाभस्य सामर्थ्याक्षिप्तानि साधनानि प्रतीयन्ते।

—वाक्यपदीय २।४३४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

में समर्थ है। इसलिए वही वाक्य है। इस मत में वाक्य में आख्यात शब्द के अतिरिक्त अन्य कारक पदों की सता केवल नियम अथवा अनुवाद के लिए होती है। सामान्य के आक्षेप में विशेष पद का उपादान नियम कहलाता है। जैसे 'पातु वः परमज्योति.' इस वाक्य में सामान्य के आक्षेप में विशेष का प्रयोग किया गया है। विशेष के आक्षेप में सामान्य का उपादान अनुवाद कहलाता है। 'वर्षति' क्रिया से देव का जलवर्षण अर्थ स्वतः आभासित हो जाता है। यदि 'देवः जलं वर्षति' कहा जाय तो देव और जल शब्द केवल अनुवाद का काम कर रहे हैं।

आख्यातवाद के विश्लेषण में भर्तृहरि ने संभवतः 'नियमाय अनुवादाय वा··· इस वाक्यांश का प्रयोग किया था। इसमें प्रयुक्त वा शब्द के दो अर्थ किए जाते हैं—समुच्चय और विकल्प। समुच्चय अर्थ मानने वालों के मत में, आख्यातवाद पक्ष में कारक पद नियम और अनुवाद दोनों का काम करते हैं। नाम पद में अन्वयव्यतिरेक के आधार पर प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है। इनमें प्रकृति अंश प्रातिपदिक रूप है। प्रातिपदिक शक्ति कारक का प्रतिरूप है। आख्यातशब्दवाक्यवाद के अनुसार क्रिया से ही कारक पदों का अर्थ झलक आता है किन्तु यह सामान्य रूप में होता है विशेष रूप में नहीं। प्रयुक्त कारक पदों का प्रकृति अंश सामान्य में व्यवस्थित का विशेष में विधान करता है। इस तरह पद का प्रकृति अंश नियामक हो जाता है। कारक पद में प्रकृति अंश के अतिरिक्त विभक्ति अंश है। विभक्तियां उपात्त शक्ति का ही, जो अर्थ दूसरे उपाय से व्यक्त हो गया है, उसी का ही प्रतिपादन करती हैं। इस रूप में कारक पद प्रकृत्यंश द्वारा नियामक और प्रत्ययांश द्वारा अनुवादक भी हैं। फलतः नियम और अनुवाद दोनों साथ-साथ काम कर रहे हैं।

जो लोग 'वा' का अर्थ यहाँ विकल्प मानते हैं उनके मत में कारक पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादक। आख्यात पद से व्यवहार योग्य शक्ति का अभिधान होता है, शक्ति के आधार विशेष का नहीं। इसलिए उसके नियम के लिए नामपदों का वाक्य में व्यवहार किया जाता है। जैसे 'आश्रयति' क्रिया पद से किसी के आश्रय रूप में कर्म शक्ति का अवबोध हो जाता है किन्तु आश्रयविशेष में उसे नियत करने लिए 'माणवकम्' जैसे पद जोड़ दिए जाते हैं। केवल आश्रय क्रिया से आश्रय सामान्य का अधिकरणत्व अथवा कर्मत्व झलकता है. 'माणवकं आश्रयति' इस वाक्य से माणवक विशेष सामने आ जाता है और सामान्य अर्थ छूट जाता है। अतः पूरा नाम पद नियामक का काम कर रहा है। अथवा 'वर्षति' क्रिया पद से जल बरसने का बोध होता है, 'देवः जलं वर्षति' इस वाक्य का भी वही अर्थ है। अतः देव और जल शब्द व्यक्त अर्थ का ही पुनः विधान करते हैं, अतः अनुवादक हैं। इस तरह कारक पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादक।

आख्यात पक्ष का आधार कात्यायन का 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम' यह वार्तिक ही जान पड़ता है। यद्यपि संस्कृतव्याकरणसम्प्रदाय में ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। कात्यायन ने आख्यात को ही वाक्य माना था परन्तु आख्यात के विशेषण के रूप में अव्यय और कारक को भी स्वीकार किया था। व्याख्याकारों ने सका-

रक विशेषण और सक्रियाविशेषण को भी बीच में ले लिया था। बाद में 'आख्यातं सविशेषणं' यही वाक्य का रूप निष्कर्ष रूप में सामने लाया गया था। जिस आचार्य ने 'आख्यातं' अथवा 'आख्यातशब्दः' को वाक्य के रूप में स्वीकार किया उसने सविशेषण पद को भी उड़ा दिया। क्योंकि 'सविशेषण' पद के बिना भी आख्यात के सम्बन्ध से अव्यय कारक आदि विशेषकों का अध्याहार स्वभावतः ही हो जायगा। और जहां विशेषण नहीं है, वहाँ उसकी आवश्यकता भी नहीं है, केवल आख्यात पद भी वाक्य माना जायगा।

संघातवाद

संघातपक्ष वाले आचार्यों के अनुसार एक अर्थपरक पद समुदाय वाक्य है।

पदसंघातजं वाक्यम्
वर्णसंघातजं पदम्

यह एक प्राचीन उक्ति है। भर्तृहरि ने इसे उद्धृत किया है। वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभ के अनुसार यह उक्ति संग्रहकार की है।[1] शौनक के बृहद्देवता में भी मिलती है।[2] पदसंघातवाला पक्ष शबरस्वामी की मान्यता के भी अनुरूप है। इस मत के अनुसार सभी पद एक में मिलकर एकत्र अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। एकार्थपरक पदसमूह ही वाक्य है। जिस तरह तीनों ग्रावा मिलकर उखा को धारण करते हैं, जैसे चारों कहार मिलकर पालकी ढोते हैं, जैसे सभी साधन एक साथ पाक क्रिया में सहायक होते हैं, उसी तरह सभी पद मिलकर वाक्यार्थ व्यक्त करते हैं—**तत्र यथा त्रयोऽपि ग्रावाण उखां धारयन्ति, चत्वारोऽप्युद्यन्तारः शिबिकाम् उद्यच्छन्ति, सर्वाण्यपि कारकाणि पाकं साधयन्ति तथा पदान्यपि सर्वाणि वाक्यार्थमन्ववगमयन्ति।**

—शृंगारप्रकाश, पृ० २७७

संघातवाले मत में पद की स्वतन्त्रता और अस्वतन्त्रता के रूप में दो तरह के विवाद थे जो आगे चलकर मीमांसा दर्शन में अभिहितान्वयवाद और अन्वितAभिधानवाद से प्रसिद्ध हुए। किन्तु ये विचार कुमारिल और प्रभाकर से बहुत पहले भर्तृहरि के समय में भी सामने आ चुके थे। संघार्थ परार्थ होता है, इस न्याय के अनुसार पद वाक्य के लिए ही हैं, उनका पृथक् कोई व्यक्तित्व नहीं है। 'समुदाय समुदायी से भिन्न होता है' इस आधार पर पद पदसंघात (वाक्य) से भिन्न हैं। समुदाय और समुदायी में अभिन्नता के आधार पर पद वाक्य से अभिन्न भी हैं।

संघातवाद के अनुसार केवल वृक्ष शब्द वृक्षत्व जाति का संकेतक है। वृक्षः अस्ति, वृक्षः नास्ति, वृक्षः छिन्नः जैसे वाक्यों में भी वृक्ष शब्द केवल जाति का प्रत्यायक है। भाव (वृक्ष की सत्ता), अभाव, छेदन आदि को वह नहीं व्यक्त करता है और न

१. वाक्यपदीय २।२३, संग्रहोक्तिमाह (लाहौर संस्करण)
२. बृहद्देवता २।११७

भाव, अभाव, छेदन आदि का जाति के साथ सम्बन्ध है। किसी अन्य आधार पर प्रतिष्ठित वस्तु किसी अन्य का प्रत्यायक नहीं होती। वीरः पुरुषः जैसे वाक्यों में एक पद का दूसरे पद के साथ सामानाधिकरण्य होने से विशेषण विशेष्यभाव रूप में अर्थ का आधिक्य प्रतीत होता है। यह आधिक्य वाक्यार्थ है। भाव यह है कि वीर शब्द से प्रथमा विभक्ति जब होती है स्वार्थमात्र से होती है, उस समय दूसरे शब्द के संसर्ग की या विशेषण-विशेष्य भाव की अपेक्षा नहीं होती। इसी तरह पुरुष शब्द से भी प्रथमा विभक्ति निरपेक्ष रूप में होती है। बाद में आकांक्षा आदि के आधार पर विशेषण-विशेष्य भाव सामने आता है। बाद में भासित होने के कारण यह बहिरंग माना जाता है। बहिरंग अन्तरंगशब्दसंस्कार में बाधक नहीं हो सकता। भाष्यकार ने इसे स्पष्ट किया है कि वाक्य में पदार्थ सम्बन्ध की उपलब्धि होती है। 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य में यदि केवल देवदत्त मात्र कहा जाय तो कर्ता का निर्देश होगा, कर्म, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जाएंगे। यदि गाम् मात्र का उच्चारण किया जाय, कर्म निर्दिष्ट होगा किन्तु कर्ता, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जाएँगे। अभ्याज मात्र कहने से क्रिया का बोध होगा शेष अनिर्दिष्ट रह जाएँगे। किन्तु यदि 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस पूरे वाक्य का उच्चारण किया जाय तो इसका अभिप्राय होगा कि देवदत्त ही कर्ता है, दूसरा नहीं। गौ ही कर्म है, अन्य नहीं। अभ्याज ही क्रिया है, दूसरा नहीं। शुक्ल रंगवाली को ही, काली को नहीं। ये पद पहले सामान्य अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, बाद में जिस विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वह वाक्यार्थ है—

एषां पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः।

—महाभाष्य १।२।४५, भाग १, पृ० २१८ कीलहार्न संस्करण

कैयट के अनुसार इसका अभिप्राय है कि पदार्थ ही आकांक्षा आदि के सहारे संसृष्ट रूप में वाक्यार्थ है। कैयट यह भी मानते हैं कि ध्वनि-व्यंग्य नित्य वाक्य पदार्थसंसर्गरूप विशिष्ट अर्थ का वाचक है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो वाक्यार्थ अशाब्द होगा—

पदार्था एव त्वाकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् परस्परसंसृष्टा वाक्यार्थ इत्यर्थः।
...ध्वनिव्यंग्यं नित्यं वाक्यं विशिष्टस्यार्थस्य पदार्थसंसर्गरूपस्य वाचकम्।
अन्यथा ह्यशाब्दो वाक्यार्थः स्यात् ॥[1]

—कैयट, प्रदीप १।२।४५

---

१. नागेश ने अशाब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि शब्द प्रयोज्यत्व के रूप में शाब्दत्व नहीं माना जा सकता। अन्यथा प्रत्यक्ष देखे हुए धूम के आधार पर बोध्य वह्निका भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। साथ ही सुने हुए धूम शब्द से उपस्थित धूमार्थबोध्य वह्नि को भी शाब्दत्वापत्ति होने लगेगी। यदि शब्दत्व से अभिप्राय पदसमभिव्याहाररूप आकांक्षा और उसके कारणत्व ज्ञान शाब्दबोध में कारण है इससे है, पदों की पदार्थों में भी शक्ति सिद्ध नहीं होगी। अतएव 'अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्'(वाक्यपदीय २।१६) ऐसा (भर्तृहरि ने)कहा है। यदि ऐसा माना जाय कि असम्बन्ध में बोधजनकता नहीं मानी जा सकती इसलिए पदार्थों के

महाभाष्य के उपर्युक्त ग्राधार पर संघातवादियों ने पद का पहले सामान्य में पश्चात् विशेष में वृत्ति माना है। ग्रकेले पद जिस ग्रर्थ का बोधक है, वाक्य में भी उसी ग्रर्थ को जताता है। पुनः समुदाय में पदों के परस्पर ग्रन्वय होने पर जो ग्राधिक्य (संसर्ग रूप) भासित होता है वह वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ की ग्रनेकपदसंश्रयता संघात का प्रतीक है। संघात पक्ष में भी तीन विकल्प भर्तृहरि ने दिखाए हैं। एक मत में वाक्यार्थ की जाति की तरह प्रत्येक में परिसमाप्ति है। जाति ग्रनेकाश्रित होते हुए भी प्रति ग्राश्रय में पूर्ण रूप से रहती है। ब्राह्मणत्व जाति जैसे ग्रनेक में वैसे ब्राह्मण समुदाय के एक ग्रंग एक ब्राह्मण में भी ग्रपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ रहती है। उसी तरह वाक्यार्थ भी ग्रनेक पदाश्रित होते हुए भी एक पदाश्रित भी है। उसमें एक पदाश्रित होने के कारण ग्रावृत्ति न्यूनता नहीं ग्राती ग्रौर न वह खण्डित होता है। दूसरे मत के ग्रनुसार, संघात पक्ष में, वाक्यार्थ की समुदाय परिसमाप्ति मानी जाती है। जैसे बीस संख्या की पूर्णता बीस समुदाय में है, प्रत्येक ग्रंक में नहीं। किन्तु संख्या के प्रत्यायन में प्रत्येक ग्रंक निमित है। उसी तरह वाक्य का समुदाय परिसमाप्ति होती है किन्तु वाक्यार्थ प्रत्येक पद से प्रत्याय्य है। तीसरे मत के ग्रनुसार शब्दव्यापार सामान्य ग्रभिधानपूर्वक विशेषाभिधान करता है। स्वार्थ मात्र व्यक्त करने वाले सभी भेदों में सामानाधिकारण्यमयी योग्यता होती है, वही सामान्य है तथा, ग्रन्यथा ग्रथवा सर्वथा रूप में सामान्य की कोई नियत ग्रवस्था नहीं है। जो कुछ है वह विशेष ही है। उस सामान्यावस्था में किसी भेद के ग्रनिरूपण से ग्रौर ग्रत्याग से ग्रर्थ की, सर्वभेद को संग्रहीत करने वाली योग्यता के द्वारा सर्वस्पर्शमयी कल्पना की जाती है, उस ग्रर्थकल्पना को सम्बन्ध विषयान्तर से हटाकर विशेष विषय में नियमित करता है। इस तरह से ग्रर्थ की योग्यता मात्र के ग्रवच्छेद करने से ग्रध्यारोपनियम नहीं होता. ग्रर्थरूप में ग्रनुपादान योग्यता भी नहीं होती ग्रौर न वह ग्रर्थरूप से भिन्न ही होती है।[1] पुण्यराज के ग्रनुसार तीसरा मत ग्रन्विताभिधानवाद के समीप है जो पदार्थ को ही वाक्यार्थ मानता है। उनके ग्रनुसार यहाँ पहले दो मतों से तीसरे मत का भेद इस रूप में है कि पूर्व मत में पदों का वाक्य में भी वही ग्रर्थ होता है जो उनका ग्रकेले (केवल) में होता है ग्रौर संसर्ग संघात वाच्य होता है। तीसरे मत के ग्रनुसार पद का ग्रर्थ सामान्य रूप है जो विशेष के सम्पर्क से विशेष रूप में जान पड़ता है—

साथ पदों के शक्तिरूपसम्बन्ध की कल्पना कर ली जाती है, समभिव्याहार में संसर्गबोध-कारणता का भी ग्रसम्बन्ध में कहना संभव नहीं है। ग्रतः वाक्य में तादात्म्य सम्बन्ध मानना चाहिए।

—नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।४५

नागेश ने भाष्यकार के वाक्यार्थ शब्द को भी शब्द के ग्रर्थ में लिया है—वाक्यार्थः वाक्यशक्तयः। विषयतानामपि शक्यत्वं मंजूषायामुपादिताम्—महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।४६ द्रष्टव्य मंजूषा पृ० ४१८

१. वाक्यपदीय २।४३-४५ हरिवृत्ति पृ० ३०

पूर्वत्र पदानां वाक्ये तावानेवार्थो यावानेव केवलानाम् संसर्गस्तु संघातवाच्यः । इह तु तथाभूत एव सामान्यरूपः पदस्यार्थः यस्तत् तत् विशेषसन्निधौ तत् तद् विशेषविश्रान्तः ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४५

संघातपक्ष में, सम्बन्ध रूप में जो वाक्यार्थ अवगत होता है उस सम्बन्ध का कोई नियत रूप नहीं है । वह अनुमेय है । असत्त्वभूत है । उसे 'यह ऐसा है' आदि शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता । वह विशेष शब्द के संनिधि से विशेष हो जाता है और सभी ज्ञानों में विशिष्ट रूप से आभासित होता है । साधन और साध्य भी परस्पर नियत हैं । केवल आकांक्षा आदि के सहारे अन्य पदार्थ के सन्निधान से नियम के रूप में व्यक्त होता है । भाव यह है कि वाक्यार्थ क्रियाकारकसंसर्ग रूप है । क्रिया सम्बन्ध के बिना कारक की उपपत्ति नहीं होती । केवल विशेष में सम्बन्ध मानने से आनन्त्य आदि दोष आ जाते हैं । इसलिए क्रिया सामान्य-अन्वित ही होती है । कारक पदों का सम्बन्धग्रहण कारक में होता है और सम्बन्धग्रहण के अनुसार अभिधान होता है । सामान्य में अन्विताभिधान घटित होता है क्योंकि व्यवहार काल में क्रिया-विशेष से अन्वित रूप में ही कारकों की उपलब्धि होती है । क्रिया की भी प्रतीति विशेष-कारक से अन्वित रूप में होती है ।

संघातवाद की समीक्षा

यद्यपि पुण्यराज ने संघात पक्ष को अभिहितान्वयवाद के अनुकूल माना है किन्तु कुमारिल भट्ट ने स्वयं संघातवाद की समीक्षा की है और उनके अनुयायी सुचरित मिश्र और पार्थसारथि मिश्र आदि ने उनका अनुमोदन किया है । कुमारिल के अनुसार पदसंघात को वाक्य इसलिए नहीं माना जा सकता कि पदों में परस्पर अनुग्रह नहीं है—

एवमाद्यन्त सर्वेषां पृथक् संघातकल्पने ।
अन्योन्यानुग्रहाभावात् पदानां नास्ति वाक्यता ।।[1]

—श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण, ४६

भर्तृहरि ने भी संघातवाद की आलोचना की है । 'यदि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं, बाद में विशेष की अभिव्यक्ति करते हैं' इस नियम को माना जाय तो सामान्य के तिरोहित हो जाने पर विशेष की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती । 'देवदत्त गाम् अभ्याज' इस वाक्य में देवदत्त शब्द के उच्चारण करते ही सामान्य अर्थ सम्बद्ध देवदत्त की अभिव्यक्ति होगी और उसके विलीन हो जाते ही विशेष अर्थ की उपलब्धि न हो सकेगी । जो शब्द अपने आविर्भाव काल में विशिष्ट अर्थ न व्यक्त

१. इस पर सुचरित मिश्र की टिप्पणी है—पदानां पृथक्भूतानां संघातवर्तिनां वा न वाक्यत्वम् । पृथक् भूतेषु हि तावद् वाक्यबुद्धिरेव नोत्पद्यते । संघातकल्पनेऽपि न पृथक् संघो विशेषः तदानीमप्यन्यन्योन्यानुग्रहस्य तेष्वनवगमात् । असति चाग्रहे वाक्यत्वे कल्पनामात्रम् । एकैकस्यापि तत् प्रसंगात् । श्लोकवार्तिक काशिका ७४६ हस्तलेख

कर सका, केवल सामान्य अर्थ बता सका, वह तिरोहित होकर पुनः विशेष अर्थ नहीं बता सकेगा। सामान्य और विशेष अर्थ की विवक्षा एक साथ ही संभव नहीं है। विशेष की विवक्षा में सामान्य से उसका पृथक्करण होता है। किन्तु यदि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है, उपात्त का त्याग नहीं किया जा सकता। सकलपदार्थसाधारण सामान्य अर्थ की पूर्व कल्पना कर शब्दान्तर-सन्निधान में उसका परित्याग कहां तक उचित है। यदि उपात्त का परित्याग स्वीकार किया जाय, शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध खटाई में पड़ जाय, जो अभिप्रेत नहीं है। अभिधानक्रियायोग के अभाव में शब्द अर्थ से निवृत्त होकर अपना स्वरूप ही खो बैठेगा, फलतः अविषय हो जायगा। उसके लिए कोई स्थान न रह जायगा। तात्पर्य यह है कि स्वार्थ से निवृत्त शब्द का, शब्दान्तर के संपर्क में भी शब्दान्तरबोध्य अर्थ से उसका वाचकत्व सम्बन्ध न होने के कारण, कोई अवकाश नहीं रह जाता है।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वाक्यार्थ अशब्द है, शब्द अपने स्वरूप की प्रतिपत्ति मात्र कराकर तिरोहित हो जाता है, किन्तु बुद्धि में एक संस्कार बना जाता है जब वाक्यस्थ सभी पद पदार्थमात्र द्योतित कर निवृत्त हो जाते हैं, एक प्रकार का असत्वभूत सम्बन्ध उदित होता है जो सामान्य रूपों का भेदक है साथ ही संस्कारसंपन्न बुद्धि का बुद्ध्यन्तर से योग करा देता है। वह प्रक्रिया कुछ वैसे ही है जैसे एक व्यक्ति का शोक या हर्ष दूसरे व्यक्ति में संक्रमण कर जाता है।

इसके प्रत्युत्तर में भर्तृहरि की मान्यता है कि यदि वाक्यार्थ को अशब्द माना जायगा, पदार्थ को भी अशब्द मानना पड़ेगा। फलतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी बिगड़ जायगा। क्योंकि अनर्थक वर्ण भी उच्चरित प्रध्वंस होते-होते बुद्धि में संस्कार बना जायंगे और हर्ष, शोक की तरह बुद्ध्यन्तर में संक्रमित होकर अर्थ की अभिव्यक्ति कर सकेंगे। इस तरह शब्द और अर्थ में सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रह जायगी। वस्तुतः शब्द अर्थ का सम्बन्ध ज्ञान-ज्ञेय संबंध सदृश है। ज्ञान का स्वरूप ज्ञेय में विनिविष्ट है फिर भी ज्ञान का ज्ञेय अर्थ के साथ संबंध किसी अपर संबंध के आधार पर मान लिया जाता है। द्रव्य गुण कर्म भी अपने प्रयोजक निमित्त से सम्बद्ध माने जाते हैं। इसी तरह शब्द भी एक योग्यता नामक संबंध के द्वारा अर्थ से संबद्ध है। शब्द में अभिधेय तत्त्व सन्निहित है। शब्द और अर्थ में भेद मानने पर भी संबंध द्वारा दोनों में संबंध है। 'शब्द' ही अर्थ रूप में परिणत हो जाता है इस दर्शन के आधार पर तो उनका संबंध और समीप हो जाता है। यदि अशब्द पदार्थ माना जायगा तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध विचार का कोई प्रयोजन नहीं रह जायगा (जो उचित नहीं है)।[1]

---

१. सामान्यार्थ तिरोभूतो न विशेषेवतिष्ठते।
उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तः क्वावतिष्ठताम्॥
अशब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्।
एवं सति च सम्बन्धः शब्दस्यार्थेन हीयते॥

—वाक्यपदीय २।१५, १६

पद पहले सामान्य में व्यवस्थित होकर पश्चात् विशेष का अभिधान करते हैं इस मत में पहले घटित पदार्थ का उत्तर पदार्थ के प्रादुर्भाव होने पर परस्पर विरोध हो सकता है अथवा सहभाव हो सकता है। सहभाव पक्ष में भेद और संसर्ग, विशिष्ट और अविशिष्ट का विरोध उपस्थित हो जाता है। सामान्य रूप के हट जाने पर ही विशेष रूप अपना स्वरूप ग्रहण करता है। वह कैसे एक साथ रह सकता है और कैसे अपने अर्थ को व्यक्त कर सकता है। अर्थ की अनभिव्यक्त दशा में वह विशेष ही नहीं कहला पाएगा। यदि पूर्व उपात्त अर्थ को बाद में छोड़ देना स्वीकार किया जाय तो सम्बन्ध की नित्यता खण्डित होती है।[1] फलतः प्रत्येक परिसमाप्ति पक्ष में सत्यभूत पद-पदार्थ संभव नहीं है।

समुदायपरिसमाप्तिपक्ष के समर्थक कह सकते हैं कि जैसे संयोग संज्ञा दो-दो में होती है और समुदाय में भी रहती है वैसे ही अर्थ एक में, दो में, समुदाय में भी व्यवस्थित रहता है। वह संनिधान से व्यक्त होता है।[2]

मल्लवादि ने भर्तृहरि की समीक्षा की उपेक्षा की है। उनके मत में 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य में सामान्य या विशेष रूप अर्थ, एकत्व, अन्यत्व, उभयत्व आदि रूप में रहने के कारण अनिर्वचनीय है। इसलिए वाक्यपदीयकार का यह कथन उपयुक्त नहीं है कि सामान्य के तिरोहित हो जाने पर विशेष उद्बुद्ध नहीं होगा।[3]

जो पद पृथक् अस्तित्व रखते हैं वे ही वाक्य में भी दिखाई देते हैं, जो वर्ण अलग-अलग हैं वे ही समुदित रूप में पद हैं। वर्ण से अतिरिक्त पद या वाक्य की कोई स्वतन्त्र आत्मा नहीं है। इस तरह के तर्क करने वालों के पक्ष में भर्तृहरि नहीं जान पड़ते। इस तरह के तर्क के आधार पर वर्ण के भागों में भी परमाणु सदृश भेद होने लगेंगे। इस तरह क्रम वाले और अयुगपत् उच्चरित होने वाले वर्णभागों से न तो किसी वर्ण की सत्ता सिद्ध हो सकेगी और न किसी पद की। शब्द सर्वथा

---

१. केचित् मन्यन्ते, सामान्येन व्यवस्थितानि पदानि सन्निधीयमानानि यतो विशेषं जनयन्ति सतेषु प्रत्येकं परिसमाप्यते। तस्मात् पदार्थकल्पनया नवो वाक्यार्थो व्यवतिष्ठत इत्यस्मिन् दर्शने इदमुच्यते—योऽसौ पूर्वं निमित्तभूतः पदार्थः, उत्तरपदार्थप्रादुर्भावे विरोधिन्युपजन्यमाने सति निवर्तेत वा सह वा तेन व्यवतिष्ठेत।

सामान्यरूपनिवृत्त्यैव हि विशेष आत्मानं प्रतिलभते। स कथं तेन सहावतिष्ठमानं स्वमर्थक्रिया प्रतिपद्येत। तदप्रतिपत्तौ च विशेष एव न स्यात्। अथ तु पूर्वमुपात्तार्थः पश्चात्त्यजति, नित्यत्वं सम्बन्धस्य हीयते॥

—वाक्यपदीय २।३९९,४०० हरिवृत्ति, हस्तलेख

२. एकः साधारणो वाच्यः प्रतिशब्द उपस्थितः
संघे संधिषु चार्थात्मा सन्निधाननिदर्शकः॥

—वाक्यपदीय २।४०१

३. पदसंघातो वाक्यम्। 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम' इति प्रत्येकवृत्तिसामान्यविशेषैकत्वान्यत्वानेकार्थस्थत्वादवक्तव्यः तदर्थ इति दिक्। एवं च कृत्वा यदुक्तं सामान्यार्थतिरोभूतो (वाक्यपदीय २।१५) इति तदपि प्रत्युक्तमेव। द्वादशारनयचक्र पृ० १०३६

अव्यपदेश्य हो जायगा ।[1]

किन्तु भर्तृहरि ने संघात पक्ष के समर्थन में भी कहा है कि जिस तरह सावयव वर्ण स्वयं निरर्थक होते हुए भी समुदित रूप में सार्थक हो जाते हैं वैसे ही पद भी समुदित रूप में वाक्य बन जाते हैं, सार्थक हो जाते हैं—

यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित् ।
अर्थवन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते ।।

—वाक्यपदीय २।५४

संघातवर्तिनी जाति

कुछ आचार्य शब्दजाति को ही वाक्य मानते हैं। शब्दाकृतिवाद के पक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं वे ही जाति वाक्यवाद में भी उपस्थित किए जाते हैं। इस मत में सम्पूर्ण वाक्य एक शब्द है और वह शब्द जातिनिबन्धन है। शब्दाकृति वाक्यवाद की उपपत्ति भ्रमणत्व जाति के आधार पर की जाती है। भ्रमण आक्षेपविशेषजनित होता है। उसमें कम्पन, रेचन, उत्क्षेपण आदि भेद हो सकते हैं किन्तु भ्रमणत्व जाति एक ही है। भ्रमणत्व में उन भेदों का ग्रहण नहीं होता। यदि भ्रमण की आवृत्ति की जाय तो प्रत्येक आवृत्ति में भ्रमणादि क्रिया द्वारा भ्रमणत्व जाति अभिव्यक्त होती है। वर्ण, पद, वाक्य भी ध्वनियों से व्यंजित होते हैं। इनमें भेद तुल्य और अतुल्य ध्वनि उपव्यंजन है। वर्ण अपचित ध्वनिव्यंग्य है। उसके सदृश दूसरी ध्वनियों से निरवयव पद व्यंजित होता है। उसी तरह तुल्य अतुल्य प्रचिततम ध्वनियों से वाक्य व्यंजित होता है।[2]

पुण्यराज ने शब्दाकृति वाक्यवाद को जातिस्फोट माना है।[3]

'देवदत्त गाम् अभ्याज' इस वाक्य में देवदत्त आदि वर्ण से भिन्न अनेक आधारवाली किन्तु एक जाति है। वह विभिन्न वर्णध्वनियों से अभिव्यक्त होती है। नित्य है। निरवयव है। वही वाक्य है।

निरवयव वाक्यवाद

वाक्य एक है, निरवयव है। वाक्य में अवयव की कल्पना बाद में की जाती है। मूल

---

१. वाक्यपदीय २।२८, २९। पुण्यराज के अनुसार इन श्लोकों में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों की आलोचना की गई है।—'द्वयोरपिपक्षयोः दूषणं' पदानि वाक्ये तान्येव इत्यादि श्लोकद्वयेनाभिधास्यति ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१८

२. शब्दजातेरेव वाक्यत्वे भ्रमणत्वादयो दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ताः ।···अपचितध्वनिव्यंग्यस्तावदेको वर्णः । तस्याभिव्यक्तिनिमित्तैः सदृशैरन्यैश्च श्रुतिभिन्नैरेकं निरवयवं च पदं व्यज्यते । तथैव तुल्यातुल्यैः प्रचिततमैः वाक्यमिति ।

—वाक्यपदीय २।२१ हरिवृत्ति

३. तेन भिन्नप्रयत्नोदीरितध्वन्यभिव्यक्तोऽयं जातिस्फोटो विलक्षण एवेति बोद्धव्यम् । वाक्यपदीय २।२१

रूप में वाक्य एक अविच्छिन्न, अपने आप में पूर्ण वस्तु है। वाक्य के निरवयव रूप को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों ने चित्रबुद्धि, पानकरस, मयूराण्डरस आदि का सहारा लिया है। चित्र एक है। अनंश है। चित्र को हम सर्वप्रथम उसकी समग्रता में ही देखते हैं, वह अपने पूर्णरूप में हमारे सामने रहता है। बाद में चित्र के भिन्न-भिन्न भाग में दृष्टि जाती है और उसे समझने अथवा समझाने के लिए उसके भिन्न-भिन्न अवयवों और रंगों आदि पर हम विचार करने लगते हैं। इसी तरह से वाक्य भी अपने आप में पूर्ण है। निराकांक्ष है। अवयवरहित है। उसे समझने के लिए हम उसे शब्दों में बाँटते हैं, तोड़ते हैं, शब्दों का एक-दूसरे से सम्बन्ध जोड़कर हम वाक्य का विश्लेषण करते हैं और इस तरह उसके भाग प्रस्तुत करते हैं। किन्तु मूलरूप में वाक्य में भाग नहीं है। वह निर्भाग है।[1]

पानकरस-षाडव-शर्बत में अपने आप में विलक्षण रस है। निरंश है। किन्तु उसके विश्लेषण करते समय मधुर, तिक्त, अम्ल, कटु, कषाय आदि रसों अथवा औषधियों को सामने लाया जा सकता है। इसी तरह वाक्य अभिन्न है। किन्तु वर्ण, पद आदि के रूप में उसे विभक्त दिखाया जा सकता है।[2]

जिस तरह मयूर के अण्डे में—उसके रस में भावी मयूर के अंग, प्रत्यंग, चक्रक आदि अविभक्त रूप में पड़े रहते हैं, बाद में विभक्त होकर अलग-अलग अवयव के रूप में प्रत्यक्ष होते हैं, उसी तरह वाक्य में पद आदि अविभक्त रूप में होते हैं। उनकी अलग-अलग सत्ता अन्वाख्यान के सहारे सामने आती है।

अथवा जिस तरह पद के सम्यक् ज्ञान के लिए हम उसे प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त करते हैं। किन्तु प्रकृति-प्रत्यय काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। उसी तरह वाक्य को समझाने के लिए हम अपोद्धार पद्धति से उसे पदों में विभक्त करते हैं, किन्तु पद भी प्रकृति-प्रत्यय की तरह कल्पित अथवा असत्य हैं। वास्तविक नहीं। वास्तविक केवल वाक्य है। ऋषभ, वृषभ, उदक, यावक शब्दों में कुछ ध्वनियां समान हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से निरर्थक हैं। केवल दूसरों को समझाने के लिए अन्वय-व्यतिरेक दिखाने के लिए उनकी सत्ता मान ली जाती है। सब तरह के विभाग, प्रक्रियाभेद न जानने वालों को जनाने के लिए कल्पित रूप में मान लिए जाते हैं। वस्तुतः वाक्य का विभाग नहीं होता। विभाग का आश्रय यथासंभव शीघ्र बोध कराने के लिए लिया जाता है। अविभक्त का विभक्त के आश्रय से ज्ञान करना लघुप्रक्रमा पद्धति है। गुरुप्रक्रमा पद्धति प्रतिपद पाठ की तरह देर में बोध कराने वाली है। कुशल व्यक्ति वह है जो भेद को अभेद के

---

१. चित्रस्यैक रूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः॥
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकांक्षैरनुगम्यते॥ वाक्यपदीय २। ८, ९

२. पानक रस का उदाहरण पुण्यराज ने रखा है जो उपयुक्त नहीं है। इससे तो यह भी कहा जा सकता है कि जिस तरह मधुर तिक्त, अम्ल, लवण आदि रसों के योग से विलक्षण पानक-रस की निष्पत्ति होती है उसी तरह पदों के योग से विलक्षण वाक्य की सिद्धि होती है।

आश्रय से देखता है :

पदप्रतिपत्तिपूर्विका हि सामान्यविशेषावग्रहोपाया लघुप्रक्रमा विभागेनाविभक्तस्य प्रतिपत्तिः प्रकृतिप्रत्ययादि प्रतिपत्तिवत् । गुरुप्रक्रमा त्वत्र संसृष्टरूपस्य प्रतिपत्तिरविभागेन प्रतिपदपाठवत् । कुशलस्तु प्रतिपत्ता सर्वमेव भेदसभेदानतिक्रमेण पश्यति । प्रक्रियाभेदस्तु शास्त्रे विभागनिबन्धनम् ।

—वाक्यपदीय २।१३ हरिवृत्ति

ब्राह्मणकम्बल शब्द में यदि ब्राह्मण शब्द का अलग उच्चारण किया जाय, श्रोता को ब्राह्मण शब्द के सुनने पर भी और एक तरह से अर्थ के प्रतीयमान होने पर भी उसके अभिप्राय की प्रतीति नहीं होगी और इसीलिए उसके लिए ब्राह्मण शब्द अनर्थक ही होगा। इसी तरह "देवदत्त गाम् अभ्याज" जैसे वाक्य में भी देवदत्त आदि शब्दों का अलग-अलग ग्रहण होने पर भी, उनका अलग-अलग अर्थ नहीं है, और इसलिए वे पृथक् रूप में अनर्थक हैं।

भर्तृहरि के अनुसार अक्रम क्रम रूप में जान पड़ता है, जो अविभक्त है वह विभागापन्न-सा हो जाता है । वाक्य का मूल स्वरूप अविभक्त है, एक है, इसलिए पूर्ण वाक्य एक शब्द है। अखण्ड है । अविभक्त का विभक्त-अवभास द्रुता मध्यमा और विलम्बिता वृत्तियों के आधार पर शनैः, उच्च, उपांशु, परमोपांशु और संहृतक्रम के रूप में हो सकता है। इनमें वाक्यात्मक शब्द के शनैः और उच्च रूप तो परसंवेद्य है किन्तु उपांशु, परमोपांशु और संहृतक्रम दूसरों द्वारा नहीं जाने जा सकते। उपांशु में प्राणवृत्ति का योग तो रहता है किन्तु शब्दध्वनि को अन्य कोई सुन नहीं सकता। परमोपांशु दशा में शब्द बुद्धिसमाविष्ट रहता है, उसमें प्राणशक्ति का समावेश अभी नहीं होता। संहृतक्रम दशा में बुद्धि में शब्द अक्रम रूप में समाविष्ट माने जाते हैं। शब्द भी अव्यक्त रूप में रहते हैं, यदि क्रम संभावित हैं तो अध्यारोप के रूप में ही। भर्तृहरि के अनुसार वक्ता जब कुछ कहना चाहता है, अक्रम रूप में अथवा संसृष्ट रूप में अवस्थित शब्द पहले उसकी बुद्धि में, पुनः प्रयत्न, प्राण करण आदि के सहारे क्रम रूप में परिणत हो जाते हैं, और श्रोता को भी क्रमरूप में जान पड़ते हैं। किन्तु क्रम रूप में शब्द के उपलब्ध होने से और उसी के व्यावहारिक होने पर भी शब्द के मूल अक्रमस्वरूप का विघात नहीं होता। जैसे आकाश के अलग-अलग विभाग आश्रयभेद से संभव हैं किन्तु मूल आकाश एक है, वैसे ही, बुद्धिगत मूल वाक्य एक है एक शब्द रूप में है, निरवयव है :

संसृष्टशक्तयश्च क्रमसंहारेण समाविष्टवाचां प्रयोक्तृणां शब्दा बुद्धौ प्रयत्ने करणेषु च क्रमवृत्तितामनुभूय प्रतिपत्तृष्वपि क्रमप्रत्ययस्तमयेनैव समावेशं प्रतिपद्यन्ते । तत्रोपलब्ध्युपायानुपाती क्रमवृत्तिलक्षितो भेदो व्यावहारिकमपि शब्दतत्त्वं नानुपतति । क्रमसंहारानाश्रयणे (?) हि व्यवहार एव विच्छिद्यते । तस्माच्च नभागादिवत् (?) प्राप्तदेशविभागैका यत्र बुद्धिः स एताद्यन्तयोरेको वाक्याख्यः शब्द इति ।

—वाक्यपदीय २।१९ हरिवृत्ति

पुण्यराज ने इस अक्रम रूप का स्फोट नाम दिया है और अनवयव पक्ष को व्यक्ति स्फोट का रूप माना है :

परमार्थतस्त्वसावक्रम एव स्फोटात्मा प्रतिभासः । उपाधिवशात्तु तत्र बुद्धिः वितते वानुगम्यत इति बोद्धव्यम् । अनेन एकोऽनवयवः शब्दः इत्युद्दिष्टस्य व्यक्तिस्फोटस्य स्वरूपमुक्तम् ।।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१३

मल्लवादि ने वाक्य के अनवयव स्वरूप का आधार भवन (द्रव्य) का अनवयव होना माना है। भवन अर्थात् भाव एक और अखण्ड होता है। वाक्य भी भाव है अतः वह भी अनवयव होगा :

एकोऽनवयवशब्दो वाक्यार्थः । भवनस्यानवयवत्वात् । इह तु द्रवति भवतीति द्रव्यं भवनं भावः ।

—द्वादशारनयचक्र, पृ० ३०३

वादिदेव सूरि ने, किसी मत के आधार पर, ओंकार के आश्रय से अखण्ड-वाक्यवाद को उद्धृत किया है। इस मत में वर्ण, पद कल्पित हैं। वाक्य निर्विभाग है :

अन्ये तु ओङ्कारोऽनवयवः शब्दः परिकल्पितवर्णपदविभागो वाक्यमित्याहुः ।

—स्याद्वादरत्नाकर पृ० ६४५

वाचस्पति मिश्र ने निरवयव वाक्य का उल्लेख माया द्वारा वर्ण और पद की मिथ्या प्रतीति के रूप में किया है :

अनवयवमेव वाक्यम् । अनाद्यविद्योपदर्शितालीकवर्णपदविभागमस्याः निमित्तमिति केचित् । तत्त्वबिन्दु पृ० ६ मद्रास संस्करण

अनवयव वाक्य की समीक्षा में धर्मकीर्ति ने कहा है :

एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्य क्रमशो गत्यसंभवात्—१।२५० (२५३)

कालभेद एव न युज्यते । नह्येकस्य क्रमेण प्रतिपत्तिः युक्ता । गृहीतागृहीतयोरभेदात् । गृहीतागृहीताभावात् । क्रमेण च वाक्यप्रतिपत्तिः दृष्टा । सर्ववाक्य व्याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्तेः । वर्णरूपासंस्पर्शिनश्चैकबुद्धिप्रतिभासिनः शब्दात्मनोऽप्रतिभासनात् । वर्णानुक्रमप्रतीतेः । तदविशेषेऽप्यनुक्रमकृतत्वाद् वाक्यभेदस्यानुक्रमवती वाक्यप्रतीतिः । वर्णानुक्रमोपकारानपेक्षणे तैः यथाकथंचित् प्रयुक्तैरपि यत् किंचिद् वाक्यं प्रतीयेत । विना वा वर्णैः । तैः अनुक्रमवद्भिः अक्रमस्योपकारायोगात् । अक्रमेण च व्याहर्तुं अशक्यत्वात् । गत्यन्तराभावाच्च । नैव वाक्ये वर्णाः सन्ति । तदक्रमेव शब्दरूपं व्यंजकानुक्रमवशादनुक्रमवद् वर्णविभागवच्च प्रतिभातीति चेत् अनुक्रमवता व्यंजकेनाक्रमस्य व्यक्तिः प्रत्युक्ता । व्यक्ताव्यक्तविरोधात् । अवर्णभागे च वाक्येऽसकलश्राविणोऽसकलवाक्यगति र्न स्यात् । एकस्य शकलाभावात् । सकलश्रुतिर्नवा कस्यचित् ।

—प्रमाणवार्तिक—पृ० १२८।१२९ रोम संस्करण।

धर्मकीर्ति का अभिप्राय है कि यदि वाक्य को निरवयव माना जाय, उसमें

क्रम का आभास संभव नहीं होगा। काल भेद ही नहीं सिद्ध होगा। एक ही वस्तु का क्रम से ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि गृहीत और अगृहीत के अभाव होने से यहां गृहीत और अगृहीत में अभेद है। वाक्य के ज्ञान में क्रम देखा जाता है। पूर्णवाक्य के उच्चारण, श्रवण, स्मरण में काल अनेकक्षण व्याप्त हो सकता है। ऐसा शब्द नहीं होता जिसमें वर्ण संस्पर्श का आभास न होता हो। (शब्द में) वर्ण के अनुक्रम की प्रतीति होती है। यदि वर्ण के स्पर्श-अस्पर्श प्रश्न छोड़ भी दें तो भी अनुक्रम के आधार पर वाक्यभेद होता है और इसलिए वाक्य की प्रतीति में अनुक्रम रहता है। यदि वर्ण के अनुक्रम के आधार पर वाक्य प्रतीति न मानी जाय, तो वर्णों के प्रयुक्त होने पर भी वाक्यप्रतीति नहीं के बराबर होगी। अथवा अन्यथा प्रतीत होने लगेगी। अथवा विना वर्णों के भी होने लगेगी। अनुक्रम वाले वर्णों का अक्रमवस्तु के साथ कोई सहयोग संभव नहीं है। अक्रम रूप में तो वाक्य का उच्चारण भी संभव नहीं है कोई दूसरा उपाय भी नहीं है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि वाक्य में वर्ण नहीं है, वाक्य अविच्छिन्न है, एक शब्द रूप है, केवल व्यंजक ध्वनियों के अनुक्रम के कारण वाक्य भी अनुक्रमवाला और वर्ण विभागवाला-सा जान पड़ता है, तो यह भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि अनुक्रम वाले व्यंजक से क्रम रहित वाले अक्रम की अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त में परस्पर विरोध है। यदि वाक्य में वर्ण विभाग न माना जाय, उसे अखण्ड माना जाय तो वाक्य के केवल एक भाग के सुनने वाले को केवल उसी भाग के अर्थ का ज्ञान न हो सकेगा (जो कि होता है) अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण से पूर्ण वाक्य का ज्ञान होने लगेगा (जो कि किसी को नहीं होता)।

निरवयव वाक्यवाद पर किए गए धर्मकीर्ति के उपर्युक्त आक्षेपों के समाधान की चेष्टा मण्डन मिश्र ने की है। मण्डन मिश्र ने पहले धर्मकीर्ति के आक्षेपों का उल्लेख विस्तार से किया है और इसके बाद उनका उत्तर अति संक्षेप में दिया है। उनके शब्द निम्नलिखित हैं :

> **एकत्वेऽपि क्रमशो गतिरनुपाख्येयोपाख्येयाकारप्रत्ययभेदेन पुरस्तात् प्रपंचिता। व्यंजकसादृश्यात्तु शब्दान्तरग्रहणाभिमानः, तेन नाश्रवणं सकलश्रवणं वेति।**
>
> —स्फोटसिद्धि पृ० २३८।२३९

मण्डन मिश्र का अभिप्राय यह है कि वाक्य को अखण्ड मानकर भी क्रम प्रतीति का निवारण अनुपाख्येय आकार और उपाख्येय आकार वाले ज्ञान भेद के आधार पर हो जायगी। वह ज्ञान अनुपाख्येय माना जाता है जिसे बुद्धि निश्चित रूप से (इदं तत् रूप में) ग्रहण नहीं कर पाई होती है। ध्वनियों से पहले अनुपाख्येय आकार वाले प्रत्यय (ज्ञान) उत्पन्न होते हैं और वे पुनः स्वयं अनुपाख्येयाकार वाले प्रत्यय बार-बार घटित होने से, अभ्यास आदि से, उपाख्येयाकार प्रत्यय हो जाते हैं। वर्ण या पद के क्रम-रूप स्वीकार करने पर ध्वनियों के समुदित रूप में एक साथ न होने के कारण अन्त्य बुद्धि से उनका ग्रहण भी ठीक से नहीं हो पाएगा। संपूर्ण भी शब्द स्वरूप अभिव्यक्त होकर भी जब तक बुद्धि में आविष्ट न हो पाया

हो, तब तक वह अनुपलब्ध-सा रहेगा और उससे व्यवहार न हो सकेगा। इसलिए वर्णक्रम को मानकर अनुपाख्येयाकार और उपाख्येयाकार प्रत्यय भेद के आधार पर अखण्ड वाक्य की प्रतिपत्ति संभव है।

धर्मकीर्ति के दूसरे आक्षेप—अवर्णपक्ष में वाक्य के केवल एक भाग के सुनने पर उस भाग का अर्थ न भासित होना अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण से पूर्ण वाक्य का ज्ञान हो जाना—के उत्तर में मण्डन मिश्र का कहना है कि व्यंजक ध्वनियों के सादृश्य से वर्ण पद, आदि का आभास होता है, वस्तुतः वाक्य एक, अखण्ड है। इसलिए अश्रवण अथवा सकलश्रवण का प्रश्न नहीं उठता। स्फोटसिद्धि के टीकाकार ऋषिपुत्र परमेश्वर (द्वितीय) के अनुसार वाक्य के निर्भागपक्ष में भी भ्रान्ति से भाग की प्रतीति होती है अतः अश्रवण या सकलश्रवण का आरोप असंगत है :

तेन कारणेन परमार्थभागपक्षेऽपि भागशो ग्रहणमुपपद्यत एव, न पुनः अश्रवणं वा सकलश्रवणं वापद्यतेति।

—स्फोटसिद्धि टीका पृ० २३९

कर्णकगोमी ने मण्डन मिश्र के उपर्युक्त तर्क को महत्त्व नहीं दिया है। उनके मत में सकल-असकल वर्ण भाग के ज्ञान के समय अखण्ड वाक्य का श्रवण ही नहीं होता। दूसरी बात यह है कि वाक्य के ग्रहण के अवसर पर वर्ण ग्रहण की बात भी अयुक्त है। वर्णात्मक और अवर्णात्मक सदृश नहीं माने जा सकते, इसलिए व्यंग्य और व्यंजक में भी सादृश्य नहीं हो सकता :

तेनयदुच्यते मण्डनेन व्यंजकसादृश्याच्च वाक्ये तदात्मग्रहणाभिमानः तेन नाश्रवणं सकलश्रवणं वेति तरपास्तम्। सकलासकलवर्णभागप्रतिपत्तिकाले निष्कलस्य वाक्यस्याश्रवणात्। न हि व्यंग्यव्यंजकयोः सादृश्यं वर्णावर्णात्मकत्वेन विसदृशत्वात्। तत कथं वाक्ये वर्णात्मग्रहणाभिमान इति यत् किंचिदेतत्।

—कर्णकगोमी, प्रमाणवार्तिक टीका, पृ० ४६८, ४६९

जयन्त भट्ट ने वाक्य के निरवयववाद के विरोध में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए हैं : "वाक्य निरवयव नहीं है। सावयव है। प्रति-वाक्य में पद और उसके अर्थ का अलग-अलग आभास स्पष्ट रूप से होता है। और जब अवयव विभाग का ग्रहण नहीं होता, वाक्य और वाक्यार्थ का भी आभास नहीं होता। इसलिए मान लेना चाहिए कि अवयव प्रतीति होती है। उस प्रतीति को भ्रान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भ्रान्ति का कोई आधार होना चाहिए। सादृश्य को भ्रान्ति का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसका किसके साथ सादृश्य है, यह स्पष्ट नहीं है। यदि कोई मुख्य अवयव प्रसिद्ध हों, उनके सादृश्य से अन्यत्र सादृश्य के न रहते हुए भी सादृश्य ज्ञान भ्रम हो सकता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। पूर्ववाक्य भी, आपके मत में, भाग रहित हैं। नरसिंह में भी नर के अवयव और सिंह के अवयव अलग-अलग दिखाई देते हैं, ऐसा ही यहां भीं माना जाय तो किसी वाक्य में अवयवों की सत्ता माननी पड़ेगी। चित्र आदि के जो उदाहरण निरवयव पक्ष के समर्थन में दिए गए हैं वे भी

उपयुक्त नहीं हैं। चित्र में भी हरताल सिन्दूर आदि के रूप में अवयव का आभास होता है। पानकरस में भी त्वक्, इलायची आदि द्रव्यों का भान होता है। संगीत में भी षडज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वर पृथक् सत्ता रखते हैं इसलिए ये सब भी निर्भाग नहीं माने जा सकते। इसलिए वाक्य या वाक्यार्थ निर्भाग रूप में नहीं स्वीकार किए जा सकते।"

—न्यायमंजरी, पृ० ३५२-३५३

किसी दर्शन के अनुसार वर्ण-पद से अतिरिक्त बाह्य किसी वाक्य के न होने से वाक्याकार बुद्धि ही वाक्य है। तदनन्तर द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया आदि के संसर्ग के आभास से उत्पन्न होने वाली बुद्धि ही वाक्यार्थ है। बाह्य कोई वाक्यार्थ नहीं है। क्योंकि पदार्थ से अधिक या अनधिक के रूप में उसका निरूपण संभव नहीं है :

केचिद् वर्णपदातिरिक्तबहिर्भूतवाक्याभावात् वाक्याकाराबुद्धिरेव वाक्यम्, तदनन्तरं चानेकजातिगुणद्रव्यक्रियासंसर्गाभासात् जायमाना बुद्धिरेव वाक्यार्थो न बाह्यः। पदार्थातिरेकेणानतिरेकेण वा निरूपणासंभवात्।

—पार्थसारथि, श्लोकवार्तिक व्याख्या पृ० ८७१

इस मत और वैयाकरणों के निरवयव वाक्य मत में केवल इतना ही भेद है कि पहले मत के अनुसार वाक्य की बाह्य सत्ता नहीं है जबकि निरवयववादी वाक्य की बाह्य सत्ता मानते हैं।

कुमारिल भट्ट ने दोनों मतों की समीक्षा में लिखा है कि थोड़े से ही पदों से अनन्त वाक्य बनाए जा सकते हैं। निर्भाग वाक्यवादी को अनन्त अर्थ के लिए अनन्त वाक्यों की और अनन्त कल्पित शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। यह गौरव है। स्वभाववादी (बुद्धिवादी) को भी अदृष्ट अनन्त शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी।[1]

वैयाकरणों ने वाक्य के निरवयव स्वरूप को सिद्धान्ततः मानते हुए भी वाक्य में अवयव का आभास माना है। और अवयव की प्रत्यभिज्ञा भी स्वीकार की है। किन्तु इसका कारण, उनके मत में, सादृश्य है। वाक्य नानाजातीय अनेक ध्वनियों से व्यंग्य है। एक वाक्य की ध्वनियाँ भी किसी दूसरे वाक्य की व्यंजक ध्वनियों के सदृश हैं। इसलिए निर्भाग वाक्य दूसरे वाक्यों के सदृश जान पड़ सकता है। नरसिंह में कुछ भाग नर सदृश है, कुछ भाग सिंह सदृश है, इस तरह अवयव के सादृश्य के आधार पर सादृश्य का आभास होता है। वाक्य में भी सादृश्य उपाधि के भेद से अवयव भेद झलकता है। ध्वनि के सादृश्य से ही अवयव के भी सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा होती है।[2]

---

१. स्तोकशक्त्युपपन्नेऽर्थे बहुशक्त्यप्रमाणता। श्लोकवार्तिक ७।१२२ पृ० ८८०

२. वैयाकरणैः निरवयवत्वेऽपि वाक्यानामवयवप्रतिभासे अवयवप्रत्यभिज्ञायां च सादृश्यं कारणमुक्तम्-ध्वनयः सदृशात्मानो विपर्यासस्य कारणमिति। नानाजातीयानेकध्वनिव्यंग्यं हि वाक्यम्। ते च ध्वनयः प्रत्येकं वाक्यान्तरव्यंजकध्वनिसदृशा निर्भागस्यापि वाक्यस्य तत्तद्वाक्यसादृश्यम्, नरसिंहस्येव केनचिद् भागेन नरसादृश्यं केनचिच्च सिंहसादृश्यं भागशः सम्पादयन्तः सादृश्योपाधिभेदादवयवभेदमिव वाक्ये दर्शयन्ति। ध्वनिसादृश्यादेव अवयवानामपि सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञापि भवतीति।

—पार्थसारथि, श्लोकवार्तिक व्याख्या पृ० ८८०

कुमारिल भट्ट के अनुसार निरवयव वाक्यवादी को महावाक्य और अवान्तर वाक्य में भेद नहीं मानना पड़ेगा। यदि भेद माना जायगा तो दो वाक्यों से दो अर्थ स्वतन्त्र रूप से सामने आयेंगे।[1]

किन्तु इसका उत्तर वैयाकरण यह देते हैं कि जिस तरह से अपोद्धार पद्धति पर पद की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है उसी तरह उसी पद्धति से अवान्तर वाक्य की भी सत्ता मान ली जायगी। यथार्थ दृष्टि से वाक्य में जैसे पद की सत्ता नहीं है, महावाक्य में अवान्तरवाक्य की भी सत्ता नहीं है।

क्रम-सिद्धान्त

क्रम को वाक्य माननेवाले आचार्य का अभिप्राय यह है कि क्रम के अतिरिक्त वाक्य की सत्ता नहीं है। वस्तुतः इस मत में वाक्य की सत्ता ही नहीं स्वीकृत है। ध्वनि समूह से अथवा पद समूह से जो कुछ अर्थ भासित होता है वह क्रम के कारण होता है। अतः क्रम ही मुख्य है। उससे भिन्न वाक्य नाम का किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। क्रम क्या है? क्रम शब्द से भिन्न वस्तु है। क्रम का सम्बन्ध काल से है। काल में प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा ये दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। शब्द की बाह्य अभिव्यक्ति इन दोनों शक्तियों की सक्रियता से होती है। इसलिए श्रोता को शब्द का श्रवण और अर्थ का अनुगमन कालवृत्ति के अधीन है। शब्दों में जो क्रम है उसे काल शक्ति का उनमें सन्निवेश समझना चाहिए। अतः क्रम कालशक्ति से भिन्न वस्तु नहीं है: **क्रमो हि शब्देषु कालशक्तिरूपविशेषस्य निवेश इव। स कालात्मनो न व्यतिरिच्यते।**

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

पदों के नियत संन्निवेश से एक विशेषता आ जाती है। यदि विशेष ही वाक्य है तो यह विशेष क्रमजन्य है। अतः क्रम ही वाक्य है। इस मत में पद में अर्थ सत्ता मानी जा सकती है, किन्तु वाक्य एक प्रलाप मात्र है:

तेन वाक्यमित्यवस्तुकमेवेदं अभिलापमात्रं पदमेवार्थवदिति।

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

क्रमशक्ति का आविर्भाव पदों के सन्निवेश में होता है केवल वर्णों के सन्निवेश में नहीं होता। यद्यपि क्रम की सत्ता वर्णों में भी है, किन्तु अर्थबोध केवल वर्ण से नहीं होता, पद से होता है। वर्णक्रम को पद और पदक्रम को वाक्य कहा जा सकता है किन्तु वे वाचक नहीं हैं। वाचकता केवल क्रम में है।

सन्तानवृत्ति का नाम क्रम है। पद चाहे वे अनर्थक रूप में माने जाएं अथवा स्वार्थ के कारण सार्थक रूप में स्वीकार किये जायं, सब तरह से क्रम से उच्चरित होकर ही अपने से कुछ भिन्न वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए क्रम वाक्य है।[2]

---

१. श्लोकवार्तिक ७।१४२ पृ० ८८६ चौखम्बा संस्करण
२. वाक्यपदीय २।५५

क्रमवाद की समीक्षा

पदक्रमवाक्य वाद में, कुमारिल के मत में, मुख्य दोष यह है कि पदक्रम को वाक्य मानने पर पदक्रम के भेद से वाक्य में भी भेद होने लगेगा। गौः शुक्लः का जो क्रम है वही शुक्लो गौः का नहीं है। यदि पदक्रम को वाक्य माना जाय तो यहां दो वाक्य मानने पड़ेंगे और वाक्य भेद से अर्थ भेद भी होने लगेगा।[1] पार्थसारथि ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि वर्णक्रम को पद मान लेना तो ठीक भी हो सकता है क्योंकि वह अर्थ के ज्ञान में साधन है, यदि वर्ण के क्रम बदल दिए जांय तो वही अर्थ नहीं झलकेगा। किन्तु पदक्रम साधन नहीं है। संस्कृत में पदक्रम के बदल देने पर भी अर्थ वही होगा। वाक्यार्थ ज्ञान में पदक्रम उपायभूत नहीं है। उपायभूत मानने पर क्रमभेद से वाक्यार्थ भेद होगा।[2]

किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, क्रमसिद्धान्त के समर्थक आचार्य पदक्रम को वाक्य न मानकर वाक्य की सत्ता ही नहीं मानते हैं। "तेन वाक्यं न विद्यते।[3]" "पदाख्या वाक्यसंज्ञा च शब्दत्वं नेष्यते तयोः"[4] आदि वक्तव्यों द्वारा भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है कि क्रम का नाम वाक्य नहीं है किन्तु क्रम वही काम करता है जो, अन्य दर्शन में, वाक्य करता है। और इसी दृष्टि से क्रम को वाक्य कहा जाता है। अन्यथा क्रम और वाक्य भिन्न-भिन्न वस्तु है। वाक्य का सम्बन्ध शब्द से है। क्रम का सम्बन्ध काल से है। दूसरे शब्दों में, वाक्य शब्द धर्म है, क्रम कालधर्म है। क्रम अपने आप में अशब्द है।

बुद्ध्यनुसंहारवाद

शब्द का मुख्य स्वरूप बाह्य नहीं है, आन्तरिक है। लिपि शब्द नहीं है। किन्तु शब्द का प्रतीक अथवा संकेतक है। और इसलिए अक्षर चिह्नों को शब्द कह दिया जाता है, किन्तु अक्षर चिह्न स्वयं शब्द नहीं है। वे वास्तविक भी नहीं हैं। इसी तरह बाह्य ध्वनि शब्द का संकेतक है। शब्द का वास्तविक रूप आन्तरिक है। बाह्य ध्वनि अक्षर चिह्न की तरह अतात्त्विक है। अन्तःशब्दतत्त्व अक्रम है। यद्यपि वह क्रम वाले भागों (वर्ण अथवा नाद) से व्यक्त किया जाता है किन्तु अपने आप में वह अक्रम है, क्रम-रहित है। क्रम वाले वर्ण या नाद या भाग अक्षर चिह्नों जैसे हैं और उन्हीं की तरह अयथार्थ हैं। ये आन्तरिक शब्द को अभिव्यक्त करते हैं। उस अक्रम रूपवाले आंतरिक शब्द का दूसरा नाम बुद्ध्यनुसंहार है। उसमें पदरूप विभक्त नहीं है। वह एक शब्द है। और एक शब्द शब्द को एक वाक्य कहते हैं :

---

१. श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण ५५
२. श्लोकवार्तिक व्याख्या, न्यायरत्नाकर ७।५५
३. वाक्यपदीय २।५०
४. ,, २।५२

स चैष बुद्ध्यनुसंहारलक्षण आन्तरः शब्दात्मा तत्र समाम्नातः ।
तस्यचेत्थंभावे विच्छिन्नंपदरूपप्रविभागदर्शन एक एवायं वाक्याख्यः ।

—वाक्यपदीय, २।३० हरिवृत्ति

भर्तृहरि के मत में आन्तर शब्द दो शक्तियों से संपन्न है—अनपायिनी शक्ति और अपायिनी शक्ति। उस शब्दात्मा में प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों संपृक्त हैं। शब्द प्रकाशक है। अर्थ प्रकाश्य है। यद्यपि प्रकाशक और प्रकाश्य आन्तर शब्द में परस्पर संपृक्त हैं, अविभक्त हैं, फिर भी प्रकाशक से प्रकाश्य विभक्त जैसा जान पड़ता है। इसी तरह से कार्य और कारण दोनों आन्तर शब्द में संश्लिष्ट हैं। कारण और कार्य एक दूसरे के आश्रित हैं। और अपने मूल रूप में उस शब्दात्मा में अभिन्न रूप से अवस्थित हैं। किंतु व्यवहार दशा में एक दूसरे से विभक्त जान पड़ते हैं। मिथ्याभ्यास भावना के कारण अभेद में कल्पित भेद की सृष्टि होती रहती है और इस तरह जो अविशेष है वह विशेष जान पड़ता है। आन्तर शब्द की अनपायिनी शक्ति का संबंध उसके अविभक्त स्वरूप से है और अपायिनी शक्ति का संबंध उसके प्रतिभासिक विभक्त स्वरूप से है। वस्तुतः अन्तःशब्द तत्व में भाव-अभाव का विभाग नहीं है। शक्ति भेद से भेद का आभास होता है।

उस आन्तर शब्द में अस्तित्व और व्यस्तितत्व भाव और अभाव उसके एकत्व का अतिक्रमण नहीं करते। दोनों एक ही की दो शक्तियां हैं। अक्रम में क्रम का संवेदन अभाव से भाव दशा का उन्मीलन है। बुद्ध्यनुसंहार पक्ष में शब्दार्थतत्त्व अन्तर्मात्राभिनिवेशी है। पुण्यराज ने बुद्ध्यनुसंहार को ही आंतरस्फोट माना है :

आभ्यन्तरस्य स्फोटस्य तु बुद्ध्यनुसंहृतिरित्यनेनोद्देशः ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय टीका २।१

शब्द का मुख्य रूप, शब्द की आत्मा, वाक्तत्त्व एक है, अभिन्न है, अन्तर्निवेशी है, अव्यपदेश्य है। जिस तरह से शब्द, मुख्य रूप में, बुद्धिगत है उसी तरह अर्थ भी बुद्धिगत है। बुद्धिगत अर्थ भी अव्यपदेश्य है किन्तु क्रम से उपचित होकर प्रत्यर्थनियत रूप में उत्पन्न होकर बाह्य वस्तु रूप में व्यवहार का विषय बनता रहता है। शब्द-नित्यत्व पक्ष में, बुद्धिगत अर्थ क्रमशक्ति के सहारे विवर्त रूप में प्रकट होता है। जब तक बुद्धि में अर्थ का स्वरूप स्थान न प्राप्त कर लिया हो, वह बाह्य वस्तु के रूप में व्यावहारिक अर्थ क्रिया में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए सभी बाह्य व्यवहार का आधार अन्तर्निविष्ट अर्थ है। शब्द और अर्थ एक ही वाक्यात्मा के दो स्वरूप हैं। अर्थ भाग के द्वारा आन्तरिक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। पुण्यराज ने इस आन्तरिक अर्थ को प्रतिभात्मक अखण्ड वाक्यार्थ माना है। (वाक्यपदीय २।३१)

जैन दर्शन में बुद्ध्यनुसंहृति को विज्ञान के सहारे स्थापित किया गया है। विज्ञान शब्द है। विज्ञान ही शब्दार्थ है। रूप, रस, घट, पट आदि बाह्य वस्तु विज्ञान से उद्‌बुद्ध होते हैं। विज्ञान कल्पना है, अभिजल्प है, बुद्ध्यनुसंहृति है। वही वाक्य है।

वही वाक्यार्थ है ।[1]

प्रभाचंद्र ने बुद्ध्यनुसंहृति को दो वर्ग में विभक्त कर बुद्धिवाक्यपक्ष और अनुसंहृतिवाक्यपक्ष की कल्पना की है ।[2] किन्तु यह विभाग भर्तृहरि द्वारा अभिप्रेत नहीं है।

पुण्यराज ने बुद्ध्यनुसंहारवाद को बौद्ध दर्शन के वाक्यस्वरूप के सदृश माना है। उनके अनुसार, शाक्य सिद्धान्त में, वाक्य आन्तरिक आकार विशेष का बाह्य अध्यास मात्र है। बौद्ध आकार अनादि वाक्यवासना के प्रबोध से उद्‌बुद्ध होता है और क्रम रूप में भासमान किन्तु अक्रम रूप में अवस्थित पदों से विशिष्ट रूप में उभरता है। उसका बाह्य अध्यास वाक्य है। और इस तरह बुद्ध्यनुसंहृति का सहोदर-सा है।[3]

किन्तु धर्मकीर्ति ने वाक्य की बुद्धिग्राहिता को नहीं माना है। समस्त वर्ण संस्कारवाली अन्त्य बुद्धि से वाक्य का अवधारण कपोलकल्पना मात्र है। अक्रम, एक बुद्धिग्राह्य वाक्य संभव नहीं है। वर्णों का क्रम से ही भान होता है और बिना वर्ण के संस्पर्श किए किसी को प्रतिपत्ति नहीं होती। जब कभी पद वाक्य का स्मरण होता है, वर्ण सदा क्रम रूप में ही भासित होते हैं। अक्रमा बुद्धि में पूर्वापर का भान संभव नहीं है। अन्यथा पद वाक्य भेदों में कोई भेद न रह जाय।[4]

किन्तु बुद्ध्यनुसंहार पक्ष का आधार अन्त्य बुद्धि-ग्राह्यता वाला सिद्धान्त नहीं है। अतः धर्मकीर्ति की आलोचना युक्तिसंगत नहीं है।

आदिपदवाद

आद्य पद वाक्य है। जिस पद का वाक्य में सर्वप्रथम प्रयोग किया जाता है वह पद ही वाक्य है। उसी पद से अन्य पदों का आक्षेप हो जाया करता है। जो पद आरंभ में प्रयुक्त होते हैं वे या तो क्रिया पद होते हैं या कारक पद। क्रिया और कारक परस्पर अविनाभूत होते हैं, उनमें साहचर्य होता है। उनमें जो भी पहले प्रयुक्त होता है, अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य पद के अर्थ का आक्षेप कर लिया करता है। जैसे धूम से वह्नि का आक्षेप हो जाता है। और इस आधार पर प्रथम पद को, कुछ आचार्य, वाक्य मानते हैं। प्रथम पद को ही वाक्य मान लेने पर अन्य पद, इस मत में, व्यर्थ नहीं होते। वे नियम अथवा अनुवाद के लिए होते हैं जैसा कि आख्यात-वाक्य वाद वाले भी मानते हैं।

भर्तृहरि ने एक अन्य प्रकार से भी इस मत का संकेत किया है। इस मत में

---

१. विज्ञानं शब्दार्थः। विज्ञानमेव हि शब्दः⋯तच्च विज्ञानं कल्पना⋯बुद्ध्यनुसंहृति वाक्यार्थः। द्वादशारनयचक्र, पृ० ११५।

२. बुद्धिःवाक्यम्।⋯अनुसंहृतिः वाक्यम्। प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४६०

३. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

४. प्रमाणवार्तिक, स्वार्थानुमानपरिच्छेद पृ० ८६ काशी संस्करण

विशेष शब्द सामान्य के प्रतिरूपक माने जाते हैं और वे शब्दान्तर के संबंध से किसी आगन्तुक अर्थ से जुटकर केवल अनुवाद के रूप में शब्दान्तर के अर्थ को व्यक्त करते हैं ।[1]

पुण्यराज ने इस मत का सम्बन्ध अन्विताभिधानवाद से जोड़ा है। उनके अनुसार "देवदत्त गाम् अभ्याज" इस वाक्य का देवदत्त शब्द "देवदत्त गाम् बधान" इस वाक्य के देवदत्त शब्द से विशिष्ट अर्थ में ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त होता है किन्तु भ्रम से सकल साधारण जान पड़ता है। बाद में (उत्तरकाल में) गो आदि पद के संबंध से विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। आरम्भ में ही संपूर्ण विवक्षित अर्थ को मन में रखते हुए वक्ता विशिष्ट पद का व्यवहार करता है। अतः आद्य पद में ही सकल वाक्य और सकल वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है :

तेषामेवोपगृहीतसर्वविशेषे एकस्मिन् अर्थे
बहुशब्दानभ्युपगच्छतामविकल्पः कृत्स्नः
वाक्यार्थः प्रतिपदं प्रतिवर्णं वा समाप्यते ।।

—वाक्यपदीय २।१८ हरिवृत्ति

इस मत की समीक्षा में प्रायः सभी आलोचकों ने यही कहा है कि एक ही पद से यदि समस्त वाक्यार्थ की अवगति हो जाय, अन्य पद व्यर्थ माने जायेंगे। भर्तृहरि ने इस आक्षेप के दो उत्तर दिए हैं। एक तो यह कि एक पद से सकल अर्थ की अभिव्यक्ति होने पर भी दूसरे पदों के सान्निध्य से उन अर्थों का जो पुनः ज्ञान होगा, वह ज्ञान, वह आवृत्ति, नियम के लिए होगी। अथवा आदि पद से उक्त अर्थ को अन्य पद और अधिक स्पष्ट कर देते हैं। यही अनुवाद है। अतः दूसरे पदों की अव्यर्थता नियम और अनुवाद रूप में मान लेनी चाहिए। दूसरा यह कि आदि पद में संपूर्ण अर्थ व्यक्त करने की क्षमता होने पर भी अन्य पद अभिव्यंजक है। उनके साहचर्य से ही संपूर्ण अर्थ व्यंजित हो पाता है (**व्यक्तोपव्यंजना सिद्धिः—वाक्यपदीय** २।१८)[2]

पुण्यराज ने नियम और अनुवाद वाले पक्ष से संतोष नहीं व्यक्त किया है। व्यक्तोपव्यंजन वाले पक्ष के विषय में एक स्थान पर उन्होंने निराशा व्यक्त की है किन्तु दूसरे स्थान पर उसका समर्थन किया है।[3]

आद्यपदवाक्यवाद के आधार पर अन्त्य पद वाक्यवाद की भी कल्पना की गई थी। यद्यपि अन्त्यवाद का उल्लेख या संकेत भर्तृहरि ने नहीं किया है किन्तु इस वाद की

---

१. वाक्यपदीय २।१७

२. वाक्यपदीय २।११६

३. पदानां नियमायानुवादाय वोच्चारणं भवेत्। न चैतत् युक्तमिति वक्ष्यामः।...व्यक्तोपव्यंजना इत्यसमाधानमेव। —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१८

"यदा पुनः सहभूतेष्वेवासौ प्रत्येकं समाप्तोर्थ इत्युक्ते। यथोक्तं "व्यक्तोपव्यंजना सिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तिषु" (वा० प० २।१८) इति। तदा नास्त्येव सहभूतानामुपादाने कश्चिद वैफल्यम् —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।११६

आलोचना कुमारिल भट्ट ने की है। सुचरित मिश्र और पार्थसारथि ने स्पष्ट कहा है कि किसी (वैयाकरण) ने अन्त्यवाक्यवाद का उल्लेख नहीं किया है फिर भी उसकी संभावना कर कुमारिल ने समीक्षा की है।

जो हेतु आद्यपदवाक्य पक्ष में दिए जाते हैं वे ही अन्त्यपद वाक्य पक्ष में भी दिए जाते हैं। मुख्य होने के कारण आद्यपद वाक्य है। इसी आधार पर अन्त्य पद भी वाक्य है :

अन्त्यपदवाक्यता परैरपठिताऽपि यावत् संभवमुपन्यासादुपदर्शिता। एवं हि ते मन्यन्ते, मुख्यत्वाद् आद्यमेव पदं वाक्यमिति। अन्त्यञ्च। तदनन्तरमर्थावगतेः।

—सुचरितमिश्र, श्लोकवार्तिककाशिका ७।४९ हस्तलेख

मल्लवादि क्षमाश्रमण ने अन्त्यपदवाक्यवाद का उल्लेख पूर्वपदज्ञान-हितसंस्कार के आधार पर किया है। भर्तृहरि के अन्त्य ध्वनि से बुद्धि परिपाक वाला सिद्धान्त इस विचार का मूल हो सकता है।[1]

भोजराज एक पद में, चाहे वह आदि का हो या अन्त का, वाक्य शक्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मत में, यदि एक शब्द में सभी पदों के अभिधेय द्योतित करने की शक्ति मान ली जायगी, उसीसे व्यवहार होने लगेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। यदि गौ : शब्द के उच्चारण से सकल गोगत गुण और उसकी सभी क्रियाओं की अभिव्यक्ति हो तो श्रोता को किसी एक गुण या क्रिया को अवगत करने में कठिनाई होगी। ऐसा कोई हेतु नहीं है जिससे नियत गुण अथवा क्रिया का ग्रहण हो सके। पदान्तर सन्निधान को नियामक नहीं माना जा सकता। वह भी जप, मंत्र आदि के सदृश केवल स्वरूप मात्र से सन्निहित होता है अतः उसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है।[2] किन्तु जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, कुछ आचार्यों के अनुसार साध्य (क्रिया) नियत साधनवाला है। और साधन (कारक) नियतसाध्यवाला है। क्रिया-कारक का यह नियत स्वरूप प्रति पद में अभिधेय की भांति स्थित रहता है। यह नित्य नियतत्व नियम का हेतु हो जाता है। इसलिए दूसरे शब्दों के प्रयोग के सान्निध्य मात्र से बोधकर्ता को आदि पद से (अथवा केवल अन्त्य पद से) समग्र वाक्यार्थ झलक उठता है। अतः आद्य पद वाक्य है :

नियतं साधनं साध्ये क्रिया नियतसाधना।
स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते॥

—वाक्यपदीय २।४७

पृथक् सर्वपद वाक्यवाद

पृथक् सर्वपद वाक्य हैं। कुछ आचार्यों के मत में सभी पद अलग-अलग वाक्य हैं यद्यपि

---

१. अन्त्यं च पदं वाक्यार्थः। स च पूर्वपदज्ञानाहितसंस्कारापेक्षोऽन्त्यपदप्रत्ययः।

—द्वादशारनयचक्र, पृ० ६११

२. शृंगार प्रकाश, पृ० २७७ मैसूर संस्करण

वे परस्पर साकांक्ष होते हैं। इस पक्ष में प्रायः वे ही हेतु उपस्थित किए जाते हैं जो संघात पक्ष में कहे जाते हैं। जिस तरह से तीनों ग्रावा उखा को धारण करते हैं, जैसे चारों वाहक शिविका को वहन करते हैं वैसे ही सभी पद वाक्य हैं और सभी पद अपने-अपने अर्थ से युक्त रहते हैं।[1] 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य में, इस मत में, प्रत्येक पद वाक्य है। क्योंकि सभी पद सर्वात्मक हैं। देवदत्त भी गवात्मक है, अभ्याजात्मक है, क्योंकि वह प्रवर्तक है और इसलिए उन-उन रूप वाला हो जाता है। इसी तरह गो भी देवदत्त आदि के रूप में ढल जाता है, अभ्याज भी तदात्मक हो जाता है।[2] भर्तृहरि की शब्दावली में, देवदत्त आदि पद की प्रत्येक परिसमाप्ति है। पृथक् सर्वपद वाक्य पक्ष में प्रत्येक शब्द संपूर्ण व्यापार वाला (कृत्स्नव्यापारकारि) है। एक-एक के रहने से संपूर्ण व्यापार संपन्न होता है, एक के भी न रहने से व्यापार संपन्न नहीं हो पाता है। अतः पृथक् सर्व पद को वाक्य मानना चाहिए।

संघातवाद और पृथक् सर्वपदवाद में यह भेद है कि संघात पक्ष में पद संघात-परतंत्र है जबकि पृथक् सर्वपद पक्ष में पद स्वतन्त्र हैं। संघातपक्ष में पद की स्थिति शकट के अवयव के रूप में है। शकट (गाड़ी) के सभी अंग, मिलकर काम करते हैं किन्तु प्रत्येक अंग शकट से अलग अपना कार्य नहीं कर पाता है। पृथक् सर्वपदवाद में पद की स्थिति शिविकावाहकों जैसी है। वाहक मिलकर पालकी ढोते हैं, पर स्वतन्त्र भी अपना काम कर सकते हैं। वादि देव सूरि के अनुसार 'पृथक् सर्वपदं साकांक्षम्' में पृथक् विशेषण इसे संघातपक्ष से अलग करता है और सर्व विशेषण इसे आख्यातवाद से और आद्यपदवाद से अलग करता है :

पृथगिति संघातादवच्छिनत्ति। सर्वमिति आद्य पदात् आख्याताच्चावच्छिनति। तेन सर्वाण्येव पदानि अन्योन्यसापेक्षाणि प्रत्येकं वाक्यमित्यर्थः।

—स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ६४५

पुण्यराज ने पृथक् सर्वपदवाक्यवाद का भी सम्बन्ध अन्विताभिधानवाद से जोड़ा है। वाक्य में कारक सदा क्रिया का मुख देखते हैं क्रिया भी कारकों का विरह नहीं सह पाती है। इस परस्पर सम्बन्ध के आधार पर पद स्वतः वाक्य का अर्थ अवगत करा देते हैं। क्रिया और कारक की परस्पर उन्मुखता सन्निधान मात्र से व्यक्त हो जाती है। इनमें परस्पर मुख्य या गौण भाव आकांक्षा पर निर्भर करता है। आकांक्षा व्यपेक्षाश्रित है। भर्तृहरि के अनुसार व्यपेक्षा अर्थ में हो या न हो, शब्द में सदा संनिविष्ट सी रहती है।[3] उसे शब्द व्यक्त करता है। कारक पद क्रिया में

---

१. पृथक् स्वेन स्वेनार्थेन युक्तानि पदानि वाक्यम्। —द्वादशारनयचक्र पृ० १०७८

२. वाक्यं च पृथक् सर्वपदम्। यथा देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम् इत्यत्रैकैकं पदं वाक्यम्। तस्मादेव देवदत्तोऽपि हि गवात्मकोऽभ्याजात्मकश्च। तथा प्रवर्तनात् तत्तदापत्तेः। तान्यपि तथापत्तेरिति। —द्वादशारनयचक्र पृ० ४२६

३. अर्थेषु सतीमसतीं वा शब्दवृत्त्यनुकारेण पुरुषो व्यपेक्षां समीहते। तां शब्द एव प्रकाशयति। सा हि नित्यनिविष्टरूपेव शब्दात्मनि।

—वाक्यपदीय २।४८ हरिवृत्ति

गुणभूत होकर अन्य पद की आकांक्षा करता है। क्रिया प्रधान रूप में रहकर कारक पदों की अपेक्षा रखती है।[1]

मल्लवादि क्षमाश्रमण ने सर्वपदवाद की एक दूसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है। वाक्यपदीय २।१२१ के आधार पर उनका कहना है कि सभी शब्दों का सत्तामात्र अर्थ है। शब्द का अर्थ केवल प्रत्याय्य होता है। उसे निश्चित रूप से नहीं व्यक्त किया जा सकता। अपूर्व, देवता, स्वर्ग जैसे शब्दों के जो अर्थ भासित होते हैं वे प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनका निरूपण संभव नहीं है। इसी तरह गो आदि शब्दों को भी समझना चाहिए। गमन, आगमन, गर्जन जैसे शब्दों का अर्थ है इतना ही सत्य है, उस अर्थ व्यवस्था का निरूपण विशेष रूप में संभव नहीं है। इस सिद्धान्त के आधार पर सभी पद वाक्य हैं।[2] इस दृष्टि से 'पृथक् सर्वपदं साकांक्षम्' के दो भाग हो जाते हैं—'पृथक् सर्वपदवाद और साकांक्ष सर्वपदवाद।' सुचरित मिश्र भी इसे दो भागों में विभक्त करते जान पड़ते हैं।[3]

बौद्ध सम्प्रदाय में भी कहीं-कहीं पद की वाक्य संज्ञा दी गई है। पद ही वाक्य है। किन्तु उनकी पद की परिभाषा एक तरह से वही है जो एकार्थपरक पद समुदाय-वाक्यवादियों की है :

पदपर्यायो वाक्यम्। यावद्भिः अर्थवद्भिः पदैः विवक्षितार्थपरिपूरिः (पूर्तिः) भवति तावतां समूहः पदम् इत्यभिधार्मिकाः। —अभिधर्मदीप पृ० १०६

कर्णकगोमी ने भर्तृहरि के नाम से एक उद्धरण दिया है जिसके अनुसार सभी पद अलग-अलग अर्थवान् है और उनमें प्रत्येक में संपूर्ण अर्थ की परिसमाप्ति होती है। सभी पदों में से जिस किसी का भी प्रथम ग्रहण हो, उसमें दूसरे पदों के अर्थ समाविष्ट रहते हैं, वे दूसरे पद केवल नियम या अनुवाद के लिए होते हैं :

यदाह भर्तृहरिः—सर्वेषां पृथक् अर्थवत्ता सर्वेषु प्रतिशब्दं कृत्स्नार्थपरिसमाप्तेः। तथा यदेव प्रथमं पदमुपादीयते तस्मिन् सर्वरूपार्थोपग्राहिणि नियमानुवाद-निबन्धनानि पदान्तराणि विज्ञायन्ते।[4]

—प्रमाणवार्तिक टीका, पृ० ४६४

इस उद्धरण से भी ऐसा जान पड़ता है कि पृथक् सर्वपद और साकांक्ष ये अलग-अलग भेद हैं।

योगदर्शन भी सर्वपदवाक्य सिद्धान्त का पोषक है। उसके अनुसार सभी पद में वाक्य की शक्ति है। पद वाक्य है। 'वृक्षः' इतना कहने पर भी 'वृक्ष है' ऐसा बोध देखा जाता है। पदार्थ सत्ता-निरपेक्ष नहीं होता। **सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः।**

---

१. वाक्यपदीय २।४७, ४८

२. द्वादशारनयचक्र पृ० १३३

३. एकैकापायेऽपि वाक्यार्थादर्शनात् सर्वाणि वाक्यम्। परस्परोपहितानि पृथक् कल्पनाद् वेति। श्लोकवार्तिक काशिका ७।४६ हस्तलेख

४. इस उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय पर स्वयं वृत्ति लिखी थी। यह अंश वाक्यपदीय २।१ पर होगा जो आज अनुपलब्ध है।

वृक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते। न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति। तथा न ह्यसाधना क्रिया अस्ति इति।

—योगसूत्र, व्यासभाष्य ३।१७

उपर्युक्त वाक्य विकल्पों के अतिरिक्त पुण्यराज ने मीमांसक, नैयायिक और शाक्य मत में भी वाक्य के स्वरूप का निर्देश किया है और उनका उपर्युक्त वादों में अन्तर्भाव दिखाया है। उनके मत में जैमिनि का वाक्यलक्षण लौकिक वाक्यलक्षण है और उसका अन्तर्भाव संघात पक्ष में हो जायगा। वार्तिककार के वाक्यलक्षण का भी अन्तर्भाव, पुण्यराज के अनुसार, संघात पक्ष में हो जायगा।[1]

न्यायदर्शन में, पुण्यराज के अनुसार, पूर्व पूर्व पदस्मृति संचित अन्त्यपद नष्ट होता हुआ भी अनुभव का विषय बनकर वाक्य का स्वरूप लेता है। इसका भी अन्तर्भाव प्रायः संघातपक्ष में हो जाता है। शाक्य दर्शन में गृहीत वाक्य का लक्षण बुद्ध्यनुसंहृति पक्ष के समकक्ष है।[2]

ऊपर जितने वाक्य विकल्पों का उल्लेख किया गया है, इनमें किसी की विशेष प्रतिष्ठा नहीं हुई। लोक व्यवहार में एकार्थक पदसमुदाय को वाक्य माना जाता रहा और अनेक विचारकों ने और वैयाकरणों ने भी उसे स्वीकार किया। इस दृष्टि से कुछ प्रसिद्ध वाक्यलक्षण यहां दिए जा रहे हैं।

१. पदसंघातजं वाक्यम्।—व्याडि।

२. पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ।—कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० १७९
त्रिवेन्द्रम संस्करण

३. एकार्थः पदसमूहोवाक्यम्।[3]—काशिका ८।१।८

४. सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।
—अमरकोश, प्रथमकाण्ड, शब्दादिवर्ग

५. पदसमूहो वाक्यम्।—न्यास ४।४।१

६. विशिष्टैकार्थप्रतिपादकनिराकांक्षपदसमूहो वाक्यम्।
—वैद्यनाथ पायगुण्ड, चन्द्रालोकटीका पृ० ८

पुण्यराज के अनुसार इन सभी वाक्य विकल्पों में भर्तृहरि का झुकाव एक निरवयव शब्द वाक्यवाद की ओर था। पुण्यराज ने इसकी दूसरी संज्ञा स्फोट दी है। स्फोट, बाह्य रूप में और आन्तरिक रूप में वाक्य है :

टीकाकारश्चामुमेव पक्षं सूत्रकारस्याभिप्रायसमाश्रयेण युक्तियुक्तं मन्यमानः बाह्यरूप आन्तरो वा निर्विभागः शब्दार्थमयो बोधस्वभावः शब्दः स्फोटलक्षण

---

१. अनयोः संघातपक्षेऽन्तर्भावः। वाक्यपदीयटीका २।१

२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१,२

३. हरदत्त के अनुसार यहां काशिका में पाठ भेद था—क्वचित् एकतिङ्पदसमूहो वाक्यमिति पठ्यते…क्वचित्तु न किंचिदपि वाक्यलक्षणं पठ्यते।
—पदमंजरी ८।१।८

एव वाक्यमिति ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।६

किन्तु भर्तृहरि ने स्वयं वाक्य विचार के प्रसंग में स्फोट शब्द का प्रत्यक्ष प्रयोग नहीं किया है ।

हेलाराज भी निरवयव वाक्यवाद के समर्थक हैं : **वाक्यस्यैव निरंशस्य वाचकत्वादन्तरापदप्रतिपत्तिः विभ्रम इति ।**

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३।१

वाक्य के भेद

व्यावहारिक वाक्य लक्षण को सामने रखकर वाक्य भेद पर भी विचार मिलते हैं । वाक्य भेद के मुख्य आधार क्रिया पद हैं । एक क्रिया हो तो एक वाक्य, अनेक क्रिया हो तो अनेक वाक्य मानने चाहिए । किन्तु राजशेखर आदि इससे सहमत नहीं हैं :

आख्यातपरतंत्रा वाक्यवृत्तिः । अतः यावदाख्यातमिह वाक्यानि—इत्याचार्याः । एकाकारतया कारकग्रामस्यैकार्थतया च वचोवृत्तेः एकमेवेदं वाक्यम् इति यायावरीयः ।

—काव्य मीमांसा, पृ० २३ बड़ौदा सं०

फिर भी आख्यात के आधार पर दस तरह के वाक्यों का उल्लेख काव्य मीमांसा में मिलता है :

एकाख्यात । अनेकाख्यात । आवृताख्यात । एकाभिधेयाख्यात । परिणताख्यात । अनुवृताख्यात । समुच्चिताख्यात । अध्याहृताख्यात । कृदभिहिताख्यात और अनपेक्षिताख्यात ।

भोज ने इसमें 'एकान्तराख्यात' नामक एक और भेद जोड़ कर वाक्य के ग्यारह भेद माने हैं ।[1] इनमें व्याकरण के विचार क्षेत्र में एकाख्यात और अनेकाख्यात इन दो रूपों पर अधिक विचार है । क्रिया विचार के प्रसंग में कहा जा चुका है कि इस विषय में पाणिनि और वार्तिककार में मतभेद दिखाई देता है । पाणिनि के अनुसार अनेकाख्यात के योग में भी, यदि पद साकांक्ष हों, एक वाक्यत्व रहता है ।

तत्रभवन्तः मन्यन्ते बहुष्वपि तिङन्तेषु येषु अर्थलक्षणा काचिद् आकांक्षा विद्यते तेषाम् एकवाक्यत्वं न व्यावर्त्यते ।

—वाक्यपदीय २।४५० हरिवृत्ति, हस्तलेख

कात्यायन एक तिङ् वाले मत के प्रवर्तक हैं । फलतः

'पश्य मृगो धावति ।'

'अयं दण्डः हरानेन'

जैसे वाक्य एक भी हैं और नाना वाक्य भी हैं ।

---

१. शृंगार प्रकाश, पृ० १०३—१०४ मैसूर संस्करण

अस्ति स मे रोचते ।
नास्ति रमे ।
भवेदपि भवेत् ।
स्यादपि स्यात् ।
अपि भवेदेतत् भवेत् देवदत्तः ।
अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः तत्रौदनं भोक्ष्यामहे ।'
'सः स्वपिवति, एष बुद्ध्यते'

जैसे वाक्य विचार-भेद से एक वाक्य भी हैं और नाना वाक्य भी हैं। अनेक-क्रिया पद होने से नाना वाक्य हैं। परस्पर साकांक्ष होने से, क्रिया में परस्पर लक्ष्य लक्षण भाव होने से अथवा काल विशेष के लक्षण होने से एक वाक्य हैं। जो लोग वाक्य भेद का आधार बुद्धि में अन्य का उल्लेख मानते हैं, उनके मत में भी उपर्युक्त वाक्यों में एकवाक्यता है।[1]

महाभाष्यकार का एक वाक्य है :

भवति वै किंचिद् आचार्याः क्रियमाणमपि चोदयन्ति

—महाभाष्य २।४।६२, ६।१।६७

कैयट ने इसे एक वाक्य भी माना है और दो वाक्य भी माना है :

भवति वै किंचिदित्येकं वाक्यम् । अथवा चोदनक्रिया भवति क्रियायाः कर्त्री भवतीति एकमेव वाक्यम् ।—कैयट, प्रदीप ६।१।६७

विशेष उदाहरणों को छोड़ दें तो संस्कृत में वाक्य के प्रकृत स्वरूप पर विशेष विवाद नहीं है। वाक्य के विषय में दो तत्त्व संकृत में सदा से परिगृहीत हैं। पहला यह है कि वाक्य में पदक्रम का कोई नियम नहीं है। केवल निपातों के प्रयोग पर कुछ नियम हैं। दूसरा यह कि वाक्य की कोई सीमा नहीं है, वाक्य लम्बे-से-लम्बे हो सकते हैं :

न च वाक्यरूपावधिपरिग्रहे नियमोऽस्ति ।

—वाक्यपदीय २।७६ हरिवृत्ति

प्रधान वाक्य और अप्रधान वाक्य के रूप में भी वाक्य पर विचार है। प्रधान वाक्य को केवल वाक्य, अथवा महावाक्य कहते हैं। अप्रधान वाक्य को अवयव वाक्य अथवा अवान्तर वाक्य कहा जाता है।

संस्कृत में द्विष्ठ अथवा द्विगत वाक्य को भी वाक्य के एक रूप में माना गया है :

वाक्यान्यपि द्विगतानि दृश्यन्ते
श्वेतो धावति । अलम्बुसानां यातेति ॥

—महाभाष्य ८।२।३ पृ० ३८८ कीलहार्न सं०

---

१. तत्र हि खलु वाक्यभेद उपेयते यत्रासौ परामृश्यमानः अन्या बुद्धिरुल्लिखति ।
श्रृंगार प्रकाश पृ० ११६

दो अर्थ अथवा दो प्रयोजन व्यक्त करने वाले वाक्य द्विष्ठ वाक्य कहे जाते हैं। "श्वेतः धावति" को दो वाक्यों में बदला जा सकता है—

१—श्वेतः धावति।

२—श्वा इतः धावति।

संस्कृत में कतिपय ऐसे भी पद हैं जो वाक्य के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। उन्हें पदवचन वाक्य कहा जाता है।

श्रोत्रिय = जो वेद पढ़ता है।

क्षेत्रिय = जिसका रोग किसी अन्य के माध्यम से चिकित्स्य होता है।

इस तरह के शब्द पद होकर भी वाक्य का काम करते हैं।

वाक्यार्थ विचार

वाक्य के साथ-साथ वाक्यार्थ पर भी विचार सुदूर प्राचीन काल में आरम्भ हो गया था। एक तरह से वाक्यार्थ को सामने रखकर ही वाक्य पर विचार प्राचीन आचार्यों ने किया था। संग्रहकार व्याडि ने वाक्यार्थ की प्रतिष्ठा की थी और स्पष्ट सिद्धांत स्थिर किया था कि पद के स्वरूप और उसके अर्थ का ज्ञान वाक्यार्थ पर ही निर्भर करता है:

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते।[1]

महाभाष्य में वाक्यार्थ सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य मिलते हैं। एक तो यह कि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं, बाद में विशेष अर्थ व्यक्त करते हैं। पद का सामान्य से विशेष में अवस्थित होना ही वाक्यार्थ है:

पदानां सामान्ये वर्तमानानां यद् विशेषे अवस्थानं स वाक्यार्थः।

—महाभाष्य १।२।४५, भाग १ पृ० २१८, कीलहार्न संस्करण

कैयट ने इसका अभिप्राय निकाला है कि वाक्यार्थ पदार्थसंसर्ग रूप है। वाक्य ही मुख्य शब्द है और वाक्यार्थ ही मुख्य शब्दार्थ है। किन्तु भाष्यकार का यह वक्तव्य अभिहितान्वयवाद का बीज माना जा सकता है।

महाभाष्यकार का वाक्यार्थ के विषय में दूसरा वक्तव्य यह है कि जो कुछ आधिक्य रूप में सामने आता है वह वाक्यार्थ है। प्रातिपदिकार्थों में क्रिया के योग में क्रियाकृत विशेष उत्पन्न हो जाते हैं। वही आधिक्य है। वही वाक्यार्थ है।[2]

शबर स्वामी का वाक्यार्थ-निरूपण महाभाष्यकार के वक्तव्य के सदृश है। पद सामान्य वृत्ति वाला है। वाक्य विशेष वृत्ति वाला है। सामान्य में प्रवृत्त पदार्थों

---

१. वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति में संग्रहकार के नाम से उद्धृत पृ० ४२ लाहौर संस्करण

२. यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः

—महाभाष्य २।३।४५, पृ० ४६२ कीलहार्न संस्करण

प्रातिपदिकार्थानां क्रियाकृतविशेषा उपजायन्ते।

—महाभाष्य २।३।५० पृ० ४६४

का विशेष में अवस्थान वाक्यार्थ है।[1]

हेलाराज ने भी ऐसे सम्बन्ध को वाक्यार्थ माना है :

वाक्यार्थश्च सामान्ये वर्तमानानां विशेषेऽवस्थापकः सम्बन्धः।

—हेलाराज, वाक्यपदीय, गुणसमुद्देश १

वाक्यार्थ सत्यभूत है। उसकी आत्मा किसी विशेष में स्थित नहीं है। पुण्यराज के अनुसार पानकरस की भांति अर्थ विभागरहित है। पदार्थ लोहे की छड़ (अयः शलाका) की तरह है। वाक्यार्थ के संपर्क से उनमें प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है।[2]

पदार्थ में अथवा समुदाय में वाक्यार्थ की कहीं भी परिसमाप्ति नहीं होती। शृंगग्राहिक ढंग से उसके स्वरूप का विवेचन नहीं हो सकता। केवल अन्वाख्यान के लिए वाक्य के पदों में साकांक्षत्व की कल्पना कर वाक्यार्थ का निरूपण किया जाता है। वाक्यार्थ अपने आप में एक है, अखण्ड है।[3]

अभिनवगुप्त ने भी नियत एकघनाकार वाक्यार्थ का अवबोध एकाकार रूप में ही सहज माना है। इसी दृष्टि से अनुपदकार आदि ने 'हन्तेर्भूते क्विप्' में चार तरह के अवधारण का आश्रय लिया है। व्याख्यान के लिए एक वाक्य के भीतर अवान्तर वाक्य के उत्थान से वाक्य भेद नहीं होता।[4]

जैसे वाक्य एक है, अखण्ड है। वैसे अर्थ भी एक है, अखण्ड है। वाक्यार्थ का अनुगम चित्र परिज्ञान के सदृश है। जैसे शब्द का कोई विभाग नहीं होता अर्थ का भी कोई विभाग नहीं होता।[5] केवल समझने समझाने के लिए अर्थ के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

वाक्यार्थ संसर्ग रूप में अथवा भेद रूप में, अथवा भेद संसर्ग उभय रूप में गृहीत होता है। संसर्ग सम्बन्ध को कहा जाता है। भेद से तात्पर्य व्यावृत्ति से, अन्य से अलग करने से है। राज्ञः पुरुषः कहने से पुरुष-विशेष का स्वामी-विशेष से, स्वामी-विशेष का पुरुष-विशेष से जो सम्बन्ध है, वही संसर्ग है। अपने से अन्य से और स्वामी से अन्य से जो व्यावृत्ति भासित होती है वह अर्थसिद्ध है। दो वस्तुओं का सम्बन्ध जब तक अन्य सम्बन्धियों से अलग रूप में न दिखाया जाय, संसर्ग नहीं कहलाता। यह संसर्गवादियों का मत है।

जो लोग भेद को वाक्यार्थ मानते हैं उनके मत में व्यावृत्ति ही वाक्यार्थ है। जब तक अर्थ रूप में गृहीत संसर्ग का सम्बन्धान्तर से व्यावर्तन न हो, वह स्वरूप ही नहीं ग्रहण कर सकता। अतः अन्य से व्यावर्तन की प्रमुखता होने के कारण, भेदवादियों

---

१. शाबर भाष्य ३।१।१२, पृ० १५१ काशी संस्करण

२. वाक्यार्थे योऽभिसम्बन्धो न तस्यात्मा पृथक् स्थितः। व्यवहारे पदार्थानां तमात्मानं प्रचक्षते॥
वाक्यपदीय २।४४५

३. एकार्थत्वं हि वाक्यस्य मात्रयापि प्रतीयते। वाक्यपदीय २।४४८

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, भाग १ पृ० २१७

५. शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।
—वाक्यपदीय २।१३

की दृष्टि में भेद, वाक्यार्थ है।

कुछ आचार्य दोनों मतों को जोड़कर भेद और संसर्ग दोनों को वाक्यार्थ रूप में स्वीकार करते हैं।

वाक्य से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है किन्तु उस प्रतिपत्ति का कोई निश्चित प्रकार नहीं है। किसी को किसी रूप में प्रतिपत्ति होती है किसी को किसी रूप में। कोई आचार्य पाणिनि की प्रक्रिया के आश्रय से अर्थ का अवबोध करता है कोई किसी अन्य व्याकरणसम्मत प्रक्रिया से। श्रोत्रिय शब्द से वेद पढ़ने वाला व्यक्ति का बोध होता है किन्तु इस बोध की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है। किसी मत से श्रोत्रिय शब्द श्रोत्र शब्द से घ प्रत्यय से बना है और श्रोत शब्द स्वतः छन्द शब्द का आरोपित रूप है। किसी के मत में श्रोत्रिय शब्द श्रोत्र से किए गये कर्म के अर्थ में निष्पन्न होता है। अन्वाख्यान की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। भेद वाक्य-विभाग के आधार पर होते हैं। राजपुरुषः कहने से संसृष्ट रूप अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, 'राज्ञः पुरुष' कहने से विभक्त रूप में। भर्तृहरि के अनुसार भेद और संसर्ग, अध्यारोपसिद्धांत, नियमसिद्धांत अथवा अपवाद सिद्धांत की प्रक्रिया से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को बोध कराने के उपाय मात्र हैं।

वाक्यार्थ एक है, अखण्ड है। जैसे पदार्थ के ज्ञान में वर्ण के अर्थ पर ध्यान नहीं जाता वैसे ही वाक्य के अर्थ के लिए पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती।[1]

इसके विपरीत कुछ आचार्य मानते हैं कि वाक्यार्थ पदार्थ में सन्निविष्ट रहता है, पदार्थ वर्ण के अर्थ में सन्निविष्ट रहता है। वर्ण और पद भी अर्थवान् हैं। इनके अर्थ के द्वारा ही वाक्य भी अर्थवान् होता है। वाक्य और पद के अर्थ तो स्पष्ट प्रतीत होते हैं, किन्तु वर्ण के अर्थ सूक्ष्म हैं, अप्रत्यक्ष से हैं, किन्तु वर्ण वाचक अवश्य हैं। जिस हेतु के बल पर पदार्थवादी पद में अर्थ की कल्पना करते हैं, उसी हेतु के बल पर वर्ण-वादी वर्ण में अर्थ की कल्पना करते हैं।[2]

बुद्ध्यनुसंहार वाक्यवाद के समर्थक जैसे आन्तर शब्द की सत्ता मानते हैं वैसे ही आन्तरवाक्यार्थ की भी सत्ता स्वीकार करते हैं। संपूर्ण वाक्य एक शब्द है, उस शब्द के दो भाग हैं। एक भाग से अन्तः शब्द तत्त्व की अभिव्यक्ति होती हैं, दूसरे भाग से अन्तः अर्थ तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थभागैस्तथा तेषामान्तरोर्थः प्रकाशते

—वाक्यपदीय २।३१

सभी व्यवहार पहले अन्तःबुद्धि में बद्धमूल होते हैं, इसलिए सभी अर्थ आन्तरिक हैं।

भर्तृहरि ने इस विचारधारा के पोषक किसी प्राचीन सांख्य अथवा आचार्य पंचशिख का मत उद्धृत किया है। इस मत में अर्थ के भान की प्रक्रिया यों है—विषय

---

१. वाक्यपदीय २।६०

२. वाक्यपदीय २।६१-६३

(वस्तु) का बुद्धि में संक्रमण होता है, बुद्धि आत्मा से संपृक्त होती है, बुद्धि में जिस वस्तु का बिम्ब है, पुरुष भी तदात्मक हो जाता है, फलतः पुरुष को अर्थ की उपलब्धि होती है। उस उपलब्धि का भोग (विभाग ?) विषय का भोग, अर्थ का परिज्ञान होता है। इसमें सहायक दो शक्तियां हैं। भोक्तृ शक्ति और भोग्य शक्ति। ये दोनों शक्तियां असंकीर्ण हैं, अलग-अलग हैं, फिर भी अविभक्त-सी होकर भोग का निष्पादन करती हैं। यह भोग बुद्धि में घटित होता है। बुद्धि प्रकाशमयी है। उसमें चैतन्य पुरुष और वस्तु दोनों ही प्रतिबिम्बित हैं। दूसरे शब्दों में, बुद्धि पुरुषरूप और वस्तुरूप दोनों हो जाती है। इसलिए जो विभक्त है वह अविभक्त-सा हो जाता है। विभक्त का अविभक्त सा हो जाना ही भोग है। भोक्तृ शक्ति अपरिणामी है और संक्रमणशील नहीं है। वस्तु परिणामी है। किन्तु भोग्यशक्ति वस्तु में संक्रमित सी होकर वस्तुगत धर्म का अनुभव करती है। ज्ञान की प्रवृत्ति इस चैतन्य युक्त बुद्धि वृत्ति से अविशिष्ट है। भोग और ज्ञान समान है। भोग की तरह अर्थ ज्ञान भी बुद्धिसमाविष्ट है। भोक्तृ और भोग्य शक्ति की तरह प्रतिपादक और प्रतिपत्तव्य शक्ति बुद्धि में अविभक्ति-सी रहती हैं। दूसरे शब्दों में, शब्द और अर्थ दोनों बुद्धि में एकत्र अविभक्त से संपृक्त रहते हैं। ये एक ही शब्दात्मा के दो भेद हैं।[1] विषय भेद से उनका विभाग कल्पित है।

वाक्यार्थ की सत्ता बौद्ध है, बुद्ध्यात्मक है। अर्थ सदा एक बुद्धि से अवमृष्ट होता है। वह आंतरिक है। बाह्य नहीं है। किन्तु अबाह्य बाह्य रूप में प्रतीत होता है और अपोद्धार के सहारे उसका विभाग किया जाता है। यों अर्थ विज्ञानमय है, बौद्ध है, वह बाह्य रूप में प्रतिभासित होता है। बाह्य रूप में, हो चाहे वह सत् या असत्, उपचार के सहारे अपोद्धार पद्धति पर उस अर्थ का विभाग किया जाता है :

संप्रत्ययार्थाद् बाह्योऽर्थः सन्नसन्वा विभज्यते।
बाह्यीकृत्य विभागस्तु शक्त्यपोद्धारलक्षणः॥

—वाक्यपदीय २।४४६

पुण्यराज ने इस कारिका के संप्रत्यय शब्द का अर्थ बुद्धि या विज्ञान किया है। उनके अनुसार निष्कर्ष यह है कि यदि अर्थ विज्ञानाकार है किन्तु विकल्प-वासना के प्रभाव से बाह्य अर्थ के साथ एकाकार होकर सत्य रूप से बाह्य रूप में अवस्थित होता है, शब्दार्थ बाह्य है। यदि असत्य रूप में अवस्थित होता है, शब्दार्थ बौद्ध है।

अर्थ के बौद्ध या बाह्य दोनों रूप में अपोद्धार समान है। वाक्यवादी, वाक्य की ही सत्ता स्वीकार करने वाले, अखण्ड वाक्य की व्युत्पत्ति में पद-व्युत्पत्ति को उपाय (साधन) मानते हैं। पदवादी प्रकृति-प्रत्यय आदि की व्युत्पत्ति को उपाय मानते हैं।

---

१. वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति। भर्तृहरि ने यहाँ जिन वाक्यों का प्रयोग किया है वे वाक्य योगसूत्र व्यास भाष्य २।६ और ४।२२ में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ये विचार पचशिख के हैं। भर्तृहरि ने इस दर्शन का उल्लेख वृत्तिसमुद्देश ३२५ में भी किया है—

अचेतनेषु सक्रान्तं चैतन्यमिव दृश्यते।
प्रतिबिम्बकधर्मेण यतच्छब्दनिबन्धनम्॥

वाक्यों के अनन्त होने से उनकी व्युत्पत्ति स्वलक्षण से नहीं हो सकती। अतः अपोद्धार पद्धति का आश्रय लिया जाता है। दोनों पक्ष में अपोद्धार भी असत्य है। अपोद्धार में भी पद अपोद्धार की अपेक्षा अर्थ अपोद्धार अधिक युक्त है। कल्पना बुद्धि से पद का पृथक्करण अपोद्धार कहलाता है। जो ज्ञान में प्रतिविम्बित है वही बाह्य सदृश रूप में आभासित होता है। वाक्य से पद का अपोद्धार वाक्यार्थ परिकल्पना के आधार पर होता है। वाक्यार्थ स्वयं निरंश है। स्थितलक्षण है। कारक युक्त क्रिया स्वभाव है।[1]

जैसे वाक्य के बिषय में, वाक्यार्थ के विषय में भी सर्वाधिक विचार वाक्यपदीय में है। पुण्यराज के अनुसार वाक्यपदीय में निम्नलिखित छः वाक्यार्थों का निरूपण है—

१—संसर्ग वाक्यार्थ
२—संसृष्ट वाक्यार्थ
३—निराकांक्ष पदार्थ वाक्यार्थ
४—प्रयोजन वाक्यार्थ
५—क्रिया वाक्यार्थ
६—प्रतिभा वाक्यार्थ

इन छः प्रकार के वाक्यार्थ के अतिरिक्त, मीमांसादर्शन की दृष्टि से विधि वाक्यार्थवाद, नियोगवाक्यार्थवाद और भावना वाक्यार्थवाद तथा न्याय दर्शन और बौद्ध दर्शन में गृहीत वाक्यार्थ पर भी पुण्यराज ने कुछ प्रकाश डाला है और उनका उपर्युक्त भेदों में अन्तर्भाव दिखाया है।

संसर्ग वाक्यार्थ रूप में

जो आचार्य पदसंघात को वाक्य मानते हैं उनके मत में संसर्ग वाक्यार्थ है। भर्तृहरि ने इस मत के आधार के लिए महाभाष्यकार की आधिक्यवाली उक्ति उद्धृत की है। पदों में परस्पर सम्बन्ध होने पर जो आधिक्य अवगत होता है वह अनेकपदाश्रित संसर्ग है, वही वाक्यार्थ है :

सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्॥

—वाक्यपदीय २।४२

संसर्ग को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार करने वालों के भी तीन विकल्प हैं। एक जाति के सदृश वाक्यार्थ की प्रत्येक में परिसमाप्ति मानता है। दूसरा, संख्या की

---

१. ज्ञानप्रतिविम्बितस्य हि बाह्यानुकारित्वेन सादृश्यं सर्वत्र प्रकारार्थः। संकल्पितसादृश्यस्य बाह्यस्य निर्वतनात्। वाक्याच्चापोद्ध्रियमाणस्य पदस्य वाक्यार्थांशपरिकल्पनया अर्थवत एवापोद्धारो युक्तः। अर्थापोद्धार एव हि पदापोद्धारस्य निमित्तम्। अनिमित्ते हि तस्मिन् वर्णापोद्धारस्यापि प्रसंगात् तेषामपि व्युत्पाद्यता स्यात्। वाक्यार्थश्च स्थिरलक्षणो निरंशः कारकोत्कलितशरीरक्रियास्वभावः॥
हेलाराज ३।१

तरह वाक्यार्थ की परिसमाप्ति समुदाय में मानता है। तीसरा, सामान्य विरोधी विशेष विश्रान्त पक्ष का समर्थन करता है। इनका उल्लेख संघात वाक्यवाद के अवसर पर किया जा चुका है।

वाक्यार्थ का विशेष स्वरूप संसर्ग है। जो आचार्य वर्ण या पद को सार्थक नहीं मानते, उनके मत में भी पद समुदाय से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है :

यथैवानर्थकैः वर्णैः विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते।
पदैरनर्थकैरेवं विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते॥ —वाक्यपदीय २।४१६

वाक्य की असमाप्तिदशा में पदों से जो ज्ञान होता है वह इस मत में, प्रतिपत्ति का उपाय मात्र है।

अपरिसमाप्ते यद् वाक्ये सामान्यमात्रे
पदाभिधेये देवदत्तादिश्रुतेः ज्ञानमुत्पद्यते।
प्रतिपत्त्युपायएवासौ पुरस्तात् व्याख्यातः।

—वाक्यपदीय २।४१७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

पद चाहे अनर्थक हों, अथवा उपाय के रूप में सार्थक हों, सदा क्रम से उच्चरित होने पर एक विशेष अर्थ के जनक होते हैं। वह विशेष संसर्ग है :

अनर्थकान्युपायत्वात्पदार्थेनार्थवन्ति वा।
क्रमेणोच्चारितान्याहुर्वाक्यार्थं भिन्नलक्षणम्॥

—वाक्यपदीय २।५५

कुछ विचारकों के मत में अर्थ का निर्धारण अशब्द होता है। शब्द अर्थ के स्वभाव का ज्ञान नहीं करा सकता। शब्द अर्थ के अवधारण में उपायभूत नहीं हैं। शब्द केवल एक प्रकार की स्मृति मात्र जगाते हैं जो अर्थ के अवभास रूप होती है। घट, पट आदि शब्द बुद्धि में घट, पट आदि के आकार से व्यक्त करते जान पड़ते हैं किन्तु इन शब्दों में आकार की अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं है। शब्द तो अर्थ को दूर हटाता है, वह अर्थ के अववोध में विक्षेप सा उत्पन्न करता है। अर्थ का परिज्ञान अशब्द व्यापार है। वह निर्विकल्प है। अग्निदाह, हिमदाह, शस्त्रदाह जैसे शब्दों में दाह शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थ झलकते हैं। इसलिए मान लेना चाहिए कि शब्द में अर्थ के अवधारण का सामर्थ्य नहीं है। शब्द स्मृतिकल्प है।

सर्वत्र अशब्दमर्थानां स्वभावावधारणम् इत्येकेषां दर्शनम्।

—वाक्यपदीय २।४२४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

पुण्यराज ने, इस मत में पदार्थ को विपरीताख्यातिरूप अथवा असत्ख्यातिरूप माना है। पदार्थ असत्य हैं। वाक्यार्थ सत्य है। पदार्थ अपना पृथक् अर्थ रखते हों तो भी वाक्य में बिना अवस्थित हुए वे अर्थ के प्रत्यायक नहीं होते। इन्द्रियों में शक्ति होती है किन्तु शरीर के आश्रय से ही वे अपने-अपने व्यापार को कर पाती हैं। वाक्य से अलग पद में अर्थवत्ता नहीं है। वाक्य में अथवा पद में संसर्ग रूप प्रतीत ही होता है। इसलिए वाक्यार्थ का स्वरूप पदार्थ से विलक्षण है और वह संसर्ग रूप है :

संसर्गरूपं संसृष्टेष्वर्थवस्तुषु गृह्यते। —वाक्यपदीय २।४२८

संसृष्ट वाक्यार्थ रूप में

पुण्यराज के अनुसार जो आचार्य आद्यपदवाद और पृथक् साकांक्ष सर्वपदवाद के समर्थक हैं, उनके मत में संसृष्ट वाक्यार्थ है। संसर्ग वाक्यार्थ और संसृष्ट वाक्यार्थ में केवल यह भेद है कि संसर्ग वाक्यार्थ पक्ष में वाक्यार्थ में पदार्थों से वैशिष्ट्य माना जाता है। संसृष्ट वाक्यार्थ पक्ष में पदार्थों का परस्पर भाव ही वाक्यार्थ है, वाक्यार्थ में कोई आधिक्य नहीं आता। दूसरे शब्दों में, संसर्ग पक्ष में पदार्थों का वैशिष्ट्य वाक्यार्थ है। संसृष्ट पक्ष में विशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ हैं। एक पद अपने अर्थ से पहले अनुगत होकर दूसरे पदों से जुटता है। अतः पद पहले ही विशिष्ट हो गया रहता है। वह सदा विशिष्ट रूप में ही, पदान्तर के सन्नि- ध्ययन से श्रोता या अवबोद्धा को अपना बोध कराता है :

पूर्वैरर्थैरनुगतो यथार्थात्मा परः परः।
संसर्ग एव प्रक्रान्तस्तथान्येष्वर्थवस्तुषु ॥[1]

—वाक्यपदीय २।४१८

निराकांक्षपदार्थ वाक्यार्थ रूप में

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि निराकांक्ष किन्तु विशेष विश्रान्त पदार्थ ही वाक्यार्थ है। यह मत संसर्गवाद का ही एक पक्ष है। संसर्गवाद में और इसमें भेद यह है कि उसमें पद परस्पर साकांक्ष होते हैं, इसमें निराकांक्ष। संसर्गपक्ष में पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं हैं। इस मत में पदार्थ ही वाक्यार्थ है। पदार्थ विशेष विश्रान्त अवश्य हैं किन्तु उनका सम्बन्ध संसर्ग न होकर असत्त्वभूत है, उसे ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। वह प्रत्यक्ष नहीं है। वह अनुमेय है। वह सम्बन्ध अभिधेय के स्वरूप का अतिक्रमण नहीं करता :

कार्यानुमेयः सम्बन्धो रूपं तस्य न दृश्यते।
असत्त्वभूतमत्यन्तमतस्तं प्रतिजानते ॥

—वाक्यपदीय २।४६

प्रयोजन वाक्यार्थ रूप में

किसी दर्शन में पद का अर्थ अभिधेय माना गया था और वाक्य का अर्थ प्रयोजन था। इस मत में प्रयोजन वाक्यार्थ है।

---

१. पुण्यराज के अनुसार इस कारिका में संसृष्ट पक्ष का प्रतिपादन है जो अन्विताभिधानवाद के अनुकूल है—

अनेन श्लोकेनान्विताभिधानसमाश्रयणेन संसृष्टं वाक्यार्थप्रदर्शनं क्रियते। तथा हि अभिहितान्वय-वादिनः पूर्वपूर्वार्थानुगतः संसर्गः वाक्यार्थः। अन्विताभिधानवादिनस्तु उत्तरोत्तरपदार्थावगतः प्रथमतरमेव संसृष्ट एव ॥

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४१८

अभिधेयः पदस्यार्थो वाक्यस्यार्थः प्रयोजनम् ।

—वाक्यपदीय २।११४

यह मत अभिहितान्यवाद का ही एक पूर्व रूप जान पड़ता है। तात्पर्यार्थ और प्रयोजन समान हैं। वाक्यपदीयकार ने इस मत की स्वयं समीक्षा की है। प्रयोजन को वाक्यार्थ मानने पर वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध दिखाना कठिन होगा। वाक्य लोहे की शलाका की तरह होते हैं। उनमें परस्पर सम्बन्ध अभिधेय के द्वारा संभव है। किन्तु पद का अर्थ अभिधेय मानने से और वाक्य का अर्थ अभिधेय न मानने से, वाक्यों में सम्बन्ध दुर्घट होगा।

क्रिया वाक्यार्थ रूप में

आख्यात शब्द को वाक्य मानने वालों के मत में क्रिया वाक्यार्थ है। बिना क्रिया के अनुषंग के वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। कुछ के मत में क्रिया सदा शक्ति विशेष (कारक) से युक्त होकर तुल्य रूप में और अतुल्य रूप में भी विशिष्ट स्वरूप वाली ही होती है। कारक केवल बोध में उपायभूत होते हैं :

इह केचित् मन्यन्ते तुल्यरूपा चातुल्यरूपा च वाक्येषु विशिष्टैव फलरूपाभ्याम् शक्तिविशेषैः युक्ता क्रिया मुण्डि कुटि चर्चिवत् प्रक्रान्ता प्रतिपत्तॄणाम् ।

—वाक्यपदीय २।४२१ हरिवृत्ति, हस्तलेख।

मुण्डयति माणवकम्—बालक के सिर के बाल काट रहा है—इस वाक्य में मुण्डयति की व्युत्पत्ति मुण्डं करोति के रूप में की जाती है। कुछ लोगों के मत में मुण्ड शब्द सामान्य प्रवृत्ति को व्यक्त करता है, किन्तु णिच् करोति विशेष में होता है सामान्य से नहीं। कुछ आचार्यों के अनुसार मुण्ड धातु केशच्छेदन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मुण्डयति से क्रियाविशेष का स्वभावतः अभिधान होता है :

यद्यपि क्रियाविशेषाभिधायित्वं मुण्डादीनां नैवोपात्तं तथापि स्वाभाविकत्वादर्थाभिधानस्य प्रयोगादेव तदवसीयते ।

—कैयट, महाभाष्य प्रदीप ३।१।८

मुण्डयति के अर्थ में कुटयति का प्रयोग होता है किन्तु मुण्डं करोति की तरह कुटं करोति प्रयोग नहीं होता। अतः क्रिया तुल्य रूप भी है और अतुल्य रूप भी। दूसरे शब्दों में, क्रिया क्रियान्तर से भिन्न, विशेष है।

जो आचार्य एकत्व और नित्यत्व दर्शन के अनुगामी हैं वे भी मानते हैं कि वाक्य से विशिष्ट क्रिया का ही बोध होता है। वह क्रिया काल, कारक, वचन आदि से अनुगत होती है :

एकत्वनित्यत्वदर्शिनस्तु मन्यन्ते विशिष्टा हि क्रिया यथा संभवं कालसाधनद्रव्यपुरुषोपग्रहादिभिः अनुगता वाक्येनाभिधीयते ।

—वाक्यपदीय, २।४४७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

कुछ आचार्यों के मत में क्रिया में भी दो भाग होते हैं, व्यक्ति भाग और जाति भाग। क्रिया कभी व्यक्ति भाग से अर्थ को व्यक्त करती है, कभी सामान्य भाग से।

इसके विपरीत कुछ आचार्य क्रिया में जाति व्यक्ति भाव नहीं मानते हैं। जाति और व्यक्ति वस्तु के धर्म हैं, क्रिया के नहीं। क्रिया पूर्व और अपर रूप में फैली हुई इदं तत् जैसे सर्वनाम से बोध्य नहीं है। इसलिए उसमें जाति व्यक्ति नहीं संभव है। हो उसके सत्त्वभावापन्न जाने पर बात दूसरी है। क्रिया में जाति व्यक्ति धर्म के समर्थकों का मत है कि क्रिया में भी सामान्य और विशेष भाव देखा जाता है—दोनों ही अपौरुषेय हैं। अतिशययोग, समुच्चय आदि में भेद व्यवहार में क्रिया का व्यक्ति धर्म देखा जाता है। अन्यावृत्ति, अभेदैकत्व संख्या आदि में सामान्य धर्म देखा जाता है :

इह केचित् क्रियायामाकृतिव्यक्तिव्यवहारो नास्तीत्येवं प्रतिपन्नाः पदान्तर धर्ममेव तं प्रतिजानते। विप्रकृता पूर्वापरीभूता साध्यावस्था क्रिया। तस्या इदं तत् इति प्रतिप्लवमानकल्पनया व्यपदेष्टुमशक्यत्वात् जातिव्यक्तिधर्मो नास्ति।···केचित्तु मन्यन्ते, तस्यामपि सामान्यविशेषवृत्तिरूपतामात्रमस्ति हेतुः। सा तु क्वचित् व्यक्तिभागेनोपकरोति। क्वचित् सामान्यभागेन।

—वाक्यपदीय २।४६५ हरिवृत्ति हस्तलेख

क्रियावाद की छाया में एक दार्शनिकवाद भी खड़ा हो गया था। वह मानता था कि जगत् वस्तु शून्य हैं। बुद्धि ही भिन्न-भिन्न व्यवहार का मूल कारण है। बुद्धि ही साध्य (क्रिया) रूप में अथवा सिद्ध (कारक) रूप में व्यक्त होती है और शब्द से उसी की प्रतीति होती है। जो कुछ बाह्य व्यवहार है वह माया, इन्द्रजाल सा है। बुद्धि अपनी महिमा से उल्लसित होकर काल्पनिक आकार में परिणत-सी होकर भेद का जनक होती है। वस्तुतः बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है जिसमें सिद्ध और साध्य का विवाद खड़ा हो। कुछ लोग बुद्धि को आकार भेदवाली क्रिया मानते हैं। उनके मत में बाह्य अर्थक्रिया की सिद्धि अन्तः तत्त्व से गठित होती है जो अपनी मात्राओं से किंचित् विषय का निर्भास कराते हैं।[1]

भर्तृहरि ने अर्थ को सर्वशक्तिमान् माना है और प्रयोग करने वाले की विवक्षा के आधार पर वही अर्थ कभी सिद्धि रूप में और कभी साध्य रूप में प्रधान दिखाई देता है :

सर्वशक्तेरर्थस्य यः प्रदेशो यथा प्रक्रम्यते सिद्धरूपेण साध्यरूपेण वा शेषभावेन वा।

—वाक्यपदीय २।४३५ हरिवृत्ति हस्तलेख

वाक्यपदीय में विधि वाक्यार्थ, नियोग वाक्यार्थ और भावना वाक्यार्थ पर विचार नहीं मिलता। ये तीनों ही मीमांसा दर्शन के विचार के विषय हैं। इनमें विधि और नियोग लिङ्, लोट् और कृत्य प्रत्यय के अर्थ होने के कारण, केवल एक देश के छूने के कारण, इन पर विचार नहीं किया गया है। भावना वाक्यार्थवाद क्रियावाक्यार्थवाद के समान है। केवल प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ को लेकर वैयाकरण और मीमांसक में विवाद है। इनके स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है। भावना सकर्मक होती है, क्रिया अकर्मक भी

१. शृंगार प्रकाश पृ० ११४-११५ मैसूर संस्करण

होती है किन्तु दोनों ही साध्य हैं । और इस साध्य की एकता के आधार पर क्रियावाक्यार्थवाद भावना वाक्यार्थवाद को समेट लेता है ।[1]

प्रतिभा वाक्यार्थ रूप में

जो वाक्यार्थ को अखण्ड, अनंश, मानते हैं उनका ही एक वर्ग प्रतिभा को वाक्यार्थ मानता है । भर्तृहरि का एक अपना प्रतिभा दर्शन है । उन्होंने प्रतिभा को वाक्यार्थ रूप में भी लिया है :

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते ।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैं रुपपादिताम् ।—वाक्यपदीय २।१४४

देवदत्तादि के अलग-अलग अर्थ ग्रहण के अवसर पर उन पदों से एक विशेष प्रतिभा उद्बुद्ध होती है । वही वाक्यार्थ है । पुण्यराज के अनुसार शब्द स्फोट है और अर्थ प्रतिभा है । स्फोट लक्षण शब्द में कोई विभाग नहीं है । वाक्यार्थ लक्षण प्रतिभा में कोई विभाग नहीं है , वाक्य और वाक्यार्थ में अध्यासलक्षण सम्बन्ध है । पुण्यराज के अनुसार यह मत वैयाकरणों का है :

तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्यं, प्रतिभैव वाक्यार्थः अध्यासश्च सम्बन्ध इति ।

पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

असत्यभूत पदार्थों से प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है । पदार्थों का परिज्ञान अलग अलग भले ही हो, भावार्थग्रहण के समय एक ही प्रतिभा उत्पन्न होती है, वह पदार्थों से व्यतिरिक्त नहीं होती । वस्तुतः, पुण्यराज के अनुसार, प्रतिभा में एक अखण्ड भाव का परिज्ञान अभिप्रेत है, इसलिए अभिहितान्वयवाद अथवा अन्विताभिधानवाद जैसे पदार्थ-वाक्यार्थ विचारपरक किसी वाद का प्रतिभा-वाक्यार्थ में कोई स्थान नहीं है :

प्रतिभायां त्वेकरसैव प्रतिपतिरिति न तत्र काचिदभिहितान्वयान्विताभिधानचर्चा ।

पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

वस्तुतः वाक्यार्थरूप प्रतिभा से भर्तृहरि का अभिप्राय एक तरह की आन्तरिक बुद्धि से है । भर्तृहरि इस बात को मानते हैं कि उस प्रतिभा को किसी अन्य से ठीक-ठीक रूप में बताया नहीं जा सकता । वह स्वसंवेदनसिद्ध है । प्रतिभा-बल से ही पदार्थों में परस्पर संश्लेष-सा होता है । मानो प्रतिभा ही सब विषयों का आकार-सा धारण कर लेती है। वह कभी किसी शब्द से अभिव्यक्त होती है और कभी अनादि-वासना-संस्कार से उद्भूत होती है । लोक प्रतिभा को प्रमाण मानता है । पुण्यराज के अनुसार कालिदास की "सतां हि संदेह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" यह उक्ति प्रतिभा के प्रामाण्य का संकेत करती है । जिस तरह विशेष द्रव्यों के परिपाक से किसी

---

१. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१-२

विशेष अन्य यत्न के बिना ही उस द्रव्य में मद शक्ति स्वाभाविक रूप से आ जाती है उसी तरह प्रतिभा भी स्वाभाविकरूप से संस्कार के अतिरिक्त अन्य किसी साधन के बिना ही प्रबुद्ध हो जाती है। वसन्त में कोयल की कूक में माधुरी कौन भरता है? पक्षियों को घोंसले बनाने की शिक्षा कौन देता है? यह सब प्रतिभा का कार्य है। पशु-पक्षियों में आहार, द्वेष, तैरना आदि आप से आप अनादि प्रतिभा वश ही होते हैं।[1] इस तरह भर्तृहरि ने मूल प्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) और आन्तरिक ज्ञान-वृत्ति (इन्ट्यूशन) को प्रतिभा-भेद माना है। अभिनवगुप्त ने भर्तृहरि की 'प्रतिभा' की परिभाषा निम्नरूप में दी है जो उपर्युक्त तथ्यों का निष्कर्ष-सा है:

समाधान नैर्मल्यात्मिका प्रतिभा इति तत्रभवद् भर्तृहरिप्रभृतयः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृ० २०६.

प्रतिभा के छः भेद

भर्तृहरि के अनुसार प्रतिभा के निम्नलिखित छः भेद हैं:—

(१) स्वभावजन्या (स्वाभाविकी) प्रतिभा,
(२) चरणजन्या प्रतिभा,
(३) अभ्यास निमित्ता प्रतिभा
(४) योग निमित्ता प्रतिभा
(५) अदृष्टोपपादिता प्रतिभा
(६) विशिष्टोपहिता प्रतिभा

स्वाभाविकी प्रतिभा

पुण्यराज के अनुसार बन्दर आदि में जो प्रतिभा देखी जाती है वह स्वाभाविकी प्रतिभा है (स्वभावेन यथा कपिः-वाक्यपदीय २।१५३)। यहां की खण्डित हरिवृत्ति से ऐसा जान पड़ता है कि भर्तृहरि स्वाभाविकी प्रतिभा का आधार "सत्ता" को मानते हैं। भावना-अभ्यासवश सभी तरह के ज्ञान शब्दातमारूप से सत्ता अथवा "परा प्रकृति" में लीन रहते हैं। उन पूर्व संस्कारों का उद्बोध स्वभावतः होता है। स्वभावजन्य ज्ञान ही स्वाभाविकी प्रतिभा है। जिस तरह सुषुप्तावस्था में ज्ञान की सत्ता होते हुए भी वह अप्रबुद्ध-सा होता है पर नींद के टूट जाने पर स्वभावतः वह अभिव्यक्त हो उठता है उसी तरह स्वभावजन्य प्रतिभा भी संस्कार रूप में अनादि-अभ्यास वश सत्ता में पड़ी रहती है और सत्ता के भावविकार के रूप में विवर्त होने पर वह भी उद्बुद्ध हो जाती है। पक्षियों आदि के घोंसले बनाने की कला एक तरह की पैतृक प्रवृत्ति अथवा चिर-अभ्यास-संस्कार है। ऐसे संस्कार स्वभावजन्य प्रतिभा के उदाहरण के द्योतक हो सकते हैं।

अथवा स्वभावजन्य प्रतिभा से अभिप्राय स्वतः प्रकट आत्मज्ञानमयी प्रतिभा

---

१. वाक्यपदीय २।१४४ से १५१

से है। वाक्यपदीयकार ने स्वभाव शब्द का आत्मा के अर्थ में अनेक बार प्रयोग किया है। उनके अनुसार कुछ ऋषि प्रतिभात्मा में विवर्त प्राप्त करते हैं अर्थात् अपनी सृष्टि के साथ ही उन्हें प्रतिभा का भी परिज्ञान हो जाता है। परिज्ञान की प्रक्रिया को भर्तृहरि ने "स्वप्नप्रबोध वृत्ति"[1] कहा है। अर्थात् स्वप्न में बिना किसी शब्द के सुने ही जैसे ज्ञान होता है वैसे ही उन ऋषियों को बिना किसी के बताये आपसे आप ज्ञान हो जाता है। अविद्या की योनि सत्ता स्वरूप महान् आत्मा को देखते हुये वे प्रबोध प्राप्त करते हैं। स्वाभाविकी प्रतिभा से तात्पर्य इस तरह स्वतः ज्ञान कराने वाली शक्ति से है। कुछ ऋषि विद्या में विवर्तित होते हैं अर्थात् विश्व का अविद्यात्मक समस्त व्यवहार उनके लिये औपचारिक रूप में ही सत्ता रखता है, वस्तुतः वे विद्या के नित्य तत्व को स्वभावतः समझते हैं। जिस तरह स्वप्न से बिना सुने शब्द का भी परिज्ञान होता है वैसे ही वे अपनी प्रज्ञा के बल से बिना किसी के बताये ही सभी वेद, सब ज्ञान समझ जाते हैं। इस तरह की प्रतिभा स्वाभाविकी प्रतिभा है :

येषां तु स्वप्नप्रबोधवृत्त्या नित्यं विभक्तपुरुषानुकारितया कारणं प्रवर्तते तेषां ऋषयः केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तन्ते, सत्तालक्षणं महान्तमात्मानम् अविद्यायोनिं पश्यन्तः प्रतिबोधेनाभिसंभवन्ति। केचित्तु विद्यायां विवर्तन्ते···ते च स्वप्न इवाश्रोत्रगम्यं शब्दं प्रज्ञयैव सर्वमाम्नायं सर्वभेदशक्तियुक्तं अभिन्न शक्तियुक्तं च पश्यन्ति।

—वाक्यपदीय १। १४६ हरिवृत्ति

चरण निमित्ता प्रतिभा

पुण्यराज ने चरण निमित्ता आदि प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है। यह कह कर छोड़ दिया है कि इनके उदाहरण अन्वेषणीय हैं (**चरणादिषूदाहरणान्यूह्यानि**)। छपी हरिवृत्ति में इस पर यह वाक्य है : **चरणनिमित्ता काचित् प्रतिभा। तद्यथा। कारणेनैवावधृतप्रकाशविशेषाणां वसि (ष्ठादीनाम्)।** इस कठिन वाक्य का अभिप्राय क्या है? जान पड़ता है चरणनिमित्ता प्रतिभा का सम्बन्ध आचरण या तपस्याजन्य ज्ञान से है। ज्ञान को प्रकाश रूप में व्यक्त करना भर्तृहरि की शैली है। शिष्ट जनों को अतीत और अनागत को भी प्रत्यक्ष सा देखने की शक्ति आ जाती है :

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसां
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्नविशिष्यते।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥[2]

---

१. टीकाकार वृषभ ने प्रलय से सर्ग तक की अवस्था को स्वप्नवृत्ति और सर्ग से प्रलय तक की अवस्था को प्रबोधवृत्ति माना है (प्रलयात् सर्गं यावत् मात्रयाप्यदर्शनात् स्वप्नवृत्तिः। सर्गात् प्रलयं यावद् भावाववोधात् प्रबोधवृत्तिः— वृषभ-वाक्यपदीय १। ११६ टीका)।

२. वाक्यपदीय १। ३७-३८। भवभूति के निम्नलिखित श्लोक में भर्तृहरि की इन कारिकाओं

शिष्टों या वसिष्ठ आदि जैसे मुनियों की यह अद्भुत शक्ति ही चरण निमित्ता प्रतिभा का प्रतीक है। परन्तु ऐसा अर्थ करने में एक कठिनाई है। एक योग निमित्ता प्रतिभा भी है। चरणनिमित्ता प्रतिभा को उपर्युक्त रूप में ग्रहण करने पर योग निमित्ता से उसका भेद दिखलाना कठिन हो जाता है। किसी-किसी प्रज्ञाचक्षु में एक अद्भुत शक्ति देखी जाती है, गहन स्थल में छिपी वस्तु को भी वे कभी कभी बता देते हैं। इसी तरह बधिर में भी स्वप्न में शब्द श्रवण के उदाहरण मिलते हैं (?)। भर्तृहरि ने अन्यत्र बधिर और अन्ध की इस शक्ति का उल्लेख यों किया है :

स्वप्ने हि बधिरादीनां शब्दादिप्रतिपादनम्, घनसंनिविष्टावयवानां च कुड्यादीनामवयवविभागमन्तरेणान्तर्वेश्मादिषु सूक्ष्माणामर्थानां दर्शनं सर्वप्रवादेषु सिद्धम्।[1]

कार्य से कारण शक्ति का ग्रहण किया जाता है। अन्ध आदि में अद्भुत दर्शन क्षमता देखकर उनमें प्रकाशमयी प्रतिभा-रूप कारण का अनुमान करना सहज है। चरण-निमित्ता प्रतिभा का अभिप्राय ऐसी ही प्रतिभा से जान पड़ता है।

अभ्यासनिमित्ता प्रतिभा

हरिवृत्ति में इस प्रसंग पर लिखा है—'**अभ्यास निमित्ता काचित् प्रतिभा। तद् यथा-कूपतटाकादीनाम्।**' 'कूपतटाकादीनां' पाठ अशुद्ध जान पड़ता है। मेरी नम्र सम्मति में यहां "रूपतर्कादीनां" पाठ होना चाहिये। रूपतर्कादीनां के बदले कूपतटकादीनां पाठ लिपिकारों द्वारा पढ़ लिया जाना अस्वाभाविक नहीं है। "रूपतर्क' शब्द के विशेष प्रचलन न होने से ऐसा संभव हुआ होगा। रूपतर्क सौवर्णिक को कहते हैं जो सोने के सिक्के के खरे-खोटे होने की परीक्षा करते हैं (रूपं रूपकभेदा दीनारादयः तांस्तर्कयन्ति परीक्षन्त इति सौवर्णिका उच्यन्ते)।[2] भर्तृहरि ने इस शब्द का प्रयोग किया है और अभ्यासजन्य ज्ञान के प्रसंग में किया है। अभ्यासजन्य प्रतिभा से भर्तृहरि का अभिप्राय उस तरह के ज्ञान से है जिसे व्यक्ति सतत अभ्यास से प्राप्त करता है परन्तु जिसे सीधे दूसरे को नहीं बताया जा सकता। सौवर्णिक या माणिक्यपरीक्षक के ज्ञान इसी कोटि में आते हैं। जौहरी चिर अभ्यास के कारण किसी रत्न की शुद्धता की पहिचान शीघ्र कर सकता है परन्तु वह दूसरों को सरलता से अपने पहिचान के आधारों को नहीं समझा सकता। इसी तरह षडज्, ऋषभ, गान्धार, धैवत आदि स्वर भेदों को केवल संगीत मर्मज्ञ ही चिर साधना के बल पर अवगत कर पाता है। बिना

की छाया स्पष्ट है—

"आविर्भूत ज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयोभूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषिक्ता
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति।"

उत्तररामचरित—४।१८

१. वाक्यपदीय १।३६ हरि वृत्ति—पृष्ठ ५१
२. वृषभ-वाक्यपदीय १।३५ की टीका

अभ्यास के संगीत से परिचय रखने वाले भी ठीक से उन्हें नहीं समझ पाते। इसे भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है :

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम्।।[1]

अतः अभ्यासजन्य प्रतिभा का उदाहरण सौवर्णिक आदि की प्रतिभा को समझना चाहिये।

योग निमित्ता प्रतिभा

योगनिमित्ता प्रतिभा से तात्पर्य योगियों की उस शक्ति से है जिसके बल से वे दूसरे मनुष्यों के अभिप्राय आदि तुरन्त ठीक-ठीक अवगत कर लेते हैं—जिसके बल से उनमें सर्वज्ञता आती है।

अदृष्ट निमित्ता प्रतिभा

भूत, प्रेत, पिशाच आदि में दूसरे पर सवार होने (परावेश) और अन्तर्धान होने की क्षमता देखी जाती है। उनमें एक तरह की अदृष्ट-शक्ति देखी जाती है। अदृष्टनिमित्ता प्रतिभा से भर्तृहरि का अभिप्राय ऐसी ही शक्ति से है।

विशिष्टोपहिता प्रतिभा

कभी-कभी कोई विशिष्ट व्यक्ति अपनी ज्ञान-राशि का संक्रमण किसी अन्य में कर देते हैं। इससे दूसरा व्यक्ति भी उस विशेष ज्ञान का वाहक हो जाता है। कृष्ण द्वैपायन (व्यास) ने संजय में ऐसी शक्ति का संक्रमण किया था जिससे संजय को दिव्य-दृष्टि मिल गई थी। इस तरह की अन्य द्वारा अन्य में आहित प्रतिभा का नाम विशिष्टोपहिता प्रतिभा है।

इस तरह प्रतिभा के अनेक भेद हैं। वह वाक्य प्रतिपाद्य है, और सभी वाक्यों का अधिष्ठान भी वही है। वह व्याकरण से परे की वस्तु है। व्याकरण के काल क्रम से विनष्ट हो जाने पर भी और अन्य शक्तियों के नाश हो जाने पर भी उसमें शब्द बीज संनिविष्ट रहते हैं और समय पाकर वही प्रतभिा विवर्त प्रक्रिया के आधार पर वर्ण पद वाक्य रूप में पुनः आभासित होती है :

एवं प्रतिभा बहुविधापि सर्वैवागमिकवाक्यनिबन्धना वाक्यप्रतिपाद्या व्याकरणात्ययेपि सर्वशक्तिप्रत्यस्तमये प्रत्यस्त मितनिविष्टशब्दशक्तिबीजकारणान्तर्भूता निबद्धबीजा वृत्तिकाले प्रथमं सूक्ष्मेणापि वर्त्मना विवर्तमात्रामनुभूय क्रमेण वर्णवाक्यनियताभिरवस्थाभिः संमूर्च्छन्ती प्राप्तबीजपरिपाकाकारा पुनः पुनः व्यक्तेन रूपेण प्रत्यवभासते।

—वाक्यपदीय २।१५३ हरिवृत्ति।

---

१. वाक्यपदीय १।३५

भर्तृहरि के अनुसार करण, स्थान, प्रयत्न आदि का परिज्ञान व्यक्ति की प्रतिभा के द्वारा ही, बिना किसी अन्य के बताये, आपसे आप हो जाता है। क्योंकि शब्द भावना अनादि है, वह पौरुषेय नहीं है :

अनादिश्चैषा शब्द भावना।......नह्येतस्याः कथंचित् पौरुषेयत्वं संभवति। तथा ह्यनुपदेशसाध्याः प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादयः।

—वाक्यपदीय, १।१२३ हरिवृत्ति

प्रतिभा के सम्यक् अवबोध से क्षेम की प्राप्ति होती है :

तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकार-प्रकृतिं सत्तां साध्यसाधन शक्तियुक्तां सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।

वही, पृष्ठ ११८

भर्तृहरि के आधार पर भोज ने भी प्रतिभा का स्वरूप दिया है :

स्वं स्वमर्थमभिधायोपरतेषु पदेषु पदार्थप्रतिपत्त्यनन्तरमुपजायमाना इदं तदिति व्यपदेश्यानुपदेशसिद्धा हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुः प्रवृत्त्यनुकूला बुद्धिः प्रतिभा। तथाहि पदनिबन्धनानां पदावयवनिबन्धनानां चार्थप्रत्यवभासमात्राणां अविच्छेदेन प्रवृत्तौ पदार्थैः क्रमेण गृह्यमाणैः आहितसंस्कारासु बुद्धिषु सर्वार्थप्रत्यवभास-संसर्गानुगृहीता प्रत्यस्तमितभेदप्रत्यवभासा प्रवृत्तिफलप्रसवानुमेया अभिन्न-जातीयैव प्रतिभा प्रत्यात्मं विवर्तते।

—शृंगार प्रकाश पृ० २१३

प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में भी प्रतिभा सहायक है। जब तक प्रतिभा शब्द के माध्यम पूर्व-अपर का प्रत्यवमर्श नहीं करती, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान अपना काम नहीं कर पाते हैं। सभी प्रमाण प्रतिभा से उपगृहीत होकर प्रमाणता प्राप्त करते हैं।

प्रत्यक्षानुमानविषयेऽपि यावत् पूर्वापरप्रत्यवमर्शः शब्दोल्लेखवान् प्रतिभया न क्रियते तावत् प्रत्यक्षमनुमानं वा स्वकार्यं न प्रसाधयति। प्रतिभोपगृहीतानि सर्वप्रमाणानि प्रमाणतां लभन्ते।

—शृंगार प्रकाश, पृ० २१३

भोज ने षट् प्रकार की प्रतिभा का काल, अभ्यास, योग, ध्यान और अनुध्यान के आधार पर विभाजन किया है और इन्हें पूर्वजन्म के शब्दश्रवण जनित संस्कारों का उद्बोधक माना है। कभी वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिभा रूप अर्थ का उन्मीलन हो जाता है, कभी निमित्तान्तर के सान्निध्य में चिर व्यवहित भी विशिष्ट प्रतिभा-भावनाबीज के संनिवेश से वही वाक्य परंपरया प्रतिभारूप स्वार्थ का आविर्भाव करता है। प्रतिभा वाक्यार्थ है। (शृंगार प्रकाश पृ० २१४)

कुमारिल भट्ट ने प्रतिभा वाक्यार्थवाद को आंशिक रूप में स्वीकार किया है और आंशिक रूप में इसकी समीक्षा की है। वाक्य के प्रयोजन अथवा जन्यत्व रूप में प्रतिभा को स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु यदि प्रतिभा-किसी-न किसी रूप में बाह्य अर्थ से सम्बद्ध है तो इस वाद में आपत्ति है। बाह्य अर्थ नियत-

स्वभाव वाला होता है। किन्तु एक ही अर्जुन चरित, वीर पुरुष में हर्ष और भीरु में भय उत्पन्न करता है। प्रतिभा वाक्यार्थवाद में इसकी उपपत्ति नहीं बैठती (श्लोक वार्तिक, वाक्याधिकरण ३२५-३३०)।

वाक्यार्थ के अनुग्राहक वाक्य के धर्म

भर्तृहरि ने पदार्थनिबन्धन वाक्यधर्मों का उल्लेख किया है। वाक्य के ऐसे धर्म लक्षण नाम से भी उन दिनों ज्ञात थे। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड में इन पर विशेष विचार किया था। किन्तु वह भाग (लक्षण समुद्देश) दशवीं शताब्दी तक लुप्त हो चुका था। लक्षणों के एक भेद बाधा पर विशेष विचार 'बाधा समुद्देश' में भर्तृहरि ने किया था। वह भी आज अनुपलब्ध है। किन्तु वाक्यकाण्ड में लक्षणों की एक लम्बी सूची वाक्य के धर्म के रूप में मिलती है। पुण्यराज ने उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भोज ने भी शृंगार प्रकाश में वाक्यपदीय के आश्रय से इन वाक्यधर्मों पर विचार किया है। डा० वी० राघवन् का ध्यान इस पर गया था और उन्होंने भर्तृहरि, पुण्यराज और भोज द्वारा व्यवहृत वाक्यधर्मों का तुलनात्मक उल्लेख अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भोज के 'शृंगार प्रकाश' में किया है।[1]

लक्षण अनुपपत्ति के विचार के आधार पर कहा जा चुका है कि भर्तृहरि ने लक्षणों की संख्या विचार भेद से छः, बारह अथवा चौबीस बताई है। किन्तु ये छः बारह अथवा चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं, इसका संकेत वाक्यपदीय में नहीं है। भर्तृहरि ने जिन नामों को गिनाया है वे चौबीस से अधिक हैं। पुण्यराज ने इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार इन लक्षणों का सम्बन्ध मूल रूप में मीमांसा दर्शन से है। पद-पदार्थ के विचार के अवसर पर इन लक्षणों पर विचार उपयोगी समझ कर भर्तृहरि ने इन्हें अपनाया है।

जैमिनि का मीमांसादर्शन बारह अध्यायों में विभक्त है। इसके पहले छः अध्यायों में प्रत्यक्षविहित धर्म-कर्मों की इतिकर्तव्यता पर विचार है। दूसरे छः अध्यायों में अविहित इतिकर्तव्यता पर विचार है।

मीमांसादर्शन के पहले छः अध्याय को प्रकृति षटक् कहा जाता है। इन्हें उपदेश षटक् भी कहते हैं।

प्रथम अध्याय में विधि, अर्थवाद, मंत्र और स्मृति पर विचार है, गुणविधि और नामधेय का उल्लेख है, संदिग्ध अर्थों का वाक्यशेष के सहारे अर्थनिर्णय की प्रक्रिया बताई गई है। इनमें वेद का प्रामाण्य (विधि) मुख्य है और अन्य प्रासंगिक हैं।

द्वितीय अध्याय में प्रधान-अप्रधान, भिन्न-अभिन्न पर विचार है। षड्विध कर्म-भेद का विवेचन है। मुख्य प्रतिपाद्य भेद है।

तृतीय अध्याय में श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्यान द्वारा शेषविनियोगलक्षण वर्णित है। शेषशेषिभाव प्रतिपाद्य है।

---

१. भोजाज शृंगार प्रकाश, पृ० ७२९-७३५

चतुर्थ अध्याय में क्रत्वर्थ, पुरुषार्थ पर विचार है। प्रयोजकाप्रयोजक भाव (प्रयुक्ति) प्रतिपादित है।

पंचम अध्याय में श्रुति, अर्थ, पाठ, प्रवृत्ति, काण्ड और मुख्य के रूप में क्रम-नियमलक्षण पर विचार है। क्रम पतिपाद्य विषय है।

षष्ठ अध्याय में अर्थी, समर्थ अधिकारी का निरूपण है।

इस तरह प्रथम छः अध्यायों में क्रम से दिधि, भेद, शेषशेषिभाव, प्रयुक्ति, क्रम और अधिकारी का प्रतिपादन किया गया है। षट् लक्षण से तात्पर्य इन्हीं छः लक्षणों से हो सकता है :

एवं विधिभेद शेषशेषिभावप्रयुक्तिक्रमाधिकारिणां प्रतिपादनायाध्यायाः षडिति षट् लक्षणानि।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७

जो आचार्य केवल छः लक्षण मानते होंगे और बारह अथवा चौबीस लक्षण के पक्ष में नहीं होंगे उनका अभिप्राय संभवतः यह होगा कि मीमांसासूत्र के प्रथम छः अध्यायों में ही मौलिक लक्षण आ जाते हैं। बाद के छः अध्यायों में, उनके मत में, मौलिक लक्षण प्रतिपादित नहीं हैं। सातवें अध्याय में ऐन्द्राग्न आदि के धर्म बताए गये हैं। आठवे अध्याय में, ये धर्म इसके हैं बताया गया है। नवम अध्याय में उनकी प्रयोग-प्रक्रिया समझाई गई है। दशवें, ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में उनकी इयत्ता, इतने प्रयोग किए जाने चाहिए, इससे अधिक नहीं, का वर्णन है। अतः प्रकृतिषट्क —प्रथम छः अध्याय से प्रतिपाद्य लक्षण ही षट्लक्षण हैं।

द्वादशलक्षण के पक्ष में, बारहों अध्याय से प्रतिपादित लक्षण द्वादश लक्षण माने जाते हैं। इनमें प्रथम छः अध्यायों से प्रतिपाद्य छः लक्षण और शेष छः अध्याय से प्रतिपाद्य छः लक्षण, कुल मिलाकर बारह लक्षण हो जाते हैं। शेष छः अध्यायों में सातवें अध्याय में सामान्यातिदेश पर विचार है। आठवें में विशेषातिदेश की चिन्ता है। नवम अध्याय में ऊह पर ऊहापोह है। दशम अध्याय में बाधा का निरूपण है। ग्यारहवें अध्याय में तंत्र-विचार है और बारहवें अध्याय में प्रसंग की चर्चा है। इन छः अध्यायों को अतिदेश षट्क कहा जाता है। इस तरह इनमें क्रम से सामान्यातिदेश, विशेषातिदेश, ऊह, बाधा, तंत्र और प्रसंग—ये छः लक्षण प्रतिपादित हैं। पहले के छः लक्षण और ये छः लक्षण मिलकर कुल द्वादश लक्षण हो जाते हैं।

चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं? इनकी असंदिग्ध पहिचान पुण्यराज को भी नहीं थी। चौबीस लक्षण के नामतः स्वरूप निर्धारण करने के लिए उन्होंने एक कल्पना की है। उनके मत में जो द्वादश लक्षण द्वादश अध्याय के बल पर स्वीकृत हैं इनके प्रतिपक्ष रूप में भी दूसरे द्वादश लक्षण इन अध्यायों में वर्णित हैं।[२] पूर्व के मूल बारह लक्षणों में, पुण्यराज के अनुसार, प्रमाण (विधि) का प्रतिपक्ष संभव नहीं है। सामान्या-

---

२. एतत प्रतिपक्षभूतान्यन्यानि द्वादश यथायोगमेतेष्वेवाध्यायेषु दर्शितानि—

पुण्यराज, वाक्यपदीय—२।७७

तिदेश और विशेषातिदेश के प्रतिपक्ष का संकेत भर्तृहरि ने नहीं किया है। शेष के प्रतिपक्ष अथवा अपवाद होते हैं जो निम्नलिखित हैं :

लक्षण	**प्रतिपक्ष / अपवाद**
प्रमाण (विधि)	—
भेद	अभेद
शेषशेषिभाव	गुणप्रधानभावाविवक्षा
प्रयुक्ति	अप्रयोजक
क्रम	अविवक्षा
अधिकारी	क्रियान्तरव्युदास
सामान्यातिदेश	—
विशेषातिदेश	—
ऊह	संबंधबाध
बाध	(क) समुच्चय (ख) विकल्प
तंत्र	आवृत्ति
प्रासंगिक	भेद

इस तरह से प्रतिपक्ष अथवा अपवाद रूप में अभेद, गुणप्रधानभावाविवक्षा, अप्रयोजक, अविवक्षा, क्रियान्तरव्युदास, संबंधबाध, समुच्चय, विकल्प, आवृत्ति और भेद। ये दस लक्षण और हो जाते हैं। सब मिलकर २२ लक्षण हो जाते हैं। अवशेष दो लक्षण के विषय में पुण्यराज की कोई निश्चित धारणा नहीं है। उन्होंने लिखा है कि शेष दो लक्षण 'लक्षणसमुद्देश' में ढूंढ़ना चाहिए। अथवा सामान्यातिदेश का भी अपवाद सामान्यातिदेश का अभाव मान लेना चाहिए। इसी तरह विशेषातिदेश का प्रतिपक्ष सामान्यातिदेश अथवा विशेषान्तरातिदेश मानकर अवशेष दो लक्षणों की पूर्ति कर लेनी चाहिए। इस तरह से २४ लक्षण हो जाते हैं—

> **इत्येवमादिभिः सह द्वाविंशतिर्लक्षणानि भवन्ति। द्वे लक्षणे समुद्देशादूह्ये। अथवा सामान्यातिदेशस्य तदभाव एवापवादः। विशेषातिदेशस्य सामान्यातिदेश एव विशेषान्तरातिदेशो वेत्यनयोः सप्रतिपक्षत्वमाश्रित्य चतुर्विंशतिः सम्पद्यन्त इत्येवमनेन क्रमेणैतानि लक्षणानि। एतदेव मनसिकृत्य षड् द्वादश चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीत्युक्तम्।**
>
> —पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।७७-८८ में जिन वाक्य धर्मों का उल्लेख किया है वे निम्न लिखित हैं : प्रासङ्गिक, तंत्र, आवृत्ति, भेद, बाध, समुच्चय, ऊह, सम्बन्धा, बाध, सामान्यातिदेश, विशेषातिदेश, अर्थित्व, सामर्थ्य, अर्थभेद, अधिकार, क्रियान्तर-व्युदास, श्रुत्यादिक्रम, क्रमबलाबल, अविवक्षितक्रम, पराङ्ग, अप्रयोजक, प्रयोजक-नान्तरीयक, प्रधान, शेष, विनियोगक्रम, साक्षादुपकारी, आराद् विशेषक, शक्तिव्यापार भेद, फलभेद, सम्बन्धजभेद, अविवक्षितभेद, प्रसज्यप्रतिषेध, पर्युदास, गौण, मुख्य,

व्यापि, गुरु, लाघव, अङ्गाङ्गिभाव, विकल्प, नियम, योग्यता, लिंगाद्भेद, अपोद्धार।

भोज के अनुसार वाक्य के धर्म निम्न लिखित हैं : प्रधान, शेष, प्रयोजक, अप्रयोजक, नान्तरीयक, मुख्य, गौण, व्यापक, लघु, गुरु, अर्थवाद, अनुवाद, भेदविवक्षा, अभेदविवक्षा, व्यवहितकल्पना, उपचारकल्पना, तद्भावापत्ति, योग्यतापत्ति, सम्बन्धाबाधन, विकल्प, समुच्चय, नियम, निषेध, प्रतिनिधि, ऊह, बाध, तंत्र, प्रसंग, आवृत्ति, भेद, समान्यातिदेश, विशेषातिदेश, अधिकार, अध्याहार, विपरिणाम, वाक्यशेष, अवधि, अपोद्धार, अनिर्ज्ञातप्रश्न, क्रियान्तरव्युदास, लिङ्गाद्भेद लिंगादिभेद, शब्दान्तरादिभेद, शक्तियादिभेद, श्रुत्यादिविनियोग, श्रुत्यादिबलाबल, श्रुत्यादिक्रम, क्रमसंभेद।[3]

भोज द्वारा दिए हुए वाक्य के धर्मों का भी उल्लेख वाक्यपदीय और उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति में यत्र-तत्र मिल जाता है। भोज ने उनका एकत्र चयन कर दिया है। हम पहले भर्तृहरि द्वारा दिए हुए वाक्यधर्मों पर पुण्यराज और भोज के सहारे विचार करेंगे।

प्रासंगिक : भर्तृहरि ने वाक्यधर्मों में सर्व प्रथम प्रासंगिक की चर्चा की है। मीमांसादर्शन में प्रसंग पर विचार अंतिम अध्याय में किया गया है, वह अंतिम लक्षण है। प्रमाण (विधि) आदि लक्षण हैं। आदि को प्रथम न लेकर अंतिम के प्रथम ग्रहण में क्या हेतु है ? पुण्यराज के अनुसार भर्तृहरि न्याय मात्र का प्रामाण्य मानते हैं। न्याय मात्र का चाहे वह जिस किसी भी दर्शन-क्षेत्र का हो, विचार के लिए अपने दर्शन में स्थान देते हैं। यहां सामान्य रूप से वाक्य के धर्मों पर विचार अपेक्षित है जो पद-पदार्थ की व्यवस्था में उपयोगी है, वेदविधि के प्रमाण्य-अप्रामाण्य से यहां कोई प्रयोजन नहीं है।[4]

शबरस्वामी ने प्रसंग की एक प्राचीन परिभाषा उद्धृत की है : **एवमेव प्रसंगः स्यात् विद्यमाने स्वके विधौ**—अन्यत्र किया गया का अन्यत्र आसक्ति प्रसंग है। जैसे किसी प्रासाद पर किया गया आलोक राजमार्ग को भी प्रकाशित करता है।[5] भर्तृहरि ने महाभाष्य त्रिपादी में प्रसंग की परिभाषा यों दी है : **यद्अर्थी प्रयोजकः (यदर्थाप्रयोजकः) अन्यद्वारेणार्थं प्रतिपद्यते स प्रसंग इत्युच्यते**।[6] अर्थी अप्रोजक यदि किसी दूसरे के आश्रय से अर्थ की प्राप्ति करता है, प्रसंग कहलाता है, जैसे 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः' इस वाक्य में आम्र सेचन क्रिया के प्रयोजक हैं, पितर अप्रयोजक हैं, आम के लिए डाले गये जल को वे भी प्रसंग से पा लेते हैं।

पुण्यराज ने, संभवतः हरिवृत्ति के आधार पर, प्रसंग का लक्षण दिया है :

द्वयोरर्थिनोः कार्येण संभाविना प्रयोजकत्वेन निर्ज्ञातसामर्थ्ययोः यत्र अन्यतर-

---

३. शृंगारप्रकाश, पृष्ठ ३०७ मैसूर संस्करण।

४. यद्यपि परेषां चोदनैव प्रमाणं प्रसिद्धं तथापीह टीकाकारो न्यायमात्रस्य प्रामाण्यमंगीकरोति। अतएव चोदनायामेव प्रामाण्यस्याभावात् प्रथममेव लक्षणनिदर्शनं न कृतम्।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७

५. शाबरभाष्य १२।१।१ पृ० ३०८ काशी संस्करण।

६. महाभाष्य त्रिपादी, पृ० ४५ पूना संस्करण।

प्रयुक्तेन अर्थेन अपरोऽभिसम्बध्यमानः कृतार्थत्वात् पृथक् प्रयोजकत्वं नोपैति स प्रसंगः। तत् प्रयोजनकं प्रासङ्गिकम्।[7]

जहां दो कार्य होने वाले हों, जिनका प्रयोजक रूप में सामर्थ्य ज्ञात हों, यदि एक के प्रयोग से दूसरा भी सम्बद्ध रूप में, सफल-सा होकर प्रयोजक नहीं बनता है, उसे प्रसंग कहते हैं। प्रसंग के प्रयोजनक को प्रासंगिक कहते हैं। भोज ने भी पुण्यराज वाला लक्षण दिया है। प्रासंगिक का लौकिक उदाहरण संघाताध्ययन है। 'ये अध्यापक हमारे अध्यापन के लिए हैं, तुम भी इन्हीं से पढ़ो।' व्याकरण में प्रसंग का उदाहरण 'सर्वादीनि सर्वनामानि' १।१।२७ सूत्र में णत्व का अभाव माना जाता है :

सर्वादीनि सर्वनामानीत्यत्र णत्वाभावं प्रासंगिकमुदाहरन्ति।[8]

भोज ने प्रासंगिक की एक दूसरी भी परिभाषा दी है :

यच्चान्यद् आचक्षाणोऽन्यदप्याचष्टे तदपि प्रासंगिकम्।[9]

दूसरी बात कहते हुए यदि कोई अन्य बात का भी साथ ही उल्लेख हो जाय, वह भी प्रासंगिक है। जैसे कुमारसंभव में कालिदास ने काम के बाणप्रहार के समय का चित्र देते हुए धनुर्विद्या के रूप पर भी प्रकाश डाला है।[10]

तंत्र : दूसरा वाक्यधर्म तंत्र है। एक ही अर्थ की सिद्धि की इच्छा रखने वाले कई अर्थों के प्रयोजक के अभेद से अथवा आवृत्ति द्वारा, संभव की दृष्टि से और लाघव की दृष्टि से, उस अर्थ का एक ही प्रयोग करते हैं। वह तंत्र है।

यत्रार्थिनः सर्वे प्रयोजकाभेदेनावृत्त्या वा योऽर्थः प्रतिपत्तव्यस्तमर्थम् एकमेव सम्भवात् लाघवाच्च प्रयोजयन्ति तत् तन्त्रम्।[11]

भोज ने भी ऐसा ही लक्षण दिया है। पढ़ने वाले सभी छात्र शाला में एक ही दीप से काम ले लेते हैं। अथवा जैसे कठाध्यायी शतपथिकों की शाला में जलाया गया दीप व्याकरण पढ़ने वालों के भी काम आता है। जहां एक ही वस्तु से कई प्रयोजनार्थी एक साथ काम निकालते हैं वहां तंत्र माना जाता है। भर्तृहरि ने 'श्वेतो धावति' वाक्य में तंत्र माना है। शब्द की शक्ति का तंत्र द्वारा शक्ति-अवच्छेद मात्र किया जाता है। एक ही पुरा शब्द पुरा के अर्थ में भी आता है, सह वचन भी है; एक ही आरात् शब्द संनिकृष्ट अर्थ में देखा जाता है और विप्रकृष्ट अर्थ में भी। इसी तरह श्वेत शब्द अनेक शक्ति से युक्त है। प्रतिपत्ता व्यक्ति शक्ति-अवच्छेद के द्वारा अर्थ-

---

७. पुण्यराज—वाक्यपदीय २।७७

८. तुलना कीजिए—लोकेऽप्ययं णत्वरहित एव प्रयुज्यते।
तस्यात्र प्रसंगेन साधुत्वं प्रतिपाद्यते॥
—कैयट, प्रदीपोद्योत १।१।२७

सभवतः पुण्यराज और कैयट दोनों ने भाष्यत्रिपादी से इस तथ्य को लिया है।

९. शृंगार प्रकाश, पृ० ३१९

१०. कुमार सभव ३।७०

११. वाक्यपदीय, पुण्यराज, २।७७

बोध करते हैं। अर्थान्तर से मानो दो शब्दों का उच्चारण किया गया हो। जैसे एक ही प्रदीप अर्थी व्यक्तियों को आवृत्ति से (तंत्र से) आलोक देकर काम निकाल देता है। शब्द में भी ऐसी शक्ति है कि वह तंत्र से दो शब्द के उच्चारण जान पड़ता है।[१२] जैसे अर्थ द्विगत होता है, शब्द भी द्विगत होता है। लोक में शब्द के प्रयोग में कभी क्रम और कभी यौगपद्य का आश्रय देखा जाता है। जैसे अक्षः भज्यताम्, अक्षः भक्ष्यताम्, अक्षः दीव्यताम्। इस वाक्य में भक्ष्यताम् क्रिया का अक्षः से क्रम से संबंध दिखाया गया है। 'अक्षाः भज्यन्तां भक्ष्यन्तां दीव्यन्ताम्' इस वाक्य में क्रम उपसंहृत है। भज्यन्तां आदि का अक्ष से एक साथ अन्वय हो जाता है। यह भी तंत्र का एक रूप है। अभेदैकत्व संख्या दूसरी संख्या के साथ तंत्रिणी मानी जाती है।' आस्यते भवद्भ्याम्' 'आस्यते भवद्भिः।' इसमें 'आस्यते' में एकत्व का सम्बन्ध द्वित्व, बहुत्व से भी हो जाता है। प्रश्न में भी बहुत्व संख्या एकत्व और द्वित्व की तंत्रिणी होती है। 'कति भवतः पुत्राः' इस प्रश्न में बहुत्व का सम्बन्ध एकत्व और द्वित्व से भी है। इसी तरह नपुंसक का स्त्री और पुरुष से तंत्र सम्बन्ध संभव है जैसे 'किम् जातमस्य' का उत्तर 'पुत्रःजातः' 'पुत्री जाता' दोनों हो सकता है। 'गोस्वामी व्रजति' और 'गवां स्वामी व्रजति' जैसे वाक्यों में विभक्ति भी तंत्रिणी होती है। 'गोस्वामी व्रजति' वाक्य से कर्म 'अरण्य' का आक्षेप सम्बन्धिविशेष के रूप में हो जाता है; 'गवां स्वामी व्रजति' कहने से षष्ठीविभक्ति द्वारा स्वस्वामिभाव के व्यक्त हो जाने के कारण व्रजति क्रिया से कर्म का भान अनियत ही रह जाता है। कभी-कभी प्रधान क्रियाविषयक धातु से उत्पन्न प्रत्यय अप्रधानक्रियाविषयक शक्ति को भी तंत्र द्वारा समेट लेता है। 'इष्यते ग्रामो गन्तुम्' जैसे वाक्य में 'इष्यते' प्रधान क्रिया का प्रत्यय अप्रधान गमन क्रिया को भी साथ ले लेता है। 'पक्त्वा अत्र ओदनो भुज्यते' इस बाक्य में भोजन क्रिया प्रधान और पाचन क्रिया अप्रधान है। अप्रधान का भी तंत्र द्वारा, पहले पकाता है, बाद में भोजन करता है के रूप में, ग्रहण हो जाता है। अथवा गुण-विषयक शक्ति अनभिहित होती हुई भी प्रधान क्रिया के अनुरोध से अभिहित के सदृश जान पड़ती है। भोज ने पद और वाक्य की तरह दो प्रयोजन को सिद्ध करने वाले प्रकरण और प्रबन्ध को भी तंत्र माना है।

व्याकरण शास्त्र में 'तपरस्तत्कालस्य' १।१।७० में तपर शब्द तंत्र के आधार पर बहुव्रीहि समास के रूप में (तःपरो यस्यात् सोऽयं तपरः) और पंचमी तत्पुरुष के रूप में (तादपि परः तपरः) दोनों तरह से गृहीत होता है। लम्बे प्रसारिततन्तु को तंत्र कहा जाता है। जैसे वह अनेक तिरछे किए हुए तन्तुओं का अनुग्राहक होता है वैसे ही शास्त्र में जब एक अनेक लक्ष्य अनुग्राहक होता है, तंत्र कहलाता है—तंत्र प्रधान को भी कहा जाता है। सिद्धान्त भी तंत्र शब्द से अभिप्रेत होता है! महाभाष्यकार ने निर्देश और विवक्षित के सम्बन्ध में तंत्र शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है।[१३]

---

१२. महाभाष्य त्रिपादी, पृ० ४५ पूना संस्करण

१३. तंत्रं तरनिर्देशः महाभाष्य १।२।३३, तत्र यः प्राधान्ये वर्तते तन्त्रशब्दः, तस्येहग्रहणम्—महा भाष्य १।४।५४

शबरस्वामी ने तंत्र को साधारण धर्म-समूह के अर्थ में ग्रहण किया है।[१४]

आवृत्ति : एक क्रिया पदार्थ अथवा कारक पदार्थ का अपने अभिन्न रूप से पर्याय रूप में अनेकस्थलों में उपस्थित होना आवृत्ति कहलाता है। एक साथ न भोजन करने वाले यदि कई व्यक्ति हों और थाली एक ही हो, बारी-बारी से एक ही थाली सबके भोजन का पात्र बन जाती है। एक ही वस्त्र या भूषण रंगमंच पर अनेक नटों के लिए बारी-बारी से उपयोगी हो जाता है। वार्तिककार ने 'आवृत्तिसंख्यान' के रूप में आवृत्ति का व्यवहार किया है। महाभाष्यकार ने इसके लौकिक उदाहरण में कहा है कि एक ही कपिला गाय को सहस्र ऋषियों ने बारी-बारी से सहस्र बार देकर सहस्र दक्षिणा का फल प्राप्त किया था।[१५] व्याकरण शास्त्र में एकाच्—अनेकाच् ग्रहणों में आकृतिसंख्यान के आश्रय से घटेन तरति जैसे स्थलों में द्व्यच्लक्षण ठन् प्रत्यय होता है। कैयट के अनुसार आवृत्तिभेद से भी भेदाश्रयकार्य की प्रवृत्ति देखी जाती है।[१६] इग्यणः संप्रसारणम् १।१।४५ सूत्र में तंत्र अथवा आवृत्ति के आधार पर वाक्यार्थ और वर्ण दोनों के पक्ष में दो तरह से अर्थ किए जाते हैं। भाषा में क्रियापद की आवृत्ति और कारक पद की आवृत्ति के उदाहरण अलंकृत रचना में बराबर मिलते हैं। जैसे—

'शशिना च निशा निशया च शशी विभाति'।

'सीता विस्मयते निरीक्ष्य हरते दृष्टिं झटित्याकुला'।[१७]

भेद : जहां पर वस्तु अपने स्वरूप सामर्थ्य से अनेकत्व प्राप्त करती है, भेद माना जाता है। जैसे पात्र सहभोजी व्यक्तियों के लिए भेद रूप में ही भोजन के आधार होते हैं।[१८] वेद में भी 'ग्रहं संमार्ष्टि:' जैसे स्थलों में ग्रह विषयक संमार्जन भेद रूप में किया जाता है। व्याकरणशास्त्र में भी 'न वेति विभाषा' १।१।४४ इस सूत्र के प्रत्याख्यानपक्ष में उभयत्रविभाषा का कभी विधि रूप में, कभी प्रतिषेध रूप में, भेदाश्रित प्रवृत्ति होती है। भोज ने इस भेद का क्रियाभेद और शब्दभेद के रूप में दिखाया है। शब्द भेद भी पद और वाक्य भेद से दो तरह का और वाक्यभेद भी प्राकृत, वैकृत भेद से दो तरह का होता है। 'जायन्ते च म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः वाक्य में 'क्षुद्रजन्तवः' में क्षुद्र और जन्तवः रूप में पदभेद माना जाता है।

बाध : अर्थित्वसामान्य के आधार पर अथवा उपदेश के आधार पर, प्रवृत्ति के संभव होने पर भी, दृष्ट-अदृष्ट अर्थों में तुल्यबल वाले विरोधी अथवा अविरोधी

---

१४. तंत्रं साधारणो धर्मग्रामः, शाबरभाष्य १२।१।१

१५. महाभाष्य, पृ० १७, कीलहार्न संस्करण।

१६. गोद्व्यच इत्यत्राश्वशब्दप्रतिषेधात् लिंगाद् आवृत्तिभेदेनापि भेदाश्रयकार्यप्रवृत्तिः।

कैयट—प्रदीप, शिवसूत्र १

१७. शृंगारप्रकाश, पृ० ३१६

१८. भोज ने उत्तरभारत की किसी परंपरा को लक्ष्य कर भेद का लौकिक उदाहरण दिया है—
'गृहस्थान् पत्न्य आर्यावर्ते संभोगसंपादनाय भेदेनैवोपासते इति'

—शृंगार प्रकाश पृ० ३२०

अर्थों का अप्राप्त्यनुमान बाध है। उसे बाधा भी कहते हैं। बाध अथवा बाधा वचन, असंभव, चरितार्थता, फलाभाव, विशेष प्रत्यक्षश्रुति, परिसंख्या आदि कारणों से उद्बुद्ध होता है। 'अभक्ष्यो ग्राम्य कुक्कुटः' इसमें बाध वचनसामर्थ्य से उद्बुद्ध है। बुभुक्षित का भक्षण में प्रवृत्ति अर्थित्व सामान्य है। उसका बाध उपर्युक्त वाक्य से किया जाता है। यहां बाध वचनाश्रित है। भर्तृहरि ने इस वाक्य में प्राप्त्यनुमानबाधा न मानकर केवल बाधा माना है।[१९] 'गुरुवत् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्, अन्यत्रोच्छिष्टभोजनात्', इस वाक्य में सामान्य उपदेश के आधार पर गुरुपुत्र के प्रति गुरुसदृश व्यवहार करने की प्रवृत्ति है, किन्तु उच्छिष्ट भोजन में गुरुसंदृश व्यवहार का निषेध है अत; यहां भी बाध वचनाश्रित है। 'अष्टाश्रिः यूपोभवति' इस सामान्योपदेश का 'चतुरश्रो वाजपेययूपः' इस उपदेश का एक साथ घटित होना असंभव है, अतः यहां बाधा असंभव के आधार पर है। 'व्रीहीन् अवहन्ति' में सामान्योपदेश और अर्थित्व के आधार पर प्रवृत्ति प्राकृत अवहनन 'नखनिर्भिन्नानां नखावपूतानां चरुर्भवति' इससे नख द्वारा ही अवघात प्रयोजन के सिद्ध हो जाने के कारण चरितार्थ रूप से बाधित है। इसी तरह 'शतकृष्णलश्चरुर्भवति' इसमें कृष्णल में फलाभाव के आधार पर अवघात नहीं होता है।

'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय' इसमें औत्सर्गिक दधिदान तक्रदान से विशेष में प्रत्यक्ष श्रुति से बाधित है। अर्थित्व के आधार पर पांच नख वाले और बिना पांच नख वाले दोनों के भक्षण में प्रवृत्त का 'पञ्चपञ्चनखाःभक्ष्याः' इस परिसंख्या से बाध किया जाता है। यहां पंचनखान्तरों की निवृत्ति, भर्तृहरि के अनुसार, शब्दवती नहीं है, किन्तु सामर्थ्य लक्षण है।[२०] व्याकरण शास्त्र में उत्सर्ग नियम का अपवाद से बाध दिखाया जाता है। जैसे कर्मण्यण् ३।२।१ सामान्यनियम है, उसका आतोनुपसर्गे कः ३।२।३ इस विशेष नियम से बाध होता है। कर्म उपपद हो, धातु से अण् प्रत्यय होता है—यह उत्सर्ग वाक्य है। कर्म उपपद रहते भी आकारान्त और उपसर्गरहित धातु से क प्रत्यय होता है। यह अपवाद वाक्य है। उत्सर्ग वाक्य का अपवाद वाक्य से बाध माना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार उत्सर्ग वाक्य अपवाद वाक्य की परिकल्पना में ही प्रवृत्त होता है। उनके मत में यहां उत्सर्ग वाक्य का रूप है 'आकारान्त वर्जित धातुओं से कर्म में अण् होता है'।[२१] इस सम्बन्ध में दो तरह के सिद्धान्त गृहीत हैं। सर्वविशेषस्वीकारपूर्वक उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है अथवा कतिपयविशेष स्वीकार पूर्वक प्रवृत्ति होती है। पहले मत में उत्सर्ग के विषयविभाग के लिए पहले अपवाद की प्रवृत्ति होती है, इसके बाद त्यक्त विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है।

---

१९. अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुट इति। अर्थमुख्यः प्रतिषेध इति। न ह्यत्र प्राप्त्यनुमानबाधा, किं तर्हि। बाधैवेयम्।

महाभाष्यत्रिपादी, पृ० १६

२०. असौ न शब्दवती। किं तर्हि। सामर्थ्यलक्षणा।

महाभाष्यत्रिपादी, पृ० १७

२१. आकारान्तवर्जितेभ्यो धातुभ्यः कर्मण्यण् भवतीत्येवंभूतमेव तदुत्सर्गवाक्यम्।

वाक्यपदीय २।३५१, हरिवृत्ति, हस्तलेख।

दूसरे मत में, अपवाद विषय की कल्पना कर उत्सर्ग प्रवृत्त होता है।[२२] इस सम्बन्ध में भर्तृहरि ने कई प्रकार से विचार प्रस्तुत किए हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि शब्द से प्रापित का शब्दान्तर से बाध नहीं होता। दोनों के अर्थ के परित्याग में कोई भेद नहीं है। अवश्य ही लोक में गम्यतां (जाओ), भुज्यताम् (उपभोग करो) कहकर, कुछ दोष देखकर 'स्थीयताम्' (ठहरो) कहा जाता है। ऐसे स्थल पर शब्दान्तर से प्रापित का शब्दान्तर से निषेध है। किन्तु यहां अप्राप्त्यनुमान नहीं है। अप्राप्त्यनुमान बाध्य-बाधक रूप में देखा जाता है। वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में शास्त्र में अनेक विकल्प देखे जाते हैं जैसा कि कहा जाता है—'यदि प्राप्तिकारण तुल्य हो, प्रतिषेध विकल्पार्थ होता है' आदि। गम्यतां, भुज्यतां जैसे उत्सर्ग वाक्य में 'दोष यदि न हो जाओ' ऐसा छिपा हुआ है। बाद में दोषान्तर के देखने से, अथवा प्रयोजन के अभाव से, अथवा किसी अन्य-प्रयोजन से अपवाद के संस्पर्श से दोषाभाव के रूप में विशेष अनुमित होता है।[२३]

"कौण्डिन्य को छोड़कर ब्राह्मणों को दधि दो' इस वाक्य में यद्यपि तक्रदान का शब्दतः उल्लेख नहीं है फिर भी वह वाक्य शेषभूत है और कौण्डिन्यश्रुति से उसका अनुमान हो जाता है। अथवा अतिरिक्त भी ब्राह्मण शब्द है जिसकी वृत्ति कौण्डिन्य वर्जित ब्राह्मणों में है। प्रदेश सामान्य अनेक प्रकार का होता है। जैसे 'ब्राह्मण हो, कोई गाय देखे हो।' दधिदान में अनुमेय कौण्डिन्य के लिए दधिदान अशब्द उद्भूत है, तक्रदान शब्द से प्रतीत है। हम यह नहीं कहते कि दधिदान का कौण्डिन्य-त्व प्रापक है, ब्राह्मणत्व उस शब्द की तरह है। यदि माना जाय कि प्रतिषेध उपयुक्त है क्योंकि अन्यार्थक है। अप्राप्त्यनुमान तो निरर्थक है। आत्मरूप की कल्पना में चरितार्थ हो जाने के कारण उपस्थित दूसरे विधि को विकल्प रूप में ही कल्पना करेगा। वहां अप्राप्ति का कैसे अनुमान संभव है ? अनुमान की पहुंच सर्वथा नहीं है। कैसे, ऐसा नहीं है कि प्रतिषेध जहां कहीं प्रवृत्त हो जाता है। वह स्वाभाविकी निवृत्ति का द्योतक है। नित्यपरतन्त्रता के कारण उसका अर्थ अन्यसमवायिनी निवृत्ति को द्योतित करता हुआ अनुमान की कल्पना करता है। जहां-जहां प्रतिषेध इस रूप में रहता है वहाँ-वहाँ सामान्यविशेषभाव सहचारि रूप में रहता है। वह अनुमान के लिए पर्याप्त है। जैसे आग के लिए धूम। सम्बन्ध से और सम्बन्ध सम्बन्ध से भी अनुमान

---

२२. इह दर्शनद्वयम्-सर्वविशेषस्वीकारेण वोत्सर्गस्य प्रवृत्तिः, कतिपयविशेषावगाहनेन वा। तत्र पूर्वस्मिन् दर्शने, उत्सर्गस्य विषयविभागाय पूर्वमपवादः प्रवर्तते। पश्चात् तद् विमुक्ते विषये उत्सर्गः। द्वितीये तु दर्शने, अपवादविषयं परिकल्प्योत्सर्गः प्रवर्तते।

कैयट, महाभाष्य प्रदीप, २।३।४६

२३. अत्र केचिदाहुः, न शब्देन प्रापितस्य शब्दान्तरेण बाधनं भवति। उभयोरर्थपरित्यागे भेदाभावात्। ननु च लोके गम्यतां भुज्यतां इत्युक्त्वा दोषं किंचित् दृष्ट्वा स्थीयतामिति। न च तावदप्राप्त्यनु-मानम् अत्रास्ति। न च (तच्च ?) बाध्यबाधकभावेनावतिष्ठते। एवं प्रकारेषु तावदकल्पितावका-शान्तरेषु शास्त्रेषु विकल्पा दृश्यन्ते। "प्रतिषेधो विकल्पार्थस्तुल्यं चेत् प्राप्तिकारणम्" इति। अपि च गम्यतां भुज्यतामिति दोषश्चेन्नास्तीत्येतदुत्सर्ग वाक्ये प्रक्रम्यते। तच्च दोषान्तरदर्शनात् प्रयोजनाभावाच्च प्रयोजनान्तरेण वापवादे प्रक्रम्यमाणेऽस्ति दोषाभावइत्येषः विशेषोऽनुमीयते—

—वाक्यपदीय २।३५१ हरिवृत्ति, हस्तलेख।

होता है। कहीं सामान्य में प्रवृत्त होते हुए का विशेष में, कहीं प्राप्तिप्रसंग सा समझ कर स्वभावनिवृत्त वाक्यशेष के द्वारा अथवा स्वाभाविक वाक्यार्थ अवच्छेद के द्वारा विशेष में प्राप्त कराता हुआ सम्भव होने पर भी, विद्यासंनिधान अनुमान से उस विषयक बुद्धि प्रवृत्ति को हटाता हुआ बाधक कहा जाता है।[२४]

कुछ आचार्य उत्सर्ग और अपवाद में एक वाक्यत्व स्वीकार करते हैं और कुछ विचारक इनमें नानात्व मानते हैं। बाध्य-बाधकभाव दोनों पक्षों में होता है। नानात्व-पक्ष का संकेत वार्तिककार कत्यायन ने **तत्र ल्युनादि प्रतिषेधो नानावाक्यत्वात्**—इस वार्तिक में किया है। अपवाद के द्वारा उत्सर्ग का बाध समानवाक्य में होता है। जहाँ नाना वाक्य हैं वहां बाध नहीं होगा। इस वार्तिक की आलोचना करते समय पतंजलि ने एकवाक्यत्व का निर्देश किया है। उनके अनुसार देश भेद के आधार पर वाक्य-भेद नहीं होता :

न विदेशस्थमिति कृत्वातो नाना वाक्यं भवति विदेशस्थमपि सदेकवाक्यं भवति।[२५]

—महाभाष्य १।४।६७

जो नानात्व के समर्थक हैं उनके अनुसार निराकांक्ष प्रधान वाक्यों में एकत्व संभव नहीं है वहां नानात्व ही मानना चाहिए :

इह साकांक्षाणां संसर्गात् परस्परमुपकारे वर्तमानानाम् एकवाक्यत्वमुपपद्यते। प्रधानानि तु पृथगात्मनिवृत्तौ व्यापृतानि। तेषां निराकांक्षत्वात् सत्युपकारे नास्त्येकवाक्यत्वम्।[२६]

---

२४. कौण्डिन्यवर्जं दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतामित्येतद् उत्सर्गवाक्ये प्रक्रान्तं तक्रस्याश्रूयमाणस्यापि वाक्यशेषस्य तक्रदानविषया कौण्डिन्यश्रुतिरनुमानम्! अथवा विद्यत एवापरो ब्राह्मण शब्दः कौण्डिन्यवर्जितेष्वेव ब्राह्मणेषु यस्य वृत्तिः। प्रदेशसामान्यं हि बहुप्रकारम्। यद् यथा, ब्राह्मणोऽसि, अत्र कांचित् गां पश्यसीति। ननु च दधिदाने कौण्डिन्यस्यानुमेयस्याशब्द प्रतीतं दधिदानं, तक्रन्तु शब्दप्रतीतम्। न ब्रूमः, कौण्डिन्यत्वं दधिदानस्य प्रापकम्, ब्राह्मणत्वं तच्छब्दवदेव ननु युक्तं प्रतिषेधोऽन्यार्थकत्वात् अप्राप्त्यनुमानमनर्थकम, आत्मरूपप्रकल्पने तु कृतार्थम् विध्यन्तर मुपजायमानं सामर्थ्यात् विकल्पमेव प्रकल्पयेत्। तत्र कथमप्राप्तिरनुमीयते। सर्वथा नास्त्यनुमानस्य व्यावृत्तिः (व्यापृतिः ?)। कथं, न तावत् प्रतिषेधः क्वचिदपि प्रवर्तत इत्यभ्युपगम्यते। किं तर्हि, स्वाभाविक्या निवृत्ते द्योतकाः, स खलु नित्यपरतंत्रत्वादस्यार्थः, तामन्यसमवायिनी निवत्तिं द्योतयन् अनुमानं प्रकल्पयति यत्र यत्र च प्रतिषेधः इत्थं भूतः, तत्र तत्र सामान्य विशेषभावोऽन्यदृष्टव्यभिचारः सहचारिप्रतीतिवतो विद्यते। सचानुमानायालम्। यथाग्नेः धूमः पतंगाद् धूमका इति सम्बन्धात् सम्बन्धसम्बन्धाच्चानुमान भवति। सामान्ये प्रयुज्यमानं विशेषे क्वचित् प्राप्ति प्रसंगमिव बुद्ध्या स्वभावनिवृत्तं वाक्यशेषेण स्वाभाविकेन वा वाक्यार्थस्यावच्छेदेन विशेषे प्राप्यमाणं सत्यपिसंभवे विद्यासंनिधानानुमानत्वात्; तद् विषयं बुद्धिप्रसंगं व्यावर्तयन् बाधक इत्युच्यते।

वाक्यपदीय २।३५२, हरिवृत्ति, हस्तलेख

२५. कैयट ने देश शब्द काल का उपलक्षण माना है—न कालभेदात् नानावाक्यत्वं भवति। शास्त्रे विदेशस्थानामप्यवान्तरवाक्यानामाकांक्षावशादेकवाक्यत्वदर्शनात्। देशग्रहणं चात्र कालस्योपलक्षणम्।

—कैयट-महाभाष्य प्रदीप ३।४।६७

२६. वाक्यपदीय २।३५४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

आख्यात के भिन्न-भिन्न होते हुए भी उत्सर्ग और अपवाद में एकवाक्यता के समर्थक अपने पक्ष में नियम, प्रतिषेध का विधिशेष आदि की उपपत्ति बतलाते हैं। इको गुणवृद्धी १।१।३ सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४ के गुणविधि का शेष है और उसके साथ एकवाक्यता से सार्थक होता है। प्रतिषेध भी विधि के साथ एकवाक्यता से सफलता पाता है। भिन्न आधार में भी एक शक्ति की कल्पना से एकवाक्यता की उपपत्ति हो जाती है। पुण्यराज ने आकांक्षा, योग्यता और संनिधि के आश्रय से एकत्वपक्ष का समर्थन किया है।[२७]

भोज ने भाषा के व्यवहार में बाधा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

'वामेन अक्षणा एष पश्यति'

'किमस्य यन्न रोचते।

आदि वाक्य विशेष के वाचक हैं।[२८]

समुच्चय : तुल्यबलवाले अविरोधियों का एकार्थपरक उपादान का नाम समुच्चय है। जैसे, 'देवदत्तं भोजय, लवणेन सर्पिषा शाकेन'—इस वाक्य में लवण, घी, शाक का उपादान एक भोजन क्रिया के लिए किया गया है। भोज के अनुसार अविरोधियों का तुल्यविधान भिन्न प्रयोजन वालों का एक कार्य के लिए ग्रहण समुच्चय कहलाता है। गुण आदि का समुच्चय भेद रूप में और अभेद रूप में दोनों तरह से देखा जाता है।

व्याकरणशास्त्र में प्रत्यय कृत् कृत्य संज्ञाओं का, प्रत्यय तद्धित, तद्राज संज्ञा का एकत्र समुच्चय, अविरोध और फलभेद के आधार पर, देखा जाता है।

जयादित्य ने अनेक क्रिया के अध्याहार को समुच्चय माना है (**अनेक क्रियाध्याहारः समुच्चयः—काशिका ३।४।३**)। समभिहार से समुच्चय में भेद यह है कि समभिहार पौनः पुन्य अथवा एक ही की पुनरावृत्ति है, वह एक ही क्रिया में होता है, समुच्चय अनेक क्रिया में होता है। न्यासकार ने समुच्चिति को समुच्चय माना है। एक साधन अथवा क्रिया के प्रति क्रियाओं की चीयमानता-अनेकता समुच्चय है। समुच्चय तुल्यबलों में और जिनका नियतक्रमयौगपद्य नहीं है उन्हीं में होता है जैसे, **गाम् अश्वं पुरुषं अहरह नययानो वैवस्वतः**—इस वाक्य में एक नयन क्रिया से गाम्, अश्वं आदि का सम्बन्ध है।[२९]

ऊह : ऊह का सम्बन्ध लिंग, वचन विभक्ति आदि के विपरिणाम से है। दो तरह के योग होते हैं, प्रकृति और विकृति। जिसमें इतिकर्तव्यता आदि संपूर्ण अंगसमूह का उपदेश होता है वह प्रकृति है। जैसे दर्शपूर्णमास आदि। जहां सम्पूर्ण अंगों का उपदेश नहीं होता वह विकृति है। जैसे सौर्य आदि। प्रकृति की तरह विकृति

---

२७. वस्तुतस्त्वाकांक्षायोग्यता संनिधिवशादेकवाक्यतागतं वाक्यं बोद्धव्यम्।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।३५३

२८. शृंगार प्रकाश, पृ० ३१७

२९. काशिकाविवरण पंजिका २।२।२९, कैयट और भट्टोजिदीक्षित के भी समान मत हैं। द्रष्टव्य-महाभाष्यप्रदीप २।२।२९ तथा शब्दकौस्तुभ २।२।२९

करनी चाहिए। यह मीमांसा का न्याय है। प्रकृति में जिस मंत्र का जो अभिधेय है यदि वह विकृति में साकल्य रूप में नहीं है, संपूर्ण मंत्र की निवृत्ति होती है। यदि उसके एक देश का अभिधेय नहीं है तो उसके एक देश की निवृत्ति होती है।

भर्तृहरि ने महाभाष्यत्रिपादी में ऊह पर विशेष प्रकाश डाला है। भोज ने वाक्य के धर्मों पर विचार करते हुए ऊह पर जो कुछ लिखा है वह सब महाभाष्य त्रिपादी से लिया है। उसके आधार पर यहां ऊह का कुछ विवेचन किया जा रहा है। ऊह प्रकृति में समर्थ मंत्रों का विकृति में सामर्थ्य के अभाव के कारण प्रकृति रूपलिंग-वचनान्तर के उपादान के रूप में किया जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति मंत्र के पद-प्रकृति, लिंग, वचन, विभक्ति आदि का दूसरे पद-प्रकृति, लिंग, वचन, विभक्ति रूप में यथावसर उपादान ऊह कहलाता है। जैसे प्रकृति याग में 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि (प्रोक्षामि)'[३०]—इसमें अग्नि शब्द अंगार के अर्थ में समर्थ देखा गया है। विकृति याग में अग्नये के स्थान पर सूर्याय ऊह कर लिया जाता है।

विकृत यागों में एक देश की निवृत्ति हो जाने पर भी क्रिया में मुख्यवृत्ति में उलटफेर के कारण (बाध) और अर्थान्तर के प्रसक्ति के कारण शब्दान्तर का अर्थान्तर के ग्रहण के रूप में किया जाता है। यदि विकार मौन रूप में, उपांशुप्रयोग के रूप में, किया जाय, प्रकृति शब्दवती होगी जबकि विकार अशब्द हो जायगा। यदि अशब्द न कर अग्नि शब्द का ही ग्रहण किया जाय, अग्नि शब्द अपने मुख्य अंगार अर्थ में परिनिष्ठित होने के कारण सूर्य-अर्थ का प्रत्यायन नहीं कर सकेगा। यदि मुख्यवृत्ति (अभिधा) का आश्रय न लेकर और गौणी वृत्ति के सहारे अग्नि शब्द का सूर्य के अर्थ में प्रयोग मान लिया जाय, प्रकृति के विपरीत शब्दप्रवृत्तिधर्म का आश्रय अपनाना हो जायगा। इसलिए उसी विभक्तिवाले दूसरे शब्द का उपादान कर लिया जाता है, 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' के स्थान पर 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' कहा जाता है। चतुर्थी विभक्ति दोनों में समान है, केवल प्रकृति में परिवर्तन हुआ है। अग्नि के स्थान पर सूर्य का उपादान किया गया है। इस तरह यह प्रकृति-ऊह है।

लिङ्ग का भी ऊह होता है। जैसे 'देवीरापः शुद्धा यूयम्'।[31] 'देव आज्य शुद्धं त्वम्'। पहला वाक्य आपः (जल) देवता के विनियोग में है। इसलिये शुद्धा में स्त्रीलिंग है। इस वाक्य को आज्य के साथ रखने में शुद्धा के स्थान पर शुद्धं करना पड़ा है। यह लिंग का ऊह है।

विभक्तियों का भी ऊह होता है। जैसे आयुराशास्ते[32] के लिए आयुराशासाते अथवा आयुराशासते। जिनका प्रकृति में ही अथवा बिना प्रकृत्यर्थ के सामर्थ्य नहीं है उनका, असामर्थ्य के कारण, विकृति में ऊह नहीं होता है। जैसे 'वायवः स्थ।[33]

---

३०. वाजसनेयी संहिता, १।१३।२

३१. मैत्रायिणी संहिता १।१।११।७।५

३२. तैत्तिरीय संहिता २।६।६।७

३३. तैत्तिरीय संहिता १।१।१

'उपायवः स्थ' में प्रकृति में ही बहुवचन के द्वारा एक वत्स का अभिधान होता है। इसलिए विकृति में यहां ऊह नहीं होता। इसी तरह 'अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु'[३४] इसमें प्रकृति में 'पाशान्' में बहुवचन एक प्रकृतिपाश के लिए व्यवहृत हुआ है। यहाँ भी विकृति में ऊह नहीं होता है। किसी वाजसनेयी शाखा में 'अदितिः पाशम्' इस रूप में एकवचनान्त रूप में पढ़ा जाता है, इस दृष्टि से यहां ऊह प्राप्त हो सकता है। यदि ऐसा नहीं है, अदितिरशना-पाश में ऊह नहीं होता। अथवा यहां नैगमविभाषा—वैदिक विकल्प है। बहुवचन के प्रयोग में यथेष्ट प्रयोग होता है। भर्तृहरि ने लिंग-ऊह के कई उदाहरण यागभेद और शाखाभेद से दिखाए हैं। वेद में 'जूरसिधृता मनसा जुष्टा'[३५] इस रूप में स्त्रीलिंग पाठ मिलता हैं। इसका साद्यस्क्री में स्त्रीगत-वृत्ति की उपेक्षा कर, वेद में पुंल्लिग रूप में दृष्ट न होने पर भी, पुंशब्द रूप में ऊह होता है, फलत: जूरसि धृतो मनसा जुष्टो आदि रूप में पढ़ा जाता है। इसी तरह राजक्रयणी-संस्तव में 'चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि······सुप्राची सुप्रतीची भव'[३६] रूप में स्त्रीलिंग रूप में पढ़ा जाता है। इसी को साद्यस्क में पुंल्लिग रूप में ऊह होता है—'चिदसि मनोसि धीरसि दक्षिणोसि······सुप्राक् सुप्रत्यक् भव' आदि। वाजसनेयी शाखा वाले भी इसी रूप में इनका ऊह किया करते हैं। इसी तरह सोमक्रयणानयन मंत्र में स्त्रीलिंग पद पढ़े जाते हैं जेसे वस्व्यसि रुद्रासि···चन्द्रासि।[३७] इनका साद्यस्कों में पुंल्लिग रूप में ऊह होता है। वसुरसि, रुद्रोसि···चन्द्रोसि। इसी तरह पशुप्रकृति में पुंल्लिग रूप में मंत्र पढ़ा जाता है—'अस्मिन् प्रतिमुञ्चति'। इसका 'अस्यै प्रतिवेदय' रूप में स्त्री प्रत्यय के रूप में ऊह होता है यदि उस स्त्रीगवी का आलंभन मूर्धा से हो। 'हुतो याहि पथिभिः देवयानैः'[३८] का ऊह 'हुता याहि' के रूप में स्त्रीप्रत्यय के रूप में देखा जाता है।

पाणिनि का घसह्वरणश २।४।८० सूत्र घस् ह्वर, णश् आदि से, छन्द में, सिच् (लि) के लुक् का विधान करता है। ऊह्य मंत्रों में ऐसे सूत्रों की प्रवृत्ति होगी कि नहीं इस प्रश्न पर विचार-भेद था। कुछ आचार्यों के मत में ऊह्य मंत्र नहीं है, इसलिए छान्दस नियमों की प्रवृत्ति इनमें नहीं होनी चाहिए। 'अघस्ताम्' जैसे प्रयोग की उपपत्ति पठित के आधार पर कर लेनी चाहिए। कुछ अन्य आचार्यों के मत में ऊह विषयक मंत्र मंत्रान्तर हैं—एक प्रकार के मंत्र हैं। अघसत्, अघसताम् अघसन् अभीषुः अक्षन्-ये सब ऊह प्रकरण में पढ़े जाते हैं। कहीं-कहीं स्वयं वेद में ही तप्यध्वम्, तप्यस्व, तप्येथाम्, जैसे ऊह-प्रयोग निर्दिष्ट हैं। इसलिए ऊह्य और अनूह्य की न्याय से व्यवस्था संभव होने पर लिंग वचन और विभक्ति के विनियोग के लिए ऊह के विषय में व्याक-

---

३४. मैत्रायिणी संहिता १।२।१५-२६।२, तैत्तिरीय संहिता ३।१।४।४

३५. वाजसनेयी संहिता ४।१७, तैत्तिरीय संहिता १।२।४।१

३६. तैत्तिरीय संहिता १।२।४

३७. वाजसनेयी संहिता ४।२१

३८. मैत्रायिणी संहिता २।५।१०।—६१।११

रण शास्त्र की अपेक्षा की जाती है। ऊह के प्रतिषेध के विषय में भर्तृहरि ने एक कारिका उद्धृत की है :

अङ्गानि ज्ञातिनामान्युपमा चेन्द्रियाणि च।
एतानि नोहं गच्छन्ति अध्रिगौ विषमं हि तत्॥

अध्रिगु से अन्यत्र अंगों का, ज्ञातिनामों का, उपमा का, इन्द्रियों का ऊह नहीं होता। अध्रिगु में होता है। अंग के अनूह के उदाहरण में **'यत् पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते। अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान मुञ्चत्वंहस:**[३९] यह मंत्र उद्धृत किया जाता है। इस मंत्र में प्रकृति याग में उर शब्द एक वचन है और अंग का नाम है। द्विपशुक विकृतियाग में उर का उरसी रूप में विपरिणाम नहीं होता जबकि पशु का पशू रूप में होता है। इसी तरह बहुपशुक विकृतियाग में पशु का विपरिणाम पशव: होता है किन्तु उर का उरांशि नहीं होता। भर्तृहरि के वक्तव्य से जान पड़ता है कि ऊह परिगणित हो चुके थे और गणपाठ की तरह उनका भी एक शास्त्र था। अंगों में पाणिपाद शिर: ग्रीवं आदि; ज्ञातिनामों में माता, पिता, भ्राता आदि; उपमा में कश्यपेवासांच्छिद्रे श्रोणी, कवषोरू, स्रेकपर्णा आदि; इन्द्रियों में चक्षु, श्रोत्र आदि परिगणित थे।[४०]

भर्तृहरि के अनुसार, इतिकर्तव्यता और गीति के ऊह में व्याकरण की गति नहीं है। उसकी व्यवस्था लोक से, लक्षणान्तरों से और प्रातिशाख्यों आदि से संभव है। किन्तु शब्दविषयक ऊह में—विभक्ति आदि के विपरिणाम में व्याकरण की प्रवृत्ति है। ऊह का विषय, वस्तुत:, प्रकृतिविकृतिभाव से ही है।[४१]

पुण्यराज के अनुसार संबंधत्याग और विभक्त्यन्तर के योग जहां व्याकरणशास्त्र में दिखाए गये हैं वे ऊह के विषय हो सकते हैं। जैसे, भूवादयो धातव: १। ३। १ सूत्र में धातव: प्रथमान्त है। अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १। ३। १२ में इसकी अनुवृत्ति होती है। वहां धातो: पञ्चम्यन्त अपेक्षित है फलत: प्रथमान्त का पञ्चम्यन्त में विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। इसी प्रकार उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२ तथा तस्यलोप: १।३।९ में भी विपरिणाम का आश्रय लिया जाता है। जो विभक्ति जिस रूप में श्रुत है उसी रूप में जब अन्वय की उपपत्ति नहीं होती है तो अन्यथानुपपत्ति के आधार दूसरे के साथ सम्बन्ध की चरितार्थता के लिए विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। यह विपरिणाम सामर्थ्य से अनुमित होता है अथवा क्षीर-दधि के विपरिणाम की तरह भिन्न होता हुआ भी प्रत्यभिज्ञान के बल से अभिन्न माना जाता है। अथवा तदेव इदम् इस रूप में उपचरित होता है।[४२]

---

३९. तैत्तिरीय संहिता ३।१।४।३

४०. कश्यपकवषस्रेकाणां कच्छपमत्स्यजातीयकरवीरवाचिनां यथोपमेयलिंग संख्यान्तरविपरिणामो न भवति—
हेलाराज, वृत्तिसमुद्देश ५९०

४१. महाभाष्य त्रिपादी, पृ० ५-८

४२. वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ४५९-४६०

भोज ने मंत्र के अतिरक्त भाषा में भी ऊह के प्रयोग दिखाए हैं।[४३]

सम्बन्धाबाध—पुण्यराज के अनुसार सम्बन्धाबाधन ऊह का प्रतिपक्षी है। 'देवदत्तस्य उच्चानि गृहाणि युक्तं तानि अभिजातस्य' इसमें पहले वाक्य के विभक्त्यन्त पदों का वाक्यान्तर के तदनुकूल पदों से संबंध हो जाता है। इसी तरह 'बदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वृक्षः' 'पंचाला जनपदः' आदि में सम्बधाबाधन माना जाता है। बदरी के विशेषण मधुर और सूक्ष्मकण्टक शब्द हैं, बदरी के स्त्रीलिङ्ग से उनका भी योग मान कर मधुरा, सूक्ष्मकण्टका कहा जाता है। यदि वृक्ष से संबंध हो तो वृक्षगत लिङ्ग संख्या योग होना चाहिए। महाभाष्यकार ने ऐसे स्थलों पर आविष्टलिङ्गा-जातिः का सहारा लिया है। जाति के सहारे उसके विशेषणों में भी युक्तवद्भाव नहीं होता है। फलतः पंचालाः जनपदः प्रयोग उपपन्न होते हैं।

व्याकरण शास्त्र में बहुगणवतुडति संख्या १।१।२३ सूत्र में बहु और गण शब्द का वैपुल्य या संघ के अर्थ में ग्रहण न होकर संख्यावाची के अर्थ में ग्रहण होता है। और उनकी संख्या संज्ञा की जाती है। ष्णान्ता षट् १।१।२४ में ष्णान्ता में स्त्रीलिङ्ग निर्देश से संख्या से उसका संबंध हो जाता है। वेद में भी 'यजमानं दण्डेन दीक्षयति' जैसे वाक्यों में यजमानम् का संबंध अबाधित रूप में हो जाता है।

भोज ने संबधाबाधन को दूसरे रूप में लिया है। उनके अनुसार विशेष श्रुति के द्वारा भी सामान्यश्रुति का अबाध संबंधाबाधन है। जैसे 'ब्राह्मणा भुञ्जतां माठरकौण्डिन्यौ परिवेविष्टाम, इस वाक्य में विशेषश्रुति माठर कौण्डिन्य से सामान्यश्रुति ब्राह्मण भुञ्जताम् का बाध नहीं होता।[४४]

सामान्यातिदेश : सामान्यातिदेश अतिदेश का एक भेद है। अन्य धर्म का अन्यत्र प्रापण अतिदेश है। सामान्य का भी अतिदेश होता है और विशेष का भी अतिदेश होता है। सामान्यातिदेश में अन्यत्र जो धर्म रूढ़ हैं उनका, प्रसिद्ध अथवा अनुमेयभेद संभव संबंधियों द्वारा, निर्ज्ञात भेद वाले वस्तुओं (अर्थों) में प्रापण किया जाता है। 'ब्राह्मणवत् अस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यम्' इस वाक्य से ब्राह्मण शब्द के जितने प्रसिद्ध अर्थ हैं, उनसे सम्बद्ध जो प्रसिद्ध कार्य है अग्रभोजन आदि उन सबका छत्रिय में, जिसमें ब्राह्मण शब्द की वृत्ति नहीं है, अतिदेश किया जाता है। सामान्य में

---

४३. चूड़ाचुम्बित कङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो,
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरोधत्ते त्वचं रौरवीम्।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधो वासश्च माञ्जिष्ठकम
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः॥

(उत्तररामचरित ४।२०)

इत्युत्तररामचरिते लवमेकमुद्दीश्य भवभूतिर्जनकमेतच्छ्लोकं पाठितवान्। तमेव पश्चाद्वीरचरिते (१।२२) धत्तस्त्वचं रौरवीमित्यूहयित्वा रामलक्ष्मणौ द्वावुद्दिश्य कुशध्वजमपीपठत्। अत्राप्युरःपाणिवासः कार्मुकादीनामामूहो न भवति। संबन्धिभेदेनैव भेदसिद्धेः। भेदेन हि प्रतिपत्तव्योऽर्थो यावानभेदेऽपि भवति तावन्न भिद्यते।

शृंगार प्रकाश, पृ० ३१६

४४. शृँगार प्रकाश पृ० ३१३

ब्राह्मण शब्द की अव्यभिचरित शक्ति है, माठर आदि में अव्यभिचरित शक्ति नहीं है। कट में माठरत्व नहीं है। शब्द अर्थ के किसी भाग का ही संस्पर्श करता है। अर्थ की जितनी विशेषताएं ज्ञात हैं अथवा उसमें सन्निहित हैं सबको बताने की शक्ति शब्द में नहीं है। माठरवत् अस्मिन् कटे वर्तितव्यम्' इस वाक्य में भी सामान्यातिदेश ही है। माठर के विशेष धर्म उसके सौंदर्य आदि हैं उनका यहां अतिदेश नहीं किया गया है। इसी तरह 'विशिष्टवदस्मिन् वर्तितव्यम्' में सामान्यातिदेश ही है। क्योंकि विशिष्ट में जो सामान्यधर्म वैशिष्ट्य है उसीका अतिदेश किया गया है। उसके रूपविशेष आदि विशिष्टभाग का निर्देश नहीं किया गया है। इसीलिए कहा जाता है कि शब्द का अर्थ केवल सामान्य होता है, विशेष व्यभिचरित होते हैं। जब तक सामर्थ्य विशेष का उल्लेख न हो विशेष का अतिदेश नहीं होता :

सामान्यमात्रं शब्दार्थो, विशेषा व्यभिचारिणः ।
सामान्यमन्तरेणातो विशेषो नातिदिश्यते ।।

'गुरुवत् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्' में भी सामान्यातिदेश है।

व्याकरण शास्त्र में स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १। १। ५६ पर वार्तिककार ने 'सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः' वार्तिक द्वारा विशिष्ट वल आदि कार्य के अतिदेश का समर्थन नहीं किया है।

विशेषातिदेश : सामान्यकार्य के निर्ज्ञात होने पर सामर्थ्य के आधार पर विशिष्ट प्रकृतिगत कार्य का अतिदेश विशेषातिदेश कहलाता है। जैसे 'ब्राह्मणवत् अस्मिन् ब्राह्मणे वर्तितव्यम्।' यहां ब्राह्मणविषयक विशिष्ट कार्यों के अतिदेश का निर्देश है। जो ब्राह्मण के प्रति ब्राह्मणवत् व्यवहार करते हैं, उनको उद्देश्य कर ऐसा कहा जाता है। बुद्धिसंभेद वालों के लिए अथवा प्रमादवश अन्यथा आचरण करने वालों के लिए नियम ही किया जाता है।

व्याकरणशास्त्र में विशेषातिदेश छः प्रकार का देखा जाता है : रूपातिदेश, निमित्तातिदेश, तादात्म्यातिदेश, शास्त्रातिदेश, कार्यातिदेश और व्यपदेशातिदेश। द्विर्वचनेऽचि १।१।५९ सूत्र में रूपातिदेश का आश्रय लिया जाता है। यहां आदेश का धातु के स्वरूप में ही अतिदेश होता है। फलतः चक्रतुः ययतः में क्व और या का द्विर्वचन होता है।

पूर्ववत्सनः १।३।६२ सूत्र से आत्मनेपद के लिए ङकार आदि निमित्त का सन्नन्त के लिए अतिदेश होता है। यहां निमित्तातिदेश है।

तादात्म्यातिदेश सुबामंत्रिते पराङ्गवत् स्वरे २।१।२ सूत्र में देखा जा सकता है। जहां सुबन्त आमंत्रित से, मिट्टी-धूल-पानी के सदृश, एक में मिलकर आमंत्रित के स्वर को पाता है।

शास्त्रातिदेश और कार्यातिदेश दोनों के उदाहरण कर्मवन् कर्मणा तुल्यक्रियः ३।१।८७ में मिल जाते हैं। यहां शास्त्रातिदेश में शप् से यक् का बाघ न हो इसलिए यग्विधि में कर्मकर्तर्युपसंख्यान का आश्रय लिया जाता है और विप्रतिषेध से शप् को बलवान् माना जाता है। कार्यातिदेश पक्ष में कर्मवत् कर्मणा सूत्र से ही यक् का विधान

होता है, यक्, के पर होने से शप् से बाध भी नहीं होता, फलतः उपसंख्यान की आवश्यकता भी नहीं होती। शास्त्रातिदेश और कार्यातिदेश में भेद यह है कि शास्त्रातिदेश में कार्य उन उन शास्त्रों (सूत्रों) से होता है जबकि कार्यातिदेश में कार्य अतिदेश वाक्य से ही होता है।[४५]

सभी अतिदेशों में कार्यातिदेश प्रधान माना जाता है।[४६]

पुण्यराज के अनुसार व्यपदेशातिदेश व्याकरणशास्त्र (पाणिनिशास्त्र) में संभव नहीं है। वह संज्ञापक्ष से भिन्न नहीं है और वत् ग्रहण भी विफल होने लगेगा।[४७] किन्तु कैयट आदि ने अनेकस्थल पर व्यपदेशिवद्भाव का आश्रय लिया है :

यः शब्दोऽर्थवान् तस्यार्थोपादानपरित्यागाभ्यां
व्यपदेशिवद्भावो भवति, बुद्ध्या नानात्वकल्पनात्।

—कैयट, महाभाष्य प्रदीप ६।१।४५

भोज ने व्यपदेशमात्र को अतिदेश का कार्य माना है।[४८] अतिदेश वत्यादि के विना भी देखा जाता है। जैसे अब्रह्मदत्त के लिए ब्रह्मदत्त का प्रयोग किया जाता है। इसकी व्याख्या इस रूप में की जाती है कि ब्रह्मदत्त में जो गुण या क्रियाएं थीं उनका अब्रह्मदत्त में समारोप कर लिया जाता है। अथवा ब्रह्मदत्त में जो गुण आदि अभी होंगे उनका बुद्धि से आकलन कर उपमानोपमेय सम्बन्ध के सहारे उपचार से अब्रह्मदत्त के लिए ब्रह्मदत्त शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

"उशीनरवत् मद्रेषु यवाः" इस वाक्य में अतिदेश है कि नहीं? भोज के अनुसार यहां भी अतिदेश है। यहां उशीनर के यवों का, भाव अथवा अभाव रूप में प्रसिद्धों का मद्र जनपद के यव में अतिदेश किया जाता है। यद्यपि वतिः प्रत्यय का स्वरूप समान है। किन्तु दो नियमों से प्रवर्तित होने के कारण ये दो भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। तेन तुल्यं क्रिया चेत् वतिः ५-१-११५ से प्रवर्तित वतिः प्रत्यय प्रकृत्यर्थ धर्म का अन्यत्र अतिदेश करता है। तत्र तस्येव ५।१।११६ से विहित वतिः प्रत्यय आधेय सम्बन्धि धर्मों का अन्यत्र अतिदेश करता है। तदर्हम् ५-१-११७ से विहित वतिः प्रत्यय संभवतः संभिन्न बुद्धि वालों के लिए नियम विधायक है। आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में "तदर्हम्" नियम नहीं था।[४९]

---

४५. शास्त्रकार्यातिदेशयोश्चायं विशेषः। शास्त्रातिदेशे तेन तेन शास्त्रेण कार्याणि भवन्ति। कार्यातिदेशे तु अतिदेशवाक्येनैवेति— पदमंजरी ७।१।९५, पृ० ७४०

४६. सर्वातिदेशानां कार्यातिदेशस्य प्राधान्यात् तस्यैवेहाश्रयणम्। महाभाष्यप्रदीप १।१।२१

४७. व्यपदेशिवद् भावस्तु व्याकरणे नैव संभवति, संज्ञापक्षादविशेषात् वत् करणवैफल्यप्रसंगात्। पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७८

४८. व्यपदेशमात्रमपिकार्यमतिदेशस्य श्रृंगार प्रकाश पृ० ३२१

४९. तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे।—वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ५६१
आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतत् नाधीयते। —हेलाराज, वृत्तिसमुद्देश ५६१

भोज ने उपमान के प्रसिद्ध धर्मों का उपमेय के आरोप के रूप में अतिदेश को ग्रहण किया है। वह प्रसिद्धि कभी लोक, कभी प्रयोक्ता और कभी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की अपेक्षा रखती है।

शबर स्वामी ने नाम और वचन के आधार पर पांच प्रकार के आतिदेशिक माने हैं, कर्मनाम, संस्कारनाम, यौगिक, प्रत्यक्षश्रुत और आनुमानिक। उन्होंने अतिदेश के स्वरूप के द्योतक निम्नलिखित प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है;

प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु।
धर्मोपदेशः येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्मृत :॥

—शाबरभाष्य ७।१२

अर्थित्व, सामर्थ्य और अर्थभेद—इन तीन को पुण्यराज ने वाक्यधर्म नहीं माने हैं। किन्तु वाक्यधर्म के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने सामर्थ्य और अर्थभेद का उल्लेख स्वयं किया है :

वाक्येऽपि नियता धर्माः केचित् वृत्तौ द्वयोस्तथा।
तेऽर्थभेदेन (त्वभेदेन) सामर्थ्यमात्र एवोपवर्णिताः।[५०]

अर्थित्व से अभिप्राय एकार्थीभाव से जान पड़ता है। सामर्थ्य से अभिप्राय भेद, संसर्ग अथवा भेदसंसर्ग दोनों से है। यदि वृत्ति में भेद और संसर्ग न हों, सामर्थ्य नहीं हो सकता। सामर्थ्य भेद-संसर्गात्मक होता है। कभी भेद सामर्थ्य होता है और संसर्ग अनुमेय होता है। कभी संसर्ग सामर्थ्य होता है, और भेद अनुमेय होता है अथवा युगपत् आश्रित होकर दोनों सामर्थ्य कहलाते हैं। महाभाष्यकार ने भेद और संसर्ग की उपपत्ति यहां अन्वय-व्यतिरेक के सहारे की है। भोज ने भी ऐसा ही दिखाया है।[५१] अर्थभेद वाक्य और वृत्ति के अर्थ के अभेदत्व का प्रतीकमात्र जान पड़ता है।

अधिकार : पुण्यराज और भोजराज ने अर्थित्व और सामर्थ्य को स्वतंत्र वाक्य धर्म के रूप में न लेकर इनका सम्बन्ध अधिकार अथवा अधिकारी से जोड़ा है।

अर्थित्वं सामर्थ्यं शास्त्रपर्युदासयोगित्वमधिकारः।[५२] मीमांसादर्शन में यज्ञ-क्रिया में उसी का अधिकार माना जाता है जो अर्थी हो, जो दूरफल की इच्छा रखता हो। साथ ही जो अधिकृत वर्ण का हो, निषिद्ध जाति का न हो। अदृष्ट के विषय में सामर्थ्य-असामर्थ्य का निर्णायक शास्त्र है;

क्रियासु योग्यत्वमधिकारः। कः पुनः योग्यः अर्थी समर्थः शास्त्रेण पर्युदस्त इति।[५३]

---

५०. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ३६

५१. किं पुनरिदं सामर्थ्यं नाम। भेदः संसर्गः उभयं वा। तत्र राज्ञः पुरुष इत्यत्र तावदेतदवधृतपरायत्त-वृत्तिरयं पुरुषः न स्वतन्त्रः तदा स्वामिसंसर्गस्यावगतत्वात् स्वामिविशेषज्ञानोपादीयमानो राजशब्देभ्यः स्वाम्यन्तरेभ्यः पुरुषं व्यावर्तयति। सोऽयं स्वाम्यन्तरव्यवच्छेदो भेद इत्युच्यते।
—शृंगार प्रकाश, अध्याय ३४ हस्तलेख

५२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७१

५३. शृंगार प्रकाश, पृ० ३२३

अदृष्टार्थविषये (विशेषे) हि सामर्थ्यासामर्थ्ये शास्त्रादेव समधिगम्येते।[५४]

अर्थित्व, सामर्थ्य और अधिकार को साथ रखकर इनकी एक दूसरी व्याख्या भी संभव है अर्थात् एकार्थीभाव, सामर्थ्य और अधिकार अथवा व्यपेक्षा, सामर्थ्य और अधिकार। इन दोनों पक्षों का महाभाष्य में समर्थ सूत्र २।१।१ में विवेचन मिलता है।

व्याकरणशास्त्र में अधिकार का सम्बन्ध, पुण्यराज के अनुसार, शब्द, अर्थ और पुरुषधर्म से है। यहां प्रसंग से पुण्यराज ने शब्द और अर्थ के भेदों पर विचार किया है जो निम्न लिखित है !

शब्द छः तरह के हैं । साधु और असाधु । साधु शब्द भी दो तरह के हैं शास्त्रीय और प्रायोगिक। शास्त्रीय शब्द भी तीन तरह के हैं। प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभय रूप। प्रायोगिक भी लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। इस तरह कुल छः प्रकार के शब्द हैं।

अर्थ अठारह प्रकार के होते हैं :

१. वस्तुमात्र—जिसके बारे में कहा जा सके, जो प्रतिपादन का विषय बन सके वह अर्थ का वस्तुमात्र रूप है, अर्थात् जो कुछ वस्तु है, चाहे उसकी यथार्थ सत्ता हो अथवा कल्पित सत्ता हो वह वस्तु मात्र अर्थ है। दूसरे शब्दों में, शब्द निरपेक्ष वस्तु की सत्ता वस्तुमात्र है।
२. अभिधेय—अभिधेय वह अर्थ है जो शब्द का अर्थ है। बाह्य यथार्थ अर्थ नहीं। जो समीहित है वह अभिधेय है। अभिधेय ही शब्द-व्यापार का विषय है। यह दो प्रकार का होता है। शास्त्रीय और लौकिक।
३. शास्त्रीय वह अर्थ है जो पौरुषेय है, कल्पित है, व्यभिचरित भी होता है फिर भी जो परंपरा से अव्यभिचरित माना जाता है और जो परिकल्पित होता हुआ भी अविकल्पित-सा शब्दसाधुत्व के निमित्त के रूप में प्रतिपादक माना जाता है। उसकी नियत अवधि नहीं है, इसलिए व्याख्याता उसको बहुधा विभक्त कर अन्वाख्यान किया करते हैं। इसलिए वह आवापोद्धारिक भी है, उसका विश्लेषण आवाप उद्धार पद्धति से किया जाता है।
४. लौकिक अर्थ अखण्ड अर्थ है। लौकिक अर्थ में ही शब्द का अधिकार माना जाता है, शास्त्रीय अर्थ में शब्द का अधिकार नहीं होता है।
५. विशिष्टावग्रहसंप्रत्ययहेतु—जब अर्थ विशिष्टाकार रूप में ज्ञान विशेष का प्रत्यायक होता है, वह विशिष्टावग्रहसंप्रत्यय हेतु माना जाता है। कंसं घातयति, बलिं बन्धयति जैसे वाक्यों से भूतकाल के व्यापार नर आदि के माध्यम से वर्तमान काल में दिखाए से जाते हैं। इस तरह के अर्थ के लिए विशिष्टावग्रह संप्रत्ययहेतु शब्द का व्यवहार पुण्यराज ने किया है।

---

५४. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७१, शृंगार प्रकाश पृ० ३२३ पुण्यराज और भोज के इस प्रसंग के कई वाक्य समान हैं। या तो दोनों ने भर्तृहरि से लिया है अथवा भोज ने पुण्यराज से लिया है। द्वितीय पक्ष में पुण्यराज के समय की अन्तिम सीमा ई० ९५० हो जाती है।

६. अविशिष्टावग्रहसंप्रत्ययहेतु—बाह्य रूप में जो वस्तु जैसी है उसी रूप में उसका उद्भावन अविशिष्ट-अवग्रह-संप्रत्यय हेतु अर्थ है जैसे गौः शुक्लः।

७. मुख्य—शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ का साक्षात्बोध होता है वह मुख्य है। जैसे गौः शब्द से सास्ना आदि युक्त गो व्यक्ति।

तस्मात् श्रुतिमात्रेणशब्दस्य येषामर्थेषु तादर्थ्यमवसीयते तेषां मुख्यमर्थमाचक्षते। यत्रश्रुतिमात्रविषयं प्राकृतं यत्नमतिक्रम्य निमित्तान्तरात् प्रतिपत्तिः तं गौणमित्याहुः।[५५]

८. परिकल्पितरूपविपर्यास—किसी निमित्त के आधार पर जिसका रूप विपर्यास कल्पित होता है वह अर्थ परिकल्पितरूपविपर्यास है। दूसरे शब्दों में, गौण अर्थ का एक नाम परिकल्पित रूपविपर्यास है। किसी आचार्य के मत में शब्द का अपना स्वरूप ही उसका मूल अर्थ है। उसी के साथ उसका नित्य संबंध है। शब्द के स्वरूप का अर्थ में अध्यारोप किया जाता है। जो यह गो शब्द है वही यह गो पिण्ड है। श्रवण तो शब्द रूप का होता है किन्तु उसका अर्थ में विपर्यास हो जाता है। कल्पित होने के कारण इसे कल्पितरूपविपर्यास कहा जाता है। सब लोक व्यवहार इस विपर्यास से ही परिचालित होते हैं। यह विपर्यास द्वितीयस्थानापन्न है। इसलिए इसे गौण कहा जाता है—

अन्ये त्वाचार्याः मन्यन्ते स्वरूपे शब्दो नित्यं वर्तते स एव तस्यान्तरंगो व्यभिचारी (अव्यभिचारी) शब्दान्तरैश्चासाधारणोऽर्थः। तत्र चानुपदेशप्रतिपत्तिः सर्वेषाम्। रूपं तु शब्दानामर्थेष्वेवाध्यारोप्यते। यो गो शब्दः सोऽयं पिण्डोऽर्थः। तथा यो वृद्धि-शब्दः त आदेच इति। तत्र स्वरूपेष्वेव श्रुतयो नित्यावरुद्धाः। अर्थस्वरूपयोस्तु रूपविपर्यासमात्रेण सर्वोलोकव्यवहारः क्रियते। नित्यत्वाच्चेयं सर्वविषया गुणकल्पना गौणव्यपदेशे निमित्तत्वेनोपादीयते। (नियतस्वरूपं श्रूयते) द्वितीयस्थानापन्नविपर्यासस्वरूपं गौणव्यपदेशनिमितं प्रतिपद्यते।[५६]

९. व्यपदेश्य—आवाप-उद्धार पद्धति के आधार पर जाति अथवा द्रव्य व्यपदेश्य अर्थ कहे जाते हैं।

१०. अव्यपदेश्य—वाक्यार्थलक्षण अखण्ड अर्थ को अव्यपदेश्य माना जाता है।

११. सत्त्वभावापन्न—अवाप-उद्वाप पद्धति वाला व्यपदेश्य अर्थ ही सत्त्वभावापन्न अर्थ है।

१२. असत्त्वभूत—वाक्यार्थलक्षण अर्थ जब सत्त्वभावापन्न न हो, असत्त्वभूत माना जाता है। व्यपदेश्य और सत्त्वभूत अर्थ में, तथा अव्यपदेश्य और असत्त्वभूत अर्थ में केवल उक्ति भेद से भेद है।

१३. स्थितलक्षण—जो अर्थ कभी अपने सम्बन्ध को नहीं छोड़ता वह स्थितलक्षण

---

५५. वाक्यपदीय, २।२८० हरिवृत्ति हस्तलेख, श्रृंगार प्रकाश पृ० ३६१ में उद्धृत।
५६. वाक्यपदीय २/२५७ हरिवृत्ति, हस्तलेख; श्रृंगार प्रकाश पृ० ३६२ पर भी उपलब्ध।

कहा जाता है अथवा जिसका लक्षण (स्वरूप) स्थित रहता है वह स्थित लक्षण है। राजपुरुषः में पुरुष का राजसम्बन्धित्व सदा अव्यभिचरित रहता है। वह स्थितलक्षण है। स्थितलक्षण पदार्थ भी होता है, वाक्यार्थ भी होता है।

१४. विवक्षाप्रापितसन्निधान—जिस अर्थ का सम्बन्ध विवक्षाधीन है वह विवक्षा-प्रापित सन्निधान अर्थ है। जैसे राज्ञः पुरुषस्य में विशेषणविशेष्य विवक्षाधीन है, फलतः सम्बन्ध अनियत है।

१५. अभिधीयमान—जो अर्थ जिस रूप में कहा जा रहा है उसी रूप में उसका ग्रहण अभिधीयमान कहलाता है। राजसखः शब्द से यह राजा का सखा है—ऐसा अर्थ अभिहित होता है।

१६. प्रतीयमान—अभिधीयमान से एक कोटि आगे का अर्थ प्रतीयमान माना जाता है जैसे राजसख : से यह राजा का सखा है—पुनः राजा इसका सखा है यह अर्थ झलकता है। यही प्रतीयमान अर्थ है। बाद में इसे ध्वनिवादियों ने अपनाया।

१७. अभिसंहित—शब्द से संपृक्त जो अर्थ रहता है उसे अभिसंहित कहा जाता है। जैसे गो शब्द से जाति अथवा द्रव्य दोनों दर्शनभेद से अभिसंहित हैं।

१८. नान्तरीयक—शब्द के सहचरित वर्णसंघटना आदि नान्तरीयक अर्थ हैं। पुरुषधर्म के भीतर वक्तृत्व और प्रतिपत्तृत्व दोनों गृहीत हैं।

उपर्युक्त अठारह प्रकार के अर्थ भर्तृहरि ने स्वयं किए होंगे। पुण्यराज ने वहीं से इन्हें लिया होगा। इनका कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। अवश्य अर्थ नाम से उल्लिखित उपर्युक्त शब्द भर्तृहरि की कृतियों में बहुधा मिलते हैं। भोज ने अर्थ द्वादश प्रकार के गिनाए हैं जो व्याकरण की दृष्टि से हैं और वे हैं—क्रिया, काल, कारक, पुरुष, उपाधि, प्रधान, उपस्कारार्थ, प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थ, वृत्त्यर्थ, पदार्थ और वाक्यार्थ।[५७]

वस्तुतः पुण्यराज ने जिन अठारह प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है वे अर्थ के भेद न होकर अर्थ के विभिन्न स्वरूप के प्रत्यायक हैं। एक ही अर्थ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से गृहीत हो सकता है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द में विशिष्ट-अविशिष्ट दोनों के अभिधेय की शक्ति रहती है : **विशिष्टाविशिष्टाभिधेय निबन्धनत्वात् शब्दानाम्**।[५८] पुण्यराज ने भर्तृहरि के विशिष्टाभिधेयनिबन्ध के लिए विशिष्टावग्रह-संप्रत्यय हेतु शब्द का व्यवहार किया है और अविशिष्टाभिधेयनिबन्धन के लिए 'विशिष्टावग्रह संप्रत्ययविपरीत' शब्द का व्यवहार किया है। भर्तृहरि ने विशिष्टाभिधेय का उदाहरण चन्दन गन्ध दिया है। चन्दन शब्द विशिष्टसन्निवेश से युक्त रूप रसादि को व्यक्त करते हैं। केवल रूप, रस आदि शब्द सर्वपदार्थ साधारण होने से अविशिष्टा-

---

५७. शृङ्गार प्रकाश, पृ० १२६ मैसूर संस्करण

५८. वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १/३४ पृ० ४९

भिधेय हैं। दर्शन भेद से व्यपदेश्य, अव्यपदेश्य का भी यही उदाहरण है। चन्दन से गन्ध का व्यपदेश होता है, रूप से नहीं होता। अपोद्धार और स्थितलक्षण की चर्चा भर्तृहरि ने **अपोद्धार पदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः** (वाक्यपदीय १।२४) में स्वयं की है। अपोद्धारपदार्थ के लिए ही, पुण्यराज ने आवापोद्धारिक शब्द का व्यवहार किया है। अपोद्धार की प्रक्रिया शास्त्रव्यवहार के लिए है, लौकिक व्यवहार भी उसका अनुगमन करता है। किन्तु अपोद्धार एक पद से अन्वाख्येय है। क्योंकि सत्य अथवा असत्य, सत्ता अथवा असत्ता का बोध नहीं हो पाता है;

सोऽयमपोद्धारपदार्थः शास्त्रव्यवहारमनुपतति।
शास्त्रव्यवहारसदृशं च लौकिकभेदव्यवहारम्।
स चैकपदनिबन्धनः सत्यासत्यभावेनानुपाख्येयः।

—वाक्यपदीय, १।२४ हरिवृत्ति

स्थित लक्षण अर्थ में भी उद्देशप्रविभाग कल्पित होते हैं। संग्रामयति, नमस्यति जैसी क्रियाएँ अविभक्ति रूप में अपना अर्थ व्यक्त करती हैं वैसे ही स्थितलक्षण अविभक्त, अखण्ड अर्थ है।

मुख्य, गौण आदि की चर्चा हो चुकी है, यथावसर अभी आगे भी होगी। भर्तृहरि ने विवक्षाप्रापित सन्निधान अर्थ का व्यवहार अविवक्षित अर्थ के लिए किया है। जैसे घट के लिए प्रकाशित दीप घट के समीप के अन्य पदार्थों का भी द्योतक होता है वैसे ही अर्थ भी विवक्षित अर्थ से सम्बद्ध अर्थ का प्रत्यायक होता है :

शब्दस्य त्वविवक्षितार्थप्रतिपादने किमन्यत् कारणम्
विवक्षाप्रापितसन्निधान एव व्यवहारेषु अर्थात्मा।

—वाक्यपदीय २।३०१ हरिवृत्ति, हस्तलेख

क्रियान्तरव्युदास : पुण्यराज के अनुसार शब्द के अथवा शास्त्र के जो धर्म अनधिकार के रूप में कहे गये हैं वे क्रियान्तरव्युदास माने जाते हैं। भोज ने इसी को दूसरे शब्दों में कहा है। सामर्थ्य, अर्थित्व आदि की किसी स्थल पर अयोग्यता का नाम क्रियान्तरव्युदास है। इसी आधार पर कवियों की ये लोकोक्तियां प्रसिद्ध हैं :

क्वचित् कश्चित् प्रगल्भते। न सर्वः सर्वं जानाति।
किमपि कस्मैचिद् रोचते। भिन्नरुचिर्हि लोकः।

श्रुत्यादिक्रम : पौर्वापर्य के आधार पर नियोजन क्रम है। पुण्यराज ने क्रम के आठ प्रकार दिए हैं—श्रुतिक्रम, अर्थक्रम, पाठक्रम, काण्डक्रम, प्रवृत्तिक्रम, प्रतिपत्तिक्रम, प्रयोगक्रम और बुद्धिक्रम।

श्रुतिक्रम : श्रुति के आधार पर पदार्थों की परिपाटी का अवस्थापन श्रुतिक्रम है। 'स्नात्वा व्रजति' इस वाक्य में त्वा प्रत्यय क्रम का निर्देश करता है। वह पहले स्नान करता है, बाद में जाता है। व्याकरणशास्त्र में पाणिनि ने यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १।३।१० जैसे नियम क्रम-परिपाटी के द्योतक हैं। संभाव्य भर्तारममुं युवानं··· निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्री :—रघुवंश ६।५०। इसमें संभाव्य में ल्यप् प्रत्यय पूर्वकाल में है। विवाह और परिभोग में क्रम निर्देश प्रत्यय द्वारा व्यक्त किया गया है।

अर्थक्रम : सामर्थ्य के आधार पर गठित क्रम अर्थक्रम कहलाता है। 'भुक्त्वा, स्नात्वा व्रजति' इस वाक्य में अर्थक्रम के अनुसार पहले स्नान क्रिया, इसके बाद भोजन क्रिया, तत्पश्चात् गमन क्रिया—ये क्रम हैं किन्तु शब्दतः ये क्रम व्यवहरित नहीं हैं। अर्थक्रम का आधार अर्थ-स्वरूप की पर्यालोचना है। 'अग्निहोत्रं जुहोति यावगूं श्रपयति' इस विधि में यवागू के श्रपण का बाद में उल्लेख है किन्तु व्यवहार में पहले यवागू का श्रपण होता है बाद में अग्निहोत्र होता है।

पाठक्रम : उच्चारण क्रम का दूसरा नाम पाठक्रम है। यथापठित का यथापठित से सम्बन्ध पाठक्रम है। यथासंख्य नियम ही एक तरह से पाठक्रम है। 'विप्रतिषेधे परंकार्यम्' १।४।२ 'पूर्वत्रासिद्धम्' ८।२।१ ये सूत्र पाठक्रम से सम्बद्ध हैं :

इन्दु स्वर्णमातंगपुंस्कोकिलकलापिनः।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिस्वरकेशैस्त्वया जिताः।

इस श्लोक में इन्दु का वक्त्र से, स्वर्ण का कान्ति आदि से यथाक्रम सम्बन्ध है। भोज ने कालिदास के निम्न लिखित श्लोक में पाठक्रम दिखलाया है।

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नीभव दक्षिणस्याः॥[५९]

अत्र पृथिवी सामर्थ्यात् दक्षिणासाधर्म्याच्च पूर्वं पतित्वं पश्चात् करग्रहणमित्यर्थे प्राप्ते पाठसामर्थ्यात् पूर्वं करग्रहणं ततः पतित्वमिति क्रमः।

—श्रृंगार प्रकाश, अध्याय २६, हस्तलेख

काण्डक्रम : वैदिक साहित्य में वर्ण-आचार सम्बन्धी जो आदेश जिस प्रकरण में उद्दिष्ट हैं उसी प्रकार से उनका अभिधान होता है। कर्मों का विधान कारिका क्रम से ब्राह्मणग्रंथों में देखा जाता है। व्याकरण शास्त्र में भी अधिकार के रूप में काण्ड क्रम संभव है। अष्टाध्यायी ६।१।१ से ६।१।१२ तक द्विर्वचन काण्ड तथा ६।१।१३ से ६।१।४४ तक संप्रसारण काण्ड माना जाता है। भोज ने काण्ड क्रम का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु शाबर भाष्य में काण्ड क्रम का व्यवहार है।[६०] भोज ने स्थान क्रम का उल्लेख संभवतः काण्डक्रम के स्थान पर किया है। स्थानक्रम का उदाहरण श्रृंगार प्रकाश के नवें अध्याय में 'भू र्भुवः स्वर्लोकान् तर्पयति' दिया है किन्तु २६ वें अध्याय में प्राकृत गाथा उद्धृत कर लिखा है : अत्र······दिने-दिने सापि कृशायते रणायते च इति क्रमः।[६१]

प्रवृत्तिक्रम :प्रतिपत्ता के इच्छावश प्रवृत्त क्रम को प्रवृत्तिक्रम कहा जाता है। महाभाष्यकार ने कहा है—जिस आनुपूर्वी से अर्थों का प्रादुर्भाव होता है उसी तरह

---

५९. भोज ने इस श्लोक के प्रथम पाद का पाठ 'अनेन कल्याणि करे गृहीते' इस रूप में दिया है। यह पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। भोज की टिप्पणी भी कर ग्रहण को लक्ष्य कर है। श्रृंगार प्रकाश पृ० ३२९ पर भी यही पाठ है।

६०. तत् (क्रमं) श्रुत्यर्थपाठप्रवृत्तिकाण्डमुख्यैः वक्ष्यते—शाबरभाष्य ५।१

६१. श्रृंगार प्रकाश, अध्याय २६, हस्तलेख। भर्तृहरि ने स्थानक्रम का उल्लेख महाभाष्यदीपिका में किया है।

शब्दों का भी होता है। पट्व्या, मृद्व्या इनमें पहले स्त्री प्रत्यय लगते हैं, इसके बाद एक वचन आदि की उत्पत्ति होती है। भोज के अनुसार 'प्राग्वदनोऽघमर्षणानि जपति' में प्रवृत्तिक्रम है।

प्रतिपत्तिक्रम : अवबोध के क्रम को प्रतिपत्तिक्रम कहा जाता है। जैसे राज्ञः पुरुषः के स्थान पर पुरुषः राज्ञः के उच्चारण करने पर भी राज सम्बन्धी पुरुष के क्रम से ही बोध होता है। वैदिक साहित्य में प्रतिपत्ति का उदाहरण दीक्षणीयादि का सोम-यज्ञ से सबन्ध है। सोमयज्ञ प्रधान है। फिर भी दीक्षणीयादि यागनिवर्तन पूर्वक ही सोमयज्ञ की प्रतिपत्ति होती है। भर्तृहरि के अनुसार प्रतिपत्ति क्रम श्रोता अथवा अभि-धाता में व्यवस्थित नहीं है।[६२] भोज ने प्रतिपत्तिक्रम का नाम नहीं लिया है।

प्रयोग क्रम : प्रयोग क्रम का उल्लेख न तो शबरस्वामी ने और न भोज ने किया है। पुण्यराज ने इसके उदाहरण में डुकृञ् करणे जैसे धातुओं का संकेत किया है। इस धातु में जिस क्रम से अनुबंधों का प्रयोग है उसी क्रम से वे संज्ञा पाते हैं।

बुद्धिक्रम : बुद्धिक्रम प्रतिपत्तिक्रम का ही एक रूप जान पड़ता है। व्याकरण में इकोयणचि ६।१।७७ आदि में बुद्धि द्वारा पौर्वापर्य की कल्पना की जाती है। वर्णसंहार आदि में बुद्धिक्रम की चर्चा की जाती है। भर्तृहरि के अनुसार एक बुद्धि में आविष्ट वस्तु का बुद्ध्यन्तर से प्रविभाग होता है। प्रविभक्त का भी एक दूसरे से सम्बन्ध, बुद्धि द्वारा, स्थापित है तभी अर्थ क्रिया संभव हो पाती है। इन सब में बुद्धिक्रम काम करता है। एक ही भावात्मा बुद्धिवृत्ति से विभक्त की जाती है।[६३]

बुद्धिक्रम का उल्लेख किसी अन्य दर्शन में नहीं मिलता। शाबरभाष्य तथा शृंगार प्रकाश में भी इसका उल्लेख नहीं है किन्तु दोनों स्थान पर मुख्यक्रम का उल्लेख है जिसे पुण्यराज ने नहीं दिया है। अभ्यर्हित का पूर्व उल्लेख मुख्यक्रम कहलाता है। जैसे देवान् मनुष्यान् अर्चयति। मुख्यक्रम का उल्लेख भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में किया है।

क्रमों की अन्योन्यसंकरता को भोज ने 'क्रमसंभेद' शब्द से व्यवहृत किया है।

क्रमबलाबल : क्रमों के बलाबल में श्रुतिक्रम, पाठक्रम आदि में परस्पर एक दूसरे के प्रति उत्कर्ष अथवा अपकर्ष पर विचार है। भोज ने श्रुतिबलाबल नाम दिया है और 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इस न्याय को निर्णायक माना है।

अविवक्षितक्रम : कभी-कभी निमित्त वश, वेद में, लोक में शास्त्र में भी क्रम अविवक्षित रहता है।

---

६२. प्रतिपत्तिक्रमोऽयं श्रोतुरभिधातुर्वा न व्यवस्थितः।

वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति, पृ० ४१ लाहौर संस्करण,

प्रतिपत्तिक्रमो न वस्तुसमुत्थः, पुण्यराज द्वारा उद्धृत, वाक्यपदीय २।८०

६३. बुद्धिक्रमो व्यवतिष्ठते तथा हि आह···एकोऽयं शक्तिभेदेन भावात्मा प्रविभज्यते। बुद्धिवृत्त्यनु-कारेण बहुधा ज्ञानवादिभिः॥

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति १।२६, पृ० ४२

पराङ्ग : पराङ्ग से अभिप्राय संभवतः पराङ्गवद्भाव से है।

अप्रयोजक : जो परार्थ उत्पन्न है, उसी के काम करता हुआ पर का उपकार करता है, वह पर उसका अप्रयोजक माना जाता है। दूसरे शब्दों में, स्वयं प्रयोग करने में असमर्थ, किन्तु दूसरे द्वारा किये गए कर्म से जिसका सम्बन्ध हो वह अप्रयोजक है। जैसे मांस के पाक में घृत आदि के साथ अस्थि का सम्बन्ध अप्रयोजक रूप में होता है। स्नान करने वाले के द्वारा स्नानीय द्रव्य से स्नानशाटी का अप्रयोजकरूप में सम्बन्ध है। छत्रच्छाया के प्रयोजक राजा है किन्तु छत्रच्छाया से सम्बन्ध हस्ती का है, हस्ती अप्रयोजक है। तंत्र, अप्रयोजक और प्रसंग तीनों का स्वरूप निम्नलिखित कारिका में है :

साधारणं भवेत्तन्त्रं परार्थं त्वप्रयोजकः।
एवमेव प्रसंगःस्याद् विद्यमाने स्वके विधौ ॥ —शाबर भाष्य १।१।१

प्रयोजक : जिसके द्वारा प्रयुक्त होने पर प्रवृत्ति होती है उसे प्रयोजक माना जाता है। स्वर्ग यज्ञ का प्रयोजक है। गार्हस्थ्य अर्थोपार्जन का प्रयोजक है। राजा छत्रच्छाया का प्रयोजक है। कभी प्रयोजक और अप्रयोजक साथ-साथ संसृष्ट रहते हैं और उनका निर्णय सामर्थ्य के आधार पर किया जाता है।

अर्थानां सन्निधानेऽपि सति चैषां प्रयोजने।
प्रयोजनोऽर्थः शब्दस्य रूपाभेदेऽपि गम्यते ॥[६४]

नान्तरीयक : प्रधान क्रिया के निवर्तन में अनिवार्यतः साथ लगे धर्म अथवा अर्थ नान्तरीयक कहे जाते हैं। पाक क्रिया के लिए प्रज्वलित अग्नि के साथ धूम नान्तरीयक है। भोज के अनुसार जिस सम्बन्ध के साथ क्रिया प्रधान से जुटती है वह नान्तरीयक है (**यत् सम्बन्धमन्तरेण क्रिया प्रधानेन सम्बन्ध्यते तन्नान्तरीयकम्, श्रृङ्गारप्रकाश, पृ० ३०८**)।

प्रधान : जो साध्य है, अपरार्थ है वह प्रधान है। व्याकरण में क्रिया और विशेष्य प्रधान है। प्रधानभाव विवक्षा पर भी निर्भर रहता है।

शेष : जो परार्थ होता है उसे शेष कहा जाता है। शबर स्वामी ने अत्यन्त परार्थ को शेष माना है। आचार्य बादरि ने द्रव्य, गुण और संस्कार को शेष माना था; याग, फल और पुरुष को शेष नहीं माना था। द्रव्य क्रिया के लिए होता है। अतः द्रव्य परार्थ है। गुण भी द्रव्य के आश्रय से क्रिया का उपकारक है। इसलिए वह भी परार्थ है। जिसके होने से कोई वस्तु किसी क्रिया के योग्य होती हैं उसे संस्कार कहा जाता है। क्रिया के लिए संस्कार के प्रयोजन होने से वह भी परार्थ है। शेष है। जैमिनि ने कर्म और फल को भी परार्थ माना है।

व्याकरणदर्शन में प्रधान और शेष भाव विवक्षावशात् होता है। भेद्य विशेष्य होता है। भेदक विशेषण होता है। द्रव्य का साक्षात् क्रिया से सम्बन्ध है। अतः वह प्रधान है। गुण का द्रव्य द्वारा क्रिया से सम्बन्ध होता है, अतः वह अप्रधान है :

---

६४. वाक्यपदीय २।३०५, इस कारिका में पाठभेद मिलता है।

विशेष्यं स्यादनिर्ज्ञातं निर्ज्ञातार्थो विशेषणम् ।
परार्थत्वेन शेषत्वं सर्वेषामुपकारिणाम् ।।[६५]

इसी तरह साध्य होने के कारण क्रिया प्रधान है। सिद्ध होने के कारण कारक अप्रधान है, शेष है। विवक्षावशात् कहीं क्रिया भी शेष होती है।

विनियोगक्रम : शेषशेषिभाव की इतिकर्तव्यता का नाम विनियोगक्रम है। भोज ने श्रुत्यादिविनियोग का उल्लेख किया है। श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या का प्रधान और अंगत्व निर्धारण श्रुत्यादिविनियोग है। श्रुत्यादि का कहीं व्यस्त रूप और कहीं समस्त रूप में विनियोग देखा जाता है। भर्तृहरि ने विनियोग क्रम का एक बौद्धिक रूप भी दिखाया है। शब्द विनियोग क्रम के सहारे अर्थ के प्रकाशक होते हैं। जाति, व्यक्ति अथवा क्रिया के रूप में वाच्य-वाचक का—बुद्धिस्थ शब्द का—बुद्धिस्थ अर्थ के साथ विनियोग होता है। अनेकार्थ में से अभिप्रेत अर्थ-विशेष का परिग्रहण होता है।[६६]

साक्षादुपकारक : जो प्रत्यक्ष रूप में अपने आपका उपकारक हो उसे साक्षात् उपकारक कहा जाता है। जैसे अलंकार आदि अपने लिए साक्षात् उपकारक हैं। व्याकरण शास्त्र में प्रत्यय का साक्षात् उपकारक प्रकृति है। वेद में भी दर्शपूर्णमासयागों में अवघात आदि साक्षात् उपकारक माने जाते हैं।

आरादुपकारक : जो साक्षात् उपकारक न होकर कुछ दूर से उपकारक हैं वे आराद् उपकारक कहे जाते हैं। अलंकार अपने आप के लिए साक्षात् उपकारक हैं, पुत्र-पौत्र के लिए दूर से उपकारक हैं। प्रकृति प्रत्यय का साक्षात् उपकारक है। प्रकृति के विशेषण आराद् उपकारक हैं। प्रयाज आदि दर्शपूर्णमास के आरादुपकारक हैं। अथवा आरात् शब्द की तरह जो परस्पर विरोध के रूप में भी उपकारक हो। आरात् शब्द कभी समीप अर्थ का वाचक होता है, कभी दूर अर्थ का वाचक होता है।[६७]

भर्तृहरि ने आरादुपकारक के लिए आराद्विशेषक शब्द का व्यवहार किया है। विशेषक अलग से वाक्यधर्म नहीं जान पड़ता। भोज ने साक्षात् उपकारक और आराद् उपकारक का उल्लेख नहीं किया है।

शक्तिव्यापारभेद : शक्ति और व्यापार के आश्रय से उपस्थित भेद शक्ति-व्यापार भेद है।

वलाहकात् विद्योतते ।
वलाहके विद्योतते ।
वलाहको विद्योतते ।

---

६५. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ७

६६. विनियोगादृते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः ।
अर्थाभिधानसम्बन्धमुक्तिद्वारं प्रचक्षते ।।

—वाक्यपदीय २।४०६

६७. आराच्छब्दवदेकस्य विरुद्धेऽर्थे स्वभावतः—वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश २७०

इन वाक्यों में वलाहक शब्द क्रमशः उपादान, अधिकरण और कर्तृशक्ति के साथ भिन्न-भिन्न रूप में व्यक्त किया गया है। यह शक्तिभेद है। विवक्षावशात् इन वाक्यों में व्यापारभेद भी है इसलिए शक्तिव्यापारभेद कहा जाता है :

व्यापारं याति भेदाख्यैस्तत् स्वैरवयवैः क्वचित् ।
आत्माभेदानपेक्षोऽस्य क्वचिदेति निमित्तताम् ॥[६८]

'विध्यति धनुषा' इस वाक्य में करण शक्ति अपादान शक्ति को अपने भीतर समेट कर विध्यति के अर्थ के साथ मिल जाती है। धनुष में करणत्व तब तक नहीं आ पायेगा जब तक अपादान शक्ति को वह न अपना ले। पुण्यराज के अनुसार शुद्ध व्यापार भेद संभव नहीं है। शक्तिभेद के बिना व्यापार भेद संभव नहीं है। भोज के अनुसार वास्तव शक्ति भेद के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अग्निःकाष्ठानि दहति, ओदनं पचति, पदार्थान् प्रकाशयति ।
सर्पिः अग्निं दीपयति, पित्तं शमयति, शरीरमाप्याययति ॥

वास्तव शक्ति व्यापार के उदाहरण में आभ्यां क्रीतम्—आभ्यां पक्वः आभ्यां दत्तम् है। इनमें आभ्यां पद का लब्ध आदि पदों के साथ अपादान, करण कर्तृ, संप्रदान आदि के रूप में अभिधाव्यापार भिन्न-भिन्न है।

"पयः पयो जरयति" वाक्य में कर्तृकर्मविशेषविषय व्यापार है। इसी तरह "गावौ गावौ श्रयेते", "पयः पयोऽन्वेषयति" "कुण्डे कुण्डे निधेहि" जैसे वाक्यों में क्रमशः द्वित्व, बहुत्व, कर्माधिकरण विषय से व्यापार भेद है।

फलभेद : फल के आधार पर भेद फलभेद कहलाता है। एक ही दान क्रिया के आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य ये भिन्न-भिन्न फल हो सकते हैं। इन सबमें एक ही फल-प्रीति विशेष है। बहुत क्रियाओं का भी एक फल हो सकता है। भिन्नकर्तृक भी क्रिया कहीं आलेख्य की तरह विभक्त होती हुई भी अविभक्त-सी समुदित रूप में स्वार्थ की सिद्धि करती है।[६९] एक याग-क्रिया का फल यजमान को धर्मरूप में, ऋत्विज को अर्थ रूप में, औदारिक को भोजन रूप में विभिन्न हो सकता है। क्रियाभेद औपाधिक भी हो सकता है; जैसे,

उष्ट्रासिका आस्यन्ते,
हतशायिकाः शय्यन्ते,
रैपोषं पुष्यति।
समूलकाषं कषति।

सम्बन्धजभेद : धातु से उपात्त क्रिया के सम्बन्ध भेद से भेद की प्रतीति सम्बन्धज भेद है। पचतः पचन्ति में धातु से उपात्त पाक क्रिया एक है किन्तु कर्तृभेद से

---

६८. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश १३१

६९. क्वचित् भिन्नकर्तृकापि क्रिया प्रविभक्तावयवरूपा रेखालेख्यादिप्रविभागेन प्रत्यात्मसाधारण-शक्तिसन्निवेशात् समुदायसमवायेन विभागमिव प्राप्तं स्वार्थं साधयति। तामपि समुदायसमवायिनीं केचित् मन्यन्ते। किंचित् भिन्नानां क्रियाणामेव प्रधानविषयत्वं व्याचक्षते।
—वाक्यपदीय २।३८३ हरिवृत्ति, हस्तलेख

भिन्न जान पड़ती है। सम्बन्धभेद औपाधिक भी होता है; जैसे,

'सम्पन्नोयवो यवनेषु शुष्कस्तुरुष्केसु विनष्टः सुराष्ट्रेषु।'

'परुत् भवान् पटुरासीत् पटुतर एषमः।

पुण्यराज ने सम्बन्धजभेद का एक प्रतिपक्ष दिखाया है जहां सम्बन्धजभेद से भेद नहीं होता; जैसे "आस्यते देवदत्तेन" इस वाक्य में भाव में लकार, साधन भेद के अभिव्यक्त न होने के कारण, क्रिया भेद के भी बताने में असमर्थ है। भोज ने सहचारि भेद का भी उल्लेख किया है।

अविवक्षितभेद : भेद का प्रतिपक्षभूत अभेद अविवक्षितभेद से अभिप्रेत है। जहां शक्ति में अभेद है वहां भेद की अविवक्षा माननी चाहिए। 'पक्त्वा ओदनं भुंक्ते' इस वाक्य में कर्ता और कर्म के क्रियाभेद से शक्तिभेद संभव है किन्तु वक्ता द्वारा वह विवक्षित नहीं है। इसी लिए इस वाक्य में समानकर्तृकत्व उपपन्न होता है। भोज ने अङ्गाङ्गिभाव के आधार पर भेद विवक्षा और उसके विपर्यय में अभेदविवक्षा दिखाया है। 'अधि ब्रह्मदत्ते पाञ्चालाः' में भेद विवक्षा और 'तान् एव शालीन् भुञ्जमहे ये मगधेषु' में अभेदविवक्षा है।

इस तरह शक्ति आदि के भेद से भेद अनेक प्रकार का होता है और अभेद भी कई प्रकार का होता है। भेद और अभेद कहीं वास्तविक होते हैं कहीं केवल विवक्षाधीन होते हैं। विवक्षा भी कहीं लौकिकी होती है, कहीं प्रायोक्त्री होती है।

प्रसज्यप्रतिषेध : जहां नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ होता है और वाक्यभेद होता है वहां प्रसज्यप्रतिषेध माना जाता है। जैसे व्याकरण शास्त्र में अकर्तरिच कारके ३।३।१९ सूत्र में नञ् का सम्बन्ध क्रिया से है। 'असूर्यं पश्या राजदारा' 'अभानु भेद्यं तमः' आदि में प्रसज्य प्रतिषेध है।

पर्युदास : जहां नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ नहीं होता और एकवाक्यता होती है, वहां पर्युदास होता है। पाणिनि के आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३ सूत्र में अनुपसर्ग में पर्युदास है। 'अब्राह्मणम् आनय' वाक्य में अब्राह्मण में पर्युदास है।

गौण : तत्पुरुषः समानाधिकरणः १।२।४२ में अवयवों के समानाधिकरण से तत्पुरुष का भी समानाधिकरणत्व माना जाता है। गौर्वाहीकः सिंहो माणवकः आदि गौण के उदाहरण हैं।

मुख्य : शूरः माणवकः जैसे प्रयोग मुख्य के उदाहरण हैं। मुख्य और गौण पर विस्तृत विचार इस ग्रंथ में पहले किया जा चुका है।

व्यापि : अनेक विषय का स्पर्श करने वाला व्यापि है। एक श्रुति दूरात्-सम्बुद्धौ १।२।३३ में लौकिक संबोधन की व्यापकता के कारण उसी का ग्रहण होता है। भोज ने इसके लिए व्यापक शब्द का प्रयोग किया है और उसे क्रियाविषय तथा कारक विषय के रूप में द्विविध माना है।

गुरु : असंक्षिप्त अभिधान गुरु है। 'लोहितशालिमान् अयं ग्रामः' जैसे प्रयोगों में कर्मधारय और मत्वर्थीय का एकत्र समावेश गुरुप्रक्रमा है। आवृत्ति में गुरुप्रक्रमा होती है।

लघु (लाघव) : संक्षिप्त अभिधान लघु है। शास्त्र में एक शेष, संज्ञा आदि का विधान लाघव के लिए किया जाता है। तंत्र और प्रसंग में लघुप्रक्रमा होती है।

अङ्गाङ्गिभाव : संयुक्तविधान होने पर अंगाङ्गिभाव होता है। एक का भी अवयव वाक्यान्तर से व्यवहित होने पर भी दूसरे से संम्बध्यमान होकर सम्बन्ध प्राप्त करता है। बहुतों में भी अंगाङ्गिभाव होता है। एक क्रिया का अनेक वाक्यों से सम्बन्ध में भी अंगाङ्गिभाव होता है। पुण्यराज ने तस्यापत्यम्, ४।१।६२ कर्तरिकृत् ३।८।६७ जैसे सूत्रों में अंगाङ्गिभाव माना है। दीपक अलंकार में भी अंगाङ्गिभाव माना है।

विकल्प : तुल्यप्रमाण वाले वाक्यों में विरोध होने पर विकल्प होता है। वेद में 'व्रीहिभिः यजेत्। यवैः यजेत्' जैसे विधान तुल्यप्रमाण विशिष्ट हैं। और इनमें साथ लेने पर विरोध है। लोक में भी 'दधितक्रे कौण्डिन्याय दीयताम्' वाक्य में दधिदान और तक्रदान का एक साथ विरोध है। व्याकरण शास्त्र में भी ण्वुलतृचौ ३।१।१३३ जैसे सूत्रों में विरोध उपस्थित होता हैं।

विधि और प्रतिषेध के तुल्यबल होने पर भी विकल्प होता है। वेद में, षोड-शिनं गृह्णाति, न गृह्णाति, लोक में 'किंचिदस्य दीयतां, न दीयताम्, ये उदाहरण हैं। विभाषा का व्यवहार भी विकल्प के रूप में होता है। विभाषा तीन प्रकार से देखी जाती है, प्राप्तविभाषा, अप्राप्त विभाषा और उभयविभाषा। काव्य में उत्प्रेक्षा विकल्प का ही एक स्वरूप है। समुच्चय और विकल्प का साथ-साथ निर्देश 'समुच्चयो विकल्पो वा प्रकाराः सर्व एव वा' जैसी कारिकाओं में प्रायः मिलता है।

नियम :—अनेक की प्राप्ति होने पर अयोग, अन्ययोग, व्यवच्छेद के आधार पर निर्धारण नियम कहलाता है। व्याकरणशास्त्र में पतिःसमास एव १।४।८, ते प्राग्-धातोः १।४।८० जैसे सूत्र नियमविधायक हैं। वेद में काल की दृष्टि से 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' नियम है। भाषा में पार्थ एव धनुर्धरः, 'शंख : पाण्डुरेव' जसे प्रयोग नियम के ही स्वरूप के द्योतक हैं।

योग्यता :—अधिकारित्व का ग्रहण योग्यता है। मीमांसा दर्शन में अर्थी समर्थ और शास्त्र से अनिषिद्ध योग्य माना जाता है। लोक में भी समर्थ के साथ योग्यता का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। 'धुरि धुर्यो नियुज्यते' लोकोक्ति प्रसिद्ध है। वैदिक क्रिया में भी दर्भ के स्थान में शर द्वारा प्रस्तरण, ऋत्विज का लोहित-उष्णीष विधान आदि योग्यता के निदर्शक हैं। व्याकरण में भी एक पद में एक उदात्त और शेष का अनुदात्त विधान योग्यता से सम्बन्ध रखता है।

लिङ्गाद् भेद : शब्दान्तरोपलब्ध वस्तु के सामर्थ्य से सामान्य रूप में आक्षिप्त का विशेष रूप में अवस्थापन लिङगाद्भेद कहा जाता है। वेद में 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' श्रुति है। किससे अक्त की जिज्ञासा होने पर 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्या-न्तर लिङ्ग के बल से घृत से अक्त रूप में विशेष की प्रतीति होती है। भाषा में भी 'रामोऽसौ भुवनेषु' इसके श्रवण से राम और परशुराम के संदेह में आगे के एक बाण से तमालवेध के विवरण रूपी वाक्यान्तर लिङ्ग से दशरथपुत्र राम का बोध होता है। व्याकरण शास्त्र में ओः पुयण्ज्यपरे ७।४।८० सूत्र में पुयण्ज्यपर' यह वचन द्विर्वचन

निमित्तक णि परे स्थानिवद्भाव का ज्ञापक होता है। काव्य में लिङ्गाद् भेद का उदाहरण भोज ने दिया है :

उत्तीर्णस्य जयन्ति दान्तभुजगस्याश्लिष्य मात्रा हरे।
निर्धूताश्चलकाकपक्षशिखरव्यासङ्गिनोऽम्भः कणाः।

इसमें दान्तभुजग और अम्भःकण के लक्षण से यमुना-ह्रद के उत्तीर्ण के अर्थ-विशेष की उपलब्धि होती है। भोज ने अर्थ, प्रकरण, औचित्य आदि के आधार पर सामान्यवाची शब्द का विशेषरूप में अध्यवसाय को लिङ्गाद् विभेद कहा है।

अपोद्धार : विभाग को अपोद्धार कहा जाता है। अत्यन्त संसृष्ट का अनुमेय अथवा कल्पित रूप में प्रकृत स्वरूप का विश्लेषण अपोद्धार कहलाता है। 'धृषशमी वैघात्ये' पढ़ा जाता है। इसमें वैघात्य शब्द से अपोद्धार कर विघात का भाव वैघात्य इस रूप में विभाग किया जाता है। वेद में 'वायव्यं श्वेतमालभेत्'[७०] इस वाक्य से वायव्य पद से अपोद्धार कर 'वायुर्क्षेपिष्ठा देवता' इस रूप में विभाग किया जाता है। लोक में भी 'किस राजा का पुरुष' के उत्तर में शुद्रक का कहा जाता है। काव्य में अपोद्धार का उदाहरण कालिदास के निम्नलिखित श्लोक में है :

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥[७१]

इसमें 'अनेन' इस सर्वनाम के द्वारा 'रञ्जयित्वा' इस श्रुति में समवेत चरणराग पृथक् किया जाता है।

भर्तृहरि ने उपर्युक्त वाक्यधर्मों का एकत्र उल्लेख किया है। भोज द्वारा दिए गये वाक्यधर्मों में अर्थवाद, अनुवाद, व्यवहित कल्पना, उपचार कल्पना, तद्भावापत्तिः प्रतिनिधि, अध्याहार, विरिणाम, वाक्यशेष, अवधि, अनिर्ज्ञातप्रश्न इन पर पुण्यराज ने जहां तहां विचार किया है और ये भर्तृहरि द्वारा भी प्रसंगतः वर्णित हैं। इनमें प्रति-निधि और अनिज्ञात प्रश्न की चर्चा अन्विताभिधानवाद के प्रसंग में की गई है। शेष पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

अर्थवाद : स्तुति अथवा निन्दा के लिए अतिशयोक्ति का आश्रय अर्थवाद के नाम से विदित है। भर्तृहरि के अनुसार अर्थवाद प्रवर्तक भी होता है और निवर्तक भी होता है।[७२]

अनुवाद : सिद्धि का विधि अथवा निषेध के लिए उच्चारण अनुवाद कहलाता है। पुनः स्पष्टीकरण के लिए सिद्ध वस्तु का पुनः उपात्त भी अनुवाद माना जाता है।

---

७०. तैत्तिरीय संहिता २।१।१

७१. कुमार संभव ७।१९

७२. अर्थवादस्तु प्रवर्तको निवर्तको वा। तत्रायं प्रवर्तको निगदः। सर्वा वा इमा दिशः पशुया ३ ज्यभि-जयति सर्वान् लोकान् सर्वा एवास्येमा दिशोभिजिता भवन्ति सर्वे लोकाः। निवर्तकः न दतो गमयेत् यददतो गमयेत् सर्पा एनं घातुकाः स्युः सर्पानेव शमयत्यहिंसायै।

—महाभाष्यत्रिपादी, पृ०

प्रमाणान्तर से ज्ञात अर्थ का शब्द द्वारा उल्लेख मात्र भी अनुवाद है।[७३] 'कथं एवं विधायास्तव एवं विधः पतिः' इस वाक्य में, भोज के अनुसार, अनुवाद है।

व्यवहितकल्पना : सन्निहित पदार्थ की अयोग्यता के कारण जब व्यवहित का आश्रय लिया जाता है, व्यवहितकल्पना होती है। 'प्रविश पिण्डीं' कहने पर प्रवेश क्रिया के सान्निध्य से स्थित पिण्डी से इसका सम्बन्ध अनुपन्न होने से व्यवहित भी गृह आदि की अपेक्षा होती है। इसी तरह पिण्डी का सन्निहित प्रवेश क्रिया से अयोग्यता के कारण भक्षण क्रिया का आक्षेप हो जाता है।

उपचार कल्पना : किसी निमित्त के आधार पर अन्य के धर्म का अन्यत्र अध्यारोप उपचारकल्पना है। इसके लिए जयादित्य ने गुणकल्पना शब्द का व्यवहार किया है।[७४] उपचार निबन्धन धर्म यहां गुण शब्द से अभिप्रेत है। गुणनिमित्त कल्पना गुणकल्पना है। वह उपचारात्मक होती है इसलिए उसे उपचारकल्पना कहते हैं। जो वस्तु जैसी न हो उसमें वैसा आरोप अथवा आरोपित भाव, ज्ञान, उपचार कहा जाता है। 'मञ्चाः क्रोशन्ति', जैसे वाक्यों में अन्य के धर्म का अन्यत्र आरोप है।

तद्भावापत्ति : भोज ने विपर्यय से अतद् में तत् के व्यपदेश को तद्भावापत्तिः कहा है। शुक्ति में रजत का, मृगतृष्णिका में जल का व्यपदेश तद्भावापत्ति है।

अध्याहार : वाक्य के न्यून होने पर आकांक्षा की निवृत्ति के लिए विशिष्ट क्रिया, कारकपद आदि का उपादान अध्याहार कहलाता है। द्वारं-द्वारं के सुनने से आकांक्षा की पूर्ति के लिए यथावसर निव्रियताम् अथवा आव्रियताम् क्रिया का अध्याहार कर लिया जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है :

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः।

इसमें परशुना (छिनत्ति), मधुसर्पिषा (सिञ्चति) आदि रूप में अलग-अलग क्रियापद का अध्याहार अर्थसामंजस्य की दृष्टि से कर लिया जाता है।

व्याकरण में सोपस्कार सूत्रों में, जिन सूत्रों में क्रियापद के प्रयोग सूत्रकार ने नहीं किए हैं, क्रिया का अध्याहार लक्ष्य के अनुसार कर लिया जाता है। वृत्तिकार ऐसे सूत्रों में क्रियापद के साथ ही अर्थ करते हैं जैसे धातोरण् भवति, कर्तरि कृतः भवन्ति आदि। इको गुणवृद्धी १।१।३ सूत्र के लिये 'यत्र गुणवृद्धी ब्रूयात् तत्रेक इत्युपस्थितं द्रष्टव्यम्' इस रूप में अध्याहार किया जाता है।

वाक्यशेष : जहां वाक्य से साक्षात् विधि अथवा निषेध न कहा गया हो—अश्रुत हो, वहां उसकी परिकल्पना वाक्यशेष मानी जाती है। 'यह आर्य निवास है' इतना कहने से यहीं ठहरने की कल्पना हो जाती है। यही वाक्यशेष है। इसी तरह 'इस नदी में ग्राह है' इस वाक्य में स्नान का निषेध वाक्यशेष के रूप में उपस्थित होता है।

भर्तृहरि ने अध्याहार और वाक्यशेष का समान अर्थ में भी प्रयोग किया है :

---

७३. प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन संकीर्तनमात्रमनुवादः—काशिका २/४/३
७४. काशिका वृत्ति ४।१।८८

सोपस्कारेषु सूत्रेषु वाक्यशेषः समर्थ्यते ।
तेन यत् तत् तृतीयान्तं क्रियाचेत् सेति गम्यते ।।[७५]

अध्याहार और वाक्यशेष में भेद यह है कि अध्याहार शाब्दी आकांक्षा का निवर्तक होता है । जबकि वाक्यशेष आर्थी आकांक्षा का निवर्तक होता है ।[७६] भर्तृहरि की इस सम्बन्ध में दो कारिकाएँ हैं :

स्वार्थमात्रं प्रकाश्यासौ साकांक्षो विनिवर्तते ।
अर्थस्तु तस्य सम्बन्धी प्रकाशयति संनिधिम् ।।
पारार्थ्यस्याविशिष्टत्वान्न शब्दाच्छब्दसन्निधिः ।
नार्थाच्छब्दस्य सान्निध्यं न शब्दादर्थसंनिधिः ।।[७७]

पुण्यराज और भोज दोनों ने इस प्रसंग में श्रुतार्थापत्ति का प्रश्न उपस्थित किया है । 'पीन देवदत्त दिन में नहीं भोजन करता है ।' इस वाक्य में पीनत्व भोजन के बिना अनुपपन्न है, इसलिए वह उपयुक्त शब्द द्वारा रात्रि भोजन का गमक माना जाता है । पुण्यराज के अनुसार यहां चार संभावनाएं हो सकती हैं—शब्द द्वारा शब्द का आक्षेप, अर्थ द्वारा शब्द का आक्षेप, शब्द द्वारा अर्थ का आक्षेप, अर्थ द्वारा अर्थ का आक्षेप । इनमें शब्द द्वारा शब्द का आक्षेप पक्ष उपयुक्त नहीं है । स्वार्थ प्रतिपादन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है । अपने अर्थ के प्रकाशन तक ही उसका व्यापार है । अर्थ द्वारा शब्द का आक्षेप भी संभव नहीं है । अर्थ से शब्द का सांनिध्य नहीं है । जिस अश्रुत का अर्थ-सांनिध्य अपेक्षित है वह भी परतंत्र है । प्रयोजक सान्निध्य के बिना उसका संनिधापन संभव नहीं है । अन्य अर्थ का और अन्य शब्द का वाच्य-वाचक भाव न होने से अर्थ द्वारा शब्द का आक्षेप युक्तिसंगत नहीं है । शब्द के उच्चरित होने पर श्रुतार्थापत्ति से परिकल्पित शब्दवाच्य अर्थ का आक्षेप भी अनुपपन्न होगा क्योंकि वाच्य-वाचकभाव के न होने के कारण यहां भी शब्द से शब्दान्तर वाक्य अर्थ की उपस्थिति न हो सकेगी । यदि अर्थ-से-अर्थ का आक्षेप स्वीकार किया जाय तो शब्द एकत्व की उपपत्ति नहीं हो पाती है । पुण्यराज के मत में चतुर्थपक्ष कुछ दूर तक ठीक है । उनके मत में एक पदों के प्रयोग में श्रुतार्थापत्ति से शब्दान्तर के आक्षेप से वाक्यार्थ निष्पत्ति मानने की अपेक्षा एक पद का ही प्रकरण आदि के बल से अर्थ-प्रत्यायन की क्षमता मान लेना अधिक उपयुक्त है ।

भोज ने अध्याहार और वाक्यशेष दोनों के लिए श्रुतार्थापत्ति आवश्यक माना है । पद के ही दीर्घ-दीर्घ व्यापार के रूप में सब तरह के अर्थ प्रत्यायन सामर्थ्य मानने के पक्ष में वे नहीं हैं । क्योंकि पद या तो अभिधा के द्वारा उन अर्थों का बोध कराएगा अथवा तात्पर्य शक्ति के द्वारा उनका प्रत्यायन कराएगा । अभिधापदार्थप्रतिपादन में ही

---

७५. वाक्यपदीय ३, वृत्तिसमुद्देश ४६३

७६. कः पुनरध्याहारवाक्यशेषयोर्विशेषः । शब्दाकांक्षानिवर्तकोऽध्याहारः, अर्थाकांक्षानिवर्तको वाक्यशेष इति ।—शृंगार प्रकाश, पृ०३२४

७७. वाक्यपदीय २।३४१-४२

क्षीण हो जाती है। तात्पर्य शक्ति का सम्बन्ध प्रतीयमान अर्थ से अवश्य है किन्तु वह तभी काम करती है जब वाक्य और वाक्यार्थ दोनों परिपूर्ण हों, जैसे 'विषं भुंक्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस वाक्य में वाक्य और वाक्यार्थ की पूर्णता है। जहां वाक्य आदि पूर्ण नहीं हैं वहां अध्याहार, वाक्यशेष आदि की कल्पना करनी पड़ती है और इनकी सिद्धि के लिए श्रुतार्थापत्ति स्वीकार करनी चाहिए।[७८]

विपरिणाम : लिङ्ग, वचन, विभक्ति आदि जिस रूप में उपात्त हों उसी रूप में पुनः उच्चरित होते हुए भी यदि अर्थान्तरवश उनका दूसरे रूप में संबंध दिखाया जाय—वह विपरिणाम कहलाता है। यह एक तरह से ऊह ही है। केवल यही भेद है कि ऊह प्रकृति-विकृति को लक्ष्य कर होता है जबकि विपरिणाम के लिए इस तरह का कोई बन्धन नहीं है। विपरिणाम में विषयान्तर की अपेक्षा अवश्य की जाती है :

विविभक्तिः प्रकृत्यर्थं प्रत्युपाधिः कथं भवेत्।
विभक्तिपरिणामे च प्रकल्प्यं विषयान्तरम्॥ वाक्यपदीय ३, ४५८

तेन तुल्यं क्रिया चेत् वतिः ५।१।११५ इस सूत्र में 'तेन' में तृतीया समर्थ प्रकृति प्रधान है। क्योंकि विशेष्य है। उसको लक्ष्य कर 'क्रिया' शब्द का प्रथमान्त रूप में व्यवहार किया गया है। दोनों पद भिन्न विभक्ति वाले हैं। इनमें सामानाधिकरण्य कैसे संभव है? ऐसे स्थलों में संबंध की अन्यथानुपपत्ति के कारण विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। अथवा वाक्याध्याहार से उपपत्ति की जाती है। अथवा उपाधि के आश्रय से विभक्तिविपरिणाम नहीं माना जाता है :

अत्यन्तानुगमात् तत्र सूत्रे न च विग्रहे।
विभक्तिविपरिणामेन किञ्चिदस्ति प्रयोजनम्॥

—वाक्यपदीय ३, वृत्ति समुद्देश ४६६

अवधि : इयत्ता निर्धारण का नाम अवधि है। इस शब्द का यह अर्थ है, अथवा इस अर्थ में यह शब्द है इस तरह की एक बौद्धिक सीमा अवधि कहलाती है। महाभाष्यकार आदि ने जहां द्विष्ठ शब्द का व्यवहार किया है उसी के लिए भोजने अवधि नाम दिया है। यह श्लेष अलंकार का विषय है।

'काले नदन्ति नागाः' यह वाक्य दो रूप में विभक्त किया जा सकता है—

१—काले (समय पर) नदन्ति (गरजते हैं) नागाः (सांप)।

२—कालेन (काले) दन्तिना (हाथी पर) अगाः (गये हो)

उपर्युक्त सभी वाक्यधर्म वाक्यार्थविशेष की प्रतिपत्ति में सहायक माने जाते हैं। एक वाक्य के विभिन्न अर्थों की कल्पना कर अथवा लोक और वेद में उसके विभिन्न अर्थों को देखकर उन अर्थों के निर्णायक कुछ तत्त्वों की कल्पना कर ली गई थी। ये ही वाक्यधर्म अथवा वाक्य-लक्षण हैं।

---

७८. शृंगारप्रकाश, पृ० ३२५-२६

वाक्यार्थ की प्रक्रिया

वाक्य और वाक्यार्थ को अखण्ड मानने वाले आचार्य भी व्यवहार दशा में पद-पदार्थ की कल्पना करते हैं। जो वाक्य को सखण्ड मानते हैं उनके यहां पद-पदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थ पर विभक्त रूप से विचार स्वाभाविक है। पद-पदार्थ के अन्वय-अनन्वय को लेकर प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त ऊहापोह मिलता है। महाभाष्यकार ने ऐसे प्रसंगों पर अन्वय-व्यतिरेक पद्धति का आश्रय लिया है किन्तु कहीं-कहीं आक्षेप आदि का भी संकेत किया है। केवल प्रविश से द्वार का, दत्त से देवदत्त का, भामा से सत्यभामा का अवबोध देखा जाता है। पतंजलि ने वाक्यैकदेश माना है :

अथवा दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेश-
प्रयुञ्जानाः, पदेषु च पदैकदेशम् ।

—महाभाष्य १।१।४५, पृष्ठ १११, कीलहार्न संस्करण।

उद्भट के विचार

वाक्य में पदों में व्यपेक्षा आदि के सहारे परस्पर अन्वय होता है। उद्भट के अनुसार वह तीन तरह का होता है, शाक्त, वैभक्त और शक्तिविभक्तिमय।[1]

कर्म आदि शक्तियों से निर्वृत्त को शाक्त कहा जाता है। संबंध आदि विभक्तियों से निर्वृत्त को वैभक्त कहा जाता है और दोनों से निर्वृत्त को शक्ति-विभक्तिमय माना जाता है।

क्रिया और सुप् विभक्ति से कर्ता और कर्म के अभिधान में शाक्त होता है। कृत् और आख्यात से भिन्नकालस्थ कर्तृ शक्ति के अभिधान में और सुप् विभक्तियों से कर्म, करण और संप्रदान के अभिधान में भी शाक्त होता है। आख्यात विभक्ति से हेतु शक्ति के अभिधान में और सुब्विभक्ति से कर्ता, कर्म, अपादान और अधि-करण शक्ति के अभिधान में भी शाक्त होता है। आख्यात द्वारा कर्ता के अभिधान में सुप् विभक्ति द्वारा कथित और अकथित कर्म के अभिधान में भी शाक्त होता है।

वैभक्त अन्वय संबंधविभक्ति से, शेषविभक्ति से, उपपदविभक्ति से और सम्बोधनविभक्ति से निर्वृत्त होता है।

कारकविभक्ति से और संबंध, उपपद, शेष, संबोधन विभक्तियों द्वारा अभि-व्यक्त शक्तिविभक्तिमय है। विभक्तियों के लोप होने पर भी जहां शक्ति का उद्गमन हो वह भी शक्तिविभक्तिमय है। जहां एक ओर शक्ति दूसरी ओर विभक्ति हो वह भी शक्तिविभक्तिमय है।[2]

---

१. पदानामभिधिसितार्थग्रन्थनाकारः संदर्भो वाक्यम् ।
तस्य च त्रिधाऽभिधा व्यापार इत्यौद्भटाः । वैभक्तः, शाक्तः, शक्तिविभक्तिमयश्च ।
काव्यमीमांसा पृ० २२, बड़ौदा संस्करण।

२. शृंगारप्रकाश २७५-२७६ ।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद

वाक्यार्थ प्रक्रिया के विषय में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद प्रसिद्ध वाद हैं। यद्यपि व्याकरणदर्शन में इन वादों की प्रसिद्धि नहीं है किन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं, वाक्यपदीय में इन वादों द्वारा स्वीकृत मान्यताओं की चर्चा है और पुण्यराज ने इन दोनों वादों का खुलकर उल्लेख किया है और इनकी आलोचना की है। नागेश ने भी मंजूषा में इन पर विचार किया है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार पद पहले सामान्य अर्थ का बोध कराते हैं बाद में, आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के सहारे विशेष का बोध कराते हैं। विशेष वाक्यार्थ है और वह अपदार्थ है। प्राचीन आचार्यों में पतंजलि और शबरस्वामी का भी ऐसा ही मत है। सादृश्य के कारण, लाघव की दृष्टि से, अन्वयव्यतिरेक का आश्रय लेकर पद और पदार्थ की कल्पना की जाती है। प्रतिवाक्य से व्युत्पत्ति भी सबको संभव नहीं है। अतः व्यवहार की दृष्टि से पद-पदार्थ की कल्पना कर ली जाती है। वाक्य मुख्य है। संसर्ग वाक्यार्थ है। प्राचीन दृष्टिकोण में और अभिहितान्वयवाद में केवल इतना ही अन्तर है कि अभिहितान्वयवाद में वाक्यार्थ की प्रतीति पदार्थ-प्रतीतिपूर्वक ही मानी जाती है। जब तक पदार्थ का ज्ञान न हो, वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं देखा जाता है।

अन्विताभिधानवाद की दृष्टि में वाक्य से ही व्यवहार होता है, पद से नहीं। एकार्थपरक पदसमूह वाक्य है। सभी पद परस्पर मिलकर वाक्यार्थ का अवबोध कराते हैं। अन्वित का ही स्वशब्द से अभिधान होता है, वाक्यार्थ की साक्षात् उपलब्धि होती है, परम्परया नहीं। वाक्यार्थ संसृष्ट स्वरूप है। इस वाद का मूल भी महाभाष्य में मिल जाता है :

न वै पदार्थादन्यस्यार्थस्योपलब्धिः भवति वाक्ये।

—महाभाष्य १।२।४५ पृ० २१८ कीलहार्न सं०

इस वाक्य का अभिप्राय, कैयट के अनुसार, यह है कि अपने अपने अर्थ को व्यक्त करने वाले पद वाक्य हैं। पदार्थ ही आकांक्षा, योग्यता, सन्निधिवश परस्पर संसृष्ट होकर वाक्यार्थ हैं।[3] भर्तृहरि ने अन्विताभिधानवाद का संकेत निम्नलिखित कारिका में किया है :

नियतं साधनं साध्ये क्रिया नियतसाधना।
स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते॥

—वाक्यपदीय २।४७

अभिहितान्वयवादी अन्विताभिधानवाद की समीक्षा में कहते हैं कि यदि पद

३. पदानि स्वंस्वमर्थं प्रतिपादयन्ति वाक्यम्। पदार्था एव आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् परस्परं संसृष्टा वाक्यार्थ इत्यर्थः

—कैयट, प्रदीप १।२।४५

का जो अर्थ होता है, पदार्थान्तर अन्वित दशा में भी वही होता है, अर्थ की प्रतिपत्ति कदम्बक रूप में होगी, पदार्थ का प्रविभाग न हो सकेगा। आवाप उद्वाप पद्धति से यथा अवसर जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया के रूप में पदार्थ का विषय-विभाग अवगत भी हो जाय, कदम्बक रूप में अर्थ की प्रतीति वहां भी होगी। अन्विताभिधान पक्ष में दो पदार्थों का परस्पर संबंध भी कठिनाई से जान पड़ेगा क्योंकि प्रतियोगी अनन्त हैं, फलतः अन्वय भी अनन्त होगा। अन्वय की अनन्तता से अन्वित के अभिधान का सम्बन्ध ग्रहण न हो सकेगा। यदि उससे अनपेक्ष रूप में संबंध ग्रहण माना जायगा पहले सुने हुए भी उस अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। 'गाय लाओ' कहने पर अश्व बांधो अर्थ का भान हो सकेगा। वृद्धव्यवहार में भी वाक्य से होने वाली प्रतीति भी पदपर्यवसायी होती है। अन्यथा प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति की अपेक्षा होगी और ऐसा संभव न होने से, आनन्त्य और कठिनाई के कारण शब्दव्यवहार का ही उच्छेद हो जायगा। इसके अतिरिक्त अभिनव कवि की कविता से भी अर्थबोध होता है, वह पद और पदार्थ की व्युत्पत्ति के बल पर ही होता है। वाक्यार्थ की व्युपत्ति के सहारे नहीं होता। साथ ही अन्वय अन्वित का विशेषण है, पहले अन्वित का अभिधान हो ले तब अन्वय काम कर सकता है अन्यथा नहीं। किन्तु यह एक शक्ति से संभव नहीं है। इसकी सिद्धि के लिए शक्त्यन्तर कल्पना करनी पड़ेगी। अन्विताभिधान पक्ष में 'गाम् आनय' वाक्य से यदि गो शब्द से आनयति क्रिया से विशिष्ट की अभिव्यक्ति मानें, गो के अर्थ की प्रधानता होगी। यदि आनयति क्रिया से गो अर्थ की विशेषता मानें तब क्रिया के अर्थ की प्रधानता होगी। इस तरह से, दो प्रधान अर्थ के होने से, वाक्य-भेद होगा।

अन्विताभिधानपक्ष में, पहले प्रकृति-प्रत्यय का अन्वय, तदनन्तर पदार्थों का अन्वय—इस रूप में दो बार अभिधान मानना पड़ेगा।

यदि यह मान लिया जाय कि पद अन्वित होकर अपना अर्थ व्यक्त करता है तो उस समय दूसरा पदार्थ अभिहित होता है अथवा अनभिहित। यदि दूसरा पदार्थ अनभिहित होता है, एक ही पद से उसके अर्थ से अनुरंजित द्वितीय पदार्थ के भी ज्ञान हो जाने के कारण पदान्तर-उच्चारण व्यर्थ होने लगेगा। इस दृष्टि से, एक ही पद अखिल पद अर्थ को प्रकट करने वाला हो जायगा और उसी एक से ही व्यवहार होने लगेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। केवल गौः कहने से सब वैशिष्टय् के बोध होने के कारण यह नहीं समझ में आयगा कि किस गुण आदि का उपादान हो। नियत गुण-क्रिया आदि से अनुरूप स्वार्थ की प्रतीति होती है इसमें कोई हेतु नहीं है। पदान्तर संनिधान को भी नियम हेतु नहीं माना जा सकता। वह जप, मंत्र आदि पदों की भांति यदि स्वरूप मात्र से ही सन्निहित होता है, अविशिष्ट है। यदि पदान्तर का संनिधान अर्थ प्रतिपादन के रूप में नियम का हेतु होता है, वह अभिहित अर्थों के अन्वय का प्रतिपादक हो जाता है जो अभिहितान्वयवाद के अनुकूल है।

यदि ऐसा माना जाय कि प्रथम पद के अन्वय के समय दूसरे पद का अर्थ अभिहित रहता है तब मानना होगा कि प्रथम पद पदान्तरोत्थ अर्थाभिधान की अपेक्षा

रखता है और इस तरह इतरेतराश्रय दोष उपस्थित हो जायगा। यदि दूसरा पद अनन्वित रूप में अर्थ बोध करा सकता है, पहले का क्या अपराध है। यदि सभी पदों से स्वार्थमात्र का अभिधान मान लें तो एक तरह से अभिहितान्वय पक्ष का समर्थन होता है।

इसके अतिरिक्त, "अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतम्" जैसे वाक्य में भी अन्विताभिधानपक्ष में, अन्वय होने लगेगा।

अन्विताभिधानवादी मानते हैं कि वाक्य कार्यभूत है। वक्ता के मन में अर्थ का पूर्वविज्ञान कारण भूत है ऐसा अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात् बौद्ध अर्थ कारण है बाह्य वाक्य कार्य है। ज्ञान ज्ञेय से अव्यभिचरित है। इससे ज्ञेयभूत अर्थ का निश्चय होता है। वाचकशक्ति से अर्थ का परिज्ञान नहीं होता। अतः जिस दर्शन में वाचक शक्ति का ही निश्चय नहीं है, अन्वित का अभिधान कैसे संभव है?

अन्विताभिधानवाद के समर्थक उपर्युक्त आक्षेपों के उत्तर दे देते हैं। कदम्बक रूप में अर्थ की प्रतिपत्ति और प्रतियोगियों के अनन्त होने के कारण पदार्थ प्रतिभास की दुष्करता के उत्तर में वे अपनी पदार्थान्वय प्रक्रिया की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके मत में 'गौः शुक्लः' में गो शब्द का शुक्ल से अन्वित अर्थ नहीं होता, ऐसा मानने पर व्यभिचार होगा क्योंकि कृष्ण से अन्वित रूप में भी उसके अर्थ की उपलब्धि होती है। सर्व पदों से अन्वित रूप में भी अर्थ नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने पर आनन्त्य के कारण अर्थपरिज्ञान दुर्बोध होगा। वस्तुतः उसका अर्थ आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के सहारे उपलब्ध अर्थान्तर से अनुरक्त रूप में व्यक्त होता है। यह व्युत्पत्ति पद के अवाप-उद्वाप अथवा रचना वैचित्र्य के कारण वाक्य से ही प्रकट हो जाती है। जो आकांक्षित है, योग्य है, सन्निहित है, उससे अन्वित होकर पद अपने अर्थ का प्रदिपादन करता है। भर्तृहरि की निम्नलिखित कारिकाएँ भी इस मत का समर्थन करती हैं :

नियतं साधनं साध्ये क्रिया नियतसाधना।
स सन्निधानमात्रेण नियमः सन्प्रकाशते॥
गुणभावेन साकांक्षं तत्र नाम प्रवर्तते।
साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते॥[४]

सन्निहित, आकांक्षित और योग्य से उपरक्त अपने अर्थ में सम्बन्धग्रहण कर सर्वत्र ग्रहण कर लिया जाता है। इसलिए आनन्त्य और व्यभिचार के कारण संबंध अग्रहण का दोष नहीं होगा। पुनः पद-पदार्थ में संबंध-ग्रहण की उपपत्ति होने के कारण प्रथमश्रुत पदार्थ प्रतीति का जो आरोप किया गया था वह निराधार है और गाय लाओ इससे गाय बांधो यह अर्थ भी नहीं झलकेगा, प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति की अपेक्षा भी नहीं होगी और न अभिनव कवि के श्लोक से वाक्यार्थ प्रतीति होती है। अन्वितअभिधान-शक्ति के आधार पर ही अन्वय होता है इसलिए दो शक्तियों के

४. वाक्य पदीय २।४७, ४८

कल्पना-गौरव का दोष भी नहीं है। वाक्यभेद संबंधी जो आक्षेप किया गया था वह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि अन्वित संबंध कभी प्रधान रूप में और कभी अप्रधान रूप में यथायोग्य उत्पन्न हो जायगा, वाक्य भेद नहीं होगा।

प्रकृति-प्रत्यय के और पद के अभिधान में दो बार अभिधान होने का जो दोष दिखाया गया है वह भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि प्रकृति से अन्वित का अर्थ व्यक्त होता है। प्रत्यय प्रत्ययार्थ और पदार्थ से अन्वित स्वार्थ को व्यक्त करता है। प्रत्ययार्थ के प्रकृत्यर्थान्वित के पद की अपेक्षा होने के कारण दो बार अभिधान नहीं माना जायगा।

अभिहित-पदार्थान्तर-अन्वित के अभिधान पक्ष में दूसरे पद के उच्चारण की व्यर्थता का दोष और अनभिहित पक्ष में इतरेतराश्रय दोष—ये दोनों भी निराधार हैं। क्योंकि, अन्विताभिधानवाद के मत में, प्रथमश्रुत पद ही अन्योन्य रूप में अन्वित होकर स्वार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं-—ऐसी उनकी मान्यता नहीं है। वे मानते हैं कि जिस पद के जितने अर्थ संभव हैं, उसके श्रवण से उतने अर्थ स्मृति में झलक उठते हैं। पुनः आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के सहारे परस्पर अन्वित होकर पदों के द्वारा स्मृति आरूढ़ उन अर्थों का बोध होता है। क्योंकि उस व्यक्ति में वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं जगती जिसने संबंध ज्ञान नहीं प्राप्त किया है अथवा जिसमें संबंध के ग्रहण करने वाले संस्कार नहीं उत्पन्न हुए हैं। अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं। जिनके संस्कार च्युत नहीं हुए हैं वह पद-पद को सुनकर इस अर्थ से यह यह आकांक्षित सन्निहित और योग्य है इसका स्मरण कर लेता है।[५]

पदों द्वारा अन्वित का अभिधान यदि स्मृतिसन्निधान के सहारे अपनाया जायगा, अनेक स्मृति के उद्बुद्ध होने की संभावना होगी, क्योंकि स्मृति प्रत्यासत्ति से संपृक्त होती है। स्मृति के सन्निहित पदार्थों के किसी विशेष का ग्रहण न हो सकेगा। फलतः 'उखायां पचति' वाक्य में उखा केवल पचति के अर्थ से अन्वित रूप में ही सामने नहीं आयगी अपितु कलाय निर्वाप आदि से युक्त भी जान पड़ेगी क्योंकि उनका स्मरण भी उखा के साथ-साथ होगा। इसी तरह 'पचति' का अर्थ इष्टका कर्म से भी संपृक्त होने के कारण उसका भी स्मरण होने से ओदन-अन्वित रूप में सामने नहीं आएगा। इस आक्षेप का उत्तर यह कह कर दिया जाता है कि शब्द से जिनका स्मरण होता है उनका अन्वय होता है, वृद्ध-व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है।

---

५. पार्थसारथि ने 'स्मृति' वाले उत्तर की समीक्षा की है। स्मृति तो अनुभूत की होती है। पद रूप कारण के होने से स्मृतिप्रमोष भी नहीं माना जा सकता। अतः उनके मत में अन्विताभिधानवाद अनुपयुक्त है :—

अन्वितमेवाभिधेयमिति चेन्न। केवलोच्चारणे पदार्थस्वरूपावगमात्। स्मरणं तद् इति चेन्न। अनुभूतापरामर्शात्। स्मृतिप्रमोषश्चेन्न। पदरूपप्रत्युत्पन्नकारणसद्भावात्। अतः स्वरूपं तावदभिधेयमिति नान्विताभिधानम्। निरस्तं चेदमन्विताभिधानं न्यायरत्नमालायां शास्त्रदीपिकायां चेति।

—पार्थसारथि, न्याय रत्नाकर, पृ० ८७५

इसलिए जो अर्थ शब्द से स्मारित है उसी से अन्वित का अभिधान होता है। इसलिए उखा शब्द से कलाय निर्वाप आदि के अर्थ से अन्वित की ही प्रतीति होती है। स्मृति के द्वारा अनन्वित के स्वरूप का भी स्मरण हो जाता है। इस तरह स्मृति-सन्निहित अर्थों से अन्वित स्वार्थ को पद प्रकट करता है।

शब्द के श्रवण से स्वरूप का स्मरण कैसे होता है ? शब्द में अपने स्वरूप को व्यक्त करने की क्षमता नहीं होती। इसका उत्तर यह है कि जिसका जिसके साथ कोई लगाव (प्रत्यासक्ति) देखा गया है वह पूर्व संस्कार को जगाकर उसका स्मरण करा सकता है। स्वरूप का शब्द के साथ, अभिधेय संबंध के आधार पर, प्रत्यासत्ति है। अतः शब्द स्वरूप की प्रतीति करा सकता है। जैसे अर्थ कभी अपने पद की स्मृति जगा देता है वैसे ही पद भी अर्थ का स्मरण करा देता है। अन्विताभिधानवाद के समर्थक स्वीकार करते हैं कि पद से नियत अर्थ से अन्वय लाभ अन्विताभिधान पक्ष में ही उपपन्न हो पाता है। पदान्तर-अभिधेय के रूप में जो स्मरण कराया जाता है उससे अन्वित का ही, वृद्धव्यवहार में, वाच्यत्व देखा जाता है। जहां कहीं अध्याहार होता है वहां भी सन्निधापित अंश से विशेष-अन्वित-अभिधान सिद्ध हो जाता है।

अन्विताभिधानपक्ष में 'अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथम्' इस वाक्य में भी अन्वय होने लगेगा इस रूप में जो दोष दिखाया गया है वह भी उचित नहीं है। क्योंकि स्मृत पदार्थों में भी यदि योग्यता न हो, अन्वय नहीं होता, इसलिये उपर्युक्त वाक्य में अभिधान संभव नहीं है। पदार्थ की प्रतिपत्ति तो अवश्य स्मृति से ही होती है। पुरुषवाक्य के प्रमाण के आधार पर पदों में वाचकत्व शक्ति के अनवधारण संबंधी जो दोष कहा गया है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक तो अन्विताविधानवाद पुरुषवाक्यों का अर्थ में प्रामाण्य नहीं मानता। यदि किसी तरह प्रामाण्य मान भी लिया जाय, फिर भी दोष नहीं है। क्योंकि पद अन्वित के अभिधायक रूप में जाना गया है किन्तु व्यभिचरित होने की आशंका से लोक में वह निश्चायक नहीं होता। बाद में पर्यालोचना से अनुमित अर्थ में अनुवादक माना जाता है। इसलिए उसमें प्रामाण्य नहीं आ पाता। किन्तु पद अपना वाचकत्व नहीं छोड़ता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनन्त प्रतियोगी से अन्वित स्वार्थबोधन विषयक अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों की तरह कार्यभेद की उपपत्ति हो जायगी। आकांक्षित, सन्निहित पदों में स्वार्थ के अभिधान की शक्ति एक ही है। उस शक्ति से प्रतियोगी के भेद से कार्यभेद हो जायगा। जैसे चक्षु में दर्शन-शक्ति एक ही है फिर भी चक्षु घट आदि प्रतियोगी के आश्रय से अनेक ज्ञान का जनक होती है उसी तरह शब्द भी प्रतियोगी के भेद से, बिना अनेकशक्ति की कल्पना के भी, कार्यभेद का जनक हो जायगा। अन्विताभिधान पक्ष में ही पदों का संहत्य-अर्थाभिधान और एकार्थपरक पदसमूह में वाक्यत्व उपपन्न होता है। संहत्य-अर्थाभिधान और संघातार्थ में भेद यह है कि संहत्यपक्ष में पदों के स्वकार्य होते हैं, संघातपक्ष में संघातकार्य होते हैं। पदों का स्वकार्य स्वार्थ की

प्रतिपत्ति है। संघातकार्य से अभिप्राय वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति है। संहत्य-पक्ष में एक एक पद कृत्स्नफलपर्यन्त व्यापारशील होते हैं, कृत्स्नकारी कहलाते हैं। एक-एक के होने से संपूर्ण सफल कार्य की निर्वृत्ति होती है और एक के न होने पर नहीं होती, इसलिए पद में कृत्स्नकारिता मानी जाती है। एक पद में इतनी शक्ति है, पदान्तर अभिव्यंजक हैं। अथवा संघातपक्ष में भी पदान्तर के प्रयोग पर इसी तरह का अभियोग संभव है, यदि दोष है तो दोनों पक्षों में समान है, केवल अन्विताभिधानवाद को ही, इस आधार पर, दोषयुक्त नहीं माना जा सकता।

अन्विताभिधानवादी को भी किसी-न-किसी स्तर पर आकांक्षा, योग्यता आदि को स्वीकार करना पड़ता है। क्यों न अभिहितान्वयवाद को प्रश्रय दिया जाय। क्योंकि उसके मत में, पद पदार्थ की अभिव्यक्ति कर उपरत हो जाते हैं। बाद में आकांक्षा आदि के सहारे पदार्थों में अन्वय की प्रतीति होती है। इसके उत्तर में प्रभाकर का संप्रदाय कहता है कि ऐसा संभव नहीं है। ऐसा मानने पर संसर्ग का भान नहीं होगा। क्योंकि आकांक्षा किसकी है ? शब्द की, अर्थ की अथवा प्रमाता की ? शब्द और अर्थ के अचेतन होने से उनकी आकांक्षा न हो सकेगी। प्रमाता की हो सकती है। किन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि शब्द शब्दान्तर की आकांक्षा करता है और अर्थ अर्थान्तर की। स्वतंत्र की आकांक्षा प्रमाण नहीं है, पुरुष की इच्छा का वस्तुस्थिति से कोई सीधा लगाव नहीं है, उसकी आकांक्षा शब्द प्रमाण के पीछे रहती है। अर्थ में पुरुष की आकांक्षा अर्थों में संसर्ग का हेतु नहीं हो सकती। फलतः शब्द का ही यह वाण की तरह दीर्घदीर्घ व्यापार है। शब्द व्यापार के उपरत हो जाने पर पुरुष की आकांक्षामात्र सम्बन्ध का कारण नहीं होती। ऐसा मानने पर वाक्यार्थ का ज्ञान अशाब्द होने लगेगा। किन्तु यदि साक्षात् शब्दत्व संभव हो, व्यवधान अयुक्त है। इसलिए पद अन्वित होकर ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा मानना ही उपयुक्त है। इस मत में ही संसर्ग प्रतीति उपपन्न होती है। 'गाम् आनय शुक्लाम्' जैसे वाक्यों में संसर्ग पद का प्रयोग नहीं है जिससे कि संसर्ग का ज्ञान हो। यदि संसर्ग पद का प्रयोग भी होता तो भी दश दाड़िम वाक्य की तरह अनन्वित ही अर्थ होता। वस्तुतः व्यतिषङ्ग का बोध व्यतिषिक्तार्थ बुद्धि द्वारा होता है। यही मार्ग संसर्ग बोध का है। इसलिए अन्विताभिधानवाद को प्रश्रय देना चाहिए।

अभिहितान्वय का मूल आधार मीमांसकों की दृष्टि में शाबर भाष्य का निम्नलिखित वाक्य है :

पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि
अथेदानीं पदार्था अवगता सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति।[६]

पद अपने-अपने अर्थ को व्यक्त कर उपरत हो जाते हैं, पदार्थ के अवगत हो जाने पर वे वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

अन्विताभिधानवादी भी उपर्युक्त वाक्य की अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या

६. शाबर भाष्य १।१।२५

करते हैं। प्रभाकर ने **'तस्मात् व्यतिषक्तार्थाभिधानम् व्यतिषत्तेनावगतेः व्यतिषंगस्य'** कहा था।[७] अर्थात् पद व्यतिषक्त का अभिधायक है। वह व्यतिषङ्ग का अभिधायक नहीं है। भाव यह है कि शब्द से आकृति का अभिधान होता है, साथ में व्यक्ति का भी भान होता है, इसलिए यद्यपि व्यक्ति शब्दजन्य प्रतीति से ग्राह्य है फिर भी आकृतिगम्य मानी जाती है। आकृति-प्रत्यय व्यक्ति-प्रत्यय का निमित्त है। जैसे आकृति-मात्र शब्द से गम्य है वैसे व्यक्ति भी गम्य है ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि केवल जाति का अवगमन संभव नहीं है। यह आकृति का स्वभाव है कि वह बिना व्यक्ति के आश्रय के प्रतीति गोचर नहीं हो सकती। वह व्यक्ति का रूप है। बिना रूपवान् के रूप में बुद्धि नहीं जम सकती। यदि रूप रूपवान् के बिना भी प्रतीत होता, रूपवत्ता का अस्तित्व ही नहीं होता। इसलिए व्यक्ति के साथ ही जाति का भान होता है। शब्द भी अपनी शक्ति से जाति का अभिधान करता है। उसका व्यक्ति के बिना ग्रहण दुष्कर है अतः जाति व्यक्ति का भी प्रत्यायन करती है। इससे शब्द का आकृति-प्रत्यायन स्वाभाविक है और उसका निमित्त व्यक्तिप्रत्यायकत्व है। इसलिए आकृति-प्रत्यय व्यक्ति-प्रत्यय का निमित्त माना जाता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि शब्द से प्रथम अवगत आकृति बाद में व्यक्ति का बोध कराती है। ठीक इसी तरह, अन्वित-अभिधायी शब्द द्वारा अन्वय के बिना अन्वित का बोध नहीं कराया जा सकता। अतः अन्वय का बोध करता हुआ पदार्थ निमित्तक माना जाता है। शाबर भाष्य के उपर्युक्त वाक्य में पदार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वित से है, वाक्यार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वय से है। पद अन्वित होकर अन्वय का अवबोध कराते हैं।

पार्थसारथि ने इसे क्लिष्ट मार्ग माना है।[८] उनके अनुसार, भाष्यकार ने वाक्यार्थ में पदार्थ की निमित्तता स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दी है। पदार्थ आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के सहारे अन्वित होकर वाक्यार्थ को व्यक्त करते हैं।

वृद्धव्यवहार वाक्य से परिचालित होता है। व्युत्पत्ति भी वाक्य से होती है। किन्तु वह व्युत्पत्ति एकघटनाकारकसंहतवाक्यार्थनिष्ठ है अथवा पदार्थ पर्यन्त है? पहले पक्ष में प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति अपेक्षित होगी, इससे आनन्त्य, व्यभिचार आदि दोष सामने आयेंगे। पदार्थपर्यन्त मानने पर यह निश्चय करना पड़ेगा कि इस पद का अर्थ इतना है। संहत्यकारिता पक्ष में शकट के अवयव का दृष्टान्त दिया जाता है, इस दृष्टान्त के द्वारा भी पदव्यापार का निर्धारण अभीष्ट है। पदार्थनियम की अन-पेक्षा से 'गाम् आनय' कहने की इच्छा रखने वाला 'अश्वम् आनय' कह सकता है। जिस तरह से वैयाकरण पदपदार्थ-विभाग की अपेक्षा नहीं रखते, वैसे उसकी भी नहीं होती ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए आवाप उद्वाप की पर्यालोचना से जितना पद का अर्थ निर्धारित होता है उतना उसका अर्थ है। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर पद की अभिधात्री शक्ति केवल जाति में है अथवा व्यक्ति में है, अन्वित में नहीं है।

---

७. बृहती, पृ० ३८५

८. न्यायरत्नमाला, पृ० १२०

तात्पर्य शक्ति जितना व्यापक है उतना अभिधात्री शक्ति नहीं है। वाक्यार्थ की दृष्टि से पदों में तात्पर्य शक्ति है, अभिधात्री शक्ति नहीं है। इसलिए अन्विताभिधान पक्ष से अभिहितान्वयपक्ष युक्ततर है।

पदार्थों के अन्वय बोध में शक्ति गौरव नहीं होगा, क्योंकि सभी वाक्यार्थ लाक्षणिक होते हैं। अभिहितार्थ के सम्बन्ध से गम्य होने के कारण वे लाक्षणिक माने जाते हैं। यद्यपि पदार्थ वाक्यार्थ से अविनाभूत रूप से सम्बद्ध नहीं है फिर भी यहां एकवाक्यता के आधार पर लक्षणा मानी जाती है, अविनाभूत सम्बन्ध के आधार पर नहीं मानी जाती। बिना अविनाभाव के भी व्रीहीन् अवहन्ति, जैसे वाक्यों में एक-वाक्यता के आधार पर लक्षणा देखी जाती है। एकवाक्यता कहीं प्रत्यक्ष होती है, कहीं प्रकरण के सहारे अनुमेय होती है।

भोज ने उभयवादी का भी उल्लेख किया है। उभयवादी अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद का समन्वय उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार सामान्य की दृष्टि से अन्विताभिधान होता है, विशेष की दृष्टि से अभिहितान्वय होता है। गो शब्द स्वार्थ को सामान्य से अन्वित रूप में जताता है, विशेष का भान नहीं हो पाता। यही सामान्य के द्वारा अभिधान है। शुक्ल आदि गुण पदान्तर से अवगत होते हैं। यही विशेष के द्वारा अभिधान है। वाक्यार्थ, इस मत में क्रियाकारक संसर्ग रूप है।[९]

अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद दोनों में पदार्थ में शक्ति कल्पना समान है। पदार्थ के आश्रय से यदि वाक्यार्थ का बोध न माना जाय तो, जैसा कि भर्तृहरि ने दिखाया है, निम्नलिखित पाँच दोष उपस्थित होते हैं:—

१—प्रतिनिधि कल्पना की अनुपपत्ति

२—पिकादिनियतपदप्रश्न की अनुपपत्ति

३—श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति की बलवत्ता की अनुपपत्ति।

४—अवान्तर वाक्यों में अर्थवत्त्व का अभाव

५—लक्षण की अनुपपत्ति।

मुख्य वस्तु के अभाव में यदि उसके सदृश किसी अन्य वस्तु से उसका काम लिया जाता है तो उस सादृश्य वाली वस्तु को प्रतिनिधि कहा जाता है। जैसे व्रीहि के अभाव में यदि नीवार से काम लिया जाय, नीवार प्रतिनिधि हैं। 'व्रीहिभिः यजेत्' इसमें यजति क्रिया से देवता को लक्ष्यकर द्रव्य का त्याग अर्थ सामने आता है। इस लिये द्रव्य यजति क्रिया से एकदेशभावापन्न होने के कारण उसका अंग है और श्रुतिप्राप्त-संनिधान है। यहां श्रुतिप्राप्तसंनिधान शब्द है। व्रीहित्व आदि सामान्यविशेष है। निर्विशेष सामान्य नहीं होता इसलिए व्रीहित्व विशेष से परिपोष होता है। व्रीहि श्रुति अध्यावापार्थ है। वह शब्दसामर्थ्य प्राप्त द्रव्यत्व मात्र को, अविरोध के कारण नहीं बांधती। द्रव्यत्व श्रुतिसामर्थ्य प्राप्त है, व्रीहित्व अर्थसामर्थ्य से आया है, वह सामान्य-मात्रप्राप्तसंनिधान है। किन्तु जिसके विचार में यजति क्रिया के सामर्थ्य से ही व्रीहित्व

९. शृंगार प्रकाश, पृ० २९३, मैसूर संस्करण

आदि की प्राप्ति है, उनके अनुसार व्रीहिश्रुति नियमार्थक होगी और यवत्व आदि सामान्य विशेष का निवर्तक होगी। इस दृष्टि में, व्रीहित्व से यवत्व आदि सहचारी द्रव्यों का अपसारण होगा। जिस तरह से यज्ञ के लिए निषिद्ध पलाण्डु आदि का, अर्थित्व और सामर्थ्य होने पर भी, शास्त्र के द्वारा अपर्युदस्त होने के कारण वचनान्तर के न होने के कारण, प्रतिनिधि उपादान नहीं होता, उसी तरह नीवार, यव आदि का भी. व्रीहादि नियम से निषिद्ध होने के कारण और वचनान्तर के अभाव के कारण प्रतिनिधि नहीं होगा। एक दूसरे दर्शन के अनुसार व्रीहिशब्द, शब्द द्वारा अंगीकृत व्रीहित्व को अंग रूप में अधिक कल्पित कर लेता है। फलतः द्रव्यत्व का बोध नहीं कर पाता है। क्योंकि न तो यवत्व आदि की वृत्ति में उसका व्यापार है और न अभ्यनुज्ञा में। सामान्य का विशेष के साथ अविरोध होने के कारण द्रव्यत्व का बाध न होगा। द्रव्यत्व मात्र के आक्षेप में प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी।

यदि व्रीहिश्रुति नियमार्थ न मानी जायगी, नीवार आदि का विकल्प प्राप्त होगा। व्रीहि से होना चाहिए अथवा यव से होना चाहिए इस रूप में विकल्प होगा। फलतः व्रीहिश्रुति निरर्थक होगी। इसके समाधान में भर्तृहरि ने असंभव नियम का उल्लेख किया है। व्रीहित्व से द्रव्यत्व के विशेषित होने पर वस्तु सामर्थ्य के बल से यवत्व आदि की संभावना नहीं है। जहां पर द्रव्यत्व व्रीहित्व एकार्थसमवायी है वहीं यवत्व-एकार्थसमवायी संभव नहीं है। यह असंभव नियम है। दो प्रकार का नियम होता है। कोई शब्दसामर्थ्य से आ जाता है, जहां पक्ष में प्राप्ति होने पर श्रुति होती है। जैसे व्यक्ति पदार्थ पक्ष में 'विप्रतिषेधे परम्'। कोई नियम, शब्द व्यापार के न होने पर भी, पदार्थों के इतरेतररूपसांकर्य के अभाव से, एक प्रवृत्ति अपने से अतिरिक्त के निवृत्तिफलक होती है इस आधार पर, पदार्थस्वरूप के विमर्श से आ जाता है। इसे असंभव नियम कहा जाता है :

> **असंभवो नाम नियम शब्दव्यापारो (अशब्दव्यापारः) नियमसदृशफलः : क्वचिद्विषयेऽन्य एव धर्मोऽयमसंभवनियम इति नियम विभागे न्यायविदः केचिदाचक्षते।**[१०] —वाक्यपदीय २।६८ हरिवृत्ति

यहां पर शब्द सामर्थ्य से द्रव्यत्व भी उपस्थित है, व्रीहित्व भी। अध्यावाप शब्द व्यापार है। अखण्ड वाक्यार्थ पक्ष में भी अपोद्धार दशा में भेद, संसर्ग आदि विकल्प किए जाते हैं। व्याडि के मत में भेद वाक्यार्थ है। क्योंकि पद से वाच्य द्रव्यों का द्रव्यान्तर से निवृत्ति अभिप्रेत रहती है। जातिवादी वाजप्यायन के मत में संसर्ग वाक्यार्थ है। क्योंकि वाक्यार्थ सामान्यों का, पदार्थों का संश्लेष मात्र है।[११] जहां

---

१०. शृंगार प्रकाश में यह वाक्य यों उद्धृत है—

"असंभवो नाम यन्नियमसदृशफलः, अन्य एव बाधविशेषः यमसंभवनियम इत्यामनन्ति।" शृंगार प्रकाश पृ० ३१४ मैसूर संस्करण।

११. अखण्डेऽपि वाक्यार्थनयेऽपोद्धारदशागतो भेदसंसर्गादिविकल्पः। तत्र व्याडिमते भेदो वाक्यार्थः।···वाजप्यायनस्य तु मते संसर्गो वाक्यार्थः।

—हेलाराज। वाक्यपदीय, जातिसमुद्देश ५

शब्द से व्रीहित्व अधिक रूप में अंगभाव प्राप्त हो जाता है, वहां श्रुति से अप्रतिषिद्ध होने पर भी यव आदि न हो सकेंगे क्योंकि व्रीहि के साथ उनका विरुद्ध—एकार्थसमवाय है। यदि हों भी, तो विरोध न होने से, सामर्थ्यप्राप्तसन्निधान के रूप में, शब्द व्यापार के बिना भी गृहीत हों। किन्तु यह विकल्प का विषय नहीं है।

निर्विशेष सामान्य नहीं होता, इसलिए यजि क्रिया से विशेषनिष्ठ द्रव्य का आक्षेप होता है। इसलिए सभी विशेष श्रुतिसामर्थ्य से प्राप्त होंगे। फलतः व्रीहिभिः यह श्रुति श्रौत रूप में भी नियमफल वाली ही हो जाती है अतः श्रौत अर्थ का त्याग कैसे नहीं होगा ? इसका उत्तर भर्तृहरि ने यह कहकर दिया है कि प्रतिनिधि के विषय में ऐसा नहीं होता। क्रिया शब्द से सभी विशेष लक्षित नहीं होते। शब्द सभी विशेष का अभिधायक नहीं होता :

न हि सर्वेषां सतां शब्दोऽभिधायकः।[१२]

शब्द वस्तुचिन्ता का अनुसरण नहीं करता। वस्तु का कोई भाग ही शब्द का विषय होता है। सकल संनिहितविशेष का अभिधायक शब्द नहीं देखा जाता। यजति क्रिया का केवल द्रव्य मात्र के आक्षेप में शक्ति है, द्रव्य विशेष में नहीं है। व्रीहित्व आदि द्रव्य सहचारी विशेष जो क्रियापदार्थ के एकदेश भूत हैं यजि क्रिया से लक्षित नहीं होंगे। वस्तु विवक्षानिबन्धन होती है। सत् पदार्थ भी अर्थ रूप में असत् हो सकता है। विवक्षा शब्द सामर्थ्य के अनुरूप होती है। द्रव्य के साथ शुक्ल आदि गुण भी रहते हैं किन्तु क्रिया शब्द से गुण की विवक्षा क्रिया के अंग रूप में नहीं होती और न उनका प्रत्यायन क्रिया पद से संभव ही है। इसलिए द्रव्यमात्र का ही आक्षेप शब्द से होता है, उसके परिपोष के लिए विशेष का आवाप नियम के लिए नहीं होता। फलतः शास्त्र से अपर्युदस्त विशेषों के प्रतिनिधि उपपन्न हो जाता है। इस तरह यहां असंभवनियम त्याग का विवरण है।

जिनके मत में क्रियाविशेष ही वाक्यार्थ है उनके मत में क्रिया स्वसिद्धि के लिए योग्यद्रव्य, साधन का आक्षेप कर लेती है। वही पदान्तर से विशिष्ट कहा जाता है। ऐसी दशा में, जहां श्रुत साधन संभव नहीं है, प्रधानभूत क्रिया की प्रतिपत्ति के लिए किसी अन्य साधन को प्रतिनिधि रूप में ले लिया जाता है। क्रिया का प्रतिनिधान नहीं होता क्योंकि वह प्रधान होती है। शिष्टों ने गुणभूत साधन को ही प्रतिनिधि रूप में स्वीकार किया है। अतः प्रधानभूत क्रियापदार्थ से आक्षिप्त साधनमात्र का त्याग नहीं होता, अपितु व्रीहिपद से उपात्त द्रव्यविषयक नियममात्र का बाध होता है। इसे नियम-मात्रबाध कहा जाता है।

प्रतिनिधि के प्रसंग में असंभवनियमत्याग और नियमात्रबाध इन दो दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त तीन अन्य विचारों का भी भर्तृहरि ने उल्लेख किया है। वे हैं—पदार्थ सामर्थ्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति, वाक्यार्थसामार्थ्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति और प्रकरण सामर्थ्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति।

---

१२. वाक्यपदीय २.६८ हरिवृत्ति।

जातिपदार्थ पक्ष में आख्यातवाच्य क्रिया से जाति का समन्वय कैसे होगा। क्रिया साधन से जुटती है। जाति साधन नहीं है। उसके आश्रय रूप साधन से सम्बन्ध करने पर प्रतिनिधि की अनुपपत्ति का प्रश्न उठ खड़ा होता है। इसके उत्तर में कुछ आचार्यों की मान्यता है कि जाति शक्ति का उपलक्षण है। 'खदिरे बध्नाति' इस श्रुति के अनुसार कहीं खदिर में बांधने का संयोग न हो तो उसके सदृश कदर में बन्धन का कार्य संपन्न किया जाता है। जिस तरह कदर खदिर का प्रतिनिधि हो जाता है, उसी तरह द्रव्यान्तरगत शक्ति का भी, आश्रय की सशक्तता की दृष्टि से, परिग्रहण कर लिया जाता है।

जातिपदार्थ-सिद्धान्त के मानने वालों में कतिपय जाति को अभिधेय मानते हैं, उपलक्षण नहीं मानते। उनके मत में भी प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी। बन्धन का प्रयोग अस्वातंत्र्य है। यदि खदिर शक्तिहीन है तो उसको छोड़कर कदर काम में लाया जाता है। इससे विधि में कोई दोष नहीं माना जाता। इसी तरह जाति के अभिधान के पक्ष में भी शक्तिहीन का ग्रहण नहीं होगा। गाम् आलभेत् जैसे श्रुतिवाक्य से भी योग्य व्यक्ति के साथ क्रिया का सम्बन्ध होता है।

यदि बन्धन का अभिप्राय केवल संश्लेष मात्र हो तो प्रकरण आदि की पर्या-लोचना से प्रतिनिधि उपपन्न होता है।

प्रतिनिधि के उपादान होने पर भी अखण्डवाक्यार्थ का अनुष्ठान संभव न होने से, नीवारकरणकयाग के अनुष्ठान से नित्य, काम्य आदि विधि का लोप होने लगेगा। अखण्ड पक्ष में 'क्रिया का प्रतिनिधान नहीं होता, द्रव्य का होता है', यह न्याय भी विच्छिन्न हो जायगा। अतः पदार्थ द्वारा वाक्यार्थ का अवबोध मानना चाहिए।

प्रसिद्ध पदार्थ के अवधारण के लिए अप्रसिद्ध पदार्थ का परिग्रह निर्ज्ञात-प्रश्न कहा जाता है। जैसे 'वनात् पिकः आनीयताम्', 'जर्जरा वरासी वृषलाय दीयताम्' जैसे वाक्यों के कहने पर सुनने वाले जिन पदों के अर्थ जानते हैं उनके बारे में तो कुछ नहीं कहते किन्तु जिन पदों के अर्थ उन्हें नहीं ज्ञात हैं उनके बारे में जिज्ञासा व्यक्त करते हुए देखे जाते हैं। जैसे बन शब्द का अर्थ ज्ञात है किन्तु पिक शब्द का नहीं ज्ञात है तो पूछते हैं 'पिक कौन सी वस्तु है जिसे बन से लाना है।[13] अथवा विरासी (वरांगी ?) क्या है जिसे वृषल को देना है। वृक्ष, वृषभ, काण्डीर आदि प्रसिद्ध भेदों में अक्ष, ऋषभ, भाण्डीर आदि अर्थ जिज्ञासा में वकार अथवा ककार के अर्थ के लिए वर्ण-विषयक प्रश्न नहीं देखा जाता है। यदि निरवयव, अखण्ड वाक्य से अखण्ड अर्थ की प्रतीति होती, 'वनात् पिक आनीयताम्' वाक्य से भी अखण्ड अर्थ भासित होता। किन्तु पृथक् पिक पद के अर्थ की जिज्ञासा होती है। अतः वाक्यार्थ अविभागाश्रित न होकर विभागमय

---

१३. शबर स्वामी ने पिक शब्द को अनार्य माना है। जिन दिनों यह वाक्य उदाहरण के रूप में आया होगा, बहुत से लोग इस शब्द को नहीं पहचान पाते होंगे, वरासी शब्द भी संस्कृतेतर भाषा का जान पड़ता है। यों वैदिक साहित्य में वस्त्रविशेष के अर्थ में मिलता है।

है। मीमांसा दर्शन में श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति बलवती मानी जाती है। यदि वाक्यार्थ अविभक्त रूप में स्वीकार किया जायगा, श्रुति और वाक्य के परस्पर विरोध में पारदौर्बल्य वाला नियम नहीं लागू हो सकेगा। प्रमाणान्तर निरपेक्ष शब्द को श्रुति कहा जाता है। भर्तृहरि के अनुसार श्रुति एक शब्दविषया एकपदनिबन्धना होती है :

इह श्रुतिर्नामैकशब्दविषयैकपदनिबन्धनार्था।[१४]

समभिव्याहार अथवा शेषशेषि वाचकपदों के सह-उच्चारण को वाक्य कहा जाता है। श्रुति का सम्बन्ध साक्षात् प्रापित से होता है, वाक्य का यत्न प्रापित से होता है इसलिए श्रुतिधर्म से वाक्यधर्म विलक्षण माना जाता है। श्वेतं छागमालभेत् इस वाय में द्रव्य का आलंभन क्रिया के साथ योग द्वितीया श्रुति (द्वितीयाविभक्ति) से साक्षात् प्रतिपादित है। श्वेतगुण का सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के आधार पर है। निर्गुण द्रव्य नहीं हो सकता, केवल गुण में क्रिया नहीं हो सकती, इस लिए गुण का सम्बन्ध आश्रयआश्रयिरूप में है, यह सम्बन्ध वाक्यीय है। उसका सम्बन्ध सन्निधान वश है। द्वितीया श्रुति और तिङ्विभक्ति श्रौत सम्बन्ध को प्रकट करती है, क्योंकि क्रिया और कारक एक-दूसरे के स्वरूप से यहां अनुविद्ध हैं। वाक्य के सम्बन्ध का कोई साक्षात् वाचक यहां नहीं है, केवल योग्यार्थ-समन्वय के लिए पदान्तर सन्निधान से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इसलिए श्रुति की अपेक्षा वाक्य दुर्बल माना जाता है। भर्तृहरि ने श्रुति और वाक्य का विरोध और वाक्य से श्रुति की बलवत्ता के लिए निम्न लिखित उदाहरण दिया है :

पयसा भुंक्ते देवदत्तः शृतेन

इस वाक्य में पय से उपसेचन श्रुतिप्रापित है। क्योंकि 'पयसा' में तृतीया श्रुति का क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध है। पयविषयक श्रपण वाक्य प्रापित है। क्योंकि उनमें विशेषणविशेष्य भाव है। यहां वाक्य प्रापित श्रपण के न होने पर भी श्रुतिप्रापित उपसेचनत्व का निवर्तन नहीं होता। लोक में उपसेचन के रूप में अप्रसिद्ध जल आदि हैं, उनके द्वारा श्रपण कार्य उपयुक्त नहीं माना जाता। अशृत पय का ग्रहण कर लिया जाता है, किन्तु शृत भी उदक का उपादान नहीं होता। श्रुति और वाक्य के विकल्प में श्रुत्यर्थ ही किया जाता है, वाक्यार्थ नहीं।

भर्तृहरि ने श्रुति को 'सामर्थ्य प्रापित' और व्यक्यतृर्थ—अनुषंजन—दो रूप में ग्रहण किया है। सामर्थ्य प्रापित से तात्पर्य साक्षात् एक शब्द से गृहीत अर्थरूप से है। इसके अतिरिक्त एक शब्दोपात्त अर्थ जब किसी शब्दान्तर से अभिव्यक्ति के लिए सम्बद्ध हो जाता है, वह भी, किसी सम्बन्धान्तर के आश्रय न लेने के कारण—अनाधेय सम्बन्ध के कारण—श्रुति माना जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रुति अपने अर्थ की सिद्धि

---

१४. वाक्यपदीय २।७३ हरिवृत्ति, भोज ने यों उद्धृत किया है—
श्रुति र्हि नामानेकपदनिबन्धन एव शब्दविषयो विध्यादिरर्थः।
—शृंगार प्रकाश, पृ० ३३०

के लिए कर्म, करण, अधिकरण आदि जिसका आक्षेप करती है वह सब भी श्रुत्यर्थ माने जाते हैं। जैसे 'अवहन्यताम्' कहने से व्रीहि आदि का, 'सूर्यः उदेति' कहने से दिन का, वर्षति कहने से देव का आक्षेप हो जाता है। व्यक्त्यर्थ अनुषंग साधन का भी होता है। साधनाश्रय का भी होता है।[१५] यदि वाक्यार्थ अखण्ड रूप में माना जायगा, श्रौत और वाक्यीय का विभाग ही संभव नहीं होगा, पुनः उनमें बाध विचार तो सर्वथा निरर्थक हो जायगा।

यदि पदार्थनिबन्धन वाक्यार्थ नहीं स्वीकार किया जायगा, अवान्तर वाक्यों में अर्थवत्ता की उपपत्ति कठिन हो जायगी। कभी-कभी एक अर्थ की सिद्धि के लिए वाक्यों के समुदाय एक साथ व्यवहृत होते हैं और वे परस्पर साकांक्ष होते हैं, जैसे,

"गौः दुह्यताम्, उपाध्यायः पयसा भुक्त्वा मामध्यापयतु।"

"अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः।"

ऐसे वाक्यों में, अखण्डपक्ष में, पद की तरह अवान्तरवाक्य अनर्थक हो जायेंगे। वाक्य की कोई सीमा नहीं है। वे बढ़ाए जा सकते है; जैसे,

गाम् अभ्याज।

देवदत्त गाम् अभ्याज।

देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्...आदि।

ऐसी दशा में स्वतंत्र रूप में जो वाक्य सार्थक हैं, अवान्तर वाक्य के रूप में वही निरर्थक होने लगेंगे।

वाक्य के अविभाग पक्ष को प्रश्रय देने से लक्षण की भी अनुपपत्ति होती है। लक्षण एक तरह से वाक्य धर्म है जो वाक्यार्थविशेष के परिज्ञान में सहायक होते हैं। ये षट्, द्वादश अथवा चौबीस तरह के माने जाते हैं। भर्तृहरि के लिखने से ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने स्वयं लक्षणसमुद्देश में इन भेदों पर विस्तार से विचार किया था :

सर्वन्यायलक्षणव्यवस्थाविरुद्धश्चायमविभागपक्षः। तत्र द्वादश, षट्, चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोधं विस्तरेण व्याख्यास्यते
—वाक्यपदीय २.७६ हरिवृत्ति।

लक्षण समुद्देश आज उपलब्ध नहीं है। पुण्यराज के समय में भी उपलब्ध नहीं था :

एतेषां च वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशात् लेखकप्रमादेन वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः।

वाक्यपदीय २.७७-८७ में इनका संकेत किया गया है। इनमें मीमांसा दर्शन में प्रतिपादित प्रसंग, तंत्र, बाध आदि हैं, कुछ अन्य भी हैं। इन पर हम 'वाक्य के

---

१५. वाक्यपदीय २.७३ हरिवृत्ति।

पदार्थनिबन्धन धर्म' के रूप में अभी विचार कर चुके हैं। यहां केवल यह दिखाना है कि यदि पदार्थ के आधार पर वाक्यार्थ विचार नहीं होगा, गौण मुख्य, नान्तरीयक आदि लक्षण विचार भी संभव नहीं हो सकेंगे। क्योंकि ये सब पदार्थनिबन्धन हैं।

इस तरह निरवयव वाक्य पक्ष में उपर्युक्त पांच विप्रतिपत्तियां उठाई गई हैं।

भर्तृहरि ने इनका परिहार भी किया है। वाक्यार्थ एक है, अविभक्त है। विकल्प भावनाश्रित है। पुरुष की शास्त्रवासना के अनुरूप भिन्न-भिन्न विकल्प होते हैं :

अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रयाः ।[१६]

वाक्य को अखण्ड मान कर भी अपोद्धार पद्धति से पद-पदार्थ की कल्पना कर पदार्थनिबन्धन धर्मों का निर्वाह किया जा सकता है :

अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते ।
वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते ॥[१७]

जैसे एक ही गन्ध का पुष्पगन्ध, चन्दनगन्ध, आदि के रूप में विश्लेषण किया जाता है, जैसे एक नरसिंह में नर और सिंह के सादृश्य की कल्पना की जाती है, जैसे एक निरंश प्रकाश का नील, पीत आदि रूप में भाग किया जाता है, वैसे ही एक निर्विभाग वाक्य का विभाग के रूप में निर्वचन किया जाता है। वृक्षः आनीयताम् इस वाक्य से वनात् पिकः आनीयताम् यह वाक्य सर्वथा विलक्षण है। पिक के योग से यह वाक्य सर्वथा एक नवीन, विलक्षण वाक्य बन गया है। वाक्य के एक देश की, अवान्तरवाक्य की अर्थवत्ता वैयाकरण भी स्वीकार करते हैं। इस तरह उपर्युक्त सभी अनुपपत्तियां दूर हो जाती हैं :

यस्याप्येकः सन्निविष्टानेकशक्तिरूपसर्वोपाधिविशिष्टः क्रियात्मा व्यावहारिकाभ्यां (केन) प्रकल्पितोद्देशविभागेनैकेन वाक्याख्येन शब्देनाभिधीयते तस्यापि यावानयं पदश्रुतिरूपभेदेन च व्यवहारः परस्तादुपन्यस्तः स सर्व एकस्मादर्थात् शब्दरूपाणि बुद्ध्यन्तरैः कृतप्रविभागानि अपोद्धृत्यापोद्धृत्य प्रकृतिप्रत्ययादिवत् श्रुतिरूप प्रविभागे क्रियामाणे न विरुध्यते।''[१८]

अस्तु, अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों से गृहीत पदार्थशक्ति व्याकरणदर्शन में भी उपोद्धार कल्पना से चरितार्थ हो जाती है। पुण्यराज ने अनेक स्थल पर इन वादों की समीक्षा भी की है और भर्तृहरि को भी अपने साथ रखने की चेष्टा की है। पुण्यराज की आलोचना का भी प्रसंगवश ऊपर निर्देश किया जा चुका है। उनका मुख्य वक्तव्य निम्नलिखित है :

इति अन्विताभिधान प्रदर्शनम्। दूषणमस्याग्रे तत्र तत्राभिधास्यति यथा 'नियमार्था श्रुतिः भवेत्' वा० प० २।२४६ इत्यादि। तथा हि, यद्येकेन पदेन

---

१६. वाक्यपदीय, २।११७

१७. वाक्यपदीय २।८६

१८. हरिवृत्ति, शृंगारप्रकाश में संप्रति उपलब्ध, पृ० ३३३

सकलवाक्यार्थस्याशेषविशेषणखचितस्यावगतिः तदोत्तरेषां पदानां नियमायानुवादाय वोच्चारणं स्यात् । न चैतत् युक्तमिति वक्ष्यामः । एकस्मादेव पदात् समस्तविशेषणखचितस्य वाक्यार्थस्य प्रतीतेरुत्तरेषामानर्थक्यं स्यादेव । न च तस्मादेव वाक्यार्थप्रतीतिः दृश्यते । व्यक्तोपव्यञ्जना इत्यसमाधानमेव । यतः किमेकस्माद् वाक्यार्थावसायोन्येषामुपव्यंजकत्वम् । अथ समस्तेभ्य एव तेभ्यः । सर्वथोत्तराणि पदानि वाक्यार्थप्रतीतये उपादीयन्त एवेत्यन्विताभिधानमसमञ्जसमेव । एकस्य वापरपदोच्चारण काले तिरोधानादभिहितान्वयस्याप्यसंभव इत्यर्थभागे दूषणम् । शब्दभागसमाश्रयणेन द्वयोरपि पक्षयोः दूषणं 'पदानि वाक्ये तान्येव' (वाक्यपदीय २।२८) इत्यादि—श्लोकद्वयेनाभिधास्यति ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१८

यदि एक पद से सकल वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति हो, अन्य पद व्यर्थ होंगे। अथवा नियम या अनुवाद के लिये होंगे। हम देख चुके हैं कि भर्तृहरि ने भी आख्यात शब्द वाक्य आदि की व्याख्या में नियम-अनुवाद सिद्धान्त का आश्रय लिया है। सहभूत के उपादान में व्यक्तोपव्यंजन वाले मत का पुण्यराज ने स्वयं समर्थन भी किया है।

भर्तृहरि ने आलोचना की है कि यदि वाक्य में वे ही पद होंगे, पद में वे ही वर्ण होंगे, वर्णों में वर्ण भाग सम्बन्धी परमाणु सदृश भेद होने लगेंगे। इसका उत्तर कुमारिल ने दिया है :

सद्भावे पदवर्णानां भेदो यः परमाणुवत् ।
सर्वाभावस्ततश्चेति सेयं बालविभीषिका ।।

यह केवल बच्चों को डराना मात्र है। पद और वर्ण का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है। वर्णांश के परित्याग से वर्ण की स्थापना सरल है (श्लोकवार्तिक ७।१५०)

भर्तृहरि के अनुसार यदि अखण्डवाक्यार्थ न मानकर पद-पद के सहारे वाक्यार्थ की उपपत्ति मानी जायगी, निम्नलिखित वाक्य के अर्थ का ठीक अवभास न हो सकेगा :

अनड्वाहं हर शिरसा या त्वं भगिनि साचीनं अभिधावन्तं कुम्भमद्राक्षीः ।

इस वाक्य के प्रथम अंश सुनने पर अन्य अर्थ उपस्थित होता है, पूरा वाक्य सुनने पर दूसरा अर्थ सामने आ जाता है और पहला अर्थ छूट जाता है। अखण्ड पक्ष में पूरे वाक्य से पूरे अर्थ का ज्ञान होता है। इसलिए सामान्य में वर्तमान का विशेष में अवस्थान उपयुक्त नहीं माना जा सकता :

तथा सति नास्ति सामान्येऽवस्थितानां विशेषेऽवस्थानम् ।[१६]

वाक्य और वाक्यार्थ में सम्बन्ध

वाक्य और वाक्यार्थ में परस्पर संबंध, दर्शनभेद के आधार पर, निम्नलिखित माने

---

१६. वाक्यपदीय २।२४८ हरिवृत्ति, हस्तलेख

जाते हैं :

१—वाच्यवाचक सम्बन्ध (योग्यता)
२—कार्यकारण सम्बन्ध ।
३—संकेत सम्बन्ध ।
४—अध्यास सम्बन्ध ।

इनमें वैयाकरण अध्यास सम्बन्ध को अपनी मान्यताओं के अनुकूल मानते हैं और उसे स्वीकार करते हैं । सम्बन्ध के विषय में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अवसर पर विशेष विचार किया जा चुका है ।

वाक्यार्थ निर्धारण के साधन

वाक्यार्थ की व्यवस्था में कुछ अन्य उपाय भी काम में लाए जाते हैं । वे प्रायः परिगणित हैं । भर्तृहरि ने इनका उल्लेख निम्नलिखित कारिका में किया है :

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ।।[1]

साथ ही किसी दूसरे आचार्य का भी मत दिया है :

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।

इनके विवरण नीचे दिए जा रहे हैं ।

एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं । एक स्थान पर दो अर्थों की प्राप्ति हो सकती है । उस समय निर्धारण की अपेक्षा होती है । निर्धारण विभाग द्वारा पृथक्-करण का नाम है । कुछ उपाय जो समस्त अनेकार्थ शब्द में समान हैं, वाक्यार्थ के अवच्छेद के लिए काम में लाए जाते हैं । भर्तृहरि ने इनका वाक्य, प्रकरण, अर्थ आदि के रूप में उल्लेख किया है ।

वाक्य : कभी-कभी वाक्य ही विशेष क्रिया से युक्त रहता है और तुल्य श्रुति के होने पर भी शब्द और अर्थ के प्रविभाग की व्यवस्था में सहायक हो जाता है । जैसे 'वटवृक्षः रौति' और 'वटवृक्षः स्वादुफलः, आरुह्यताम्' इन दोनों वाक्यों में वाक्यार्थ ही शब्दार्थ के प्रविभाग में हेतु है । 'केशान् वपति' और 'केशान् नमस्यति' दोनों वाक्यों में भी शब्दार्थ का अवच्छेदक वाक्य ही है । 'कटं करोति, भीष्ममुदारं दर्शनीयम्' इस वाक्य में द्वितीया विभक्ति कट, भीष्म, उदार, दर्शनीय सभी शब्दों में है । क्योंकि करोति क्रिया से सबका पृथक्-पृथक् सम्बन्ध है । बाद में विशेषण-विशेष्यभाव हो जाता है । कट विशेष्य है और भीष्म, उदार आदि विशेषण है । यहां यद्यपि द्रव्य और गुण दोनों के साथ क्रिया का सम्बन्ध है किन्तु ईप्सिततम द्रव्य है इसलिए क्रिया

---

१. वाक्यपदीय २।३१६

का सम्बन्ध केवल द्रव्य से होना चाहिए। गुण से नहीं होना चहिए। इस आधार पर द्वितीया विभक्ति केवल कट शब्द से होनी चाहिए। भीष्म आदि शब्द से नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर है कि यद्यपि भीष्म आदि में स्वयं कर्मता नहीं है किन्तु वे विशेष्य के सम्बन्ध से द्वितीया विभक्ति के पात्र हैं क्योंकि उसके साथ उनका एकयोग क्षेम है, सामानाधिकरण्य है। केवल प्रातिकपदिक का प्रयोग हो ही नहीं सकता। जैसे राजा का सखा स्वयं निर्धन भी हो फिर भी राज-धन से धन का फल प्राप्त करता है, वैसे ही गुण भी द्रव्य के धर्म से तद्रूप होते हैं। अतः भीष्म आदि से द्वितीया विभक्ति सिद्ध होती है। अथवा द्रव्य निर्गुण नहीं हो सकता, गुण भी बिना आधार के नहीं रह सकते, इसलिए आकांक्षा आदि के आधार पर उनमें वाक्यीय सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के रूप में स्थापित हो जाता है। फलतः भीष्म गुण युक्त कट का करना ही अभिप्रेत वाक्यार्थ होता है। इस तरह यहां शब्दार्थ निर्णय वाक्य की पर्यालोचना पर निर्भर है।

प्रकरणः प्रकरण स्वयं अशब्द होता है फिर भी शब्दार्थ निर्धारण में सहायक होता है। जैसे सैन्धव शब्द का युद्ध के प्रकरण में अश्व अर्थ होता है, भोजन के प्रकरण में लवण अर्थ हो जाता है। व्याकरणशास्त्र में भी 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' २।३।१८ सूत्र में, कारक के अधिकार क्षेत्र में होने के कारण, करण शब्द से क्रिया का ग्रहण अभिप्रेत नहीं होता। इसी तरह 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेवेभ्यः करणे' ३।१।१७ सूत्र में, धातु-अधिकार के कारण, करण शब्द से क्रिया की प्रतीति होती है।

अर्थ : अर्थ शब्द से सम्बद्ध होने के कारण शब्दार्थ निर्णय में हाथ बंटाता है। जैसे अञ्जलिना जुहोति, अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठते, अञ्जलिना पूर्णपात्रं हरति। इन वाक्यों में जुहोति आदि शब्द के अर्थवश अंजलि शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ भासित हो जाते हैं। व्याकरण शास्त्र में भी पूरणगुण सुहित० २।२।११ सूत्र में अर्थ ग्रहण के बल से गुण शब्द से अदेङ् का ग्रहण नहीं होता। इसी तरह न शशददवादिगुणानाम् ६।४।१२६ सूत्र में अर्थ के सामर्थ्य से परतंत्र आश्रयी शुक्ल आदि का ग्रहण नहीं होता। काव्य प्रकाश के टीकाकारों ने अर्थ शब्द का अर्थ प्रयोजन माना है जो संगत नहीं है। प्रकरण और अर्थ में भेद यह है कि प्रकरण अशब्द होता है उसमें प्रयोगदर्शन से प्रतिपत्ति होती है। अर्थ शब्दवान् होता है उसमें श्रुत्यनुपातिनी प्रतिपत्ति होती है।

औचित्य : (औचिती)—भर्तृहरि ने औचित्य शब्द का व्यवहार किया है। उन्होंने इस प्रसंग में जो कारिका (संसर्गो विप्रयोगश्च···) उद्धृत की है उसमें औचिती शब्द है। दोनों समानार्थक ही होंगे। औचित्य (औचिती) के द्वारा भी अर्थ की व्यवस्था की जाती है। किन्तु औचित्य अथवा औचिती का क्या अभिप्राय है? भर्तृहरि ने औचित्य शब्द का प्रयोग संभवतः ऐसे वाक्यों के लिए किया है जिनसे निन्दा और प्रशंसा दोनों अर्थ झलकते हों। उन्होंने उपर्युक्त कारिका की अपनी वृत्ति में लिखा है:

औचित्यादपि व्यवस्था। तद् यथा राक्षसो
दस्युः भद्रमुखइति। विपर्ययेण निन्दा प्रशंसा वा गम्यते।

राक्षस दस्यु भद्रमुख है—इस वाक्य से निन्दा अथवा प्रशंसा ध्वनित है।

पुनः औचिती पर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है :

औचिती केषांचित् प्रयोक्तृणां निन्दाप्रशंसादिषु किंचिदुचितं भवति, भद्रमुख दास्या राक्षसादिव (दस्यु राक्षस इव), वणिजां च वाराणसी जित्वरीत्युपचरन्ति (वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति)। औचित्यादेव रामसदृशोऽयमर्जुनसदृश इति प्रयोक्तृभेदादर्थविशेष प्रतिपत्तिः।[2]

इस वक्तव्य से भी भर्तृहरि के मत में औचित्य का सम्बन्ध निन्दा प्रशंसा से है। श्लोकवार्तिककार ने वाराणसी को व्यापारियों द्वारा जित्वरी नाम देने का उल्लेख किया है।[3] कैयट आदि ने जित्वरी शब्द को मंगल के अर्थ में लिया है, मंगलार्थ वाराणसी को जित्वरी कहते थे अथवा उनके लिए वाराणसी मंगलार्था थी। संभवतः जित्वरी शब्द देशी शब्द था और इसका अर्थ निन्दात्मक था। दोनों तरह से यहाँ औचिती है। भद्रमुख शब्द भी संभवतः उभयात्मक था। भर्तृहरि ने औचित्य का सम्बन्ध प्रयोक्ता से भी दिखाया है। प्रयोक्तृभेद से जहाँ अर्थविशेष की उपलब्धि होती है वहां भी औचित्य है। 'यह राम सदृश है, यह अर्जुन सदृश है' जैसे वाक्य के प्रयोग करने वालों की दृष्टि से भी इन वाक्यों का अर्थ बदलता होगा, कहीं प्रशंसात्मक, कहीं निन्दात्मकध्वनि निकलती होगी। अथवा राम और अर्जुन में विशेष की प्रतिपत्ति होती होगी।

पुण्यराज के सामने भी औचिती शब्द का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं था। उन्होंने इसके कई अभिप्राय दिए हैं। उनके अनुसार, सीर (हल), असि (तलवार), मुसल शब्दों का क्रिया निरपेक्ष भी यदि प्रयोग किया जाय तो क्रमशः विलेखन (जोतना) युद्ध और अवहनन (कूटना) के रूप में अर्थ का बोध, समुचित क्रिया के आक्षेप से, शब्दार्थनिर्णय के रूप में, हो जाता है। अथवा प्रष्ठ आदि शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त पुंस् में होने के कारण ये पुंशब्द माने जाते हैं। इसमें निमित्त अग्रगामित्व आदि है। पुंयोग के कारण स्त्रीत्व से इनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है, साक्षात् नहीं। पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८ सूत्र में प्रष्ठ सम्बन्ध को निमित्त रूप में दिखाया गया है। अतः यहां निमित्तत्व औचित्य है।

अथवा नीचे लिखे श्लोक पर विचार कीजिए :

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः॥

इस श्लोक में किन्हीं क्रिया पदों का उल्लेख नहीं है। कारकपद ही औचित्य के आधार पर समुचित क्रियापदों का आक्षेप करा देते हैं और इस तरह से एक वाक्यार्थ सामने झलका जाते हैं जिसमें अवान्तर वाक्यों के अर्थों का समावेश रहता है और जो अप्रस्तुत प्रशंसा (अप्रस्तुत की प्रशंसा के माध्यम से प्रस्तुत की निन्दा) का उदाहरण खड़ा कर देता है। जैसे, जो व्यक्ति नीम के पेड़ को टांगी (कुल्हाड़ी) से काटता है और जो इस पर गन्ध तथा माला चढ़ाता है सबके लिए वह, अपने दुस्त्यज स्वभाव के कारण, कटु ही है, उनको दुखी ही बनाता है। किसी व्यक्ति की नीच प्रकृति

२. वाक्यपदीय २।३१६, हरिवृत्ति, हस्तलेख
३. महाभाष्य ४।३।८४

को लक्ष्य करके यह श्लोक लिखा गया है। उसकी नीचता दिखाना ही यहां अभिप्रेत है। यह निन्दाभाव औचिती से गम्य है। यहां पुण्यराज भर्तृहरि द्वारा गृहीत औचिती के अर्थ का समर्थन कर रहे हैं। पुण्यराज ने व्याकरणशास्त्र में औचित्य को दिखाते हुए काशिका वृत्ति का एक उद्धरण दिया है :

शास्त्रे यथा पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८ इत्यत्रोक्तं पुंसि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य संभवात् पुंशब्दा एते इति।

औचित्य अथवा औचिती का अर्थ भोजराज तथा मम्मट के समय तक अवश्य कुछ बदल चुका था। स्तुति-निन्दा वाला मूल अर्थ ओझल हो चुका था। भोज ने औचित्य के ये उदाहरण दिए हैं—

औचित्याद् यथा करभोरुः, शिखरिदशना, पुण्डरीकमुखी। उपमेयौचित्यात् करभादिशब्दैः धनुःकोटिकुन्दकुड्मलकमलानि प्रतीयन्ते। न उष्ट्राचलाग्रछत्राणि।[४]

भोज का अभिप्राय यह है कि करभ शब्द का अर्थ धनुःकोटि और ऊंट दोनों हैं। करभोरु कहने पर औचित्य के बल पर धनुःकोटि अर्थ निश्चित हो जाता है। इसी तरह शिखरिदशना में शिखरि का अर्थ पर्वत की चोटी न होकर, कुन्दकली है। पुण्डरीकमुखी में औचित्य से पुण्डरीक का अर्थ कमल है, क्षत्रक नहीं है। अन्यत्र भी भोज ने औचित्य के उदाहरण में लिखा है :

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसञ्जयामास यथा प्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥ —रघुवंश ६।८३
अत्र अङ्गनारूपौचित्यात् करभशब्देन धनुःकोटिग्रहणं विधीयते, नोष्ट्रावयव इति।[५]

मम्मट ने औचित्य का उदाहरण दिया है: **पातु वो दयितामुखमिति सांमुख्ये।** इसके अर्थ में टीकाकारों में मतभेद है। नरसिंह, भास्करसूरि, भट्टगोपाल, सोमेश्वर आदि पातु क्रिया के अनेक अर्थ दिखाकर एक में नियंत्रित करते हैं। गोविन्द ठक्कुर, विद्याचक्रवर्ती, नागेश आदि ने मुख शब्द के अनेक अर्थ देकर उसका सांमुख्य अर्थ में औचित्य दिखाया है। काव्यप्रकाश के किसी टीकाकार का ध्यान ऊपर उद्धृत 'यश्च निम्बं परशुना' श्लोक पर अवश्य गया था किन्तु इसमें औचित्य वह ठीक से नहीं दिखा सका था।[६] किसी भी प्रसिद्ध टीकाकार ने औचित्य के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है। सब ने उसे उचित-सम्बन्ध के रूप में ही लिया है। किन्तु इस रूप में लेने पर सामर्थ्य से औचित्य का भेद बताना कठिन है। गोविन्द ठक्कुर का ध्यान इस प्रश्न पर गया था किन्तु उनका उत्तर संतोषजनक नहीं है :

---

४. शृंगार प्रकाश, पृ० ३२७

५. शृंगार प्रकाश, अध्याय २७, हस्तलेख, मल्लिनाथ ने यहाँ करभ शब्द का अर्थ हथेली का किनारा माना है।

६. अत्रपरशुनेत्यस्य परशुकरणकच्छेदनपरत्वम्। मधुसर्पिः शब्दस्य तत्कारणकसेचनपरत्वम्। गन्धमाल्याभ्यामित्यस्य तत् कारणकपूजार्थत्वमाहुः।
वामनझलकीकर, काव्यप्रकाश टीका पृ० ६६

यद्यप्यत्रापि सामर्थ्यं संभवत्येव तथापि मधुनेत्यत्र तृतीययेव तद्बोधाभावेऽप्यौचितीमात्रज्ञानादेव शक्तिनियमनमसंकीर्णमिति ।[७]

देश—अर्थव्यवस्था देश से भी होती है। जैसे 'मधुरायाः प्राचीनादुदीचीनात् नगरादागच्छति' ऐसा कहने पर नगरविशेष पाटलिपुत्र का बोध होता है। भर्तृहरि के समय में कुछ लोग देश शब्द से देशविशेष का अर्थ नहीं करते थे। उनके मत में संभवतः देश सम्बन्धी औचिती का अभिप्राय यह था कि किसी स्थान में कोई शब्द प्रशंसा वाचक है, अन्य स्थान में वही शब्द उससे भिन्न अर्थ में व्यवहृत हो सकता है। संभवतः प्रौढ शब्द ऐसा ही था। कम्बोज में शवति का प्रयोग गति अर्थ में था, आर्यावर्त में इसका सम्बन्ध निर्जीव से था। भोज ने भी देश भेद से अर्थभेद माना है और उदाहरण दिया है : हरिः अरण्ये। हरिः द्वारिकायाम्। हरिः अमरावत्याम्। यहाँ स्थान-भेद से हरि शब्द का क्रमशः सिंह, विष्णु (कृष्ण) और वासव अर्थ निश्चित हो जाता है।

काल : शब्दार्थ के व्यवच्छेद में काल भी सहायक है। शिशिर काल में द्वारं कहने से दरवाजे बन्द करने का भान होता है। ग्रीष्म काल में द्वारं शब्द से दरवाजे **खोलने** का अर्थ भासित होता है। भर्तृहरि के समय में दक्षिणापथ के किसी एक प्रदेश में पूर्वाह्ण में पच्यताम् कहने से वपा मिश्रित विक्लेदनमय यवागू पाक का बोध होता था, संध्या के समय पच्यताम् कहने पर ओदन प्रधान पाक का बोध होता था। कुछ लोग इसे काल का उदाहरण न मानकर प्रकरण के भीतर गृहीत करते थे। जागृहि जागृहि ऐसा दिन में कहने पर जागर्ति का अन्य अर्थ होता था और रात में कहने पर उससे भिन्न अर्थ होता था। रात्रि में पतंग शब्द कहने पर शलभ द्योतित होता था, सूर्य नहीं।

संसर्ग, विप्रयोग आदि का विवरण भर्तृहरि ने शब्द के नानात्व पक्ष और एकत्व पक्ष को सामने रखकर दिया है। नानात्वपक्ष में शब्द की तुल्यश्रुति होने पर भी वे स्वभावतः भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। किन्तु शब्द रूप अभिन्न रहता है। ऐसी दशा में उनके अर्थ के अवच्छेद के लिए संसर्ग आदि का आश्रय लिया जाता है। एकत्व पक्ष में अर्थ के अभिधान में शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं किन्तु श्रुति सारूप्य के कारण विभागप्राप्त नहीं होती हैं। निमित्त के आधार पर विशेष रूप में उनका अवच्छेद किया जाता है।

किसी आचार्य के मत में शब्दार्थ का अवच्छेदक केवल एक तत्त्व है और वह सामर्थ्य है। अर्थ, प्रकरण आदि के आधार पर जिसका स्वाभाविक भेद ज्ञात होता है वह भी सामर्थ्य ही है। उसी सामर्थ्य का संसर्ग, विप्रयोग आदि रूप में विभाग किया जाता है।

संसर्ग : संसर्ग के आधार पर सामर्थ्य का विभाग होता है। 'धेनुः आनीयताम्' इस वाक्य से धेनु लाने की प्रतीति तो होती है किन्तु विशेष धेनु की प्रतीति नहीं

---

७. काव्यप्रकाश, प्रदीप, पृ० ६५ (आनन्दाश्रम)

होती। किन्तु यदि 'सकिशोरा धेनुः आनीयताम्' कहा जाय तो किशोर शब्द के संसर्ग से धेनु का अर्थ घोड़ी (वडवा) हो जाता है। यहाँ संसर्ग अभेद ज्ञान का निमित्त है। किशोर शब्द घोड़े के बछड़े के लिए प्रयुक्त होता है। उसके संसर्ग से धेनु का द्रोग्ध्री विशेष में--वडवा में—संप्रत्यय होता है। इसी तरह सवत्सा धेनु से गाय का, सवर्करा से बकरी (अजा) का, सकरभा धेनु से ऊंटनी का बोध होता है। क्योंकि वत्स, वर्कर, करभ शब्द क्रमशः गाय के बछड़े, बकरी के बच्चे और ऊंट के बच्चे के लिये प्रयुक्त होते हैं।

'कृष्णकिशोरा धेनुः' में जैसे किशोर शब्द धेनु का विशेषाधायक है, वैसे ही धेनु शब्द किशोर के अर्थ का अवच्छेदक क्यों नहीं होता। भर्तृहरि के अनुसार वत्स, किशोर आदि शब्द विशेषण के रूप में अवच्छेदक हो जाते हैं। कृष्णधेनुकः किशोर के रूप में प्रतिपत्ति नहीं देखी जाती।

जो लोग धेनु शब्द को गाय के अर्थ में ही रूढ़ मानते हैं उन्हें ऐसे वाक्यों में संसर्ग से विशेष संप्रत्यय के रूप में केवल धर्म मात्र की विवक्षा अभिप्रेत रहती है। जैसे, तदस्य परिमाणम् ५।१।५७, संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु ५।१।५८। यहाँ पञ्च एव पञ्चकाः शकुनयः में स्वार्थ में प्रत्यय माना जाता है, प्रत्यय विशेष का संप्रत्यय नहीं कराता है। संस्कृत में दस तक की संख्या संख्येय के अर्थ में व्यवहृत होती हैं, केवल संख्यान के लिए नहीं व्यवहृत होती हैं। दस के बाद की संख्याएँ संख्यान और संख्येय दोनों के लिए आती हैं। इसलिए पञ्च शब्द से जो पक्षी वाच्य हैं वे ही पञ्चक शब्द से भी वाच्य हैं। इसीलिए परिमाणपरिमाणिभाव के न होने के कारण स्वार्थ में ही प्रत्यय-विधान माना जाता है। कैयट के अनुसार यदि पञ्च आदि संख्याओं का, वृत्ति के विषय में, संख्यामात्र में शक्ति मानी जाय, परिमाणापरिमाणि-भाव के आश्रय से भी प्रत्यय विधान संभव है। स्वयं पाणिनि ने द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ सूत्र में द्वि और एक शब्द का द्वित्व और एकत्व मानकर ही इन शब्दों का निर्देश किया है। संख्येयार्थपरक मानने पर 'द्वयेकेषु' ऐसा होना चाहिए था।[८]

भर्तृहरि ने संसर्ग के शास्त्रीय उदाहरण में पाणिनि का अवाद् ग्रः १।३।५१ सूत्र उद्धृत किया है। गृ धातु दो हैं। एक गृ निगरणे तुदादिगण में है। दूसरी गृ शब्दे क्र्यादि गण में है। यहां अव उपसर्ग के संसर्ग से गृ निगरणे का ही ग्रहण होता है और अवगिरते प्रयोग बनता है। गृ शब्दे के साथ अव उपसर्ग का प्रयोग नहीं देखा जाता। इसलिए उसका ग्रहण नहीं होता। अथवा, अर्थविरोध के कारण गृणाति के साथ अव का योग उपपन्न नहीं होता। फलतः, अव के संसर्ग से गृ धातु का गृ निगरणे के रूप में निर्णय किया जाता है :

मम्मट ने संसर्ग के स्थान पर संयोग पढ़ा है।

विप्रयोग—संसर्ग की तरह विप्रयोग भी शब्दार्थ निर्धारण में हेतु माना जाता है। निर्ज्ञात सम्बन्ध का वियोग से व्यपदेश देखा जाता है। जैसे 'अकिशोरा धेनुः

---

८. कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५।१।५८

अकरभा अवर्करा वा आनीयताम्', इस वाक्य में किशोर आदि के विप्रयोग से विशिष्ट-जाति के धेनु का बोध होता है। जिसके साथ बराबर संबंध देखा गया है, उसके बिना भी उसी का ग्रहण होता है। व्याकरणशास्त्र में भी भुजोऽनवने १।३।६६ सूत्र में जिस भुज् धातु का अशन (अवन) और अनवन (अपालन) दोनों अर्थ होता हो उसी का ग्रहण किया जाता है।[९] तुदादिगण पठित कौटिल्य अर्थ वाले भुज धातु का ग्रहण नहीं किया जाता। फलतः 'निभुजति जानुशिरसी' में आत्मनेपद का प्रयोग नहीं होता।

साहचर्य : अर्थ का अवच्छेद साहचर्य से भी होता है। शिला आनीयतां गन्ध-द्रव्याणि च। शिला आनीयन्तां स्तम्भाश्च। शिला आनीयतां गदाधनुषी च। इन वाक्यों में शिला शब्द क्रमशः सिल' सिली (काठ) और शास्त्र का बोधक है। रामलक्ष्मणौ, राम-केशवौ, युधिष्ठिरार्जुनौ जैसे शब्दों में क्रमशः राम, बलराम और पाण्डुपुत्र अर्जुन का वोध लक्ष्मण, केशव और युधिष्ठिर शब्द के साहचर्य से होता है। अतः साहचर्य भी विशेषाधायक है। राम शब्द के कई अर्थ हैं, वह व्यभिचरित शब्द है। लक्ष्मण शब्द का एक ही अर्थ है, वह अदृष्टव्यभिचार है। अदृष्टव्यभिचार दृष्टव्यभिचार का अवच्छेदक साहचर्य के बल पर हो जाता है :

> **यद्यप्येको दृष्टिव्यभिचारः। तथापि अदृष्टव्यभिचारो दृष्टव्यभिचारस्य साह-चर्यात् तुल्यधर्मतां प्रतिपादयति।**[१०]

व्याकरणशास्त्र में भी विपराभ्यां जेः १।३।१९ सूत्र में वि और परा शब्द, साहचर्य के आधार पर, उपसर्ग माने जाते हैं। यहाँ परा शब्द दृष्टापचार है, वह उपसर्ग भी है, अनुपसर्ग भी है। विशब्द अदृष्टापचार है, वह उपसर्ग ही है।[११] इस-लिए उपसर्ग का उपसर्ग सहायक हो जाता है।

> **तद् यथा गोर्द्वितीयेनार्थ इति गौरेवोपादीयते। नाश्वो न गर्दभ इति।**[१२]

लोक में द्वितीय शब्द कहने पर जिसकी अपेक्षा से द्वितीय शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसके तुल्यजातीय का ही ज्ञान कराता है। गो द्वितीय कहने से गौः (बैल) का ही ग्रहण होता है, अश्व अथवा गर्दभ का नहीं होता। इसी तरह 'अन्तरान्त-रेण युक्ते' २।३।४ सूत्र में अन्तरा और अन्तरेण दोनों शब्द साहचर्य के आधार पर निपात रूप में गृहीत होते हैं। गोविन्द ठक्कुर ने साहचर्य का अर्थ सहचरता किया है। नागेश इससे सहमत नहीं है। उनके अनुसार साहचर्य का अर्थ यहां सादृश्य है। किसी

---

९. महाभाष्य में 'यस्य भुजेरवनमनवनं च चार्थः' ऐसा पाठ है। भर्तृहरि की वृत्ति में यहां 'यस्य भुजेरनवनं चाशनं चार्थः' पाठ है। अवन पाठ शुद्ध है।

१०. वाक्यपदीय २।३१७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

११. बहुविजयति वनम्—यहां विशब्द उपसर्ग है किन्तु जहत् स्वार्थावृत्तिपक्ष में अनर्थक है। अजहत् स्वार्थपक्ष में भी उसके अर्थ के उपसर्जन होने से उसका ग्रहण नहीं होगा। सम्बोधनान्त वे का, रूपान्तरयुक्त होने के कारण ग्रहण नहीं होता। एकदेशविकृति के आधार पर वे को वि नहीं माना जा सकता क्योंकि वे विभक्त्यन्त वि का विकार है न कि विशब्द का।

कैयट, प्रदीप ३।१।१९, पुण्यराज २।३१७

१२. महाभाष्य १।३।१९

के मत में साहचर्य प्रत्यासत्ति का उपलक्षण है।

विरोध : विरोध से भी अर्थ का अवधारण होता है। रामर्जुनौ कहने से अर्जुन पद के सन्निधान से विरोध के आधार पर, राम शब्द का परशुराम अर्थ निश्चित हो जाता है।

लिङ्ग : वाक्यान्तर में दृष्ट लिङ्ग से प्रसिद्ध भेद का अनुमान कर लिया जाता है। जैसे 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इस वाक्य में 'तेजो वै घृतम्' इस वाक्य के बल से शर्करा का घृत द्वारा आक्तत्व सन्निधापित होता है। अंजन क्रिया का कर्म शर्करा और साधन घृत है। इसी तरह 'पशुमालभेत' इस वाक्य से पशुत्व युक्त सभी प्राणियों की संभावना होने पर 'छागस्य हविषो वपाया मेदसः' इस लिङ्ग बल से केवल छाग समवायी पशुत्व प्रतीत होता है। इन वाक्यों में बाध नहीं है। यदि घृत से अक्त अनक्त होते, यदि छाग पशु न होता तो बाध उपस्थित होता। सामान्य में न्यूनाधिक भाव नहीं होता। वह ज्यों का त्यों रहता है। लिङ्ग के बिना भी शब्द का वाच्य अर्थ जितना होता है, लिङ्ग के ग्रहण होने पर भी वह उतना ही रहता है। केवल यही अन्तर होता है कि लिङ्ग के उपादान से शब्दान्तर वाच्य का अर्थान्तर में अध्यारोप होता है। किसी अर्थ के अभिधान से जितने अर्थान्तर संभव हैं वे सब शब्द के अर्थ नहीं हैं तो फिर पशु शब्द का अवच्छेद (निर्धारण) नहीं होगा। पशु शब्द की पहले पशु और पशुत्व दोनों में वृत्ति है। छाग आदि भी पहले शब्दार्थ को न बाधित करते हुए स्वार्थ मात्र को लक्ष्य में आरोपित करते हैं। यह ठीक है। किन्तु समवायी विशेषण संभव न हो सकेंगे। इसलिए शब्द व्यापार के न होते हुए भी, बाधाकुल होने के कारण, अवच्छेद मान लिया जाता है। अथवा पहले अर्थ का स्वरूप संसर्ग से अविशिष्ट रूप में ही सम्बद्ध होता है। दूसरे पद के सान्निध्य से उसमें विशेषता आ जाती है। यदि संसर्गज भेद से शब्द में कोई विशेषता न मानी जाय, सन्निधानमात्र के अशब्द होने से अर्थ भी अशब्द मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है।[13] शास्त्र में लिङ्ग का उदाहरण अण् प्रत्याहार का परणकारक तत्व होना है। उॠत् ७।४।७ में तपरकरण लिङ्ग से परणकार तक का निश्चय होता है।

शब्दान्तर सन्निधान : अर्थ विशेष की अवगति दूसरे शब्द के सन्निधान से भी होता है। जैसे अर्जुनः कार्तवीर्यः, रामो जामदग्न्यः। कार्तवीर्य और जामदग्न्य शब्द के संन्निधान से अर्जुन और राम शब्द का विशेष अर्थ स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र में 'अक्षस्य देवनस्य' 'अर्द्धस्य समद्योतनस्य' में अक्ष और अर्द्ध का अर्थ शब्दान्तरसन्निधान से स्पष्ट है। भर्तृहरि ने शब्दान्तर योग के उदाहरण में अग्निः माणवकः, गौः वाहीकः का भी उल्लेख किया है। साथ ही अवच्छेद की एक दार्शनिक पीठिका भी दी है। बुद्धि में सब

---

१३. पूर्वं वा अर्थरूपः संसर्गेणाविशिष्टमेव प्रक्रान्तः। तस्य पदान्तरसन्निधानाद् विशेषो व्यज्यते। यदि हि ससर्गजो भेदः शब्दे नानुपगृहीतः स्यात् सन्निधानमात्रस्याशब्दत्वाद अशब्दोऽर्थः प्रतिसज्येत्—वाक्यपदीय २।३१८ हरिवृत्ति, हस्तलेख। (यहां की भर्तृहरि वृत्ति के हस्तलेख में पाठ में व्यतिक्रम जान पड़ता है।)

तरह के अर्थ समाविष्ट हैं उनमें से कुछ का निर्धारण (पृथक्करण) इन्द्रियों द्वारा होता है। इन्द्रिय जिसकी अभिलाषा रखती है उसे ही पकड़ती है। इन्द्रिय की भी सर्वार्थ इच्छा अर्थ सम्बन्ध आदि के द्वारा नियमित होती है। किन्तु शब्द कभी युगपत् अनेक अर्थ का प्रत्यायक होता है; जैसे, श्वेतो धावति, अलम्बुसानां याता (वाक्यपदीय २।२५२ हरि-वृत्ति, हस्तलेख)।

सामर्थ्य : सामर्थ्य से भी अर्थविशेष की प्रतिपत्ति होती है।

अवहननकृतो नाशो वाजिनः कार्मुकस्य वा—इसमें किसी ने सामर्थ्य माना था। कुछ लोग यहां अर्थ का निदर्शन मानते हैं। कुछ अन्य आचार्य सामर्थ्य का उदाहरण 'अनुदरा कन्या' में मानते हैं। यहां पर सामर्थ्य से उदरविशेष की प्रतिपत्ति गम्य है। इसी तरह 'अभिरूपाय कन्या देया' वाक्य से सामर्थ्यवश 'अभिरूपतराय कन्या देया' इस रूप में अर्थविशेष का आभास होता है। शास्त्र में भी 'प्रथमा निर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' १।२।४३ सूत्र में समास शब्द की प्रवृत्ति समासार्थ शास्त्र में मानी जाती है। 'एक विभक्ति चापूर्वनिपाते' १।३।४४ सूत्र में जिस समास शब्द का अनुमान किया जाता है उसकी समास में प्रवृत्ति प्राथमकल्पिक ही मानी जाती है। इसी तरह 'अकर्म-काणां (विभक्त्यर्थानाम् ?) सरूपे' में सामर्थ्यवश कुछ कर्म और कुछ सारूप्य गृहीत होते हैं।

व्यक्ति : लिङ्ग की पूर्वाचार्य संज्ञा व्यक्ति है। व्यक्ति भी अर्थ निर्धारण में हेतु होता है जैसे 'ग्रामस्यार्धं लभते' इस वाक्य में अर्ध शब्द नपुंसकलिंग में है। नपुंसक-लिंग वाले अर्ध शब्द का अर्थ समप्रविभाग है। अतः लिंग के बल से यहां ग्राम का आधा अर्थ स्फुट हो जाता है। पद्मं पद्मः में भी लिङ्गभेद से अर्थभेद है।

स्वर : स्वर भी अर्थविशेष का ज्ञान करा देते हैं। 'स्थूलपृषतीयालभेत' वाक्य में अन्तोदात्त स्वर के श्रवण होने के कारण स्थूला चासौ पृषती च इस रूप में अर्थ की प्रतीति होती है। पूर्वपदप्रकृतिस्वर यदि दिखाई दे तो 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याम्' इस रूप में अन्य पदार्थ की प्रतीति होती है। इसी तरह वैपाशः कूपः में आदि उदात्त के होने के कारण विपाशा के उत्तर के कूप रूप में विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है और अन्तोदात्त के श्रवण पर विपाशा नदी के दक्षिण के कूप की प्रतीति होती है।[१४]

आदि पद से सत्व, णत्व आदि भी लिए जाते हैं। ये भी अर्थविशेष के परि-ज्ञान में सहायक होते हैं : सुसिक्तम् अतिस्तुतम्, शब्दों में सु और अति कर्मप्रवचनीय हैं और पूजा तथा अतिक्रमण के अर्थ में हैं। उपसर्ग न होने से, और कर्मप्रवचनीय होने से वे अपने कर्मप्रवचनीय वाले अर्थ के द्योतक हैं। सुषिक्तम्, सुष्टुतम् शब्दों में सु उपसर्ग है, इसलिए स का मूर्धन्य आदेश है और अर्थान्तर की उपलब्धि होती है। न और ण के विधान भी अर्थ-परिच्छेद में सहायक होते हैं। प्रनायक और प्रणायक के अर्थ में भेद है। प्रनायक का अर्थ होता है वह देश जिससे नायक चला गया हो। प्रणा-

---

१४. गौप्तः कूपः (गुप्त द्वारा निर्मित कूप) में स्वर विशेष पर ध्यान दिलाना पाणिनि की महती सूक्ष्मेक्षिका मानी जाती है। महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य—काशिका ४।२।७४

यक शब्द से प्रणयन क्रिया के कर्ता की प्रतीति होती है।

नागेश ने वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्य प्रतिभादि को भी अर्थ निर्णय में सहायक माना है (मंजूषा पृ० ११२)।

संदेह के निराकरण के लिए अथवा नियत अर्थ के परिज्ञान के लिए उपर्युक्त प्रकरण आदि काम में लाए जाते हैं।

भेद पक्ष में भी भिन्न-भिन्न अर्थ के होते हुए भी सादृश्य से अभेद की दशा में प्रकरण आदि का सहारा लिया जाता है। जो लोग शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध मानते हैं उनके लिए भी अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग आदि के बल से संदेह निवारण पूर्वक अन्य की अभिव्यक्ति प्रतिपत्ता को होती है। अर्थान्तर से सम्बद्ध का अर्थान्तर में संक्रमण देखा जाता है :

येषां रूप······र्थेन नित्यसम्बन्धा लोके व्यवस्थिता इति दर्शनं, तेषामर्थ-प्रकरणादिभिः सन्दिग्धाभेदास्तं प्रतिपत्तारं प्रति प्रकाश्यते। न त्वेकस्य शब्दस्यार्थान्तरयोनित्वान्नत्वर्थान्तरे संक्रान्तिरिति।[१५]

जहां नाम पद और आख्यात पद सदृश होते हैं, वहां भी संदेह निवारण के लिए प्रकरण आदि की अपेक्षा होती है। केवल स्वरूप के आधार पर कार्यान्तर निबन्धन (कार्योत्साहनिबन्धन) सदृश शब्दों का अर्थ-निर्णय नहीं हो सकता :

नामाख्यातसरूपा ये कार्यान्तर (कार्योत्साह) निबन्धनाः।
शब्दवाच्याश्च तेष्वर्थो न रूपादधिगम्यते॥[१६]

जैसे अश्वः और अश्वः शब्द हैं। इनमें एक अश्व शब्द नाम शब्द है। दूसरा अश्व शब्द टुओश्वि धातु के लङ् लकार मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। इसी तरह से अजापयः अजापयः शब्द है। एक अजापय शब्द बकरी के दूध के लिए नाम शब्द है दूसरा अजापय शब्द जि जये धातु से अजेय के जितने वाले प्रेरक की अर्थविवक्षा में किसी तरह निष्पन्न होता है। यहां सादृश्य से संदेह होने पर प्रकरण के आधार पर अर्थ निर्णय किया जाता है। आख्यात सरूप भी नामपद होते हैं। तेन, तेन। तेन शब्द तनु विस्तारे धातु के लिट् लकार मध्यमपुरुष का एकवचन का रूप है। तेन सर्वनाम भी है। तस्य और यस्य की भी कुछ ऐसी कहानी वैयाकरण बताते हैं। भर्तृहरि ने नाम और आख्यात के सारूप्य निर्देशक शब्दों की एक छोटी सूची दे दी है। घातम् घातम्। अरुणः अरुणः। श्यामः श्यामः। अस्याः अस्याः। आचितम् आचितम्। अश्वः अश्वः। सम सम। हालः हालः। दुहिता दुहिता।

ऐसे शब्दों में जिनकी स्वरूपनिबन्धना प्रवृत्ति होती है, उनके लिए अर्थ, प्रकरण आदि के बल से प्रविभागकल्पना की जाती है।

---

१५. वाक्यपदीय। ३२९१ हरिवृत्ति, हस्तलेख
१६ वाक्यपदीय २।३२०
१७. पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः।
क्रमन्यूनातिरिक्तत्व स्वर वाक्य स्मृति श्रुतिः॥ —श्लोकवार्तिक, वाक्याधिकरण ९८३

पद अवधारण के उपाय

वाक्य की भांति पद-अवधारण के भी कुछ उपाय सोच लिए गये थे। कुमारिल ने उनमें क्रम, न्यून, अतिरिक्त, स्वर, वाक्य, स्मृति और श्रुति का उल्लेख किया है।[१७]

क्रम भेद से पद भेद होता है। जैसे रस और सर में वर्णसाम्य है किन्तु वर्णों के क्रम में भेद होने से रस और सर भिन्न-भिन्न पद हैं। इसी तरह राजा और जार में क्रमभेद पद अवधारण का उपाय है। कर और करंज, गौः और गोमान् में वर्णों का न्यून और अतिरिक्त भाव अवधारक है। 'इन्द्रशत्रुः' में स्वर के आधार पर तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि रूप में निर्णय किया जाता है। वाक्य भी पदावधारण में सहायक होता है। वाक्य से यहां अभिप्राय पदान्तर समभिव्याहार से है। 'सा रङ्गमागता नर्तकी' में रंग के समभिव्याहार से सा का अवधारण नर्तकी से होता है। 'पचते देहि' इस वाक्य में पचते क्रिया न होकर नाम है। इसका निर्णय अन्य पद के समभिव्याहार से हो जाता है। 'अश्वः गच्छति' में अश्व शब्द नामपद है, क्रियापद नहीं है। मनुष्यत्व के समान होते हुए भी 'सोम शर्मा का पुत्र आ रहा है' इस वाक्य से ब्राह्मणत्व की स्मृति जगती है। ऐसी स्मृति भी अवधारण में सहायक होती है। 'उद्भिदा यजेत' जैसे स्थलों में उद्भिदति अथवा उद्भेदयति इस रूप में संदेह होने पर उद्भिदा में तृतीया विभक्ति के आधार पर भावनाकरणक यज् के साथ सामानाधिकरण्य के सहारे उद्भेदयति (प्रकाशक) के रूप में निर्णय किया जाता है। यह श्रुति है। अथवा परमे व्योमन् जैसे स्थलों में श्रुति से पदावधारण माना जाता है।

किसी आचार्य ने अवधारण को कुछ और व्यापक आधार दिया है। उनके मतमें व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्य शेष, विवृत्ति और सिद्ध-पद का सान्निध्य—ये आठ गृहीत हैं :

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।[१८]

---

१८. शब्दशक्ति प्रकाशिका, रामभद्री टीका, पृष्ठ १०३

१०

वृत्ति-विचार

पाणिनि ने समर्थ को पदविधि माना है । पतञ्जलि ने पदविधि के भीतर तीन विषयों को समेटा है—समास, विभक्ति विधान और पराङ्गवद्भाव ।

समास पदविधि है । क्योंकि परिनिष्पन्न शब्दों के विधि से उसका सम्बन्ध है। समास संज्ञा भी है । समुदाय (संज्ञी) भी समास है । समास का मूल आधार विग्रह वाक्य है । जो विग्रह भी हो और वाक्य भी हो उसे विग्रह वाक्य कहा जाता है अथवा विशेष रूप में ग्रहण को विग्रह माना जाता है । विग्रहार्थ वाक्य विग्रह वाक्य कहलाता है ।

विग्रहञ्च तद् वाक्यञ्चेति विग्रहवाक्यम् । अथवा विशेषण ग्रहणं विग्रहः । विग्रहार्थं यद्वाक्यं तद् विग्रहवाक्यम् । विग्रहवाक्यस्यार्थो विग्रहवाक्यार्थः ।

न्यास २।१।१

सामान्यविहित विभक्तियों का कर्मणि द्वितीया २।३।२ आदि के द्वारा जो नियम किया जाता है उसे विभक्ति विधान कहा जाता है । इसी तरह ये पदविधि कहलाते हैं । यद्यपि एकवाक्यता के आश्रय से विभक्तियों का विधान होता है, फिर भी पदान्तर सम्बन्ध से जिन विभक्तियों का विधान होता है उनके आश्रय से भी पद-विधि रहता है । इसी आधार पर निरपि पदं, विशिरपि पदं कहा जाता है । विभक्ति से अवच्छिन्न होने के कारण विशिष्टविधानकर्म सामान्यविधानक्रिया का होता है। जैसा कि कहा जाता है :

सामान्यपुषेरवयवपुषिः कर्मेति ।

पराङ्गवद्भाव तादात्म्यातिदेश का दूसरा नाम है । तत् स्वभावता का नाम तादात्म्य है । सुबन्त का आमंत्रित में अनुप्रवेश को पाणिनि ने पराङ्गवत् माना है । मद्राणां राजन् आदि में भी पराङ्गवद्भाव है ।

उपर्युक्त तीनों पदविधि कहलाते हैं । नागेश ने पद-संपादक सभी विधि को पदविधि माना है :

केचित्तु पदोद्देशकः पदत्वसंपादको वा सर्वोपि पदसम्बन्धित्वात् पदविधिरेवेति वदन्ति ।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।१।१

इस तरह समर्थ पदों के अथवा सम्बद्धार्थों के अथवा संसृष्टार्थों के विधि को पदविधि कहा जा सकता है। इनके भीतर समास, तद्धित आदि आ जाते हैं। इन्हें वृत्ति शब्द से भी कहा जाता है। परार्थ के अभिधान का नाम वृत्ति है (**परार्थाभिधानं वृत्तिः—महाभाष्य २।१।१**)। दूसरे शब्द का जो अर्थ होता है उसका जहां शब्दान्तर से अभिधान हो, वह वृत्ति है।

वृत्तिविचार सम्बन्धी वार्तिककार के कुछ विचार

पाणिनि के समर्थः पदविधि : २।१।१ सूत्र पर विचार करते हुए वार्तिककार ने एकार्थीभाव और व्यपेक्षा का सिद्धान्त स्थिर किया है।

पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम् २/१/१—१।

परस्पर व्यपेक्षां सामर्थ्यमेके २/१/१—४।

एकार्थीभाव उस वाद को कहते हैं जहां पद प्रधान अर्थ के लिए अपने अर्थ को गौण बना लेते हैं, अथवा छोड़ देते हैं, और इस तरह व्यर्थ हो जाते हैं, या अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। व्यपेक्षावाद में यह माना जाता है कि पद परस्पर साकांक्ष होते हैं। उनमें एक दूसरे की आकांक्षा रहती है :

> **यत्र पदान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि, अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थीभावः। परस्पराकांक्षारूपा व्यपेक्षा।**
>
> —महाभाष्यप्रदीप २/१/१

वार्तिककार ने पृथक्-पृथक् अर्थ वाले पदों के एकार्थीभाव होने को समर्थ माना है। वाक्य में (विग्रहवाक्य में) पद पृथक् पृथक् अर्थ वाले होते हैं जैसे, राज्ञः पुरुषः। यहां राज शब्द राजार्थ को ही व्यक्त करता है, पुरुष शब्द पुरुषः के ही अर्थ को प्रकट करता है। वृत्ति (समास) में पद एकार्थक होते हैं। जैसे राजपुरुषः में राज शब्द भी पुरुष के ही अर्थ को कहता है, इस तरह दोनों पदों का एकार्थीभाव होता है। अथवा अवयवार्थ से युक्त समुदायार्थ अन्य ही प्रकट होता है। इस दृष्टि से एकार्थीभाव कहते हैं। जैसे जल और धूल मिल कर एक हो गये रहते हैं वैसी एकार्थीभाव में पदार्थ एक से हो गए रहते हैं। वाक्य में पदों में पृथगर्थता होते हुए भी पदों के आकांक्षा-योग्यता वश विशेषणविशेष्यभाववश विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। वृत्ति में भी विशिष्ट अर्थ भासित होता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वृत्ति और वाक्य में नितान्त एकार्थता हैं। जिस तरह से ब्राह्मणानां शतं भोज्यताम् और शतं ब्राह्मणा भोज्यन्ताम् इन दोनों वाक्यों से व्यवहारगत कार्य में कोई भेद नहीं है—सौ ब्राह्मण खिलाये जाते हैं, परन्तु शब्दार्थ भिन्न-भिन्न हैं। वाक्य और वृत्ति में भी यही बात है।

एकार्थीभावकृत विशेषता के लिए दो वाक्य महाभाष्य में हैं जो कात्यायन के नहीं जान पड़ते परन्तु भाष्यकार ने उनकी व्याख्या वार्तिक की तरह की है। वे हैं—

१—सुबलोपो व्यवधानं यथेष्टमन्यतरेणाभिसम्बन्धः स्वरः।

२—संख्याविशेषो व्यक्ताभिधानमुपसर्जनविशेषणं च योगः॥

अर्थात् विग्रह वाक्य में विभक्ति का लोप नहीं होता। परन्तु समास में सुप्

विभक्ति का लोप होता है। जैसे राज्ञः पुरुषः इस वाक्य में राजन् शब्द के आगे की विभक्ति का लोप नहीं हुआ है। परन्तु राजपुरुषः इस समास में विभक्ति का लोप हो गया है। पर कुछ ऐसे भी समास होते हैं, जिनमें विभक्ति का लोप नहीं होता। जैसे वर्षासुजः (इन्द्रगोप), गोषुचरः (कुक्कुट)।

वाक्य मे उसके बीच में दूसरा शब्द डाला जा सकता है। जैसे राज्ञः पुरुषः को राज्ञः ऋद्धस्य पुरुषः कह सकते हैं। परन्तु समस्त पद के बीच में कोई शब्द नहीं डाल सकते।

वाक्य के शब्दों को हम जैसे चाहें क्रम बदल कर रख सकते हैं। जैसे राज्ञः पुरुषः को हम पुरुषः राज्ञः ऐसा भी कह सकते हैं। परन्तु समास में क्रम निश्चित रहता है। राजपुरुष ही कहेंगे, राजासम्बन्धी पुरुष के अर्थ में पुरुषराज नहीं कह सकते।

कभी-कभी समास में भी प्रयोग अनियमित रहता है। जैसे जातपुत्रः और पुत्र-जातः दोनों तरह से कहते हैं।

वाक्य में प्रत्येक पद का अलग-अलग स्वर (उदात्त) होता है। जैसे राज्ञः पुरुषः इसमें राज्ञः और पुरुष दोनों में आदि उदात्तस्वर है। परन्तु समस्त पद में एक ही उदात्तस्वर होता है जैसे राजपुरुषः में अन्तोदात्त स्वर है।

कभी-कभी वाक्य में भी एक स्वर दिखाई देता है जैसे तीक्ष्णेन परशुना वृश्चन् इस वाक्य में है। और तवै प्रत्ययान्त वाला एक पद भी दो उदात्तस्वर वाला होता है। जैसे कर्तवै-एतवै आदि।

वाक्य में संख्या विशेष का ज्ञान रहता है जैसे राज्ञः पुरुषः, राज्ञोः पुरुषः, राज्ञां पुरुषः इनमें एकत्व, द्वित्व और बहुत्व स्पष्ट जान पड़ता है। समास में संख्या का ठीक ज्ञान नहीं होता। राजपुरुषः में एकत्व, द्वित्व, वहुत्व सब छिपे हैं।

कभी-कभी विशेष स्थलों में समास में भी संख्या की प्रतीति होती है जैसे—द्विपुत्रः, पंचपुत्रः, मासजातः। मासजातः में एकत्वसंख्या का ज्ञान होता है। द्विपुत्रः आदि में संख्या का ज्ञान द्वि शब्द से होता है।

वाक्य में लिंगविशेष का स्पष्ट ज्ञान रहता है। परन्तु समास में उतना स्पष्ट नहीं होता। कुक्कुट्याः अण्डम्, कुक्कुटस्याण्डम् दोनों के लिए समास में कुक्कुटाण्डम् कहेंगे। ऐसे ही मृगमांसम् मृगी और मृग दोनों के माँस के लिए।

कभी-कभी वाक्य में भी लिंग की अविवक्षा देखी जाती है जैसे, छागस्य मांसम् छाग और छागी दोनों के लिए व्यवहृत।

वाक्य में कथन अपेक्षाकृत स्पष्ट रहता है। समास में उतना स्पष्ट नहीं होता। जैसे ब्राह्मणस्य कम्बलः तिष्ठति। इसका अर्थ स्पष्ट है। परन्तु यदि ब्राह्मणकम्बलः तिष्ठति ऐसा कहें तो यह संदेह होता है कि ब्राह्मणकम्बल यह नाम है अथवा ब्राह्मण का कम्बल यह अर्थ है।

कभी-कभी समास में वाक्य की अपेक्षा स्पष्टता अधिक होती है। जैसे अर्द्धं पशोः देवदत्तस्य की अपेक्षा अर्द्धपशुः देवदत्तस्य अधिक स्पष्ट है।

वाक्य में प्रत्येक पद अपना विशेषण साथ रख सकता है परन्तु समास में प्रत्येक पद अपना विशेषण साथ नहीं रख सकता। ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः कहते हैं परन्तु इसी अर्थ में ऋद्धस्य राजपुरुषः ऐसा नहीं हो सकता।

कभी-कभी समस्त पद भी विशेषण रखते हैं जैसे देवदत्तस्य गुरुकुलम्, देवदत्तस्य गुरुपुत्रः, देवदत्तस्य दासभार्या आदि। परन्तु गुरुकुल, दासभार्या जैसे शब्द अत्यधिक व्यवहार के कारण एक पद जैसे हो गये थे और इनका समस्त रूप ओझल सा हो गया था। तभी ऐसे प्रयोग बोले जाने लगे होंगे।

वाक्य में समुच्चय द्योतक च का व्यवहार बीच बीच में किया जाता है जैसे राज्ञः गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च। परन्तु समास में एक तरह के सामूहिक अर्थ की स्वतः अभिव्यक्ति हो जाने के कारण च का प्रयोग बीच में नहीं किया जाता। जैसे राज्ञः गवाश्वपुरुषाः।

इन विशेषताओं के प्रसंग में भाष्यकार ने शब्दों द्वारा अर्थ का अभिधान स्वाभाविक है अथवा वाचनिक है के साथ-साथ जहत्स्वार्थावृत्ति, अजहत्स्वार्थावृत्ति आदि पर भी विचार किया है जिससे दूसरे दर्शन भी प्रभावित हैं।

यदि वृत्ति में एकार्थीभाव नहीं स्वीकार किया जायगा तो वाक्य की तरह इसमें भी संख्याविशेष की प्रतिपत्ति, विशेषणयोग आदि के रोकने के लिए उपाय करने पड़ेंगे। शब्द का स्वाभाविक रूप कभी नित्यदर्शन के आधार पर समझा जाता है कभी कार्यदर्शन के आधार पर अवुधबोधनार्थ उपस्थित किया जाता है। कार्यपक्ष में अनेक साधारण बातों के लिए नियम बनाने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, जैसा कि कैयट ने लिखा है, निष्कौशाम्बिः, गोरथः, घृतघटः, गुडधानाः, केशचूडः, सुवर्णालंकारः, द्विदशाः, सप्तपर्णः, गौरखर आदि के लिये क्रमशः क्रान्त, युक्त, पूर्ण, मिश्र, संघाविकार सुच्प्रत्ययलोप, वीप्सा और जातिविशेषाभिधायित्व नियम से प्रतिपाद्य हैं। नित्यदर्शन पक्ष में ये सब विशेषताएं एकार्थीभावकृत मान ली जाती हैं। इनके लिए विशेष सूत्र की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त वार्तिककार ने व्यपेक्षापक्ष में दोष निम्नलिखित वार्तिकों द्वारा भी व्यक्त किया है :

तत्र नानाकारकान्निघात युष्मदस्मदादेशप्रतिषेध : २।१।१—५, **प्रचये समासप्रतिषेध** : २।१।१—६

अव्ययीभाव प्रकरण में २।१।१० सूत्र पर कितवव्यवहारे च २।१।१०-१ वार्तिक वार्तिककार के लोक-ज्ञान का भी द्योतक हैं। खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे २।१।१७-२ भी वार्तिककार के लोक ज्ञान के साथ लोक जीवन से ली गई शब्दावली के चयन को स्पष्ट कर देता है। खलेयवम्, खलेबुसम्, लूनयवम् आदि का प्रथमान्त ही प्रयोग होता है (**अव्यतिरिक्त एव प्रातिपदिकार्थे एषां प्रयोगः कर्तव्यः नान्यत्र—महाभाष्यप्रदीप** २।२।१७)

बुसोपेन्ध्यं, धनद्यात्यं, पादहारकः और गलेचोपकः इन लोक-जीवन सबन्धी शब्दों की सिद्धि के लिए वार्तिककार ने वार्तिक लिखे हैं। कृतापकृतम्, भुक्तविभुक्तम्, पीतविपीतम्, गतप्रत्यागतम्, यातानुयातम्, पुटापुटिका, क्रयाक्रयिका, फलाफलिका,

मानोन्मानिका—ये व्यवहारसिद्ध शब्द वार्तिककार द्वारा संग्रहीत और प्रतिपादित हैं।

वर्णोवर्णेन २।१।६९ के दो वार्तिक इष्टि माने जाते हैं। वे हैं—

(१) **समानाधिकरणसमासाद्बहुव्रीहिः कदाचित् कर्मधारयः सर्वधनाद्यर्थः।**

(२) **पूर्वपदातिशये आतिशायिकाद् बहुव्रीहि सूक्ष्मवस्त्रतराद्यर्थः।**

पहले के लिए कैयट ने इष्टि शब्द का प्रयोग किया है (**वार्तिककारेणेष्टिरूपेण पठितम्—महाभाष्यप्रदीप** २।३।६९) और दूसरे को भाष्यकार ने इष्टि माना है। इष्टियों पर अन्यत्र विचार किया गया है। इच्छाप्रदर्शक वाक्य को इष्टि कहते हैं।[1] इससे सर्वधनी, सर्वबीजी, सर्वकेशी (नट), गौरखखदरण्यम् कृष्णसर्पवान् वल्मीकः, लोहितशालिमान् ग्रामः, सूक्ष्मवस्त्रतरः, तीक्ष्ण शृंगतरः, बह्वाढ्यतरः, वहुसुकुमारतरः ये शब्द सिद्ध होते हैं। यहाँ उपसंख्यात वार्तिक द्वारा शाकपार्थिवः, कुतपसौश्रुतः, अजातौल्वलिः यष्टिमौद्गल्यः—ये शाकपार्थिवादिगण के शब्द साधित हैं।

२।२।३ पर वार्तिक है—**द्वितीयादीनां विभाषा प्रकरणे विभाषा वचनं ज्ञापकमवयवविधाने सामान्यविधानाभावस्य** २।२।३-१ अवयवविधि में सामान्यविधि नहीं होती है। कैयट ने अवयवविधान की परिभाषा यों दी है:

सामान्याश्रयसमूहापेक्षया प्रतिनियतो विशेष एकदेशो भवतीति विशेषविषयं विधानम् अवयवविधानशब्देनोच्यते।

—महाभाष्यप्रदीप २।२।३

भिन्नति में श्नम् के बाद श्नम् नहीं होता यह ज्ञापन का फल है। यह वार्तिककार के मत से है। वस्तुतः बाध्यबाध्यकभाव विरोध से होता है अथवा एकफल से होता है। यहां भिन्न देश होने के कारण विरोध नहीं है, विकरणों के अनर्थक होने के कारण एकफल का भी अभाव है। किन्तु वार्तिककार विरोध के अभाव में बाध्यबाधक नहीं मानते हैं। जैसा कि उनके श्नम् बहुजकक्षु नानादेशत्वादुत्सर्गाप्रतिषेध: २।३।१-२ वार्तिक से स्पष्ट है। भाष्यकार बिना विरोध के भी सामान्य-विशेषविधि में बाध्यबाधकभाव मानते हैं।

षष्ठी के प्रसंग में कात्यायन ने प्रतिपदविधाना और कृद्योगा का उल्लेख किया है। प्रतिपदविधाना षष्ठी के साथ समास, वार्तिककार के अनुसार नहीं होता किन्तु कृद्योगा के साथ होता है। प्रतिपदविधाना और कृद्योगा का अर्थ कैयट ने यों दिया है:

साक्षात् धातुकारकविशेषोपादानेन विधानात् प्रतिपदविधानेत्यर्थः। कृत् शब्दोपादानेन तु या विहिता सैव कृद्योगोच्यते।

—महाभाष्यप्रदीप २।२।८

फलतः सर्पिषो ज्ञानम् में षष्ठीसमास नहीं होता परन्तु इध्मव्रश्चनः, पलाशशातनः में

---

१. मृजेरजादौ संक्रमे विभाषावृद्धिरिष्यत इत्यादीनि इच्छाप्रदर्शकवाक्यानि इष्टयः—शेष श्रीकृष्ण, पदचन्द्रिकाविवरण, हस्तलेख, पृ० १२ (लेखक का संग्रह)

होता है।

तत्स्थैश्च गुणैः २।२।८-२ वार्तिक द्वारा तत्स्थ गुणों के साथ षष्ठी समास का विधान कात्यायन ने माना है। किन्तु गुणबोधक शब्दों के विशेषण के साथ नहीं माना है। तत्स्थ गुण से अभिप्राय उस गुण से है जो द्रव्य से अलग स्वतंत्र रूप में व्यवहृत होता है, द्रव्य के उपरंजक के रूप में नहीं। जैसे चन्दनस्य गंध : चन्दनगन्धः। कपित्थस्य रसः कपित्थरसः। इन उदाहरणों में गुण और गुणी में वैयधिकरण्य है, सामानाधिकरण्य नहीं है। अर्थात् हम सदा चन्दनस्य गन्धः ऐसा ही कहते हैं, चन्दनं गन्धः ऐसा नहीं कहते। यद्यपि गुण के द्रव्याश्रित होने के कारण पूर्णरूप से उसका अपने आप में अवस्थान (तत्स्थभाव) नहीं संभव है फिर भी द्रव्य के उपरंजक के रूप में व्यवहृत न होकर जहाँ वह प्रधानरूप से व्यवहृत होता है वहां द्रव्य से पृथक् सत्ता रखता हुआ सा जान पड़ता है और इस दृष्टि से ही वह तत्स्थ कहा जाता है। काकस्य कार्ष्ण्यम् में यद्यपि गुण तत्स्थ है फिर भी शुक्लः पटः आदि में गुण-गुणी में अभेद मानने से द्रव्य का उपरंजक भी होता है। शुक्ल शब्द के द्रव्य के अर्थ में व्यक्त होने पर ही उससे भाव में प्रत्यय होता है। अतः वह शुक्ल गुण तत्स्थ नहीं है। यद्यपि शुक्ल और शौक्ल्य में भेद है फिर भी अर्थ की दृष्टि से तत्स्थता मानी जाती है। शब्द में भेद होते हुए भी अर्थ में भेद न होने के कारण शुक्ल गुण में तत्स्थता नहीं है। रूपवान् पटः जैसे स्थलों में मत्वर्थीय प्रत्यय के भेद के द्योतक होने के कारण गुण-गुणी में अभेद का आरोप नहीं होता। फलतः रूप में तत्स्थत्व रह जाता है और समास होकर पटरूपम् प्रयोग बनता है।

किन्तु वार्तिककार के अनुसार गुणबोधक शब्दों के विशेषण के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं होता। जैसे घृतस्य तीव्रो गन्धः। चन्दनस्य मृदु गन्धः। इन वाक्यों में तीव्र और मृदु गन्ध के विशेषण हैं। इसलिए इनके साथ समास नहीं हुआ है। यद्यपि घृत का सम्बन्ध गन्ध से है, न कि तीव्र या मृदु से। अतः असामर्थ्य के कारण इन शब्दों के समास की प्राप्ति ही नहीं होनी चाहिए, परन्तु प्रकरणवश कभी-कभी तीव्र शब्द भी तीव्रगंध का बोधक हो जाता है। उस अवस्था में समास की प्राप्ति हो सकती है। तदर्थ कात्यायन ने 'न तु तद् विशेषणैः, कह कर उसका निषेध किया है।

२।२।२४ सूत्र पर सामान्याभिधाने विशेषानभिधानम् २।२।२४-६ और विभक्त्यर्थाभिधाने द्रव्यस्य लिंगसंख्योपचारानुपपत्तिः २।२।२४-७ वार्तिककार के दार्शनिक विवेचन शैली को स्पष्ट करते हैं। उच्चैर्मुखः, उष्ट्रमुखः, केशचूडः, प्रपर्णः, अभार्यः जैसे शब्दों के समास पर अभिधान और अनभिधान दोनों दृष्टियों से वार्तिककार ने विचार किया है।

चार्थद्वन्द्वः २/२/२९ पर के वार्तिकों में वार्तिककार का युगपदधिकरणतावाद उल्लेखनीय है। **'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्'** में द्वन्द्व के अभाव के लिए वार्तिककार ने कहा है—**सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वन्द्ववचनात्** २/२/२९-२। एक-एक शब्द से एक साथ जब समुदाय अभिधेय होता है, द्वन्द्व होता है। इसी को युगपदधिकरणतावाद कहते हैं। गाम् अश्वं आदि वाक्य में पदार्थ परस्पर निरपेक्ष हैं। वे स्वतंत्र रूप में

भिन्न-भिन्न शब्दों से प्रत्याय्य हैं। अतः युगपदधिकरणता के न होने से द्वन्द्व समास वहां नहीं होता है। इस तरह सहविवक्षा में द्वन्द्व होता है। अभिधानक्रम से अभिधेय क्रम अवश्यंभावी होता है परन्तु इससे युगपदधिकरणतावाद का प्रत्याख्यान नहीं होता। प्लक्षन्यग्रोधौ, धवखदिरपलाशाः जैसे स्थलों में न्यग्रोधार्थ की प्रतिपत्ति के समय प्लक्षार्थ की अनुभूति न हो, पलाशार्थ की प्रतिपत्ति के काल में यदि धव आदि के अर्थ का आभास न हो, तो न्यग्रोध और पलाश शब्दों में एकार्थता आ जाय। फलतः उनसे द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे। अतः द्विवचन और बहुवचन की अन्यथानुपपत्ति के कारण एक-एक शब्द भी अनेकार्थ है ऐसा अनुमान करते हैं और इस अनुमान से युगपद्वाचिता का निश्चय होता है। अतः वार्तिककार ने कहा :

शब्दपौर्वापर्यप्रयोगादर्थपौर्वापर्याभिधानमितिचेद् द्विवचनबहुवचनानुपपत्तिः।

—२/२/२९-५

समुदाय को उद्भूतावयवभेद मानकर समुदायाश्रय एकवचन हो जायगा, ऐसा भी नहीं कह सकते। साहचर्य अर्थान्तर अभिधान में हेतु होता है। प्रक्षरण, विस्तार से अवस्थान, जैसे प्लक्ष में है वैसे न्यग्रोध में भी है, उसका वह स्वार्थ ही है—**कारणाद् द्रव्ये शब्दनिवेश इति चेत् तुल्यकारणत्वात् सिद्धम्**—२/२/२९-१०। इस तरह से अतिप्रसंग नहीं होगा। वृत्ति के विषय में शब्दों के शक्ति-वैचित्र्य से अर्थान्तर अभिधान होता है, सर्वत्र नहीं होता। इतरेतर संनिधान से परस्पर में एक शक्ति का आविर्भाव होता है और इसलिए परस्पराभिधान भी शब्दों का नियतविषय ही होता है। अभिधान स्वाभाविक होता है। इस तरह कई वार्तिकों द्वारा कात्यायन ने युगपदधिकरणतावाद की पुष्टि की है। भाष्यकार इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार यह वाद कठिन और दुस्साध्य है :

इयं युगपदधिकरणवचनता नाम दुःखा च दुरुपपादा च।

—महाभाष्य २/२/२९, भाग—१, पृष्ठ ४३४ कीलहार्न संस्करण।

चार्थ में च से समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार—इन सब का ग्रहण होता है।

काशिका के अनुसार अनेक क्रियाध्याहार समुच्चय हैं। अनेक क्रियाओं की चीयमानता समुच्चय है। समभिहार और समुच्चय में भेद यह है कि समभिहार पौनःपुन्य या भृशार्थ होता है किन्तु वह एक ही क्रिया का होता है जब कि समुच्चय अनेक क्रियाओं का होता है। न्यासकार के अनुसार समुच्चितिः समुच्चय है। किसी एक साधन अथवा किसी एक क्रिया के प्रति अनेक साधनों अथवा क्रियाओं का अपने स्वरूपभेद के साथ चीयमानता या अनेकता समुच्चय है और वह तुल्यबलों का तथा अनियत क्रमयौगपद्यों का होता है। कैयट के अनुसार परस्पर निरपेक्ष पदार्थ जब च द्वारा क्रिया में जोड़े जाते हैं तब च का अर्थ समुच्चय होता है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार परस्पर निरपेक्ष अनेकों का किसी एक सम्बन्धी में अन्वय समुच्चय कहलाता है। अहरहः नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुं में एक ही नयति क्रिया में गो, अश्व आदि

सबका समुच्चय है ।[1] पुण्यराज के अनुसार अविरोधी तुल्यबल वालों का समुच्चय होता है जैसे देवदत्तं भोजय, लवेणन, सर्पिषा, शाकेन च ।[2]

जब एक की प्रधानता होती है और दूसरे की आनुषंगिता होती है तब अन्वाचय होता है । जैसे भिक्षामट गां चानय ।

इतरेतरयोग परस्परसापेक्ष अनेकों का एक अर्थ में समन्वय से होता है । मिलितों का अन्वय इतरेतरयोग है । जैसे, देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिदं कार्यं कर्तव्यम् । देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों उस कार्य के प्रति परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि उनमें से एक के भी न रहने पर काम नहीं किया जाता है ।

समाहार समुच्चय का ही एक भेद है । इसमें भी परस्पर सापेक्षता होती है, किन्तु अवयवभेद तिरोहित रहते हैं और संहति प्रधान होती है । जैसे, छत्रोपानहम् । किसी क्रिया में दोनों की परस्पर सापेक्षता है, संहतिप्रधान होने के कारण एकवचन है । समूह भी समाहार कहा जाता है । इसकी व्युत्पत्ति कैयट आदि ने अनेक प्रकार से की है; जैसे,

समाहरणं समाहारः, समाह्रियत इति समाहारः, समाह्रियमाणार्थः समाहारः (महाभाष्यप्रदीप २।१।२०) । समभ्याशीकरणं समाहारः ।

—महाभाष्य २/१/५१

समाहारो हि समूहः । स च भिन्नार्थानामेवैककालानां भवति । बुद्ध्या युगपदर्थानां परिग्रहादेककालत्वम् ।

—न्यास २/१/५१

सामान्य और विशेष का समुच्चय नहीं होता । सामान्य और विशेष का द्वन्द्व समास नहीं होता । इसमें कारण अनभिधान है । लोकमें वृक्षधवम् ऐसा नहीं कहते । धव शब्द से ही वृक्ष शब्द का अर्थ अवगत हो जाता है । गोबलीवर्द जैसे शब्द में गो शब्द की वृत्ति स्त्रीगवी में समझनी चाहिए । इस तरह ये दोनों शब्द विशेषवाची हो जाते हैं ।

विशेषण-विशेष्यभाव—वार्तिककारने विशेषण-विशेष्यभाव पर विशेष प्रभाव डाला है: **विशेषण-विशेष्ययोरुभयविशेषणत्वादुभयोश्च विशेष्यत्वादुपसर्जनाप्रसिद्धिः** २।१।५७—१ । वार्तिक में विशेषण-विशेष्य में दोनों के विशेषण और दोनों के विशेष्य होने की संभावना व्यक्त की गई है । कृष्णतिल शब्द में कृष्ण शब्द तिलशब्द से जुट कर विशेषण होता है । तिल शब्द कई रंगों के तिल का बोधक है । कृष्ण शब्द तिल के अन्य रंगों से उसका परिच्छेद कर केवल कृष्णरंग में उसे सीमित कर देता है । अतः कृष्णतिल शब्द में परिच्छेदक होने के कारण कृष्ण शब्द विशेषण और परिच्छेद्य होने के कारण तिल शब्द विशेष्य है । इसी तरह कृष्णतिल शब्द में केवल कृष्ण शब्द के उच्चारण से भ्रमर कोकिल आदि कृष्णद्रव्यों का बोध होता है । तिल शब्द के साहचर्य

---

१. शब्दकौस्तुभ २।२।२९

२. पुण्यराज, वाक्यपदीय २।८३ टीका ।

से तिल में ही उसका नियमन हो जाता है। अतः कृष्णशब्द विशेष्य और तिल शब्द विशेषण हो जाता है। इसके समाधान में दूसरे वार्तिक में लिखा है—**न वान्यतरस्य प्रधानभावात्तद्विशेषकत्वाच्चापरस्योपसर्जनप्रसिद्धि :** २।१।५७-२। दोनों में से एक प्रधान होता है। दूसरा उसका विशेषक होता है। जब तिल की प्रधान रूप में विवक्षा होती है और कृष्ण की विशेषक रूप में, तब तिल शब्द प्रधान होता है और कृष्ण विशेषण होता है। तिल द्रव्य रूप है, क्रिया की सिद्धि में साक्षात् उपयोगी है। इसलिए उनकी प्रधानता है। कृष्ण गुण है। वह द्रव्य के सहारे ही क्रिया में उपयोगी हो सकता है इसलिए वह तिल का विशेषण हो जाता है। गुण और द्रव्य में द्रव्य की ही प्रधानता मानी जाती है। यहां यह कहा जाता है कि तिल शब्द जातिवाची है न कि द्रव्य-वाची। यदि जातिविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण उसे द्रव्यवाची मानते हैं तो कृष्ण शब्द भी गुणविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण द्रव्यवाची है। इस तरह इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। इसके समाधान में कहा जाता है कि उत्पत्ति से लेकर नाश पर्यन्त जाति द्रव्य को नहीं छोड़ती है। शब्द से जाति-व्यतिरिक्त द्रव्य का भान नहीं होता। सदा 'गौः शाबलेयः' ऐसा कहा जाता है न कि 'शाबलेस्य गौः।' इसलिए जात्यात्मक ही द्रव्य की प्रतीति होती है अतएव जाति शब्द द्रव्यवाची के रूप में प्रतिष्ठित होता है। गुण ऐसे नहीं हैं। गुण उपायी और अपायी दोनों होते हैं। द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप में भी स्व शब्द से गुण का प्रत्यायन होता है। जैसे पटस्य शुक्लः में। इसलिए द्रव्य की गुणात्मकता नहीं है। फलतः गुण शब्द की द्रव्यवाची के रूप में प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। जहां दोनों प्रधान शब्द एक अर्थ के लिए एक साथ प्रयुक्त होते हैं उनमें विशेष्यविशेषणभाव कैसे होगा? वृक्षाः शिंशपाः में विशेष्यविशेषण अथवा प्रधान-अप्रधान की व्यवस्था कैसे होगी? महाभाष्यकार के अनुसार इस तरह के दो शब्दों का एकत्र समावेश आवश्यक नहीं हैं। पहले विशेष 'शिंशपा' के प्रयोग से उस शब्द से वृक्ष विशेष की ही उपस्थिति होती है, विशेष का सामान्य मे अव्यभिचार होने के कारण शिंशपा के बाद वृक्ष शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि पहले 'वृक्षः' इस रूप में सामान्य का ग्रहण हो बाद में उसकी विशेषता के लिए शिंशपा शब्द का प्रयोग हो तो शिंशपा शब्द विशेषण का काम करेगा और 'शिंशपा-वृक्षः' ऐसा प्रयोग संभव हो सकेगा। कुछ लोग मानते हैं कि शिंशपा के प्रथम उपात्त होने पर भी शिंशपा-फल से शिंशपावृक्ष के व्यवच्छेद के लिए वृक्ष शब्द का प्रयोग वृक्ष को शिंशपा का विशेषण बना देता है और इस तरह 'वृक्षशिंशपा' प्रयोग भी होना चाहिए। परन्तु कैयट के अनुसार यह मत उपयुक्त नहीं है। वृक्ष और शिंशपा में वृक्ष व्यापक है, उसमें महाविषयता है, दूर से पहले उसी की उपलब्धि होती है अतः वृक्ष शब्द ही विशेष्य है। शिंशपा में स्वल्पविषयता है, उसका ग्रहण बाद में होता है और वह शुक्ल आदि गुणतुल्य है। अतः वह विशेषण ही माना जायगा। गुण और द्रव्य के समभि-व्याहार में द्रव्य की प्रधानता होती है केवल यही नियम नहीं है, अपितु व्याप्यव्या-पकजातिसमभिव्याहार में व्यापक विशेष्य होता है यह भी नियम है।

नञ् विचार

पतंजलि ने प्रश्न उठाया था कि अब्राह्मणमानय जैसे वाक्यों से नञ् से किस पदार्थ की प्रधानता व्यक्त होती है। यहां तीन विकल्प संभव हैं। अन्यपदप्रधान, पूर्वपदप्रधान और उत्तरपदप्रधान। यदि ब्राह्मण शब्द कि वृत्ति जाति में मानी जाय और अब्राह्मण का अर्थ यह किया जाय कि जिसमें ब्राह्मणत्व न हो जैसे क्षत्रिय आदि, तो यह नञ् अन्य पदार्थ प्रधान होगा। यदि नञ् की वृत्ति असत् सामान्य में मानी जाय और अब्राह्मण शब्द का अर्थ किया जाय कि जिसमें ब्राह्मण्य न हो किन्तु ब्राह्मणेतर रूप में हो अर्थात् क्षत्रिय आदि तो पूर्वपदार्थप्रधान नञ् होगा। यदि ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्षत्रिय आदि के लिए मिथ्याज्ञान के कारण अथवा दुरुपदेश के कारण हो और ब्राह्मण-पदार्थ की स्वाभाविकी निवृत्ति द्योतित हो, नञ् समास उत्तरपदार्थप्रधान माना जायगा।

अवर्षा हेमन्तः शब्द से न वर्षा अवर्षा हेमन्तः, वर्षासदृश हेमन्त है यह अर्थ होता है। हेमन्त में नीहार आदि से वैसा ही दृश्य उपस्थित हो जाता है जैसा कि वर्षा से। यहां उपमानोपमेय भाव भी दिया हुआ है और इसके साथ अन्य पदार्थ का बोध होता है। अवर्षा का अर्थ अविद्यमाना वर्षा वर्षात्वं अस्य इस विग्रह की स्थिति में अन्य पदार्थ नहीं आता। ऐसा मानने पर उपसर्जन ह्रस्व की प्राप्ति होगी। इस-लिए नञ् समास उपमा को छिपाए हुए प्रक्रिया दशा में अन्य पदार्थ प्रधान होते हैं—ऐसा कुछ लोगों का विचार है।

अन्य विचारक अन्यपदार्थत्व की उपपत्ति दूसरे ढंग से करते हैं। जातिपदार्थ-पक्ष में ब्राह्मण आदि शब्द मुख्य रूप में व्यक्तिनिरपेक्ष जाति के अभिधायक होते हैं, द्रव्य के अभिधायक नहीं होते। नञ् समास के द्वारा द्रव्य की अभिव्यक्ति होती है और इस आधार पर अन्य पदार्थप्रधान वह माना जाता है। अब्राह्मण शब्द से नहीं है ब्राह्मण्य जिसमें अर्थात् ब्राह्मण से अन्य क्षत्रियादि का बोध होता है। ब्राह्मणत्व जाति का जहां आश्रयत्व संभावित है वहीं निषेध होता है, अत्यन्तविजातीय में—क्षत्रिय आदि में निषेध नहीं होता, फलतः क्षत्रिय आदि द्रव्य ही अन्य पदार्थ हैं। ऐसा मानने पर बहुव्रीहि और नञ् समास का विषयविभाग भी उपपन्न होता है। अगुरयमश्वः-अविद्यमाना गावो यस्येत्यगुरयमश्वः—यहां बहुव्रीहि समास है। 'अविद्यमानो गौ-र्गोत्वमस्याश्वस्य सोऽयमगौरश्वः' इस रूप में नञ् समास होगा। बहुव्रीहि समास मत्वर्थ में होगा जबकि नञ् समास उत्तरपदार्थ विजातीय को स्वभावतः अभिव्यक्त करेगा। इस रूप में इनमें विषयविभाग रहेगा।

यदि नञ् समास को अन्य पदार्थ प्रधान माना जायगा अवर्षा हेमन्त में हेमन्त शब्द के लिंग और वचन की प्राप्ति अवर्षा शब्द में भी होगी।

यदि पूर्वपदार्थ प्रधान माना जायगा अव्यय संज्ञा की प्राप्ति होगी। यदि अव्यय में नञ् समास पाठ के अभाव में अव्यय संज्ञा नहीं भी हो, लिंग और संख्या योग की उपपत्ति भी स्वाभाविक शक्ति के आधार पर हो जायगी। शब्द शक्ति के

स्वभाववश नञ् विग्रह वाक्य में असत्त्व रूप अर्थ को व्यक्त करता है। अथवा आश्रय के आधार पर भी लिंग योग हो जायगा। किन्तु इस पक्ष में फिर भी दोष है। यदि स्वाभाविक दर्शन का आश्रय लिया जायगा तो नञ् द्वारा अव्ययीभाव के अपवाद होने से अमक्षिकम् आदि की सिद्धि न होगी। असर्वस्मै, असः आदि उपपन्न न हो सकेंगे। यदि उत्तर पदार्थ प्रधान का आश्रय लिया जायगा, 'अब्राह्मणमानय' कहने से ब्राह्मणमात्र के लाने की आशंका होगी। महाभाष्यकार ने नञ् को निवृत्त-पदार्थक मानकर उपर्युक्त दोष का परिहार कर, उत्तरपदार्थ प्रधानता का समर्थन किया है। निवृत्तपदार्थक का अर्थ, कैयट के अनुसार, पदार्थ की निवृत्ति, मुख्य ब्राह्मण्य की निवृत्ति से है। कौण्डभट्ट के अनुसार निवृत्तपदार्थक अभावार्थक हैं। कैयट के अनुसार स्वाभाविक निवृत्त दर्शन पक्ष में नञ् से पदार्थ की निवृत्ति से तात्पर्य पदार्थ प्रत्यय से है। पदार्थ प्रत्यय ही उपचार से पदार्थ शब्द से व्यक्त किया जाता है। जैसे सिंहमध्यापयेत् वाक्य में सिंह शब्द से माणवक का बोध होता है। अभिप्राय यह है कि जब केवल ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता है, प्रसिद्धि वश वह मुख्य ब्राह्मण अर्थ का ही प्रत्यायक होता है। किन्तु नञ् पूर्वक प्रयोग से-अब्राह्मण शब्द के व्यवहार से — ब्राह्मण शब्द की निवृत्त-पदार्थकता की प्रतीति होती है। प्रतिष्ठति में तिष्ठति क्रिया गति का बोध कराती है किन्तु केवल तिष्ठति से प्रस्थान न करने का बोध होता है। प्र उपसर्ग के साथ तिष्ठति के व्यवहार से ही प्रस्थान का बोध होता है। इसी तरह से नञ् द्योतक का काम करता है। इसके प्रयोग से पदार्थ की निवृत्ति द्योतित होती है। पदार्थ शब्द से उपचार के सहारे पदार्थ प्रत्यय अवगत होता है। महाभाष्यकार ने निवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए कील-प्रतिकील का उदाहरण दिया है। महान कील से छोटी कील उखाड़ ली जाती है। इसी तरह नञ् के प्रयोग करने पर वह पदार्थों की निवृत्ति करती है। यदि यह निवृत्ति वाचनिकी मानी जायगी, केवल न कहने से ही सब तरह के निषेध संपन्न हो जायगे। शत्रु को हराने के लिए सेना रखने की आवश्यकता न होगी। केवल न कहने से वे हट जायगें। यदि स्वाभाविकी निवृत्ति मानी जाय तो नञ् की चरितार्थता ही क्या होगी। इसलिए निवृत्ति तो स्वाभाविकी मानी जाती है किन्तु उसकी उपलब्धि वाचनिकी होती है। जैसे दीप अंधेरे में वस्तु का निदर्शक होता है, निवर्तक नहीं। ब्राह्मण शब्द के प्रयोग से ब्राह्मण पदार्थ की निवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। समुदाय के लिए व्यवहृत होने वाले शब्द उसके एक देश के लिए भी व्यवहृत होते हैं। एक देश के विभाग से समुदाय की निवृत्ति भी कही जाती है और एकदेश, एकभाग के होने पर भी संपूर्ण समुदाय की सत्ता अवगत होती है। पूर्वे पंचालाः, तैलं भुक्तं जैसे स्थलों में अवयव में समुदाय के आरोप से शब्द प्रवृत्ति होती है :

> **अवयवे समुदायरूपारोपात् शब्दप्रवृत्तिः विज्ञेया। न तु शब्दः स्वार्थं परित्यज्यार्थान्तरं वक्तुम् समर्थः, शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यता प्रसंगात्।**
>
> —कैयट, महाभाष्यप्रदीप २।२।६

अब्राह्मण शब्द से निवृत्ति के अर्थ के लिए महाभाष्यकार ने गुण और जाति दोनों का सहारा लिया है। किसी विशेष चिन्हों या रूप से किसी को कोई ब्राह्मण सम-

झता है, बाद में उसे ज्ञात होता है, वह ब्राह्मण नहीं है। यहां अर्थ की निवृत्ति गुण के आधार पर है। इसी तरह जाति के आधार पर प्रवृति और पुन: निवृत्ति जाति-परक निवृत्ति है। ऐसे स्थल पर ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति दुरुपदेश से होती है, जाति के आधार पर अर्थ की निवृत्ति होती है। नञ् के सम्बन्ध में धर्मकीर्ति की निम्नलिखित कारिका प्रसिद्ध है :

सतां च न निषेधोस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः ।।

इसका तात्पर्य यह है कि जो सत् है वह सदा सत् है उसका निषेध नहीं हो सकता। जो असत् है वह असत् है, उसका निषेध करना न करना बराबर है। और इस दृष्टि से नञर्थ का कोई स्थान नहीं है।

नागेश ने इस आक्षेप का उत्तर बौद्ध शब्द और बौद्ध अर्थ के आधार पर दिया है। बुद्धि में अवस्थित अर्थ का भी नञ् के द्वारा बाह्यसता के रूप में निषेध संभव है।

निवृत्ति के प्रसंग में महाभाष्य में प्रसज्यप्रतिषेध का संकेत है :

प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चात् निवृत्तिं करोति।[1]

प्रसंग से यहां पर्युदास भी झलक जाता है जैसा कि कैयट ने लिखा है :

पर्युदासे तु द्रव्यादिसंख्यायुक्त एवानेकशब्दस्यार्थः।[2]

प्रसज्य प्रतिषेध का महाभाष्यकार के मत में, क्रिया और गुण के साथ संबंध होता है। 'न न एकं प्रियम्' 'न न एकं सखम्' में गुण के साथ सम्बन्ध है। 'असूर्यं पश्या' में क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध है। इसी तरह अनचि च ८।४।४७ में क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध है। प्रसज्य प्रतिषेध समस्त में भी होता है, असमस्त में भी होता है। समस्त का उदाहरण 'अभानुभेद्यं तमः' है, असमस्त का उदाहरण 'गृहे घटो नास्ति' है। नागेश के अनुसार, असमस्त रूप में प्रसज्यप्रतिषेध का अर्थ अत्यन्ताभाव है। असमस्त रूप में उसका अर्थ अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नञ् से द्योत्य होते हैं।

पर्युदास सदृशग्राही माना जाता है। निषेध की प्रतीति अर्थ जन्म होती है। कोई इसे आहार्यज्ञान के रूप में भी स्वीकार करते हैं। पर्युदास प्रायः समस्त में ही होता है। कहीं-कहीं समास के विकल्प में असमास में भी देखा जाता है।

नञ् के छः अर्थ के विषय में निम्नलिखित कारिका प्रचलित है :

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकल्पिताः।[3]

भोज ने न नञर्थ द्वारा उत्तरपदार्थ की विशेषता, उत्तरपदार्थ द्वारा नञर्थ की

---

१. महाभाष्य २।२।६
२. महाभाष्य प्रदीपोद्योत २।२।६
३. मंजूषा पृ०, ६६८

विशेषता, दोनों द्वारा अन्यपदार्थ की विशेषता के आधार पर नञर्थ के तीन षटक् दिए हैं जो निम्नलिखित हैं—

(क) अत्यन्ताभाव—जैसे, अरूपो वायुः ।
अनत्यन्ताभाव—जैसे, अनुदरा कन्या ।
अन्यतराभाव—अकिंचनः पुमान् ।
तादात्म्याभाव—अपिशाचः कुड्यः ।
सम्बन्धाभाव—अघटं भूतलम् ।
प्रध्वंसाभाव—अनङ्गः कामः ।

(ख) प्रागभाव—अनुत्पन्नो घटः ।
सामर्थ्याभाव—अप्रधृष्यः सुभटः ।
आवश्यकताभाव—अभूषितः कान्तः ।
इतरेतराभाव—अवर्षा हेमन्तः ।
सत्ताभाव—असत् शशविषाणम् ।
भावाभाव—अनुद्भिन्नः प्रवालः ।

(ग) तदभाव—अनन्यः ।
तदन्य—अनत्रिः ।
तत्सदृश—अब्राह्मणः ।
तद्विरुद्ध—असितः ।
तदपकृष्ट—अमनुष्यः ।
तदुत्कृष्ट—अमानुषः ।

नञर्थ अन्यपदार्थ में कभी व्यवतिष्ठित होते हैं कभी संप्लवित होते हैं । अनुदरा कन्या, अलोमिका एडका आदि में व्यवतिष्ठित माने जाते हैं । अनेके[४], अनेकः, अजन्मा आदि में संप्लवित माने जाते हैं ।

कुछ लोग निम्नलिखित चार को असमर्थ समास में परिगणित मानते हैं, कुछ इनमें भी समुदाय में विभक्तिविशेष की प्रतिपत्ति दिखाते हैं :

अश्राद्ध भोजी ब्राह्मणः ।
असूर्यं पश्या राजदाराः ।
अलवणभोजी भिक्षुः ।
अपुनर्गेयाः श्लोकाः ।

महाभाष्य में निम्नलिखित असमर्थसमास नञ् समास का उल्लेख है जो संस्कृत की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग हैं । किन्तु उन दिनों लोक में व्यवहृत होते थे ।

---

४. नागेश ने अनेके शब्द को असाधु माना है—एवं चानेके इति बहुवचनमसाध्वेवेति बोध्यमिति मंजूषायां विस्तरः ।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत २।२।६ पृ० १७८
गुरुप्रसाद शास्त्री सं०

और इसी आधार पर इनका उल्लेख महाभाष्यकार ने किया है—

अकिञ्चित् कुर्वाणम् ।
अमाषं हरमाणम् ।
अगाधात् उत्सृष्टम् ।

इनका शुद्ध रूप क्रमशः यों है—किंचिद् अकुर्वाणम्, माषम् अहरमाणम्, गाधात् अनुत्सृष्टम् । किन्तु लोक व्यवहार में किंचिद् अकुर्वाणम् के स्थान पर अकिंचित् कुर्वाणम् शब्द चल पड़ा था और इसे बोलने वाले नञ् समास के रूप में ही बोलते थे ।

कैयट ने स्पष्ट किया है कि ये प्रयोग गावी, गोणी आदि की तरह असाधु हैं किन्तु लोक व्यवहार में इनके प्रयोग देखे जाते हैं :

गाव्यादिवदसाधुरपि गमकत्वाभिमतो लोके प्रयुज्जते ।

—महाभाष्यप्रदीप २।१।१

भाषाविज्ञान की दृष्टि से ये प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । ये केवल मिथ्यासादृश्य के सिद्धान्त के ही उदाहरण नहीं हैं अपितु इस बात के भी द्योतक हैं कि साधुता-असाधुता का निर्णायक लोक है । अन्यथा महाभाष्य जैसे ग्रन्थ में इनका कोई स्थान नहीं होना चाहिए था ।

भाव विचार

पाणिनि ने 'तस्य भावस्त्वतलौ' ५।१।११९ द्वारा भाव में त्व और तल् प्रत्यय का विधान किया है । शब्द का प्रवृतिनिमित्त भाव शब्द से कहा जाता है । कात्यायन के इस सूत्र पर के दो वार्तिक व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं । वे हैं—

(१) **सिद्धं तु यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ** ५।१।११९-५

(२) **यद्वा सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावस्तदभिधाने** ५।१।११९-६

गुण शब्द यहां विशेषण अर्थ में है । द्रव्य विशेष्य है । जिस विशेषण की सत्ता से विशेष्य में शब्द की प्रवृति होती है उसके अभिधान में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं—यह प्रथम वार्तिक का शब्दार्थ है ।

वार्तिक में गुण शब्द से जो कुछ पराश्रय है भेदक है, जैसे जाति आदि वे सभी यहां गृहीत हैं । भावात् शब्द का अर्थ विद्यमान होने से है । द्रव्य शब्द से विशेष्यभूत सत्वभावापन्न अर्थ अभिप्रेत है । शब्दनिवेश का अर्थ शब्द की प्रवृत्ति है । शब्द से वाच्य अथवा अवाच्य जिस गुण के भाव से द्रव्य में शब्द की प्रवृति होती है वह त्व और तल् से अभिधेय है । गुणमात्र वृत्ति वाले रूपादि शब्दों से गुण समवायी सामान्य में भाव प्रत्यय होता है, जैसे रूपत्वम् । शुक्ल आदि शब्द जो गुण और गुणी में अभेद के कारण अथवा मतुप् के लोप के कारण गुण और गुणी उभय वृति हैं उन गुणवाचक शब्दों से गुण समवायी सामान्य में भावप्रत्यय होता है, और गुणीवाचक

से गुण में प्रत्यय होता है। अणु, महत्, दीर्घ आदि गुणवाचक शब्द केवल परिमाण में न होकर नित्य परिमाणों में रहते हैं, इस लिए उनसे परिमाण गुण में भाव प्रत्यय होता है। षत्व, णत्व आदि में प्रत्यय भिन्न वर्ण व्यक्ति में समवेत सामान्य विशेष में होते हैं। वर्णों में भेद उच्चारण भेद के कारण अथवा औपाधिक हो सकता है। गो आदि जब केवल जातिवाचक हैं तब उनसे भावप्रत्यय शब्द स्वरूप के अर्थ में होता है। अर्थ रूप जाति में शब्द के स्वरूप का अध्यास किया जाता है जो गो शब्द है वही अर्थ है, इस रूप में। अतः शब्द स्वरूप ही ऐसे शब्दों के प्रवृतिनिमित्त हैं। जितने यदृच्छा शब्द हैं उनमें जाति इसी पद्धति से सिद्ध की जाती है। व्याकरण-दर्शन एक व्यक्ति में भी जाति की सत्ता मानता है। शब्द के उच्चारण भेद से शब्द में अनेकता में एकत्व की सिद्धि की जाती है जिससे अनुगताकार प्रत्यय होता है। इसी तरह अर्थ में अवस्था भेद के आधार पर भेद कर अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर ऐक्य की सिद्धि की जाती है। फलतः अनेक समवेत एकत्व (जाति) की सत्ता व्यक्ति में भी सिद्ध हो जाती है। द्रव्यवाची गो आदि से जाति में भाव प्रत्यय होते हैं। समास, कृत् और तद्धित से सम्बन्ध में प्रत्यय होता है यद्यपि ये केवल सम्बन्ध नहीं व्यक्त करते हैं फिर भी सम्बन्धी में वर्तमान रूप से प्रवृत्तिनिमित्त के रूप में सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं। जैसे, राजपुरुषत्वं से स्वस्वामिभाव की प्रतीति होती है। पाचकत्व में क्रियाकारक सम्बन्ध की झलक है। औपगवत्वम् में अपत्यापत्यवत् सम्बन्ध हैं। किसी-किसी के मत से औपगवत्वम् में अपत्यप्रत्ययान्त से भाव प्रत्यय का अभिधेय जाति है। जैसा कि कहा जाता है : **समासकृत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानमन्यत्र रूढ्यभिन्न—रूपाव्यभिचरित सम्बन्धेभ्यः।**[1]

गौरखर, सप्तपर्ण, लोहितशालि आदि जाति विशेष से आपन्न द्रव्य विशेषवाची शब्दों में ही भावप्रत्यय होता है। इसी तरह कुम्भकारत्वम् हस्तित्वम् आदि में भी। मतुप् के लुक दशा में शुक्ल आदि तद्धितान्त हैं। फिर भी उनसे भावप्रत्यय गुण में ही होता है, सम्बन्ध में नहीं होता। जिस तरह जाति और तद्वान में लोकनिरूढ़ सम्बन्ध के आधार पर भेद तिरोहित-सा हो जाता है और अभेद भासित होता है उसी तरह गुण और गुणी में भी 'वह यह है' इस अध्यास सम्बन्ध से, गुणवचन शब्दों से मतुप् के लुक की दशा में उनमें अभेद भासित होता है और अभेद रूप में उनका अभिधान होता है, उनमें भेद मानकर मत्वर्थ की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। सत्ता में अव्यभिचरित-सम्बन्ध से सतोभावः इस रूप में जाति में ही भावप्रत्यय होता है। सद्वस्तु सत्तासम्बन्ध को नहीं छोड़ती (**न हि पदार्थः सत्तां व्यभिचरति—योगभाष्य**) ३।१७ इस सत्ता सम्बन्ध की अपेक्षा के कारण सम्बन्ध में प्रत्यय नहीं होता। राज और पुरुष में सम्बन्ध सनातन नहीं है अतः उसकी अपेक्षा रख कर ही राज और पुरुष शब्द अपना-अपना अर्थ व्यक्त करते हैं, इसलिए यहां सम्बन्ध में भाव प्रत्यय मानना युक्त

---

१. यह प्राचीन आचार्यों की परिभाषा है। सीरदेव ने इसे परिभाषा रूप में स्वीकार किया है। कौण्डभट्ट ने इसे भर्तृहरि का वाक्य माना है। यह वार्तिकों में नहीं मिलता।

है। इसलिए कहा जा सकता है कि सभी पदार्थों में नित्य समवायरूप से रहने वाली और शब्द प्रवृत्ति की हेतु सत्ता ही भावप्रत्यय से वाच्य है। सत् और सत्ता का सम्बन्ध समवाय वाच्य नहीं है। धवखदिरत्वं जैसे स्थल में जाति द्वन्द्व होने के कारण जाति समुदाय में भावप्रत्यय है। कुत्व जैसे शब्दों में संज्ञास्वरूप का संज्ञी में वह यह के रूप में अध्यास कर भाव प्रत्यय विधान होता है। कुछ लोग ऐसे स्थलों में संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध में भाव प्रत्यय मानते हैं। इस तरह कैयट ने उपर्युक्त वार्तिक की व्याख्या की है।

भाष्यकार ने वार्तिक की व्याख्या में गुण और द्रव्य की परिभाषा पर विचार किया है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध को गुण मानकर इनसे अन्य को द्रव्य माना है। यह एक मत है। गुण से अतिरिक्त द्रव्य की सत्ता अनुमानगम्य है। अथवा भिन्न-भिन्न गुणों के प्रादुर्भाव से भी जिसका तत्त्व खण्डित नहीं होता वह द्रव्य है। अथवा अन्वर्थ रूप में गुण का संद्राव द्रव्य है। डित्थ आदि में वृत्ति (भावप्रत्यय), भाष्यकार के अनुसार, प्राथमकल्पिक डित्थ के आधार पर संभव हो सकेगी। प्राथमकल्पिक डित्थ की कोई क्रिया या कोई गुण यदि किसी में पाई जाय तो इस आधार पर उसमें भी भाव प्रत्यय हो सकेगा।

दूसरे वार्तिक का अर्थ है कि जब सभी शब्द अपने (स्व) अर्थ व्यक्त करते हैं वह उनका अर्थ है और उसी के अभिधान में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं। शुक्ल का भाव शुक्लत्व है। गुण में वर्तमान शुक्ल शब्द का भाव गुणसमवायिसामान्य है। उसके निमित्त से शुक्ल शब्द अपने गुणलक्षण अर्थ में प्रवृत होता है। द्रव्य में वर्तमान गुण शब्द का भाव गुण है। द्रव्य में वर्तमान गो शब्द का भाव जाति है। राजपुरुष का भाव सम्बन्ध है। इस तरह अन्य को भी समझना चाहिए।

नानात्व, सहत्व, यौगपद्य आदि में वृत्ति विषय में नाना शब्द असहभूत अर्थ में है। सह शब्द सहभूत अर्थ में है, युगपत् शब्द युगपद्भूत अर्थ में है। इनमें असहभाव-आदि में भाव प्रत्यय है। इसका निष्कर्ष कैयट के शब्दों में यह है :

> **तत्र भवत्यनेनेति करणसाधनेन भावशब्देन जात्यादिके उच्यमाने वाच्यसम्बन्धिनि शब्दसम्बन्धिनि वा पूर्वोक्तन्यायाद् द्रव्यवाचिनः शब्दाभिधायिनो वा शुक्लादेः त्वतलादय इति स्थितम्—महाभाष्यप्रदीप, ५।१।११९**

स्वार्थ की एक दूसरे तरह से भी व्याख्या की जाती है। स्व शब्द आत्मीय-वाची है, अर्थ शब्द अभिधेयवाची है। स्वार्थ अनेक प्रकार का होता है जैसे, जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध और स्वरूप। गौः, शुक्लः, पाचकः, राजपुरुषः और डित्थः। शब्द अपना अर्थ (स्वार्थ) निरपेक्षरूप में करता है। अपने अर्थ (स्वार्थ) व्यक्त करते समय उसे अर्थगत किसी निमित्तान्तर की आवश्यकता नहीं रहती। अपना स्वार्थ कह कर उस स्वार्थ से सम्बद्ध द्रव्य को व्यक्त करता है। द्रव्य शब्द से व्याकरण दर्शन प्रसिद्ध द्रव्य अपेक्षित है। व्याकरण दर्शन में इदं तत् सर्वनाम से परामर्श योग्य वस्तु को द्रव्य कहते हैं। अब यदि जाति शब्द जाति में है, आरोपित स्वरूपवाली, स्वरूप से एकीकृत जाति व्यक्त करता है, तब उसका स्वरूप स्वार्थ है और जाति द्रव्य है। जब वह जाति विशिष्ट द्रव्य को व्यक्त करता है तब उसका स्वार्थ जाति है। शुक्ल आदि जब गुण

जाति में स्थित हैं, उनका स्वरूप स्वार्थ है और जाति द्रव्य है। जब वे गुण में स्थित हैं, गुण सामान्य उनका स्वार्थ है और गुण द्रव्य है। समवेत द्रव्य का अभिधान कर शब्द, लिंग, वचन और विभक्ति को भी व्यक्त करता है। यद्यपि लोक में पद के उच्चारण करने पर युगपत् पांच अर्थ भासित होते हैं क्योंकि शब्द का व्यापार विरम विरम कर नहीं होता, फिर भी शास्त्र में व्यवहार के लिए कल्पित अन्वय-व्यतिरेक का आश्रय लिया जाता है। असके आधार पर प्रयोग के अनुपयुक्त प्रातिपादक में अर्थवत्ता की कल्पना की जाती है और उसमें एक क्रम माना जाता है क्योंकि 'नागृहीत विशेषण-विशेष्ये बुद्धिः' इस न्याय के अनुसार शब्द सर्वप्रथम स्वार्थ की अभिव्यक्ति करेगा। तब लिंग आदि के आधार भूत द्रव्य का अभिधान करेगा। बहिरंग संख्या की अपेक्षा लिंग अंतरंग है अतः संख्या के पूर्व लिंग का अभिधान करेगा। तब संख्या कि अभिव्यक्ति करेगा। क्योंकि संख्या और कारक में संख्या अंतरंग है और कारक बहिरंग है। संख्या केवल तुल्यजातीयापेक्ष है जब कि कारक विजातीय क्रियापेक्ष होने के कारण बहिरंग है। अतः संख्या के बाद कारक की अभिव्यक्ति होगी। वस्तुतः कात्यायन के अनुसार नानार्थकल्पना बौद्धिक है। इसी दृष्टि से तत्र व्यपदेशिवद् वचनं, एकात्रो द्वे प्रथमार्थम् १।१।२१-२, ३ का प्रत्याख्यान अवचनाल्लोक विज्ञानात् सिद्धम् १।१।२१-५ वार्तिक द्वारा किया है। बुद्धिसमारोपित भेद के आश्रय से मुख्य की तरह एक में भी द्विर्वचन आदि कार्य हो सकते है। यह वार्तिककार का अभिप्राय है।

प्रकार का स्वरूप

पाणिनि ने प्रकारवचन शब्द का व्यवहार किया है। व्याख्याकारों में प्रकार के अर्थ के विषय में मतभेद है। स्थूलादिभ्यः प्रकार वचने कन् ५।४।३ सूत्र में प्रकार सादृश्य-बोधक है। सादृश्य अर्थ को सामने रखकर कात्यायन ने चंचत् बृहतोरुपसंख्यानम्[1] इस वार्तिक को इस सूत्र पर लिखा है। चंचत्क और बृहत्क इन दो शब्दों का मणि विशेष के अर्थ में प्रयोग कात्यायन के समय में होता था। जो चंचत् (चमकीला) न हो किन्तु चंचत् सा जान पड़े उसे चंचत्क कहते थे। प्रभा की लहर से ऐसा जान पड़ता था। इसी तरह जो बृहत् न हो किन्तु बृहत्-सा जान पड़े उसे बृहत्क कहते थे। मणि की कान्ति के प्रसार से ऐसा होता था।

कुछ अन्य आचार्य सर्वत्र प्रकार का अर्थ सादृश्य मानते हैं। 'प्रकारवचने थाल् ५।३।२३, प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२, स्थूलादिभ्यः प्रकार वचने कन् ५।४।३ आदि सूत्रों में सादृश्य अर्थ ही उन्हें अभिप्रेत है। यथा तथा शब्द से तुल्य अर्थ ही द्योतित होता है। पटुजातीय शब्द में जातीयर प्रत्यय द्वारा, मुख्य रूप में, सादृश्य अभिहित होता है। पटुः पटुः शब्द में भी द्विर्वचन से विशेष्य में गुणभूत सादृश्य

---

१. इस वार्तिक में मतभेद था—चंचवृहयोरिति केचित् पठन्ति। तेषां चंचकः बृहकः इत्युदाहरणं द्रष्टव्यम्—काशिका ५।४।३
भर्तृहरि ने चंचत्क, बृहत्क पाठ अपनाया है, वाक्यपदीय, वृत्ति समुद्देश ६१६–१७

भासित होता है। इसी तरह स्थूलक शब्द से स्थूल सदृश अर्थ होता है।

कुछ अन्य आचार्य प्रकार शब्द का भेद अर्थ मानते हैं: **सामान्यस्य विशेषकः भेदकः प्रकार :**—**काशिका ५।३।२३।** इस मत में यथा तथा शब्द से भेद अर्थ की प्रतीति होती है, सामर्थ्य से यहां सादृश्य अर्थ झलकता है। इसी तरह पटुजातीय शब्द में भी भेद अभिप्रेत है। जहां भेद माना जाता है वहां सादृश्य सामर्थ्यगम्य होता है और जहां सादृश्य अर्थ माना जाता है वहां भेद सामर्थ्यगम्य समझा जाता है। पशुप्रकारः देवदत्तः इस वाक्य में सामान्यविशेषभाव न होने के कारण सामान्य ही प्रकार है।

'ब्राह्मणप्रकारा माठरादयः' इस वाक्य में सामान्य का विशेष में अन्वय होने के कारण सादृश्य की संभावना न होने पर भेद प्रकार माना जाता है।

कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकारवान् में होते हैं। जैसे जातीयर, कन् और द्विर्वचन। कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकार मात्र में होते हैं जैसे थाल्। किन्तु प्रकार में वृत्ति होते हुए भी प्रकारवान् से सम्बद्ध होते हैं। इसलिए थाल् और जातीयर में बाध्यबाधक भाव नहीं होगा। और थाल् प्रत्यय के बाद भी जातीयर का प्रयोग देखा जाता है जैसे 'तथाजातीय'।[2]

पाणिनि ने अव्ययं विभक्ति २।१।६ सूत्र में यथा के अर्थ में अव्ययीभाव समास माना है और पुनः सादृश्य के अर्थ में भी माना है। यदि यथा और सादृश्य समानार्थक हैं तो पाणिनि को यथा शब्द से ही सादृश्य का काम चला लेना चाहिए था। इसका उत्तर भर्तृहरि ने यह दिया है कि उपर्युक्त सूत्र में सादृश्य सदृश का उपलक्षण है। इसीलिए इसका उदाहरण सदृशः किख्या सकिखि (शृगाल सदृश) दिया जाता है। जो अव्यय सादृश्य का अभिधायक हो, सादृश्य ग्रहण से उसका अव्ययीभाव समास माना जाता है। सत्वभूत अर्थ के बोधक होने पर भी वचनबल से अव्यय माना जाता है। सादृश्यवचन यथा शब्द के साथ समास नहीं होता। किन्तु थालन्तप्रतिरूपक वीप्साबोधक निपात यथा शब्द के साथ समास होता है। अथवा योग्यतालक्षण यथा का अर्थ सादृश्यमात्र है। जो मूर्तिगत (द्रव्यगत) साम्य है वह सह शब्द से व्यक्त किया जाता है। 'सकिखि' शब्द में सह शब्द से किखी निष्ठ अवयवसंनिवेश आदि के द्वारा सादृश्य व्यक्त होता है। इस दृष्टि से 'सादृश्यं किख्या सकिखि' इस रूप में अर्थ करना चाहिए। इस तरह उपर्युक्त सूत्र में सादृश्य शब्द से द्रव्यगत सादृश्य अभिप्रेत है, यथाशब्द से योग्यता नामक गुणगत सादृश्य द्योतित है:

किमर्थमिदमुच्यते, यथार्थ इत्येव सिद्धम्।
गुणभूतेऽपि सादृश्ये यथा स्यात्। काशिका २।१।६

---

२. थाल् और जातीयर प्रत्यय में केवल इतना ही भेद है कि थाल् प्रत्यय प्रकार में होता है जबकि जातीयर प्रकारवान् में होता है—

जातीयरस्तु स्वभावात् प्रकारवति वर्तते थाल् पुनः प्रकारमात्रे।

—काशिका वृत्ति ५।३।२३

कुछ लोग बुद्ध्यवस्थानिबन्धन सादृश्य को प्रकार मानते हैं। देवदत्त को अंगद, कुण्डल पहने देखकर 'पहले देवदत्त इस रूप में था' इस रूप में बुद्धिप्रकल्पित सारूप्य झलकता है। बाह्य अर्थ अन्तर्गत ज्ञान के अनुकार मात्र है। इसलिए सर्वत्र सादृश्य ही प्रकार का अर्थ है। महाभाष्यकार ने प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ सूत्र में प्रकार के लिए 'अग्निः माणवकः' और 'गौर्वाहीक, उदाहरण दिए हैं। ये उदाहरण प्रकार को सादृश्य मानने पर ही उपयुक्त हो सकते हैं। गो के सादृश्य के कारण ही वाहीक को गौः कहा जाता है।[3] और अग्नि की तीक्ष्णता के सादृश्य से माणवक को अग्नि कहा जाता है। गोत्व अथवा अग्नित्व रूप सामान्य का यह विशेष भेद नहीं है। गौर्वाहीकः में गो शब्द का द्विर्वचन नहीं होता। शुक्ल आदि गुण शब्दों में चरितार्थ वाहीकाभिधायी गो शब्द का द्विर्वचन नहीं होता :

गौर्वाहीक इति द्वित्वे सादृश्यं प्रत्युदाहृतम् ।
शुक्लादौ सति निष्पन्ने वाहीको न द्विरुच्यते ।।[4]

इस सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार हैं। कुछ लोग मानते हैं कि गुण-उपसर्जन-द्रव्यवाची का द्विर्वचन होता है जैसे शुक्लशुक्लः पटः। गुणमात्रवाची का भी द्विर्वचन होता है जैसे शुक्लशुक्लं रूपम्। अन्य आचार्यों के मत में गुणविशिष्ट द्रव्य-वाची का ही द्विर्वचन होता है। 'मूले मूले स्थूलाः' अग्रे अग्रे सूक्ष्माः जैसे प्रयोगों को कात्यायन ने आनुपूर्वी के आधार पर समर्थन किया है, यहाँ वीप्सा नहीं है। क्योंकि वीप्सा वहाँ होती है जहाँ एक जातीय पदार्थों का अनेक रूप, गुण आदि से अन्वय होता है। मूले मूले स्थूला अथवा सूक्ष्मा एक ही वस्तु को लेकर कहा जाता है। अग्र, मध्य और मूल ये तीन भाग हैं। एक ही मुख्य है अग्र भाग अथवा मूल भाग। दूसरे भागों का अग्र अथवा मूल व्यपदेश सापेक्ष है। अधः सन्निवेश की अपेक्षा से अग्र कहा जाता है। ऊपर के सन्निवेश की अपेक्षा से मूल कहा जाता है। एक रूप भागों का स्थौल्य अथवा सौक्ष्म्य नहीं होता। केवल मूल की ओर स्थूलता बढ़ती जाती है और अग्रभाग की ओर सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। इसलिए यहाँ वीप्सा का अभाव है। किन्तु 'मूले मूले पथि विटपिनाम्' वाक्य में वीप्सा है। हेलाराज ने प्रथम मत को प्रश्रय दिया है :

गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिनः शुक्लादेरेव द्विर्वचनं गुणमात्रवाचिनश्चेति शुक्लशुक्लः पटः, शुक्लशुक्लं रूपं पटुपटुः इतीष्टं सिद्धम् ।

छ प्रत्यय पर विचार

इव अर्थ विषयक समास से दूसरे इव के अर्थ में पाणिनि ने छ प्रत्यय का विधान किया है—समासाश्च तद्विषयात् ५।१।१०६ व्याकरण और साहित्य शास्त्र में समान

३. गौर्वाहीकः में गुणगुणी में सदा अभेदोपचार मानने से भेद द्योतक षष्ठी विभक्ति नहीं होती है—गुणगुणिनोश्चात्र विषये नित्यमभेदोपचाराद् भेदनिबन्धनषष्ठ्यभावः।

—कैयट, भाष्यप्रदीप, ८।१।१२

४. वाक्यपदीय, वृत्तिसमुद्देश ६२४

रूप से यह सूत्र चर्चा का विषय रहा है। इसके उदाहरण हैं—काकतालीयम्। अन्धकवर्तकीयम्। अजाकृपाणीयम्। जहाँ कुछ अतर्कित रूप में घटित हो जाता है, विस्मयकारी होता है उसके लिए काकतालीय जैसे प्रयोग लोक में प्रचलित थे। यहाँ दो इव के अर्थ हैं : **काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं काकतालमिव काकतालीयम्।**

काक का आगमन यादृच्छिक है, ताल का पतन भी यादृच्छिक है, आकस्मिक ताल के पतन से काक का का वध हो जाता है। इसी तरह देवदत्त का आगमन और दस्युओं का वहीं आगमन आकस्मिक है, दस्यु द्वारा देवदत्त का वध हो जाता है। यहाँ देवदत्त और दस्यु का समागम काक और ताल के समागम के सदृश है। यही द्वितीय उपमा का अर्थ है। पहले में समास और दूसरे में प्रत्यय होता है। यद्यपि ऐसे स्थलों में समास विधायक कोई अन्य नियम नहीं है, उपर्युक्त सूत्र के ज्ञापन से ही समास सिद्ध हो जाता है। अथवा सुप् सुपा से समास माना जाता है। चन्द्रगोमी ने इसके लिए 'आकस्मिके' ४।३।८३ सूत्र पढ़ा है।

काकतालीयम् में काक का आगमन उपमान है, तालपतन भी उपमान है। दस्यु समागम उपमेय है। अतर्कितोपनतत्त्व दोनों में समान धर्म है। दध्योदनः गुडधाना जैसे शब्दों में दधि और ओदन, गुड़ और धान सिद्ध पदार्थ हैं, सिद्ध पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए अन्यथानुपपत्ति के सहारे दधि शब्द की वृत्ति सेचन क्रिया में मान ली जाती है और इस तरह सम्बन्ध उपपन्न होता है। इसी तरह काकताल शब्द स्वसमवेत व्यापार के बोधक हैं। काक शब्द का अर्थ काक का आगमन है। ताल शब्द का अर्थ ताल का पतन है। इसलिए इसका अर्थ हुआ—काक के आगमन सदृश अतर्कित ताल का पतन, ताल के पतन की तरह अतर्कित उपपन्न काक का आगमन। इस तरह परस्पर उपमान के रूप में पूर्व पदार्थ और उत्तरपदार्थ में समन्वय की उपपत्ति होने से प्रत्ययार्थ विशेषण की उपपत्ति हो जाती है। काक के आगमन और ताल के पतन में समन्वय की उपपत्ति हो जाने पर उनसे देवदत्त का आगमन और दस्यु का उपनिपात के उपमेय रूप में लिए जाने के कारण इव के अर्थ में समास की उपपत्ति होकर उसके वध से देवदत्त के वध रूप उपमेय में छ प्रत्यय की प्रवृत्ति होती है।

नागेश भट्ट ने यहाँ लक्षणा का सहारा लिया है और सामानाधिकरण्य के सहारे उनके अर्थ में अन्वय माना है। इस तरह जो लोग कहते थे कि पूर्व पद और उत्तर पद में अन्वय न होने के कारण, असामर्थ्य के आ जाने से समास नहीं हो सकता उनका समाधान हो जाता है। अप्पय दीक्षित ने इसे उपमानलोप का उदाहरण माना है।[1]

---

१. अत्र पूर्वोत्तरपदयोः काकागमनसदृशतालपतनसदृशयोः लक्षणा, सामानाधिकरण्येन च तदर्थयोरन्वयः एतेन पूर्वोत्तरपदयोरनन्वयेनासामर्थ्यात् समासो दुर्लभ इत्यपास्तम्। उपमेयवाचक तत् तत् पदसमभिव्याहारेण कदाचित् काकमरणे, कदाचित् तत्कृतोपभोगे लक्षणा। उपमानमात्रवाचकाभावाच्चेदृशे विषये उपमानलोप-व्यवहार आलङ्कारिकाणाम्।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत ५।३।१०६

समास स्वार्थिक आदि में संघात के कारण विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। इस विषय में प्राचीन आचार्यों में विवाद था। पतंजलि ने वीरः पुरुषः जैसे पदों के विश्लेषण से आधिक्य अर्थ की अभिव्यक्ति की थी। कुछ लोग अवयव शक्ति से ही समुदाय शक्ति की व्याख्या करते हैं। उनके मत में संघात में विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। भर्तृहरि ने दोनों मतों का संकेत नीचे लिखी कारिका में किया है :

अर्थवद्भ्यो विशिष्टोऽर्थः संघात उपजायते।
नोपजायत इत्येके समासस्वार्थिकादिषु॥

—वाक्यपदीय २।२१०

कुछ लोग मानते थे कि राजपुरुष जैसे पदों में राज शब्द अर्थवान् है, पुरुष शब्द अर्थवान् है, इनसे घटित राजपुरुष जैसे समस्त पद भी विशिष्ट रूप में अर्थवान् है। अर्थात् अर्थवत्ता अवयव के अर्थ के बल से व्यक्त होती हुई भी समुदाय में भी है और विशिष्ट रूप में है। स्वार्थिक प्रत्ययों में अवयवार्थ से अतिरिक्त अर्थान्तर नहीं व्यक्त होता। अतः वहां अवयवार्थ से अतिरिक्त कोई संघातार्थ नहीं है।

भर्तृहरि के अनुसार राजपुरुषः, अश्वकर्णः जैसे समस्त पदों में समुदाय से जो अर्थ उत्पन्न होता है वह अवयव के अर्थ पर आधारित होता हुआ भी अवयवशक्ति का अतिक्रमण कर जाता है :

राजपुरुषः अश्वकर्णः नीलोत्पलम् गौरखर इति व्यतिक्रान्तावयवशक्तिरव्यतिक्रान्तावयवशक्तिश्चार्थवद्भ्योऽवयवेभ्यः समुदायार्थ उपजायते।

वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख

भर्तृहरि ने इस प्रसंग में संग्रहकार के दो उद्धरण उद्धृत किए हैं :

तथाहि संग्रहकारः पठति—" 'त्रिविधाः समुदायाः शब्दान्वयिनोऽर्थान्वयिनः शब्दार्थान्वयिनश्च। शब्दान्वयिनो गौरखरः अश्वकर्ण इति। अर्थान्वयिनः श्रोत्रियो वैडूर्यः पारशव इति। शब्दार्थान्वयिनो राजपुरुषः नीलोत्पलम् ब्राह्मणकम्बल इति।'

स एवाह—'निरन्वयानपि समुदायान् रूढिष्वनुगच्छन्तीति तद् यथा मुसलम् उलूखलो बलाहक इति।'

—वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख।

संग्रहकार के अनुसार समुदाय तीन प्रकार के होते हैं। शब्दान्वयी, अर्थान्वयी और शब्दार्थान्वयी। शब्दान्वयी वे समुदाय हैं जिनकी परिसमाप्ति शब्द के अन्वय में ही होती है। जैसे गौरखर, अश्वकर्ण शब्द में समुदाय से जात्यन्तर का बोध होता है। इन पदों का अपना कोई अर्थ नहीं है। जात्यन्तर अर्थ अवश्य ही इन पदों के संस्पर्श से ही होता है। गौरखर शब्द का अर्थ कोई जंगली जीव होता है।[1] उसका गौर शब्द अथवा खर शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। अश्वकर्ण शब्द वृक्षविशेष,

---

१. महाभाष्य में ६।२।२९ में गौरखरवदरण्यम् वाक्य मिलता है। मानिअर विलियम ने गौरखर शब्द का अर्थ जंगली गदहा दिया है।

शाख का वृक्ष, का वाचक है। उसका अश्व और कर्ण शब्द के अर्थ से सम्बन्ध नहीं है। कुछ सादृश्य हो सकता है। इनमें पद के अर्थ के समन्वय न होने पर भी समुदाय के अर्थ की उपलब्धि होती है। इसलिए संग्रहकार के शब्दान्वयी शब्द का अभिप्राय यह हो सकता है कि जहां समुदाय का अन्वय तो शब्द में होता हो किन्तु उसका अवयव शब्द के अर्थ पर निर्भर न करता हो। अर्थान्वयी समुदाय वे हैं जिनका अन्वय अर्थ से होता हो, शब्द से नहीं। जैसे श्रोत्रिय शब्द। छन्द अध्ययन करनेवाले के अर्थ में पाणिनि ने इसका निपातन किया है। यह शब्द दो-चार उन शब्दों में से है जो वाक्य का अर्थ अपने में समेटे रहते हैं और इसलिए 'वाक्यार्थे पदवचन' कहे जाते हैं। यहां समुदाय-अर्थ का श्रोत्र शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैडूर्य अथवा वैदूर्य की उत्पत्ति वालवाय में होती थी। विदूर नगर में इसका केवल संस्कार होता था अथवा जित्वरी की तरह यह उपचरित शब्द है। इसी तरह पारशव (मोती निकलने का स्थान) का परशु शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्दार्थान्वयी समुदाय का सम्बन्ध अवयवगत शब्द और उनके अर्थ दोनों के साथ होता है जैसे राजपुरुष, नीलोत्पल और ब्राह्मण-कम्बल शब्दों में।

संग्रहकार ने यह भी कहा है कि ऐसे भी समुदाय होते हैं जो निरन्वय होते हैं। उनका अवयवगत शब्दों या उनके अर्थों से किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं बैठ पाता। ऐसे शब्दों में मुसल, उलूखल, बलाहक हैं। मुसल शब्द संभवतः कुशल की तरह आरंभ में लाति क्रिया से सम्बन्ध रखता था। संग्रहकार का अभिप्राय यह है कि मुसल के अर्थ का न तो मुस और न ल से सम्बन्ध है, न उनके अर्थ से, न किसी से। मुसल शब्द समुदाय तो है किन्तु निरन्वय है। यही बात उलूखल और बलाहक के लिए भी है।[1]

किन्तु एक वर्ग ऐसा भी था जो इनमें भी एक देशान्वय मानता था:

एकदेशान्वयस्तु तेष्वपि विद्यते नोपजायत इत्येके।

—वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख।

स्वार्थिक दो प्रकार के हैं—असत्वभूतार्थ और सत्वभूतार्थ। इनमें से प्रत्येक वाचक, द्योतक, विशेषक, सहाभिधायक, सार्थक और निरर्थक भेद से छः प्रकार के होते हैं।

सार्थक स्वार्थिक के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने व्यानग्रहकार के मत का उल्लेख किया है। उनके मत में स्वार्थिकों की अर्थवत्ता के पक्ष में शेष समुच्चयादि क्रिया-कारक विशेषणविशेष्य सम्बन्ध के अभाव में स्वार्थिकों में उपचय सम्बन्ध होता है:

स्वार्थिकानामर्थवत्तापक्षे शेषसमुच्चयादि क्रियाकारकविशेषणविशेष्य

---

१. वर्धमान ने इन शब्दों की व्युत्पत्ति दी है—मुहुः स्वनं लातीति मुसलः। ऊर्ध्वं खं विलं यस्यास्तीति उलूखलम्। वारिणो वाहकः बलाहकः। गणरत्नमहोदधि पृ० १०१, १०२ पं० भीमसेन संपादित। ये वैयाकरणों की बौद्धिक क्रीड़ाएँ हैं।

सम्बन्धाभावे स्वार्थिकानामुपचयसम्बन्ध इति ध्यानकारदर्शनम् ।[1]

—वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख

---

१. भर्तृहरि का ध्यानकार दर्शन से अभिप्राय ध्यानग्रहकार ५। दर्शन से है। ध्यानग्रहकार का उल्लेख भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में भी किया है—इहोभयं प्राप्नोति। उभये इति ध्यानग्रहकारेणोक्तम्। महाभाष्य त्रिपादी (दीपिका) पृ० ३६० हस्तलेख, मद्रास ओरिएण्टल मेनुस्क्रीप्ट लाइब्रेरी। ध्यानग्रहकार का उल्लेख भामह ने भी किया है—

सूत्राम्भसं पदावर्तं पारायणरसातलम्।
धातूणादिगण ग्राहं ध्यानग्रहबृहत्प्लवम्॥ ६।१)

मेरे विचार में भामह का ध्यानग्र ह से अभिप्राय ध्यानग्रहकार से अथवा ध्यानग्रह व्याकरण से है। रोम से प्रकाशित उद्भट वृत्ति में यह अंश खंडित है। अन्य लोगों ने ध्यान से समाधिवाला ध्यान अर्थ लिया है।

११

स्फोटवाद

संस्कृत व्याकरणदर्शन में स्फोटवाद का स्वरूप अविवादात्मक नहीं है । स्फोट का स्वरूप बदलता गया है और वह भौतिक से अभौतिक बन गया है । उसका मूल अज्ञात है । हरदत्त और नागेश ने स्फोट का सम्बन्ध स्फोटायन से जोड़ा है ।[1] किन्तु इस कल्पना के पीछे कोई प्रौढ़ आधार नहीं है । दूसरे दर्शनों में स्फोटवाद की चर्चा व्याकरणदर्शन के सिद्धान्त के रूप में की गई है । स्फोटवाद के प्रवर्तक के रूप में बहुधा भर्तृहरि का नाम लिया जाता है । किन्तु स्वयं भर्तृहरि ने स्फोट के प्रसंग में मतभेदों की चर्चा की है । स्फोट शब्द का उल्लेख श्लोकवार्तिक में और महाभाष्य में भी है ।[2] इसलिए स्फोट सिद्धांत के मूल प्रवर्तक आचार्य का अभी तक पता नहीं चला है । भर्तृहरि के समय तक स्फोट स्फोटवाद का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सका था । मल्लवादि क्षमाश्रमण ने भर्तृहरि के कई मतों का उल्लेख किया है, किन्तु स्फोटवाद का उल्लेख नहीं किया है । भर्तृहरि की दृष्टि में स्फोट के स्वरूप पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं । महाभाष्य के बाद स्फोट की कुछ अधिक चर्चा वाक्यपदीय में होने के कारण स्फोटवाद का वाक्यपदीय से संबंध कर दिया गया है । वस्तुतः भर्तृहरि स्फोटवाद के आदि आचार्य नहीं जान पड़ते । उन्होंने स्फोट की व्याख्या ध्वनि के प्रसंग में की है और उसका आदि और अन्त ध्वनि से सम्बद्ध है । इसके अतिरिक्त उसके पीछे कोई रहस्य नहीं है । किन्तु कैयट, पुण्यराज, हेलाराज जैसे मूर्धन्य विद्वान् स्फोटवाद का स्रोत वाक्यपदीय में ही मानते हैं । जिन आचार्यों ने स्फोटवाद के खण्डन किए हैं उनके लक्ष्य भी भर्तृहरि ही जान पड़ते हैं ।

अस्तु, स्फोट का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में व्याकरणदर्शन से है और

---

१. 'स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः'—पदमंजरी, ६।१।१२३, पृ० ४८४ 'वैयाकरण नागेशः स्फोटायन ऋषेर्मतम्' मंजूषा, पृ० १५७३

२. किन्तु कई वैयाकरणों ने महाभाष्य को स्फोटप्रतिपादक ग्रन्थ नहीं माना है— तदेतस्मिन् महासमुद्रदर्शने सर्ववाद विमर्दसहे स्फोटाद्यभाववर्णनप्रतिपादने न काचित् क्षतिः सिद्धान्तस्य वैयाकरणानाम्—महाभाष्यव्याख्या, हस्तलेख, मद्रास नं० आर० ४४३६

अपेक्षाकृत अर्वाचीन व्याकरणदर्शन में स्फोटवाद का पर्याप्त विवेचन किया गया है। यदि पतंजलि से लेकर नागेश तक के स्फोट-साहित्य को सामने रखकर स्फोट पर विचार किया जाय तो निम्नलिखित रूप सामने आते हैं :

१—स्फोट ध्वनि रूप में।

२—स्फोट शब्द रूप में।

३—स्फोट नित्य शब्द रूप में।

४—स्फोट जाति रूप में।

५—स्फोट वाक् रूप में।

६—स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में।

ये भेद एक-दूसरे से सर्वथा विभक्त नहीं हैं। केवल विकास क्रम की दृष्टि से इस रूप में उल्लेख किया गया है। इनमें स्फोट के ध्वनि स्वरूप का विवरण महाभाष्य में है। पतंजलि ने स्फोट और ध्वनि में केवल यह भेद दिखाया है कि स्फोट ज्यों का त्यों रहता है जबकि वृद्धि, विस्तार ध्वनि से होता है। ध्वनि का आभास स्पष्ट होता है। जबकि स्फोट लक्षित नहीं होता :

स्फोटश्च तावान् एव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः।"

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।

अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावतः॥—महाभाष्य, १।१।७०

महाभाष्य के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्फोट और शब्द समानार्थक नहीं हैं। स्फोट ध्वनि के सदृश ही शब्द का गुण है। स्फोट के ध्वनि रूप का स्पष्ट संकेत महाभाष्य के इस वाक्य में है :

अथवोभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते। रश्रुतेः लश्रुतिः भवतीति।

—महाभाष्य, भाग १, पृ० २८, कीलहार्न संस्करण

महाभाष्यकार ने र ध्वनि के स्थान पर ल ध्वनि को स्फोटमात्र कहा है। टीकाकारों में यहाँ विवाद है। भर्तृहरि के अनुसार स्फोट से अभिप्राय उसके ध्वनिहीन स्वरूप से है। अथवा आद्य ध्वनि, केवल रूपमात्र का, प्रत्यायक ध्वनि, यहाँ स्फोट शब्द से विवक्षित है। जो स्वतंत्र है, समुदायस्थ है और विशेष का प्रतिपादक है वह ध्वनि यहां विवक्षित नहीं है। अथवा, र श्रुति और ल श्रुति में ईषत् साम्य (आरूपमात्र) है, वही विवक्षित है। अथवा कार्यपक्ष में, संयोग से अथवा विभाग से अथवा संयोगविभाग दोनों से जो निष्पन्न होता है वह स्फोट है। करण-व्यापार स्फोट का निष्पादक है। अथवा स्फोटमात्र शब्द से आकृति अभिप्रेत है। ध्वनि के बिना आकृतिनिर्देश सम्भव नहीं है, अतः द्रव्य का उपादान नान्तरीयक रूप में होता है :

अध्वनिकः स्फोटः इत्युक्तं भवति। ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोटस्योपलब्धिरेव नास्ति। एवं तर्हि य एवासौ आद्यो ध्वनिः रूपमात्रस्य प्रतिपादकस्तावानेवाश्रीयते। यस्त्वसौ विशेषस्य प्रतिपादकः यः समुदायस्थो यः स्वतंत्र इति नासावाश्रीयते। विद्यमानेऽपि तत्राविशेषे आरूपमात्रं यथा गोविशेषेऽश्वोपलब्धिरारूपमात्रेण वोपलब्धिः, तस्माद् आरूपमात्रग्रहणमुभयोः। अथवा कार्यवत्

बुद्धिकृत्वा इदमुच्यते। तत्र कार्यपक्षे स्फोट एव संयोगात् विभागात् संयोग-विभागाभ्यां वा निष्पद्यते। यत्त्वनुरणनं तत् शब्दत एव। तेन य एवासौ स्फोटस्य निष्पादकः करणस्य व्यापारस्तावत् एवाश्रयणम्। अथवा स्फोट-मात्रमिति आकृतिनिर्देशोऽयमित्युक्तं भवति।

—महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ, ७६

अपने इन्हीं विचारों को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में भी कुछ विस्तार से दिया है।[3] अनित्यपक्ष में प्रथम अथवा आदि में निर्वृत्त शब्द का नाम स्फोट है जोस्थान, करण आदि के सहारे स्वरूप ग्रहण करता है। नित्यपक्ष में संयोगज और विभागज ध्वनियों से व्यङ्ग्य स्फोट है :

"अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुकः प्रथमाभिनिर्वृत्तः यः शब्दः स स्फोट इत्युच्यते।...नित्यपक्षे तु संयोगजविभागजध्वनिव्यङ्ग्यः स्फोटः।

—वाक्यपदीय, १।१०२ हरिवृत्ति, पृ० ९८

ऐसा जान पड़ता है, संग्रहकार ने प्राकृतध्वनि और स्फोट को समान माना था। भर्तृहरि ने प्राकृतध्वनि को स्फोट का परिच्छेदक माना है। उनके अनुसार प्राकृतध्वनि स्फोट का व्यंजक भी है। भर्तृहरि के अनुसार करण-संघात से जो ध्वनि उत्पन्न होती है और उससे जो ध्वनि उत्पन्न होती है वे दोनों प्राकृत ध्वनि हैं। इन दोनों से विशेष (शब्दस्वरूप) की उपलब्धि होती है। जो ध्वनि ध्वनि से उत्पन्न होती है वह वैकृत ध्वनि है। उससे विशेष की उपलब्धि नहीं होती :

"यः करणसंनिपातादुत्पद्यते यश्च तस्मात् तौ प्राकृतौ। ताभ्यां विशेषोप-लब्धिः। यस्तु ध्वनितो ध्वनिरुत्पद्यते स वैकृतः। ततो विशेषाभावात्।

—महाभाष्यदीपिका, पृ० ४९

संभवतः संग्रहकार ने शब्द के नित्य रूप को सामने न रखकर शब्द के सामान्य विचार से प्राकृत ध्वनि और वैकृत ध्वनि का विवेचन किया था और प्राकृत ध्वनि को शब्द का ग्राहक माना था। प्राकृत ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति न होने से प्राकृत ध्वनि का काल ही स्फोट का काल मान लिया गया था। भर्तृहरि ने इसे उपचार रूप में स्वीकार किया था :

स च प्राकृतध्वनिकालो व्यतिरेकाग्रहणादध्यारोप्यमाणः स्फोटे स्फोटकाल इत्युपचर्यते शास्त्रे। —वाक्यपदीय, १।७७ हरिवृत्तिः

किन्तु भर्तृहरि ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि स्फोट की उपलब्धिसदा ध्वनि से संसृष्ट रूप में ही होती है :

---

३. भर्तृहरि ने पहले महाभाष्यत्रिपादी (दीपिका) की रचना की थी। बाद में वाक्यपदीय लिखा था। इसका संकेत उनके इस वाक्य में है—क्रमेण तु वर्णतुरीयग्रहणे सति समुदयाभावात् अविषयत्वमन्त्याया बुद्धेः प्राप्नोतीति संहितासूत्रभाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्—

—वाक्यपदीय, १।८३ हरिवृत्ति

संभवतः भाष्यदीपिका का मूल नाम भाष्यविवरण था।

ध्वनिना तु संसृष्टं स्फोटस्य स्वरूपमुपलभ्यते ।

—वाक्यपदीय, १।७६ हरिवृत्ति ।

यह वाक्य इस तथ्य का निदर्शक है कि भर्तृहरि का शब्ददर्शन और स्फोटदर्शन सर्वथा समान नहीं है। स्फोट ध्वनिनिरपेक्ष नहीं है। शब्द, भर्तृहरि के मत में, ध्वनिनिरपेक्ष भी है, उसका अन्तःसंनिवेशी, आन्तरिक, बौद्धिक रूप भी है। अवश्य ही इस विषय में विवाद के लिए स्थान है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भर्तृहरि ने शब्द ग्रहण की प्रक्रिया के प्रसंग में ही स्फोट पर विचार किया है। शब्दग्रहण की प्रक्रिया से शब्द का स्वरूप संस्पृष्ट है। अतः स्फोट और शब्द का परस्पर पर्याय के रूप में प्रयोग जहाँ-तहाँ वाक्यपदीय में मिल जाते हैं।[४] इसी तरह शब्द और ध्वनि शब्द का पर्याय के रूप में प्रयोग महाभाष्य और वाक्यपदीय में मिलते हैं।[५] किन्तु इससे ऐसा निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत नहीं है कि इनका स्वरूप भी एक है। अखण्डस्फोट, सखण्डस्फोट, निरवयवस्फोट, बाह्यस्फोट आन्तरस्फोट आदि शब्दों के स्पष्ट उल्लेख वाक्यपदीय में नहीं हैं। दूसरे लेखकों ने शब्द और स्फोट को एक समझकर शब्दनित्यत्व के स्थान पर स्फोटनित्यत्व जैसे शब्दों के प्रयोग आंख मूद कर किए हैं। अवश्य ही भर्तृहरि ने स्फोट को ध्वनि से व्यङ्ग्य माना है, उसे एक माना है और स्फोट की आत्मा को नित्य माना है किन्तु बहुत ही सावधानी के साथ उन्होंने शब्दतत्त्व को स्फोटतत्त्व से अलग रखा है। भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व शब्द के स्थान पर स्फोटतत्त्व शब्द का व्यवहार नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से शब्द और स्फोट के भेद पर विचार नहीं किया है। ध्वनि से जो व्यङ्ग्य है वही स्फोट है, वही शब्द है। किन्तु स्फोट शब्द का एक पहलू एक पक्ष मात्र है। शब्द का एक स्फोटात्मक रूप है और उसका एक रूप स्फोटरूप से अधिक गहराई में है। भर्तृहरि का शब्ददर्शन स्फोट से परे प्रतिभा के तल तक जाता है। संक्षेप में एक स्थान पर शब्ददर्शन का चित्र उन्होंने दे दिया है :

> **इह द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। तत्र कार्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही। नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः, संहृतक्रमः, सर्वेषामन्तः सन्निवेशी, प्रभवो विकाराणाम्, आश्रयः कर्मणाम्, अधिष्ठानं सुखदुःखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः परिगृहीत-भोगक्षेत्रावधिः, सर्वमूर्तीनामपरिणामा प्रकृतिः, सर्वप्रबोधरूपतया सर्वप्रभेद-रूपतया च नित्यप्रवृत्तप्रत्यवभासस्वप्नप्रबोधानुकारी प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्यां पर्जन्यवद् दावाग्निवच्च प्रसवोच्छेद शक्तियुक्तः सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः महान् शब्दवृषभः।**
>
> —वाक्यपदीय, १।१३१, हरिवृत्ति[६]

---

४. जैसे, प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते, वाक्यपदीय, १।७६

५. 'लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते'—महाभाष्य, कोलहार्न संस्करण, भाग १, पृ० १ 'न भेदो ध्वनिः शब्दयोः।
—वाक्यपदीय, १।९६

६. भर्तृहरि का यह प्रघट्टक पांचवीं शताब्दी के संस्कृत गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है और बाणभट्ट की शैली के पूर्वरूप इसमें देखे जा सकते हैं।

इस प्रघट्टक में शब्द को नित्य, सभी व्यवहार का मूल, संहतक्रम, अन्तः संनिवेशी, विकार-सृष्टिक्रम का उत्पत्तिस्थान, कर्म के आश्रय, सुख-दुःख का अधिष्ठान आदि कहा गया है और उसे सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान के रूप में व्यक्त किया गया है। भर्तृहरि ने स्फोट के लिए इस तरह की शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है। अस्तु, वाक्यपदीय में व्यवहृत स्फोट, स्फोटवाद के ध्वनिसम्बद्धरूप को प्रमुख रूप में व्यक्त करता है। स्फोट के भेद जैसे वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट इनका भी परिच्छेद भर्तृहरि ने ध्वनि के आधार पर ही किया है :

वर्णपदवाक्यविषया हि विशिष्टाः प्रयत्नाः, तत् प्रेरिताश्च वायवः स्थानान्यभिहन्ति।

—वाक्यपदीय, १।८९ हरिवृत्ति

अर्थात् वर्ण, पद और वाक्य ध्वनियों के प्रयत्न-सापेक्ष इकाई मात्र हैं। इनका विभाग ध्वनि के परिच्छिन्न स्वरूप पर निर्भर करता है। भर्तृहरि के शब्दों में वर्ण स्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट-ध्वनि के अपचित और उपचित अवस्था से संबद्ध हैं :

सर्व एव प्रचिताप्रचितरूपा वर्णपदवाक्यस्फोटाः।

—वाक्यपदीय, १।१०२, हरिवृत्ति

भर्तृहरि ने भागशब्द और निर्भागशब्द का व्यवहार किया है। ये दोनों शब्द क्रमशः सखण्ड स्फोट और अखण्डस्फोट (निरवयवस्फोट) के आदि रूप हैं। भागशब्द का सिद्धान्त भेदवादियों का है। निर्भागशब्द का सिद्धान्त जातिस्फोट मानने वालों का है। भेदवादी प्राचीन मीमांसक थे जो शब्द को नित्य मानते थे किन्तु शब्द में भाग स्वीकार करते थे। उनके मत में गौः शब्द में गकार, उकार और विसर्जनीय हैं। इनसे अतिरिक्त वर्णग्राहक कोई अन्य धर्म गौः शब्द में नहीं है और न इसके पीछे निर्भाग जैसा कोई दर्शन है। उपवर्ष इसी मत को माननेवाले थे। वे वर्ण को ही शब्द मानते थे।[७] इस मत में कुछ विप्रतिपत्तियों का निर्देश भर्तृहरि ने स्वयं किया है और उनका समाधान भी दिया है। भागपक्ष में पद के स्वरूप का अवधारण ठीक से नहीं हो सकेगा, क्योंकि क्रम से अभिव्यक्त दशा में वर्णतुरीयांश की अभिव्यक्ति अव्यपदेश्य होने के कारण ठीक से नहीं हो सकेगी। वृषभ के अनुसार वर्णतुरीय ध्वनि अव्यपदेश्य इसलिए मानी जाती है कि ध्वनि अपकर्ष की काष्ठा तक पहुँचाई गई रहती है। वर्णतुरीयांश की अव्यपदेश्यता उसकी सीमा के ठीक परिज्ञान न होने के कारण भी मानी जा सकती है। कौनसी अंतिम ध्वनि है, इसका निर्णायक भागपक्ष में, क्रमपक्ष में कोई वस्तु नहीं है। इसी आधार पर, अन्त्य सीमा के ठीक परिज्ञान न होने के कारण अन्त्यध्वनि परिच्छेद का विषय भी नहीं हो सकेगा अर्थात् कहाँ से कहाँ तक इकाई मानी जाय इसके निर्णायक किसी तत्त्व के न होने के कारण शब्द के स्वरूप का परिच्छेद संभव न हो सकेगा। यदि एक साथ, युगपत्, सभी वर्णों (अवयवों)

---

७. 'वर्णा एव तु शब्द इति भगवान् उपवर्षः'—शांकरभाष्य, १।३।२८

की अभिव्यक्ति मानी जायगी : गवे, वेग, तेन, न ते, आदि शब्दों में श्रुतिभेद नहीं मानना पड़ेगा। इसका समाधान भर्तृहरि ने भेदवाद की दृष्टि से अर्थान्तर के आधार पर शब्दान्तर की कल्पना के सहारे किया है। शंकराचार्य ने पिपीलिका पंक्ति के दृष्टान्त के आधार पर समाधान किया है। पिपीलिका क्रम से चलती है फिर भी देखने वाले के मन में एक पंक्ति का भान करा देती है। इसी तरह क्रम के आधार पर प्रवर्तित वर्ण भी पद बुद्धि जगा देते हैं। वर्णों के अविशेष होने पर भी क्रमविशेष के आधार पर पदविशेष का अवधारण हो जाता है।[८] अभिव्यंजक ध्वनिक्रम के आधार पर भेद की प्रतीति के लिए भर्तृहरि ने मण्डूकवसा आदि से प्रज्वलित दीप से रज्जु आदि में सर्प आदि की प्रतिपत्ति का दृष्टान्त दिया है। जो शब्दात्मा को निर्भाग मानते हैं, उनके लिए भागभेद प्रकल्पित उपाय मात्र है, वास्तविक नहीं है।

—वाक्यपदीय, १।९३ हरिवृत्ति

शब्द के निर्भाग पक्ष के समर्थक जातिस्फोट का आश्रय लेते हैं। वे शब्द की नित्यता आकृतिनित्यता के माध्यम से मानते हैं। जातिस्फोट से अभिप्राय शब्दाकृति से है। उनके अनुसार स्फोट शब्द से शब्द की आकृति का ही बोध होता है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है। दोनों में भेद यह है कि शब्दत्व सर्वशब्दसाधारण है जबकि शब्दाकृति का सम्बन्ध शब्दविशेष के रूप से है। शब्दाकृति क्रम से उत्पन्न एक साथ न होनेवाले वर्णों के आश्रय से अभिव्यक्त होती है। उसके उपलब्धिनिमित्त संस्कार कल्पित होते हैं। इस मत में शब्दशक्ति उत्पन्न होती है, किन्तु स्वयं अव्यपदेश्य है। फिर भी व्यपदेश्य स्फोट का द्योतन करती है और उस दशा में शब्द-व्यक्ति का नाम ध्वनि हो जाता है (वाक्यपदीय, १। ४ हरिवृत्ति)।

कुछ आचार्यों ने माना है कि शब्द अविकार है। शब्दव्यक्ति भी नित्य है। शब्द की अभिव्यक्ति में ध्वनि निमित्त मात्र है। किन्तु ध्वनिगत विकार से शब्द भी अनुरंजित रहता है। जैसे प्रकाशगत धर्म से वस्तु अनुरंजित रहती है। वृषभ के अनुसार इस मत में आकाशगत एक स्फोटवर्ण है। करण के अभिघात से ध्वनि भेद होता है, वह ध्वनिभेद में निमित्त है किन्तु उससे बाह्यस्फोट में भेद नहीं होता।[९]

ध्वनि से शब्द (स्फोट) की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु एक अभाववादी संप्रदाय था जो शब्द की अभिव्यक्ति को स्वीकार नहीं करता था।[१०] अभाववाद के प्रथम विकल्प के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। अभिव्यक्ति के लिए समान

---

८. अत्राह—यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात। त एव वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति। अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पंक्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोहयन्ति।—शांकर भाष्य १।३।२८।

९. वृषभ, वाक्यपदीय, १।९५

१०. आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अभाववादियों के भी तीन विकल्प दिए हैं। आनन्दवर्धन के विचार के आधार भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित अभिव्यंजना के विषय में तीन तरह के अभाव जान पड़ते हैं।

देश का होना आवश्यक है। दीपक घट का अभिव्यंजक तभी होता है जबकि घट और दीप एक स्थान पर हों, उनकी उपलब्धि एक स्थान पर हो। इसलिए समानदेशता अभिव्यंजना के लिए आवश्यक है। शब्द के विषय में समानदेशता नहीं है। शब्द के व्यंजक करण के संयोगविभाग हैं और उसकी उपलब्धि अन्यत्र (आकाश में) होती है। अतः देशभेद होने के कारण शब्द का अभिव्यंजन नहीं होता। इस आक्षेप का उत्तर भर्तृहरि ने दिया है। उनके अनुसार अभिव्यक्ति के लिए देश की एकता का नियम केवल मूर्त पदार्थों के लिए है। अमूर्त पदार्थों के लिए यह नियम नहीं है। ध्वनि और शब्द, भर्तृहरि की दृष्टि में, अमूर्त हैं। अमूर्त पदार्थों के लिए देशभेद विचार अनुपयुक्त है। देशभेद के आधार पर उनमें भेद नहीं किया जा सकता। फिर, मूर्त पदार्थ में भी आदित्य की तरह कुछ पदार्थ होते हैं जो एक देश में होते हुए भी परिच्छिन्न रूप में अनेक देशों में उपलब्ध होते हैं। इसलिए देशभेद के आधार पर अभिव्यक्ति का अभाव नहीं माना जा सकता।

दूसरे अभाववादी के मत में भी शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। उनके अनुसार जहाँ अभिव्यक्ति होती है वहां अभिव्यंग्य के लिए नियत अभिव्यंजक अपेक्षित नहीं होता। घट आदि की अभिव्यक्ति दीप से भी होती है, मणि से भी होती है, ओषधि से भी हो सकती है और आकाशीय ज्योति से भी होती है। इसलिए जिसे अभिव्यक्त करना है उसके नियत अभिव्यंजक नहीं है और अभिव्यंजक के लिए भी नियत अभिव्यंग्य नहीं है। जहाँ तक शब्द का प्रश्न है इसकी अभिव्यक्ति नियत नियम के अनुसार है। वह नाद से ही अभिव्यक्त होता है और विशेष नाद से ही विशेष शब्द की अभिव्यक्ति मानी जाती है। जो ध्वनि गो शब्द का अभिव्यंजक है वही अश्व शब्द का अभिव्यंजक नहीं है। इसलिए नियत नियम के कारण शब्द अभिव्यक्त नहीं होता। इसके उत्तर में भर्तृहरि ने कहा है कि नियत नियम भी अभिव्यक्ति में हेतु होते हैं। जैसे चक्षुसमवेत रूप ही बाह्यरूप का अभिव्यंजक होता है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा गुण, अथवा इन्द्रिय अथवा इन्द्रिय-गुण रूप का व्यंजक नहीं होता। तुल्येन्द्रियग्राह्य विषय में भी यह नियम देखा जाता है। गन्ध शैलेय (शिलाजीत) जैसे द्रव्य किसी विशेष द्रव्य से मिलकर गन्धविशेष की अभिव्यक्ति में समर्थ देखे जाते हैं। भावशक्तियाँ विचित्र होती हैं।

तीसरे अभाववादी भी शब्द की अभिव्यक्ति नहीं स्वीकार करते हैं। अभिव्यंजक के वृद्धि अथवा ह्रास से अभिव्यंग्य में वृद्धि अथवा ह्रास नहीं देखा जाता। दीप की वृद्धि अथवा उसके ह्रास से घट की वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होता। अभिव्यंजक के संख्या भेद से अभिव्यंग्य में संख्या भेद नहीं होता। एक दीप से यदि एक घट अभिव्यक्त हो रहा है तो दो दीप जला देने पर भी घट एक ही रहता है। इस दृष्टि से शब्द अभिव्यंग्य नहीं है, क्योंकि ध्वनि की वृद्धि अथवा उसके ह्रास से शब्द में वृद्धि और ह्रास प्रतीत होते हैं। अभिघात भेद से भी शब्द भेद देखा जाता है, एक अभिघात से एक शब्द, दो से दो देखे जाते हैं। इस आक्षेप का परिहार भर्तृहरि ने किया है। अभिव्यंजक के भेद का अभिव्यंग्य पर भी प्रभाव पड़ता है। निम्न (गहरे)

आदर्श में मुख का प्रतिबिम्ब उन्नत दिखाई देता है और उन्नत दर्पण में निम्न दिखाई देता है। यहाँ संस्थान भेद है। खड्ग में प्रतिबिम्ब दीर्घ होता है। यह प्रमाणभेद है। प्रियंगु तैल में प्रतिबिम्ब श्याम दिखाई देता है। यह वर्णभेद है। बिम्ब एक और अभिन्न है, फिर भी अभिव्यंजक के राग से अनुरंजित होकर विभिन्न जान पड़ता है। स्फोट भी अभिव्यंजक भेद से भिन्न जान पड़ता है। भर्तृहरि प्रतिबिम्ब दर्शन के उस पक्ष को मान्य नहीं समझते जिसके अनुसार बिम्ब से प्रतिबिम्ब भावान्तर, स्वतन्त्र सत्ता रखता है। क्योंकि विरुद्ध परिणाम वाले वज्र (हीरा) आदर्शतल आदि में पर्वत के सरूप भावों की उत्पत्ति संभव नहीं है। इसलिए शब्द की अभिव्यक्ति होती है। और वर्णस्फोट, पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट में भेद वृत्तिभेद के आधार पर होता है। सर्वथा स्फोट की अभिव्यक्ति होती है।—वाक्यपदीय, १।९७-१०१

अभावत्रादियों के सदृश ही एक ऐसा भी वर्ग था जो शब्द की अभिव्यक्ति तो मानता था किन्तु अभिव्यक्ति को अनित्य का समानधर्मा मानता था, फलतः शब्द को अनित्य मानता था। उनके मत में अनित्य घट आदि का प्रदीप आदि से अभिव्यक्ति देखी जाती है। शब्द भी घट की भाँति अभिव्यंग्य है। अतः वह भी घट सदृश अनित्य है। यदि शब्द की अभिव्यक्ति नहीं स्वीकार की जाती तो शब्द की उत्पत्ति माननी होगी। और उत्पत्तिपक्ष में भी शब्द (स्फोट) अनित्य ही होगा। इसका समाधान यह है कि यह नियम नहीं है कि जो अभिव्यंग्य होते हैं वे अनित्य ही होते हैं। व्यक्ति से जाति अभिव्यंग्य है। फिर भी जाति नित्य है। जो जाति की सत्ता नहीं मानते उनके लिए यों तर्क दिया जाता है—जिस तरह से अनित्यवादी नित्यत्व को अंगीकार न कर अनेकान्तिक दोष का परिहार करता है उसी प्रकार अभिव्यक्तिवादी भी जाति को नित्य मानकर व्यतिरेकासिद्धि का आश्रय लेता है। —वृषभ, वाक्यपदीय, १।९६

जो लोग शब्द (स्फोट) की अभिव्यंजना स्वीकार करते थे उनमें भी, अभिव्यक्ति की प्रक्रिया के विषय में, दो त्रिकदर्शन थे अर्थात् दो प्रकार से तीन तीन वाद थे। इन्हें भर्तृहरि ने **'वादाः त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्'**[11] और **'अथापरेऽभिव्यक्तिवादिनां त्रयो दर्शनभेदाः'**[12] के रूप में व्यवहृत किया है। प्रथम तीन वाद के अनुसार क्रमशः ध्वनि से इन्द्रियसंस्कार, ध्वनि से शब्द संस्कार, ध्वनि से शब्द-इन्द्रिय उभय संस्कार होते हैं। द्वितीय तीन वाद के अनुसार क्रमशः स्फोट से अविभक्त रूप में ध्वनि का ग्रहण, अगृह्यमाण रूप में ही ध्वनि अभिव्यंजक, ध्वनि का स्वतंत्र रूप में ग्रहण—ये अभिव्यक्ति के प्रकार हैं।[13]

अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में एक तीसरा भी त्रिक वाद है जो अभिव्यंजक के आधार पर है। एक के मत में स्फोट का व्यंजक ध्वनि है। दूसरे मत में स्फोट का व्यंजक ध्वनिजन्य नाद है। तीसरे मत में ध्वनि से स्फोट आविर्भावकाल से ही सहज

---

११. वाक्यपदीय, १।७९

१२. वही १।८२, हरिवृत्ति।

१३. इनके विवरण इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में दिये गये हैं।

भाव से वैसे ही सम्बद्ध रहता है जैसे गन्ध से पुष्प :

नित्यपक्षे तु संयोग विभागजध्वनिव्यङ्ग्यः स्फोटः ।

एकेषां संयोग-विभागजध्वनिसंभूतनादाभिव्यङ्ग्यः ।

इह केचिदाचार्याः व्यक्तं स्फोटं सहजनेन ध्वनिना सर्वतो दूरव्यापिना प्रकाशस्थानीयेन गन्धेन युक्तं द्रव्यविशेषमिवाविर्भावकाल एव संबंध मन्यन्ते ध्वनिना ।

—वाक्यपदीय हरिवृत्ति, १।१०३, १०५

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि के मत में ध्वनि और स्फोट अत्यन्त समीप की वस्तु हैं। स्फोट एक तरह से वाचक शब्द के लिए व्यवहृत हुआ है और उसके पीछे कोई उपनिषद् (रहस्य) नहीं है।

कैयट ने भर्तृहरि के मत का, अपने ढंग से, यों सारांश दिया है—"वैयाकरण वर्ण से व्यतिरिक्त पद अथवा वाक्य में वाचकत्व मानते हैं। प्रत्येक वर्ण के वाचक मानने पर द्वितीय आदि वर्णों के उच्चारण अनर्थक होंगे। प्रत्येक वर्ण के अनर्थक मानते हुए भी वर्ण के समुदाय में वाचकता मानने पर भी काम नहीं चलेगा। समुदाय के उत्पत्तिपक्ष में दोष है, क्योंकि समुदाय की युगपत् उत्पत्ति नहीं होती। समुदाय के अभिव्यक्तिपक्ष में वर्णों की क्रम से अभिव्यक्ति होगी, फलतः पूरे पद का आकलन नहीं हो सकेगा। वर्णों में एक स्मृति उपारूढ़ रूप में वाचकता मानने पर 'सरः' 'रसः' जैसे स्थलों में अर्थविशेष की प्रतिपत्ति में बाधा पड़ने लगेगी, दोनों पदों से समान अर्थ झलकने लगेंगे। इसलिए वाक्यपदीय में वर्ण से व्यतिरिक्त नाद से अभिव्यंग्य स्फोट का वाचक रूप में प्रतिपादन किया गया है" (महाभाष्यप्रदीप, पस्पशाह्निक, पृ० १२, गुरुप्रसादशास्त्री संपादित)।

नागेश के अनुसार पद अथवा वाक्य का एकाकारक ज्ञान स्फोट की सत्ता और उसके ऐक्य में प्रमाण है। अनुभव क्रम से ही वर्णों की स्मृतिरूढ़ता में, नागेश के अनुसार, दृढ़ प्रमाण नहीं हैं। क्रम से अनुभूत के व्युत्क्रम रूप में भी स्मृति देखी जाती है :

इदमेकं पदम् एकं वाक्यमिति प्रत्यय, स्फोटसत्त्वे तदैक्ये च प्रमाणम् ।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत, पस्पशाह्निक, पृ० १३

भोज ने भी वाचक ध्वनिसमूह को ही स्फोट नाम दिया है और प्रकृत्यादिस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट के रूप में उसके प्रभेद किए हैं :

प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णजनितध्वनिसमूहोऽभिव्यङ्ग्यस्फोटलक्षणः अर्थात्मा अर्थावसायप्रसवनिमित्तं शब्दः । तद्विशेषाश्च प्रकृत्यादिस्फोटः, पदस्फोटो वाक्यस्फोट इति ।

—शृंगारप्रकाश, पृ० १२५

स्फोट शब्द रूप में

शब्द रूप में स्फोट का प्रथम उल्लेख किसी श्लोकवार्तिककार ने किया है—
'स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायते ।'[१४]
शब्द का आकारग्रहण बुद्धि में होता है । महाभाष्यकार ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिसमें शब्द का पौर्वापर्य बुद्धिगत माना गया है । प्रेक्षाकारी मनुष्य पहले अपनी बुद्धि में ही अर्थ की दृष्टि से शब्द का, शब्द की दृष्टि से वर्ण का आकलन कर लेता है । ये सभी व्यापार बौद्ध होते हैं :

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्वन्नीतिः ।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम् ।।[१५]

भर्तृहरि ने भी शब्द के स्वरूप का अवधारण बुद्धि में माना है । अन्त्य ध्वनि, परिपाकप्राप्त बुद्धि में शब्द के स्वरूप का संनिवेश करती है । किसी के मत में शब्दाकृति का संनिवेश होता है । इसमें भी दो तरह के मत हैं । एक शब्द में कई वर्ण होते हैं । वक्ता उनका उच्चारण क्रम से करता है । अन्त्यवर्ण के उच्चारण के बाद एक विशेष संस्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है । इस ज्ञान को अन्त्यवर्णावलम्बन ज्ञान कहा जाता है । इसे अन्त्यबुद्धि भी माना जाता है । पूर्व के वर्णों से भी कुछ-न-कुछ संस्कार होता, परन्तु वह संस्कार धुँधला होता है अथवा अस्पष्ट होता है । अन्त्यवर्णजन्यज्ञान पूर्ववर्णजन्यज्ञान की सहायता से जाति का ग्राहक होता है । दूसरा मत अन्त्यवर्णज्ञान को महत्त्व नहीं देता । उसके अनुसार सभी वर्णों से बुद्धि में संस्कार होता है । अन्त्यवर्ण के ज्ञान के बाद जातिग्राहक ज्ञान उत्पन्न होता है :

अत्रानेकं दर्शनम् । केचिन् मन्यन्ते, अन्त्यवर्णावलम्बनं यत् ज्ञानं तत् पूर्णवर्णज्ञानाहितसंस्कारसहायं जातेः ग्राहकम् । अपरे मन्यन्ते, अन्त्यवर्णज्ञानसहितैः सर्वैरेवपूर्ववर्णज्ञानैः संस्कारारम्भः । अन्त्यवर्णज्ञानानन्तरं तु जातिग्राहकं ज्ञानमुत्पद्यते ।

—वृषभ, वाक्यपदीय, १।२३, पृ० ३३

महाभाष्यकार ने भी शब्द को बुद्धिग्राह्य माना है :
श्रोत्रोपलब्धिः बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः ।

—महाभाष्य, पस्पशाह्निक

कैयट ने बुद्धिनिर्गाह्य शब्द का अभिप्राय भर्तृहरि के आधार पर ध्वनिजन्य संस्कार से परिपाकप्राप्त अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य माना है :

पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकान्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य इत्यर्थः ।

—कैयट, महाभाष्यप्रदीप, पृ० ६५, गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित

---

१४. वाक्यपदीय, १।२३ हरिवृत्ति में अनुतंत्रवाक्य के रूप में उद्धृत ।
१५. महाभाष्य १।४।१०९

अभिनवगुप्त ने भी, व्याकरणदर्शन की दृष्टि में, वाक्यस्फोट को बुद्धिनिर्ग्राह्य माना है :

वैयाकरणैरपि वाक्यस्फोटस्य प्रायशः बुद्धिनिर्ग्राह्यतैव दर्शिता ।[१६]

हेलाराज ने भी अभ्यास के आधार पर स्फुट, स्फुटतर-रूप में चरम बुद्धि में स्फोट तत्त्व की झलक मानी है और शब्दतत्त्व को ही जातिस्फोट के रूप में दो में विभक्त स्वीकार किया है :

चरमचेतसि चकास्ति रत्नतत्त्ववत् स्फोटतत्त्वम्···शब्दतत्त्वं जातिव्यक्तिभेदेन भिन्नं स्फोटस्वभावमेवाङ्गीकर्तव्यम् ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय, ३, जातिसमुद्देश ६

वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट तीनों का बुद्धि में अध्यारोप प्रयत्नविशेष से उद्बुद्ध ध्वनियों द्वारा होता है :

वर्णपदवाक्यविषयाः प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुनः पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वाध्यारोपयन्तिः ।

—वाक्यपदीय, हरिवृत्ति, १।८३

शब्द की बुद्धिनिर्ग्राह्यता और उसकी वाचकता के आधार पर शब्द को स्फोट माना जाता है। इस दृष्टि से स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति 'स्फुटत्यर्थो यस्मात्'—इस रूप में की जाती है।

स्फोट शब्दनित्यत्व के रूप में

भर्तृहरि ने शब्द के निरवयव दर्शन पर प्रकाश डाला था। और उसके एक, निर्विभाग, नित्यस्वरूप की भी चर्चा की थी। ऐसे प्रसंगों में भर्तृहरि ने स्फोट शब्द का व्यवहार नहीं किया है। किन्तु पुण्यराज जैसे टीकाकारों ने ऐसे स्थलों में शब्द औरस्फोट को एक माना है। पुण्यराज ने स्फोट के दो भेद किए हैं—बाह्य और आभ्यंतर। पुनः बाह्य स्फोट के दो भेद किए हैं—जातिस्फोट और व्यक्तिस्फोट।[१७] शब्द का एक, अनवयव स्वरूप, पुण्यराज के अनुसार, व्यक्तिस्फोट का प्रतीक है।[१८] संघातवर्तिनी जाति जातिस्फोट का प्रतीक है। भर्तृहरि ने जिसे बुद्ध्यनुसंहारलक्षण आन्तर शब्द कहा है उसे ही पुण्यराज ने आभ्यंतरस्फोट माना है।[१९] और एक अखण्ड व्यक्तिस्फोट अथवा जातिस्फोट को सिद्धांत रूप में, वाचक के रूप में स्वीकार किया है :

एक एव नित्यः पदाभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा वाचकोऽङ्गीकार्य इति सिद्धान्तः ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय, २।२९

---

१६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भाग २, पृ० १८८

१७. स्फोटश्च द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति । बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन द्विविधः ।—पुण्यराज, वाक्यपदीय, २।१

१८. अनेन 'एकोनवयवः शब्दः' इत्युदिष्टस्य व्यक्तिस्फोटस्य स्वरूपमुक्तमिति बोद्धव्यम् ।—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१९

१९. आभ्यन्तरस्य तु 'बुद्ध्यनुसंहृतिः' इत्यनेनोद्देशः ।—पुण्यराज, वाक्यपदीय, २।१

शब्दनित्यत्व के पक्ष में 'शब्दस्य न विभागोऽस्ति'[२०] 'नित्येषु तु कुतः पूर्वम्'[२१] जैसे भर्तृहरि के कई वक्तव्यों को स्फोटवादियों ने स्फोट के पक्ष में ले लिया है। स्फोटवाद के कतिपय समीक्षकों ने भी स्फोट का खण्डन शब्दनित्यत्व के खण्डन के आधार पर किया है।

स्फोट जाति रूप में

किसी आचार्य ने शब्दनित्यत्व का आधार आकृतिनित्यत्व माना था। उनके मत में स्फोट शब्द का वाच्य शब्दाकृति है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है। शब्दाकृति शब्दव्यक्ति (ध्वनि) से अभिव्यंग्य मानी जाती है। शब्दव्यक्ति उत्पन्न होनेवाली और स्वतः अव्यपदेश्य होती है किन्तु व्यपदेश्य रूप स्फोट के द्योतक होने के कारण ध्वनि संज्ञा पाती है। वह स्फोट शब्दाकृति है। इसी शब्दाकृति को भर्तृहरि ने दर्शनभेद के आधार पर अनेकव्यक्ति से अभिव्यंग्य जाति माना था और उसे स्फोट के रूप में निर्दिष्ट किया था।[२२] किन्तु बाद में स्फोट का जति से, विशेषकर सत्ताजातिवाद से संबंध कर दिया गया। सायण ने जातिस्फोट का उल्लेख 'परमार्थसंवित्लक्षणसत्ताजाति' के रूप में किया है।[२३] इस मत में सभी शब्दों का अर्थ सत्ता लक्षण जाति है। उपरंजक द्रव्य से स्फटिक की तरह संबंधिभेद से सत्ता में भेद प्रतिभासित होता है। इसीलिए सभी शब्द पर्याय नहीं हो पाते। गो, अश्व आदि में सत्ता ही महासामान्य है। गोत्वादिक अपरसामान्य महासामान्य से भिन्न नहीं हैं। सभी शब्द वाचक रूप में उसी सत्ता में अवस्थित हैं। प्रातिपदिकार्थ भी सत्ता ही हैं। भाव भी सत्ता है। त्व, तल आदि भावप्रत्यय से वही सत्ता व्यक्त की जाती है। क्रिया भी जाति है। वह सत्ता नित्य है। उसमें ह्रास अथवा विकास नहीं होता। वह देश, काल अथवा वस्तु के परिच्छेद से रहित है और इसीलिए उसे महानात्मा कहा जाता है :

सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमानागवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ।।
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ।।

—वाक्यपदीय, ३, जातिसमुद्देश, ३३, ३४

बाद के वैयाकरणों ने जातिस्फोट को ब्रह्म पद तक पहुँचा दिया है :

तथा च शक्त्यांश इव शक्तांशेऽपि न्यायसाम्येनाकृत्यधिकरणरीत्या ब्रह्मतत्त्वमेव तत्तदुपहितं वाच्यं वाचकं च। अविद्यावधिक धर्मविशेषो वा जातिरिति

---

२०. वाक्यपदीय, २।१३

२१. वही, २।२२

२२. अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।

—वाक्यपदीय, १।९४

२३. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३०४

पक्षे तु सैव वाचिकास्त्वित्याहुः ।

—शब्दकौस्तुभ, पृ० १०

कैयट ने व्यवहारनित्यता के आधार पर वर्ण-पद-वाक्य स्फोट अथवा जातिस्फोट को नित्य माना है :

तच्च ब्रह्मतत्त्वं परमार्थतो नित्यम् । व्यवहारनित्यतया वर्णपदवाक्यस्फोटानाम् नित्यत्वम्, जातिस्फोटस्य वा ।

—महाभाष्यप्रदीप (झभञ्) पृ० १४७, निर्णयसागर १२

शेषनारायण ने सखण्ड अखण्डभेद से पद, वाक्य और व्यक्तिस्फोट का विभेद किया है । जातिस्फोट भी दो तरह का माना है और किसी अन्य मत से वर्णस्फोट को भी जाति और व्यक्तिभेद से दो तरह का माना है । इनमें वाक्यस्फोट और जातिस्फोट को अधिक महत्त्व दिया है । जातिस्फोट एक ही साथ ब्रह्म और अविद्या दोनों हैं :

यद्यप्यत्रानेके स्फोटाः प्रतिपादिता', तथापि वाक्यस्फोट एव परमार्थः । तत्रापि जातिस्फोट इति । जातिश्च सर्वाधिष्ठानस्वरूपात्मकं ब्रह्मैव अविद्यैव चेति ।

सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख

शेषनारायण के मत में वेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्म और स्फोटब्रह्म में केवल यही अन्तर है कि वेदान्त में शब्द निमित्तकारण के रूप में (सृष्टि के लिए) गृहीत है जबकि व्याकरण में उपादान कारण के रूप में माना जाता है :

वेदान्तिभिरपि निमित्तकारणत्वं शब्दस्याभीष्टम् । अस्माभिस्तु उपादानत्वम् अभ्युपेयत इति विशेषः । —सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख ।

वाक् के रूप में स्फोट

आगमों में परा, पश्यन्ती आदि का संबंध मूलाधार चक्र आदि से माना जाता है । भर्तृहरि आदि ने तो परावाक् का विवेचन नहीं किया है और न वाक् का संबंध चक्र-विशेष से जोड़ा है, किन्तु बाद के कुछ वैयाकरणों ने, तंत्र के प्रभाव के कारण, परावाक् को महत्त्व दिया है और वाक् को तंत्रप्रसिद्ध नादबिन्दु के क्षेत्र में देखा है । सायण ने, किसी आगम के आधार पर, लिखा है कि जब कोई व्यक्ति अभिलषित अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग करना चाहता है, इच्छावशजन्य प्रयत्न से मूलाधार में प्राणवायु का परिस्पन्द होता है । उस परिस्पन्द से मूलाधार में सूक्ष्म परावाक् प्रकट होती है, जो सकल शब्द समुदाय का कारण है और स्वयं निष्पन्द है । वही परावाक् मूलाधार से ऊर्ध्व नाभिदेश में आकर पश्यन्ती कहलाती है । वह सामान्यज्ञानरूपा मानी जाती है । विवक्षित पदार्थ के दर्शाने के कारण उसे पश्यन्ती कहा जाता है । वही हृदयदेश में प्राप्त होकर मध्यमा कहलाती है । उसमें अर्थविशेष की भावना व्यक्त हो गई रहती है । मध्यदेश में अवस्थान के कारण उसे मध्यमा कहा जाता है । वही वर्णरूप से कण्ठ-तालु आदि स्थानों में व्यंजित होती हुई वैखरी कहलाती है । विशेष रूप से (वि) दूसरों को अवबोध करने में प्रचण्ड (खर) होने के कारण उसे वैखरी कहा जाता है ।[२४]

---

२४. अथर्ववेद, सायणभाष्य, ७।१. सायण ने इस संदर्भ में निम्नलिखित आगम उद्धृत किए हैं—

नागेश ने मध्यमा वाक्य को स्फोट का प्रतिनिधि माना है :

"तत्र मध्यमायां यो नादांशः तस्यैव स्फोटात्मानो वाचकत्वेनाक्षतिः ।"

—मंजूषा, पृ० १८०

उनके अनुसार प्रलयकाल में माया चेतन ईश्वर में लीन हो जाती है। एक तरह से सुप्त-सी अवस्थित रहती है। पुनः परमेश्वर में सिसृक्षात्मिका मायावृत्ति उदित होती है। उससे बिन्दु रूप अव्यक्त त्रिगुण उत्पन्न होता है। यही शक्ति तत्त्व है। उस बिन्दु का अचित् अंश बीज है। चित्-अचित् मिश्र अंश नाद है। चित् अंश विन्दु है। अचित् शब्द से अभिप्राय अविद्या से है जो शब्द और अर्थ उभय संस्काररूपा है। उस बिन्दु से चेतनमिश्र नादमात्र उत्पन्न होता है। वह वर्ण आदि विशेष ज्ञान से रहित है, ज्ञानप्रधान है और सृष्टि के उपयोगी अवस्थाविशेषरूप है। उसका दूसरा नाम शब्दब्रह्म है। वह जगत् का उपादान है। उसे रव, परा आदि शब्द से भी कहा गया है। वह प्राणी में सर्वगत होते हुए भी मूलाधार में संस्कृतपवन के चलन से अभिव्यक्त होता है। संस्कृतपवन से अभिप्राय पवन के संस्कार से है। पवन का संस्कार व्यक्ति की विवक्षा से जन्य प्रयत्न के योग से होता है। उससे अभिव्यक्त निष्पन्द शब्दब्रह्म परावाक् कहलाता है। वही नाभिपर्यन्त पहुँचकर उस पवन से अभिव्यक्त पश्यन्ती कहलाता है जिसका विषय मन है (मनोविषयः)। परा और पश्यन्ती ये दोनों सूक्ष्मतर हैं। इनके अधिदेवता ईश्वर हैं और ये समाधि में योगियों के निर्विकल्प और सविकल्प के विषय बनती हैं। पुनः हृदयप्रदेश में पहुँचकर उस पवन द्वारा हृदय देश में अभिव्यक्त होकर वह मध्यमा वाक् कहलाता है। मध्यमा में शब्द और उसके अर्थ का आकर स्पष्ट हो गया रहता है। उसका विषय बुद्धि है अथवा बुद्धि से वह ग्राह्य है (बुद्ध्या विषयीकृता)। उसका देवता हिरण्यगर्भ है। मध्यमा भी सूक्ष्म है, क्योंकि दूसरे के श्रवणेन्द्रिय से अभी ग्राह्य नहीं है। किन्तु स्वयं दोनों कानों को बन्द कर सूक्ष्मतर वायु के अभिघात से सुनी जा सकती है और उपांशुशब्दप्रयोग में भी श्रूयमाण होती है। इस मध्यमा वाक् में जो नादांश है वही स्फोट है।[२५] कलाटीकाकार वैद्यनाथ के अनुसार नादांश से अभिप्राय नाद से सम्बद्ध विमर्शक से है।[२६]

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी ।
यस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकार निवर्तते ।।
अविभागेन वर्णानां सर्वत्र संवृतक्रमा ।
प्राणाश्रयात् तु पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा ।
मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतवर्णपरिग्रहा ।।
अन्तः संजल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति ।
ताल्वोष्ठव्यापृतिव्यंग्या परबोधप्रकाशिनी ।
मनुष्यमात्रसुलभा बाह्या वाग् वैखरी मता ।।

२५. वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, पृ० १६८-१८०

२६. "नादांशः—नादसंबन्धिविमर्शकशब्दरूपोऽशः । तत्रैव विमृश्यांशस्यार्थस्य वाचकत्वमग्रे वक्ष्यति ।"—मंजूषा, कलाटीका, पृ० १८०

शारदातिलक के लेखक लक्ष्मणदेशिकेन्द्र के अनुसार 'परमेश्वर से शक्ति उद्भूत होती है। शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है। शक्तिमय परमेश्वर पुनः तीन रूपों में विभक्त होता है। बिन्दु, नाद और बीज उसके तीन भेद हैं। बिन्दु शिव है। बीज शक्ति है। नाद शिव और शक्ति का मिश्र रूप है। बिन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा उत्पन्न होती हैं जो क्रमशः शिव, ब्रह्मा और विष्णु के प्रतीक हैं। पर बिन्दु के स्फोट से रव उत्पन्न होता है। उस रव को आगमों में शब्द ब्रह्म कहा जाता है। अन्य विचारक शब्दार्थ को शब्द ब्रह्म मानते हैं। पुनः कुछ अन्य आचार्य शब्द को ही शब्दब्रह्म मानते हैं। इन दोनों मतों में जडत्व है। सर्वभूत में अवस्थित चैतन्य को शब्दब्रह्म समझना चाहिए।[२७]

पश्यन्ती और स्फोट की एकता की भी चर्चा आगमों में है। यद्यपि भर्तृहरि ने कहीं स्फोट और पश्यन्ती की समानता का उल्लेख नहीं किया है फिर भी सोमानन्द ने उनके ऐक्य की संभावना मानकर भी उनकी समीक्षा की है। उत्पल के अनुसार, स्फोटवादी पश्यन्ती और स्फोट दोनों को नित्य मानते हैं। इस दशा में स्फोट और पश्यन्ती दोनों एक हो सकते हैं, दोनों में केवल शब्द का भेद है। दोनों में भेद मानने पर द्वैत होता है। असत्य पद आदि से सत्य अथवा कूटस्थनित्य स्फोट की व्यंजकता भी संदिग्ध है। पश्यन्ती और स्फोट के ऐक्य मानने पर आप्तवाक्यविचार और अनाप्तवाक्यविचार में भेद संभव नहीं हो सकेगा। दोनों प्रकार के वाक्यों के स्रोत एक होने से दोनों में पूर्णता माननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त पश्यन्ती और स्फोट दोनों में बहुत्व मानना पड़ेगा (शिवदृष्टि, पृ० ७५-७६)। पहले कहा जा चुका है कि ये विचार सोमानन्द के कल्पित हैं। वाक् विचार के अवसर पर कश्मीर शैवागम और व्याकरण-दर्शन दोनों की दृष्टि से पश्यन्ती पर विचार किया जा चुका है। भर्तृहरि ने अथवा किसी अन्य वैयाकरण ने पश्यन्ती और स्फोट की एकता का प्रतिपादन नहीं किया है।

स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आरम्भ में शब्दतत्त्व को अक्षर ब्रह्म के रूप में निर्देश किया और उससे अर्थरूप में जगत् का विवर्त माना है। कुछ लोग इस शब्दतत्त्व

---

२७. शारदातिलक, १।७—१३, शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट के अनुसार शब्दार्थ संज्ञक शब्दब्रह्म से अभिप्राय आन्तरस्फोट से है और आन्तरस्फोट सिद्धान्त आचार्यों का है। शब्द संज्ञक शब्दब्रह्म मत वैयाकरणों का है।

एके आचार्याः शब्दार्थं आन्तरस्फोटं शब्दब्रह्मेत्याहुः। यथाह—'निरंश एवाभिन्नो नित्यो बोधस्वभावः शब्दार्थमयः आन्तरस्फोटः' इति। अपरे वैयाकरणाः पूर्वपूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्तं तत् तत् पदसंस्कारसहायचरमपदग्रहोद्बुद्धं वाक्यस्फोटलक्षणं शब्दमखण्डैककार्यप्रकाशकं शब्दब्रह्मेति वदन्ति। यदाह—'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यंग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो वा बहीरूप इति।—शारदातिलक टीका, पृ० ११, तुलना कीजिए—"इह निरंश एवाभिन्नो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा बहीरूप आन्तरः शब्दार्थमयो वा बुद्ध्यनुसंहारो वाक्यमिति स एव वाचक उपपन्नः।"
—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१९

को स्फोट मानकर स्फोट को शब्दब्रह्म कहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी प्राचीन आगम के आधार पर भर्तृहरि ने अभिधान रूप में विवर्त और अभिधेय रूप में विवर्त का संकेत किया है। इस प्रसंग में उन्होंने प्राचीन ग्रंथ से एक उद्धरण भी दिया है जिसका अभिप्राय यों है—

जो सब तरह की कल्पनाओं के आभास से भी नहीं आता उसकी तर्क, आगम और अनुमान के द्वारा अनेक प्रकार से कल्पना की जाती है। वह भेद और संसर्ग से परे है। उसमें न भाव है और न अभाव, न क्रम है और न अक्रम। वह सत्य और अनृत से भी परे है। वह विश्वात्मा केवल प्रविवेक से प्रकाशित होता है। वह भूतों के अन्तः में अवस्थित है। वह समीप भी है, दूर भी है। वह स्वयं अत्यन्त मुक्त है। मुमुक्षु मोक्ष के लिए उसकी उपासना करते हैं जिस तरह ग्रीष्म के अन्त में इन्द्र शून्य आकाश में मेघ भर देता है, वैसे ही वह प्रकृतिगत विकारों को बिखेर देता है, उत्पन्न करता है। उसका चैतन्य यद्यपि एक है फिर भी अनेक रूप में उसी तरह विभक्त हो जाता है जैसे उत्पात के अवसर पर समुद्र का जल (अङ्गाराङ्कितं उदकम्)[२७क]। जैसे मारुत से जल बरसाने वाले बादल उत्पन्न होते हैं वैसे ही सामान्य रूप में अवस्थित उससे विकारमय व्यक्तिमय व्यक्तिसमूह उत्पन्न होते हैं। वह परम ज्योति त्रयी (वेद) के रूप में विवर्तित होती है। और अनेक दर्शनों में पृथक्-पृथक् रूप में दृष्टिभेद का आधार होती है। शान्तविधात्मक उसी का अंश है किन्तु वह अविद्या से ग्रस्त हो जाता है। अविद्या अनिर्वचनीय है। उसके परिणमित रूपों का अन्त नहीं है। उससे प्रभावित व्यक्ति अपने-आप में अवस्थित नहीं रह पाता। जिस तरह कोई व्यक्ति दृष्टिदोष के कारण विशुद्ध आकाश को भी अनेक आकारों से चित्रित देखता है उसी तरह निर्विकार अमृत ब्रह्म भी अविद्या से आच्छन्न मति के कारण विकारयुक्त और विभक्त रूप में परिणमित दिखाई देता है। वह ब्रह्म शब्द है। जो कुछ है सब शब्द से निर्मित है। सबका मूल आधार शब्द है। शब्दमात्राओं से ही सबका विवर्त होता है और पुनः शब्दमात्राओं में ही सबका लय होता है।[२८]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भर्तृहरि ने किसी आगम के आधार पर शब्दविवर्त का प्रतिपादन करना चाहा था। कुछ लोग शब्दविवर्त में शब्द से प्रणव अभिप्रेत

---

२७ क. 'अङ्गाराङ्कितमुत्पाते वारिराशेरिवोदकम्' का अभिप्राय सिंहसूरगणिवादिक्षमाश्रमण ने यों दिया है—यथा उदन्वताम् तोयम् उत्पाते अङ्गारराशिवत् प्रज्वलदुपलक्ष्यते तथास्यानेकरूपता मिथ्यैव प्रकृतित्वमिति—द्वादशारनयचक्र, पृ० ३००

२८. ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

—वाक्यपदीय, १।१ हरिवृत्ति में उद्धृत।

वृषभ ने इसका एक दूसरा अर्थ भी यों दिया है—

'अथवा ब्रह्मेदमिति विकारग्राममाह, अव्यतिरेकात्। ततः शब्दनिर्माणमिति, शब्दतत्त्व-निर्माणं, तेन निर्मितत्वात्। शब्दशक्तिनिबन्धनमिति। शब्दशक्तयो यतस्तत्रासते प्रतीयन्ते वा तत्रैवेति।''

—वृषभ, वाक्यपदीय, १।१

मानते हैं। सभी शब्दों और सभी अर्थों की प्रकृति प्रणव है। भर्तृहरि ने स्वयं भी द्रव्यनित्यत्व के प्रतिपादन के अवसर पर प्रणव को ब्रह्म कहा है :

नित्यः पृथिवीधातुः। पृथिवीधातौ किं सत्यम्। विकल्पः। विकल्पे किं सत्यम्। ज्ञानम्। ज्ञाने किं सत्यम्। ओ३म्। अर्थ तद् ब्रह्म।[२९]

प्रणव सभी शब्द और सभी अर्थ की प्रकृति है। सभी भाव शब्दाकारानुगत हैं। वस्तु ज्ञान शब्दज्ञानानुगत होता है। सभी ज्ञान वाक् रूप के अनुगत होते हैं। ज्ञानशून्य अवस्था (असञ्चेतित अवस्था) में भी वाणी के सूक्ष्म धर्म अनुस्यूत रहते हैं।[३०] बाह्य अर्थ का सर्वप्रथम परिचय (शिशु को) वस्तु के स्वरूप मात्र के रूप में होता है। वस्तुनिमित्त के ठीक से परिज्ञान न होने के कारण 'इदं तत्' जैसे भाव उसके मन में नहीं उठ पाते हैं। अर्थ शब्द का विवर्त है। शब्दब्रह्म और स्फोट, इस दृष्टि से, एक हैं।

भोज ने किसी अन्य आगम के आधार पर शब्द के अध्यास, विवर्त और विपरिणाम इन तीनों पक्षों में अर्थ की उपपत्ति की है। शब्द से भिन्न रूप में अर्थतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। अर्थ (जगत्) शब्द का अध्यास है। एक ही शब्द ग्राह्य, ग्राहक और संवित्ति रूप में, विपर्यास अथवा दृष्टिभेद के कारण अलग-अलग जान पड़ता है। परमानन्दमय ज्योतिरूप शब्द (सरस्वती) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में प्रकट होता है।[३१] जैसे जल कल्लोल रूप में, नीलादि चित्र आदि रूप में विवर्तित होते हैं, शब्द, अविद्या-उपाधि के सहारे, भिन्न-भिन्न रूप में विवर्त्त प्राप्त करता है। भोज के अनुसार, जैसे शब्द से अर्थ के विवर्त का प्रतिपादन किया जाता है वैसे ही अर्थ से शब्द के विवर्त की प्रक्रिया दिखाई जा सकती है। किन्तु शब्दाह्वय प्रकाश को महत्त्व देने के लिए शब्द से अर्थ का विवर्त दिखाया जाता है। भोज की दृष्टि में, अभिधीयमान अर्थ के अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए शब्द के विपरिणाम पक्ष को अंगीकार करना चाहिए। जैसे मिट्टी से घट, क्षीर से दधि, शैशव से यौवन विपरिणाम के प्रतीक हैं, उसी तरह शब्द ब्रह्म से, अविद्या-उपाधि के सहारे, अर्थ रूप में विपरिणाम होता है।[३२]

---

२९. महाभाष्यदीपिका, पृ० २९ (पूना संस्करण) इस अंश को हेलाराज ने वाक्यपदीय ३।३२ की टीका में उद्धृत किया है। द्वादशारनयचक्र पृ०४९५ पर भी ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया गया है।

३०. 'याप्यसंचेतितावस्था तस्यामपि वाग्धर्मानुगमोऽभ्यावर्तते'
—वाक्यपदीय, १।१२५ हरिवृत्ति, वृषभ ने असंचेतित अवस्था को स्वप्नावस्था माना है।

३१. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥
ग्रहीतृग्रहणग्राह्यमायापथपरिच्युताम्।
नमामः परमानन्दज्योतिरूपां सरस्वतीम्॥—शृङ्गारप्रकाश, पृ० २२० पर उद्धृत।

३२. 'इदं शब्दब्रह्माप्यविद्योपाधेः तेन तेनार्थरूपेण तथा तथा विपरिणमते' भोज ने इसका एक रोचक उदाहरण दिया है—'तद् यथा, अस्ति मे पंच पुत्राः। मातरं पितरं शुश्रूषितवान् अस्मि। योऽहं युवा द्रमिडदेशे द्रमिडकन्याभिः सहावसं सोऽहं पश्चिमे वयसि गंगातीरे तपश्चरामीति।
—शृंगारप्रकाश, पृ० २२१

शब्दविवर्त की आलोचना करते हुए शान्तरक्षित ने आपत्ति की है कि शब्द से जगत् का परिणाम अपेक्षित है अथवा उत्पत्ति। परिणाम पक्ष अनुपपन्न है। क्योंकि शब्दात्मक ब्रह्म जब नील आदि रूप में परिणत होता है, अपने स्वाभाविक शब्दरूप को छोड़ देता है अथवा साथ रखता है ? प्रथम पक्ष में (छोड़ देने के पक्ष में) शब्द ब्रह्म के अनादिनिधनत्व, अक्षरत्व आदि की हानि होती है, क्योंकि पूर्व के स्वभाव का विनाश झलकता है। यदि अपने स्वाभाविक शब्दरूप को छोड़ नहीं देता है यह पक्ष अभिप्रेत है, तो नील आदि के संवेदन के अवसर पर बधिर व्यक्ति को भी अश्रुत शब्द का संवेदन होने लगेगा, क्योंकि नील के संवेदन से शब्द का संवेदन भिन्न नहीं है।[३३]

वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म की प्रतिष्ठा कुछ भिन्न रूप में की है।

स्फोटवाद की समीक्षा

स्फोट सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्फोट का प्रकृत रूप प्राचीन काल से ही अस्पष्ट रहा है। जैसे उसके स्वरूप भिन्न-भिन्न रूप में सामने लाए गये हैं, उसकी आलोचना भी विभिन्न दृष्टिकोण से की गई है। आलोचकों के स्फोट संबंधी विवरण से स्फोट का स्वरूप जटिलतर होता गया है। स्फोटसिद्धान्त के प्राचीन आलोचकों में उल्लेखनीय भामह, धर्मकीर्ति, शंकर, कुमारिल, वादिदेव सूरि और जयन्तभट्ट हैं।

भामह ने स्फोट के स्वरूप का निर्देश नहीं किया है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उनके मत में स्फोटवाद कूटस्थ, अनपायी, नाद से भिन्न शब्द के रूप में गृहीत था। भामह के अनुसार शपथ लेकर भी स्फोटवादियों की बात नहीं माननी चाहिए। स्फोटवाद आकाश-कुसुम सदृश है। अनादिकाल से वर्णव्यवहार द्वारा अर्थ-अवबोध का एक समय (परिपाटी) निश्चित हो चुका है। अर्थ केवल सांकेतिक होते हैं, पारमार्थिक नहीं होते।[३४]

शब्द और अर्थ के संबंध को एक कल्पित समझौता के रूप में व्यक्त करना भामह की महत्त्वपूर्ण उक्ति है। किन्तु वर्ण अथवा नाद से सूक्ष्म किसी ध्वनितत्त्व की सत्ता को सर्वात्मना अनङ्गीकार करना अवैज्ञानिक है।

धर्मकीर्ति ने भी स्फोट का विवरण नहीं दिया है। ऐसा जान पड़ता है उनके सामने स्फोटवाद वर्ण से अतिरिक्त एक आनुपूर्वी के रूप में और अपौरुषेय के रूप में था। आनुपूर्वी, उनके मत में, अतद्रूप में तद्रूप की कल्पनामात्र है, बुद्धि का एक विभ्रम है। न तो बुद्धिविभ्रम अपौरुषेय हो सकता है और न सबके शब्द अपौरुषेय हो सकते हैं।[३५] धर्मकीर्ति ने संभवतः मीमांसादर्शन के अपौरुषेय और वैयाकरणों

---

३३. तत्त्वसंग्रह, तथा पंजिका, १२९-१३१।

३४. काव्यालंकार ६।११-१४

३५. प्रमाणवार्तिक, कारिका २७१, पृ० ९४ काशी संस्करण

के वर्णविचार को एक में गूँथ कर स्फोट की चिन्ता की है और इसलिए वह चिन्त्य है।

आचार्य शंकर ने वर्णों में क्रम के आधार पर स्फोटपक्ष में गरीयसी कल्पना, दृष्टहानि और अदृष्टकल्पना मानी है। इसका उत्तर शेषकृष्ण ने नित्य और विभु में क्रम के अभाव दिखाकर दे दिया है।[३६]

कुमारिल ने स्फोट की आलोचना कुछ विस्तार से किन्तु विशृंखल रूप में की है। मीमांसकों को अपनी स्फोट-समीक्षा पर अभिमान है और वे इसे वैयाकरणों की चिकित्सा-सी मानते हैं।[३७]

मीमांसा दर्शन में स्फोट का खण्डन विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर किया गया है। स्फोटवाद की सत्ता मान लेने पर पद, वर्ण आदि अवयव की सत्ता व्यर्थ हो जाती है। फलतः पद और उसके अवयवाश्रित ऊह आदि भी मृषा जान पड़ेंगे; महावाक्य में अवान्तरवाक्य सिद्ध नहीं हो पायेंगे; प्रयाजादि आश्रित प्रसंग, तंत्र आदि व्यर्थ जान पड़ेंगे। इसलिए उनके लिए स्फोटवाद का निराकरण आवश्यक हो जाता है।[३८] मीमांसकों के अनुसार दृढस्मृतिबद्ध वर्णों में वाचकता है। वर्णों से अतिरिक्त शब्द की कल्पना तथा अनेक संस्कारों की कल्पना गौरवग्रस्त है। उनकी मान्यता में नाद वायुस्वरूप नहीं है और न संयोगविभागमय है। किन्तु वायुगुणवाले शब्दविशेष को ही नाद कहा जाता है और ध्वनि भी कहा जाता है। शब्द दो तरह का होता है वर्ण और ध्वनि। दोनों में शब्दत्व अनुगत रहता है। वर्णत्व और ध्वनित्व अवान्तर सामान्य हैं। गकार आदि वर्णविशेष हैं, शंखघोष आदि ध्वनिविशेष हैं। ध्वन्यात्मक शब्द वायुगुण वाला है। जैसे प्रभारूप भावान्तर का अभिव्यंजक होता है, शब्द वर्णात्मक गकार आदि का व्यंजक होता है। वायु के कर्णविवर में प्रवेश से शब्द का ग्रहण संस्कृत श्रोत्र द्वारा होता है। कभी वर्णरहित केवल घोष आदि का ग्रहण होता है कभी वर्णसहित, वर्ण से उपश्लिष्ट ध्वनि का ग्रहण होता है।[३९] पद अथवा वाक्य में वर्तमान वर्ण या ध्वनि स्फोट के व्यंजक नहीं होते। वर्ण से व्यतिरिक्त रूप में स्फोट अर्थ का वाचक नहीं होता।[४०]

वाक्यों के अवयवाश्रय कार्यों की सिद्धि के लिए कुमारिल का आयास आयासमात्र है। भर्तृहरि ने स्फोट की सत्ता मानते हुए भी वाक्यधर्म के रूप में स्वयं प्रसंग, तंत्र आदि का विवेचन किया है। वर्णों में वाचकता मानना जैसे एक मान्यता है, वर्णों

---

३६. नित्यानां च विभूनां च क्रमो नास्त्येव वास्तवः।
उपलब्धिनिमित्तोऽस्ति सा चेदेका कुतः क्रमः।
—स्फोटतत्त्व निरूपण ७

३७. चिकित्सेव कृता शब्दविदां मीमांसकैरियम्।
—शास्त्रदीपिका, युक्तिस्नेहप्रपूरणी, पृ० ६७

३८. न्यायरत्नाकर व्याख्या, पृ० ५४४

३९. श्लोकवार्तिक, न्याय रत्नाकर, पृ० ५१९

४०. श्लोकवार्तिक, स्फोटवाद १३१, १३२

से व्यतिरिक्त स्फोट में वाचकता मानना भी एक मान्यता है। मान्यता विचारक के तर्क, कल्पना और स्वतंत्रता से परिचालित होती है। इस दृष्टि से मीमांसादर्शन और व्याकरणदर्शन दोनों स्वतंत्र हैं। कुमारिल के स्फोट की समीक्षा मण्डन मिश्र ने और योगसूत्र के टीकाकार किसी अर्वाचीन शंकर ने भी की है।

वादिदेवसूरि ने अनुषंग रूप में उक्त भर्तृहरि के कई मंतव्यों पर विचार किया है किन्तु मूल स्फोट के विषय में ऊहापोह कम है। उनकी मौलिक आलोचनाओं में दो उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि यदि अर्थप्रत्यायकत्व मात्र के आधार पर स्फोट को शब्द माना जायगा तो प्रत्यायक धूम में भी शब्दत्व माना जायगा। दूसरा यह कि नालिकेर द्वीप निवासी जिसे गो शब्द का संकेत नहीं ज्ञात है, कभी भी गो शब्द से अर्थ-बोध नहीं कर सकेगा। इस तरह लोक व्यवहार विच्छिन्न हो जायगा।[४१] ये दोनों ही तर्क आपातरमणीय हैं। भर्तृहरि ने ध्वनि से सर्वथा निरपेक्ष रूप में स्फोट का प्रतिपादन नहीं किया है। अतः केवल प्रत्यायक धूम को शब्द नहीं माना जायगा। स्फोट सिद्धान्त का यह अभिप्राय नहीं है कि जो भाषा जो नहीं जानता हो उसके श्रवण से भी उसे अर्थ बोध हो। ध्वनि के साथ ध्वनि की प्रतीतपदार्थकता है।

जयन्तभट्ट ने स्फोट को प्रत्यक्षगम्य अथवा अनुमेय नहीं माना है। किन्तु यदि ध्वनि से संसृष्ट रूप में ही स्फोट की उपलब्धि होती है, स्फोट को ध्वनि की तरह श्रोत्रग्राह्य रूप में प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। प्रतीति वैचित्र्य भी ध्वनि-वैचित्र्य के कारण होती है, अथवा मणि कृपाण, आदि में एक ही मुख की अनेकधा अभिव्यक्ति की तरह एक ही स्फोट की अनेकधा अभिव्यक्ति संभव है।

शब्द ब्रह्मवाद

प्रतिभातत्व और वाक् तत्व एक ही वस्तु है। और वाक् तत्त्व और ब्रह्म एक ही वस्तु है। भर्तृहरि के अनुसार ब्रह्म आदि-अन्त से रहित है। सब तरह की कल्पनाओं से परे है। सब तरह के भेद और संसर्ग से परे विद्या-अविद्या आदि सभी तरह की शक्तियों से समाविष्ट है। शब्दतत्त्व और ब्रह्म की एकता दिखाने के लिए भर्तृहरि ने श्रुति का आधार अधिक लिया है। अपने मंतव्य की परिपुष्टि में केवल एक तर्क उन्होंने उपस्थित किया है। शब्द ब्रह्म का उपग्राह्य है और उपग्राही है। अतः शब्द को ब्रह्मतत्त्व कहते हैं। शब्द उपग्राह्य इस रूप में है कि शब्द ब्रह्म द्वारा स्वीकृत होता है, वह शब्दस्वभाववाला है। शब्द ही रूप आदि के रूप में विवर्त प्राप्त करता है। विकार का प्रकृति में अन्वय देखा जाता है। रूप आदि विकार हैं, उनकी प्रकृति, भर्तृहरि के अनुसार, शब्द है। रूप आदि में सूक्ष्म शब्द का परिज्ञान होता है, यह तभी संभव है जबकि रूप आदि की प्रकृति शब्द हो। रूप आदि सभी शब्दमय हैं। वे ही ब्रह्म के उपग्राह्य हैं। शब्द ब्रह्म का उपग्राही भी है अर्थात् उसकी प्रतिपत्ति शब्दनिबन्धना है, शब्द द्वारा उसका बोध होता है। इसलिए ब्रह्म शब्द तत्त्व है:

---

४१. स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ६६१

"तत्तु (ब्रह्म) भिन्नरूपाभिमतानामपि विकाराणां प्रकृत्यन्वयित्वाच्छब्दोपग्राह्यतया शब्दोपग्राहितया च शब्दतत्त्वमित्यभिधीयते ।"

—वाक्यपदीय १।१, हरिवृत्ति

अभिप्राय यह है कि वाक्यपदीयकार ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके अनुसार ब्रह्म का स्वरूप शब्दमय है। शब्दस्वरूप होने के कारण ब्रह्म को शब्दतत्त्व कहा जाता है। ब्रह्म को शब्दस्वरूप मानने का मूल आधार 'विकार अपनी प्रकृति से संस्पृष्ट होते हैं' यह सिद्धान्त है। रूप आदि विकारों में शब्दभावना अन्वित रहती है। इसलिए उन सब विकारों की प्रकृति शब्द है। अपने इस मंतव्य के समर्थन में भर्तृहरि ने श्रुतियों का सहारा लिया है। "नामैवेदं रूपत्वेन ववृते" जैसे श्रुति-वाक्य शब्द को प्रकृति और गवादि अर्थ को विकार घोषित करते हैं।

शब्द ब्रह्म से विश्व का विकास

भर्तृहरि विवर्तवाद के आधार पर शब्द से विश्व के विकास का समर्थन करते हैं। उनके मत में विवर्त की परिभाषा निम्नलिखित है :

"एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः ।

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१

मूल तत्त्व एक है। वह कई रूपों में दिखाई पड़ सकता है। परन्तु इस विक्रिया से उसके मूलरूप में कोई भेद नहीं पड़ता। वह ज्यों-का-त्यों रहता है। संसार में अन्य पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के संसर्ग से अपने स्वरूप खोते हुए जान पड़ते हैं। पट हरित, पीत आदि विभिन्न रंगों के संपर्क से हरित पीत आदि विभिन्न रंग का हो जाता है। स्फटिक लाल रंग आदि के साहचर्य से लाल आदि रूप में दिखाई देता है। पर वह मूल तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। केवल भेद के अवभास के कारण एक होता हुआ भी वह अनेक रूप में विभक्त जान पड़ता है। अनेक रूप में उसका अवभास असत्य होता है। भेद के सहारे एक के अनेक रूप में अवभास को विवर्त कहते हैं। भर्तृहरि ने "परिणाम" शब्द का भी विवर्त के अर्थ में प्रयोग किया है। "शब्दस्य परिणामोयम्" (वाक्यपदीय १।१२१) में भी परिणाम शब्द विवर्त-बोधक है जिसे एतद् विश्वं विवर्तते (व्यवर्तत) से स्वयं भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है। कई स्थानों पर हेलाराज ने भी परिणाम को विवर्त के रूप में लेने का अनुरोध किया है :

नेदं सांख्यनयवत् परिणामदर्शनमपि तु विवर्तपक्षः ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय ३, द्रव्यसमुद्देश १५

प्राचीन श्रुति के आधार पर भर्तृहरि ने दो तरह का विवर्त माना है। मूर्ति विवर्त और क्रिया विवर्त। दिक्-शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त मूर्ति विवर्त है। क्रिया-शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त क्रिया-विवर्त है। दूसरे शब्दों में, सिद्ध पदार्थों के लिए मूर्ति-विवर्त और साध्य-पदार्थों के लिए क्रियाविवर्त का व्यवहार किया जाता है। साध्य (क्रिया) और साधन (कारक, सिद्धरूप) के रूप में विभक्त होकर शब्द ब्रह्म का विवर्त होता है :

प्रविभक्तसाध्यसाधनरूपो हि शब्दब्रह्मणो विवर्तः :

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२८, पृ० १२५

महाप्रलय के बाद जबकि सब-कुछ अस्त हो गया रहता है, शब्द ब्रह्म से पुनः सृष्टि का विकास होता है। उस समय शब्द में सम्पूर्ण भाव जगत् संहृतक्रम रूप में रहता है। सभी भावों के एकत्र उपसंहार के कारण उनका अलग-अलग अव-धारण उस समय नहीं होता। विवर्त के कारण विकारों का आभास होने लगता है। सृष्टि के अन्त में प्रलय के समय सभी विकार पुनः उसी शब्द तत्त्व में लीन हो जाते हैं :

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥[४२]

विवर्त का आधार किसी प्राचीन आगम के आधार पर भर्तृहरि ने अविद्याशक्ति को माना है। अविद्याशक्ति की प्रवृत्ति से सिद्ध और साध्य रूप में शब्द से विवर्त होने लगते हैं। हेलाराज ने भी इस मत का समर्थन किया है। अविद्याशक्ति में अनेक तरह के विकार-प्रदर्शन की शक्ति है :

सर्वशक्त्यात्मभूतत्वात् ब्रह्मणः अनेकविकारप्रदर्शनसामर्थ्यलक्षणा अविद्याख्या शक्तिः कार्यभेदादुपचरितनानात्वा समस्तीत्यागमविदः।[४३]

विवर्त की प्रक्रिया दर्शाने के लिए भर्तृहरि ने सत्ता-विवर्त का आश्रय लिया है। पहले कहा जा चुका है कि भर्तृहरि शब्द तत्त्व, सत्ता अथवा महासामान्य को समान समझते हैं। परब्रह्मस्वभावा सत्ता शक्तियों के आश्रय से षड्भावविकारों में परिणत (विवर्तित) हो जाती है। यही साध्यविवर्त है। जब क्रम रूप का संहार—निष्पन्दा-वस्था—अभिप्रेत होती है वही सत्ता सत्त्व (द्रव्य) रूप में प्रकट होती है। यही मूर्त्ति, सिद्ध अथवा साधन विवर्त्त है। सत्ता में ही सर्व शब्द व्यवस्थित हैं। उसी को धात्वर्थ कहते हैं। उसी को प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। त्व, तल् आदि प्रत्यय भी उसी के व्यंजक हैं। वह नित्य है। महान् आत्मा है :

साधनसम्पर्कहेतुकप्रतीयमानरूपापरामर्शे सत्तैव सत्वं द्रव्यमित्युच्यत इति सिद्धसाध्यरूपो द्विधा विवर्तः सन्मात्ररूपस्य परस्य ब्रह्मणः प्रतिपादितः ॥[४४]

पहले वाक्-विचार के प्रसंग में मध्यमा, वैखरी आदि के रूप में वाक् तत्त्व के विवर्त का विवेचन किया जा चुका है। भर्तृहरि के अनुसार पश्यन्ती और शब्द-ब्रह्म एक ही तत्त्व है। और शब्दब्रह्म और ब्रह्म में वे भेद मानते नहीं हैं। केवल विवर्त दशा में, वैखरी रूप में ही उनमें भेद है। पश्यन्ती में सम्पूर्ण भाव अविभक्त रूप में संनिविष्ट रहते हैं और उससे विवर्त द्वारा विश्व का विकास होता है। अतः सब तरह से शब्द ब्रह्म से विश्व के विकास का वाक्यपदीय में प्रतिपादन किया गया है। हेलाराज

---

४२. वाक्यपदीय १।१ हरिवृत्ति में उद्धृत। कुछ लोग इसे भर्तृहरि की ही कारिका मानते हैं।
४३. हेलाराज, वाक्यपदीय ३, जातिसमुद्देश ३६
४४. वही, जातिसमुद्देश ३५

ने इसे स्पष्ट कर दिया है :

संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकात् न भिद्यते। विवर्तदशायां तु वैखर्यात्मना भेदः।[४५]

अविभागदशायां तु पश्यन्त्यभिधानायां वाच्यवाचकभेदानुल्लासान्नाध्यासं विना काचित्। इत्थं च कृत्वा शब्दैकजीवितत्वाद् व्यवहारेऽप्यर्थस्य तद्वियोगात् तद् विवर्तरूपं विश्वं सिद्धम्।[४६]

अद्वैतवाद

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में प्रायः सभी तरह के दार्शनिक विचारों का उल्लेख किया है। उनकी यह शैली है कि वे गम्भीर विचारों के प्रसंग में दार्शनिक प्रवादों का उल्लेख करते हैं और व्याकरणदर्शन के सर्ववेदपारिषद् होने के कारण ऐसी शैली अपनाना सर्वथा उचित था। परन्तु हेलाराज के अनुसार, उनका झुकाव अद्वैतवाद की ही ओर रहा है। कई स्थानों पर हेलाराज ने उनके अपने सिद्धान्त को अद्वैतनय कहा है :

परमार्थदृष्ट्या सर्वपार्षदत्वात् पुनरस्य शास्त्रस्य दर्शनान्तरोपन्यासः। एवं च सर्वत्रैवास्य ग्रंथकारस्याभिप्रायः। पदार्थचर्चाविचारे ब्रह्मदर्शननयेनैव सम्बन्धादिविचारे विनिगमनात्।[४७]

अर्थोविवर्ताश्रयेणाद्वैतनयं स्वमतेन सिद्धान्तयितुमुपक्रमते।[४८]

इसमें सन्देह नहीं कि वाक्यपदीय में अद्वैतविचारपरक तथ्यों की कमी नहीं है। उनका विवर्तवाद अद्वैतवाद का ही पोषक है। 'अद्वये चैव सर्वस्मिन् स्वभावादेकलक्षणे'[४९] जैसे वाक्य स्पष्ट रूप में अद्वैतवाद का अभिधान करते हैं। जब वे कहते हैं "तत्त्व और अतत्त्व में कोई भेद नहीं है"[५०] वे अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करते जान पड़ते हैं। सत्य और असत्य दो रूप मानने से अद्वैतवाद की संगति न बैठेगी।

"एक ही सत्ता सर्व रूप में स्थित है। वही साध्य है। वही साधन है। वही फल है। वही फल का भोक्ता है।"[५१]

"त्रयी के रहस्य को जानने वाले उसी को सत्य मानते हैं जहाँ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन सब अविकल्पित हैं।"[५२] विकल्पपरिघटित सब-कुछ असत्य है। अविकल्प तत्त्व अनादिनिधन ब्रह्म है।

सागर, पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य, दिशाएँ आदि सभी अन्तःकरण तत्त्व की

---

४५. वाक्यपदीय, द्रव्यसमुद्देश ११

४६. वही, सम्बन्धसमुद्देश २

४७. वही, जातिसमुद्देश ३५

४८. वही, संबंध समुद्देश ६१वीं कारिका की अवतरणिका।

४९. वही, संबंध समुद्देश ६४

५०. वही, द्रव्य समुद्देश ७

५१, वही, क्रिया समुद्देश ३५

५२. वही, संबंध समुद्देश ७०

बाह्य अभिव्यक्ति है :

द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरवस्थिताः ।।[५३]

आदि उक्तियां अद्वैतवादपरक हैं। परन्तु भर्तृहरि ने अद्वैत ब्रह्म को शब्द ब्रह्म से अलग रख कर नहीं देखा है। उनका अद्वैत ब्रह्म शब्द अद्वैत ब्रह्म कहा जा सकता है। कुछ विचारकों ने "शब्दाद्वैतवाद" शब्द का प्रयोग भी किया है। हेलाराज ने भी उपर्युक्त कारिका का भावार्थ बताते हुए शब्द ब्रह्म का ही समर्थन किया है :

परमार्थे तु कीदृशोऽन्तर्बहिर्भावः। एकमेव सच्चिन्मयं परं शब्दब्रह्म यथा—तथमवस्थितम्।

इस प्रौढ़ आधार पर भर्तृहरि ने व्याकरण-दर्शन को सुव्यवस्थित किया है। "महाभाष्याब्धिपीयूषच्छटाच्छुरितविग्रह" वाले वाक्यपदीय की यही विशेषता है। उसमें विवेचित प्रातिपदिकार्थ अथवा आख्यातार्थ, पद अथवा वाक्य, शब्द अथवा प्रतिभा सब का अनूठा सौन्दर्य है। गांभीर्य और सौष्ठव की छाप सर्वत्र है। अत्यन्त शील के साथ विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख करते हुए और अपने आगम की रक्षा करते हुए भर्तृहरि ने व्याकरण-दर्शन की मान्यताओं को परिपुष्ट किया है।

व्याकरणदर्शन वाणी का परम रस है, पुण्यतम ज्योति है। मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है। एक शब्द का भी सम्यक् ज्ञान कामधुक् है। शब्दसंस्कार परमात्मा की सिद्धि है। शब्दतत्त्व के अनुशीलन से ब्रह्मामृत की प्राप्ति होती है। संस्कृत के वैयाकरण इन मान्यताओं को सजीव रखते आए हैं और उन्हें सिद्ध करते रहे हैं।

□ □ □

५३. वाक्यपदीय, साधन समुद्देश ४१

चुने संदर्भ-ग्रन्थ तथा निबन्ध

अन्नंभट्ट	महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, २ भाग, मद्रास, १९४८, १९५२
अभिनवगुप्त	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, ३ भाग, श्रीनगर, १९३८—४३
,,	मालिनीविजय वार्तिक, श्रीनगर, १९२१
,,	परात्रिंशिका, श्रीनगर, १९१८
,,	अभिनवभारती (नाट्यविवृति) ४ भाग, बड़ौदा
अय्यर, के० ए० एस०	भर्तृहरि, ए स्टडी आफ वाक्यपदीय इन द लाइट आफ एन्शेन्ट कमेन्ट्रीज, पूना, १९६९
,,	स्फोटसिद्धि का आंग्ल अनुवाद, पूना, १९६६
,,	द प्वाइण्ट आफ व्यू आफ वैयाकरणाज, जरनल आफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, वाल्यूम १८, पार्ट २, १९५१
,,	प्रतिभा ऐज द मीनिंग ऑफ सेन्टेन्स, आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस, १९४०
उम्बेक भट्ट	श्लोकवार्तिकव्याख्या तात्पर्यटीका, मद्रास, १९४०
ऋषिपुत्र परमेश्वर	स्फोटसिद्धिटीका, गोपालिका, मद्रास, १९३१
कमलशील	तत्त्वसंग्रहपंजिका, २ भाग, बड़ौदा १९२६
कर्णकगोमी	प्रमाणवार्तिकटीका, राहुल, सांकृत्यायन संपादित, इलाहाबाद, १९३०
कविराज, गोपीनाथ	डाक्टरिन ऑफ प्रतिभा इन इण्डियन फिलासफी, एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च, वाल्यूम ५
कीलहार्न, एफ०	भर्तृहरि, इण्डियन एण्टीक्वरी, वाल्यूम १२, १८८३
कुमारिल	श्लोकवार्तिक, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १८९८
कृष्णमित्र	वैयाकरणभूषणकारिका टीका (हस्तलेख)

कृष्णमित्र	कुञ्जिका टीका (लघुमंजूषा), बनारस, १६२५
कैयट	महाभाष्यप्रदीप, ५ भाग, निर्णयसागर, बम्बई, १६१७—१६४५।
	—गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस १६३६
कौण्डभट्ट	वैयाकरण भूषण, बम्बई, १६१५
गोकुलनाथ	पदवाक्यरत्नाकर, बनारस
चक्रवर्ती, प्रभातचन्द्र	फिलासफी ग्राफ संस्कृत ग्रामर, कलकत्ता, १६३०
,,	लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन ग्राफ द हिन्दूज, कलकत्ता, १६३३
चटर्जी, क्षितीशचन्द्र	टेकनिकल टर्म्स एण्ड टेकनीक ऑफ संस्कृत ग्रामर, कलकत्ता, १६४८
चन्द्रकीर्ति	प्रसन्नपदा (माध्यमिक कारिका टीका) पीटर्सबर्ग, १६१२
जगदीश भट्टाचार्य	शब्दशक्तिप्रकाशिका, कलकत्ता १६१४
जयन्त भट्ट	न्यायमंजरी, बनारस, १६३६
जयादित्य-वामन	काशिकावृत्ति (बालशास्त्री संपादित) द्वितीयावृत्ति, बनारस, १८६८
जिनेन्द्रबुद्धि	काशिकाविवरणपञ्जिका (न्यास) राजशाही, १६१३—१६२५
,,	प्रमाणसमुच्चयटीका, ग्रड्यार
दुर्गाचार्य	निरुक्त भाष्य, २ भाग, बम्बई, १६४२
धर्मकीर्ति	प्रमाणवार्तिक, पटना; बनारस, १६५६
नागेश भट्ट	बृहच्छब्देन्दुशेखर, ३ भाग, काशी, १६६०
	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा, बनारस, १६२५
	परमलघुमंजूषा, बनारस, १६४६
	महाभाष्यप्रदीपोद्योत, निर्णयसागर १६१७—१६४५; गुरुप्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस, १६३६
	स्फोटवाद, ग्रड्यार, १६४६
पतंजलि	महाभाष्य ३ भाग, कीलहार्न संपादित, बम्बई, १८६२
पाठक, के० बी०	द डेट ग्राफ भर्तृहरि एण्ड कुमारिल, जरनल ग्राफ बंगाल रायल एशियाटिक सोसाइटी, १८६३
पाणिनि	ग्रष्टाध्यायी, बम्बई, सम्वत् १६८५
,,	पाणिनीय शिक्षा, मनमोहन घोष संपादित, कलकत्ता, १६२८
पाण्डेय, रामाज्ञा	व्याकरणदर्शनभूमिका, काशी, १६५४

पाण्डेय, आर० सी०	प्राब्लेम ऑफ मीनिंग इन इण्डियन फिलासफी, दिल्ली, १९६३
पार्थसारथि मिश्र	न्यायरत्नाकर (श्लोकवार्तिकटीका) बनारस
पिषारटि, के० राम	द डाक्टरिन आफ स्फोट, अन्नामलै यूनिवर्सिटी जरनल, वाल्यूम १, पार्ट २
पुण्यराज	वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड की टीका, बनारस, १८८७
पुरुषोत्तमदेव	भाषावृत्ति, राजशाही, १९१८
	ज्ञापकसमुच्चय
	कारकचक्र
	परिभाषावृत्ति
	राजशाही, १९४६
प्रज्ञाकरगुप्त	प्रमाणवार्तिकटीका, पटना
प्रभाचन्द्र	प्रमेय कमलमार्तण्ड, बम्बई, १९४१
प्रभाकर मिश्र	बृहती, ५ भाग, मद्रास, १९३६—१९६७
बिर्दू, मदलीने	स्फोटसिद्धि, फ्रेंच अनुवाद, पाण्डिचेरी, १९५८
बेलवाल्कर, श्रीपदकृष्ण	सिस्टम्स आफ संस्कृतग्रामर, बम्बई, १९१५
भट्टाचार्य, गिरिधर	विभक्त्यर्थनिर्णय, बनारस, १९०२
भट्टाचार्य, गौरीनाथ	ए स्टडी इन द डाइलैक्टिस आफ स्फोट, जरनल आफ द डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स, कलकत्ता, १९३७
भट्टाचार्य, विष्णुपद	स्टडी इन लैंग्वेज एण्ड मीनिंग, कलकत्ता, १९६२
भट्टोजिदीक्षित	शब्दकौस्तुभ, बनारस, १९२७
भरत मिश्र	स्फोटसिद्धि, त्रिवेन्द्रुम, १९२७
भर्तृहरि	महाभाष्य त्रिपादी (दीपिका) श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा की गई प्रतिलिपि ।
,,	महाभाष्यटीका (त्रिपादी), डॉ० वी० स्वामीनाथन् द्वारा संपादित, बनारस, १९६५
,,	महाभाष्य दीपिका (त्रिपादी) श्री के० वी० अभ्यंकर तथा आचार्य वी० पी० लिमये द्वारा संपादित, पूना, १९६४—७१
,,	वाक्यपदीय काण्ड १,२ (प्रथम काण्ड पर संक्षिप्त भर्तृहरिवृत्ति तथा द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की टीका सहित) मानवल्ली गंगाधर शास्त्री संपादित, बनारस, १८८७
,,	वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड श्री द्रव्येश झा प्रणीत प्रत्येकार्थ प्रकाशिका सहित, वृन्दावन, १९२५

भर्तृहरि — वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्री सूर्यनारायण शुक्ल विरचित भावप्रदीप व्याख्यान सहित, बनारस, १९३७

,, — वाक्यपदीय, स्वोपज्ञटीका तथा वृषभटीका सहित, प्रथमकाण्ड, श्री चारुदेव शास्त्री संपादित, लाहौर, १९३४

,, — वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड (१८४ कारिका तक) स्वोपज्ञवृत्ति तथा पुण्यराज की टीका सहित, श्री चारुदेव शास्त्री संपादित, लाहौर, १९३९

,, — वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड स्वोपज्ञवृत्ति सहित, हस्तलेख, ओरियण्टल मनुस्क्रीप्ट लाइब्रेरी, मद्रास

,, — वाक्यपदीय, प्रथम काण्ड, भर्तृहरिवृत्ति तथा वृषभदेव टीका सहित, प्रोफेसर के० ए० एस० अय्यर संपादित, पूना १९६६

,, — वाक्यपदीय प्रथम तथा द्वितीयकाण्ड, पं० रघुनाथ शास्त्री विरचित अम्बाकर्तृ सहित, काशी १९६३—१९६९

,, — वाक्यपदीय तृतीय काण्ड, प्रकीर्णक प्रकाश सहित, बनारस (चौखम्बा), १९०५—१९३५

,, — वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड, भाग १ (साधन-लिङ्गसमुद्देश) हेलाराज की टीका सहित, श्री साम्बशिव शास्त्री संपादित, त्रिवेन्द्रुम, १९३५

,, — वाक्यपदीय, तृतीयकाण्ड, भाग २ (वृत्तिसमुद्देश), रवि वर्मा द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रुम, १९४२

,, — वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड भाग १, हेलाराज की टीका सहित, प्रो० के० ए० एस० अय्यर द्वारा संपादित, पूना, १९६३

,, — वाक्यपदीय श्री के० वी० अभ्यंकर तथा आचार्य वी० पी० लिमये द्वारा संपादित, पूना १९६५

,, — वाक्यपदीय सवृत्ति प्रथम काण्ड, प्रो० के० ए० एस० अय्यर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित, पूना, १९६५

,, — वाक्यपदीय, काण्ड १-२, डॉ० के० राघवन् पिल्ले द्वारा अंग्रेजी में अनूदित, दिल्ली, १९७१

भोज — शृंगार प्रकाश ३ भाग, मैसूर १९५५—६९

मण्डन मिश्र — स्फोटसिद्धि, मद्रास, १९३१

,, — भावनाविवेक, काशी, १९२२—२३

मल्लवादि क्षमाश्रमण — द्वादशारनयचक्र, ४ भाग, अहमदावाद

,, — द्वादशारनयचक्र, भाग १, मुनि जम्बूविजय संपादित,

भावनगर, १९६६
माधवाचार्य — सर्वदर्शनसंग्रह, बम्बई, संवत् १९८२
मुकुलभट्ट — अभिधावृत्तिमात्रिका, बम्बई, १९१६
मीमांसक युधिष्ठिर — संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, २ भाग, अजमेर, विक्रम संवत् २०२०, २०२५
मौनी श्रीकृष्णभट्ट — स्फोटचन्द्रिका, बम्बई, १९१३
,, — लघुविभक्त्यर्थ निर्णय, बम्बई, १९१५
,, — वृत्तिदीपिका, बनारस, १९३०
यास्क — निरुक्त, बम्बई, १९१२
रघुनाथ — लघुभाष्य, बम्बई
राघवन्, वी० — भोजाज़ शृंगार प्रकाश, मद्रास, १९६३
राज, के० कुञ्जुनी — इण्डियन थियरीज आफ मीनिंग, अड्यार, १९६३
राज, सी० कुन्हन — भर्तृहरि, एस० कृष्णस्वामी अय्यंगर कामेमोरेशन वाल्यूम
वाचस्पति मिश्र — तत्त्वबिन्दु, काशी
वादिदेवसूरि — स्याद्वादरत्नाकर, अहमदावाद, वीर सम्वत् २४५३
विट्ठल — प्रक्रियाप्रसाद, २ भाग, बम्बई, १९२५
व्यास — व्यासभाष्य (पातंजल योगसूत्र) पूना, १९१९
शबरस्वामी — शाबरभाष्य, काशी
शर्मा के० एम० — ग्लीनिंग्स फ्राम द कमेण्टरीज आन वाक्यपदीय, एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च, १९४२
शान्तरक्षित — तत्त्वसंग्रह, २ भाग, बड़ौदा १९२६
शालिकनाथ — प्रकरणपञ्चिका, बनारस १९०३
शास्त्री, गौरीनाथ — फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग, कलकत्ता, १९५९
शास्त्री, चारुदेव — भर्तृहरि, ए क्रिटिकल स्टडी, आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस, १९३०
शास्त्री, एस० सूर्यनारायण — वाचस्पतिज क्रिटिसिज्म आफ स्फोटवाद, जरनल आफ ओरियंटल रिसर्च, मद्रास, वाल्यूम ६, १९३२
,, — वर्ड्स एण्ड सेन्स, एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च, १९४२
शेष नारायण — सूक्तिरत्नाकर (महाभाष्य टीका) हस्तलेख
शेष श्रीकृष्ण — पदचन्द्रिका विवरण (हस्तलेख)
,, — प्रक्रिया प्रकाश (हस्तलेख)
शेष श्रीकृष्ण — स्फोटतत्त्व निरूपण, बम्बई, १९१३
सीरदेव — परिभाषा वृत्ति, बनारस, १८८७

सुचरित मिश्र	काशिका (श्लोकवार्तिकटीका) ३ भाग, त्रिवेन्द्रम, १९२७—४३
,,	काशिका (हस्तलेख)
सोमनाथ	शिवदृष्टि (उत्पल की टीका सहित) श्रीनगर, १९३४
स्कन्दस्वामी	निरुक्तभाष्य, लाहौर, १९३०
हरदत्त	पदमंजरी, २ भाग, काशी, १८९८
हरिराम	काशिका (वैयाकरणभूषण की टीका) बम्बई, १९१५
हीमन, बेथी	स्फोट एण्ड अर्थ के० बी० पाठक कामेमोरेशन वाल्यूम
,,	वाक् बिफोर भर्तृहरि, इण्डियन फिलासाफिकल कान्फ्रेंस, अड्यार
,,	डाक्टरिन आफ स्फोट, गंगानाथ झा रिसर्च जरनल, इलाहाबाद, १९४८
हेलाराज	प्रकीर्णक प्रकाश

अनुक्रमणिका

अकबर ३१
अकर्मक १८७
अकर्मक क्रिया १८६
अकालक (व्याकरण) २१०
अखण्ड वाक्यवाद ३४७
अखण्डस्फोट ४६३
अक्षरसमाम्नाय १०७
अग्रवाल, वासुदेवशरण १९, ५४
अघोषा ४१
अङ्गाङ्गिभाव ३८०
अचलोपाध्याय ३२
अजहत्स्वार्थावृत्ति ४४०
अणुशब्दत्वापत्तिवाद ७७
अतिशय २०१
अतिदेश ३९१,३९३
अतिदेशिक के पाँच प्रकार ३९४
अतीत २२७
अत्यन्ताभाव ४४८
अथर्ववेद २०६
अथर्ववेद सायण भाष्य ४७२ (टिप्प०)
अदृष्टनिमित्ताप्रतिभा, ३७५
अदृष्टाभिधानपक्ष १४५
अद्यतन-अनद्यतनभूत २३७
अद्यतनानद्यतनभूत २३४
अद्यतनभूत २३४, २३५
अद्वयसिद्धि २८
अद्वैतदर्शन १४८
अद्वैतदर्शन के अनुसार काल २०९
अद्वैतवाद २८३, २८४, ४८२
अधिकरण १२, २९५
अधिकार ३७९, ३८०,३९४,३९५
अधिकारी ३७८
अध्यारोप २६९
अध्यारोप और अध्यवसाय में अन्तर ११२
अध्यारोपनियम ३४०
अध्यारोपलक्षणविपर्यास ११८
अध्यारोपसिद्धान्त ३६४
अध्यारोपित प्रेषणपक्ष २५३
अध्यास ९९, १५३
अध्यासलक्षण संबंध ११०, ३७१
अध्यास संबन्ध ९७, ४२६
अध्याहार ३८०, ४०६, ४०७
अध्याहार और वाक्यशेष मे भेद ४०८
अन्नंभट्ट ५२, ९०, ११३, ११४
अनद्यतनभूत २३४, २३६
अनपायिनी शक्ति ३३५
अनवयवपक्ष ३४७
अनागत २२७
अनागन्तुकार्थत्व ३५

अनिराकर्तृक २९३
अनिर्ज्ञातप्रश्न ३८०, ४०६
अनुकरणशब्द ६०
अनुकरणशब्द और अपशब्द में भेद ६१
अनुकरणशब्द और आम्नायशब्द में भेद ६०
अनुकरणशब्द में और संज्ञाशब्द में भेद १५१
अनुकार ३४,३५
अनुगताकार प्रत्यय १४६
अनुगुणसंस्कार भावना बीज ७४
अनुतंत्र वार्तिक ४६९ (टिप्प०)
अनुनिष्पादी ५५, ९४
अनुपदकार, ३६३
अनुबन्ध ६३,१०७
अनुप्रदान ७९
अनुमन्तृक २९३
अनुयोगव्यवच्छेद ३७
अनुवाद ३३७, ३५४, ३५५, ४०६, ४२५
अनुवृत्ति १०७
अनुसंहृति वाक्यपक्ष ३५४
अनेकशब्दवाद १११
अनेकाख्यात ३६०
अन्त्यध्वनि ७४
अन्त्यपदवाक्यपक्ष ३५६
अन्त्यपदवाक्यवाद ३५६
अन्यव्याकरण के सूत्र २८८
अन्यावृत्ति ३७०
अन्योन्याभाव ४४८
अन्वयव्यतिरेक १२९
अन्ववसर्ग ८६
अन्वाख्येय पदार्थ १२७ १३१
अन्वाचय ४४३, ४४४
अन्विता विधानवाद ३३४
अन्विताभिधानवाद ३३८, ३४०, ३५५, ३५७, ३६८ (टिप्प०), ३७१ ४०६, ४११, ४१३, ४१५, ४१८
अपभ्रंश ११, ४०, ५१, ५२, ५३, ६१, १३३
अपरसामान्य १७१
अपवाद १२, ३८६, ३८७
अपवाद सिद्धान्त, ३६४
अपशब्द ५४
अपादान २९३
अपाय ९१
अपायिनी शक्ति ३५३
अपूर्व ९४, २८७
अपेक्षित विषय २९३
अपोद्धार ८०, १३९, २७४, ३६५, ३८०, ४०६
अपोद्धार पदार्थ १२७, १२८, १३३
अपोद्धार पद्धति १३९, ३४५, ३५१, ३६६
अपोह २८३
अप्पय दीक्षित ४५६
अप्रधानवाक्य ३६१
अप्रयोजक ३७९, ४०१
अप्राप्तविभाषा ४०५
अप्राप्त्यनुमान ३८५
अभयनन्दी ३१८
अभाव १५४, १७१
अभाव में सामान्य १७०
अभाववादी संप्रदाय ४६५
अभिजल्प ३७, ९५, ३५३
अभिजल्प दर्शन १५
अभिजल्प निरूपण ३७
अभिजल्प शब्द ९६
अभिधर्मदीप ३५८
अभिधानियम ९३

अभिधावृत्तिमात्रिका २६, १२४, १२५
अभिनवगुप्त २१, २४,२६, २७, ३८, ४१, ४३, ४५, ४६, ४८, ४६, ५०, ७६, ८०, ८१,१५६,१७६ (टिप्प०), २१८, २१६, २२२, २६१, ३६३, ३७२, ४७०
अभिनवगुप्त, ऐन हिस्टारिकल ऐण्ड फिलासफिकल स्टडी २७ (टिप्प०), २२०
अभिनवभारती ४६
अभिमन्यु १६
अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यंजनप्रकर्ष १४२, १४३
अभिव्यापक २६५
अभिसंहित ३६७
अभिहितान्वयवाद ३३४, ३३८, ३४१, ३६२, ३६८, ३७१, ४११, ४१२, ४१८
अभीक्ष्ण्य और क्रिया सभिहार १६७
अभेद ३७६
अभेदैकत्व संख्या २७८, ३७०
अभेदोपचार ३२८
अभ्यनुज्ञाशक्ति २१५, २१६, २१८
अभ्यावृत्ति १६७
अभ्यासनिमित्ता प्रतिभा ३७४
अमरकोश २०६ (टिप्प०), ३५६
अय्यर, के० एस० ए० ३२
अर्थ ११, ३७८, ४२७
अर्थ अपोद्धार १२६
अर्थ अवभास १५२
अर्थ का अर्थान्तर में अध्यारोप, १००
अर्थ के प्रवृत्तितत्त्व, ६७
अर्थक्रम १४२, ३६६
अर्थजाति १५३
अर्थनियम २७७
अर्थनियमवाद १३
अर्थपरिवर्तन १००
अर्थप्रकरणशब्दान्तरसन्निधान पक्ष, ११०
अर्थप्रकाशनशक्ति ८६
अर्थभेद से शब्दभेद १०६
अर्थवाद ३७७, ४०६
अर्थविज्ञानमय ३६५
अर्थसिद्धान्त ११
अर्थान्वयी ४५८
अर्थाभेद ३७६, ३६४
अर्थित्व ३७६, ३६४
अर्थी ३७८
अर्थोपचार १०६, ११०
अलंकार सर्वस्व २७,३८
अल्पशब्द और महत् शब्द ८७
अवक्षेपण १५२
अवधारण ३६३
अवधि ३८०,४०६, ४०८
अवन्ती १७
अवयवविधान ४४१
अवयवावयवीभाव १२
अवान्तर वाक्य ३५१, ३६१
अविचालि ६१
अविद्या ४७५
अविद्याशक्ति ४८१
अविनाभाव १४६
अविरविकन्याय ६१
अविवक्षित क्रम ३७६, ४००
अविवक्षितभेद ३७६,४०४
अविवक्षितवाच्यलक्षणा ११८
अविवक्षा ३७६
अविवक्षा और परार्थ्य ११६
अवेस्ता २०५ (टिप्प०)

अव्यपवर्ग १४६
अव्यय १३३, २९९, ३२५
अव्ययीभाव समास ४५४
अव्युत्पन्न १०१
अपशब्दास्मृति ६३
अष्टाध्यायी १५६,२५८
असंग १७
असत्ख्यातिरूप ३६७
असंभव ३८४
असंभवनियम ४१९
असाधना ३५
आकांक्षा ३८७
आकारनिरूपण ३७
आकृति ३७१
आकृति और जाति में भेद १५०
आकृतिपक्ष १४७, १४८
आख्यात १०३, १३३, १३४, १३९, १५६, १५७, १५८
आख्यातवाद ३५७
आख्यातशब्द २०२, ३३४ ,३३६
आख्यातशब्द वाक्य ४२५
आख्यात शब्दवाक्यवाद ३३५, ३३७
आगमसंग्रह १४
आत्मकामत्व ३५
आत्मतत्त्व ३५
आत्मनेपद २४७, २४९, २५०, २५१, २५४, २५५, २५७
आत्मनेभाष २५७
आत्मप्रकाशनशक्ति ८९
आत्मा-अद्वैतदर्शन २६१
आदिपदवाद ३५४
आदेश १०, १२,
आद्यपद ३३४
आद्यपदवाद ३५७, ३६८
आन्तरवाक्यार्थ ३६४
आन्तरशब्द ९६, ३६४, ४७०
आन्तरस्फोट ३५३, ४६३,
आनन्दवर्धन २६, १२१, १२२, ४६५ (टिप्प०)
आपिशल व्याकरण ३९३
आपिशलीयशिक्षा ७५
आभ्यन्तरस्फोट ४७०
आम्नायशब्द ६०
आरादुपकारक ४०२
आराद् विशेषक ३७९, ४०२
आर्यभटीयभाष्य १६
आर्यावर्त ४३०
आवाप-उद्धारपद्धति ३९५, ३९६
आवाप-उद्वाप पद्धति ४१२
आविष्ट लिङ्गता ३२३
आवृत्ति ३२९, ३८०, ३८३
आवृत्तिभेद ३८३
आवृत्तिसंख्यान ३८३
आशंसा २३३
आस्थितकर्म २९२
इच्छाशक्ति ४६, ४७
इण्डियन एण्टीक्वेरी २३ (टिप्प०)
इण्ट्रोडक्शन टु वैशेषिक फिलासफी एकार्डिंग टु दशपदार्थी शास्त्र १५
इतरेतरयोग ४४३, ४४४
इत्सिंग १५, १७, २०, २२, २३, २८
इत्सिंग की भारतयात्रा १५
इन्दु २९४
इन्दुमिश्र २९४
इन्दुराज २७, २८
इरानी आर्य २०५ (टिप्प०)
इष्टि १२
इष्टि (परिभाषा) ४४१
ईप्सित २८९
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी २४, ३७ (टिप्प०), ३८, ४१, ४५, ९१ (टिप्प), १७७ (टिप्प), २१९,

२६१, ३७२, ४७० (टिप्प०)
उत्क्षेपण १५२
उत्तमपुरुष २६१,२२६
उत्तररामचरित ३७४,३६१ (टिप्प०)
उत्पल २२,४२,४३,४७,४६,४७४
उत्सर्ग १२,३८६,३८७
उत्सर्गनियम ३८४
उद्भट ४१०
उद्भटवृत्ति ४५६ (टिप्प०)
उपग्रह १५८, २४५
उपग्रह की परिभाषा २४५
उपचार १२०,१२१
उपचार कल्पना १२०,३८०,४०६, ४०७
उपचारवृत्ति १२०
उपचारसत्ता ६६
उपजन ६१
उपनिषद् ४३, २०६
उपमान १०
उपलक्षण १५५
उपलिप्सा १४२, १४३
उपवर्ष ४६४
उपसंख्यान ३६३
उपसर्ग ११, १०३, १३३, १३४, १३६
उपसर्ग और निपात में भेद १३४
उपस्कारार्थ ३६७
उपांशु ३६, ४५, ३४६
उपात्तविषय २६३
उपादान ८२
उपादान शब्द ८३
उपाध्याय, अम्बिकाप्रसाद ३२
उभयविभाषा ४०५
उम्बेक भट्ट ३०
ऊह ३७६,३८०,३८७,३८८
ऊह मंत्र १०६
ऋक्संहिता २०५ (टिप्प०)
ऋग्वेद ४३, १०३, १३४,२०६,२६२ २६३ (टिप्प०)
ऋषिपुत्रपरमेश्वर ८६, ३४६
एकत्वदर्शन १०६, १०७, १०८
एकवचन २६५, २७३, २७६
एकत्ववादी १०६
एकत्ववादीदर्शन १०५
एकशब्दवाद १११
एकाख्यात ३६०
एकान्तराख्यात ३६०
एकार्थीभाव ३६५, ४३८
एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च २६ (टिप्प०)
ऐन हिस्टारिकल एण्ड फिलासफीकल स्टडी आफ अभिनवगुप्त २२०
औचिती ४२७,४२६
औचित्य ४२७
औदुम्बरायण १६,१३६
औदुम्बरायणदर्शन १३६
कणाद दर्शन १६८, १६६, २६६, २३३
कदम्बकोरकन्याय ६७
कनकप्रतिवर्तकन्याय २१८,२२३
कमलशील ३०, ६५
कम्प ७३
कम्बोज ४३०
करण २८६,२६२, ३७६
कर्णकगोमी २४, २६, १२५, ३४६, ३५८
कर्ताकारक २८८
कर्ता की प्रधानता २८६
कर्तृसंज्ञा २८६
कर्तृस्थक्रियाविषयक २६५
कर्तृस्थभावक १८४
कर्म २८६, २६०

कर्मप्रवचनीय ११, १०३,१३३,१३४, १३५,१३६,१३७,१३८
कर्मवाक्यार्थवाद २०३,२०४
कर्मव्यतिहार २४७
कर्मस्थक्रियाविषयक २९५
कर्मस्थ भावक १८४
कलाटीका ३२
कल्लिनाथ २३, ३०२ (टिप्प०)
कल्हण १६
कश्मीर शैवागम २१८
काण्ड ३७८
काण्डक्रम १४२, ३९९
कातंत्रपरिशिष्ट २५८
कात्यायन १२, १३, ६४, ९०, १०५, १०७, १४६, १४७, १५०, १५६, २३९, २४२, २४५ २५७, २५९, २९८, ३०६, ३१३, ३३०, ३३१, ३६०, ३८६, ४३८, ४४१, ४५३, ४५५
कारकचक्र ३१, २९१, २९६
कारकविचार २८१-२९७
कारकसम्बन्धोद्योत ३२
कार्यकारण भाव ९९, १२७
कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभाव पदार्थ १३१
कार्यकारणभाव सम्बन्ध ९७, ४२६
कार्यदर्शन १०२
कार्यपरिणाम २९१
कार्यातिदेश ३९२, ३९३
काव्यप्रकाश १२१ (टिप्प०), २९३ (टिप्प०), ४२९
काव्यप्रकाश की टीका ४२९ (टिप्प०)
काव्यप्रकाश के टीकाकार ४२७
काव्यप्रकाशप्रदीप ४३० (टिप्प०)
काव्यमीमांसा ३९०
काव्यमीमांसा ४१० (टिप्प०)
काव्यलक्षणटीका ३० (टिप्पणी)
काव्यालंकार १९, ३२६, ४७७
काल १५८
काल अनुमानगम्य २२४
कालप्रत्यक्षगम्य २२४
कालभेदविचार २२५
काल विचार २०५-२४४
कालविभाग १०
कालवृत्तियों का आतममात्रा में असमावेश ३५
काल व्यवधान १०८
कालशक्ति १५४, ३५१
कालाख्य स्वातंत्र्यशक्ति १७६, २१४
कालिदास ५१, १२६, ३२९, ३७१, ३८१, ३९९, ४०६
काले, हरिराम ३२
काशकृत्स्न सूत्र १५६, १५९
काशकृत्स्न व्याकरण १५९, ३९३
काशिकावृत्ति १८, १९, २५, १२०, १९५, १९८, २३१, २७४(टिप्प०), २९२, ३१७, ३१८, ३८७, ४०७, ४३४ (टिप्प०), ४४३, ४५४
काशिका (वैयाकरणभूषण की टीका) ३२
काशिका (श्लोकवार्तिक की टीका) ४१
काशिकाकार ३०, १३५ (टिप्प०), २७४, ३१५, ३२०
काशिकाविवरणपञ्जिका (द्रष्टव्य न्यास) १५९, २४६ (टिप्प०), ३८७ (टिप्प०)
किरातार्जुनीय १९
किलहार्न, एफ० २३
कुञ्जिका ३२
कुन्तक २६
कुमारगुप्त तृतीय २०

कुमारसंभव १२७, ३८१, ४०६ (टिप्प०)
कुमारिल (भट्ट) १८, २५, २९, ३०, ६४, १२०, १४०, ३३१, ३३४, ३३८, ३४१, ३५०, ३५१, ३५२, ३५६, ३७६, ४२५, ४७७, ४७८, ४७९
कुरुजांगल २१२
कुवलयानन्द की चन्द्रिका टीका १२६
कूटस्थ ९१
कृदभिहितभाव २६७
कृष्णमित्र ३२, ४३
कैयट २२, २७, ३०, ३१, ५७, ५८, ६०, ६१, ६४, ६९, ७८, ८६, ९०, ९१, १००, १०१, १०२, ११४, ११५, ११७, १२४, १२५, १३२, १३३, १३६, १४१, १४४, १४६, १४८, १४९, १५५, १५८, १६७, १७०, १७९, १८२, १८६, १९५, २०८, २१०, २३४, २३५, २३७, २४८, २५७, २७९, २८६, २८७, २८९, २९०, २९४, २९६, ३०१, ३०३, ३०४, ३०५, ३०७, ३१०, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३२०, ३२२, ३२९, ३३१, ३३३, ३३९, ३६१, ३६२, ३६९, ३८५ (टिप्प०), ३८६ (टिप्प०) ३८७ (टिप्प०), ३९३, ४११ (टिप्प०), ४२८, ४३१, ४३२ (टिप्प०), ४४१, ४४३, ४४७, ४४८, ४५२, ४६९
कौटिल्य अर्थशास्त्र ८९, ३५९
कौण्डभट्ट ३२, २९७, ३१७, ४४७, ४५१ (टिप्प०)
क्रम ४०, १४२, ३३४, ३५२, ३७८
क्रम के आठ प्रकार ३९८
क्रमबलाबल ३५२ ३७९, ४००
क्रमशक्ति ३५, ४०, ८४, २१५, २१६, ३५१
क्रमसंभेद ३८०
क्रमसिद्धान्त ३५१
क्रमाख्या शक्ति १५४
क्रिया १५८, १६४, १६५, १६८, २४८, २६४
क्रिया अनित्य १६३
क्रिया अनुमेय १६०
क्रियाक्षण १६२
क्रिया जाति १७०
क्रियातिपत्ति १०, २४०, २४१
क्रियाभ्यावृत्ति १९७
क्रिया एक-अनेक २००
क्रिया और अव्यय १९६
क्रिया और उपसर्ग १९०
क्रिया और रूढिशब्द १९६
क्रिया का सकर्मक-अकर्मक रूप १८५
क्रिया का स्वरूप १६४—१६९
क्रिया और व्यापार में भेद १६३
क्रिया की प्रत्येकपरिसमाप्ति १९८
क्रिया की समुदायपरिसमाप्ति १९८
क्रियान्तरव्युदास ३७९, ३८०, ३९८
क्रिया में जातिव्यक्तिभाव ३७०
क्रियाविचार १५९—२०४
क्रियाविवेक २८
क्रियाविवर्त १७६, २९५, ४८०
क्रियाविशेषजनितत्व १३७
क्रियाविशेषण २०२, ३३२
क्रिया वाक्यार्थ रूप में ३६८
क्रिया वाक्यार्थवाद २०३, २०४, ३६६
क्रिया व्यतिहार २४७, २४८
क्रियाशक्ति ४६
क्रियाशब्द १२३

क्रिया समभिहार १६८
खण्डनखण्डखाद्य २६
क्षीरस्वामी २०६
क्षेमराज ४१
गणकतरंगिणी २० (टिप्प०)
गणपाठ ३६०
गणरत्नमहोदधि २२ (टिप्प०), ३१८ (टिप्प०), ४५८
गार्ग्य १३४
गिरिधर भट्टाचार्य ३२
गुण २६६, २७१, ४४५, ४५०, ४५२
गुणकल्पना १२०, ४०७
गुणपदार्थ १४
गुणप्रधानताविपर्यय ११६
गुणप्रधानभावाविवक्षा ३७६
गुणवाद ३०८
गुणवृत्ति १२०
गुणशब्द १२३
गुरु ३८०, ४०४
गुरुप्रक्रमा १४४, ३४५, ४०४
गुरुमंजूषा ३२
गोकुलनाथ ३२
गोनर्दीय ६३
गोपथब्राह्मण १५६
गोपीनाथ कविराज ३२
गोविन्द ठक्कुर ४३२
गौण ११८, ३७६, ४०४
गौण अर्थ ११०
गौणमुख्यन्याय २६३
गौण-मुख्यभाव ११०
गौण-मुख्य विचार १०६-१२२
गौणीवृत्ति १२०, १२१, ३८८
ग्रन्थिक २३३
घटप्रदीपन्याय १२१
घोषिणी ४१
चक्रवर्ती प्रभातचन्द्र ३२
चतुष्क प्रातिपदिकार्थ १४१
चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति १२४
चन्द्रकीर्ति १५७,१६२ (टिप्प०) २६२
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य १८
चन्द्रगोमी ४५६
चन्द्राचार्य १६
चरणनिमित्ता प्रतिभा ३७३, ३७४
चरितार्थता ३८४
चिति १५६
चितितत्त्व ३४
चित्रबुद्धि ८६, ३४५
छप्रत्यय पर विचार ४५५
जगदीश भट्टाचार्य ३२
जयन्त भट्ट ३०, ३८, ३४६, ४७७
जयरथ ३८
जयादित्य ३०, ११६ (टिप्पणी) १२०, ३१७, ३८७, ४०७
जरनल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी ५४
जराख्या शक्ति २१५, २१६
जहत्स्वार्थावृत्ति ४४०
जातनिर्घोषा ४१
जाति १४२, १४४
जाति में संख्या २८०
जातिस्फोट ६७, २६४, ३४४
जातिक्रियावाद १६६
जातिपदार्थदर्शन ३२१
जातिपदार्थपक्ष १४४, ३२३
जातिवाक्यवाद ३४४
जातिशब्द १२३
जिनेन्द्रबुद्धि (द्रष्टव्य न्यासकार) १६, ७७, १२३, १४०, २४६, ३१५, ४२८
जैनदर्शन ७७
जैनेन्द्रमहावृत्ति ३१८
जैमिनि ६१, ३३१, ३३२, ३७७, ४०१

ज्योतिष में काल २१०
ज्ञानशक्ति ४६
ज्ञानशब्दत्वापत्तिवाद ७७, ७८, २९४
ज्ञापकसमुच्चय ६५
झलकीकर वामन ४२९ (टिप्पणी)
झा गंगानाथ १८
तत्त्वकौमुदी, २०८ (टिप्पणी)
तत्त्वबोधिनीकार, १२६
तत्त्वबिन्दु, २०, ३०, ३४७
तत्त्वसंग्रह २८, ४७७ (टिप्पणी)
तत्स्थाक्रिया १८४
तत्स्थाक्रिया १८५
तद्भावापत्ति ३८०, ४०६, ४०७
तंत्र ३७८, ३७९, ३८०, ३८२, ३८३, ४०१
तंत्रिणी ३८२
तंत्रवार्तिक ३०, १२१ (टिप्पणी)
तात्पर्य शक्ति ४०९, ४१८
तात्पर्यार्थ ३६९
ताच्छीलिक शब्द १९७
तादात्म्यातिदेश ३९२, ४३७
ताद्रूप्य ११९
तिङन्तार्थ का उपमानोपमेयभाव १८०
तिङभिहितभाव २६७
तिङभिहितभाव और कृदभिहितभाव में भेद १७८
तिरोभूतक्रियापद २९६
तिरोभूतक्रियापद १३७
तैत्तिरीय संहिता ३८८ (टिप्पणी), ३८९ (टिप्पणी), ३९० (टिप्पणी), ४०६ (टिप्पणी)
त्रयीशब्दप्रवृत्ति १२३, १२५
त्रिकप्रातिपदिकार्थ १४०
त्रिकप्रातिपदिकार्थपक्ष १४०, २७७
त्रिपाठी रामसेवक ३२
थाल् और जातीयर प्रत्यय में भेद ४५४ (टिप्पणी)
दशधा-अर्थवत्ता ११
दिक् १५९, २४३, २४४
दिक् और काल २४३
दिङ्नाग १९
दीपवर्तिकान्याय २२६
दुर्गाचार्य १५६, १९५
दुर्गाचार्यवृत्ति १३४ (टिप्पणी)
दुर्घटवृत्ति २७
दृष्टापचार ४३२
दृष्टाभिधानपक्ष १४५
देवसूरि ६८, ६९
देशी शब्द, ५२
द्रव्य १४१, १४२, १५५, २८१, २८२, २८५, ४५०, ४४५, ४५२
द्रव्यपदार्थ १४, ९१
द्रव्यपदार्थ दर्शन ३२१
द्रव्यवाद ११
द्रव्यव्यतिरिक्तशक्तिदर्शन २८१, २८२
द्रव्यअव्यतिरिक्तशक्तिदर्शन २८१, २८४
द्रव्यशब्द १२३
द्रुतावृत्ति ७०
द्वादशारनयचक्र १५, १७, ९६, १०३, ३४५, ३४७, ३५४(टिप्पणी), ३५६ (टिप्पणी), ३५७(टिप्पणी), ३५८, ४७५, ४७६ (टिप्पणी)
द्विगतवाक्य ३६१
द्विवचन २६५, २६६, २७६
द्विवेदी सुधाकर २० (टिप्पणी)
द्विष्ट ३६२
द्विष्ट शब्द ४०८
धर्मकीर्ति १७, १८, २४, २६, २९, ३०, ८६, ९१, १५२, २७७, ३४७, ३४८, ३४९, ३५४, ४४८, ४७७
धर्मपाल, १५, २८, २९, २९१

धर्मपरिणाम २६१
ध्यानग्रहकार १६, ४५८, ४५९ (टिप्पणी)
ध्वनि ६६, ७३, १०४
ध्वनि और नाद ७३
ध्वनि (अभिव्यंजक) ७६
ध्वनि विचार ६६-८२
ध्वनि सिद्धान्त १२१
ध्वन्यालोक १२२ (टिप्पणी)
ध्वन्यालोकलोचन २१ (टिप्पणी), ११६, १२१ (टिप्पणी), १३४ (टिप्पणी), १५६ (टिप्पणी)
नञर्थ ४४८
नञ् विचार ४४६-४५०
नञ् समास ३२८
नरसिंह ४२६
नागार्जुन १५५
नागेश २२, ३२, ४२, ५०, ५४, ६०, ६८, ६०, ११४, १२५, १४१, १४६, १६२, १६८ (टिप्पणी), १८७, २१३, २१४, २२२, २६७, २६८ (टिप्पणी), ४११, ४३५, ४३७, ४४८, ४५६, ४४६ (टिप्पणी), ३१०, ३१७, ३२०, ३२२, ३२४, ३३१ (टिप्पणी), ३४० (टिप्पणी)
नाद ४७, ७३, ७४, ७६, ४७३, ४७४
नाद (ध्वनि) और स्फोट, ७४
नाद और स्फोट में अंतर ७४
नादपरमाणु ८४
नानात्वदर्शन १०७
नानात्ववादी १०५, १०७
नानात्ववादी दर्शन १०४
नान्तरीयक ५५, ११५, ११६, १४६, ३८०, ३६७, ४०१
नाम १०३, १३३, १३४, १३६
नालिकायंत्र २२१
निघात ३३३
नित्य १६२
निपात ११, १०३, १३३, १३४, १३६, ३३२, ३६१
निपातन १२, ६३
निमित्तातिदेश ३६२
नियम १२, ३३७, ३५४, ३५५, ३८०, ४०५, ४२५
नियममात्रबाध ४२०
नियम सिद्धान्त ३६४
नियोगवाक्यार्थ ३७०
नियोगवाक्यार्थवाद ३६६
निरवयववर्ण ७३
निरवयववर्णपक्ष ७६
निरवयव वाक्य ३४७
निरवयव वाक्यवाद ३४८
निरवयव वाक्यवाद ३४४
निरवयव वाक्यस्फोट ८०
निरवयवशब्दवाक्यवाद ३५६
निरवयवस्फोट ४६३
निराकांक्ष पदार्थ वाक्यार्थरूप में ३६८
निराकांक्ष पदार्थ वाक्यार्थ ३६६
निरुक्त १८, १५७, १७२, १७३ (टिप्पणी), २०६ (टिप्पणी), २४५, २६४, २६४ (टिप्पणी), ३०५
निरुक्तकार १२३, १६३
निरुक्त भाष्य, २४६ (टिप्पणी)
निर्ज्ञातप्रश्न ४२१
निर्दिष्ट विषय २६३, २६४
निर्वर्त्य २८६, २६०, २६१
निर्वर्त्य कर्म २६०, २६१
निर्वितर्क समाधि ३६
निर्वितर्कासमापत्ति ३६
निवृत पदार्थ ४४७

निवृतप्रेषणपक्ष २५३
निषेध ३८०
निष्पत्ति २३८, २३९, २८१
निष्पत्ति और सिद्धि में भेद २३९
नैगमविभाषा ३८९
नैयायिक २०७
न्याय दर्शन ३५९
न्यायमंजरी ३०, ३८, ४२, ७७, ३५०
न्यायरत्नमाला ४१७ (टिप्प०)
न्यायरत्नमाला व्याख्या ४७८ (टिप्प०)
न्यायरत्नाकर ४१४, ४७८ (टिप्प०)
न्यायवैशेषिक के मत में काल २०७
न्यायसुधा १२१
न्यायसूत्र १२१ (टिप्प०)
न्यायसूत्रकार १२१
न्यास ६५, १०२, १२३, १९७, २०१ (टिप्प०) २४५, २७० (टिप्प०), ४३७
न्यासकार १९, ३०, ६५, ७५, ११६ (टिप्प०), १५९, २३५, २८९, ३११, ३२५, ३८७, ४४३
न्यूनाधिकभाव १११
न्यू हिस्ट्री आफ इंडियन पीपुल, गुप्त वाकाटक एज २०
पक्षधरमिश्र ३०९
पंचमी अवस्था २५१, २५३
पञ्चप्रातिपदिकार्थ १४१, २७७
पंचशिख १८, ३०९, ३६४, ३६५ (टिप्प०)
पतञ्जलि १०, १२, १३, ४३, ६४, ७८, ८९, १०१, १५०, १७२, २२८, २३७, २४५, २८७, २९४, ३००, ३०५, ३११, ३३०, ३८६, ४१०, ४११, ४३७
पद ११, १०७
पदअपोद्धार १३४
पद अन्वाख्यान ६२, ६४, १३१
पद अवधारण के उपाय ४३६
पदअवधिक अन्वाख्यान १३१, ३२७
पदकार ३३५
पदकार्य ११४
पदक्रम ३६१
पदचन्द्रिकाविवरण ३१, २९१, ४४१ (टिप्प०)
पदप्रतिपत्ति १०७
पदमंजरी १४, ५३, ७५, २५४ (टिप्प०), २६५ (टिप्प०), ३१०, ३११, ३१५, ३२९, ३९३ (टिप्प०) ३५९ (टिप्प०), ४५०
पदमंजरीकार ११६
पदवचन ३६२
पदवाक्यरत्नाकर ३२
पदविधि १०
पदविभाग १३९
पदसंस्कार ६४
पदस्फोट ९०, १५३, ४६४, ४६८, ४७०
पदार्थ ३९७
पदार्थतत्त्व निरूपण २०७ (टिप्पणी)
पदार्थदीपक ३२
पदार्थ निबन्धन वाक्यधर्म ३७७
पदार्थ विचार १२३
पदार्थाभिधानपक्ष ३२७
पदार्थैकदेश अविवक्षा ११६, ११७
परमपश्यन्ती ४८
परमलघुमंजूषा ३२
परमसत्ता १७१

परमोपांशु ३९, ८७, ३४६
परस्मैपद २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५७,
परस्मैभाष २५७
परा ४७२
पराङ्ग ३७९, ४०१
पराङ्गवद्भाव ४३७
परात्रिंशिका ८०, ८२
पराप्रकृति ३७
परार्थ २९७
परार्थता २४९
परामर्शन व्यापार ९८
परावाक् ४१, ४२
परिकल्पितरूपविपर्यास ३९६
परिच्छिन्नार्थ ४०
परिच्छेदसंस्कार भावनाबीजवृत्तिलाभ-प्राप्तयोग्यता ७४
परिणाम ४८०
परितृप्ति ३५
परिपूर्णशक्तित्व ३५
परिभाषावृत्ति १२, १०२, ११४
परिसंख्या ३८४
परिसमाप्ति ३४३
परोक्ष २३६
पर्युदास ३७९, ४०४, ४४८
पश्यन्ती ३८, ३९, ४७, ९८, १०३, १५५, ४७२, ४८१
पाठ ३७८
पाठक्रम १४२, ३९९
पाण्डेय, के० सी० २७ (टिप्प०), २०० (टिप्प०)
पाण्डेय, चन्द्रबली १८
पाण्डेय, रामाज्ञा ३२
पाणिनि ९, १०, ११, १३, ५०, ६३, ६४, ६९, ९०, १२४, १३८, १४४, १५४, १५६, १६५, १८०, १८४, १८६, १९७, २१०, २२१, २३७, २४२, २४३, २४५, २४९, २५७, २५८, २६४, २७१, २७६, २८३, २८८, २९२, २९४, २९५, २९६, २९७, ३०५, ३०७ (टिप्प०), ३१३, ३१६, ३२०, ३२२, ३२३, ३२८, ३६०, ३८९, ३९८, ४३१, ४३४ (टिप्प०), ४३७, ४५४, ४५८
पाणिनीय धातुपाठ २०६
पाणिनीयमतदर्पण ३१६ (टिप्प०)
पाणिनीयमतदर्पणकार ३०७ (टिप्प०)
पाणिनीयशिक्षा ७६
पातंजलदर्शन २२६
पार्थसारथि २९, ३०, ३३४, ३५०, ३५२, ३५६, ४१४ (टिप्पणी), ४१७
पालि ५१
पिल्ले, के० राघवन् ३२
पुण्यराज १३, १४, २३, २५, २७, ३२, ५६, ९४, ९५, १०७, ११०, ११२, ११४, ११८, १३३, १३५ (टिप्प०), १९९ (टिप्प०), २६५, ३३३ (टिप्प०), ३४१, ३४४ (टिप्प०), ३४५ (टिप्प०), ३४७, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५९, ३६०, ३६५, ३६८, ३७१, ३८० (टिप्पणी), ३८१, ३८७, ३९०, ३९३, ३९४, ३९५, ३९७, ४०६, ४०८, ४२४, ४२८, ४३२ (टिप्प०) ४४४, ४७०
पुराण २०६
पुरुष १५८
पुरुषव्यत्यय २६३
पुरुषोत्तमदेव ३१, ६५, ११४, १२७

(टिप्प०) २६१, २६६
पूर्वकालिकक्रिया १८२
पूर्वाचार्य २५६, २६४, ३१३
पूर्वाचार्यसंज्ञा ४३४
पृथक्सर्वपदवाक्यवाद ३५६
पृथक्सर्वपदवाद ३२८
पृथक्साकांक्षसर्वपद ३३४
पृथक्साकांक्षसर्वपदवाद ३६८
पृथूदक २१२ (टिप्प०)
पे इन (प्रकीर्णक) १५, २८
प्रैष २५४, २६२
प्रकरण ३७७, ४२७
प्रकरणादिसहित प्रसद्धि-अप्रसिद्धि ११८
प्रकार का स्वरूप ४५३-४५५
प्रकाश ४३, २१६
प्रकीर्णकप्रकाश २३, २८, ३१३
प्रकृति ३८८
प्रकृति ऊह ३८८
प्रकृतिनियमवाद १३
प्रकृतिविकृतिभाव ३६०
प्रकृत्यर्थविशेषणपक्ष १६२, ३१८
प्रकृत्यर्थविशेषणवाद १३
प्रक्रम ८६
प्रक्रियाकौमुदी २६०, २६५
प्रक्रियाप्रकाश ३१
प्रक्रियाप्रसाद ३०७ (टिप्प०), ३१६, ३३१
प्रख्याविशेष १४६
प्रज्ञाकरगुप्त २६, ८६
प्रणव ४७६
प्रतिनिधि ३८०, ४०६, ४२०
प्रतिनिधि की उपपत्ति ४२०
प्रतिपत्तिक्रम १४२, ४००
प्रतिपदविधाना ४४१
प्रतिपादकपदार्थ १२७
प्रतिपादक शब्द १५०
प्रतिबन्ध शक्ति २१५, २१६
प्रतिबिम्बदर्शन ४६७
प्रतिबिम्बवाद ३०६
प्रतिभा, ३०, ३५, ४३, ७८, ३७१
प्रतिभा के छः भेद ३७२
प्रतिभात्मक अखण्ड वाक्यार्थ ३५३
प्रतिभा दर्शन ३१
प्रतिभावाद ४३
प्रतिभावाक्यार्थ २०४, ३६६, ३७६
प्रतिभावाक्यार्थ रूप में ३७१
प्रतिलीनाकार ४०
प्रतिषेध १२
प्रतिसंहृतक्रम ४०, ८७
प्रतिहारेन्दुराज २६
प्रतीतपदार्थक ६६, ८८, ८६, ६०
प्रतीतपदार्थक ध्वनि ८८
प्रतीतपदार्थकता ४७६
प्रतीयमान ५५, १०१, १२१, १२२, १५०, ३६७, ४०८
प्रतीयमान अर्थ १२१, ४७६
प्रथमपुरुष २६०, २६१
प्रधानवाक्य ३६१, ३७६, ४०१
प्रध्वंसानित्यता ६१
प्रध्वंसाभाव ४४८
प्रभाकर १८, १२५, १४०, ३३८, ४१६, ४१७
प्रभाचन्द्र ३०, ३५४
प्रमाणवार्तिक २४, २६, ६१, २७७, ३४७, ३५४, (टिप्प०) ४७७ (टिप्प०)
प्रमाणवार्तिक टीका १२५, ३४६, ३५८
प्रमाणसमुच्चय १६
प्रमेयकमलमार्तण्ड ३५४

प्रयत्न ३७६
प्रयुक्ति ३७८
प्रयोगक्रम १४२
प्रयोजक २५४, ४०१
प्रयोजकनान्तरीयक ३७९
प्रयोजकमुख्य ११५
प्रयोजनपदार्थ १२७
प्रयोजनवाक्यार्थ ३६६
प्रयोजन वाक्यार्थ रूप में ३६८
प्रयोज्य कर्ता २८८
प्रत्यक्ष श्रुति ३८४
प्रत्यभिज्ञा ३७
प्रत्यभिज्ञादर्शन ४२, ४९
प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय १४६
प्रत्यभिज्ञाहृदय ४१ (टिप्प०)
प्रत्ययनियम २७७
प्रत्ययलक्षण १०
प्रत्ययार्थपक्ष ३१८
प्रत्ययार्थविशेषणपक्ष १९२
प्रत्यवभासा ४०
प्रत्यासत्ति १४२
प्रत्येकपरिसमाप्ति ३४३
प्रवाहनित्यता ६२, ९०, ९१, ९२, ९९
प्रवृत्ति ३७८
प्रवृत्तिक्रम १४२, ३९९
प्रवृत्तिनिमित्त ४५१
प्रवृत्तिशक्तिक्रियावाद १७६
प्रशंसा २०१
प्रशस्तपादभाष्य २०७ (टिप्प०)
प्रशस्तपादभाष्यसेतुटीका ३०९
प्रसंग ३७८, ३८०, ४०१
प्रसज्यप्रतिषेध ३७९, ४०४, ४४८
प्रसन्नपदा माध्यमिकवृत्ति २९२
प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि सहित प्रकरणादि ११८
प्राकृत ५१, ५२, ९१
प्राकृतध्वनि ११, ६८, ७३, २२१, ४६२
प्राकृतनाद ७३
प्राचीन आचार्य ४५१, ४५७
प्राचीन टीकाकार १३
प्राचीनमीमांसक ४६४
प्राचीनव्याकरण २९६
प्राचीन सांख्य ३६४
प्रातिपदिक १४२, २७७, ३२०, ४२७, ४५३
प्रातिपदिकार्थ ११४, १४०, १५४, १६२, १७१, २७९, २९७, ३६२, ३९७
प्रातिशाख्य २४५, ३९०
प्राप्तविभाषा २५७, ४०५
प्राप्ति ३४
प्राप्यकर्म २८९, २९०, २९१
प्रासंगिक ३७९, ३८०, ३८१
प्रेरक २९३
प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्जेक्शन्स आफ द सिक्स्थ ओरियण्टलकान्फ्रेन्सप टना १८
फलभेद ३७९, ४०३
फलवाक्यार्थवाद २०३, २०४
फलाभाव ३८४
फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग ३३
फिलासफी आफ संस्कृत ग्रामर ३२
बहुवचन २६५, २६६, २७३, २७६
ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु २२, १७३
बह्‌वृचप्रातिशाख्य ७६
ब्रह्मसूत्र २५
बाणभट्ट १९, ४६३ (टिप्प०)
बादरि ४०१
बाधा २०१, ३७८, ३७९, ३८०, ३८३, ३८४
बाधासमुद्देश २३, ३७७, ३८६

बालंभट्ट २६
बाल्मीकि रामायण ५१
बाह्यस्फोट ४६३, ४६५
बाह्यार्थत्व १०६
बाह्यर्थोपचार १०६
बिन्दु ४७, ४७३, ४७४
बीज ४७३, ४७४
बीजवृत्तिलाभानुगुण्य १४२, १४३
बुद्धि का परिपाक ७४
बुद्धिक्रम १४२, ४००
बुद्धिप्रवृत्तिरूप २८३
बुद्धि में शब्द का अवधारण ७४
बुद्धि वाक्यपक्ष ३५४
बुद्धिसत्ताक्रियावाद १७१
बुद्ध्यनुसंहार ३५३, ३६४
बुद्ध्यनुसंहारवाद ३५२, ३५४
बुद्ध्यनुसंहृति ३५३, ३५४
बृहती ४१७ (टिप्प०)
बृहद् देवता १३१ (टिप्प०), १५७, ३३८
बृहत्संहिता २०
बैंजि १६
बोपदेव ३०७ (टिप्प०), ३१६
बौद्ध आचार्य १२५
बौद्धदर्शन ७७, २०६, २२३, २८३, ३५४
भगवद्गीता २०७ (टिप्प०)
भगवानदास २९९ (टिप्प०)
भट्टगोपाल ४२६
भट्टाचार्य दिनेशचन्द्र २७
भट्टाचार्य विनयतोष १७
भट्टोजि दीक्षित ३१, ५३, ६०, ६६, २३५, २४६, २६२, २६६, २९५ (टिप्प०), ३१६ (टिप्प०), ३८७ (टिप्प०), ४४३
भरतमिश्र ३२, १३९ (टिप्प०)
भर्तृमित्र ११९
भर्तृहरि १०, १३, १४, १५, १६, २२, २३, २४, २७, २६, ३०, ३६, ३७, ४२, ४३, ५२, ५७, ६१, ६३, ६६, ८२, ८३, ८६, ९०, ९१, ९२, ९६, ९७, १०४, १११, ११३, १२३, १२८, १२९, १३०, १३१, १४०, १४४, १४६, १४९, १५०, १५३, १५७, १५८, १६२, १७३, १८७, १९४, २०३, २०६, २१३, २१४, २१५, २१६, २२६, २४०, २४१, २४२, २६४, २७४, २७८, २८१, २८२, ३०१, ३०३, ३०५, ३०९, ३३१, ३३२, ३३५, ३३८, ३४२, ३५८, ३६०, ३६५, ३७७, ३८८, ३९९, ४०२, ४०६, ४३५, ४६६, ४६९, ४८३
भर्तृहरि का कालदर्शन २१४
भर्तृहरि के अनुसार अष्ट पदार्थ १२७
भर्तृहरि शतक २५
भवन्ती २२८
भवभूति ३७३ (टिप्प०)
भविष्यत् २२८
भविष्यत् काल २३८
भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत २३४
भविष्यन्ती २३८
भामह १९, ४५९ (टिप्प०)
भारद्वाज १५६
भाव १५४, १६४, १७२
भाव और क्रिया १६४
भावना ३७०
भावना और क्रिया में भेद १८५
भावनाक्रियावाद १७७
भावना वाक्यार्थ ३७०
भावनावाक्यार्थवाद ३६६

भावभेद १७२
भावलक्षण १०
भावविकार १७३, १७४, १७५, ४५०
भावसत्ताक्रियावाद १७२
भाषाविज्ञान ४५०
भाष्यकार (द्रष्टव्य महाभाष्यकार) १४, १०८, १४७, १४८, १६७, ३२०, ४४३
भाष्यविवरण ४६२ (टिप्प०)
भाष्यव्याख्याप्रपंचकार १२७(टिप्प०)
भास्कर (प्रथम) १६, १७
भाष्कर सूरि ११५, ४२९
भूत २२८
भूतकाल २३४
भूतकाल के पाँच प्रकार २३४
भेद ३७९, ३८०, ३८३
भेदाभेद दर्शन ११०
भोक्तृ शक्ति ३६५
भोज ३०, ३१, २९३, २९४, ३०८, ३२४, ३३१ (टिप्प०), ३५६, ३६०, ३७७, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८७, ३९१, ३९३, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०६, ४०७, ४०८, ४१८, ४२९, ४४८, ४६८, ४७६
भोजाज़ शृंगारप्रकाश ३७७ (टिप्प०)
मंजूषा (वैयाकरणसिद्धान्त लघु-मंजूषा) १२६, २१४, २५१ (टिप्प०), ३१७, ४११, ४३५, ४४८, ४६० (टिप्प०)
मंजूषा-कलाटीका ४७३ (टिप्प०)
मण्डनमिश्र ३०, २९२, ३४८, ३४९, ४७९
मधुरा ५६
मध्यमपुरुष २६१, २६२, २६३
मध्यमा ३८, ३९, ४१, ४६, ९८, १०३, ४७२
मध्यमावृत्ति ७०
मम्मट ११४, २१३ (टिप्प०), २६३, ४२९, ४३१
मर्मप्रकाशिनी टीका १२६
मल्लवादिक्षमाश्रमण १५, १७, ३०, ९६, १०३, ३४५, ३४७, ३५६, ३५८, ४६०
मल्लिनाथ ५१, १९५, ४२९ (टिप्प०)
मयूराण्डरस ३४५
महापश्यन्ती ४८
महाभारत २६ (टिप्प०), ४१, २०६
महाभाष्य १३, १४, १६, ५७, ६६, ८९, ११९, १२४, १४१, १५७, १९०, १९२ (टिप्प०), २१३ (टिप्प०), २३१, २३३, २३७, २४५, २५६, २८९ (टिप्प०), २९२, २९७, ३०५, ३३९, ३६१, ३६२, ३८६, ४३२ (टिप्प०), ४४४
महाभाष्यकार १३, ५३, ८९, १०७, ११०, ११३, ११९, १२५, १३०, १३३, १३४, १४३, १५६, १५९, १८२, १८३, १९४, २१०, २३५, २४२, २४८, २४९, २५५, २५९, २८१, २८४, ३०१, ३०५, ३१२, ३१६, ३९९, ४४७, ४५५
महाभाष्यदीपिका (द्रष्टव्य महाभाष्य-त्रिपादी) १२, २२, १४९, १५०, ३९९, ४५९ (टिप्पणी), ४६२
महाभाष्यत्रिपादी २२, ३१, ६१, ८९, ९१, ९२, १२१ (टिप्प०) १४४, १७०, १७३, ३८०, ३८२ (टिप्प०), ३८४ (टिप्प०),

३८८, ३९० (टिप्प०), ४०६ (टिप्प०)
महाभाष्यप्रदीप—१३, ३०, १००, १०१, १४१, १६८, १७०, १९०, २०० (टिप्प०), २३४, २५४ (टिप्प०), २६१ (टिप्प०), २८६, २९०, २९४, २९७, ३२६, ३६६, ३८५ (टिप्प०), ३८६ (टिप्प०), ३९३, ४४१
महाभाष्यप्रदीपोद्योत १२० (टिप्प०), १२५. १४६, १६२, १६८ (टिप्प०), २१४ (टिप्प०), २५१ (टिप्प०), ३१०, ३२२, ४३७
महाभाष्यप्रदीपोद्योतन ५२, ११३, ११४
महाभाष्यव्याख्या २२ (टिप्प०), ३८ (टिप्प०)
महाभाष्यव्याख्याप्रपञ्च १०२
महाभाष्यव्याख्या हस्तलेख १२९ (टिप्प०), ४६० (टिप्प०)
महावाक्य ३५१, ३६१
महाविषयता १४२
महासत्ता ४३, ४८, १५४, १७१
महासामान्य १५४
माघ १४
माधवाचार्य २८
माध्यमिककारिकाटीका १९२ (टिप्प०)
मानिग्रर विलियम ४५७ (टिप्प०)
माया ३४७, ४७३
मालिनीतंत्रवार्तिक ४४
मालिनीविजयवार्तिक २१९
मिथ्यासादृश्य ४५०
मीमांसक २०२, २२५, २८७
मीमांसादर्शन ३३८, ३७०, ३७७, ३९४, ४०५, ४२२, ४२३, ४७७, ४७९
मीमांसासूत्र २५, १५७, ३३३
मुकुलभट्ट २६, १२४
मुख्य ११८, ३७९, ४०४
मुख्य अर्थ ११०
मुख्य और नान्तरीयक ११५
मुख्यगौणभाव ११
मुख्यवृत्ति १२०, ३८८
मुख्यावृत्ति १२१
मूर्तविवर्त २९५
मूर्तिविवर्त १७६, ४८०
मुनि जम्बूविजय १७ (टिप्प०)
मूलाधारचक्र ४७२
मैक्समूलर २०
मैत्रायणी संहिता ३८८ (टिप्प०), ३८९
मौनीश्रीकृष्णभट्ट ३२
यदृच्छा शब्द ५८, १२३, १२४
यवनभाषा ५२
यास्क ९, ३६, ४३, ५०, १६४, १७३, १९५, ३०५
युक्तिदीपिका १८
युक्तिस्नेहप्रपूरणी ४७८ (टिप्प०)
युगपदधिकरणतावाद ४४२
युगपदधिकरणविवक्षा १३१
युधिष्ठिर मीमांसक २२
योगदर्शन २१४, ३५८,
योगदर्शन में काल २०८
योगनिमित्ता प्रतिभा ३७५
योगरूढ १०२
योग वासिष्ठ २०९
योगसूत्र १८, ३६, ८१, ३५९, ३६५ (टिप्प०)
योगसूत्र भाष्य १८, ९७
योग्यता ९९, ३८०, ३८७, ४०५,
योग्यतापत्ति ३८०

योग्यतालक्षणसम्बन्ध १५३
योग्यभाव १२७
यौगिक १०२
यौगिकरूढ १०२, १०३
रघुनाथ शिरोमणि २०७
रघुवंश १९, ३२९, ३९८, ४२९
रत्नश्रीज्ञान ३०
रसगङ्गाधर १२६
रसभनन्दि ३२
राघवन्, वी० २७ (टिप्प०), ३७७
राघवभट्ट ४७४ (टिप्प०)
राघवानन्द नाटक २५
राजतरंगिणी १६, २६
राजशेखर २६, ३६०
राजानक शूरवर्मा २५
रामचन्द्र २९५
रामभद्री टीका (शब्दशक्तिप्रकाशिका) ४३६
रूढ शब्द १०१, १०२, ११७, १९६, १९७
रूपशक्ति ११२, ११८
रूपातिदेश ३९२
लक्षण अनुपपत्ति ३७७
लक्षणसमुद्देश २३, २४, ३७७, ३७९
लक्षणा ११९, १२०, १२१
लक्षणा वृत्ति १२०
लक्षणा शब्द १२०
लक्ष्मण देशिकेन्द्र ४७४
लक्ष्मणस्वरूप १८
लक्ष्मीदत्त ३२
लघु ४०५
लघुप्रक्रमा १४४, ४०५
लघुप्रक्रमापद्धति ३४५
लघुविभक्त्यर्थनिर्णय ३२
लाक्षणिक १०१
लाघव ३८०
लिङ्ग १०, १२, १४, १४३, ३२३, ३७७, ४३३
लिङ्ग अर्थनिष्ठ ३१६
लिङ्ग-ऊह ३८९
लिङ्ग विचार २९८-३२९
लिङ्ग शब्दनिष्ठ ३१६
लिङ्ग सामान्य ३२५
लिङ्गादि भेद ३८०
लिङ्गाद् भेद ३८०, ४०५
लिंग्विस्टिक स्पेकुलेशन आफ द हिन्दूज ३२
वचन, १४,२६७
वराहमिहिर २०
वर्ण ११, १४, ७४
वर्ण की निष्पत्ति के प्रकार ७५
वर्ण की प्रतिपत्ति और वर्ण का निर्भास ८०
वर्ण की षोडशी कला ७९
वर्णतुरीयांश ७९
वर्ण सावयव और निरवयव ७९
वर्ण सार्थक और निरर्थक ८१
वर्ण व्यत्यय ८१
वर्ण स्फोट १५३, ४६४, ४७०
वर्तमान २२८
वर्तमानकाल २२८
वर्तमानकाल दो तरह का २३२
वर्धमान २२, ४५८
वर्मा रवि २७
वसुबन्धु १७
वसुरात १४, १५, १७, ९६
वस्तुविनाशानित्यता ९१
वाक् ३४, ३५, ३६, ३८, ४०
वाक् के रूप में स्फोट ४७२
वाक्य ११, १४, २०२, ३९७
वाक्य और वाक्यार्थ में सम्बन्ध ४२५

वाक्यधर्म ४०६
वाक्य अन्वाख्यान ६२, ६४, १३१,
वाक्य अवधिक अन्वाख्यान १३१, ३२७
वाक्य के भेद ३६०
वाक्य दीपिका ३२
वाक्यपदीय १०, १३, १४, १५, १६, १७, १८, २१, २२, २३, २४, २५, २६, ३०, ३१, ३२, ३७, ४६, ५८, ६२, ७३, ७६, ६५, १००, ११०, ११६, ११८, ११६ (टिप्प०), १२१ (टिप्प०), १२३, १२७, १३५, १४०, १५७, १७६ (टिप्प०), २०१ (टिप्प०), २१७ (टिप्प०), २२३ २७४ (टिप्प०), २३६ (टिप्प०), २५७ (टिप्प०), ३०६, ३०८, ३१५, ३४४, ३५१ (टिप्प०), ३६८, ४१३ (टिप्प०), ४८२
वाक्यपदीयकार ७६, १३५ (टिप्प०), १४०, २५६
वाक्यपदीय पद्धति २५
वाक्यपदीय वृषभ टीका १२७ (टिप्प०)
वाक्यपदीय हरिवृत्ति ५३, १३०, १३१ (टिप्प०), १३२ (टिप्प०), ४१६
वाक्यपदीय हरिवृत्ति—हस्तलेख ६२, ६३, ११८ (टिप्प०), ११६ (टिप्प०), १२१ (टिप्प०), १२२ (टिप्प०), १६४, ३३५ (टिप्प०), ३३६ (टिप्प०), ३३६ ३४३ (टिप्प०), ३६०, ३६७ ३६६, ३८४ (टिप्प०), ३८५ (टिप्प०), ३८६ (टिप्प०), ३६६ (टिप्प०), ३६८, ४०३ (टिप्प०), ४२५ (टिप्प०) ४२८, (टिप्प०), ४३३, ४३४, ४३५ (टिप्प०), ४५७, ४५८, ४५६
वाक्य प्रतिपत्ति १०७
वाक्यलक्षण २०२, ३३०, ३३१
वाक्यवाद ३२
वाक्य विचार ३३०-४३६
वाक्य शेष ३८०, ४०६, ४०७
वाक्य संस्कार ६४
वाक्य स्फोट ६०, ४६४, ४६८, ४७०
वाक्यार्थ १४, ३६२, ३६७
वाक्यार्थ की प्रक्रिया ४१०-४२६
वाक्यार्थ के अनुग्राहक वाक्य के धर्म ३७७
वाक्यार्थ निर्धारण के साधन ४२६-४३५
वाक्यार्थ विचार ३६२-३७७
वाचनिक ३२७
वाचस्पतिमिश्र १८, २०, २१, ३०, २०८, ३६५ (टिप्प०), ३४७
वाच्य १२२
वाच्यवाचकसम्बन्ध ४२६
वाजप्यायन ११, १४४, १४६, १४७, १५०, १५३, १६६
वाजसनेयी शाखा ३८६ (टिप्प०)
वाजसनेयी संहिता ३८८ (टिप्प०)
वात्स्यायनभाष्य २२८
वादसुधाकर ३२
वादिदेव सूरि ३०, ३८, ३५७, ४४१, ४७७, ४७६
वामन ३०, १२०, २४५, ३२६
वायुशब्दत्वापत्तिवाद ७७
वार्ताक्ष १६, १३६
वार्तिक १३
वार्तिकपाठ ३१२
वार्तिककार १४, १०७, ११३, १२६, १६५, १६६, १८१, २०२, २०३, २७१, २८७, २६३, ३१२, ३१३, ३१६, ३२०, ३५६, ३६०, ४४१

वार्तिकोन्मेष १३, २८, ३१३
वार्ष्यायणि १७२
विकरण ४४१
विकल्प ६५, २०१, ३७६, ३३७, ३८०, ४०५
विकार ६१
विकार्य (कर्म) २८६, २६०, २६१, २६२
विकृतियाग १०८
विक्रम, प्रथम १७
विग्रहवाक्य ४३७
विज्ञान ३५३
विज्ञानवाद १५४
विट्ठल २६०, ३३१ (टिप्प०)
विद्या चक्रवर्ती ४२६
विद्याशक्ति ४७
विधि १२, ३७७,
विधि वाक्यार्थ ३७०
विधि वाक्यार्थवाद ३६६
विनियोगक्रम ३७६, ४०२
विपरिणाम ३८०, ३६०, ४०६, ४०८
विपरिणामानित्यता ६१
विपरीताख्याति रूप ३६७
विपर्यास ११२
विप्रतिषेध १०
विप्रयोग ४३१
विभक्ति २६७, ३३७, ३६०
विभक्तिविधान ४३७
विभक्तिविपरिणाम १४१, ४०८
विभक्त्यर्थ २६७, ३६७
विभक्त्यर्थनिर्णय ३२
विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष ३२७
विभाषा १०, ४०५
विमर्श ४३, २१६
विमर्श क्रियावाद १७७
विरोध ४३३
विलम्बिता वृत्ति ७०
विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षण ११८
विवक्षाप्रापितसन्निधान ३६७, ३६८
विवर्त ३४, ७३, ७८, ८४, १५२, १७१, १७६ (टिप्प०), २०६, २१६, ३५३, ३७३, ४७५, ४७६, ४८१
विवर्त की परिभाषा ४८०
विवर्तवाद ४८०, ४८२
विवर्तवाद के अनुसार क्रिया १७५
विशिष्टाभिधान १४०
विशिष्टाभिधेय ३६७
विशिष्टावग्रहसंप्रत्ययहेतु ३६५
विशिष्टोपहिता प्रतिभा ३७५
विशेषातिदेश ३७८, ३७६, ३८०, ३६२
विशेषातिदेश छः प्रकार का ३६२
विशेषान्तरातिदेश ३७६
विशेषणविशेष्यभाव ४४४
विशेषावश्यकभाष्य १७
विष्णुगुप्त १६, २०
वीचितरङ्गन्याय ६७
वीप्सा १०
वृत्ति १४, ४३८
वृत्तिकार १४०, २५४, ३२४, ४०७
वृत्तिदीपिका ३२
वृत्तिपरिणाम २६१
वृत्ति में संख्या २७८
वृत्ति विचार ४३७-४५६
वृषभ (देव) १६, २०, २४, २५, ३५, ३८, ६०, ६५, ६८, ७०, ७४, ८०, ८२, ११६ (टिप्प०), १२८, १३१ (टिप्प०), १५६, २१६ (टिप्प०), २१८, ३३८, ३७३ (टिप्प०), ४६४, ४६७, ४७५
वेद २०५ (टिप्प०)
वेदान्तदर्शन २२३

वैंकटेश्वर २५
वैकरण्य ३४
वैकृतनाद ७३
वैकृतध्वनि ११, ६८, ४६२
वैखरी ३८, ४१, ४५-४६, १०३, ४७२
वैद्यनाथ १२६, ४७३
वैद्यनाथ पायगुण्ड ३२, ३५६
वैयाकरणभूषण ४३, ३१७
वैयाकरणभूषणकार १८६
वैयाकरणसिद्धान्तकारिका ३१
वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा ३२, ४७३ (टिप्प०)
वैशेषिक ७१, २०७, २१६, २८०, २८४
वैशेषिकदर्शन १५२, २६८, २८६, २६५, ३०६
व्यंजनावृत्ति १२१
व्यक्ति १४४, ४३४
व्यक्तिपक्ष १४८
व्यक्तिस्फोट २६४
व्यपदेशातिदेश ३६२, ३६३
व्यपवर्ग १४६
व्यपेक्षा ३६५, ४३८
व्यवहार नित्यता १५२, ४७२
व्यवहित कल्पना ३८०, ४०७
व्याकरण ६१
व्याकरण का लोकपक्ष ६५
व्याकरणदर्शन २२७, २६०, २६८, २६६, २७७, २८०, २८५, ४५२, ४७०, ४७६, ४८३
व्याकरणदर्शन में काल २१०
व्याडि १०, ११, ६०, १०४, १४४, १४६, १४७, ३३०, ३६२
व्यापि ३८०, ४०४
व्यामिश्रकाल २४१
व्यास ३६
व्यासभाष्य २२६, ३६५ (टिप्प०)
शंकर ३३० (टिप्प०), ४६५, ४७७, ४७८
शंकर (योगसूत्र के टीकाकार) ४७६
शक्ति तत्त्व ४७३
शक्तिविभक्तिमय ४१०
शक्ति व्यापार ३७६
शक्तिव्यापारभेद ४०२
शक्त्यादिभेद ३८०
शतपथब्राह्मण १७, ४४, ५४, २६४ (टिप्प०)
शबर स्वामी २०, ३६२, ३८०, ३८३, ३६३, ४०१, ४११, ४२१, (टिप्प०)
शब्द १४, ८२
शब्द अवभास १५२
शब्द अपोद्धार १२६
शब्द एकत्ववाद १०४
शब्द एकत्ववादी १०६
शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ६७
शब्द का अर्थ ६४
शब्द का स्वरूप ८८
शब्द की अभिव्यक्ति प्रक्रिया ७०
शब्द के छः प्रकार ३६५
शब्दकौस्तुभ ३१, ५३, ६०, ६६, ७०, २०६ (टिप्प०), २४६ (टिप्प०), २६३ (टिप्प०), २६२, ३०१, ३८७ (टिप्प०) ४४४ (टिप्प०), ४७२
शब्दजाति १५०, १५३, ३४४
शब्दज्ञानानुपाती २०८
शब्दत्व और शब्दाकृति में भेद ६६
शब्दधातुसमीक्षा २२
शब्दनानात्ववाद १०४
शब्दनाव्यापार ६८

शब्द नित्य ६०
शब्द परमाणु ७८
शब्दप्रभा २३, २७, २८, १२३
शब्दब्रह्म ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४८१, ४८३
शब्द ब्रह्मवाद ३१
शब्दभेद १०२
शब्दभेदाभेददर्शन १०७, १०६
शब्दभेदवाद १०८, ११०
शब्दभेदवादी १०६
शब्दवृषभ १०३
शब्दविर्वत ४७५, ४७७
शब्द व्यवधान १०८,
शब्दशक्ति प्रकाशिका ३२
शब्दसंस्कार ३०८, ४८३
शब्दस्मृतिकल्प ३६७
शब्दाकृति १२५
शब्दाकृतिवाक्यवाद ३४४
शब्दानुविद्धज्ञान ३६
शब्दानुविद्ध बुद्धि ३७
शब्दानुशासन ६२, ६३, ६५
शब्दान्तरादिभेद ३८०
शब्दान्तरसन्निधान ४३३
शब्दार्थान्वियी ४५८
शब्दान्वयी ४५८
शब्दाभरण ३१
शब्दार्थचिन्ताविवृति ३०
शब्दार्थ प्रकृति १०
शब्दोपचार १०६
शब्दोपचार ११०
शशांक २५
शांकरभाष्य ४६४ (टिप्प०), ४६५ (टिप्प०)
शाकटायन १२३, १३४, २३७
शाक्य सिद्धान्त ३५४
शान्तरक्षित २८, ३०, ४७७
शाबर भाष्य ३८० (टिप्प), ३८३, ३६४ (टिप्प०), ३६६, ४००, ४०१, ४१६, ४१७
शारदातिलक ४७४
शालिकनाथ ३३४
शास्त्रादिदेश ३६२, ३६३
शास्त्री, गौरीनाथ ३३
शास्त्री, चारुदेव २३, २४, २५
शास्त्री, मंगलदेव १७
शास्त्री, रघुनाथ ३३
शास्त्री, श्रीचन्द १६ (टिप्प०)
शिक्षाकार ७६
शिवदृष्टि २२, २२, ४२, ४६, ४७४
शिवदृष्टिकार ४३
शिशुपालवध १४
शीलभद्र २६
श्रृंगारप्रकाश ३१, १०२, ११८ (टिप्प०), ११६ (टिप्प०), १२०, २६१, २६३, ३२४, ३३१ (टिप्प०), ३३८, ३५६ (टिप्प०), ३६१ (टिप्प०), ३६३, ३७० (टिप्प०), ३७६, ३७७, ३८१, ३८३, ३८७ (टिप्प०), ३६१ (टिप्प०), ३६३ (टिप्प०), ३६५, ३६६, ३६७, ३६६, ४०१, ४०८, (टिप्प०), ४०६ (टिप्प०), ४१० (टिप्प०), ४१८ (टिप्प०), ४१६ (टिप्प०), ४२२ (टिप्प०), ४२४ (टिप्प०), ४२६ (टिप्प०), ४६८, ४७६
श्रृंगारप्रकाश हस्तलेख (अड्यार) ३६४ (टिप्प०), ३६६
शेष ३७६, ४०१

शेषनारायण ३१, ६०, १५० (टिप्प०), ४७२
शेषविनियोगलक्षण ३७७
शेष श्रीकृष्ण ३१, २६१, ४४१
शेषशेषिभाव ३७७
शैवदर्शन ४७
शैवागम ४३, ४५, ७६, १७७, २१६, २६१
शौनक ७६, १३१ (टिप्प०) ३३८
शौभिक २३३
श्रीकिरणसंहिता ४७
श्रीमद्भगवद्गीता ३५
श्रीहर्ष २६
श्रुतार्थापत्ति ६३ (टिप्प०), ४०८
श्रुति ३७७, ३७८, ४२२
श्रुतिक्रम ३६८
श्रुतिप्रापित २६३
श्रुत्यादिक्रम ३७६, ३८०
श्रुत्यादिबलाबल ३८०
श्रुत्यादिविनियोग ३८०, ४०२
श्रूयमाण शब्द १५०
श्लेष अलंकार ४०८
श्लोकवार्तिक ३०८, ४६०
श्लोकवार्तिक (मीमांसा) २५, २६, ३०, ३४१, ३५० (टिप्प०) ३५१, ४२५, ४३५ (टिप्प०)
श्लोकवार्तिककार ६०, २६८, ३०५, ३१३, ४२८, ४६६
श्लोकवार्तिककाशिका (हस्तलेख) ३५६, ३५८ (टिप्प०)
श्लोकवार्तिकव्याख्या ३५०
श्लोकवार्तिकव्याख्या न्यायरत्नाकर ३५२ (टिप्प०)
श्वस्तनी २३८
श्वास ७६
श्वेताश्वत्तरोपनिषद् २०६ (टिप्प०)
षट् प्रकार की प्रतिभा ३७६
षड् भावविकार १५४, १७२, १७३ २१४, ४८१
संविधान २५०, २५४, २५५
संविधानवृत्ति २५०
संसर्ग ६५, ६७, ६८, ४३०
संसर्ग वाक्यार्थ ३६६
संसर्गवाद ३६८
संसर्गवादी २८७
संसर्गानित्यता ६१
संसृष्ट वाक्यार्थ ३६६, ३६८
संसृष्टार्थप्रत्ययावमर्शिनी १३६
संसृष्टार्थप्रत्ययवभास ४०
संस्कृतगद्य ४६३ (टिप्प०)
संस्कृतभाषा ५०
संहृतक्रम ३४६
सकर्मक १८६, १८७
सकलपदार्थ अविवक्षा ११७, ११८
सखण्डस्फोट ४६३
संकेतसम्बन्ध ४२६
संख्या १४, १५८, २६४, २६७, २६८
संख्या विचार २६४-२८०
संगीतरत्नाकर २३, ३०२ (टिप्प०)
संग्रह १०, ११, १३, १४, ५६, ३३०
संग्रहकार ११, ५१, ५६, ६४, ६८, ८२, १०७, ११०, १३०, १३१ (टिप्प०), १३७, १३८, १५१, १६४, २६६, ३०२, ३३८, ३६२, ४५७, ४५८, ४६२
संघात ३३४, ४५७
संघातवाद ३३८
संघात की समीक्षा ३४१
संघातपक्ष ३४०, ३४४, ३५७
संघातवर्तिनी जाति ३४४
संघातवाद और पृथक् सर्ववाद में भेद ३५७

संजय ३७५
संजल्प ४६
संज्ञाशब्द ५५—६२
संज्ञा शब्द के प्रकार ५८
संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध ५८, १०५
संज्ञाशब्द और अनुकरण शब्द में भेद ५६
संज्ञाशब्द के प्रवृत्तनिमित्त ५७
सत्कार्यवाद १७३, २८६
सत्ता ४३, १२३, १४८, १५५
सत्ता क्रियावाद १७१
सत्ताख्यमहासामान्य १४६
सत्ताजातिवाद १५४
सत्ताविवर्त ४८१
सन्निविष्ट ज्ञेयाकारा ४०
संनिधि ३८७
सन्निहित क्रियापद १३७, २६६
संप्रत्यायक ध्वनि ८६
संप्रदान २६३
संप्रदान के तीन भेद २६३
समर्थ ३७८
समवायशक्ति २१७
समभिहार और समुच्चय में भेद ३८७ (टिप्पणी) ४४३
समवायशक्ति २१५
समाख्यान ३७७
समानाधिकरणपक्ष ३१८
समाहार ४४३, ४४४
समुदायपरिसमाप्तिपक्ष ३४३
समुच्चय ६५, १४७, २०१, ३२७, ३३७, ३७६, ३८०, ४४३, ४४४
सम्बन्ध ११, २६५, ३७६
सम्बन्धजभेद ३७६, ४०३
सम्बन्धपदार्थ १२५, १२७
सम्बन्धबाध ३७६
सम्बन्धाबाधन ३८०, ३६१
सम्बोधन २६७
सरस्वतीकण्ठाभरण ३१
सर्वदर्शनसंग्रह २८, ३१, ४७१ (टिप्प०)
सर्वपदवाक्य ३५७, ३५८
सर्वपदवाद ३५८
सर्ववर्मा २५८
सर्वात्मना नैरात्म्य ३५
साइन्स आफ इमोशन्स २६६ (टिप्प०)
साकेत २३७
साकांक्षसर्वपदवाद ३५८
सांख्यकारिका ३०० (टिप्प०)
सांख्यदर्शन २१४, २१६, २८७, २६४, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४
सांख्यदर्शन के अनुसार काल २०८
सांख्यमत २६०
साक्षादुपकारक ४०२
साक्षादुपकारी ३७६
सादृश्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञा १०५
सादृश्य निमित्त के रूप में १११
सादृश्यपदार्थ १२५
साधन १५८, २८१, २८२
साधु-असाधुव्यवस्था १३२
साधुता चार प्रकार की ५४
साधु शब्द १३३
साध्यविवर्त ४८१
साहित्यदीपिका ११५
सामधेनी ऋक् १०८
सामर्थ्य ३७६, ३६४, ३६५, ४३४
सामान्यनियम ३८४
सामान्यभूत २३४
सामान्यविशेष ३१५
सामान्यातिदेश ३७८, ३७६, ३८०, ३६१
सामानाधिकरण्यवाद १३
सामान्य में सामान्य १६६

सामान्य और जाति में भेद १४६
सायण ३१, ४७१, ४७२
सावयववर्ण ८०
सिद्धशब्द १२
सिद्धान्त कौमुदी १३५
सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी १२६
साहचर्य ४३२
सीरदेव १२, ४५१ (टिप्प०)
सुचरितमिश्र २६, ३०, ४१ ३३४, ३४१, ३५६, ३५८
सुषेण २५८
सूत्रकार १३, १४, २०३
सूक्तिरत्नाकर ३१, ६०, १०३, १०४, १५० (टिप्प०) २०६ (टिप्प०), ४७२,
सोपस्कार सूत्र ४०७
सोम १५६
सोमानन्द ४७, ४७४,
सोमेश्वर ४२६
सौभव १६
स्कन्दस्वामी १८, २४५
स्थान ३७६, ३७७
स्थानक्रम ३६६
स्थानिद्भाव ४०६
स्थानी १२
स्थितलक्षण ३६६, ३६६, ३६७
स्थितलक्षण पदार्थ १२७, १३०
स्थितलक्षण और अपोद्धार पदार्थ १३०
स्फोट ३१, ६६, ६७, ६८, ६६, ७२, ७३, ८६, ६०, १०४, ३४७, ३७१, ४६२, ४७३
स्फोटचन्द्रिका ३२
स्फोट जाति रूप में ४७१
स्फोटतत्त्व निरूपण ३१, ४७८ (टिप्प०)
स्फोट ध्वनि रूप में ४६१—४६८
स्फोटवाद ४६०—४८४
स्फोटवाद की समीक्षा ४७७
स्फोट शब्द नित्यत्व रूप में ४७०
स्फोट शब्दब्रह्मरूप में ४७४
स्फोट शब्दरूप में ४६६
स्फोटसिद्धि ३०, १३६ (टिप्प०) ३४८,
स्फोट सिद्धि टीका ८६, ३४६
स्फोटायन ४६०
स्मृतिनिरूपणा ३७
स्याद्वादरत्नाकर ३८, ४२, ६८, ७०, ३४७, ३५७, ४७६ (टिप्प०)
स्वप्नप्रबोधवृत्ति ३७३
स्वर ७६, ४३४
स्वरूपार्थत्व १०६
स्वलक्षण ३६६
स्वातंत्र्यशक्ति २१४, २१५, २१६, २२०
स्वातंत्र्यशक्ति और कर्तृशक्ति २१८
स्वाभाविकी प्रतिभा ३७२, ३७३,
स्वार्थ १४१
स्वार्थता २४६
हरदत्त मिश्र १४, ५३, ७५, १४०, १८३, २५३, २६५, ३१०, ३१५, ३२६, ३५६ (टिप्प०), ४६०
हरियशोमिश्र ३२
हरिवल्लभ ३२
हरिस्वामी १७
हर्यक्ष १६
हर्षचरित १६
हर्षचरित एक अध्ययन १६
हर्षचरित टीका ३३० (टिप्प०)
हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न भाग १, १८ (टिप्प०)
हेतु २८६

हेतुहेतुमद्भाव १३७
हेलाराज १३, २२, २३, २७, २८, ३२, ४२, ५६, ६३, ६५, ६८, ९९, १००, १२७, १२८, १२९, (टिप्प०) १३० टिप्प०) १३२ टिप्प०) १३३, १३५, १५२, १५३, १५४, १५५, १७३, १७४ टिप्प०), १७५ टिप्प०), १७६ १७९, १८४, २०९, २१३ (टिप्प०) २१४, २१७, २२१ (टिप्प०), २२९ टिप्प०), २३३, २३८, २६०, २७९, २८३, २८७, २९०, २९२, २९३, ३०४, ३०८, ३१२, ३१७, ३२८, ३६०, ३६३, ३६६ (टिप्प०), ३९० (टिप्प०) ३९३, ४१९, (टिप्प०), ४५५, ४७०, ४८१, ४८२
ह्वेनच्यांग १७, २९